प्रमाणवार्तिकम्

वार्तिकालङ्कारव्याख्योपेतवार्तिकालङ्कारभाष्यसहितम्

प्रथमो भागः



स्वामी योगीन्द्रानन्द

षड् दर्शन प्रकाशन संस्थान
वाराणसी

[illegible]

[illegible]

[illegible]

৩১-১-৫২

ॐ

आचार्यधर्मकीर्तिप्रणीतम्

प्रमाणवार्तिकम्

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृत-'वार्तिकालङ्कारभाष्यव्याख्या' सहित-

प्रज्ञाकरगुप्तविरचित-'वार्तिकालङ्कारभाष्य'-

समलङ्कृतम्

षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्

वाराणसी

१९९१

प्रकाशक :
स्वामी योगीन्द्रानन्दः
उदासीन-संस्कृत-महाविद्यालयः
CK. ३६/१९ ढुण्ढिराजगली
वाराणसी २२१००१

मूल्यम् : २४०—०० रूप्यकम्
दो सौ चालीस रुपये मात्र

प्राप्तिस्थान :
उदासीन संस्कृत महाविद्यालय
CK. ३६/१९ ढुण्ढिराज गली
वाराणसी २२१००१

मुद्रक :
सरिता प्रेस
भैरोंनाथ
वाराणसी २२१००१

PRAMĀṆAVĀRTIK
OF
DHARMAKĪRTI

With 'Vārtikālankār-Bhāshy' Sanskrit Commentary
Of
PRAJÑĀKAR GUPTA

and edited with
'Vārtikālankār-Bhāshy-Vyākhyā' Hindī Commentary

By
SWĀMĪ YOGĪNDRĀNAND

ṢAḌDARŚANA PRAKĀŚAN SANSTHĀN
VĀRĀṆASĪ
1991

Publisher :

SWAMI YOGINDRANAND

Udasin Sanskrit Mahavidyalay

Dhundhiraj Gali

VARANASI.

First Edition : 1991

Price : 240

Two hundrad forty Ruppis only

Allso Available :

SADDARSHAN PRAKASHAN SANSTHAN

Dhundhiraj Gali

VARANASI 221001

Printer :

SARITA PRESS

Bhaironath

VARANASI 221001

दो शब्द

कतिपय ग्रन्थ प्रमाणबहुल होते हैं और कुछ प्रमेयबहुल, किन्तु आचार्य धर्मकीर्ति प्रणीत प्रस्तुत प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ समस्त परिकरबहुल है। इतना ही नहीं महायान सप्तवर्णों[1] की अनोखी सुषमा से गुम्फित इन्द्रधनुष का जो चित्रण इसमें प्रतिफलित किया गया है वह अनोखा है। कोई एक लोकोत्तर प्रचण्ड-मार्तण्ड है। उसके सामने कुछ दूर सपरिवार अविद्या की निहारिका का विशाल पटल वितानित है, उस पर प्रतिबिम्बित सौरिरश्मियों का प्रखर तेज निहारिका के कणों के द्वारा सात वर्णों में विभाजित होकर जो मोहकरूप धारण कर रखा है उसका उद्गम केन्द्र एकमात्र वही प्रमाणभूत जगद्हितैषी सुगतमार्तण्ड है।[2] दिङ्नागीय 'प्रमाणसमुच्चय' समस्त विषयवस्तु का प्रतिबिम्बन प्रमाणवार्तिक के आदर्श तल पर जिस मनोहारी एवं सशक्त कला से किया गया है वह विचारशील मस्तिष्क उसकी कौंध से झूमने लग जाता है। 'प्रमाणसमुच्चय' यदि एक विशाल आम्रकूट है तो धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक मधुर अङ्गुरों की एक अद्भुत वाटिका है। अतएव श्री अयंट भट्ट ने धर्मकीर्ति कि बहुचर्वित वाक्यों के पुनः पुनः चर्वण में एक लोकोत्तर माधुरी की अनुभूति की—

वरं हि धार्म्यकीर्त्येषु चर्वितष्वपि चर्वणम्।
निष्पीडितापि मृद्वीका ननु स्वादं जहाति किम् ?॥[3]

प्रमाणवार्तिक के ऐसे ही लोकोत्तर गुणों का आकर्षण प्रमाणवार्तिक पर कुछ लिखने का मूल स्रोत है। इस विषय का विशेष विचार भूमिका में किया गया है।

परमादरणीय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन कहा करते थे, "महायानिक धारा तिब्बत के धरातल पर जाकर जिस विपुल गम्भीर एवं व्यापकरूप में प्रवाहित हुई है उसको देखकर तिब्बती विद्वानों का लोहा मानना पड़ता है"। यद्यपि तिब्बती परम्पराओं के अनुरूप आदरणीय लामा तारानाथ ने "भारत में बौद्धधर्म का इतिहास" लिखा है उसके विषय में भी श्चेरवात्स्की के उद्गार इस प्रकार हैं—"दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के जीवन जैसा कि तिब्बती इतिहासकार तारानाथ, बुस्टोव तथा अन्य ने अंकित किया है, सर्वथा अविश्वसनीय पुराण-कथाशास्त्रीय विवरणों से इतने परिपूर्ण हैं कि इनसे सत्य के थोड़े-से अंशों का भी निर्धारण एक कठिन कार्य हो जाता है।"

---

१. अन्य यानों की अपेक्षा महायान की सात विशेषताएँ—

१. आलम्बनमहत्त्व २. प्रतिपत्तिमहत्त्व ३. ज्ञानमहत्त्व ४. वीर्यारम्भमहत्त्व ५. उपायकौशलमहत्त्व ६. समुदागममहत्त्व तथा ७. बुद्धकर्ममहत्त्व।

महायानसूत्रालङ्कार ९-६० का०

२. प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
कुतर्कसंभ्रान्तजनानुकम्पया प्रमाणसिद्धिर्विधिवद्विधीयते॥

प्र. वा. अ. १

३. हेतुबिन्दु-टीका पृ. १

तथापि तारानाथ* की परम्परा अक्षुण्ण है और उस परम्परा के मौलिक आकलन में तारानाथ की अपनी भावना में अवदातता एवं प्रणीतता है।

आज का भारत उस विकसित, पुष्पित और पल्लवित रूपरेखा के अभिज्ञान से वञ्चित-सा है। हमारी एकमात्र आशा है, सारनाथ में प्रतिष्ठित 'केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान', हमें उस विशाल अध्ययन में अपने उस भगीरथ प्रयत्न से संप्राप्त गंगा की विशाल धारा संस्कृत में रूपान्तरित कर न केवल भारत अपितु समस्त विश्व को ही लाभान्वित करेगी।

संस्कृत, तिब्बती और हिन्दी आदि भाषाओं के अभिज्ञ, परमादरणीय एवं उच्च तिब्बती संस्थान के अनुभवी एवं सक्षम निदेशक आचार्य एस्. रिम्पोछे जी का मैं आभारी हूँ जिन्होंने प्रमाणवार्तिक के इस प्रकाशन को अपनी शुभाशंसा से विभूषित किया है।

हमारे पुरातन परमशिष्य प्रो. एन्. एच्. सान्तानी ने अपने सुदीर्घ विशाल अध्ययन-अध्यापन की परम्परा से बौद्ध दर्शन का मार्मिक रहस्य सञ्चित किया और अपने इस अवकाशप्राप्त जीवन में भी उसी रूप में तल्लीन और व्यस्त हैं, ने अपने 'प्राक्कथन' में जो भावनाएं अभिव्यक्त की हैं मैं हृदय से उनका समादर करता हूँ।

इस कार्य में जिन व्यक्तियों ने पूरी लगन श्रम और उत्साह से लेखन संशोधन एवं व्यावहारिक गतिविधि से पूर्ण सहयोग किया है उन अपने अनन्यतम शिष्यों श्री काशीनाथ न्यौपाने तथा रञ्जनकुमार शर्मा को अनन्त आशीर्वचनों से समन्वित करता हूँ।

सम्पादनकार्य-कला के विशेष मर्मज्ञ पं० सत्यनारायण खण्डूड़ी के हाथों इस पुस्तक का संशोधन एवं परिसंशोधन यदि न होता तो इस प्रकार के कार्य का सम्पादन अवश्य एक समस्या बन जाती। अपने जिस कौशल से आप इस कार्य का निर्वाह कर रहे हैं मैं उसके लिए सदैव आभारी रहूँगा।

सरिता प्रेस के मालिक श्री मोहनलाल यादव संस्कृत ग्रन्थों के कम्पोजिंग के एक पुराने अनुभवी कार्यकर्ता हैं इस कार्य में उनका सहयोग विशेष प्रशंसनीय रहा।

इस विशालकाय ग्रन्थ के सम्पादन में कुछ अधिक विलम्ब हो जाने से निकट सहयोगी और हितैषी विद्वानों के परामर्श से इसका एक भाग निकालने का निश्चय किया गया है। इस पुस्तक के 'परिच्छेद क्रम में बौद्ध निकाय परम्परा एकमत नहीं रही। कोई परम्परा स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, परार्थानुमान—इस क्रम को मानती है, तो दूसरी परम्परा का इससे कुछ अन्तर है। मैंने यहाँ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के द्वारा संपादित प्रमाणसिद्धि का क्रम ही अपनाया है। उस क्रम में प्रत्यक्ष प्रमाण इस रूप में विस्तृत है जिसे किसी एक खण्ड में समेटना संभव नहीं हो पा रहा है, अतः वह दो भागों में विभक्त हो गया। कुछ प्रथम खण्ड में शेष द्वितीय खण्ड में आयेगा। द्वितीय खण्ड में भी आवश्यक सभी अंग और उपाङ्ग विविध सूचियाँ और शब्दकोश भी दिये जायेंगे।

स्वामी योगीन्द्रानन्द

---

* बौद्धन्याय-प्रस्तावना पृ० ३७

शुभाशंसा

मनुष्य के ऐहिक तथा आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित समस्त विषय प्रत्यक्ष के गोचर नहीं होते। यह तथ्य सर्वविदित है। परोक्ष विषय का ज्ञान मात्र हेतु या न्याय द्वारा ही सम्भव है, यह भी निर्विवाद तथ्य है। मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हेतु का प्रयोग अनादि काल से चला आ रहा है। इतना ही नहीं, आज के अत्याधुनिक विज्ञान का ज्ञान भी अधिकांश हेतु पर आधारित है। अतएव हेतुविद्या मानव के ऐहिक जीवन के समस्त हेय उपादेय विषयों का मूल आधार ही नहीं अपितु आध्यात्मिक जीवन के विधिनिषेधों का भी एक मात्र प्रमाण है। इसलिए भारत के प्राचीन मनीषियों ने इस विद्या को एक महत्त्वपूर्ण विद्यास्थान के रूप में विकसित किया।

तथागत बुद्ध ने विभिन्न आशय एवं वासना वाले विनयेजनों के लिए विभिन्न धर्मचक्रों का प्रवर्तन किया और अपने समस्त धर्म और विनय हेतुविद्या के अनुरूप न्यायपद्धति से प्रतिपादित किया। इतना ही नहीं, हेतुप्रयोग के महत्त्व को बुद्धवचन से भी श्रेष्ठ स्थान देते हुए कहा गया है—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥

तत्त्वसंग्रह-कारिका—३५

अपरोक्ष विषयों को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तपा कर और परोक्ष विषयों को वस्तुबलहेतु द्वारा छेदकर तथा अतिपरोक्ष विषयों को आप्तहेतु द्वारा निकष पर घर्षण कर परीक्षण करके ही स्वीकार करना चाहिए, न कि शास्ता के प्रति श्रद्धावश उनके वचन मात्र होने के कारण स्वीकार करें। ऐसी परिस्थिति में बौद्ध अनुयायियों के लिए तो बुद्धवचन के श्रवण, चिन्तन एवं भावना में प्रवेश करने के लिए हेतुविद्या को अभिधर्म पिटक के प्रतिपाद्य विषय का अंग माना गया है। कालान्तर में बौद्ध अनुयायियों में भी बुद्धिबल के ह्रास के कारण बुद्धवचन के गम्भीर अर्थों का सम्यग्ज्ञान उत्तरोत्तर कठिन होता गया। फलतः आचार्य दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्ध न्याय शास्त्रों की रचना कर एक विशिष्ट बौद्धन्याय परम्परा की स्थापना की। फिर भी आचार्य दिङ्नाग के गम्भीर शास्त्रों की उनके शिष्य आचार्य ईश्वरसेन आदि द्वारा भ्रान्त व्याख्या की जाती देखकर आचार्य दिङ्नाग के सम्यक् अभिप्राय को स्पष्ट करने के उद्देश्य से न्याय आचार्य धर्मकीर्ति ने सप्तवर्गीय प्रमाण शास्त्रों का प्रणयन किया। उनमें सबसे प्रमुख एवं मूल प्रमाणवार्तिक है, जिसमें तर्क विषय को अष्ट पदार्थों के व्याख्यान के साथ-साथ सम्पूर्ण बौद्ध शासन की वस्तु, मार्ग एवं फल की व्यवस्था सुस्पष्ट की गई है। प्रमाण-शास्त्र के रूप में वस्तुतः यह एक गम्भीर धर्मग्रन्थ है, जिसके माध्यम से निर्वाण एवं निर्वाण के मार्ग के स्वयं अधिगम करने के उपाय और अधिगम करने के पश्चात् अन्य विनयेजनों को अधिगम कराने के उपायों को विस्तृत रूप से एक विशेष प्रकार की न्यायशैली में वर्णित किया गया है। इसलिए प्रमाणवार्तिक मात्र प्रमाणसमुच्चय का वार्तिक ही नहीं, अपितु समस्त बौद्ध आगम का वार्तिक माना गया है। उपर्युक्त दो विषयों में से प्रथम को तीन परिच्छेदों में दर्शाया गया है, यथा—परोक्ष विषयों के अधिगम के उपाय, प्रत्यक्ष विषयों के अधिगम के उपाय और अधिगम्य वस्तु निर्वाण या सर्वज्ञता एवं उसके मार्ग का स्वरूप क्रमशः स्वार्थानुमान परिच्छेद, प्रमाणसिद्धि परिच्छेद तथा प्रत्यक्षपरिच्छेद में प्रतिपादित किया गया है। अन्य विनयेजनों के अधिगम कराने के उपायों को परार्थानुमान परिच्छेद में प्रति-

पादित किया गया है। तर्कशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर साभास साधन एवं दूषण परार्थानुमान परिच्छेद में तथा साभास प्रत्यक्ष एवं अनुमान अन्य तीन परिच्छेदों में प्रतिपादित है।

प्रमाणवार्तिक के मूल प्रतिपाद्य विषयों में से निर्वाण, सर्वज्ञता एवं मार्ग के स्वरूप का प्रतिपादन 'प्रमाणसिद्धि' परिच्छेद में प्रमाणसमुच्चय के मंगलाचरण के वार्तिक के रूप में प्रतिपादित है तथा "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने" द्वारा जगद्-हितैषित्व आदि चार हेतु भगवान् को प्रमाणभूत सिद्ध करने के प्रयोग के रूप में बतलाये गये हैं। इन अनुलोम एवं विलोम हेतुओं द्वारा सर्वज्ञ की अनस्तिता, असम्भवता एवं दुर्ज्ञेयता की भ्रान्तियों को निर्मूल करते हुए सम्पूर्ण महायान मार्ग-फल का व्याख्यान किया गया है। आशय-सम्पत्ति महाकरुणा एवं बोधिचित्त, प्रयोग-सम्पत्ति नैरात्म्यज्ञान एवं अन्य पारमिताओं का निरन्तर अभ्यास करने से गम्भीर एवं उदार धर्मकाय एवं रूपकाय की प्राप्ति का मार्गक्रम प्रशस्त किया गया है। इसमें मार्ग के वस्तु-विषय के रूप में चार आर्यसत्यों की मीमांसा विस्तार से प्रतिपादित है। इस कारण प्रमाणवार्तिक बौद्ध विनयेजनों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश-शास्त्र है। परन्तु विषय की गम्भीरता एवं भाषा की प्रौढता, इन दोनों के समुच्चय से यह ग्रंथ अपने रचयिता के जीवन-काल में ही कठिन शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो गया था। इसलिए ग्रन्थ के अन्त में "सागर में नदियों के विलीन हो जाने की भाँति यह शास्त्र भी अपने रचयिता के साथ ही विलीन हो जायेगा" ऐसा भाव ग्रंथकार ने व्यक्त किया है।

प्रमाणवार्तिक सहित आचार्य धर्मकीर्ति की सम्पूर्ण रचनाएँ आचार्य शाक्यबुद्धि, देवेन्द्र-बुद्धि, प्रज्ञाकरगुप्त, रविगुप्त, यमारि आदि की टीका-टिप्पणियों सहित सैकड़ों प्रमाण ग्रंथों का भोट भाषा में अनुवाद हुआ और आगे चलकर समस्त प्रमाण शास्त्रों को अध्ययन के आधार के रूप में प्रमाणवार्तिक को ही चुना गया, जिस पर भोट विद्वानों ने अनेक टीकाएं लिखी हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक इसकी अविच्छिन्न रूप में अध्ययन-अध्यापन परम्परा रही है। काल के प्रभाव से ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की अध्ययन परम्परा भारतवर्ष में लुप्त हुई ही, साथ ही, ग्रन्थ मात्र भी बहुत समय तक अनुपलब्ध रहा। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भोट देश से इसकी मूल पांडुलिपि लाकर पुनः भारतीय विद्वानों को उपलब्ध करा दिया। परन्तु उसका प्रामाणिक सम्पादन होना शेष रह गया था। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का महापण्डित स्वामी योगीन्द्रानन्द जी ने हिन्दी अनुवाद करके जिज्ञासुजनों के लिए एक मूल्यवान् कार्य किया है। अध्ययन-अध्यापन-परम्परा के अभाव में अनुवादक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। अनेक स्थलों पर परम्परागत सिद्धान्तों से कुछ मतभेद भी हो सकते हैं, फिर भी यह कार्य नितान्त प्रशंसनीय है। इस कुशल कर्म से न्याय-वाङ्मय की वृद्धि, पुष्टि एवं जगत्-कल्याण हो, ऐसा मेरा प्रणिधान है।

प्रो० एस० रिनपोछे
निदेशक
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी।

सारनाथ, वाराणसी
बौद्धपूर्णिमा २०४८

PREFACE

I feel greatly honoured and at the same time embarrassed when my revered teacher Svāmī Yogīndrānandjī—who was instrumental in bringing me to *Nava Nālandā Mahāvihāra* Research Institute, Nalanda in 1952 to be introduced to the world of Buddhist ideas—asked me to write a few introductory words In English on the present edition and Hindi translation of the *Pramāṇavārtika* with Prajñākaragupta's Commentary *Vartikālankāra*. Honoured, because Svāmījī wants this humble self to write on a profound work and embarrassed because I am not a specialist in the subject and therefore cannot evaluate the great contribution Svāmījī has made in bringing this *magnum opus* of Dharmakīrti to the world of scholars in this present edition.

For many years in Varanasi, Svāmī Yogīndrānandjī has been studying *Pramāṇavārtika* and working on its Hindi comentary and whenever I visited him I found Svāmījī involved in it even at his advanced age. I was really inspired to see my old teacher engrossed in the text.

It may be mentioned here that in the present edition of *Pramāṇavārtika* the translation is not word-to-word but it gives the purport (*bhāvārtha*) and some times explanation with the referance material. The aim of translator is to bring home to the reader the thought content of the text as the author of translation has understood it. Translation in my view is the most difficult task and sometimes it becomes *transcreation* but to rightly interpret the original author is the main aim of the translator in which Svāmījī has been largely successful.

In the Buddhist world, names of Dignāga and Dharmakīrti shine like brilliant stars. They are the two great lustres of Buddhist Science, as Th. Stcherbatsky has rightly pointed out.[1] The contribution of these great masters to Buddhist logic and epistemology remains yet unsurpassed in the history of Buddhism. Buddhists have always called logic as a doctrine of logical reasons *hetuvidyā* and doctrine of sources of knowledge as *pramāṇavidyā*.

According to Stcherbatsky, the celebrated translator of the *Nyāyabindu* of Dharmakīrti, the system had apparently no special connection with Buddhism as a religion i. e. as the teaching of path towards salvation. It

---

1. Th. Stcherbatsky : *Buddhist Logic* (Dover publications, New York. 1962) Vol. I, p. I.

claims to be the natural and general logic of human understanding (*laukika vidyā*[2]). But as mentioned in Professor Venerable S. Rinpoche's Introductory Remarks (*śubhāśaṃsā*) in the present work, ultimate aim of the *hetuvidyā* is also to lead the persons under training (*vineyajana*) to the path of liberation (*nirvāṇa*). The great liberator, the *Tathāgata*, Gautama the Buddha wanted people to examine his teachings also through logical process and not blindly follow him. Hence the importance of works of Vasubandhu. Dignāga, Dharmakīrti and other great *ācāryas* of *nyāya* cannot be undermined in any system of human knowledge.

The *Pramāṇavārtika* is regarded as landmark in the history of Buddhist philosophy and the study and knowledge of this work, which was considered one of the toughest Buddhist texts, was reckoned as the highest achievement of scholarship. This work is not only a commentary on Dignāga's *Pramāṇasamuccaya* but is an original explanation of elements of logic and critical philoophy, the like of which is rare to find in the annals of textual tradition of Buddhism. Dharmakīrti, who belonged to the school of critical philosophy founded by the celebrated *Ācārya* Dignāga, represents the culmination of Buddha's dynamic philosophy. The Buddha himself is also mentioned as 'embodied logic' (*pramāṇabhūta*) in this text. In fact, Dharmakīrti is the pioneer of logical works and with this work began the vast commentarial literature on logical treatises.

I am sure this important work of Svāmī Yogīndrānandjī the living great savant (*Mahāpaṇḍita*) of Varanasi who has given us before his masterly works like *Advaitasiddhi*, *Nyāyabhūṣaṇa*, *Khaṇḍanakhaṇḍakhādya* and others will be equally welcomed by the world of scholars. I feel once again greatly honoured to be associated with this noble work of the great and celebrated *Ācārya* Dharmakīrti by writing these few lines. I am really greatful to my teacher for giving me this opportunity and wish him long, happy and healthy life. May he live more than hundred years *(jīvet śaracchatam)*.

17 March 1991
Buddha Kuti
Sarnath

N. H. SAMTANI
Former Chairman,
Department of Pali and Buddhist
Studies, Banaras Hindu University

---

2. Th. Stcherbatsky : *Buddhist Logic*, Vol. I, p. 2.

भूमिका

बौद्धधर्म के विकास को तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है। एक विहंगम दृष्टि से देखने पर बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव काल ईसा पूर्व ५०० वर्षों से ईसा की प्रथम शताब्दी तक को प्रथम काल तथा ईसा की पहली शताब्दी से पाँचवीं तक दूसरा एवं पाँचवी से १२वीं तक को तीसरा काल माना जा सकता है। इसके बाद दुर्भाग्य प्रेरित बाह्य बर्बर आक्रमणों के कारण भारतीय प्रज्ञा के निमीलन के चपेट में और-मतों के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी भारत से लगभग समाप्त-सा हो गया। गतिशील निर्लिप्त प्रवाह के प्रति निष्ठावान रहते हुए भी धर्मचक्र के परिवर्तन क्रम में तत्तत् काल में धारणाओं का स्पष्ट परिवर्तन होता रहा, और नवीन केन्द्रीय धारणा विकसित होती रही। बौद्ध धर्म अपने आरम्भ चक्र के लगभग पाँच सौ वर्षों तक अनात्मवाद में केन्द्रित था और उसे ही अपनी विशेषता मानता रहा। इस काल का चिन्तन हमें बताता है कि विषय प्रवाह-युक्त संसार जो देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि का आयतन है और प्रवाहभूत ज्ञान (चित्त, मन, ज्ञान) जो वेदना, संज्ञा तथा संस्कारों से मुक्त रहता है, कोई भी स्थायी नहीं है, अर्थात् पदार्थभूत वस्तुसत्य नहीं है।

बौद्धमत वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय* के माध्यम से द्वितीय चक्र में प्रवर्तित होता हुआ प्रतीत्य समुत्पाद की केन्द्रीय धारणा में प्रतिष्ठित होता है। यहाँ आकर आरम्भिक बौद्धमत के चरम सत्य तक अस्वीकृत कर दिये जाते हैं, तथा इस काल का बौद्ध धर्म दर्शन न तो जगत् की वास्तविकता का सर्वथा प्रतिवाद करता है, न ही अनुभूत वास्तविकता को चरम वास्तविकता ही मानता है। अब चार आर्यसत्यों का स्थान संवृत्ति सत् और परमार्थ सत् ले लेते हैं।[1] इस काल का वैशिष्ट्य मध्यमार्गानुसरण करता है।

इन उदारवादी चिन्तकों के चलते-चलते असंग और वसुबन्धु में आकर यह तृतीय चक्र में प्रवर्तित हुआ और वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग से धर्मकीर्ति में होते हुए एक निश्चित नवीन परम्परा में विकसित हुआ। इस काल के दार्शनिकों ने बाह्य संसार के अस्तित्व सम्बन्धी संशयवाद को पूर्व के धरोहर के रूप में सुरक्षित रखते हुए आदर्शवाद और हर प्रकार का अस्तित्व सिर्फ मानसिक है, यह निष्कर्ष निकाला। यहीं आकर सापेक्ष और निरपेक्ष वास्तविकताओं को स्वीकार किया गया। बौद्धन्याय का शृंखलाबद्ध विकास इसी काल की देन है। ऐसे तो नागार्जुन की विग्रहव्यावर्तनी और वैदल्यप्रकरण आदि वाद-कला के ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं और पुस्तक सुरक्षित न

---

* केचित्तु सौगतम्मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते।
पुद्गलव्यपदेशेन तत्त्वान्यत्वादिवर्जितम् ॥

तत्त्वसंग्रह श्लो० ३३६ में वात्सीपुत्रीयों का खण्डन किया है। ये संभवतः दक्षिण भारत के थे। लामा तारानाथ भी इनका जिक्र करते हैं। पृ. २ और ६२।

१. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोके संवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥ मा. का.

बोधिचर्यावतार में तो तीन भेद कर दिये गये हैं।

होते हुए भी पहले से ही 'हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय' में इस प्रकार के ग्रन्थ होने का विद्वानों का तर्क रहा है। फिर भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान, ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन करने वाला वसुबन्धु का ग्रन्थ वादविधि के रूप में [1]अंकुरायित हुआ और बौद्धन्याय दिङ्नाग में आकर ही सम्पूर्णता में परिणत हो पुष्पित और पल्लवित हुआ, तथा धर्मकीर्ति में सफल हुआ। इस प्रकार तृतीय चक्र में ही बौद्ध धर्म एक प्रतिष्ठित दर्शन के रूप में स्थापित और विकसित हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

बौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक और स्वतन्त्र विज्ञानवादी आचार्य मुख्य रूप से दिङ्नाग ही हैं, जो वसुबन्धु के शिष्य थे, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर तो केवल व्याख्याकार ही हैं। इन दार्शनिकों का बड़े आदर के साथ अन्य दार्शनिकों द्वारा स्मरण करना कोई सामान्य बात नहीं है। एक तरफ परयूथ्य के काश्मीरी विद्वान् जयन्त भट्ट धर्मकीर्ति की प्रशंसा करते हुए कह उठते हैं—

इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नः चेष्टितं दृष्टिमेतद् जगदभिभवधीरश्रीमतो धर्मकीर्तेः ॥[2]

दूसरी ओर स्वयूथ्य के दार्शनिक ज्ञानश्री मित्र प्रज्ञाकर को "साकार-सिद्धिनय-नाटक-सूत्रधार" के अलंकरण से अलंकृत करते हुए सहसा बोल पड़ते हैं—

जीयान्मुनीन्द्रमतवार्तिकभाष्यकार साकारसिद्धिनयनाटकसूत्रधारः।
संसारनिवृत्तिपथप्रथमानगर्वसर्वारिवीरदुरतिक्रमविक्रमश्रीः ॥[3]

धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर इतना विशाल और वैदुष्यपूर्ण भाष्य लिखकर प्रज्ञाकरगुप्त ने जिस मनोहारी ढंग से स्वयूथ्य और परयूथ्य के विद्वानों और मतमतान्तरों का मण्डन और खण्डन किया है, वह निश्चय ही आश्चर्यकर है।

वार्तिककार धर्मकीर्ति ने जिस प्रकार 'प्रमाणसमुच्चय' को किंवा बौद्ध तर्क-प्रणाली को अपने वार्तिक से विभूषित किया और फलित किया, उसी प्रकार प्रज्ञाकर-गुप्त ने धर्मकीर्ति के वार्तिक को अपने अलंकार से अलंकृत कर उसे एक उच्च शिखर पर बिठाने का पुनीत कार्य भी किया। जिस प्रकार महाकवि कालिदास [4]रघुवंश के प्रारम्भ में अत्यन्त विनीत हो जाते हैं, वैसे ही [5]प्रज्ञाकरगुप्त भी भाष्यान्त में लिखते हैं—

शरीरशोभां रागाय ग्राम्या वाञ्छन्त्यलंकृतिम्।
वार्तिकस्याप्यलंकारो मयाऽकारि न गर्वतः ॥

गद्य और पद्य मिश्रित इनकी भाषा महामीमांसक कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक का ही अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। कुमारिल से पूर्व ऐसी शैली स्वल्पमात्रा में ही थी। उसी शैली को इन्होंने अपनाया। बाद में तो मिथिला के महामीमांसक तथा कुमारिल भट्ट के प्रमुख व्याख्याता पार्थसारथि मिश्र ने इस शैली का चरम विकास किया।

---

१. दिङ्नाग ने उद्धृत किया है और चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में सुरक्षित है।
२. न्यायमञ्जरी।
३. ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली, साकारसिद्धि पृ० ३६७
४. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥ रघुवंश. १।२-३
५. वार्तिकालङ्कार पृ० ६२२

प्रज्ञाकर गुप्त की व्यंगोक्तियाँ, जो अन्य दार्शनिकों के लिए प्रयुक्त हैं, अधिकतर उनमें ग्राम्य शैली भी झलकती है। इस कार्य में इन्होंने वार्तिककार धर्मकीर्त्ति का ही अनुसरण किया। एक तरफ धर्मकीर्ति महामीमांसक कुमारिल के लिए "धिक् व्यापकं तमः"[१] "जयेद् धाष्ट्र्येन बन्धकीम्" (बन्धकीमतिप्रागलभ्येन विजयते—स्वार्थानुमान-स्वोपज्ञवृत्तिः पृ० ६१२-६१३) इत्यादि प्रयोग करते हैं, दूसरी ओर जैनाचार्यों के लिए मर्यादा का उल्लंघन करते हुए कहते हैं—

एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्॥[२]

जैनाचार्य भी ईंट का जवाब मानो पत्थर से दे रहे हों, उसी प्रकार प्रत्याक्रमण करते हुए कहते हैं—

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादं
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं जायते नापि किञ्चित्
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः॥[३]

स्वयं बिगड़ा हुआ ब्राह्मण धर्मकीर्ति ब्राह्मणों पर परुष वचनों से हमला करते हुए कहते हैं—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिंगानि जाड्ये॥[४]

इसी शैली में भाष्यकार प्रज्ञाकर भी "एवं हि स सांख्यः स्वकौपिनमेव विवृणुयात्"[५] तथा "सांख्यपशुरेव एवं वक्तुं समीहते"[६] ऐसे परुष वचनों का प्रयोग करते हैं।

जिस प्रकार प्रज्ञाकर गुप्त दूसरों के प्रति गालियों की बौछार करते हैं उसी प्रकार परयूथ्य के दार्शनिक भी प्रत्याक्रमण में उनसे पीछे नहीं हैं। उदयनाचार्य क्रोध में चिल्ला उठते हैं "यत्तु प्रज्ञाकरेणोक्तं तत्तु पापादपि पापीयः"[७]। जैनाचार्य भी व्यंग्योक्ति के प्रयोग में अपनी कुशलता को मानों प्रदर्शनी ही लगा लिये हों, कहते हैं—

कृतप्रणाश-स्कृतकर्मभोग-भवप्रमोक्ष-स्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते॥[८]

लोकायतमत के आचार्य जयराशि भट्ट भी "तन्मुग्धविलसितं सौगतानाम्" कहकर उपहास करते हैं।[९]

नैयायिक और बौद्धनैयायिकों के बीच आपसी संघर्ष का ही फल है कि आज

---

१. अपौरुषेयतापीष्टा कर्तॄणामस्मृतेः किल।
सन्त्यस्याप्यनुवक्तार इति धिक् व्यापकं तमः॥ प्र. वा० पृ० २४२

२. प्र० वा० १।१८२

३. न्यायविनिश्चय १।१७२

४. प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमान-स्वोपज्ञवृत्ति

५. प्र० वा० भाष्य पृ० ४७१

६. प्र० वा० भाष्य पृ० १२८

७. तात्पर्यपरिशुद्धि (उदयनाचार्य) पृ०

८. स्याद्वादमञ्जरी श्लोक-१८

९. तत्त्वोपप्लवसिंह—पृ० ५३

भारतीय न्याय-शास्त्र का विकास चरमसीमा तक पहुँचा है। इस विकास का क्रम नालन्दा और मिथिला के बीच प्रायः सात शताब्दियों तक बौद्धिक संघर्ष की परम्परा में बना रहा। न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम ने बौद्ध अनात्मवाद का खण्डन किया। उसका निराकरण नागार्जुन ने अपने ग्रन्थों में किया। नागार्जुन की शून्यता का भाष्यकार वात्स्यायन ने खण्डन कर न्यायसूत्रों को पुनः प्रतिष्ठापित किया। महर्षि वात्स्यायन के भाष्य की आचार्य दिङ्नाग ने बड़ी आलोचना की। तथा उसे अपने ग्रन्थों में खण्डशः कर दिया। विज्ञानवादी बौद्ध और नैयायिकों के सामने दो प्रधान मल्ल थे। नैयायिक और मीमांसक। दिङ्नाग ने न्यायसूत्र और न्यायभाष्य की कड़ी आलोचना की। उन्हीं के कुतर्कों के निराकरण हेतु उद्योतकर वार्तिक लिखने में प्रवृत्त होते हैं—

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमायशास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः ॥[1]

इसके बाद धर्मकीर्ति ने उद्योतकर के उन प्रबल तर्कों का अपने 'प्रमाणवार्तिक' में समूल उच्छेद कर दिया। उद्योतकर के छिन्न-भिन्न हुए तर्कों को पुनः नवजीवन देने के लिए मिथिला के महान् दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने 'तात्पर्यटीका' लिखी। वे लिखते हैं—

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥[2]

वाचस्पति मिश्र के बाद ज्ञानश्रीमित्र और उनके शिष्य रत्नकीर्ति ने एक और प्रयास किया किन्तु महानैयायिक उदयनाचार्य ने "आत्मतत्त्वविवेक" लिखकर ज्ञानश्रीमित्र का पंक्तिशः[3] खण्डन किया। नैयायिक और बौद्ध नैयायिकों के बीच चल रही लम्बी परम्परा के बीच काश्मीरी विद्वान् जयन्तभट्ट और भासर्वज्ञ को भुलाया नहीं जा सकता। बौद्धों के "विभेदवादी' व्यवहार के प्रति व्यंग करते हुए वे कह उठते हैं—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनम्
संस्काराः क्षणिकाः युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः।
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा ॥[4]

इस प्रकार इस कटाक्ष-परम्परा में 'शान्तरक्षित' और 'कमलशील' भी पीछे नहीं थे। अपोहमण्डन के समय वे क्रोध से परयूथ्यों पर यों हमला करते हैं—

---

१. न्यायवार्तिक—१।१।१

२. न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका १।१।१

३. नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधके बलिनि मध्यनये जयश्रीः।
नोचेदनिन्द्यमिदमद्वयमेव चित्तं चेतो निराकृतिमतस्य तु कोऽवकाशः ॥

ज्ञानश्री-निबन्धावली के पृ० ३८६ की इस कारिका के उत्तर में श्री उदयनाचार्य ने अपने 'आत्मतत्त्वविवेक' के पृ० २३० पर इसका उत्तर दिया है—

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ॥

४. न्यायमञ्जरी—पृ० ४६७

अन्यापोहापरिज्ञानादेवमेते कुदृष्टयः ।
स्वयं नष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि ॥[1]

इस प्रकार एक सहस्र वर्ष तक चली हुई लम्बी उभय परम्परा का उच्छेद बाह्य आक्रमण से हुआ। कहा जाता है जब नालन्दा महाविहार पर बख्तियार खिल्जी ने आक्रमण किया, उस समय सूत्रभाष्य और वार्तिकों के १५ सौ आचार्य थे। यह परम्परा इसी कालखण्ड में समाप्त-सी हो जाती है। अब हम इस विधा के प्रमुख आचार्यों के देश तथा काल के विषय में कुछ विचार करेंगे।

आचार्य दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग का जन्म दक्षिण भारत के "काञ्ची" के निकट 'सिंहवक्र' ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने वात्सीपुत्रीय मत के आचार्य नागदत्त से बौद्ध धर्म ग्रहण किया। तिब्बती कथाओं के इतिहासकार लामा तारानाथ के अनुसार आचार्य ने उड़ीसा के किसी वन में अपनी समाधि ली।[2] इन्होंने विज्ञानवाद के प्रसिद्ध आचार्य वसुबन्धु से समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया तथा विशेष रूप से तर्कशास्त्र में प्रवीण हुए। वे शास्त्रार्थ के लिए पूरे देश में भ्रमण किया करते थे। अपने समय में वे नालन्दा के प्रमुख आचार्यों में भी थे। कुछ विद्वानों का मत है—कालिदास ने "दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्" कहकर उस काल के आचार्य दिङ्नाग को भी ध्वनित किया है।[3] किन्तु यह कितना सत्य है, कहा नहीं जा सकता। क्योंकि अश्वघोष का प्रभाव कालिदास के ऊपर है या कालिदास का अश्वघोष के ऊपर, आज तक निर्णय नहीं हो सका। यदि अश्वघोष से पूर्व कालिदास हुए हों तो मेघदूत में "दिङ्नाग के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त है" यह हो नहीं सकता। क्योंकि अश्वघोष का काल नागार्जुन से पूर्व है, ऐसा माना जाता है।

आचार्य दिङ्नाग ने अभिधर्मकोषमर्मप्रदीप, अष्टसाहस्रिकापिण्डार्थ, गुणपर्यन्तस्तोत्रव्याख्या, आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, हेतुचक्रसमर्थन, न्यायमुख, न्यायप्रवेश तथा प्रमाणसमुच्चय आदि ग्रंथों की रचना की है।

'प्रमाणसमुच्चय' इनकी कृतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। लामा तारानाथ के अनुसार हेमवर्मा नामक एक भारतीय विद्वान् ने इसका तिब्बती में अनुवाद ५५७ तथा ५६९ ई० के बीच में किया था। इस ग्रंथ में ६ परिच्छेद हैं।

	प्रमाणसमुच्चय	श्लोक स०
1.	प्रत्यक्ष परीक्षा	48
2.	स्वार्थानुमान परीक्षा	51
3.	परार्थानुमान परीक्षा	50

१. तत्त्वसंग्रह—१००२

२. लामा तारानाथ का 'भारत में बौद्धधर्म का इतिहास' नितान्त भ्रामक, अविश्वसनीय तथा पुरातनपन्थी कथाओं का संग्रह मात्र है। इसको इतिहास कहना उचित नहीं है। इसका मात्र बौद्ध विचारों के काल निर्णय में कालिक साहाय्य प्राप्त होता है।

३. मेघदूत-पूर्वमेघ

दिङ्नाग का समय—425 ई०, जन्म—तमिल प्रान्त में काञ्ची के पास 'सिंहवक्र' गाँव, गुरु—वात्सीपुत्रीय नागदत्त, आलोच्य ग्रंथ—न्यायभाष्य।

न्यायप्रवेश जो संस्कृत में उपलब्ध है, उसमें अनुमान पर विशेष विचार है। तथा पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त और हेत्वाभास के अतिरिक्त पक्षाभास, साध्याभास, दृष्टान्ताभास आदि आभासों का उल्लेख है, जो अत्यन्त रमणीय हैं। उस पर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने वृत्ति लिखी है तथा उस पर जैनाचार्य पार्श्वदेव की पंजिका व्याख्या भी है।

आचार्य दिङ्नाग ने न्याय के पञ्चावयव वाक्यों का खण्डन कर तीन ही माने हैं, किन्तु वार्तिककार उद्योतकर ने उन्हें भी खण्डित किया है। इनके अन्य ग्रंथ तिब्बती अनुवाद में आज भी सुरक्षित हैं तथा उनका बौद्ध गोम्पाओं में अध्ययन अध्यापन चल रहा है। "हेतुचक्रनिर्णय" का तिब्बती से संस्कृत में अनुवाद पं० दुर्गाचरण चटर्जी ने किया है।

आचार्य धर्मकीर्ति

धर्मकीर्ति बौद्धन्याय के चमकते हुए सितारे हैं। उनका यशःशरीर आज भी उसी रूप में है, जिस रूप में उस समय था। इनका जन्म दक्षिण भारत के वर्तमान तिरूमल्ल नामक स्थान में एक सनातनी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। और आरम्भ में इन्होंने वैदिक दर्शनों का अध्ययन कर बाद में बौद्धदर्शन की ओर अभिरुचि उत्पन्न होने के कारण नालन्दा के प्रसिद्ध आचार्य तथा दिङ्नाग के प्रत्यक्ष शिष्य ईश्वरसेन से बौद्ध न्याय का अध्ययन किया। इससे ज्यादा इनकी कीर्ति क्या हो सकती है कि विरोधी यूथ्य के दशवीं शती के काश्मीरी विद्वान् जयन्तभट्ट, जो इनके तर्कों के खण्डयिता हैं, ने भी "जगदभिभवधीरश्रीमतो धर्मकीर्तेः" कहकर इनकी प्रशंसा की है। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के अनुसार[1] धर्मकीर्ति महामीमांसक कुमारिल के शिष्य तथा भागिनेय थे तथा इन्होंने वैदिक दर्शनों का अध्ययन सम्भवतः कुमारिल भट्ट से ही किया हो। इन्होंने कुमारिल के सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है। प्रसिद्ध

---

१. धर्मकीर्ति के विषय में तारानाथ लिखते हैं—"शंकराचार्य ने पाँच बार धर्मकीर्ति से शास्त्रार्थ किया और पाँचों बार गंगा में डूबकर आत्महत्या की। और पाँच बार ही धर्मकीर्ति से शास्त्रार्थ हेतु जन्म लिया।" क्या यह आख्यान सत्य हो सकता है?

इसी प्रकार कुमारिल भट्ट के यहाँ धर्मकीर्ति ने अध्ययन किया और उनसे गूढतत्त्व के ज्ञानार्थ ५० दासों का काम अकेले किया। और फिर आगे लिखते हैं—वे भागिनेय थे, यह कैसे हो सकता है कि कोई वैदिक ब्राह्मण अपने भागिनेय से नौकरों का काम कराये।

इसी प्रकार ५०० ब्राह्मणों सहित धर्मकीर्ति ने कुमारिल को बौद्धधर्म में दीक्षित कराया आदि काल्पनिक प्रसंग जैसे लगते हैं।

चीनी यात्री इत्सिंग ने अपने यात्रा विवरण में धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है, अतः ६७९ से पूर्व धर्मकीर्ति का समय सिद्ध होता है। नालन्दा में उस समय धर्मपाल के शिष्य शीलभद्र प्रधान थे। धर्मपाल के शिष्य बनकर धर्मकीर्ति भिक्षुसंघ में प्रविष्ट हुए, ऐसा प्रतीत होता है। धर्मकीर्ति ने सात न्याय ग्रंथों की रचना की है। वे साथ ही महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर पाण्डित्य तथा चिन्तन की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करते हैं।

धर्मकीर्ति का काल—६०० ईसवी, जन्म—चोल, उत्तर तमिल, तिरुमल्ल नामक गाँव, गुरु—धर्मपाल—नालन्दा के प्रधान आचार्य। आलोच्य ग्रंथ—न्यायवार्तिक।

मूल ग्रन्थ—१. प्रमाणवार्तिक, २. प्रमाणविनिश्चय, ३. न्यायबिन्दु, ४. हेतुबिन्दु, ५. सम्बन्धपरीक्षा, ६. वादन्याय, ७. सन्तानान्तरपरीक्षा।

स्वटीका—१. स्वार्थानुमानवृत्ति २. सम्बन्धपरीक्षावृत्ति।

प्रज्ञाकर गुप्त

प्रज्ञाकर गुप्त के जन्म, स्थान, समय आदि के विषय में विशेषकर कुछ भी ज्ञात नहीं है। लामा तारानाथ ने एक ही जगह इनका नाम लिया है और इनको गृहस्थ होने की सूचना दी है।[1] किन्तु समय और स्थान के विषय में कुछ भी संकेत नहीं किया है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् इन्हें बंगाल के निवासी होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[2] यह भी पुष्ट प्रमाणों के अभाव में सत्य की कसौटी में खरा नहीं उतरता है। जहाँ तक समय की बात है, धर्मकीर्ति का समय ईसा की छठी शताब्दी है और उनके वार्तिक पर अलंकार लिखने वाले प्रज्ञाकर के विषय में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इनका समय सातवीं शताब्दी निश्चित किया है।[3] प्रज्ञाकर के अनुयायियों में जिन, रविगुप्त और यमारी थे। उन तीनों में प्रज्ञाकर के साक्षात् शिष्य केवल 'जिन' ही थे। क्योंकि इन्होंने ही प्रज्ञाकर के भाष्यानुरूप व्याख्या की है। तथा प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष परिच्छेद, स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान ही परम्परागत स्वरूप निर्धारित किया है। इस क्रम को देवेन्द्रबुद्धि ने उलट दिया तथा स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष एवं परार्थानुमान निर्धारित किया। उनका तर्क है कि उन्होंने स्ववृत्ति पहले परिच्छेद में ही लिखी होगी। क्योंकि बीच में लिखने का कोई तर्क नहीं है। किन्तु 'जिन' और अन्य लोगों के अनुसार ऐसा नहीं है। क्योंकि सर्वाधिक पुष्ट तथा अन्य परिच्छेदों से छोटा होने के कारण एवं वृद्धावस्था को ध्यान में रखकर ही धर्मकीर्ति ने स्वयं उस पर वृत्ति लिखी होगी। वस्तुतः यही मत ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि धर्मकीर्ति की दूसरी कीर्ति न्यायबिन्दु में इसी क्रम का उल्लेख है। प्रत्यक्षपूर्वक ही अनुमान होता है, अतः पहले स्वार्थानुमान रखने का कोई तार्किक आधार भी उपलब्ध नहीं है।

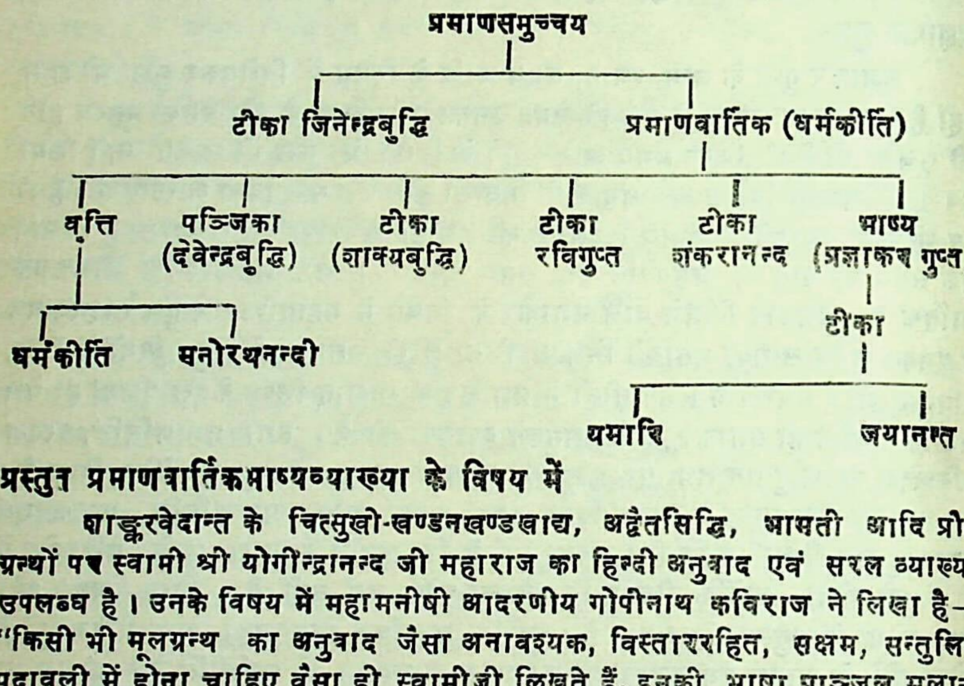
प्रमाणवार्तिक के परिवार ग्रन्थ

ग्रन्थ	श्लोकपरिमाण	लेखक	समय [ईसवी में]
प्रमाणसमुच्चय	247	दिङ्नाग	425
प्रमाणवार्तिक	1459	धर्मकीर्ति	600
प्रमाणवार्तिकवृत्ति	8000	मनोरथनन्दी	

१. लामा तारानाथ का इतिहास—पृ० १२५
२. श्चेरबात्स्की—बौद्धन्याय पृ० ५१
३. प्रमाणवार्तिक-भूमिका—राहुलसांकृत्यायन

प्रमाणवार्तिकवृत्ति	3500	धर्मकीर्ति	600
प्रमाणवार्तिकटीका	10000	कर्णगोमी	600
प्रमाणवार्तिकपंजिका	8748	देवेन्द्रबुद्धि	650
,, टीका	1846	शाक्यबुद्धि	675
प्र० वा० टीका	7552	रविगुप्त	725
,, ,,	7578	शंकरानन्द	800
प्र० वा० भाष्य	16276	प्रज्ञाकरगुप्त	700
प्र० वा० भाष्य टीका	26552	यमारि	750
,, ,,	18148	जयानन्त	950

व्याख्या परम्परा



प्रस्तुत प्रमाणवार्तिकभाष्यव्याख्या के विषय में

शाङ्करवेदान्त के चित्सुखी-खण्डनखण्डखाद्य, अद्वैतसिद्धि, भामती आदि प्रौढ ग्रन्थों पर स्वामी श्री योगीन्द्रानन्द जी महाराज का हिन्दी अनुवाद एवं सरल व्याख्या उपलब्ध है। उनके विषय में महामनीषी आदरणीय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है—"किसी भी मूलग्रन्थ का अनुवाद जैसा अनावश्यक, विस्ताररहित, सक्षम, सन्तुलित पदावली में होना चाहिए वैसा ही स्वामीजी लिखते हैं, इनकी भाषा प्राञ्जल मूलानुगत तथा मधुर है।" प्रस्तुत प्रमाणवार्तिकभाष्य-व्याख्या भी अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण तथा परिश्रम से युक्त है, जिससे समग्र बौद्धदर्शन के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का सहज ही समन्वय होगा। स्वामीजी के विषय में ज्यादा क्या लिखें, सभी भारतीय विद्या के मर्मज्ञ विद्वान् तथा एक तपस्वी ऋषिकल्प जीवन जीने का ही यह परिणाम है जो आज इतने गम्भीर विषय पर हमें हिन्दी में सामग्री सहज ही उपलब्ध हो रही है। उदारचेता स्वामी जी दीर्घजीवी हों तथा इन दुर्लभ विद्याओं का संरक्षण करते रहें, यही भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है।

डा० राधेश्यामधर द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष
तुलनात्मकधर्मदर्शन विभाग
संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

अक्षयतृतीया २०४८ वि०
वाराणसी।
१६-५-१९९१ ई०

संक्षिप्त संकेतसूची

संक्षिप्त संकेत	पूर्णनाम-संकेत	प्राप्तिस्थान
अङ्गुत्तर०	अङ्गुत्तरनिकायः	
अभि० को०	अभिधर्मकोश	बौद्धभारती, वाराणसी १९७०
अभिधर्मा०	अभिधर्मामृतम्	
अभिप्र० का०	अभिधर्मप्रकाशकारिका	
अभिधम्मत्थ०	अभिधम्मत्थसंगहो	महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी १९४१
आत्मत०	आत्मतत्त्वविवेकः	
ऋ० सं०	ऋक्संहिता	
चो० सू०	चोदनासूत्र	
ज्ञान० श्री०	ज्ञानश्रीमित्र-निबन्धावली	के० पी० जायसवाल संस्थान, पटना १९५९
जै० सू०	जैमिनिसूत्र	
तत्त्वार्थ०	तत्त्वार्थसूत्र	
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्	
तै० ब्रा०	तैत्तरीयब्राह्मण	
तं० वा०	तन्त्रवार्तिक	आनन्द आश्रम
त० सं०	तत्त्वसंग्रह	बौद्धभारती, वाराणसी
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता	
त्रिंशिका	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिस्त्रिंशिका	
दी० नि०	दीघनिकाय	
न्या० भा०	न्यायभाष्यम्	
न्या० भू०	न्यायभूषणम्	षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी
न्या० वा०	न्यायवार्तिक	
न्या० वा० ता०	न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका	
न्या० बि०	न्यायबिन्दु	के० पी० जायसवाल संस्थान, पटना १९५५
न्या० सू०	न्यायसूत्र	
पञ्चपा० वि०	पञ्चपादिकाविवरणम्	
पं० द०	पञ्चदशी	
पा० सू०	पाणिनीय सूत्र	
प्र० पं०	प्रकरणपञ्चिका	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६४
प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक	
प्र० वा० अ०	प्रमाणवार्तिक-अलङ्कार	
प्र० वा० मनोरथ०	प्रमाणवार्तिक-मनोरथनन्दीवृत्ति	

प्रशस्त०	प्रशस्तपादभाष्यम्	
प्र० समु०	प्रमाणसमुच्चय	गवर्मेण्ट ओरियन्ट लाइब्रेरी, मैसूर १९३०
बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतार	
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र	
ब्र० सू० शां०भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य	
बृहती	बृहती	
भामती	भामती	षड्दर्शन प्रकाशन । हिन्दी व्याख्या १९८४
म० व०	महा वग्गो	प्रथम संस्करण, बम्बई १९४४
मनुस्मृ०	मनुस्मृति	
मु० उ० भा०	मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्	
या० स्मृ०	यामलस्मृति	
यो० भा०	योगभाष्य	
यो० सू०	योगसूत्र	
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्	
वाक्य०	वाक्यपदीयम्	
विज्ञदा०	विज्ञदामात्रतासिद्धि	
विंशिका०	,, ,, विंशिका	
विधवि०	विधविवेक	चौखम्बा, वाराणसी १९६४
वै० सू०	वैयासिकसूत्र	
शा० भा०	शावरभाष्य	आनन्द आश्रम १९४१
श्लोकवा०	श्लोकवार्तिक	चौखम्बा, वाराणसी १९४४
समन्तपा०	समन्तपारिमिता	
सा० का०	साङ्ख्यकारिका	

सभाष्यप्रमाणवार्तिक की विषयसूची

(१)

प्रमाण-परिच्छेद

(२)

प्रत्यक्षपरिच्छेद

प्रमाणवार्तिकम्

[वार्तिकालङ्काराख्याख्योपेतभाष्यसहितम्]

प्रथमो भागः

॥ नमः सर्वज्ञाय ॥

सभाष्यं प्रमाणवार्तिकम्

परिच्छेदः–१

[प्रमाण-सिद्धिः]

मङ्गलम्—

विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये ।

नमः समन्तभद्राय समन्तस्फरणत्विषे ॥ १ ॥

[भगवान् बुद्ध त्रिमूर्ति या त्रिकाय हैं—(१) धर्मकाय, (२) रूपकाय या नैर्माणिककाय, (३) सम्भोगकाय। ग्राह्यग्राहकभावरूप द्विविध अध्यास के कल्पना-जाल से विधूत (परिपूत) धर्मकाय हैं। गम्भीर (अनवगाह्य) या बुद्धेतरजनों के द्वारा अप्राप्य सम्भोगकाय तथा अत्यन्त उदार (विश्व-व्याप्त) निर्माणकाय हैं। इस प्रकार त्रिकायरूप स्वार्थ-सम्पत् से सम्पन्न, विश्वकल्याण एवं विश्वव्याप्त देशनारूपी परार्थ-सम्पत् से परिपूर्ण पूर्ण प्रकाश-मण्डल से मण्डित भगवान् बुद्ध को नमस्कार है।] ॥ १ ॥

प्रायः प्राकृतसक्तिरप्रतिबलप्रज्ञो जनः केवलम् ।

नानर्थ्येव सुभाषितैः परिगतो विद्वेष्ट्यपीर्ष्यामलैः ॥

तेनायं न परोपकार इति नश्चिन्तापि चेतश्चिरम् ।

सूक्ताभ्यासविवर्धितव्यसनमित्यत्रानुबद्धस्पृहम् ॥ २ ॥

मङ्गलम्—

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने ।

कुतर्कसंभ्रान्तजनानुकम्पया प्रमाणसिद्धिर्विधिवद् विधीयते ॥१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः ।

पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

यथात्मदर्शनं नेयं तथैवानात्मचिन्तनम् ।

अविवेकेऽविवेकः स्यात् स परमापदां पदम् ॥ २ ॥

यस्य तर्कैः समाक्रान्तं सर्वमागमिकाजिरम् ।

तस्यैव विदुषः कीर्तेः कारित्रं चिन्तयामहे ॥ ३ ॥

प्रज्ञाकरप्रतिज्ञेयं वयमद्वैतवादिनः ।

तेन मोहेन मुग्धत्वात् तदलङ्कारमाश्रये ॥ ४ ॥

मङ्गल—

प्रमाणात्मा, सम्पूर्ण जगत् के हितैषी, सम्यक् सम्बुद्ध, महातायी (जगदुद्धारक), आर्य सत्य के एकमात्र शास्ता (उपदेष्टा) भगवान् बुद्ध को प्रणाम करके दार्शनिकों के

[प्रायः पृथक्जनों की सक्ति (आसक्ति या पक्षपात) न्यायादि प्राकृत (बाह्य या बौद्धेतर) शास्त्रों में ही है। सौगत सुनिबन्धों के ग्रहण की शक्ति भी उनमें नहीं। केवल इतना ही नहीं, बौद्ध-सिद्धान्त-प्रतिपादक सुभाषितों (ग्रन्थों) से द्वेष भी रखते हैं, अतः हमारे इस सुनिबन्ध के द्वारा उनका कुछ ज्ञान-लाभादि उपकार होगा—ऐसी स्वप्न में भी सम्भावना नहीं। हाँ, मैं (धर्मकीर्ति) तो, जो दीर्घकाल से जिस विषय का अभ्यास मन्थन कर रखा है, उसके प्रचार और प्रसार की लालसा से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह-मात्र कर रहा हूँ।] ॥ २ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रायः प्रस्तुतवस्तुविस्तरभृतो नेक्ष्यन्त एवोच्चकैर्-
वक्तारः परमार्थसंग्रहधिया व्याधूतफल्गुक्रमाः।
तेनास्मिन् विरलक्रमव्यपगमादत्यन्तशुद्धान्धियं।
धन्यानां विदधातुमुद्धतधियां धीः संविदे धीयते ।।२।।

अत्र भगवतो हेतुफलसंपत्त्या प्रमाणभूतत्वेन स्तोत्राभिधानं शास्त्रादौ शास्त्रार्थत्वात्। भगवानेव हि प्रमाणभूतोऽस्मिन् प्रसाध्यते।

तत्र हेतुराशयप्रयोगसंपत् सांव्यवहारिकप्रमाणापेक्षया। आशयो जगद्धितैषिता। प्रयोगो जगच्छासनात् शास्तृत्वम्। फलं स्वपरार्थसंपत्। स्वार्थसंपत् सुगतत्वेन त्रिविधमर्थमुपादाय—(१) प्रशस्तत्वं सुरूपवत्। (२) अपुनरावृत्त्यर्थं सुनष्टज्वरवत्। (३) निःशेषार्थं सुपूर्णघटवत्। परार्थसंपत्—जगत्तारणात् तायित्वम्। सन्तानार्थश्चापरिनिर्वाणधर्मत्वात्। एवम्भूतं भगवन्तं प्रणम्य 'प्रमाणसिद्धिर्विधीयते'। प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमो भगवानेव च प्रमाणम्, प्रमाणलक्षणसद्भावात्। प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

परस्पर-विरोधी मतवादों में फँसे (संशयाक्रान्त) मानवों का कल्याण करने के उद्देश्य से प्रमाण-सिद्धि नाम के इस परिच्छेद में प्रमाणतत्त्व पर सविधि पूर्ण प्रकाश डाला जा रहा है॥ १ ॥

प्रस्तुत विषय (प्रमाणतत्त्व) की विस्तृत जानकारी रखनेवाले ऐसे विद्वान् वक्ता प्रायः दिखाई नहीं देते, जो निरर्गल बकवाद न कर विषयवस्तु का विस्पष्ट विश्लेषण कर सकें, फलतः प्रमाणतत्त्व का स्वरूप धूमिल-सा होता जा रहा है, अतः विरलक्रम (स्वाध्याय-प्रवाह में विरलता या अवरोध उपस्थित) हो जाने के कारण अवसर प्राप्त अशुद्धियों का परिमार्जन कर धन्य-पुरुषों (भाग्यवान् अधिकारीजनों) एवं उद्धत बुद्धिवाले हठी वादिगणों को प्रमाणतत्त्व का विशुद्ध बोध कराने का सम्यक् सङ्कल्प किया जाता है ॥ २ ॥

भगवान् बुद्ध द्विविध हेतुसम्पत् और द्विविध फलसम्पत् से सम्पन्न होने के कारण प्रमाणभूत हैं, अतः इस प्रमाण-शास्त्र के आरम्भ में उनका स्तोत्राभिधान (मंगलाचरण) अत्यन्त युक्ति-संगत है, क्योंकि भगवान् बुद्ध ही प्रमाणस्वरूप हैं—यही यहाँ सिद्ध किया जाता है।

'जगद्धितैषी', 'शास्ता', 'सुगत' और 'तायी'— इन चार विशेषणों के द्वारा भगवान् बुद्ध में द्विविध हेतु सम्पत् एवं द्विविध फल-सम्पत् को सूचित किया गया है—

(१) हेतु-सम्पत्—'आशय' और 'प्रयोग' के भेद से हेतु-सम्पत् दो प्रकार की है

प्रमाणलक्षणम्—

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः ।
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥ ३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणलक्षणम्—

तत्र सामान्येन प्रमाणलक्षणं निर्दिशति—प्रमाणमिति ।

ज्ञानं प्रमाणं तत्र सति प्रमितिसिद्धेः । अविसंवादि । विसंवादे सति विपर्ययात् इन्द्रियार्थसंयोगादयो हि विसंवादविविक्तज्ञानोपलक्षिता एव तत्त्वं प्रतिलभन्ते । अवि- :

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

[यद्यपि बौद्ध-सिद्धान्त में प्रत्यक्ष और अनुमान—दो ही प्रमाण माने जाते हैं, शब्द-प्रमाण स्वीकृत नहीं, अतः उक्त चतुर्विध विशेषण शब्दों के द्वारा हेतु-सम्पत् आदि की प्रमिति नहीं हो सकती । तथापि यह प्रमाणाप्रमाणादि का विभाग सांव्यावहारिक मात्र है, व्यावहारिक दृष्टि से शब्द को भी प्रमाण माना जाता है, जैसा कि स्वयं वार्तिककार कहते हैं—"शाब्देऽपि ⋯अविसंवादनम्" । इसके भाष्य में प्रज्ञाकर भी कहते हैं—"शब्द विषयं तु ज्ञानमभिप्रायनिवेदनात् प्रमाणम्" (अग्रिम पृ० ८)] । जगद्धितैषितारूप मानस व्यापार 'आशय' और शास्तृत्वरूप वाग्व्यापार 'प्रयोग' कहलाता है । [संसार-सागर की प्रलयङ्कर उत्ताल-तरङ्गों में फँसे प्राणी को देखकर भगवान् की महाकरुणा उमड़ पड़ती है, शास्ता का शास्तृत्व सहसा मुखरित हो उठता है—"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय" (महावग्ग पृ० ३१) ।

(२) फल-सम्पत्—हेतु-सम्पत् (उपनिषत् ग्रन्थों में चर्चित शमादि साधनों के सम्पादन) से द्विविध फल की सिद्धि होती है—(१) साधक के अपने स्वार्थ (तत्त्वज्ञान या सम्बोधि) की सिद्धि और (२) पर-कल्याण की सिद्धि होती है । तायित्व (तारकत्व) शक्ति के द्वारा दुःखी जनों का उद्धार होता है । ऐसे ही महापुरुषों के लिए कहा जाता है—"स्वयं तीर्णाः पराँश्च तारयन्ति ।"

'सुगत' संज्ञा स्वार्थ-सम्पत् की अवद्योतक है, क्योंकि ज्ञानार्थक 'गम' धातु से निष्पन्न 'गत' शब्द का अर्थ है–ज्ञान । 'सु' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है–(१) कहीं 'प्रशस्त' अर्थ में, जैसे—'सुरूपम्' (प्रशस्त-रूपवान्), (२) कहीं 'अपुनरावृत्ति' अर्थ में, जैसे—सुनष्टज्वरः (ज्वर का ऐसा नष्ट हो जाना कि फिर कभी ज्वर न आसके । (३) कहीं निःशेष अर्थ में, जैसे—'सुपूर्णो घटः' अर्थात् निःशेष घट जल से ऐसा भरा हुआ है कि उसका तनिक-सा भाग भी खाली नहीं । इस प्रकार भगवान् बुद्ध शोभनज्ञान-सम्पन्न, सर्वज्ञता-समन्वित एवं नित्ययुक्त हैं [प्रज्ञापारमिता सूत्र एवं स्थविरवर बुद्ध-घोष की अट्ठकथाओं में 'सुगत' शब्द की विविध व्याख्याएँ की गई हैं—"सोभनगमनता, सुन्दरं ठानं गतत्ता, सम्मा च गदत्ता सुगतो" (समन्त पा० पृ० १०३)]

'तायी' संज्ञा के द्वारा जगत्तारकत्वरूप परार्थसम्पत् को ध्वनित किया गया है । जब तक भगवान् बुद्ध निर्वाण-धर्मता में प्रवेश नहीं करते तब तक निरन्तर विज्ञान-सन्तानों का उद्धार करते रहते हैं । इस प्रकार के भगवान् को प्रणाम करके प्रमाण-सिद्धि की जाती है । प्रमाणों के अधीन ही प्रमेय का अधिगम होता है । भगवान् ही प्रमाण हैं, क्योंकि उनमें ही प्रमाण का लक्षण घटता है—'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' ।

प्रमाणलक्षण—

प्रमाण सामान्य का लक्षण किया जाता है—"प्रमाणम् अविसंवादि ज्ञानम्" ।

[अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है। अर्थ (दाह-पाकादिरूप प्रयोजन) की क्रिया (निष्पत्ति) का नाम अविसंवाद है । शाब्द ज्ञान में भी वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का निवेदन (प्रकाशन) होने के कारण प्रमाणता मानी जाती है] ।। ३ ।।

वार्तिकालङ्कारः

संवादार्थी हि सर्वः प्रमाणान्वेषणप्रयुक्तः ।

ननु अविसंवादित्वं तस्य साधनज्ञानस्य स्वरूपमेव । तस्मिंश्च स्वरूपेण ज्ञायमाने ज्ञातमेव तदिति किं परीक्ष्यते ? अथ न स्वरूपसंवेदनम् । तदा प्रमाणमेव नास्तीत्यापतितम् । न चायं पक्षः क्षमो भवतामिति । तदसत् । न स्वरूपमेवज्ञानस्य प्रामाण्यं संवादित्वं वा । अपि तु अर्थक्रियास्थितिः अविसंवादनम् ।

न खलु ज्ञानस्वरूपमात्रावगताविदं प्रमाणमिति भवति । किन्तर्हि, अर्थस्य दाहपाकादेः क्रियानिष्पत्तिस्तस्याः स्थितिरविचलनमविसंवादनं व्यवस्था वा । सा चार्थक्रिया भाविनी न तत्काले । ततस्तत्संबन्धो न स्वरूपसंवेदनमात्रावधृतः ।

ननु तत्संबन्धिता स्वरूपमेव, तत् कथं न स्वरूपसंवेदनमात्रावधारणम् ? नैतदस्ति—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही प्रमिति की सिद्धि होती है। ज्ञान भी जैसा-तैसा प्रमाण नहीं हो सकता, अपितु अविसंवादि ज्ञान ही प्रमाण होता है, क्योंकि विसंवाद (अर्थ-व्यभिचार) होने पर प्रमिति न होकर विपर्यय (मिथ्या प्रत्यय) होता है। इन्द्रिय-सन्निकर्षादि जो प्रमाण कहा गया है, वह विसंवाद-रहित ज्ञान के उत्पादक होने के कारण उपलक्षणविधया प्रमाणव्यवहार मात्र कर दिया गया है। विसंवाद-रहित सफल प्रवृत्ति की कामना रखनेवाले सभी व्यक्ति साक्षात् प्रमाण का ही अन्वेषण करते हैं।

शङ्का—यह जो कहा जाता है कि इस शास्त्र का विषय है—अविसंवादित्व (प्रामाण्य) वह सम्भव नहीं, क्योंकि विचारणीय वही होता है, जो सन्दिग्ध और सप्रयोजन हो, जैसा कि न्याय-भाष्यकार ने कहा है—"नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयिते" (न्या०भा० १।१।१)। अविसंवादित्व धर्म तो प्रमाण ज्ञान का स्वरूप ही है, अतः ज्ञानरूप धर्मी का ज्ञान होने पर ज्ञात (निर्णीत) ही हो जाता है, अतः किसकी परीक्षा (विचारणा) होगी ? यदि संवेदन (अविसंवादित्व) को ज्ञान का स्वरूप नहीं माना जाता, तब उस ज्ञान को प्रमाण ही नहीं कह सकते किन्तु यह आप (बौद्धों) का सिद्धान्त नहीं कि ज्ञान को प्रमाण न माना जाय।

समाधान—प्रामाण्य या अविसंवादित्व को ज्ञान का स्वरूप नहीं माना जाता, अपितु अर्थक्रिया-स्थिति को अविसंवादित्व कहा जाता है। आशय यह है कि ज्ञान का स्वरूप-मात्र अवगत हो जाने से उस ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, अपितु अग्नि आदि पदार्थों के दाह-पाकरूप अर्थ (प्रयोजन) की क्रिया (निष्पत्ति) की स्थिति (अविचलता, अविसंवादिता या व्यवस्था) ही प्रामाण्य पदार्थ है, वह ज्ञानकाल में विद्यमान न होकर भावी है। फलतः ज्ञान का ज्ञान हो जाने मात्र से वह (प्रामाण्य) ज्ञात न होकर अज्ञात ही रहता है, विचारणीय हो जाता है।

शङ्का—यह जो कहा गया कि अर्थक्रिया-सम्बन्धी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, वहाँ अर्थक्रिया-सम्बन्धिता ज्ञान का स्वरूप होने के कारण ज्ञान का ज्ञान होते ही ज्ञात हो जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयस्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम् ॥३॥

कथं तर्हि प्रवर्त्तनाकाले तज्ज्ञानम् । एतदुत्तरत्र वक्ष्यामः । यद्यर्थक्रियाधिगमे पूर्वकं प्रमाणं, सोप्यर्थक्रियाधिगमः प्रमाणमप्रमाणं वा ? अप्रमाणेनार्थक्रियाधिगमाभावात् प्रमाणं तत् । ततस्ततोऽप्यर्थक्रियाधिगमः परान्वेषणीय इत्यनवस्था । नेदं साधीयः—

उत्तरार्थक्रियाभावात् पूर्वस्य यदि मानता । तदैवार्थ क्रियाभावादुत्तरस्य कथन्न सा ॥४॥

यत्रार्थक्रियास्थितिरपरोपकल्पिता तद् यावत् प्रमाणम् । यत्र तु स्वतस्तदैवार्थक्रियानुभवः, तत् सुतरामेव प्रमाणम् । अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनमिति सामान्येनाभिधानात् ।

ननु दाहपाकाद्यर्थक्रियेयं स्वप्नेऽपि सम्भवति पीतशङ्खादिज्ञाने च । शब्द-विषये तु ज्ञाने न दाहपाकाद्यर्थक्रिया स्वतः परतश्चार्थक्रियाभावात् । तस्मादबाधितो बोधः प्रमाणमिति युक्तम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—अर्थक्रिया और ज्ञान का सम्बन्ध केवल ज्ञान के ज्ञान से ज्ञात नहीं होता, क्योंकि घट और भूतलादि का सम्वन्ध द्विष्ठ (अपने दोनों सम्बन्धियों में रहने वाला) होता है, अतः वह अपने दोनों सम्वन्धियों के ज्ञान से ही ज्ञात होता है, केवल एक सम्बन्धी के ज्ञानमात्र से ज्ञात नहीं होता । ज्ञान-काल में अर्थक्रिया न होने के कारण ज्ञात नहीं हो सकती, तब उसका ज्ञान के साथ सम्वन्ध क्योंकर ज्ञात होगा ? ॥ ३ ॥

शङ्का—प्रवृत्ति-काल में उक्त सम्वन्ध का ज्ञान कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर आगे चल कर दिया जायगा । यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि अर्थक्रिया का ज्ञान हो जाने पर उसके पूर्वोत्पन्न ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है, तब यह प्रश्न उठता है कि वह अर्थक्रिया का ज्ञान प्रमाण है ? या अप्रमाण ? अप्रमाण ज्ञान के द्वारा अर्थक्रिया का अधिगम (निश्चय) नहीं हो सकता, अतः उसे प्रमाण ही मानना होगा । उसकी प्रमाणता अन्य अर्थक्रिया के अधिगम पर निर्भर है, फलतः पूर्व-पूर्व को उत्तरोत्तर की अपेक्षा में अनवस्था दोष प्रसक्त क्यों न होगा ? ॥ २ ॥

समाधान—कथित अनवस्था दोष अयुक्त है, क्योंकि जब उत्तरकालीन ज्ञान में अवभासित अर्थक्रिया की सत्ता से पूर्वोत्पन्न वह्न्यादि-ज्ञानों में प्रमाणता मानी जाती है, तब उसी समय (अर्थक्रिया के ज्ञान-काल में) अवभासित अर्थक्रिया की अर्थक्रिया के द्वारा उस उत्तरभावी प्रथम अर्थक्रिया के ज्ञान में प्रमाणता क्यों नहीं मानी जा सकती ? (आशय यह है कि जहाँ प्रथम ज्ञान में केवल वह्न्यादि का भान, द्वितीय ज्ञान में दाहादि-रूप अर्थक्रिया और तृतीयादि ज्ञानों में उत्तरोत्तर अर्थक्रिया का भान होता है, वहाँ अवश्य ही पूर्व-पूर्व ज्ञान को उत्तरोत्तर ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था होती है, किन्तु जहाँ एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय और उसकी अर्थक्रिया का भान हो जाता है, वहाँ अनवस्था क्यों होगी ?] । अर्थक्रिया-स्थिति अविसंवाद पदार्थ है—ऐसा सामान्याभिधान है, उसका भान पृथक् ज्ञान में होता है, या समूहालम्बनात्मक एक ही ज्ञान में—ऐसी कोई विशेषता का प्रदर्शन नहीं किया गया ॥ ३ ॥

शङ्का—यह दाह-पाकादिरूप अर्थक्रिया तो स्वप्न में देखी जाती है, अतः वह्नि का स्वाप्न ज्ञान एवं 'पीतः शङ्खः'—इत्यादि अप्रमाण ज्ञानों में यह प्रमाण का लक्षण अतिव्याप्त क्यों नहीं ? यह लक्षण केवल अतिव्याप्त ही नहीं, अपितु शाब्दादि प्रमाण-

वार्तिकालङ्कारः

तदप्ययुक्तम् , यतः शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनाद् अविसंवादनम् ।

शब्दविषयं ज्ञानं शाब्दम् । अपिशब्दादन्यत्रापि । अयमर्थः—

स्वरूपप्रबोधमात्रेण सर्वं ज्ञानं भवेत् प्रमा । अथाबाधितबोधत्वात् स्वप्नादावपि किन्न तत् ॥५॥

बोधमात्रसंगमो हि स्वप्नेतरप्रत्ययसंभवी समान एव सर्वत्र। स हि न पुरुषार्थस्य साधकः । अथाबाधितबोधत्वं तदपि समानमेव । जाग्रत्प्रत्ययेन बाध्यमानता चेत्, कोऽयं बाधो नाम ?

परेण विषयाभावज्ञापनं स यदीष्यते । स्वार्थे प्रवृत्तिमज्ज्ञानमभावं ज्ञापयेत् कथम् ॥ ६ ॥

न तावज्ज्ञानान्तरेणाभावः स्वप्नज्ञानस्यान्यस्य वा केनचित् क्रियते । तत्काले तस्य स्वयमेव नाशात् । न चाक्षिनिमीलनान्नष्टे ज्ञाने बाध्यता प्रतीयते । अन्येन नहि ज्ञानेन तस्य विषयापहारोऽसत्ताज्ञापनलक्षणो बाधः । न च स्वविषये प्रवृत्तमन्यविषयापहारं रच-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञानों में अव्याप्त भी है, क्योंकि शाब्द ज्ञान के विषयीभूत वल्लचादि की अर्थक्रिया न तो स्वतः (उसी ज्ञान के द्वारा) और न अन्य ज्ञान के द्वारा अधिगत होती है। अतः प्रमाण का "अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्"—ऐसा लक्षण न करके "अबाधितार्थोऽनुभवः प्रमाणम्"—ऐसा लक्षण करना चाहिए। स्वाप्न अर्थक्रिया बाधित होने के कारण स्वाप्न ज्ञानों में अतिव्याप्ति नहीं और वल्लचादि के शाब्द ज्ञान में अव्याप्ति भी नहीं, क्योंकि उसका विषय अबाधित है ॥ ४ ॥

समाधान—कथित शङ्का भी अयुक्त है, क्योंकि शब्द-जनित, शब्द-विषयक ज्ञान शाब्द कहलाता है। 'शाब्देऽपि'-यहाँ 'अपि' शब्द के द्वारा गन्धादिविषयक अन्य शाब्द ज्ञानों का ग्रहण अभिप्रेत है। सभी शाब्द ज्ञानों में शब्दादि विषयों के स्वरूप की प्रतिपत्ति को ही अर्थक्रिया कहते हैं, उसको लेकर सभी शाब्द ज्ञान प्रमाण माने जाते हैं, अतः उनमें अव्याप्ति नहीं। अबाधितार्थानुभवत्व लक्षण भी स्वाप्न ज्ञानों में क्यों नहीं ? विषयस्वरूपमात्र की प्रतिपत्तिता तो स्वाप्न एवं उससे भिन्न सभी ज्ञानों में समान है। यदि कहा जाय कि स्वरूपमात्र की प्रतीति से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती, अतः अबाधितार्थक बोधत्व को ही प्रामाण्य मानना चाहिए, तो वह भी सर्वत्र ज्ञानों में समान है। यदि कहा जाय कि स्वाप्न ज्ञान का विषय जाग्रदनुभव के द्वारा बाधित हो जाता है, अतः अबाधितार्थक अनुभवत्व स्वाप्न ज्ञान में अतिव्याप्त नहीं होता। तब यह जिज्ञासा होती है कि यह बाध-पदार्थ क्या है ? ॥ ५ ॥

यदि पर (उत्तरवर्ती) ज्ञान के द्वारा पूर्व ज्ञान के विषय का अपहार (विषयाभाव-ज्ञापन) बाध-पदार्थ माना जाता है, तब प्रश्न उठता है कि क्या उसी ज्ञान के द्वारा उसका विषयापहार होता है ? या ज्ञानान्तर के द्वारा ? उसी ज्ञान के द्वारा उसका विषयापहार नहीं हो सकता, क्योंकि जो ज्ञान जिस विषय के स्वरूप-प्रतिपादन में प्रवृत्त होता है, उसी से उसके विषय का बाध क्योंकर होगा ? उत्तरोत्पन्न अन्य ज्ञान के द्वारा भी पूर्व ज्ञान का विषयापहार नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय तक पूर्व ज्ञान तो स्वयं नष्ट हो जाता है। आँखें बन्द कर लेने पर स्वतः नष्ट ज्ञान में बाध्यता की प्रतीति कभी नहीं होती। फलतः अन्य ज्ञान के द्वारा पूर्व ज्ञान का विषयाभाव-ज्ञापनरूप विषयापहार या बाध सम्भव नहीं। कोई भी ज्ञान अपने विषय में प्रवृत्ति और अन्य ज्ञान के विषयापहार की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि सभी ज्ञानों का यह धर्म (स्वभाव) है कि

वार्तिकालङ्कारः

यितुमलम् । स्वविषय(ज्ञान)स्वविषयस्य रूपसाधनं हि ज्ञानानां धर्मः । परविषयापहरणन्तु नराधिपधर्मः ।

कथन्तर्हि बाध्यबाधकभावः ? न कथञ्चित् । अत एवाबाधितत्वं न प्रमाणत्वम् । तस्माद् यत्रार्थक्रिया नास्ति तदप्रमाणम् ।

स्वयमन्येन वा यत्र ज्ञायते न क्रियोदयः । तदप्रमाणं न स्वनास्वप्नभेदोऽस्ति तत्त्वतः ।।७।।

व्यवहारमात्रमेवेदं स्वप्नास्वप्नभेदो नाम । तथा प्रमाणाप्रमाणभेद इति हि वक्ष्यते । न चासावर्थक्रियास्थितिरविचलितत्वाभावात् । भावनामात्रावसायतार्थक्रिया स्वप्ने । न तत्र परितोषः । अबाधितत्वे त्वनवस्थैव । प्रथममबाधनं सर्वत्रैव । तदुत्तरकालमबाधने । तत्राप्युत्तरकालमबाधनमिति कुतः ?

बाधकस्य पुरोभावः सर्वविज्ञानसम्भवी । परन्तु बाधकाभावस्तत्राप्याशंक्यते न किम् ।।८।।

पीतशंखादिविज्ञानन्तु न प्रमाणमेव, तथार्थक्रियावाप्तेरभावात् । संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम् । तथा हि—

प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः । एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ।।९।।

येन न कदाचिद् व्यभिचार उपलब्धः स यथाभिप्रेते विसंवादाद् विसंवाद्यत एव । यस्तु व्यभिचारसंवेदी स विचार्य प्रवर्त्तते । संस्थानमात्रन्तावत् प्राप्यते । परत्र सन्देहो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वे अपने विषय की स्वरूप-सिद्धि ही किया करते हैं । किसी ज्ञान के विषय का अपहार (वध) नहीं करते । विषय (देश) का अपहरण तो राजा-महाराजा किया करते हैं ।।६।।

तब पूर्व और उत्तर ज्ञान का बाध्य-घातक भाव कैसे बनेगा ? किसी प्रकार भी नहीं । अतः अबाधितविषयक ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता । हाँ, जिस ज्ञान में अर्थक्रिया-कारित्व नहीं, वह अप्रमाण और जिसमें अर्थक्रिया का उदय (उत्पादन) स्वतः या परतः अधिगत हो जाता है, वह प्रमाण होता है । स्वप्न और अस्वप्नादि का विभाग न तो पारमार्थिक है और न विषय के बाधाबाध पर निर्भर ।। ७ ।।

स्वप्नास्वप्न और प्रमाणाप्रमाण का भेद व्यवहारमात्र है, तात्त्विक नहीं—यह आगे चलकर कहा जायगा । अर्थक्रिया की स्थिति या अविचलितत्व का होना भी अनिवार्य नहीं, क्योंकि स्वप्नावस्था में अर्थक्रिया अविचलित नहीं, वह तो भावनामात्र है, विषयवस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, अतः उक्त लक्षण भी सन्तोषजनक नहीं । अबाधितार्थ-विषयकत्व-पक्ष में तो अनवस्था दोष है । अर्थात् ज्ञान-काल में तो विषय का अबाधित होना सभी ज्ञानों में समानरूप से पाया जाता है । भविष्यत्काल में अबाध का होना भी निश्चित नहीं, क्योंकि भविष्यत्काल में कब किसके विषय का बाध हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते । जहाँ 'पीतः शंखः'—ऐसा भ्रम होता है, वहाँ पीत शङ्ख के न होने पर भी पीतापीत-साधारण संस्थान-विशेष की सिद्धि अनुमान के द्वारा हो जाती है । अनुमान का आकार यह है—'पीतः शङ्खः' ऐसा आभास (ज्ञान) किसी संस्थान-विशेष को विषय करता है, क्योंकि वह ज्ञान है, घटादिज्ञानों में वैसा ही देखा जाता है, फलतः 'पीतः शङ्खः' यह ज्ञान भी वैसा (सविषयक) ही है ।। ८ ।।

जिस व्यक्ति ने जलादि-ज्ञानों का विषय-व्यभिचार कभी नहीं देखा, वैसा व्यक्ति मरु-मरीचि में बेधड़क प्रवृत्त होकर ठगा ही जाता है, किन्तु जो व्यक्ति एक-दो बार

वार्तिकालङ्कारः

विपर्ययो वा । ततोऽनुमानं संस्थाने । संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च । अनेन मणिप्रभायां मणिज्ञानं व्याख्यातम् । तथा च वक्ष्यामः ।

अथ केन द्वयमेतदिति प्रतीयते ? एतदपि वक्ष्यामः । शब्दविषयन्तु ज्ञानमभिप्रायनिवेदनात् प्रमाणम् । अभिप्रेतार्थक्रियास्वरूपनिवेदनमेव संवादनम् ।

ज्ञेयस्वरूपसंसिद्धिरेव तत्र क्रिया मता । चित्रेऽपि दृष्टिमात्रेण फलं परिसमाप्तिमत् ॥१०॥

न खलु स्वरूपसंवेदनादपरमत्रार्थक्रियाज्ञानं क्वचिदुपलभ्यते । रूपादयो हि स्वस्वरूपसंवेदनपरा एव । न तद्विषयः प्रत्ययः परत्र प्रमाणम् । तत्स्वरूपसंवेदनमात्रकञ्च सर्वत्र ज्ञाने समानमिति न सांव्यवहारिकप्रमाणावतारः ।

ततो भाव्यर्थविषयं विषयान्तरगोचरम् । प्रमाणमध्यारोपेण व्यवहारावबोधकृत् ॥११॥

भाव्यर्थविषयान्तरप्राप्त्यर्था हि प्रमाणाप्रमाणान्वेषणाः । यथा च भिन्नो विषयस्पर्शादिकः न रूपादिस्वरूपग्रहणेऽन्तर्याति तथा भाविस्वरूपमपि परमार्थतः । अध्यारोपेण तु तदेकता विषयान्तरस्यापि । ततस्तद्द्वारेण संवादनमुक्तं ज्ञाने । यत्र तु तदैवार्थक्रिया तत्राविवाद एव । तत्र भाविस्वरूपे तत्कारणत्वे नैकतारोपः । परत्र तु स्पर्शादौ तदेक-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ठगा जा चुकता है, वह बहुत सोच-समझ कर प्रवृत्त होता है। उसे जो पहला संस्थानमात्र (धर्मिमात्र) का ज्ञान होता है, वह अनुमान है और दूसरा जल-ज्ञान संशय या विपर्ययरूप होता है। पहला ज्ञान प्रमाण और दूसरा ज्ञान अप्रमाणरूप है। इसी प्रकार मणि-प्रभा में मणि-ज्ञानरूपी संवादी भ्रम भी व्याख्यात हो जाता है, जिसकी चर्चा, आगे की जायगी ॥ ९ ॥

प्रमाणाप्रमाणरूप प्रत्यय-द्वय की प्रतीति किसे होती ? यह भी आगे कहा जायगा। यह तो कहा जा चुका है कि शब्द-जनित ज्ञान वक्ता के अभिप्राय का सूचक होने के कारण ही प्रमाण माना जाता है। वहाँ अभिप्रेत वस्तु का स्वरूपज्ञान ही संवादन या अविसंवाद है। ऐसे स्थलों पर ज्ञेय वस्तु की स्वरूप-सिद्धि को छोड़कर अन्य कोई अर्थक्रिया उपलब्ध नहीं होती। रूपादि पदार्थ अपने स्वरूप का संवेदन मात्र कराते हैं। रूपादि-विषयक ज्ञान परत्र (रसादि की सिद्धि में) प्रमाण नहीं हो सकता। स्वरूप-संवेदन तो सर्वत्र ज्ञानों में समानरूप से होता है। अतः इसके आधार पर सांव्यावहारिक-पारमार्थिक का भेद मानने की आवश्यकता नहीं ॥ १० ॥

यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान का जलादि विषय वर्तमान ही होता है, भविष्यत् नहीं और प्रवृत्ति का विषयीभूत जल भविष्यत् है, तथापि दोनों विषयों की एकता का आरोप हो जाता है और जलादि-ज्ञान सांव्यावहारिकरूप से प्रमाण माना जाता है॥ ११ ॥

लोक में दृष्ट विषय की भावी सन्तानान्तर की प्राप्ति करने के लिए प्रमाण की अन्वेषणा होती है। जैसे रूप-ज्ञान विषयीभूत रूपक्षण से स्पर्शादि भिन्न होते हैं, गृहीत रूपक्षण के अन्तर्गत नहीं होते। वैसे ही प्राप्य भावी रूपक्षण भी परमार्थतः दृष्ट रूपक्षण से भिन्न होता है, तथापि समान सन्तति के उन दोनों सन्तान-क्षणों की एकता का अध्यारोप होकर प्रवृत्ति होती है और वह संवादी भ्रम के समान सफल भी होती है, अतएव पूर्वज्ञान में प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है। जहाँ एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय-वस्तु और उसकी अर्थक्रिया का भान है, उस ज्ञान में तो प्रमाणता निर्विवादसिद्ध है। वहाँ भावी और वर्तमान विषयों में एकतारोप की भी आवश्यकता नहीं। भावी प्रवृत्ति-स्थल

वार्तिकालङ्कारः

सामग्र्यधीनत्वेनेति न विशेषः। यत्र तु नाभिमतार्थक्रिया यथा जलग्राहिविज्ञानात् मरीचिकार्थक्रियावाप्तिस्तदप्रमाणमेव। अत एवाह—'शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्'।

अन्यत्रापि चित्रादौ। तथा च घटज्ञाने पटप्राप्तौ शुक्तिकायाञ्च रजतज्ञानपरंपरायामपि न प्रमाणता। अभिप्रायाविसंवादाभावात्।

अभिप्रायाविसंवादात् प्रमाणं सर्वमुच्यते। न सजातिविजातीयविज्ञानोत्पत्तिमात्रतः ॥१२॥
बाधकप्रत्ययस्यापि स्थितेरेवंप्रकारता। तत्त्वतस्तु विजातीयविज्ञानोत्पत्तिमात्रकम् ॥१३॥
विजातीयविदुत्पत्तिर्यदि बाधकमुच्यते। घटज्ञाने पटज्ञानं बाधकं किन्न युक्तिमत् ॥१४॥
नेति प्रत्ययबुद्ध्या चेत् बाधकं किंचिदिष्यते। स एव प्रत्ययो नेति प्रमाणाद् भेद आगतः ॥१५॥
अभावलक्षणं मानं ततश्चेत्तन्निरूप्यते। किमन्यरूपसंवित्तिः किमभावस्य तस्य वित् ॥१६॥
अन्यरूपस्य वित्तिश्चेदविशेषात् प्रसज्यते। तदभावस्य वित्तौ स्यात् तस्येति न समन्वयः ॥१७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर तो ग्राह्य और अध्यवसेय विषयक्षणों का वैसे ही भेद होता है, जैसे रूप और स्पर्शादि में। वहाँ एक सामग्री की अधीनता को लेकर एकता का आरोप हो जाता है। जहाँ अभीष्ट स्नानपानादि अर्थक्रिया नहीं होती, जैसे—जलावभासी ज्ञान से मरुमरीचिकादि में। वह ज्ञान तो अप्रमाण ही होता है। अतएव कहा गया है—"शास्त्रेऽप्यभिप्रायनिवेदनात्"। यहाँ 'अपि' शब्द के द्वारा प्रत्यक्षादिरूप अन्य ज्ञानों का ग्रहण किया गया है। अर्थात् जहाँ शब्द, गन्ध, रसादि चित्र-गुणात्मक पुष्पादि द्रव्य का चक्षु के द्वारा ग्रहण (प्रत्यक्ष) किया गया है, वह ज्ञान भी चक्षु के अविषयीभूत शब्द, गन्धादि विषयों में अभिप्रेतार्थ-निवेदकत्वेन प्रमाण माना जाता है। हाँ, जहाँ अभिप्रेतार्थ प्रापकत्व नहीं देखा जाता, ऐसा ज्ञान प्रमाण ही नहीं होता, जैसे—पट-प्रापक घट-ज्ञान या शुक्ति-प्रापक रजत-ज्ञान। ऐसे ज्ञान अभिप्रेतार्थविषयकानुमानरूप परम्परा के माध्यम से भी प्रमाण नहीं माने जाते, क्योंकि अभिप्रेतार्थ (घट और रजत) की प्राप्तिरूप अविसंवादिता का वहाँ अभाव होता है। यह एक सार्वभौम लक्षण है कि जहाँ स्वाभिप्रेत वस्तु का लाभरूप अविसंवाद है, उस ज्ञान को ही प्रमाण माना जाता है, सजातीयार्थ के ज्ञान की उत्पादकता या विजातीयार्थ-ज्ञान की अनुत्पादकतामात्र पर प्रमाणता निर्भर नहीं ॥ १२ ॥ बाधक ज्ञान में भी अर्थक्रिया की स्थिति इसी प्रकार की मानी जाती है अर्थात् अभिप्रेत अर्थ के निवर्तक ज्ञान की जनकता ही बाधकता है। यद्यपि तत्त्वतः विजातीय-विज्ञान की उत्पत्तिमात्र ही बाध पदार्थ है, तथापि यदि विजातीय पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति को बाधक माना जाता है, तब घट-ज्ञान में पट-ज्ञान को भी बाधक मानना होगा, क्योंकि वह घट से विजातीय पट को विषय करता है। इसी प्रकार यदि 'न'—इस प्रकार के निषेधक ज्ञान को बाधक माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि नकार का यहाँ भेद अर्थ है ? या अत्यन्ताभाव ?. 'नेदं रजतम्'—यहाँ पर प्रथम पक्ष के अनुसार रजत-भेद कीर्ति और द्वितीय पक्ष के अनुसार रजत का अभाव प्रसक्त होता है। फलतः 'रजतमिदम्'—इस प्रकार की प्रतीति में सन्देह होता है कि क्या यह कोई अन्य वस्तु की प्रतीति है ? या रजत के अभाव को ? अन्य वस्तु की प्रतीति मानने पर विशेष पदार्थ का नियामक न होने के कारण किसी अन्य विशेष का निर्देश न हो सकेगा और रजत के अभाव में रजत का अन्वय कैसे होगा ? ॥ १७ ॥ आशय यह है कि अभाव की स्वरूपेण (अन्यानिरूपित रूप से)

वार्तिकालङ्कारः

अभावो हि स्वरूपेण प्रतीयते। स्वरूपञ्चाभावस्य न घटादिसम्बन्धितया प्रतीयते। प्रतीयमाने हि घटे न तत्सम्बन्धिताऽभावस्य, तदाऽभावाभावात्। न हि जीवत एव देवदत्तस्य मरणम्। अप्रतीयमानेन तु घटेन सम्बन्धिताऽभावस्य न शक्या ग्रहीतुम्।

अथ कार्यकारणभाववत् प्रतीतिः। कारणे सति पश्चात् कार्यं भवति। तदनन्तरं तस्योपलब्धिक्रमेण स्वरूप-प्रतिपत्तौ कार्यकारणसम्बन्धपरिग्रहः एवं भावे सति अभावोऽभावे च सति भाव इति भवति सम्बन्धप्रतिपत्तिः। तदप्यसत्, यतः—

अत्यन्ताभावसंबन्धः कस्यचिन्न प्रसिध्यति। न भावे सत्यभावोऽसौ न च तत्र विपर्ययः ॥१८॥

किञ्च—

कार्यकारणयो रूपं विना तेन प्रतीयते। अभावस्तु विना भावं भवतो न प्रतीयते ॥१९॥

देशस्य शून्यता या तु तस्याः सर्वत्र तुल्यता। प्रागभावादिभेदस्य तत्रात्यन्तमसंभवः ॥२०॥

यथा च वस्तुनो भेदः प्रत्यक्षेण प्रतीयते। प्रागभावादिभेदोऽपि प्रतीयेत तथाऽक्षतः ॥२१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतीति मानने पर घटादि प्रतियोगी पदार्थोंका सम्बन्ध अभाव में न हो सकेगा, क्योंकि प्रतीयमान घट का अभाव से सम्बन्ध होता है? या अप्रतीयमान घट का? घट की प्रतीति होने पर अभाव रहता ही नहीं, किसके साथ घट का सम्बन्ध होगा? फिर भी यदि सम्बन्ध होता है, तब जीवित देवदत्त को भी मृत मानना होगा। अप्रतीयमान घट की अभाव में सम्बन्धिता कभी भी गृहीत ही नहीं हो सकती।

शङ्का—घट की प्रतीति होने पर घटाभाव की प्रतीति वैसे ही हो जायगी, जैसे कारण के पश्चात् कार्य होता है। प्रतियोगी की उपलब्धि होने पर ही अभाव-स्वरूप की प्रतीति होती है। फलतः कार्य और कारण के सम्बन्ध के समान ही प्रतियोगी और अभाव का सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है—'भावे सति अभावः' 'भावे चासति अभावाभावः'।

समाधान—कथित प्रकार भी सम्भव नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभाव (त्रैकालिक अभाव) का सम्बन्ध किसी भी प्रतियोगी के साथ सम्भव नहीं, वहाँ न तो 'भावे सति अभावः' कह सकते हैं और न 'भावेऽसति अभावाभावः' ॥ १८ ॥

दूसरी बात यह भी है कि कार्य कारणभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान न होने पर भी घट और दण्डादि का स्वरूपतः ज्ञान होता है किन्तु प्रतियोगी और अभाव के सम्बन्ध का ज्ञान न होने पर अभाव की प्रतीति ही नहीं हो सकती [आशय यह है कि 'अभाव' पदार्थ नित्य प्रतियोगिसापेक्ष होता है, 'अभावः'—ऐसा कहने पर नियमतः 'कस्य'—ऐसी आकांक्षा होती है, अतः 'घटस्याभावः', 'पटस्याभावः'—ऐसा ही व्यवहार होता है, केवल 'अभावः' ऐसा नहीं] ॥ १९ ॥ किसी भूतलादि देश जो शून्यता या अभाव है, वह घट का भी हो सकता है और पटादि का भी। अभाव के प्रागभावादिरूप भेदों का भूतलादि में प्रत्यक्ष होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि घटादि कार्यों का प्रागभाव अपने-अपने समवायी कारण में ही रहता है। परमाण्वादिरूप समवायी कारण अतीन्द्रिय होते हैं ॥ २० ॥ भेद के समान ही यदि अत्यन्ताभाव का स्वरूप माना जाता है, तब जैसे वस्तु का भेद प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है, वैसे ही प्रागभावादि का भेद भी प्रत्यक्षतः प्रतीत होना चाहिए ॥ २१ ॥ अभाव की प्रतीति यदि अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण

वार्तिकालङ्कारः

अभावेन प्रमाणेन प्रतीतिस्तस्य चेन्मता । कस्याभावः प्रमाणस्य प्रमाणाभावाद्धि(?)वेदने ॥२२॥
किन्न भावस्य सर्व्वस्य किन्न सुप्तस्य सर्व्वथा । अभावग्राहिका वित्तिरभावो यदि सम्मतः ॥२३॥
भाववित्ति विनैवासौ कस्यचित् किन्न लक्ष्यते । एषैव तत्र सामग्री यदि नाभावनिश्चयः ॥२४॥
वस्तुतो व्यतिरिक्तस्य नाभावस्यास्ति वेदनम् । इदन्नास्तीति विज्ञानं वेत्ति तद्व्यतिरेकिताम्॥२५॥
कुत उत्पद्यतामेतन्नेन्द्रियात् स्मरणं विना । इन्द्रियस्मृतिसंयोगादभावज्ञानसंभवे ॥२६॥
प्राप्तं प्रत्यक्षमेवेदमक्षभावानुसारतः । अन्यत्र वृत्तमक्षञ्चेन्नान्यविज्ञानकारणम् ॥२७॥
मानसं नास्तिताज्ञानं कथमस्य प्रमाणता । प्रमाणमविसंवादादपरं मानमेव तत् ॥२८॥
व्यतिरिक्ते हि नाभावे विसंवादोऽस्ति कस्यचित् । केवलत्वे विसंवादस्तत्प्रत्यक्षेण गृह्यते ॥२९॥
विना भावमतिं तच्च केवलग्रहणं सदा । परानुप्रवेशेन प्रतीतिः केवलग्रहः ॥३०॥
केवलाभावप्रत्यक्षेऽविसंवादस्य संभवः । ततः प्रत्यक्षमेवेदमन्यथानुपलम्भनम् ॥३१॥
ननु केवलसंवित्तिरभावावित्तितः कुतः । सापि केवलसंवित्तिं विना नेति समानता ॥३२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

से मानी जाती है, तब अनुपलब्धि का जो अर्थ होता है—'प्रमाणाभाव', वहाँ जिज्ञासा होती है कि वह किस प्रमाण का अभाव है ? ॥ २२ ॥ अभाव-प्रमाण यदि माना जाता है, तब सुषुप्त पुरुष को सभी भाव पदार्थों की सर्वथा अभाव-ग्राहिका बुद्धि उत्पन्न क्यों नहीं हो जाती ? ॥ २३ ॥ उसी प्रकार भाव-ज्ञान के बिना ही किसी को अभाव की प्रतीति क्यों नहीं हो जाती ? इतनी ही (अभाव मात्र) सामग्री यदि सम्मत है, तब उससे अभाव का निश्चय कभी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ वस्तुतः भाव से व्यतिरिक्त (भिन्न) अभाव का ज्ञान नहीं होता । 'इदम् इदं न'—इस प्रकार की अनुभूति तो भाव से अभाव का भेद करती है, किन्तु यह अनुभूति किस इन्द्रिय से होगी, जब कि प्रतियोगी का स्मरण न हो ? यदि प्रतियोगि-स्मरण-सहकृत इन्द्रिय के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है, तब अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह इन्द्रिय के भावाभाव का अनुविधान करता है । यदि इन्द्रिय अन्यासक्त होने के कारण अभाव का ज्ञान नहीं कर सकती, तब वह मानस है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया" (श्लो० वा० पृ० ४८२) । यह ज्ञान प्रमाण कैसे होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कुमारिल भट्ट का ही कहना है कि जब वह ज्ञान अविसंवादी है, तब उसे प्रमाण मानना ही होगा , यदि प्रत्यक्षादि के अन्तर्गत नहीं हो सकता, तब उसे अनुपलब्धिरूप पृथक् प्रमाण मानना ही युक्तिसंगत है ॥२५-२८॥ अभाव-प्रमाण यदि भिन्न नहीं माना जाता, तब अविसंवाद किस का माना जायगा ? केवलत्वरूप अभाव-ज्ञान की विसंवादिता के कारण अभाव-ग्रहण प्रत्यक्ष से मानना उचित होगा । भावात्मक प्रतियोगी की बुद्धि के बिना पर-निरपेक्ष प्रतीति को केवल-ग्रह कहा जाता है ॥ २९-३० ॥ केवलतारूप अभाव के प्रत्यक्ष ज्ञान में अविसंवादता सम्भव है । अतः यह घटादिरूप अन्य पदार्थों का अनुपलम्भन प्रत्यक्ष ही है ॥ ३१ ॥

'केवलं भूतलम्'—ऐसी प्रतीति अभावावित्तितः (अभाव-प्रतीति के बिना) क्योंकर होगी ? वह (अभाव-प्रतीति) भी केवल-वित्ति के बिना नहीं हो सकती—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है ॥३२॥ अथवा 'इदं भूतलं केवलम् , अभाववत्त्वात्,—इस प्रकार अभावाविनाभाव (अभाव-व्याप्ति) के द्वारा केवलता का अनुमान

वार्तिकालङ्कारः

यथा वा केवलोऽभावाऽविनाभावेन मीयते । तथाऽभावोऽपि नैवञ्चेदनवस्था प्रसज्यते ॥३३॥

अभावप्रतीतिं विना न केवलप्रतीतिरिति चेत् । केवलप्रतीतिं विना नाभावप्रतीतिरिति समानम् । अभावो वा केवलः कथमभावान्तरं विना । तत्राप्यभावकल्पनेऽनवस्था । स एव स्मर्यमाणपदार्थापेक्षोऽनुपलम्भोऽभावसाधनः प्रत्यक्षः प्रत्ययः । अभावव्यवहारस्तु वासनानुरोधात् क्वचिदेव भवति नान्यत्रेति विभागः । तस्माद् यथा जाग्रत्प्रत्ययः स्वप्नप्रत्ययस्य बाधकस्तथा विपर्ययोऽपि केवलग्रहणादिति न्याय्य एषः । तस्माच्छाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् प्रामाण्यमिति निराकृतमेतत्—

श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादितराभिरसङ्गतेः ।

ननु प्रमाणभूतेन भगवता कोऽर्थः व्यावहारिकप्रमाणादेव सर्वपुरुषार्थसिद्धेः । नैतदस्ति—

स्वरूपग्रहणेऽध्यक्षमनुमान्यत्र प्रवर्त्तते । वक्ष्यतेऽदः पुनः पश्चादपरस्याप्रमाणता ॥३४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता और हेतुभूत अभाव का अभावान्तर के द्वारा अनुमान होगा, फलतः अनवस्था दोष की प्रसक्ति होती है ॥३३॥ आशय यह है कि अभाव-प्रतीति के बिना यदि केवल-प्रतीति नहीं होती, तब केवल-प्रतीति के बिना अभाव-प्रतीति नहीं होती, अतः समान-रूपेण अन्योऽन्याश्रयता है । अथवा केवलरूप अभाव, अभावान्तर के बिना और वह अभाव भी अभावान्तर के बिना अनुमित नहीं हो सकता—इस प्रकार अनवस्था होती है । अतः यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि स्मर्यमाण घटादि प्रतियोगी पदार्थों से सापेक्ष अनुपलम्भ (अभाव-ज्ञान) दृश्यादर्शन-सहकृत इन्द्रिय के द्वारा जनित होने के कारण प्रत्यक्ष है । अभाव सर्वत्र होने पर भी अभाव का व्यवहार अपने संस्कारों के अनुसार कहीं ही होता है, सर्वत्र नहीं । फलतः जैसे जाग्रद्बोध स्वप्न-ज्ञान का बाधक होता है, वैसे ही रजत-विशिष्टादि विपर्यय ज्ञान भी 'केवलमिदम्'—इस प्रकार के बाध से बाधित होता है—ऐसा न्याय-प्राप्त है ।

संवादी ज्ञान प्रमाण होता, शाब्दज्ञान में भी अभिप्रेतार्थ बोधनरूप संवाद सुलभ है - इस सिद्धान्त का निराकरण श्री कुमारिल भट्ट ने किया है—"श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादितराभिरसङ्गतेः" (श्लो० वा० पृ० ५२) । [अर्थात् श्रोत्र-जन्य शब्द-विषयक ज्ञान का संवादन चाक्षुषादि ज्ञानों के द्वारा इसलिए नहीं हो सकता कि चक्षुरादि इन्द्रियों का 'शब्द' विषय ही नहीं होता, शब्दविषयक श्रोत-जनित प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण न होकर अप्रमाण ही रह जाता है] ।

शङ्का—भगवान् बुद्ध को जो पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है, उसकी क्या आवश्यकता ? प्रत्यक्षादि व्यावहारिक प्रमाणों के द्वारा ही समस्त कार्य सिद्ध हो जाता है ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ होने के कारण परलोक एवं उसके स्वरूप और साधनों के प्रतिपादन में एकमात्र प्रमाण माने जाते हैं । लौकिक प्रमाण दो माने जाते हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) अनुमान । प्रत्यक्ष प्रमाण तो लोक-प्रसिद्ध पदार्थमात्र के स्वरूप का ही ग्रहण करता है, परलोक में उसकी गति नहीं । अनुमा (अनुमान-प्रमाण) की भी वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह वस्तुसत् से अन्यत्र काल्पनिक सामान्य लक्षणादि पदार्थों का ही ग्राहक होता है । पूर्वापर संगति

वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।
प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥ ४ ॥

वक्ता का व्यापार है-- विवक्षा, उसका विषयीभूत जो घटादि पदार्थ बुद्धि में प्रतिभासित होता है, घटादि शब्द उसी का प्रमाण (अनुमापक लिङ्ग) माना जाता है,

---

वार्तिकालङ्कारः

न तावत् प्रत्यक्षं परलोकादौ प्रवर्तते । तस्य स्वरूपमात्रग्रहणादिति प्रतिपादयिष्यते । अनुमानन्तु सम्बन्धग्रहणमन्तरेण नास्ति । न च सम्बन्धो व्याप्तिरसर्वविदा ग्रहीतुं शक्यः । स्वरूपसंवेदननिष्ठेन हि प्रत्यक्षात्मना न सम्बन्धग्रहणम् । अनुमानेनैव सम्बन्धग्रहणे इतरेतराश्रयणदोषः । सांव्यवहारमात्रेण तु प्रत्यक्षानुमाने प्रमाण सर्वज्ञसाधनानुगुणत्वेनैव नान्यथेति । पश्चादेतत् प्रतिपादयिष्यते । (१)

ननु यदि नाम प्रमाणं परलोकादौ प्रत्यक्षानुमानलक्षणं न प्रवर्त्तते । तस्य स्वरूपविषयत्वादनुमानस्य च सम्बन्धग्रहणसापेक्षत्वात् । शास्त्रन्तु नैवमिति तत एव समीहितसिद्धिः । किं भगवान् प्रमाणभूतः प्रसाध्यते । अत्रोच्यते—वक्तृव्यापारेति । शब्दस्य हि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

को ध्यान में रखने पर यहाँ "अनुमा नात्र प्रवर्तते"—ऐसा पाठ उचित प्रतीत होता है, उसके अनुरूप ही आगे व्याख्या की गई है । यह आगे चलकर कहा जायगा कि परलोक साधक हेतु के साथ व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ग्रहण किसी असर्वज्ञ व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जा सकता । प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न उपमानादि की अप्रमाणता का प्रतिपादन भी आगे किया जायगा ॥ ३४ ॥ आशय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल इन्द्रिय-सम्बद्ध वस्तु के अपने निर्विकल्प-स्वरूप का ही ग्राहक होता है, इन्द्रियासम्बद्ध परलोकादि का प्रकाशक नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण व्याप्य और व्यापक के व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ज्ञान की नियमता अपेक्षा करता है। परलोक के साथ किसी हेतु की व्याप्ति का ग्रहण कोई सर्वज्ञ हो कर सकता है, असर्वज्ञ नहीं। स्वरूप मात्र के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भी उक्त सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता। किसी अन्य अनुमान के द्वारा सम्बन्ध का ग्रहण मानने पर अन्योऽन्याश्रयतादि दोष प्रसक्त होता है। यह कहा जा चुका है कि प्रत्यक्ष और अनुमान सांव्यावहारिक प्रमाण-मात्र हैं, केवल सर्वज्ञ-साधकता की अनुकूलता को लेकर इनकी प्रमाणता स्थापित की गई है-यह आगे चलकर कहा जायगा।

शङ्का—प्रत्यक्ष प्रमाण केवल दृष्ट वस्तु के स्वरूप का ग्रहण करता है और अनुमान प्रमाण व्याप्य और व्यापक के सम्बन्ध-ग्रहण पर निर्भर है, पारलौकिक पदार्थों के स्वरूप या सम्बन्ध के ज्ञान की क्षमता यदि प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दोनों प्रमाणों में नहीं, तब 'शास्त्र' नाम का एक तीसरा प्रमाण है—"शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम" (शाबर० पृ० ३७)। इस शास्त्र प्रमाण में पूर्वोक्त दोष नहीं, अतः शास्त्र चाहे कृतक (पौरुषेय) हो या नित्य (अपौरुषेय) सर्वथा समीहित (अभीष्ट) अर्थ का साधक होता है, कुमारिल भट्ट ने भी कहा है—

"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ (श्लो. वा. पृ० ४०६)

समाधान—शब्दमात्र का यह स्वभाव होता है कि वह केवल अपने वक्ता का

अर्थतत्त्व का प्रतिपादक नहीं हो सकता, क्योंकि उसके साथ शब्द का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। [वैशेषिक—सूत्रकार महर्षि कणाद ने भी शब्द की प्रमाणता लिङ्ग-विषया ही अवधारित की है -"हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यर्थान्तरम्" (वै० सू० ९।२।४) भाष्यकार श्री प्रशस्तपाद ने भी "विवक्षावगतिद्वारेण लिङ्गम्" ऐसा कहकर शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्धाभाव ही बताया है—"सम्बन्धाभावाद् असम्बद्धस्य गमकत्वे चातिप्रसङ्गात्" (न्या० कं० पृ० ५१६)] ॥ ४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नापौरुषेयतेति पश्चात् प्रतिपादयिष्यते। पौरुषेयता तु स्यात्। तत्र च वक्तुर्व्यापारो विवक्षा। वक्ता विवक्षिता। विवक्षाया विषयो योऽर्थः श्रोतृबुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यन्तत्रैव शब्दस्य तत्रैव च व्यापारः शब्दस्य। अन्यथान्यथा विवक्षितमन्यथा प्रतिपादयतोऽत्यप्रेक्षापूर्वकारी स्यात्। तथा च सुतरामेवाप्रामाण्यम्। स च विवक्षिता न सर्वः सर्ववेदी। अन्यथा परस्परविरुद्धता शास्त्राणां न स्यात्। न च परस्परविरुद्धोऽर्थोऽनुष्ठातुं शक्यः। यथानुष्ठानमात्रार्थसिद्धौ व्यर्थतया प्रमाणमलं शास्त्रस्य। स्वमनीषिकानुष्ठानेऽपि फलसिद्धिप्रसङ्गात्।

तथा च निर्विवादं स्याद् यथेष्टं संप्रवर्त्तताम्। नहि किंचिदनुष्ठानं निष्फलं कस्यचित् क्वचित्॥ ३५॥

तस्माद् वक्तृव्यापारविषये शब्दस्य प्रामाण्यं नार्थतत्त्वनिबन्धनम्। यदि वक्ता न सर्वज्ञः। अपौरुषेयेऽपि योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते यद्वा स्वयमेवार्थं प्रतिपद्यते। यदा तु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अभिप्राय ही सूचित कर पाता है, पदार्थतत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकता। शब्द में अपौरुषेयता तो सम्भव ही नहीं—यह आगे कहा जायगा। हाँ, पौरुषेय शास्त्र सम्भव है किन्तु वह भी परलोक-प्रतिपादक नहीं हो सकता, क्योंकि वक्ता पुरुष का व्यापार है—विवक्षा और वक्ता होता है—विवक्षिता। विवक्षा का विषय जो श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होता है, उसी में शब्द का प्रामाण्य सीमित होता है। वक्ता की विवक्षा यदि अन्यथा हो और शब्द का प्रतिपादन अन्यथा हो, तब वक्ता पुरुष अप्रेक्षा-पूर्वकारी (बिना सोचे-समझे बोलनेवाला) कहा जाता है। फलतः परलोकादि पदार्थों के साधन में शास्त्र का प्रामाण्य नहीं हो सकता। सभी विवक्षिता पुरुष सर्वज्ञ नहीं होते। यदि विवक्षिता शास्त्रकार, वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान रखते थे, तब उनके शास्त्रों में परस्पर विरुद्धता नहीं होनी चाहिए थी। परस्पर-विरुद्ध अर्थों का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। अनुष्ठानानुरूप पदार्थों की अन्यथा-सिद्धि हो जाने पर शास्त्रों की व्यर्थता और अप्रमाणता निश्चित है। यदि परस्पर-विरुद्धार्थक शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित पदार्थों के अनुष्ठान का भी समान फल माना जाता है, तब अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार अर्थानुष्ठान करने पर भी समान फल की सिद्धि होनी चाहिए। यदि ऐसा भी मान लिया जाता है, तब सभी दार्शनिकों की यथेष्ट प्रवृत्ति से समानरूप से निर्वाणरूप फल की प्राप्ति हो जाती है, तब विवाद किस बात का ? किसी प्रकार की भी उलटी-सीधी-प्रवृत्ति निष्फल तो होती नहीं॥ ३५ ॥

निष्कर्ष यह है कि यदि वक्ता सर्वज्ञ नहीं है, तब उसके अभिप्रेतार्थ का शब्द बोधक होता है, प्रतिपाद्यत्वेन अभिमत पदार्थतत्त्व का प्रमापक नहीं। अपौरुषेय शब्द भी उसी अर्थ में प्रमाण होता है, जो अर्थ उच्चारयिता की बुद्धि में बैठा होता है या स्वयं ज्ञात होता है। अपौरुषेय शब्द जब व्याख्याता पुरुष उच्चारण करता है, तब

वार्तिकालङ्कारः

व्याख्यातुस्तदा वक्तृव्यापारविषयो व्याख्यातैव वक्ता। यश्च बुद्धावर्थः प्रतिभाति न स एवार्थः। अन्यथा सकलसमीहितार्थसिद्धेर्न कश्चिदनुष्ठानार्थी भवेत्। अनुष्ठेयतयैव तस्यार्थस्य प्रतिपादनान्नैवमिति चेत्। स तर्हि तदा स्वरूपेण नास्ति, इति न तस्य प्रतिपत्तिः। अन्यप्रतिपत्तौ सम्बन्धाभावात् सन्देह एव। ततश्च योऽर्थः प्रतीयते स सिद्ध एव न तदर्थी प्रवर्त्तते। यदर्थी च न स प्रतिपन्न इति नार्थतत्त्वनिबन्धनं प्रामाण्यम्।

नियोगप्रत्याख्यानम्—

ननु नियोगो न वाक्यार्थः, नियुक्तोऽहमिति प्रतीतेः। ततो नियोगादेव नासितुं समर्थः। कोऽयन्नियोगो नाम ? निशब्दो निःशेषार्थो युक्तिः। निरवशेषो योगो नियोगः। निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्यभावात्। अवश्यकर्त्तव्यता हि नियोगः। नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रतः प्रवर्त्तन्ते। अत्राह—'वक्तृव्यापार' इत्यादि।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्याख्याता ही वक्ता बन जाने से वह शब्द अपौरुषेय नहीं रहता। बुद्धि में जो यागादि पदार्थ प्रतिभान होता है, वह वास्तविक (सिद्ध) अर्थ नहीं होता, अन्यथा उसी यागादि-रूप अर्थ से स्वर्गादिरूप अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो जायगी, उसके लिए यागानुष्ठान की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि 'यजेत' आदि शब्दों के द्वारा अनुष्ठेय (असिद्ध) यागादि का प्रतिपादन माना जाता है, तब बोध-काल में विद्यमान न होने के कारण उसकी स्वरूपेण प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं हो सकती। अन्य अर्थ के ज्ञान से अन्य अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता, जब तक कि उन दोनों पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध का ज्ञान न हो। यदि 'यजति' शब्द सिद्ध-याग का बोधक है, तब ज्ञान-काल में ही सिद्धार्थ का लाभ हो जाता है, उसकी सिद्धि के लिए कौन प्रवृत्त होगा ? जिस सिद्ध यागादिरूप अर्थ की अपेक्षा है, उसका शब्द प्रतिपादक नहीं, फलतः वस्तु-तत्त्व-प्रमिति-जनकत्वेन शब्द में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।

नियोग-निरास—

शङ्का—"यजेत स्वर्गकाम." इत्यादि वाक्य नियोग (अपूर्व या अदृष्ट) के बोधक हैं, क्योंकि वैसे वाक्यों के सुनने पर श्रोता को नियमतः 'यागानुष्ठाने नियुक्तोऽस्मि'— ऐसा ही अर्थ प्रतीत होता है। किसी कार्य के सम्पादन में नियुक्त व्यक्ति चुप नहीं बैठ सकता, अपितु उसके अनुष्ठान में प्रवृत हो जाता है। नियोग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'नियोग' शब्द में 'नि' उपसर्ग का अर्थ है—निःशेष (सम्पूर्ण) और 'योग' का युक्ति। किसी कार्य में पूर्णतया नियुक्त करनेवाला पदार्थ नियोग कहलाता है। योग तीन प्रकार का होता है—(१) न्यून योग, (२) अर्ध योग और (३) पूर्ण योग। जिसमें योग न्यून और अयोग अधिक हो, उसे न्यून योग, जिसमें आधा योग और आधा अयोग हो, उसे अर्ध योग तथा जिसमें पूर्णतया योग हो और अयोग का मनाक् (लेशमात्र भी) न हो, उसे निःशेष योग या नियोग कहते हैं। दूसरे शब्दों में 'अवश्य कर्तव्यता' नियोग पदार्थ है। नियोग को प्रमाण माननेवाले प्राभाकरगण किसी कार्य में अपने नियोग (नियुक्तत्व) का भान होते ही उस कार्य के सम्पादन में प्रवृत्त हो जाते हैं। [शालिकनाथ मिश्र ने भी कहा है—

"कार्यत्वेन नियोज्यं च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ।
नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते॥

वार्तिकालङ्कारः

अयमर्थः—

नियोगो भावना धातोरर्थो विधिरितीरिताः । यन्त्रारूढादयो न स्युः स्वभावादर्थसाधनाः ।।३६।।

तस्माद् यो यस्य प्रतिभासते यथाप्रतिभं स वाक्यस्यार्थो न चेदमर्थतत्त्वम् । यश्च यथा व्याचष्टे तथा स शब्दो त्रिगुणो च भवति न च तथार्थतत्त्वस्थितिः । किञ्च —

नियुक्तेन प्रवृत्तिश्चेत् सर्वस्यातः प्रसज्यते । तत्स्वभावतयाकाशमनाकाशं न कस्यचित् ।।३७।।

स्वभावोऽपि विपर्यासादन्यथा यदि गम्यते । विपर्य्यासाविपर्यासव्यवस्थां कः करिष्यति ।।३८।।

यदि विपर्यासान्नियोगपरादपि वचनान्न प्रवर्त्तते । तथा सति विपर्य्यासकल्पना प्रवर्त्तमानेऽपि न व्याहन्यते । यथैव हि द्वेषादयं न प्रवर्त्तते विपर्यस्तस्तथा तत्पक्षपाता-दपरोऽपि प्रवर्त्तेत इति समानमेतत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्वं च युज्यते ।

वाक्यं तदेव हि प्राप्ते नियोज्य विषयान्वितम् ।।" (प्र० पं० पृ० ४४१)

अर्थात् नियोग (यागादि-जन्य अपूर्व) अपनी उत्पत्ति के लिए अपने नियोज्य (स्वर्गकाम-नावान् पुरुष) को यागानुष्ठान में नियुक्त करता है—"यजेत स्वर्गकामः" (आप० श्रौ० १०।५।२) । इसीलिए मीमांसक विद्वान् उसे नियोग कहा करते हैं। नियोग ही कार्य (कर्तव्य) होने के कारण प्रधान है एवं उक्त वाक्य का मुख्य अर्थ है, यागादि उस नियोगरूप कार्य के विषय और करण माने जाते हैं] ।

समाधान—"वक्तृव्यापारविषयो यो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य" । इसका अर्थ यह है कि प्रभाकर नियोग को, कुमारिल भट्ट भावना को और मण्डन मिश्र विधि को धातु (लिङादि प्रत्ययान्त यजादि धातु) का अर्थ इसीलिए मानते हैं कि नियोगादि के बिना किसी की प्रवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति के बिना कोई फल निष्पन्न नहीं होता, किन्तु ऐसा मानने पर बड़े-बड़े संयन्त्रों और कल-कारखाने में किसी प्रेरक के अपने-आप जो वस्तुओं का अन्धाधुन्ध उत्पादन होता जा रहा है, वह सब क्योंकर होगा ? ।।३६।। अतः यही मानना होगा कि जो अर्थ जिसकी बुद्धि में विद्यमान रहता है, शब्द उसी अर्थ का गमक होता है, वास्तविक अर्थतत्त्व का नहीं और जो बुद्धि में भासित होता है, वह वस्तुतत्त्व नहीं होता ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि नियोग स्वभावतः प्रवृत्ति का जनक है, तब नियोग के द्वारा विपर्यस्त और अविपर्यस्त सभी पुरुषों की प्रवृत्ति होनी चाहिए- जैसे आकाश किसी के लिए अनाकाश नहीं होता, वैसे ही नियोग किसी के लिए निवर्तक नहीं होता । किन्तु जो विपर्यस्त हैं अर्थात् जिन्हें नियोग में निवृत्ति-जनकत्व का विपरीत भान होता है, वे प्रवृत्त न होकर निवृत्त हो जाते हैं ।।३७।। यदि विपर्यास (विपर्यय ज्ञान) के कारण वस्तु का स्वभाव बदल जाता है, तब उसे स्वभाव कौन कहेगा ? और विपर्यासाविपर्यास की व्यवस्था कौन करेगा ? ।।३८।। यदि नियोग को स्वभावतः प्रवर्तक और विपर्ययतः निवर्तक माना जाता है, तब स्वभावतः निवर्तक और विपर्ययतः प्रवर्तक क्यों न मान लिया जाय ? जैसे द्वेष रखनेवाला व्यक्ति प्रवृत्ति-जनक नियोग के द्वारा प्रवृत्त नहीं होता, वैसे ही पक्षपात या राग रखनेवाला व्यक्ति निवृत्ति-जनक नियोग के द्वारा प्रवृत्त होता है—ऐसा समान रूप से कहा जा सकता है ।

यह जो कहा जाता है कि "नियुक्तोऽहम्"—इस प्रकार के ज्ञान से व्यक्ति प्रवृत्त

वार्तिकालङ्कारः

न च नियुक्तोऽहमित्येतत् प्रवर्त्तते, निष्फलनियोगे प्रवृत्तेरभावात्। प्रचण्डप्रभुनियोगे निष्फलेऽप्यपायभयात् प्रवर्त्तते। प्रमाणान्तराच्च प्रतिपन्नोऽपायः। अत्र तु न प्रमाणान्तरम्। व्यर्थको नियोगस्तथा चेत्, भवतु को दोषः? न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। प्रेक्षापूर्वकारी निष्फलनियोगे हि प्रेक्षावत्ता न स्यादित्युपालभ्यते। अपौरुषेये तु कस्योपालम्भः? अपौरुषेये व्यर्थतयैव न युक्तेति चेत्, नात्र किञ्चित् प्रमाणमन्यत्रापौरुषेये तथाऽदृष्टेः।

यदि च नियोगमात्रात् प्रवर्त्ततेऽपौरुषेयात् स्वर्गकाम इति निष्फलम्। जुहुयादिति नियोगमात्रादेव नियोगप्रतिपत्तेः। अथ फलाभिलाषिणः फलोपदर्शनम्। फलमेव तर्हि तस्योपदर्शनीयं किन्नियोगेन। स्वयमेव फलाभिलाषात् प्रवर्त्तिष्यते। अपौरुषेयत्वादसम्बद्धतायामपि न चोद्यमेतदिति चेत्, निष्फलचोदनायामपि न चोद्यमिति व्यर्थको वेदो नायुक्तः। किञ्च—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है, वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उतने ज्ञानमात्र से कोई बुद्धिमान् व्यक्ति निष्फल क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता। यद्यपि क्रूर शासक की आज्ञामात्र से निष्फल कर्म में भी निरीह निर्बल मनुष्य की प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि वहाँ प्रवृत्त होनेवाले पुरुष को भली प्रकार यह ज्ञात है कि यदि मैंने इसकी आज्ञा नहीं मानी तो मुझे मरवा डालेगा, जैसे कि सामने पड़ी लाशें बता रही हैं। तथापि वैदिक नियोग (आज्ञा) के उल्लंघन से कोई वैसा अपाय (अनिष्ट) दिखाई नहीं देता, कि जिससे भयभीत होकर मनुष्य प्रवृत्त हो जाता।

यदि कहा जाय कि नियोग के द्वारा प्रवृत्ति न होनें पर वैदिक नियोग व्यर्थ हो जायगा। भले ही व्यर्थ हो जाय, किन्तु निरर्थक कार्यों में प्रवृत्त होना कोई बुद्धिमत्ता नहीं। लौकिक व्यवहार में प्रवर्तक पुरुष को यह उपालम्भ दिया जा सकता है कि "आपके कहने से मैंने सामने खड़ी शिला पर गोली चला दी, वह टकराकर लोटी मेरी आँख में लगी, आँख फूट गई। परन्तु वेद तो अपौरुषेय ठहरा, उपालम्भ किस व्यक्ति को दिया जायगा? अपौरुषेय नियोग की व्यर्थता अनुचित है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि कथित अनौचित्य में कोई प्रमाण नहीं, किसी अन्य अपौरुषेय वाक्य में भी वैसा नहीं देखा जाता।

यदि अपौरुषेय नियोगमात्र से होमादि में प्रवृत्ति हो जाती है, तब "अग्निहोत्रं जुहुयात्" (तैं० ब्रा० २।१) इतना ही पर्याप्त है, आगे "स्वर्गकामः"—ऐसा कहना व्यर्थ है, क्योंकि नियोगमात्र से नियोग की प्रतीति हो जाती है। यहाँ 'नियोग' पद से नियोग-शब्द विवक्षित है, जिसका अर्थ है—लिङादि शब्द, जैसा शालिकनाथ मिश्र ने भावार्थाधिकरण में कहा है—"नियोगशब्दस्य लिङादेः" (बृहती० पृ० २९८)। यदि कहा जाय कि फल की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के लिए फलोपदर्शन किया गया है—"स्वर्गकामः"। तब प्रवृत्ति के लिए फलोपदर्शन ही पर्याप्त है, नियोग की क्या आवश्यकता? नियोग के बिना ही पुरुष फल की लालसा से अपने-आप कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हो जायगा। वेद अपौरुषेय है, अतः उस पर असङ्गति या असम्बद्धार्थकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। तब तो नियोगार्थक लिङादि के प्रयोगों की व्यर्थतापत्ति भी नहीं लगानी चाहिए।

वार्तिकालङ्कारः

नियुज्यमानविषयनियोक्तृणां यदीष्यते । धर्मो नियोगः सर्वत्र न शब्दार्थोऽवतिष्ठते ॥३९॥

नियोगो नामायं हि कस्य धर्म इति चिन्त्यताम् । न खलु नियोगः पटादिपदार्थ-वदपरतन्त्रतया प्रतीयते । तत्रानेन नियमे नियोज्यादीनामन्यतमस्य धर्मेण भवितव्यमप-रप्रकारासंवेदनात् ।

नियोज्यधर्मभावो हि तस्यानुष्ठेयता कुतः । सिद्धोऽपि यद्यनुष्ठेयो नानुष्ठाविरतिर्भवेत् ॥४०॥

न खलु परिनिष्पन्नमनुष्ठातुं शक्यम् । अनुष्ठानं हि तत्र क्रियाविशेषः । स्वरूप-जननं वा । क्रियाविशेषस्तावदनर्थक एव । परिनिष्पन्नस्य क्रिया किमर्थकारिणी । स्वरूप-निष्पादनन्तु परिनिष्पन्नस्येति व्याहतम् । न च परिनिष्पन्नस्यापरमपरिनिष्पन्नमास्ते, अपरिनिष्पन्नस्य परिनिष्पन्नपदार्थस्वभावत्वायोगात् । यो हि यद्रूपतयोपलभ्यते स तत्स्वभावः । न चानिष्पन्नमुपलब्धुं शक्यम् । पश्चादुपलभ्यत इति चेत्, तदयुक्तम्, यतः-

तत्स्वभावतया पश्चादुपलब्धुं न शक्यते । वर्तमानस्वरूपस्य ग्रहणेऽध्यक्षवृत्तितः ॥४१॥

न खलु वर्तमानरूपोपग्रहप्रवृत्तमध्यक्षं पूर्वापररूपमीक्षितुं क्षमते । तस्मात्—

न पूर्वमेकतावृत्तिर्न पश्चादक्षजन्मनः । ज्ञानस्याक्षानुसरणादध्यक्षमिति मीयते ॥४२॥

तस्मान्नियोज्यपुरुषधर्मे नियोगे न शब्दार्थता । विषयधर्मतायामपि विषयस्या-परिनिष्पत्तेः स्वरूपाभावात् कथं शब्दादसौ प्रत्येतुं शक्यः । न ह्यविद्यमानं शशविषाणा-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि नियुज्यमान (कर्त्ता पुरुष), विषय (यागादिरूप विषय) और नियोजक (नियोग-प्रतिपादक लिङादि शब्द) इनमें से किसी एक का धर्म नियोग यदि माना जाता है, तब शब्दार्थता व्यवस्थित नहीं रहती ॥३९॥ अर्थात् नियोग पदार्थ किसका धर्म है—यह भी विचार लेना चाहिए । जैसे पटादि पदार्थ तन्तु आदि के आश्रित प्रतीत होते हैं, वैसे नियोग परतन्त्र (पराश्रित) प्रतीत नहीं होता । यदि किसी के आश्रित है, तब नियोज्य, विषय या नियोजक (शब्द) इनमें से किसी एक का धर्म होगा, अन्य प्रकार सम्भव नहीं प्रतीत होता ।

१. नियोज्य पुरुष का धर्म मानने पर नियोग में अनुष्ठेयता (साध्यता) क्योंकर रहेगी ? नियोज्य पुरुष सिद्धपदार्थ है, उसका धर्म भी अभिन्न होने से सिद्ध है, सिद्धार्थ की सिद्धि के लिए भी यदि प्रवृत्ति मानी जाती है, तब प्रवृत्ति या अनुष्ठान की निवृत्ति कभी न हो सकेगी ॥४०॥ सिद्ध अर्थ का अनुष्ठान (सिद्धि) कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुष्ठान एक क्रियाविशेष (निष्पत्ति) है, या वस्तु का स्वरूप-जनन । क्रिया-विशेष तो अनर्थक ही है, क्योंकि परिनिष्पन्न पदार्थ में निष्पत्तिरूप क्रिया क्या करेगी ? परिनिष्पन्न पदार्थ का स्वरूप-जनन भी नितान्त व्याहत है, क्योंकि स्वरूप-जनन अपरिनिष्पन्न या असिद्ध का होता है, सिद्ध कभी असिद्धस्वभाव का नहीं हो सकता । जो वस्तु जिस रूप से उपलब्ध होती है, वही उसका स्वभाव कहा जाता है। अनिष्पन्न कभी उपलब्ध नहीं हो सकता । असिद्धस्वभाव का पदार्थ पश्चात् सिद्ध होकर उपलब्ध होता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि असतस्वभाव का पदार्थ पश्चात् उपलब्ध क्योंकर होगा ? केवल वर्तमान पदार्थ के ग्रहण में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति होती है ॥४१॥ वर्तमानस्वभाव की वस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त प्रत्यक्ष प्रमाण कभी पूर्व या उत्तरभावी स्वरूपों का ग्रहण नहीं कर सकता, अतः नियोज्य पुरुष में रहने-वाला नियोगरूप धर्म लिङादि शब्दों का वाच्यार्थ नहीं हो सकता ॥४२॥

वार्तिकालङ्कारः

दिकं तथा दृश्यतेऽनुष्ठानविषयत्वेन । केनचिद् रूपेण विद्यमानं केनचिद् रूपेण नेति चेत्, तदसत् ।

येनासौ विद्यते भावस्तेनानुष्ठीयते न सः । विद्यते येन नैवासौ न तेनापि प्रतीयते ॥४३॥
प्रतीयमानता तस्य सिद्धानुष्ठेयता न चेत् । तदेव तस्य स्वं रूपं न नियोगोऽन्यथा भवेत् ॥४४॥
प्रतीयमानतामात्रं सामान्यं सर्ववस्तुनः । अनुष्ठेयतयैवास्य नियोगत्वमनन्यथा ॥४५॥
यद्यनुष्ठेयता तत्र प्रतिभाति न चापरा । अनुष्ठानं भवेत् तत्र न तु सामान्यवेदने ॥४६॥
सामान्यवेदने तत्र नानुष्ठेयार्थवेदनम् । वाक्यस्य न भवेदर्थो नियोगस्तत्प्रवादिनाम् ॥४७॥

ननु यागादिविषये नियुक्तोऽहमिति प्रतीयते । इयमेव च नियोगस्य प्रतीतिः शाब्दाद् या नियुक्तोऽहमत्रानेनेति प्रतीतिः । तत्र नियोक्ता शब्दे पुरुषः, वेदे प्रमाणाभावात् । नियोज्यः पुरुषो यागो विषयः सकलमिदं प्रतीयते । तत्र प्रतीतिर्भाव एव 'कथं प्रतीयत' इति कोऽयं पर्य्यनुयोगः । तदसत्—

प्रतीयमानेन विना कस्य तत्र स्वरूपवित् । वेद्यते यत्स्वरूपेण तस्य तद्वेदनं मतम् ॥४८॥
न च स्वरूपस्याभावे स्वरूपस्यास्ति वेदनम् । उपलम्भो यतः सत्ता सास्ति नास्ति तु सा कथम् ॥४९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

२. यागरूप विषय का यदि नियोग धर्म माना जाता है, तब शाब्द ज्ञान-काल में याग निष्पन्न (सिद्ध) नहीं, अतः उसका स्वरूप उपपन्न न होने के कारण वह किसी शब्द के द्वारा क्योंकर प्रतीत होगा ? अविद्यमान शश-विषाणादि की किसी शब्द से अनुसेवत्वेन प्रतीति नहीं देखी जाती। एक ही पदार्थ किसी रूप से विद्यमान और रूपान्तर से अविद्यमान होता है—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि जिस सिद्धरूपेण अनुयोगादिपदार्थ विद्यमान होता है, उस रूप से अनुष्ठित (सिद्ध या निष्पन्न) नहीं किया जाता और जिस असिद्ध (असत्) रूप से विद्यमान होता है, उस रूप से प्रतीत नहीं होता ॥४३॥ सिद्ध अनुयोग प्रतीयमान होता है, वह अनुष्ठेय (साध्य) नहीं होता। वही सिद्धरूपता अनुयोग का अपना स्वरूप है, उसको अन्यथा (साध्य) कौन कर सकता है ? ॥४४॥ यदि कहा जाय कि प्रतीयमानता तो सभी वस्तुओं का समान धर्म है, चाहे सिद्ध हो या साध्य, किन्तु नियोग सदैव साध्यरूपेण ही प्रतीत होता है, अतः साध्य की सिद्धि की जाती है, अन्यथाकरण (सिद्ध को साध्य) नहीं बनाया जाता। यदि नियोग में अनुष्ठेयता (साध्यता) प्रतीत होती है, तभी उसका अनुष्ठान (सिद्धि) किया जाता है, सामान्य प्रतीयमानतामात्र के आधार पर उसकी सिद्धि नहीं की जाती। तब तो नियोगवादियों का साध्य नियोग "यजेत स्वर्गकामः"—इस वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि असिद्ध या असत् पदार्थ प्रतीयमान ही नहीं होता ॥४५-४७॥

शङ्का—"यागादिरूप विषय की सिद्धि करने में मैं नियुक्त हुआ हूँ"—यही तो नियोग की प्रतीति है। नियोग में शब्दार्थता भी यही है कि लिङादि शब्दों के द्वारा मैं यागादि में नियुक्त किया गया हूँ। लोक में प्रेरक पुरुष नियोक्ता होता है, किन्तु अपौरुषेय वेद में कोई पुरुष प्रमाण-सिद्ध नहीं। कर्त्ता पुरुष नियोज्य और याग विषय है। इस प्रकार प्रतीति के सद्भाव में यह पर्यनुयोग (प्रश्न) कैसा कि 'कथं प्रतीतिः ?'।

समाधान—प्रश्न तो यह है कि क्या नियोग की साध्यत्वेन प्रतीति होती है ? इसका सीधा-सादा उत्तर है कि जो वस्तु जिस रूप से प्रतीत होती है, उसका वही स्वरूप होता है और जो स्वरूपेण प्रतीति होती है, वही वास्तविक प्रतीति है ॥४८॥

वार्तिकालङ्कारः

न च प्रतीतिमात्रेण वस्त्वस्तीति प्रतीयते। परस्परविरुद्धार्था नागमेषु भवेदसौ ॥५०॥
वेदादेव प्रतीतिश्चेद्धेतुदोषामलीमसात् । न लोकाननुसारेण वेदाद् बुद्धेरसम्भवात् ॥५१॥
यागादेरुपलब्धत्वाल्लोके शब्दार्थसम्भवात् । पूर्वदृष्टानुसारेण प्रतीतिर्नार्थसाधिका ॥५२॥
"कामशोकभयोन्माददोषोपप्लुतचेतसाम् । बुद्धिः पूर्वानुसारेण न दृष्टेष्टस्य साधिका" ॥५३॥
लोके च दृश्यते वाक्यपदार्थोपप्लवः क्वचित् । वेदे तदनुसारेणोपप्लवः किमसम्भवी ॥५४॥
न तत्राशयदोषोऽस्ति कस्यचिन्मूढतादिकः । तत्राप्यप्रतिपत्तिः किन्न दोषः कस्यचिन्मतः ॥५५॥
लोकेऽक्षाशयदोषेण वस्तुसम्बन्धहानितः । न प्रमाणत्वमेषा च न न वेदेऽपि किं प्रमा ॥५६॥
लोके वाक्यपदार्थानां विप्लवस्योपलब्धितः । वेदे त एव चेच्छब्दाः किन्न विप्लवसम्भवः ॥५७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

असिद्ध या असत् पदार्थ का स्वरूप ही नहीं, तब स्वरूप का वेदन (उपलम्भ) नहीं हो सकता, क्योंकि उपलम्भ ही सत्ता है, तब उपलम्भ है, किन्तु सत्ता नहीं—यह कैसे होगा ? ॥४९॥ प्रतीतिमात्र के आधार पर 'वस्तु अस्ति'—इस प्रकार वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती, अन्यथा तब तैर्थिकों के शास्त्रों में यह उपलभ्यमान विरुद्धार्थता नहीं होती ॥५०॥ वेद अपौरुषेय और नित्य है, अतः हेतुओं (अपने कारणों) के दोषों से सर्वथा अछूता है, फलतः वैदिक लिङादि शब्दों के द्वारा नियोग का अनुष्ठेयत्वेन प्रतिपादन हो जाता है—ऐसा कथन भी उचित नहीं, क्योंकि प्रतिपादन-पद्धति में वेद को भी लोक-सिद्ध शाब्दिक मर्यादाओं का ही अनुसरण करना पड़ता है, उसके विपरीत अर्थ का अवबोधन वेद से भी नहीं हो सकता ॥५१॥ यागादि पदार्थ लोक में उपलब्ध हैं, अतः 'यजेत' आदि शब्दों का संगति-ग्रहण एवं याग-प्रतिपादन सुकर हो जाता है। वर्तमान काल में लोक-दृष्ट रूप के अनुसार ही प्रतीति अपनी विषय-वस्तु को सिद्ध करती है, पूर्व-इष्ट के अनुरूप नहीं। [आशय यह है कि नियोग लोक में प्रसिद्ध नहीं, अतः उसमें वैदिक लिङादि का शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता। यदि प्रसिद्धार्थक पदों के सन्निधान को लेकर शक्तिग्रह मान भी लिया जाता है, तब भी वर्तमान (सिद्धत्व) रूप से ही नियोग का बोध होगा, पूर्व-दृष्ट (साध्यत्व) रूपेण नहीं] ॥ ५२ ॥

लोक में काम, शोक, भय और उन्मादादि दोषों से आक्रान्त चित्तवाले पुरुषों की बुद्धि, वैसी प्रमाण और अर्थक्रिया-कारी पदार्थ को सिद्ध नहीं करती, जैसी कि पूर्व [दोषागम से पहले] की निर्दोष बुद्धि, जैसा कि वार्तिककार ने आगे चलकर कहा है—

कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥ (प्र० वा० २।२८३)

जब कि लोक में वाक्यार्थ और पदार्थों का उपप्लव (अन्यथा भान) देखा जाता है, तब उसी के अनुसार वेद में भी उपप्लव असम्भव क्यों होगा ? ॥५३-५४॥ यद्यपि अपौरुषेय वेद में वक्ता के आशय-दोषादि (मूढत्वादि) सम्भव नहीं, तथापि श्रोता के अप्रतिपत्ति (अव्युत्पन्नता) आदि दोष सम्भव क्यों न होंगे ? ॥५५॥ लोक में अक्ष (इन्द्रिय) आशय (चित्त) के दोषों से जनित ज्ञान अप्रमाण इसलिए होता है कि प्रतीयमान (रजतादि) वस्तु का न तो इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है और वह अबाधित। इसी प्रकार की प्रतीति वेद में भी क्यों नहीं हो सकती, जो प्रमा न हो ॥५६॥ लोक में वाक्यार्थ और पदार्थों का विप्लव (बाध) देखा जाता है, वेद में वे ही शब्द और अर्थ माने जाते हैं, जैसा कि शाबर-मत का समर्थन करते हुए श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"य एव

वार्तिकालङ्कारः

ननु यदि वेदः सत्यार्थो न भवति स्वतस्तदा लोके यागादिपदार्थस्य स्वयमप्रवृत्तेः। कथं यागादिक्रिया वृत्त्यनुपलम्भः। न हि स्वयं व्युत्पादयितुमिदं शक्यम्। ततोऽविसंवादभाग्यर्थप्रतिपादनात् प्रमाणं वेदः।

एतत् सर्वागमेषु समानम्। न हि प्रतिनियतागमार्थावान्तरविभागाः सर्वागमेष्वपि समुपलब्धाः स्वयमुत्प्रेक्ष्य विधातुं शक्याः पुरुषमात्रेण। अथवा सा किमशब्दलिङ्गं स्वयं कथञ्चिदनुस्मरतो न भवति बुद्धिर्यथा तथा क्रिया परिकल्प्यते ।।

सर्वागमसमानत्वाद् यागाद्यर्थक्रियात्मनः। न सर्वैः करणन्तस्य तुल्यं वेदेऽपि किन्न तत् ।।५८।।

न चेदादृतता शिष्टैरित्यन्योऽन्यसमाश्रयः। वेदार्थाचरणाच्छिष्टास्तदाचाराच्च स प्रमा ।।५९।।

किञ्च—

द्विजातयोऽपि जायन्ते आगमान्तरसङ्गिताः। न भवत्येव चेत् तेषां न पापे रमते मतिः ।।६०।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लौकिकाः शब्दास्ते एव वैदिकाः, त एवामीषामर्था इति स्थितम्'' (तं०वा० पृ० ३४३)। अतः वेद में भी विप्लव सम्भव क्यों नहीं होगा ? ।।५७।।

शङ्का—यदि वेद सत्यार्थक (स्वतः प्रमाण) नहीं, तब लोक में यागादि पदार्थों का अनुष्ठान कैसे चल पड़ा ? स्वयं अपने-आप वह प्रवृत्त हो नहीं सकता और न कोई व्यक्ति अपनी ऊहामात्र से उसका व्युत्पादन कर सकता है, अतः अविसंवादी अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण वेद प्रमाण है।

समाधान—इस युक्ति का उद्भावन तो सभी आगमिक अपने-अपने आगम की प्रमाणता में कर सकते हैं कि हमारे आगम के बिना हमारे आगमार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि किसी एक आगम के अर्थ और अवान्तर विभाग सभी आगमों में न उपलब्ध होते हैं और न किसी एक व्यक्ति के द्वारा केवल अपनी ऊहा से बनाये जा सकते हैं। अथवा किसी शब्द या लिङ्ग की सहायता के विना स्वयं अपनी स्मरणशक्ति के द्वारा ऐसी बुद्धि का उद्भव नहीं हो सकता, जिसके बल पर कर्मानुष्ठान की साङ्गोपाङ्ग प्रक्रिया वनाई जा सके। सभी आशय (शास्त्र) समान हैं, बौद्धादि आगमों के द्वारा यागादि का ज्ञान नहीं होता, अतः वेदों के द्वारा भी नहीं हो सकता—ऐसा क्यों न मान लिया जाय ? ।।५८।। यदि कहा जाय कि शिष्ट पुरुषो के द्वारा समादृत होने के कारण वेदों का विशेष स्थान है, तब अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि शिष्ट कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा कि जो वेदों को प्रमाण मानकर वेदार्थ का अनुष्ठान करता हो। वेद प्रमाण क्यों हैं ? इसका उत्तर होगा—शिष्टों से समादृत होने के कारण। इसी अन्योऽन्याश्रयता का समुद्भावन तन्त्रवार्तिक में भी किया गया है—

के शिष्टा ये सदाचाराः सदाचाराश्च तत्कृताः।
इतीतरेतराधीननिर्णयत्वादनिर्णयः ।। (तं० वा० पृ २०४) ।।५९।।

[यह जो मनुस्मृति में कहा गया है कि "तं शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः" (मनु० १२।१०९) अर्थात् द्विज-श्रेष्ठ ब्राह्मण ही शिष्ट माने जाते हैं, वहाँ पर भी] द्विजादि का निरूपण वेदानुकूल स्मृत्यादिरूप आगमों पर ही निर्भर है—"ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः" (याज्ञवल्क्य० पृ० ४)। अतः वही अन्योऽन्याश्रय, चक्रकादि दोष प्रसक्त होते हैं, क्योंकि द्विजत्व-सम्पादक यज्ञोपवीतादि संस्कारों के विधायक आगमान्तर की अपेक्षा अनिवार्य है। अन्यथा द्विजाति के लिए जो कहा जाता है कि वैदिक

वार्तिकालङ्कारः

पापेतरव्यवस्थेयमायाता मानतः कुतः। पापात्मता द्विजत्वेन पापत्वाददद्विजात्मता ॥६१॥

किंच द्विजातिता नाम जातिगोत्रक्रियादितः। शक्या ज्ञातुं विवेकान्न द्विजानां शिष्टता कुतः ॥६२॥

न खलु द्विजादिभावः प्रमाणगोचरचारी। स हि जातियोगलक्षणो गोत्रलक्षणः क्रियासामर्थ्यातिशययोगो वा भवेत्। न तावद् गोत्वादिजातिमिव तज्जातिमाकारविशेषादेव केचिदवधारयितुमीशते, आकृतिसङ्करस्य दर्शनात्। शुद्राद्यभिमतानामपि सैवाकृतिरुपलभ्यते। न खलु बाहुलेयाद्याकृतय इव कौण्डिन्यादीनामपि विजातीयाभिमतव्यक्तिविलक्षणा व्यक्तय उपलभ्यन्ते। अत एव व्यक्तिसङ्करेण सन्देहविषयत्वादुपदेशसहितं प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

परोपदेशप्रामाण्यं प्रत्यक्षार्थे न युक्तिमत्। उपदेशो हि लोकानामन्यथापि प्रवर्त्तते ॥६३॥

यदि खलु ब्राह्मणत्वादिजातिः प्रत्यक्षेणेक्ष्यते, परोपदेशस्य व्यर्थता। न हि प्रत्यक्षार्थे परोपदेशो गरीयान्। तथा चेन्न परोपदेशतः सन्देहः स्यात्। एत एव प्रत्यक्षं सहायमपेक्षते।

उपदेशं विनाध्यक्षं यद्यर्थस्य प्रसाधकम्। तदोपदेशसत्त्वं विधातुं नान्यथा क्षमम् ॥६४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संस्कारों के बल पर उनकी पाप में प्रवृत्ति नहीं होती—यह किस प्रमाण से ज्ञात होगा ? एवं पाप और इतर (पुण्य) की व्यवस्था भी कौन करेगा ? यदि पाप में प्रवृत्ति के आधार पर अद्विजत्व का ज्ञान करते हैं, तब अद्विजत्व के कारण पाप-प्रवृत्ति मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष आता है ॥ ६०-६१ ॥ दूसरी बात यह भी है कि द्विजत्व धर्म का विवेक-ज्ञान जाति, गोत्र या क्रिया (याजनादि) के सम्बन्ध से नहीं हो सकता, तब द्विजाति की शिष्टता कैसे सिद्ध होगी ? ॥६२॥ तात्पर्य यह है कि द्विजातित्व किसी भी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि वह (द्विजातित्व) या तो ब्राह्मणत्वादि जातियों से घटित होगा, अर्थात् जिसमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व और वैश्यत्व—इनमें से कोई एक जाति रहती है, उसे द्विज कहा जाता है, अथवा जिसका गोत्र (वंश-प्रवर्तक भारद्वाजादि) हो, उसे द्विज कहते हैं या जो याजन, अध्यापनादि कार्य करता हो या शासन रक्षणादि क्रिया करता हो अथवा कृषि, वाणिज्यादि करता हो, वह द्विज है—इस प्रकार द्विजत्व का निरूपण करना होगा, किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे गोत्वादि जाति का एक निश्चित सास्नादि-युक्त आकार के द्वारा निश्चय हो जाता है, वैसा द्विज का कोई विशेष आकार नहीं होता, जिससे द्विजत्व का अवधारण हो जाता। दो पैरों दो हाथों वाला आकार तो शूद्र का भी होता है, अतः ब्राह्मणादि का कोई पृथक् आकार न होने के कारण अपरिचित व्यक्ति में सन्देह हो जाता है कि यह ब्राह्मण है ? या नहीं ? अतः जब कोई परिचित पुरुष यह उपदेश करता है कि 'यह ब्राह्मण है', तभी ब्राह्मणत्वादि का प्रत्यक्ष माना जाता है। जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है– "दर्शनस्मरणपारम्पर्यानुगृहीतप्रत्यक्षगम्यानि ब्राणह्मत्वादीनि" (तं० वा० पृ० १०६)। किन्तु यह संगत नहीं, क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष है, उसके लिए किसी के उपदेश की क्या आवश्यकता ? दूसरी बात यह भी है कि अब्राह्मण के लिए भी लोग कह दिया करते हैं—'ब्राह्मणोऽयम्' ॥६३॥ जब ब्राह्मणत्वादि जाति प्रत्यक्षतः देखी जाती है, तब परोपदेश व्यर्थ है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने उपदेश की क्या गरिमा ? उपदेश (शब्द प्रमाण) तो प्रत्यक्ष से अत्यन्त दुर्बल होता है, अतः परोपदेश से भी जहाँ सन्देह रह जाता है, वहाँ प्रत्यक्ष की सहायता माँगी जाती है। अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) की सहायता के बिना ही

वार्तिकालङ्कारः

यदा तु पुनः प्रत्यक्षं केवलमसमर्थमुपदेशश्च तदा द्वयमसमर्थं पृथक् सहितमपि तादृशमेवेति। न जातिग्रहणे सामर्थ्यमासादयेत्। सामग्र्याः सामर्थ्यमिति चेत्, नास्त्येतत्।

कार्यदर्शनतः सर्वा सामग्रीयं प्रतीयते। अंकुरादिवदत्रापि न कार्यं किञ्चिदीक्ष्यते ॥६५॥

न हि घटपटसामग्री शाल्यङ्करेऽन्यत्र वा भवति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि जलादीनामेव तत्त्वोपलब्धेः। न चात्र तथा कार्यं जातिनिश्चयलक्षणमुपलभ्यते। काञ्चनाद्युपदेशस्य हि यदा सत्यताशङ्का तदा प्रत्यक्षदर्शनादसौ निवर्तते। नैवं जात्युपदेशस्यासत्यता शङ्का तदा प्रत्यक्षदर्शनादसौ निवर्तते। नैवं जात्युपदेशस्यासत्यता शङ्कायां प्रत्यक्षात् सत्यता जातिस्वरूपग्रहणाकारात्। सुवर्णादौ हि रूपविशेषसद्भावादेवं भूतमेव सुवर्णं भवतीति व्यवहारस्य परिसमाप्तेर्दृष्टस्य न काचित् क्षतिः। अत्र तु पुनरेवंविधमेव ब्राह्मण्यमिति न पादप्रसारणमात्रं त्राणम्। पारमार्थिकपरलोकव्यवहारस्य वाञ्छितत्वात्। एक वाक्यतया हि सुवर्ण सत्यं भवति न तु ब्राह्मण्यम्। किञ्च तच्छङ्कायां गोत्रोपदेशान्तरादिनिरूपणमेव क्रियते, नान्य उपायः।

अथाध्ययनादिना क्रियाविशेषणं जायते नोपदेशमात्रात्। तदप्यसत्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि उपदेश (शब्दप्रमाण) वस्तुतत्त्व का साधक होता है, तब उपदेश (शब्द) की सत्यता का अन्यथाकरण (बाध) कभी न हो सकेगा, कभी न हो सकेगा ॥६४॥

यदि उपदेश की सहायता के बिना केवल प्रत्यक्ष असमर्थ है और प्रत्यक्ष की सहायता के बिना अकेला उपदेश भी असमर्थ है, तब जैसे दोनों अकेले-अकेले समर्थ नहीं, मिलकर भी वैसे ही असमर्थ ही रहेंगे, ब्राह्मणत्वादि जाति के ग्रहण में सामर्थ्य अर्जित नहीं कर सकते। उनकी मिलित सामग्री के आधार पर सामर्थ्य आ जायेगा—ऐसा यदि कहा जाता है, तो युक्ति-युक्त न होगा, क्योंकि किसी सामग्री के कार्य को देखकर ही उस कार्य की यह सामग्री है—ऐसा निश्चय किया जाता है, जैसे कि यवादि के अङ्कुर को देखकर यव-बीज का ज्ञान होता है, किन्तु यहाँ कोई वैसा कार्य नहीं देखा जाता ॥६५॥ घट-पटादिरूप सामग्री शाली या यवादि के अङ्कुर को जन्म नहीं दे सकती, अपितु अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जलादि के आनयन और प्रावरणादि कार्यों का ही सामर्थ्य उपलब्ध होता है, किन्तु प्रकृत में उपदेश-सहित प्रत्यक्ष से जाति का ग्रहण नहीं देखा जाता।

'इस पेटी में सोना भरा है'—ऐसा किसी के कथन की सत्यता में शङ्का होने पर पेटी खोलकर सोने का प्रत्यक्ष कर लेने से उक्त शङ्का निवृत्त हो जाती है, किन्तु जाति के उपदेश में सत्यता की शङ्का प्रत्यक्ष दर्शन से निवृत्त होती नहीं देखी जाती, क्योंकि 'सोना ऐसा होता है'—इस प्रकार के विशेष रूप को देखकर उक्त शंका दूर हो जाती है, किन्तु ब्राह्मणत्वादि जाति का कोई वैसा विशेष आकार नहीं होता, जिसके दर्शन से शंका निवृत्त हो। पारमार्थिक लोक-व्यवहार निर्णायक होता है, सोने के विषय में दो-तीन व्यक्तियों के कथन की एकवाक्यता से सत्यता का निश्चय हो जाता है, किन्तु ब्राह्मणत्व के विषय में ऐसा नहीं होता। अपितु सन्दिग्ध व्यक्ति से गोत्रादि की जानकारी लेना ही एकमात्र उपाय रह जाता है, अन्य मार्ग नहीं।

यह जो कहा जाता है कि वेदाध्ययनादि विशेष क्रिया के द्वारा द्विजातित्व का ज्ञान होता है, केवल उपदेश मात्र (किसी के कथनमात्र) से नहीं। वह कहना भी असत्

वार्तिकालङ्कारः

द्विजातित्वे क्रिया साध्या न क्रियातो द्विजातिता ।
संस्कारा अपि नैव स्युर्जाति-निश्चय-वर्जिता ।।६६।।

जातिवर्जितस्य हि न स्वाध्यायाध्ययनसंस्कारादयो द्विजातित्वादिकमादधति, सर्वस्य तथा द्विजत्वप्रसङ्गात् । अपि च—

यदि प्रत्यक्षतो जातिर्न प्रतीयेत केवलात् । वचनादपि नैवास्याः प्रतीतिरविरोधिनी ।।६७।।

प्रथमं हि प्रवर्त्तमानमध्यक्षं न तावद् द्विजत्वादिविवेकमुपकल्पयितुमलं ततः परमुपदेशोऽपेक्ष्यते । यदि प्रत्यक्षतो न प्रतीयाद् वचनादपि नैव प्रत्येष्यति । तदपि हि वचनमुपलम्भमेव ख्यापयति । न खलु पुरुषवचनपरिज्ञानप्रवर्त्तितं निश्चयमुपजनयति । पुरुषोपर्यनुयुक्तः कथम्भवतेदमज्ञायीति गोत्रसंस्कारादिकमेव परिज्ञानविषयतयोपदिशति । न जात्युपलम्भं कथयति । सैव जातिरिति चेदुक्तमत्रोत्तरम् । द्विजातित्वे क्रिया न तु तदेव द्विजातित्वम् ।

अथ गोत्रलक्षणा जातिः । तथा च ब्रह्मणोऽपत्त्यं ब्राह्मण इति हि व्यपदिशन्ति ।

ब्रह्मणोऽपत्यतामात्रात् ब्राह्मण्येति प्रसज्यते । न कश्चिदब्राह्मतनोरुत्पन्नः क्वचिदिष्यते ।।६८।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है, क्योंकि जो द्विजाति है, वह वेदाध्ययन करता है, न कि जो वेदाध्ययन करता है, वह द्विजाति है । उपनयनादि संस्कार तब तक नहीं किये जाते, जब तक द्विजातित्व का निश्चय न हो ।।६६।। जो द्विजाति नहीं, उसे स्वाध्याय (अपनी शाखा) का अध्ययन कर्म द्विजाति नहीं वना सकता, नहीं तो सभी द्विज बन जायेंगे । दूसरी वात यह भी है कि यदि केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से जाति की प्रतीति नहीं होती, तब किसी के कहने मात्र से भी जाति की अबाधित प्रतीति नहीं हो सकती ।।६७।।

पहले प्रवर्तमान प्रत्यक्ष यदि द्विजत्व का बोध कराने में सक्षम नहीं होता, तब परिचित व्यक्ति के उपदेश की अपेक्षा होती है । जो प्रत्यक्ष के द्वारा जाति की प्रतीति नहीं कर पाते, वे किसी के वचन से भी नहीं जान सकते, क्योंकि वह वचन भी पदार्थ के उपलम्भमात्र (केवल सामान्य ज्ञान) का ही जनक होता है, प्रवर्तित पुरुष को वस्तु का निश्चय नहीं कराता, अतएव प्रवर्तमान पुरुष से जब पूछा जाता है कि तुमको इसके द्विजत्व का ज्ञान कैसे हुआ ? तव वह गोत्र और यज्ञोपवीत आदि संस्कारों को ही अपने ज्ञान का आधार बताता है, जाति के प्रत्यक्ष को नहीं । वेदाध्ययनादि क्रिया ही द्विजातित्व है --ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि द्विजातित्व धर्म वेदाध्ययनादि क्रिया की प्रयोजक है, क्रिया ही द्विजातित्व नहीं ।

शङ्का—गोत्र ही जातिपदार्थ है, क्योंकि 'ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः' ['ब्रह्मन्' शब्द से ''तस्यापत्यम्'' (पा० सू० ४।१।९२) इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करने पर 'ब्रह्मन् + अ' ऐसी स्थिति में 'अन्' (पा० सू० ६।४।१६७) सूत्र के द्वारा 'अन्' को प्रकृतिभाव, फलतः ''नस्तद्धित'' (पा० सू० ६।४।१४४) इस सूत्र के द्वारा ही 'अन्' का लोप नहीं हुआ और 'ब्राह्मणः' शब्द निष्पन्न हो गया ।] अर्थात् ब्रह्मा की सन्तान ब्राह्मण है, गोत्र (मूल पुरुष) के सम्बन्ध से ब्राह्मण का अवधारण किया गया, अतः गोत्र ही जातिपदार्थ है ।

समाधान—जैसे ब्रह्मा की सन्तान होने से ब्राह्मण को ब्राह्मण कहा जाता है, वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि सभी तो ब्रह्मा की सन्तान हैं, अतः सबको ब्राह्मण कहना होगा, ब्रह्मा से भिन्न अन्य किसी से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ।।६८।। अवान्तर जाति-

वार्तिकालङ्कारः

अन्तरा जातिभेदश्चेन्निर्निमित्तः कथम्भवेत् । अन्तराले क्रियाभेदाद् गोत्रेणार्थो न कस्यचित् ॥६९॥
अथ द्विजादिगोत्राणामनादिर्भेद इष्यते । ज्ञायतां स कथन्नाम प्रमाणस्याप्रवृत्तितः ॥७०॥
क्रिया तदपरिज्ञानादक्रियैव प्रसज्यते । अविच्छेदश्च गोत्रस्य प्रत्येतुं शक्यते न च ॥७१॥
अविच्छेदो न नियतः कस्यचिद् गोत्रभाविनः । सूतमागधचण्डालाः कथं सम्भविनोऽन्यथा ॥७२॥
ज्ञायन्त एव ते तज्ज्ञैरिति चेन्नियमो न हि । अनादिगोत्रपद्धत्यामस्यान्न स्खलनं स्त्रिया ॥ ७३॥
इति ज्ञातं कथं नाम कामार्त्ता हि सदा स्त्रियः । ब्राह्मणत्वे स्थिते पूर्वं तद्गोत्रत्वस्य सम्भवः ॥७४॥
तदास्थितेः कथङ्गोत्रं सेयमन्धपरम्परा । अथ शक्तिविशेषेण योगो ब्राह्मण्यमिष्यते ॥७५॥
इदानीन्दृश्यते नैव शक्तेरतिशयः क्वचित् । श्रूयते पूर्वकालश्चेत् सर्वत्रेति वृथा वचः ॥७६॥
सर्वागमप्रसिद्धानां शक्तेरतिशयो महान् । योगिनां गीयते पूर्वसिद्धानामविगानतः ॥७७॥

तस्मान्न शक्तिविशेषयोगो द्विजातित्वं युक्तम् ।

न च वेदवचः किञ्चिद् द्विजातित्वादिसाधकम् । व्यक्तेः सामान्यवचनमनुक्तसममेव तत् ॥७८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भेद भी किसी निमित्त के बिना सम्भव नहीं । यदि अवान्तर क्रिया के भेद से जाति-भेद माना जाता है, तब गोत्र निरर्थक है ॥६९॥ द्विजादि के अवान्तर गोत्रों का अनादि-भेद माना जाता है, तब बिना किसी प्रमाण के उसकी सिद्धि क्योंकर होगी ? ॥७०॥ अध्यापनादि क्रिया को गोत्र का ज्ञापक मानने पर क्रिया-भेद का ज्ञापक कौन ? बिना ज्ञापक के अध्यापनादि ब्राह्मण की क्रिया न होकर अक्रिया क्यों नहीं ? गोत्र का मध्य में विच्छेद नहीं हुआ—यह कौन बतायेगा ? ॥७१॥ किसी गोत्र में होनेवाले व्यक्तियों के गोत्र का नियमतः अविच्छेद ही रहता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि गोत्र-विच्छेद नहीं होता, तब सूत, मागध, चाण्डालादि वर्ण-संकर जातियाँ कहाँ से आ गईं ? [मनुस्मृति १०।१७ में कहा गया है कि क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के सम्पर्क से सूत जाति, वैश्य-पुरुष और क्षत्रिय-स्त्री के योग से मागधादि वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न हुई हैं] ॥७२॥

जो गोत्रादि के जानकार हैं, वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को बता देते हैं, अतः गोत्र सुरक्षितरूप से रहता ओर ज्ञात होता रहता है—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि इस अनादि गोत्र-व्यवस्था में स्त्रियों में कभी स्खलन (अनाचार) नहीं आया—यह कैसे ज्ञात हो सकेगा ? स्त्रियाँ सदैव कामार्त रहती हैं, उनके लिए वंश-परम्परा को असंकीर्ण रखना सम्भव नहीं । ब्रह्मा की सन्तति-परम्परा ब्राह्मण है, किन्तु ब्रह्मा ब्राह्मण है ? या नहीं ? यदि है, तब वह किसी अन्य ब्रह्मा से उत्पन्न न होने के कारण ब्राह्मण क्योंकर होगा ? यदि वह ब्राह्मण नहीं, तब ब्राह्मणों का गोत्र (मूल) पुरुष अब्राह्मण, यह कैसी अन्धपरम्परा ?

ब्रह्मवर्चः या ब्रह्मतेजः रूप विशेष शक्ति जिसमें देखी जाती हैं, वह ब्राह्मण है—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि आज-कल तो शक्तिविशेष या ब्रह्मवर्चः किसी ब्राह्मण में देखा नहीं जाता । बूढ़े लोगों से सुना जाता है—ऐसी किंवदन्ती नितान्त निःसार है ॥७३–७६॥ सभी आगमों में वर्णित सिद्धों और योगियों में विशेष शक्तियों के विषय में तो किसी का मतभेद नहीं ॥७७॥ अतः शक्ति-विशेष के योग से भी द्विजातित्व नहीं जाना जा सकता ।

वेदों में भी कोई ऐसा वचन उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय के देवदत्तादि

वार्तिकालङ्कारः

न हि वेदो देवदत्तादीनां ब्राह्मणत्वमुपदिशति । सर्वदाऽविद्यमानत्वात् । वेदस्य च सर्वदा भावात् । अर्थस्याभावकाले वेदोपदेशः कथं सार्थकः । यदा भविष्यति तदा तथैति चेत् ।

अनर्थकः कथं वेदः पश्चादर्थेन सङ्गतः । उदासीनस्वरूपस्य तत्र व्यापृतता कथम् ।।७९।।

न खलु स्वभावाभावयोर्वेदस्य विशेष उपलभ्यते । तत्स्वभावत्वे च सर्वदा कथमयं विभागं प्रतीयात् ।

तस्मान्नेदं ब्राह्मणत्वादिकं प्रत्यक्षादुपदेशादुभयाद् वेदाद् वा प्रतीयते । तदप्रतीयमानं कथमुपयोगीति किन्तेन कर्त्तव्यम् । ततः संव्यवहारमात्रप्रसिद्धं ब्राह्मण्यम् । ततो ब्राह्मणा अपि वेदान्नार्थक्रियाक्रमकृत इति कथं व्यवहारसंवादो वेदात् । कस्यचित्तु व्यवहारो वेदविपर्ययादपीति न वेदावेदयोर्विशेषः । तस्मान्नापरीक्षिताद् वेदान्नियोगमात्रादेव प्रवर्त्तनं युक्तम् । ततोऽप्रवर्त्तकत्वादप्रामाण्यम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्विजों में द्विजत्व का प्रतिपादक हो । यदि कहीं द्विज शब्द आ भी गया तो वह सामान्य शब्द है, वह जन्म-मरणवाले व्यक्तियों का बोधक न होकर किसी सदातन चन्द्रादि अर्थों का ही बोधक होगा, [जैसा कि मीमांसकों ने कहा है—"परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (जै० सू० १।२।३१) । शबरस्वामी ने इसके भाष्य में "बबरः प्रावाहणिः" इन शब्दों के लिए कहा है—"यो नित्योऽर्थस्तमेतौ शब्दौ वदिष्यतः] ।।७८।। भाव यह है कि आजकल विद्यमान देवदत्तादि ब्राह्मण व्यक्तियों में द्विजत्व का बोधक वेद नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सदातन है, असदातन पदार्थों का बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि देवदत्तादिरूप अर्थों के न होने पर उनके वाचक शब्दों का प्रयोग पहले से ही क्योंकर होगा ? जिस शब्द का अर्थ अभी बना ही नहीं, ऐसे अनर्थक शब्द वेद में नहीं हो सकते । जब उनका अर्थ सिद्ध हो जायगा, तब शब्दों में सार्थकता भी आ जायगी—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "औत्पत्तिस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (जै० सू० १।१।५) इस सूत्र में वैदिक शब्दों का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध माना गया है । अर्थ-सम्बन्ध-रहित उदासीन शब्द पश्चाद्भावी अर्थों के साथ सम्बन्धित क्योंकर होंगे ? और संज्ञा-संज्ञिभाव सम्बन्ध के बिना अपने अर्थ का अभिधान करने में व्यापृत (प्रवृत्त) कैसे होंगे ? ।।७९।। वेद सदा एकरस समस्वभाव और स्वतःप्रमाण है, कभी अनर्थकता (अबोधकता) और कभी सार्थकता—यह विभाग उसमें कैसे सम्भव होगा ? इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मणत्वादि जातियाँ प्रत्यक्ष, उपदेश, उभय (प्रत्यक्ष-सहकृत उपदेश) या वेद के द्वारा अधिगत नहीं हो सकतीं, जो वस्तु सर्वथा अज्ञात है, उसका उपयोग कुछ नहीं, अतः उसका मानना ही निरर्थक है । लोक में जो ब्राह्मणत्वादि की प्रसिद्धि है, वह लोगों का अपना बनाया व्यवहार है । उस व्यवहार का वेद से संवाद (समर्थन) नहीं, क्योंकि ब्राह्मणों का व्यवहार वेद के अर्थ-क्रियाकारी अर्थ-क्रम का अनुसरण नहीं करता । कतिपय ब्राह्मणों का व्यवहार वेद के विपरीत भी देखा जाता है, अतः जब तक वेद की परीक्षा न कर ली जाय, तब तक उसके नियोगमात्र (आज्ञामात्र) से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए । फलतः वेद प्रवर्तक न होने के कारण प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

शङ्का—[विगत पृ० १८ पर यह प्रश्न उठाया गया था कि नियोग किसका धर्म

वार्तिकालङ्कारः

अथ नियोक्तृधर्मता नियोगस्य । तदयुक्तम् ।

नियोक्तुः सिद्धरूपत्वान्नियोगस्यापि सिद्धता ।
सम्पाद्यो न नियोगः स्यात् सिद्धं सम्पाद्यतां कथम् ॥८०॥

न खलु सिद्धमपरनिरपेक्षं कथञ्चित् सम्पादयितुं शक्यम् । तथा चेदनुपरतिरेव सम्पादनाया इति व्यर्थता प्रमाणस्य ।

अथ नियोजकधर्मत्वेऽपि नियोज्यविषयापेक्षया नियोगस्तथात्वं प्रतिलभते । नियोज्यरहितः कश्चिन्न नियोगः प्रतीयते । तथा नियोगविषयं विना नास्ति नियोगता । तथा हि--नियुक्तोऽहमनेनात्र विषय (ये नियोग) इति प्रतीतिः । यतः—

नियोगः प्रेरणारूपो विना न विषयं क्वचित् । नियोज्योऽपि नियोज्यत्वमात्मनः सोऽवगच्छति॥८१॥

स च तथाभूतो नियोगः साध्य एव । न खलु स्वव्यापारसाधनं विना नियोगः साधित इति भवति । एवन्तर्हि धात्वर्थनियोगभावनानां परस्परसम्बन्धो नियोगः । स च प्रतीतिकाले नास्ति । तत् कथं नियोगे वाक्यार्थे निरालम्बनता न भवेत् । न च नियोगः परस्परसापेक्षधात्वर्थादिव्यतिरेकेणापर उपलभ्यते । सम्बन्धश्च हेतुफलभावेन व्यवस्थि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है ? नियोज्य (पुरुष) और विषय (यागादि) की धर्मता का निरास किया गया, नियोक्ता (वैदिक लिङादि) की धर्मता का विकल्प प्रस्तुत किया जाता है] । यागादि कर्मों में पुरुष के नियोजक (वैदिक लिङादि शब्दों) का नियोग धर्म क्यों न माना जाय ?

समाधान—नियोग वैदिक लिङादि शब्दों का भी धर्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे सिद्ध हैं, उनका अर्थ नियोग भी सिद्ध है, अतः वह साध्य न हो सकेगा। निष्पन्न पदार्थ का निष्पादन क्योंकर होगा ? ॥८०॥ जो वस्तु सिद्ध हो चुकी है, उसे अपनी सिद्धि के लिए अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रही, उसका सम्पादन और क्या होगा ? निष्पन्न की भी यदि निष्पादना हो, तो निष्पत्ति क्रिया का कभी अवसान ही न होगा । घटादि पदार्थ कभी सिद्ध न होंगे, सिद्धार्थ-ग्राहक प्रमाण व्यर्थ हो जायगा।

शङ्का—यद्यपि नियोग नियोजक का धर्म है, तथापि वह तब तक सिद्ध नहीं माना जा सकता, जब तक नियोज्य (पुरुष) का विषय (यागादि) सिद्ध न हो । यागादि की सिद्धि न होने पर नियोज्य पुरुष को यह भान कैसे होगा कि मैं इस विषय में नियुक्त हुआ हूँ । नियोग एक प्रेरणा है, जो कि नियमतः विषय की अपेक्षा करती है, अतः विषय की सिद्धि के बिना नियोज्य पुरुष किस विषय में अपनी नियोज्यता (नियुक्ति) समझेगा ? ॥८१॥ जिस नियोग का विषयीभूत याग साध्य होने के कारण नियोग भी साध्य ही माना जाता है ।

समाधान—धात्वर्थ (यागादि), नियोग और भावना (लिङर्थ) इन तीनों अर्थों के साथ 'नियोग' शब्द का सम्बन्ध स्थापित किया गया । 'नियोग' शब्द की प्रतीति के समय उक्त तीनों अर्थ सिद्ध नहीं हुए, तब 'नियोग' शब्द निरालम्बन (वाच्यार्थ-रहित) क्यों नहीं ? [प्रभाकर मत के अनुसार "यजेत स्वर्गकामः" इस वाक्य के द्वारा 'स्वर्गकामकर्तृकं योगजन्यं यागविषयकमपूर्वं (नियोगः) ऐसा शब्दबोध होता है] यहाँ नियोग का सम्बन्ध जिन यागादि पदार्थों के साथ प्रतीत होता है, वे जब सिद्ध नहीं, तब उनके साथ नियोग का सम्बन्ध क्योंकर प्रतीत होगा ? नियोग साध्य माना जाता है, अतः

वार्तिकालङ्कारः

तानां क्रमभाविनां न प्रतिभासगोचरः स्वरूपप्रतिभासस्य विद्यमानविषयत्वात् । पररूपः प्रतिभासस्य चातत्प्रतिभासत्वात् । न खल्वन्यदन्यरूपेण प्रतिभासते । तथा च निरालम्बनैं कान्यापोहविषया श्रुतिः । तथा हि—कुरु यागादिकमिति । यागकर्तृकत्वमात्मनः प्रतीतिविषयप्राप्तं मन्यमानः प्रवर्त्तते । क्रियानिष्ठता च कर्तृत्वम् । न च प्रतीतिकाले तदस्ति । न च शब्दात् प्रागप्रतिपन्नं प्रत्येतुं शक्यम् । येन हि प्राग् यागादिक्रियाविष्टो परः प्रतिपन्नः स एवात्मनः परस्य वा तथाभावमवगच्छति नान्यः । पूर्वानुसारेण चेयं प्रतीतिरन्यापोहविषयतामात्मनो नातिक्रामति । न च प्रत्यक्षतः कर्तृत्वमपि पूर्वं प्रतिपन्नम् । पौर्वापर्ये प्रत्यक्षस्यावृत्तेः । सांव्यवहारिकप्रत्यक्षापेक्षया तु प्रतीतिरित्युच्यते । सर्वथा पूर्वप्रतीत्यनुसरणादात्मनः कर्तृत्वप्रतीतिः ।

अथापि न कर्तृत्वेनासौ प्रेर्यते किन्त्वधिकारित्वेनैव, न ह्यकुर्वन् कर्ता भवति । अधिकारित्वन्तु योग्यतया । तदप्यसत् ।

योग्यताविषये क्वापि विना न विषयेण सा । विषयात्यक्षतायाञ्च प्रतीता योग्यता कथम् ॥८२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसकी साध्यत्वेन प्रतीति स्वरूपतः प्रतीति कहलाती है। नियोग विषय (याग) सिद्ध न होने से नियोग भी सिद्ध नहीं—इस प्रकार की शैली को बौद्ध सिद्धान्त में अन्यापोह कहा जाता है [जैसे गौ में रहने वाला गोत्व धर्म क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है—'अगोभिन्नत्वम्' । नियोग के निरूपण में यदि प्रभाकर मिश्र अन्यापोह नाम के प्रतिपक्ष-सिद्धान्त को अपनाते हैं, तब वे अन्यसिद्धान्तरूप (न्या० सू० ५।२४) निग्रह स्थान से निगृहीत हो जाते हैं] ।

किसी को आज्ञा दी जाती है—"कुरु यागम्" । श्रोता पुरुष उस आज्ञा-वाक्य से प्रतीयमान याग-कर्तृत्व को अपने में मानकर यागानुष्ठान करने लग जाता है, किन्तु वस्तुतः याग-कर्तृत्व उस पुरुष में है नहीं, क्योंकि क्रिया की आश्रयता का नाम कर्तृत्व है, वह प्रतीति के समय विद्यमान नहीं । पूर्व अप्रतिबन्ध (अज्ञात) पदार्थ शब्द के द्वारा अभिहित नहीं किया जा सकता । जिस व्यक्ति ने पहले किसी को याग करते देखा है, वही व्यक्ति अपने में कर्तृत्व का ज्ञान कर सकता है, अन्य नहीं; अतः पूर्वोक्त वाक्य के द्वारा श्रोता पुरुष अपने में कर्तृत्व न समझ कर अकर्तृत्वाभाव मान लेता है। यह अन्यापोह का ही स्वरूप है । जिस पुरुष ने दूसरे में कर्तृत्व का प्रत्यक्ष किया, उसके अनन्तर अपने में कर्तृत्व का प्रत्यक्ष कर लिया, वह याग में प्रवृत्त हो जायगा—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द, ज्ञान और कर्म का विरम्य व्यापार नहीं होता, अर्थात् एक विषय का ग्रहण कर उसके अनन्तर किसी अन्य विषय का ग्रहण करें, फलतः पौर्वापर्य में लौकिक प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती । प्रकृत प्रतीति में सांव्यावहारिक (लौकिक) प्रत्यक्ष ही अपेक्षित होता है । सर्वथा यह निश्चित है कि अपने में कर्तृत्व की प्रतीति तभी हो सकती है, जब पहले किसी अन्य पुरुष में कर्तृत्व ज्ञात हो चुका हो ।

शङ्का—कथित पुरुष को जो यागानुष्ठान में प्रवृत्त किया जाता है, वह उसे कर्ता मान कर नहीं, अपितु उसे याग का एक अधिकारी मान कर । कर्तृत्व में क्रियाश्रयता की अवश्य अपेक्षा है, किन्तु अधिकारी में केवल उसकी योग्यता होनी आवश्यक है ।

समाधान—योग्यता भी निर्विषयक नहीं होती । विषय (यागादि) जब अप्रत्यक्ष

वार्तिकालङ्कारः

न खलु योग्यताविषयं स्वव्यापारमजानानस्तद्विषयविशिष्टां योग्यतां स्वरूपतोऽवगच्छति । ततः कर्तृत्ववदत्रापि दोष एव ।

विचारगोचरातीतो वचारचरितैः कथम् । नियोग इष्यते वाक्यस्यार्थ आचार्यमुष्टितः ॥८३॥

न खलु विचार्यमाणो नियोगः कश्चिदस्ति । यथा कल्पनमयोगात् ।

शुद्धकार्यस्य किं रूपनियोगः कीर्त्तितः परैः । केवला प्रेरणा कार्यसङ्गताथ विपर्ययः ॥८४॥

प्राधान्यात् कार्यरूपत्वं नियोगस्य किमिष्यते । किं वा प्रेरकता तस्य प्राधान्यादुच्यते परैः ॥८५॥

कार्यस्य प्रेरणायाश्च सम्बन्धे किन्नियोगता । नियोगः समुदायोऽथ यद्वा तदुभयात् परः ॥८६॥

यन्त्रारूढस्तथाभीष्टो भोग्यरूपोऽथवा स किं। पुरुषो वा नियोगः स्यादिति पक्षाः परैः कृताः ॥८७॥

(१) शुद्धकार्यनियोगवादिनां मतम्—

प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥८८॥

विशेषणन्तु यत्तस्य किंचिदन्यत् प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद् युक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥८९॥

प्रेरकत्वन्तु यत् तस्य विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच् छब्दे कार्यनियोगता ॥९०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(अतीन्द्रिय या इन्द्रिय का अविषय) है, तब उसकी योग्यता भी क्योंकर प्रतीत हो सकेगी ? ॥८२॥ जो व्यक्ति योग्यता के विषयीभूत यागादि को नहीं जानता, वह यागादि-विषय-विशिष्ट योग्यता को कभी नहीं जान सकता, अतः कर्तृत्व के समान ही योग्यता में भी वही दोष है ।

नियोग जब विचार का विषय ही नहीं हो सकता, तब नियोग विधि-वाक्य का अर्थ कैसे होगा ? केवल आचार्य-पुष्टि (गुरु-मन्त्र) से प्राप्त नियोग सर्वमान्य नहीं हो सकता ॥८३॥

नियोगवादियों के ग्यारह मत—

बहुत विचार करने पर भी मीमांसकों के नियोग का कोई एक निश्चित स्वरूप स्थिर नहीं होता, अतएव नियोग के विषय में विविध कल्पनाएँ की गई हैं—(१) कुछ लोगों ने शुद्ध कार्य को नियोग माना है, (२) तो कुछ ने केवल प्रेरणा को, (३) कुछ ने प्रेरणा-सङ्गत कार्य को, (४) कुछ ने कार्य-संगत प्रेरणा को, (५) कुछ ने प्रधान होने के कारण कार्यगत प्रवर्तकत्व को, (६) कुछ ने कार्य और प्रेरणा के सम्बन्ध को, (७) कुछ ने कार्य और प्रेरणा के समुदाय को, (८) कुछ ने उक्त समुदाय से भिन्न अर्थ को, (९) कुछ ने यन्त्रारूढ़ अभीष्ट अर्थ को, (१०) कुछ ने भोग्य पदार्थ को और (११) कुछ ने पुरुष को नियोग माना है ।

(१) शुद्ध कार्य-नियोगवाद—

लिङादि प्रत्ययों का अर्थ शुद्ध कार्य ही प्रतीत होता है, अतः शुद्ध कार्य ही नियोग है ॥८८॥ "यागविषयकः स्वर्गकामकर्तृको नियोगः" इस प्रकार जो यागादिरूप धात्वर्थ नियोग का विशेषण प्रतीत होता है, उससे युक्त (विशिष्ट) कार्य को नियोग नहीं माना जा सकता ॥८९॥ कार्यनिष्ठ जो प्रेरकत्व है, वह तो लिङादि प्रत्यय का वाच्य ही नहीं, परिशेषतः शुद्ध कार्य में ही नियोगता स्थिर होती है । [यहाँ पर "शब्दे कार्यनियोगता"—इस पाठ के स्थान पर 'शुद्धे कार्ये नियोगता'—ऐसा पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है] ॥९०॥

वार्तिकालङ्कारः

(२) शुद्धप्रेरणानियोगवादः—

प्रेरणैव नियोगेऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वम्प्रबुध्यते ॥६१॥

(३) प्रेरणासङ्गतकार्यनियोगपक्षः—

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । स्वसिद्धौ प्रेरकन्तत् स्यादन्यथा तन्न सिध्यति ॥६२॥

(४) कार्यसङ्गतप्रेरणावादिनः प्राहुः—

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित् । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥६३॥

(५) कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्ववादिनः प्राहुः—

प्रेरणाविषयः कार्यं न तु तत् प्रेरकं स्वतः । व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते ॥६४॥

(६) सम्बन्ध एवोभयोर्नियोग इत्यपरे –

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणा योगो नियोगस्तेन सम्मतः ॥६५॥

(७) समुदायवादेऽप्ययमभिप्रायः—

परस्पराविनाभूतं द्वयमेतत् प्रतीयते । नियोगः समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणयोर्यतः ॥६६॥

(८) अपरे पुनराहुः—उभयस्वभावनिर्मुक्तो वाक्यार्थः—

सिद्धमेकं यतो ब्रह्मगतमाम्नायतः सदा । सिद्धत्वेन न तत् कार्यं प्रेरकं कुत एव तत् ॥६७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(२) शुद्ध प्रेरणा-नियोगवाद—

लिङादि प्रत्ययों का जो शुद्ध प्रेरणारूप अर्थ है, वही नियोग है, क्योंकि कोई व्यक्ति जब तक किसी कार्य में प्रेरित न हो, तब तक वह अपने को उस कार्य में नियुक्त हुआ नहीं मानता ॥ ६१ ॥

(३) प्रेरणा-विशिष्टकार्य नियोगवाद—

"ममेदं कार्यम्"—इस प्रकार जब किसी व्यक्ति को पहले ज्ञात हो जाता है, तभी अपनी सिद्धि (निष्पत्ति) के लिए नियोग में प्रेरकत्व आता है, अन्यथा वह निष्पन्न न हो सकेगा ॥६२॥

(४) कार्य-विशिष्ट प्रेरणावादी कहते हैं—

कार्यता-ज्ञान (कृति-साध्यता-ज्ञान) के बिना कोई व्यक्ति किसी कार्य में प्रेरित नहीं किया जा सकता, अतः कार्य-सहकृत प्रेरणा को नियोग कहा जाता है ॥६३॥

(५) कार्य में औपचारिक प्रवर्तकत्ववादी मानते हैं—

कार्य प्रेरणा का विषयमात्र होता है, स्वतःप्रेरक नहीं, अतः प्रेरणारूप प्रमाण के प्रवर्तकत्वरूप व्यापार का प्रमेय (कार्य) में उपचार (गौण व्यवहार) होता है ॥६४॥

(६) उभय-सम्बन्ध-नियोगवादी—

प्रेरणा कार्य के बिना किसी की प्रवर्तक नहीं होती, अतः कार्य में जो प्रेरणा का सम्बन्ध है, वही नियोग-पदार्थ है ॥९५॥

(७) उभय-समुदाय-नियोगवादी—

कार्य और प्रेरणा—दोनों परस्पर अविनाभूत हैं, अर्थात् एक के बिना दूसरे का रह सकना सम्भव नहीं, अतः कार्य और प्रेरणा—इन दोनों का समुदाय नियोग का पूर्ण कलेवर है ॥९६॥

(८) अन्य विद्वान् उभय-रहित पदार्थ को नियोग मानते हैं—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह० उ० २।४।५) इत्यादि स्थलों पर 'तव्य' प्रत्यय

वार्तिकालङ्कारः

(९) यन्त्रारूढनियोगवादिनां मतम्—

कामी यत्रैव यः कश्चिन्नियोगे सति तत्र स । विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥९८॥

(१०) भोग्यरूपनियोगवादिनां प्रवादः—

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥९९॥

स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तर्यत्र भवेदयम् । भोग्यन्तदेव विज्ञेयं तदेव स्वं निरूप्यते ॥१००॥

साध्यरूपतया येन ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥१०१॥

सिद्धरूपं हि यद् भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥१०२॥

(११) पुरुषनियोगवादिनः—

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः कार्यविशिष्टत्वं नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥१०३॥

कार्यस्य सिद्धौ जातायां तद्युक्तः पुरुषस्तदा । भवेत् साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥१०४॥

सर्वत्र च वाक्यार्थेऽष्ट प्रकारो भेदः—

प्रमाणं किन्नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोऽथवा पुनः ॥१०५॥

शब्दव्यापाररूपो वा व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ॥१०६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के द्वारा जिस नियोग का प्रतिपादन किया जाता है, वह सिद्ध एवं एक ही है, अतः सिद्ध होने के कारण वह अपनी सिद्धि के लिए किसी पुरुष का नियोजक (प्रेरक) नहीं, फलतः वह न कार्यस्वभाव का है और न प्रेरणास्वभाव का, अपितु दोनों स्वभावों से विनिर्मुक्त सिद्ध होता है ॥९७॥

(९) यन्त्रारूढ-नियोगवादियों का मत—

जैसे कोई जल की कामनावाला व्यक्ति जल निकालने वाले यन्त्र पर आरूढ होकर जल ग्रहण कर लेता है, वैसे ही स्वर्ग की कामनावाला पुरुष स्वर्ग के साधनीभूत यागरूप विषय पर आरूढ होकर चल पड़ता है और स्वर्ग तक पहुँच जाता है ॥९८॥

(१०) भोग्यरूप-नियोगवादियों का मत—

जिस धन के द्वारा अन्नादि भोग्य पदार्थों का अर्जन किया जाता है, वह धन भी भोग्य ही माना जाता है। स्वर्गादि के साधनीभूत नियोग में किसी व्यक्ति को यह जो ज्ञान हो जाता है कि "ममेदं (अपूर्वं) भोग्यम्"। वह ज्ञान भोक्ता पुरुष में ही अवस्थित होता है। उसके आधार पर पुरुष अपने को उसका स्वामी या भोक्ता मान लेता है। वह अपूर्वरूप नियोग ही साध्यत्वेन निरूपित (प्रतिपादित) होता है॥ ९९, १०० ॥ 'ममेदम्'—इस प्रकार की प्रतीति में नियोग साध्यत्वेन ही अवभासित होता है, अतः साध्यत्व रूप से ही वह भोग्य माना जाता है। सिद्धात्मक भोग्यपदार्थ नियोजक न होने के कारण नियोग नहीं कहलाता, अपितु साध्यत्वेन प्रतोयमान भोग्यवस्तु प्रवर्तक है, अतएव नियोगपदास्पद है ॥१०१, १०२॥

(११) पुरुष-नियोगवाद—

'ममेदं कार्यम'—ऐसी मान्यता सदा पुरुष की ही होती है, अतः कार्य-विशिष्ट पुरुष ही लिङादि का वाच्यार्थ होता है ॥१०३॥ कार्य (नियोग) की सिद्धि हो जाने पर नियोग-विशिष्ट पुरुष प्रसाधित हो जाता है, अतएव वही वाक्यार्थ है ॥१०४॥ निरूपित आठ विकल्पों के अनुरूप वाक्यार्थ भी आठ रूपों में विकलिपत हो जाता है—(१) क्या नियोग प्रमाण है ? या (२) प्रमेय ? या (३) उभयरूप ? या (४) उभय-विहीन ? या

वार्तिकालङ्कारः

अत्रोच्यते—सर्वमेतदसङ्गतम् । यतः—

प्रेरणारहितं कार्यं नियोज्येन विवर्जितम् । नियोगो नैव कस्यापि नियोग इति कीर्त्यते ॥१०७॥

वृत्तिर्नियोगशब्दस्य शुद्धे कार्ये यदा मता । संज्ञा मात्रान्नियोगत्वं भवेत् केन निवार्यते ॥१०८॥

यक्तस्तु पुरुषः कार्ये तत्र नैव प्रतीयते । नियोगः स कथन्नाम सिद्धातीतादिबोधवत् ॥१०९॥

नियोजकस्य धर्मोऽयं नियोगो लोकसम्मतः । तदेव कार्यमिति चेत् सिद्धत्वान्नास्य साध्यता॥११०॥

साध्यत्वेन नियोगोऽयमिति चेद् व्यपदिश्यते । विषये तस्य तत्त्वेन उपचारात् प्रकीर्त्तनम् ॥१११॥

असिद्धस्य च तस्यास्तु कथं प्रेरकरूपता । साध्यत्वेनाववोधोऽस्य प्रेरकत्वं यदीष्यते ॥११२॥

अप्रसिद्धस्य साध्यत्वं बोधः सिद्धात्मकस्य च । परस्परविरुद्धत्वमेकस्य कथमिष्यते ॥११३॥

साध्यरूपतया तस्य प्रतीतिः प्रेरिका यदि । नियोगत्वं प्रतीतेः स्यान्न नियोगस्य तत्त्वतः ॥११४॥

तथा—

नियोगो यदि वाक्यार्थः प्रमाणं किं भविष्यति । मानरूपो नियोगश्चेत् प्रमेयं किं पुनर्भवेत् ॥११५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(५) शब्द का व्यापार है, या (६) पुरुष का व्यापार है ? या (७) दोनों का व्यापार है ? अथवा (८) दोनों में से किसी का भी व्यापार नहीं ? ॥१०५-१०६॥

नियोगवादियों के ग्यारह मतों का खण्डन—

प्रदर्शित नियोग के सभी प्रकार असंगत हैं, क्योंकि (१) प्रेरणा से रहित शुद्ध नियोग का कोई नियोज्य नहीं, तब वह किसका नियोग कहलायेगा ? यदि 'नियोग' शब्द की वृत्ति (शक्ति) शुद्ध नियोग में मानी जाती है, तब वह शब्द केवल डित्थ-डवित्थ के संज्ञामात्र है । जल की यदि कोई अग्नि संज्ञा रखता है, तब उसे हटानेवाला कौन है ? अर्थात् प्रेरणा-रहित कार्य नियोजक न होने से नियोग कहलाने के योग्य नहीं, फिर भी गुण, वृद्धि के समान उसे नियोग कहना परिभाषामात्र है ॥१०७-८॥ शुद्ध कार्य में पुरुष की नियुक्तता प्रतीत नहीं होती, तब वह नियोग क्योंकर कहा जायगा ? सिद्ध ज्ञान या अतीतादि ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए किसी का नियोजक न होने से जैसे नियोग नहीं कहला सकता, वैसे ही सिद्ध कार्य भी नियोजक नहीं कहा जा सकता ॥ १०९ ॥

लोक में तो नियोग-नियोजक पुरुष का धर्म ही माना जाता है, उसको ही यदि नियोग मान लिया जाय तब उसमें साध्यता नहीं बनती, क्योंकि सिद्ध पुरुष का धर्म भी सिद्ध है—यह पहले कहा जा चुका है ॥ ११० ॥ नियोग स्वयं सिद्ध होने पर भी उसका याग रूप विषय साध्य होने के कारण वह भी साध्य माना जाता है—इस पक्ष का भी निराकरण किया जा चुका है कि इस प्रकार भी नियोग में केवल साध्यता का उपचार (गौण व्यवहार) ही किया जा सकता है ॥१११॥ जो नियोग स्वयं सिद्ध है, उसमें प्रेरकता (नियोजकता) क्योंकर बनेगी ? यदि प्रेरक मानना है, तब नियोग को साध्य कहना होगा ॥११२॥ एक ही पदार्थ में सिद्धत्व और साध्यत्व—दोनों विरुद्ध धर्म एक काल में नहीं रह सकते ॥११३॥ यदि कहा जाय कि सिद्ध नियोग की साध्यत्वेन प्रतीति प्रेरक होती है, तब नियोग को नियोजक न कहकर उसकी प्रतीति को नियोजक होने से नियोग कहना होगा ॥११४॥

नियोग यदि वाक्यार्थ है, तब प्रमाण कौन होगा ? नियोग को ही प्रमाण मानने पर प्रमेय कौन होगा ? ॥११५॥ यदि तत्त्वतः नियोग को पुरुष का व्यापार माना

वार्तिकालङ्कारः

नियोगः पुरुषस्येष्टो व्यापारस्तत्त्वतो यदि । व्यापारः पुरुषस्यासौ भावनैवान्यवाचका ॥११६॥
वाक्यव्यापारपक्षे तु भवेत् सा शब्दभावना । शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ॥११७॥
शब्दादेव स्वसौ जाताः पुरुषः किं प्रवर्तते । शब्देन प्रेरितो नो चेत् स्वव्यापारे प्रवर्त्तते ॥११८॥
शब्देनाचोदितत्वेऽस्य कथमस्तु प्रवर्त्तनम् । शब्देन चोदने तस्य निरालम्बनता धियः ॥११९॥

एवं यन्त्रारूढादयोऽपि वाक्यार्था वाच्यदोषाः । यतः—

यन्त्रारूढतया भोग्यभोक्त्रोः सम्बन्ध उच्यते । न सम्बन्धोऽस्ति भोग्यात्मारूढश्च न नरस्तदा ॥१२०॥
प्रतीतिकाले सर्वस्य साध्यत्वेनास्वरूपता । तदेव तस्य रूपत्वेन्न साध्यत्वस्य हानितः ॥१२१॥

एवं नियोगः प्रत्याख्यातः ।

(३) भावना-प्रत्याख्यानम्—

भावनेदानीं विचार्यते । भावना हि द्विधा । शब्दभावना अर्थभावना च । यदाह—

शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः । इयन्त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्या तेषु विद्यते ॥१२२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है, तब उसे आर्थी भावना ही कहना होगा । हाँ, उसका वाचक आख्यात न होकर उससे अन्य लिङादि है ॥११६॥ यदि उक्त नियोग को विधिवाक्य का व्यापार माना जाता है, तब उसे शाब्दी भावना कहना होगा, क्योंकि दोनों भावनाओं का स्वरूप कुमारिल भट्ट ने बताया है—

अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावनां त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥ (तं० वा० पृ० ३७८)

अर्थात् अभिधाभावना (शाब्दी भावना) के वाचक लिङादि और आर्थी भावना के बोधक आख्यात (लिङ् प्रत्यय) होते हैं ॥११७॥ यह शब्दभावना लिङादि शब्द से ही उत्पन्न होती है । शब्द से प्रेरित होकर पुरुष यदि प्रवृत्त नहीं होता, तब अपने आर्थी भावनारूप व्यापार में प्रवृत्त होगा ॥११८॥ पुरुष यदि शब्द के द्वारा प्रेरित नहीं होता, तब उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? शब्द के द्वारा यदि प्रेरणा उत्पादित की जाती, तब नियोगविषयिणी पुरुष-बुद्धि निरालम्बन हो जाती है ॥ ११९ ॥

इसी प्रकार यन्त्रारूढादि–पक्षों में भी दोषों का उद्भावन कर लेना चाहिए, क्योंकि यन्त्रारूढ होने के कारण योग्य और भोक्ता उसका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, किन्तु उस समय भोक्ता पुरुष भोग्य (विषय) पर ही आरूढ होता है, असम्बद्ध नहीं होता, तब सम्बन्ध-करण क्योंकर सम्भव होगा ? ॥१२०॥ प्रतीति-काल में सभी पदार्थ साध्य होते हैं, सिद्ध नहीं, तब उनका स्वरूप ही नहीं होता । यदि वहाँ स्वरूप माना जाता है, तब सिद्धरूपता के आ जाने से उनमें साध्यत्व नहीं रहता ॥१२१॥ इस प्रकार प्रभाकर-सम्मत नियोग का प्रत्याख्यान (निराकरण) किया गया ।

भावना और उसका प्रत्याख्यान—

भावना—भाट्ट-सम्मत भावना पर अब विचार किया जाता है। भावना दो प्रकार की होती है—(१) शब्द-भावना और (२) अर्थ-भावना, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने (तं० वा० पृ० ३७८ पर) कहा है—

अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्या तेषु गम्यते ॥

[अर्थात् लोक-व्यवहार में किसी पुरुष की प्रेरणा से किसी कार्य में पुरुष प्रवृत्त होता

वार्तिकालङ्कारः

शब्दभावना शब्दव्यापारः। शब्देन हि पुरुषव्यापारो भाव्यते। पुरुषव्यापारेण धात्वर्थो धात्वर्थेन च फलम्।

इदं चायुक्तम्। शब्दव्यापारो हि न शब्दवाच्य, तं प्रति कारकः शब्दो न वाचकः। अप्रतिपादकः। तथा हि—

शब्दादुच्चरितादात्मा नियुक्तो गम्यते नरैः। भावनातः परः को वा नियोगः परिकल्पताम्॥१२३॥

शब्दभावनैव खलु नियोग इति शब्दान्तरेणोच्यते। तदसत्। यदि शब्दव्यापारः कथमगृहीतसङ्केतो नावगच्छति। स्वभावतो हि नियोजकत्वे न संकेतग्रहणमुपयोगि, सैव सामग्री चेत्। ननु सामग्री यदि प्रेरणे भावनायां वा व्याप्रियते, अयुक्तमेतत्। यावता—

सङ्केतग्रहसामग्री व्यापृताऽर्थस्य वेदने। अर्थप्रतीतौ पुरुषः स्वयमेव प्रवर्त्तते॥१२४॥

इदं कुर्विति प्रेरणाध्येषणयोरेव प्रतीतिः। तदप्रतिपत्तौ न नियुक्तत्वप्रतिपत्तिः। नियुक्तत्वञ्च नाम कार्ये व्यापारितत्वम्। कार्यव्यापृतामवस्थां प्रतिपद्य नियोजको नियुङ्क्ते। सा च तस्य भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं शक्या। स्वरूपसाक्षात्क-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है। अपौरुषेय वेद में कोई पुरुष प्रवर्तक न होकर लिङादि शब्द ही प्रवर्तक माने जाते हैं, अतः शब्दगत प्रेरणा-व्यापार को शाब्दी भावना और यागानुष्ठान में प्रवृत्ति को आर्थी भावना कहते हैं। शाब्दी भावना के प्रतिपादक लिङादि तथा आर्थी भावना के बाधक आख्यात (तिङ्) प्रत्यय होते हैं]॥१२२॥ शब्द-भावना शब्द का व्यापार है। आख्यात प्रतिपादित आर्थी भावनारूप पुरुष व्यापार के द्वारा यागादिरूप धात्वर्थ सिद्ध किया जाता है और यागादि से स्वर्गादि फलों का लाभ होता है।

भावना का निरास—शब्द-भावना आदि का स्वरूप जो ऊपर कहा गया, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जैसे पुरुष के व्यापार का पुरुष जनक होता है, वाचक नहीं, वैसे ही शब्द के व्यापार (शाब्दी भावना) का शब्द कारक (जनक) होता है, वाचक नहीं। उच्चरित लिङ्गादि शब्दों को सुनकर श्रोता पुरुष को यह अवगत हो जाता है कि मैं यागानुष्ठान में नियुक्त हो रहा हूँ, अतः भावना से परे किसी नियोज (नियोग) की कल्पना करनी चाहिए॥ १२३॥ शब्द-भावना का ही नामान्तर नियोग है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि नियोग शब्द का व्यापार है, वाच्य नहीं, तब जिस व्यक्ति को लिङ्गादि शब्दों का शक्ति-ग्रह नहीं हुआ, वह भी भावना को शब्द-व्यापार क्यों नहीं जान लेता। नियोजकता तो उसमें स्वभावतः ही है, उसके लिए संकेत-ग्रह (शक्ति-ग्रह) का क्या उपयोग? संकेत-ग्रह शब्द-भावना (प्रेरणा) की सामग्री है—ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि संकेत-ग्रह आदि सामग्री का उपयोग अर्थ-प्रतीति के उत्पादन में होता है, अर्थ को प्रतीति हो जाने पर पुरुष अपने-आप प्रवृत्त हो जाता है॥ १२४॥ "इदं कुरु"—ऐसा वाक्य सुनने से प्रेरणा या अध्येषणा (प्रार्थना) आदि की ही प्रतीति होती है, अन्यथा श्रोता को अपने में विनियुक्तत्व का भान नहीं होगा। विनियुक्त होने का अर्थ होता है—व्यापारित करना (किसी) व्यापार (कार्य) में जोड़ देगा। कार्य-व्यापृततावस्था को जान कर ही प्रायोजक व्यक्ति किसी को कहीं नियुक्त करता है, किन्तु उक्त अवस्था वाक्य श्रवण के समय विद्यमान नहीं, अपितु भाविनी है, अतः उसका उस समय स्वरूपेण

वार्तिकालङ्कारः

रणे हि सर्वं तदैव सिद्धमिति न नियोगः स्यात् सफलः।

यथा प्रयोजकस्तत्र बाध्यमानप्रतीतिकः। प्रयोज्योऽपि तथैव स्याच्छब्दो बुद्धचर्थवाचकः ॥१२५॥

यथैव हि प्रयोजकस्य प्रयोज्येन स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतियता प्रयोजकप्रतीतिर्बाध्यमाना निरालम्बना तथा प्रयोज्यप्रतीतिरपि तेनैव स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतियता बाध्यते। शब्दात् तस्य सा प्रतीतिरिति चेत्, नास्त्येतत्। सोऽपि शब्दो बुद्धचर्थमेव ख्यापयति। एवं मया प्रतिपादितमेवं मया प्रतिपन्नमिति द्वयोरप्यध्यवसायात्। अथवा एवं तावत् प्रतिपन्नं मयास्य त्वभिप्रायो भवतु मा वा भूत्। तथा भवत्वेवमर्थो मा वा भूत् मया तावदेवं प्रतिपन्नम्। अत एवाह—वक्तृव्यापारविषयो।

'वक्तृव्यापारविषय' इति यत्र वक्तास्ति। 'बुद्धौ प्रकाशते' इति यत्र स नास्ति। अथवा तदुक्तेरेव तत्र वक्तास्तीति गम्यताम्, यज्जातीयो यत इति न्यायात्। अथवा तदविशेषात् सर्वमेवापौरुषेयम्। पुरुषकृतेर्बाधनान्नैवं चेद्, अत्राप्यतीन्द्रियत्वात् पुरुषकृतेः सा न बाधिकेति कुत एतत्।

अथवा अपौरुषेयमेव तद्वचनं पुरुषस्य तु मया कृतमेतदिति भ्रान्तिः। तथाहि—

अत्यन्तनष्टो यो ग्रन्थः प्रतिभात्येव कस्यचित्। मया कृत इति प्राप्ताभिमानस्य क्षतस्मृतेः ॥१२६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

साक्षात्कार नहीं हो सकता। स्वरूपतः साक्षात्कार मानने पर उस अवस्था को सिद्ध मानना होगा, फलतः सिद्धार्थ की सिद्धि करने के लिए किसी की नियुक्ति नहीं की जा सकती, नियोग सफल नहीं होगा—जैसे सिद्धार्थ में प्रयोजकता की प्रतीति बाधित होती है, प्रयोज्य शब्द भी बाह्यार्थ का वाचक न होकर बुद्धिगत अर्थ का ही वाचक होता है ॥ १२५ ॥ प्रयोज्य पुरुष जब अपने को निष्क्रिय देखता है, तब सक्रियत्व-विषयिणी प्रयोजक की प्रतीति का बाध हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु प्रयोज्य-प्रतीति भी बाधित हो जाती है। लिङ्गादि शब्दों के द्वारा प्रतिपादित प्रतीति भी बुद्धिगत विषय को ही स्थापित करती है, क्योंकि जैसे प्रयोजक को अध्यवसाय होता है—"एवं मया प्रतिपादितम्।" वैसे ही प्रयोज्य का भी "एवं मया प्रतिपन्नम्"—ऐसा निश्चय होता है। अथवा प्रयोज्य पुरुष को ऐसी ही स्फूर्ति होती है कि "मैंने तो ऐसा ही समझा है, इसका अभिप्राय ऐसा ही है, या नहीं।" "इसका अर्थ ऐसा हो या नहीं, मैंने ऐसा ही समझ रखा है।" अतएव शब्द-प्रमाण के विषय में कहा गया है कि वक्ता पुरुष की विवक्षा का विषय जो बुद्धि में प्रकाशित होता है, उसी में ही शब्द की प्रमाणता मानी जाती है, अर्थतत्त्व के साथ शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं होता (प्र० वा० ११४)। "वक्तृव्यापारविषयः'—यह वहाँ के लिए कहा गया है, जहाँ वक्ता पुरुष है और "बुद्धौ प्रकाशते"—यह वहाँ के लिए कहा गया है, जहाँ वक्ता पुरुष नहीं। अथवा जहाँ पुरुष की उक्ति का उल्लेख है, वहाँ वक्ता की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि जो जिसका वाक्य है, वही उसका वक्ता माना जाता है। अथवा वैदिक वचनों के समान होने के कारण समस्त लौकिक वाक्य अपौरुषेय क्यों नहीं? भारतादि-वाक्यों में पुरुष-कृतित्व यदि अपौरुषेयत्व का बाधक है, तब नियोगादि वाक्यों में अतीन्द्रिय (अनागत) अर्थ का प्रतिपादन पौरुषेय का बाधक क्यों नहीं? अथवा नियोगार्थक लिङादि शब्द अपौरुषेय ही है, प्रभाकरादि महापुरुषों को तो भ्रान्ति है कि "मया कृतम्" क्योंकि जो ग्रन्थ अत्यन्त नष्ट हो गया है और किसी पुरुष को प्रतिभात हो गया।

वार्तिकालङ्कारः

कवयोऽपि जन्मान्तरानुभूतमेव ग्रन्थं कवित्वेनोत्प्रेक्ष्यन्त इति। कुत एतत्। तथा च सर्वमपौरुषेयम् व्यर्थकत्वमपि तथा भवतीति व्यर्थमपौरुषेयत्वं तत्र।

समानमत्र वेदेऽपि तत्रापि व्यर्थतेष्यते। अन्यार्थकल्पनायाञ्च समानमुभयं भवेत् ॥१२७॥

वेदावेदयोर्व्यर्थताऽपौरुषेयताकल्पना च समानैव। अन्यार्थकल्पनायां न व्यर्थतेति चेत्।

सत्यार्थकल्पना तत्र पौरुषेय्येव कल्पताम्। असत्यार्थावभासस्तु प्रथमो यः स वेदतः ॥१२८॥

अत आह—'वक्तृव्यापार' विषय इत्यादि। वेदार्थं प्राथमिकं परित्यज्य योऽर्थो बुद्धिव्यापारविषयस्तत्र प्रामाण्यं पुरुषबुद्धेरेव नार्थतत्त्वनिबन्धनं न शब्दस्येति व्यस्तपदसम्बन्धः।

तथा हि तं परित्यज्य वेदार्थं प्रथमं नरः। प्रमाणशुद्धमन्यार्थं कल्पयेत् तन्मतिः प्रमा ॥१२९॥

सोऽपि वेदार्थ एवेति न प्रमाणमिहास्ति वः। वेदाधिपत्यतो जातेरिति चेत् प्रथमो न किम् ॥१३०॥

तस्यापि च तदर्थत्वे व्यर्थो वेदः कथन्न सः। तथा च सति सन्देहेऽपौरुषेये न मानता॥ १३१ ॥

वेदेऽर्थतत्त्वस्य प्राथमिकस्याभावात् 'चित्रया यजेत पशुकाम' इति व्यर्थकत्वात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसके विषय में जो पुरुष समझने लगता है कि "मया कृतोऽयम्"। वह पुरुष की निरी भ्रान्ति है। वस्तुस्थिति यह है कि वह ग्रन्थ कभी उसने पढ़ा था, उसका स्मरण किसी कारण नष्ट हो गया और वह उसे अपनी कृति समझने लग गया ॥१२६॥ कविगण भी जन्मान्तरानुभूत ग्रन्थ की उत्प्रेक्षा किया करते है। ऐसा क्यों ? इसका एक मात्र रहस्य यही है कि सभी ग्रन्थ अपौरुषेय हैं, पुरुष की नूतन रचना कोई नहीं। इसीलिए वहाँ अपौरुषेयत्व की कल्पना व्यर्थ भी है। यह बात वेदों में भी समान है, क्योंकि उसमें भी व्यर्थता मानी जाती है। यदि अन्यार्थ (सत्यार्थ) की यहाँ कल्पना की जाती है, तब लौकिक ग्रन्थों में भी सत्यार्थता की कल्पना करनी होगी ॥१२७॥ वेदों और लौकिक शास्त्रों में व्यर्थता और अपौरुषेयत्व की कल्पना यदि समान है, तब अन्यार्थ (सत्यार्थ) की कल्पना में व्यर्थता क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि सत्यार्थकता की कल्पना करनी है, तब पौरुषेयी सत्यार्थता का ही कल्पना की जाय, अपौरुषेयी सत्यार्थ-कल्पना व्यर्थ है। अर्थात् सत्यार्थता की कल्पना पुरुष की है और जो असत्यार्थ का अवभास होता है, वह वेद से ही पहले हुआ ॥१२८॥ अतएव प्रमाणवार्तिककार ने कहा है—"वक्तृव्यापारविषय" इत्यादि। प्राथमिक वेदार्थ का परित्याग करके जो अर्थ बुद्धि-व्यापार का विषय है, उसी में पुरुष-बुद्धि की प्रमाणता मानी जाती है, अर्थतत्त्वावबोधकत्वेन शब्द का प्रामाण्य नहीं, क्योंकि शब्द का न तो अर्थतत्त्व के साथ सम्बन्ध होता है और न शब्द उसका बोधक—इस प्रकार उक्त श्लोक का विभज्य विनियोग कर लेना चाहिए। आशय यह है कि वेद से प्रथमतः ज्ञात अर्थ का परित्याग करके पुरुष जो शुद्ध अन्य (सत्य) अर्थ की कल्पना करता है, वही प्रमा है। पौरुषेय बुद्धि में प्रतिभात अर्थ वेदार्थ ही है—इस तथ्य में कोई प्रमाण नहीं। कथित पौरुषेय बुद्धि वेद के प्रभाव से ही यदि उत्पन्न मानी जाती है, तब पहले ही क्यों नहीं उत्पन्न हो गई ? कथित बुद्धि को ही यदि वेद जन्म देता है, तब वह व्यर्थ क्यों नहीं ? इस प्रकार सार्थकता का सन्देह होने के कारण अपौरुषेय वेद में प्रमाणता स्थिर नहीं होती ॥१२९-१३१॥

शब्दमात्र का जब अर्थतत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, तब 'चित्रया यजेत

वार्तिकालङ्कारः

कर्मवैगुण्यवत् तत्रेति चेत् , न प्रमाणाभावात् । अन्यार्थकल्पना तु पुरुषप्रयत्नाद् भवन्ती पुरुषकृतैव । तथा चोक्तं—'सा किमशब्दलिङ्गा स्वयं कथञ्चिदनुस्मरतो न भवति ।' सर्व एव च वेदादात्मानं नियुक्तं मन्यते पूर्वानुसारेण । नियोगश्च शब्दभावनारूपः । यदि स वाक्यार्थः । तथा सति देवदत्तः पचेदिति कर्त्तुरनभिधानात् 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीये'ति तृतीया प्राप्नोति । कर्त्रभिधाने तु 'अनभिहिताधिकारात् तिङैवोक्तत्वान्न भवति । किं च पचतीति कर्त्तापि प्रतीयते । व्यापारसामर्थ्यात् कर्त्तुराक्षेपादेवं प्रतीतिरिति चेत्, न ।

क्रमप्रतीतिरेवं स्यात् प्रथमं भावनागतिः । तत्सामर्थ्यात् पुनस्तस्माद् यतः कर्त्ता प्रतीयते ॥१३२॥

न च क्रमप्रतीतिरुपलभ्यते । द्विवचनबहुवचने च न प्राप्नुतः एकत्वाद् व्यापारस्य । अथ कारकभेदाद् व्यापारभेदो भविष्यतीति चेत् , क्रियते कटो देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पशुकामः" (तै० सं० २।४।६।१) यहाँ पर जो चित्रानामक याग में पशुरूप फल की साधनता प्रतिपादित की गई है, वह व्यर्थ है । चित्रा याग करने पर यदि फलक नहीं होता, तब कर्मानुष्ठान में कुछ वैगुण्य (त्रुटि) रह गया होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूरी तत्परता और सावधानी से सम्पादित कर्म में वैगुण्य कभी हो ही नहीं सकता । फिर भी उक्त वाक्य में जो सत्यार्थत्व की कल्पना की जाती है, वह पौरुषेयी ही है; जैसा कि कहा गया है—वह (सत्यार्थ कल्पना) जब वैदिक शब्द के सामर्थ्य से सिद्ध नहीं होती, तब क्या स्वयं पुरुष के द्वारा अपने स्मरण से सत्यार्थता की कल्पना नहीं हो सकती ? सभी पुरुष वेद के द्वारा अपने को किसी न किसी कार्य में विनियुक्त समझते हैं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है । प्रभाकर का नियोग कुमारिल भट्ट की शाब्दी भावना है । यदि वह विधि-प्रत्यय का वाच्यार्थ है, तब लकार वाच्यार्थ कर्त्ता नहीं होगा, फलतः अनुक्त कर्त्ता में तृतीया विभक्ति प्राप्त होगी—'देवदत्तः पचेत्'—ऐसा न होकर 'देवदत्तेन पचेत्'—ऐसा प्रयोग प्राप्त होगा, क्योंकि "अनभिहिते" (पा० सू० २।३।१) इस अधिकार सूत्र के प्राङ्गण में पठित "कर्तृकरणयोः तृतीया" (पा० सू० २।१।३२) इस सूत्र के द्वारा अनभिभिहि या अनुक्त कर्तृवाचक पद के उत्तर तृतीया विभक्ति होती है, प्रथमा नहीं । जब प्रत्यय के द्वारा कर्त्ता का अभिधान होता है, तब अनभिहिताधिकार की सीमा में न आने के कारण "देवदत्तः पचेत्" ऐसा ही प्रयोग सम्पन्न हो जाता है । दूसरी बात यह भी है कि 'पचति'—यहाँ पर कर्त्ता भी प्रतीत होता है, अतः कर्त्ता लकार का वाच्य क्यों नहीं ? लकार जिस भावनारूप कृति का अभिधायक है, वह कर्त्ता के अनुपपन्न होकर उसका आक्षेप कर लेती है, अतः कर्त्ता की प्रतीति असंगत नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो भावना, कृति या व्यापार और कर्त्ता की क्रमशः प्रतीति होनी चाहिए अर्थात् पहले भावनारूप मुख्यार्थ की उपस्थिति उसके पश्चात् कर्त्तारूप लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति, क्योंकि भावना के सामर्थ्य से ही कर्त्ता का भान होता है, साक्षात् नहीं ॥१३२॥ लिङादि प्रत्ययों के द्वारा भावना और कर्त्ता की क्रमिक प्रतीति उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्"—इस न्याय से लिङादि शब्द प्रथमतः भावना का अभिधान एवं कुछ ठहर कर कर्त्ता का अभिधान करे—यह सम्भव नहीं । दूसरी बात यह भी है कि 'भावना' क्रिया है, द्रव्य नहीं, अतः उसमें द्वित्व और बहुत्व संख्या सम्भव न होने के

वार्तिकालङ्कारः

महदसमंजसत्वं स्यात् । तथा हि—

एकत्वात् कर्म्मणः प्राप्तं क्रियैकत्वं तथा भिदः । कर्त्तुर्भेद इतीत्थञ्च किङ्कर्त्तव्यं विचक्षणैः ॥१३३॥

ननु धात्वर्थस्याभेदादेकवचनं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते। स च धात्वर्थो न नियोगः । नियोगस्य प्रत्ययार्थत्वात् । स च धात्वर्थातिरिक्तः। कर्त्तुसाध्यस्तस्य कर्त्तृभेदाद् भेद इति तत. कटं कुरुत इति भवति। धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद् भेदी। तदसत् ।

सम्बन्धाद् यदि तद्भेदो धात्वर्थस्याप्यसौ भवेत् ।
सोऽपि निर्वर्त्त्य एव(ातः) तद्भेदेनैव भिद्यताम् ॥१३४॥

अस्माकन्तु—

विवक्षापरतन्त्रत्वाद् भेदाभेदव्यवस्थितेः । लाभिधानात् कारकस्य सर्वमेतत् समञ्जसम् ॥१३५॥

क्रिया हि कर्त्तुः कर्मणश्च भेदेन विवक्ष्यते। सा यदि लकारेणाभिधीयते न कर्त्रा तदा कर्त्तरि तृतीया भवति। यदाभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात् प्रथमा भवति। 'क्रियते महात्मना' 'करोति महात्मे'ति।

यदा भेदविवक्षास्य भावनार्थस्य ज्ञायते । लकारेणाभिधानञ्च तृतीया कर्त्तुरीप्स्यताम् ॥१३६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कारण 'यजेयाताम्' और 'यजेरन्' इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन नहीं हो सकेंगे। कर्त्तारूप कारक के भेद से व्यापार में भेद मानकर यदि एकत्व और द्वित्व का समर्थन किया जाता है, तब जहाँ देवदत्त और यज्ञदत्त दो व्यक्तियों के द्वारा चटाई बनाई जा रही है, वहाँ "क्रियते कटो देवदत्तयज्ञदत्ताभ्याम्"—ऐसा अघटित प्रयोग प्राप्त होगा, क्योंकि क्रिया (चटाई बुनना) एक है, अतः 'क्रियते' इस प्रकार एकवचन होना चाहिए, किन्तु कर्त्ता देवदत्त और यज्ञदत्त दो हैं, अतः 'क्रियेत'—ऐसा प्रयोग प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में प्रयोक्ता किंकर्त्तव्य-विमूढ होकर रह जाता है ॥१३३॥

शङ्का—'आस उपवेशने' आदि धातुओं का आसनादि अर्थ अभिन्न है, अतः 'देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते'—इस प्रकार एकवचन का प्रयोग होगा। नियोग धात्वर्थ नहीं, अपितु लिङादि प्रत्यय का अर्थ है, अतः वह धात्वर्थ से अतिरिक्त है। कर्त्ता के द्वारा नियोग साध्य है, अतः कर्त्ता के भेद से नियोग का भेद हो जाता है, अतः 'कटं कुरुतः'—ऐसा प्रयोग सम्पन्न हो जाता है। धात्वर्थ विशुद्ध है, कारक के भेद से भिन्न नहीं होता।

समाधान—कर्त्ता के सम्बन्ध से यदि प्रत्ययार्थरूप नियोग का भेद हो जाता है, तब उसके सम्बन्ध से धात्वर्थ का भी भेद हो जायगा, क्योंकि यागादिरूप धात्वर्थ कर्त्ता के द्वारा निर्वत्य (साधनीय) होता है ॥१३४॥ हमारे मतानुसार भेदाभेद की व्यवस्था विवक्षा के अधीन है, कारक का आधान लटादि लकारों के द्वारा किया जाता है ॥१३५॥ अर्थात् क्रिया का सम्बन्ध कभी कर्त्ता के साथ कभी कर्म के साथ विवक्षित होता है। क्रिया यदि लकार के द्वारा अभिहित होती है, कर्त्ता के साथ सम्बन्धित नहीं होती, तब कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है। जब लकार के द्वारा कर्त्ता अभिहित होता है, तब कर्त्ता में प्रथमा विभक्ति होती है। प्रथम कल्प का उदाहरण है—'क्रियते महात्मना' और द्वितीय कल्प का 'करोति महात्मा' जब भावनार्थ की भेद-विवक्षा होती है और लकार के द्वारा भावना का अभिधान होता है, तब कर्त्ता में तृतीया होती है। जब कि भेद-

वार्तिकालङ्कारः

यदा भेदविवक्षास्य कर्त्ता लेनाभिधीयते । तेनैवोक्तेस्तृतीयास्ति न कर्तुरिति गम्यताम् ॥१३७॥

यदा तु कर्तृव्यापारस्तिपा प्रतिपाद्यते तदा स एव च भावना । तथा चाह— 'भावार्था कर्मशब्दाः । भावनं भावो ण्यन्तस्य प्रत्ययः ।' तथा च सति भावनैवासौ । भावना च कर्तृव्यापारः । स चोदितः कर्त्रा स्वव्यापारे प्रवर्त्तते । नियोगस्य च तच्छेषत्वादप्रधानत्वादवाक्यार्थत्वम् । नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तथा प्रतिपादने नियमेन प्रवर्त्तते । कथञ्चासौ स्वव्यापारं प्रतिपन्नेन प्रवर्त्तते । अन्यथा स्वव्यापार एव तस्य न चोदितो भवेत् । तदेतदसत् ।

व्यापार एष मम किमवश्यमिति मन्यते । फलं विनैव नैवं चेत् साफल्ये धिगमः कुतः ॥१३८॥

यद्यवश्यमेष मम व्यापार इति मतिस्तदयुक्तम् । न हि फलमपश्यन्ममेदं कर्त्तव्यमिति कश्चित् प्रत्येति । सफलत्वे प्रवर्त्तते । सफलत्वं नावगम्यत इति प्रतिपादितम् । किं च—

यजते पचतीत्यत्र भावना न प्रतीयते । यज्यर्थादतिरेकेण तस्या वाक्यार्थता कुतः ॥१३९॥

पाकं करोति यागश्च यदि भेदः प्रतीयते । एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी ॥१४०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विवक्षा और कर्त्ता लकार के द्वारा अभिहित होता है, तब अनुक्त न होने के कारण कर्त्ता में तृतीया नहीं होती ॥१३६, १३७॥

शङ्का—जब कर्त्ता का व्यापार 'तिप्' प्रत्यय के द्वारा प्रतिपादित होता है, वही भावना कहलाता है, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"भावार्था कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत्" (जै० सू० २।१।१) । ण्यन्त 'भू' धातु से' 'अच् प्रत्यय करने पर 'भाव' शब्द बना है । 'भाव' शब्द का अर्थ है—'भावना' । भावना कर्त्ता का व्यापार है । कर्त्ता (यजमान) नियोग के द्वारा प्रेरित होकर अपने भावनारूप व्यापार में प्रवृत्त होता है । नियोग तो कर्त्ता का शेष (अङ्ग) होने के कारण अप्रधान है, अतः मुख्यतया वाक्यार्थ नहीं हो सकता । नियोग-विशिष्ट भावना का प्रतिपादन करने पर पुरुष नियमतः यागादि के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है । जो व्यक्ति 'ममेदं कार्यम्'—इस प्रकार अपना जिसे कर्तव्य जान लिया है, वह उसमें प्रवृत्त क्यों न होगा ? अन्यथा उस पुरुष का अपना व्यापार (कर्त्तव्य) ही सिद्ध न होगा ।

समाधान—नियोग को पुरुष अपना व्यापार (कर्तव्य) क्यों मानता है ? जब कि नियोग के फल का ज्ञान नहीं । निष्फल अर्थ में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती, नियोग के फल का अधिगम नहीं, तब नियोग की सिद्धि में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥१३८॥ आशय यह है कि नियोग के विषय में जो पुरुष का निश्चय होता है कि 'अवश्यमिदं कर्त्तव्यम्', वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जिस कार्य का कोई फल नहीं देखता, उसमें उसकी कर्त्तव्यता-बुद्धि नहीं होती । प्रवृत्ति के विषय में सफलता का ज्ञान आवश्यक है । दूसरी बात यह भी है कि 'यजति', 'पचति'—इत्यादि स्थलों पर भावना प्रतीत नहीं होती, अतः यागादि अर्थों को छोड़कर भावना में वाक्यार्थता क्योंकर सिद्ध होगी ॥१३९॥ 'पाकं करोति'—यहाँ जैसे कोई भावना प्रतीत नहीं होती, वैसे 'यागं करोति'—यहाँ पर कोई भावना क्यों, यदि 'पाकं करोति" और "यागं करोति"—इन प्रयोगों में भेद माना जाता है और द्वितीय प्रयोग में भावनारूप अर्थ का अधिक भान माना जाता है, तब उत्तरोत्तर अधिक भावनाओं की कल्पना में

वार्तिकालङ्कारः

करोति भागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयति । व्यपदेशा एते यथाकथंचिद् भेदपुरस्सराः । नैतेभ्योऽस्ति पदार्थतत्त्वव्यवस्था । शिलापुत्रकस्य शरीरमिति न भेदव्यवहारा भेदमन्तरेणापि दृश्यन्ते ।

यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यपि गीयते । ततः परा पुनर्दृष्टा करोतीति नहि क्रिया ॥१४१॥
यजि क्रियापि द्रव्यस्य विशेषादपरा न हि । सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतिः ॥१४२॥

ननु च किं करोति देवदत्तः पचति यजतीति प्रश्नोत्तरदर्शनात् । करोतीति निश्चिते सति यज्यादिषु सन्देहादन्यत्वं प्रसिद्धमेव । तथा चाह—न च शरीरमेव बुद्धिस्तत्सिद्धावपि बुद्धिविकल्पे संशयात् । तदेतदयुक्तम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनवस्था दोष प्रसक्त होता है ॥१४०॥ अर्थात् 'यजते' का अर्थ होगा—'यागं करोति'। 'यागं करोति' का अर्थ होगा—यागकृतिं निष्पादयति । यागकृतिं निष्पादयति का अर्थ करना होगा—यागकृतिनिष्पत्तिं निष्पादयति, इत्यादि निष्पादना (भावना) की एक ऐसी लम्बी परम्परा माननी होगी, जो कभी अवस्थित या समाप्त न हो । निष्पत्ति पदार्थ का भेद न होने पर भी 'निष्पत्तेर्निष्पत्तिः'—ऐसा प्रयोग उसी प्रकार औपचारिक मानना होगा, जैसे—'राहोः शिरः', 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादि ।

[कुमारिल भट्ट ने धात्वर्थ से भिन्न करोति-रूप सामान्य क्रिया को भावना कहा है—

धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्येषा न लभ्यते ।
तथापि सर्वसामान्यरूपेणान्यावगम्यते ॥ (तं० वा० पृ० ३८२)

अर्थात् याग, दान, होमादिरूप धात्वर्थों से भिन्न कोई सामान्य क्रिया सम्भव नहीं, जिसका अभिधान आख्यात (तिपादि) प्रत्ययों के द्वारा किया जाय और उसको 'भावना' नाम दिया जाय, तथापि 'यागं करोति, दानं करोति, होमं करोति'—इस प्रकार क्रियाविशेषों में अनुस्यूत करोत्यर्थरूप क्रियासामान्य के अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता, वही भावना है]।

कथित कौमारिल मत की आलोचना की जाती है कि जैसे द्विजगणों (त्रैवर्णिक) का यागादि सामान्य व्यापार (कर्तव्य) प्रतिपादित है, उससे भिन्न कोई करोत्यर्थरूप सामान्य क्रिया प्रसिद्ध नहीं ॥१४१॥ जैसे विशेष द्रव्यों से भिन्न कोई सामान्य द्रव्य नहीं, नीलादि विशेष रूपों से भिन्न कोई सामान्यरूप नहीं ? उसी प्रकार यागादिरूप विशेष क्रियाओं से भिन्न कोई सामान्य क्रिया नहीं । उसी विशेष क्रिया का व्यवहार देवदत्तादि के साथ किया जाता है ॥ १४२ ॥

शङ्का—"देवदत्तः किं करोति ?" इस प्रकार के उत्तर में कहा जाता है—देवदत्तः पचति, यजति इत्यादि । यहाँ सामान्य क्रिया का निश्चय होने पर विशेष क्रिया का निश्चय न होने से प्रश्न किया गया । उस प्रश्न के उत्तर में विशेष क्रिया का ही निर्देश किया गया—पचति इत्यादि । फलतः निश्चित सामान्य क्रिया से भिन्न सन्दिग्ध विशेष क्रिया माननी होगी । बुद्धि (ज्ञान) के विषय में प्रश्न उठने पर शरीरादि से भिन्न उसकी सिद्धि की जाती है कि शरीर ही बुद्धि नहीं, क्योंकि सुषुप्ति या मृतावस्था में शरीर के रहने पर भी बुद्धि नहीं रहती । उसी प्रकार सामान्य क्रिया से भिन्न क्रिया की स्थापना दोनों क्रियाओं का भेद सिद्ध करती है । विशेष क्रिया से भिन्न सामान्य

वार्तिकालङ्कारः

करोत्यर्थयजत्यर्थौ विभिन्नौ यदि तत्त्वतः । अन्यत् संदिग्धमन्यस्य कथने दुर्घटः क्रमः ॥१४३॥

यदि हि करोति क्रिया अन्या यज्यादिकायाः । तदा करोतीति निश्चिते कथमन्यत्र संदेहे प्रश्नः । अनिश्चित एव प्रश्नस्य युक्तत्वात् । सामान्यरूपोथ करोत्यर्थो विशेषरूपो यज्यादिरिति चेत् ।

सामान्येन विशेषेण विना किंचित् प्रतीयते । सामान्याक्षिप्यमाणस्य नहि नामाप्रतीतता ॥१४४॥

केवलसामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह इत्युक्तम् ।

अथ सामान्येन विशेष आक्षिप्यते । तथा सति सोऽपि प्रतीत एव कथं संशयः । न हि प्रतीतत्वादपर आक्षेपः । अथ प्रतीत एवासौ तथाऽपि प्रतीतता विशेषरूपेण नास्ति सामान्येनाक्षेपात् । ननु तदेव सामान्यमाक्षेपकं तदेवाक्षेप्यमिति कथमेतत् । न च सामान्यादपरं सामान्यताक्षेप्यम् । तथा सति ततोऽप्यपरं ततोऽप्यपरमित्यनवस्था ।

ननु सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षात् विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्त एव । न अनुपलम्भादभाव एव युक्तः सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः । अन्यथोपलब्धिलक्षणप्रा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्रिया ही वह भावना है, जिसका प्रतिपादन 'तिप्' प्रत्यय से होता है ।

समाधान—कथित तर्क युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि यदि करोत्यर्थरूप सामान्य क्रिया और यजति आदि धातुओं का अर्थरूप विशेष क्रिया का तत्त्वतः भेद माना जाता है, तब सामान्य क्रिया के निश्चय से उससे भिन्न विशेष क्रिया में सन्देहादि का उपपादन नितान्त दुर्घट है ॥१४३॥ विशेष क्रिया अनिश्चित है, अतः उसके विषय में प्रश्न करना चाहिए, किन्तु प्रश्न किया जाता है सामान्य क्रिया का—"किं करोति ?" अनिश्चित विशेष क्रिया के विषय में ही प्रश्न करना उचित है । यदि कहा जाय कि सामान्य क्रिया का विशेष रूप है—यजति आदि, अतः विशेष क्रिया का प्रश्न सामान्य क्रिया का ही प्रश्न है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यज्यादिरूप विशेष रूप के बिना ही सामान्य रूप ही प्रतीत होता है । यदि सामान्य से विशेष का आक्षेप किया जाता है, तब विशेष भी प्रतीत ही हो जाता है, उसकी अप्रतीयमानता नहीं बनती ॥१४४॥ पहले कहा तो यह गया कि केवल सामान्य क्रिया की प्रतीति होने पर विशेष क्रिया के विषय में प्रश्न किया गया । यदि सामान्य क्रिया के द्वारा विशेष क्रिया का आक्षेप हो जाता है, तब वह भी प्रतीत (निश्चित) ही हो जाता है, अतः उसका संशय क्योंकर होगा ? आक्षेप करने का अर्थ है—प्रतीत होना । यदि कहा जाय कि विशेष क्रिया के प्रतीत होने पर भी विशेषरूपेण प्रतीतता नहीं, अपितु सामान्यप्रकारक विशेष विशेष्यक ही प्रतीति होती है । सामान्य ही आक्षेपक और सामान्य ही आक्षेप्य—यह कैसे बनेगा ? यदि कहा जाय कि आक्षेपक से आक्षेप्यभूत सामान्य भिन्न है, तब उत्तरोत्तर आक्षेप्य-परम्परा में भेद की अनवस्था होती है ।

शङ्का—सामान्य-प्रत्यक्ष, विशेषाप्रत्यक्ष और विशेष-स्मृति से संशय का होना युक्तियुक्त है, जैसा कि न्यायसूत्रकार ने कहा है—"समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" (न्या० सू० १।१।२३) । अर्थात् समान पदार्थों के ऊर्ध्वत्वादि सामान्य धर्मों के ज्ञान, विशेष धर्म (स्थाणुत्वादि) के अज्ञान एवं विशेष धर्मों के स्मरण से संशय होता है ।

समाधान—जो वादी अनुपलम्भमात्र को अभाव का गमक मानता है, उसके मत

वार्तिकालङ्कारः

प्तानुपलम्भादभावो नानुपलब्धिमात्रात्। तथाऽप्यनुपलब्धेरेव संशयो व्यर्थमेतत् सामान्यप्रत्यक्षादिति।

यदि सामान्यप्रत्यक्षतायामपि उपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिर्न सामान्यसंशयः। आत्मोपलम्भलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम्। एवन्तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः संशयहेतुरिति प्राप्तम्। विशेषस्मृतिरिति च व्यर्थम्। न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः। उभयांशावलम्बि(स्मृति)रूपत्वादस्य। दृश्यते (कान्य)कुब्जादिषु सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयः। तदेव यज्यादिकमनियमेन प्रतीयमानं सामान्यतो दृष्टादनुमानात् सामान्यम्। आह चात्र—

अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधनात्। सामान्यविषयप्रोक्तं लिङ्गं भेदा प्रतिष्ठितेः ॥१४५॥

भेदानवधारणमात्रमेव सामान्यपरिच्छेदः। क्वचिद् बुद्धिरेव तदाकारविविक्ता भावाभावसाधारणत्वात् संशयहेतुः। तथा तथाभूतानुपलब्धिरेव संशयहेतुः। बुद्धिरूपा उपलभ्यमानपदार्थरूपा वा।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में विशेष क्रिया के अभाव का ही निश्चय होगा, संशय नहीं। यद्यपि उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त (आपादान-योग्य) पदार्थ की अनुपलब्धि से अभाव-निश्चय होता है, अनुपलब्धि-मात्र से नहीं। तथापि अनुपलब्धिमात्र से संशय हो जाता है, उसके लिए सामान्य-प्रत्यक्ष को हेतु मानना व्यर्थ है। यदि सामान्य-प्रत्यक्ष के रहने पर भी उपलब्धिलक्षण-प्राप्त (योग्य) अनुपलब्धि न होने से सामान्य क्रिया का संशय है। सामान्य क्रिया की प्रत्यक्षता में अपनी (सामान्य क्रिया की) योग्यानुपलब्धि सम्भव नहीं। तब वही अयोग्यानुपलब्धि संशय की हेतु हो सकती है, संशय के लक्षण में विशेषस्मृति का अभिधान व्यर्थ है, क्योंकि विशेष धर्मों का स्मरण ही तो संशय है, उसको छोड़कर अन्य कोई संशय का स्वरूप नहीं होता। स्थाणुत्व और पुरुषत्वादि उभय कोटियों का विषय करनेवाला स्मरण ही संशय माना गया है। यह अनुभवसिद्ध है कि कान्य-कुब्जादि देश में सामान्य-प्रत्यक्षता के बिना भी प्रथमतर स्मरण से संशय होता है। वही 'यजि' आदि विशेष क्रिया ही अनियमतः प्रतीयमान एवं सामान्यतो दृष्टसंज्ञक अनुमान के द्वारा अवगत होकर सामान्य क्रिया कहलाती है, जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने कहा है—

अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधनात्।
सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठितेः॥ (उद्धृत, तत्त्वसं० पृ० ४०६)

[अर्थात् यद्यपि सामान्य नाम की वस्तु कोई नहीं, तथापि अतद्रूप-परावृत्त (विजातीय-व्यावृत्त) स्वलक्षणतत्त्व ही सामान्यलक्षण के रूप में प्रतीत होता है। लिङ्ग प्रमाण उसी को विषय करता है]॥१४५॥ अतएव भेद का निश्चय न होना ही सामान्य-निश्चय माना जाता है। स्वप्नादि में ऊर्ध्वत्वादि सामान्य आकार के न रहने पर भी केवल अस्पष्टाकार बुद्धि ही संशय-जनिका होती है। उसी प्रकार स्थाणुत्वादि विशेषाकार की अनुपलब्धि ही संशय की होती है, जैसा कि कथितसूत्र में न्यायदर्शनकार ने कहा है—"अनुपलब्ध-व्यवस्थातः संशयः" (न्यायसू० १।१।२३)। बुद्ध्यन्तरविषयिणी अथवा सम्मुग्धाकारविषयिणी बुद्धि संशयोत्पादिनी होती है।

वार्तिकालङ्कारः

ननु समानाकारानुभवाभावे दृश्यते संशयः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। ऊर्ध्वतासामान्यमुपलभ्यते। यद्यस्ति तदा द्व्याकारा बुद्धिरुपलभ्यते।

न भेदाद् भिन्नमस्त्यत्र सामान्यं बुद्धिभेदतः। बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ॥१४६॥

अथोपलभ्यत एव पुरुषस्थाणुस्वरूपपरिहारेण दूरदेशमूर्ध्वतामात्रमन्यथा स्थाणुपुरुषाकारान्तर्गतानुभवे न तत्र सन्देह उत्पद्येत। तस्मात् तत्परिहारेणावभासनमेव तद्व्यतिरेक एतावन्मात्रलक्षणत्वाद् व्यतिरेकस्य। तन्न युक्तम्—

तन्मात्रव्यतिरेकश्चेत् किन्नादूरेऽवभासनम्। दूरेऽवभासमानस्य सन्निधानेऽतिभासनम् ॥१४७॥

यत् खलु दूरदेशनिवेशिदशायामवभासते। तत्सन्निधानविधानाधीनं सुतरामवभासवत्। पदार्थान्तरत्वे च सामान्यस्य तदेव प्रतिभासने। कथमत्रास्पष्टप्रतिभासव्यवहारः। न खलु नीलपदार्थप्रतिभासनेऽस्पष्टशुक्लप्रतिभासव्यवहारः।

ननु भवत्पक्षेऽपि केयमस्पष्टता नाम। अस्पष्टप्रतिभासता नाम। अस्पष्टप्रतिभासता हि कदाचिदप्रतिभासता कदाचिदन्यप्रतिभासता। कदाचित्तु तत्प्रतिभासतेति।

तस्यैव प्रतिभासश्चेदस्पष्टप्रतिभासता। अस्पष्टता कथं नाम स्वरूपेणावभासने ॥१४८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—समान आकारवाले स्थाणु और पुरुषादि का अनुभव न होने पर भी संशय की उत्पत्ति देखी जाती है—"स्थाणुर्वा पुरुषो वा"। जिन पदार्थों की ऊर्ध्वता उपलब्ध होती है, वे दोनों (स्थाणु और पुरुष) वहाँ विद्यमान हैं, तब 'स्थाणुपुरुषौ'—इस प्रकार दो आकारवाली बुद्धि होनी चाहिए। कथित दोनों भेदों (विशेषों) से भिन्न कोई सामान्य नाम की वस्तु नहीं होती। बुद्धिगत आकारों के भेद से पदार्थों का भेद माना जाता है ॥ १४६ ॥

यदि कहा जाय कि पुरुष और स्थाणुरूप विशेषों को छोड़कर दूर से एक सामान्याकार उपलब्ध होता है, उसे ऊर्ध्वाकार कहते हैं। यदि ऊर्ध्वतारूप सामान्याकार का भान न हो, तब संशय ही नहीं हो सकता। इसलिए स्थाणुत्वादि का भान न होकर जो ऊर्ध्वत्वरूप सामान्याकार की प्रतीति होती है, इसी से सामान्य का विशेष से व्यतिरेक (भेद) सिद्ध होता है। भेद का यही लक्षण है कि जिसके बिना जिसकी प्रतीति होती है, वह उससे भिन्न होता है।

समाधान—यदि दूर से दिखनेमात्र से सामान्याकार भिन्न है, तब वह समीप से क्यों नहीं दिखता? दूर से जो वस्तु अस्पष्ट दिखती है, वह समीप से तो अत्यन्त स्पष्ट और स्वच्छ दिखा करती है ॥१४७॥ दूर से जो वस्तु नहीं दिखती, वह भी समीप से दिखने लग जाती है। दूर से दिखती वस्तु समीप से अदृश्य कभी नहीं होती, प्रत्युत वह भलीभाँति दिखने लग जाती है। सामान्य पदार्थ यदि विशेष से भिन्न है, तब विशेषाकार के स्पष्ट होने पर वह सामान्याकार अस्पष्ट या धूमिल क्यों होता है? नील और शुक्ल दो पदार्थ परस्पर भिन्न हैं, नील के स्पष्ट प्रतिभास होने पर शुक्ल कभी अस्पष्ट नहीं होता।

शङ्का—आपके मतानुसार जो विशेषाकार (पुरुषत्वादि) का अस्पष्ट प्रतिभास (भान) माना जाता है, वह अस्पष्ट प्रतिभासता क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा कि वस्तुतत्त्व का कदाचित् अप्रतिभासता, कदाचिदन्यप्रतिभासता और कदाचित् प्रतिभासता ही अस्पष्ट प्रतिभासता है। यदि वस्तुतत्त्व को कदाचिद् भासता

वार्तिकालङ्कारः

अन्यस्य प्रतिभासोऽपि तस्यैवास्पष्टता कुतः ।
अप्रतिभासं विना भावः कथं स्यात् प्रतिभासने ॥१४९॥

बुद्धिरेव तथा भूता यद्यस्पष्टावभासिता । बुद्धिस्वरूपनिर्भासेनार्थस्यास्पष्टभासिता ॥१५०॥
तदेतदसत् ।

बुद्धिरेवातदाकारा तत उत्पद्यते यदा । तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ॥१५१॥

अथ तदेव सामान्यन्तथा सति वर्णसंस्थानप्रतिभासनं न स्यात् । न खलु सामान्यं वर्णसंस्थानवद् द्रव्याश्रितत्वात् तयोः । अथ द्रव्यगतं वर्णसंस्थानं तथा सति ततोत्पन्न-सामान्यमनवभासनात् । वर्णसंस्थानयोरेव प्रतिभासनम्, तयोश्च साधारणत्वात् स्थाणु-पुरुषयोः सन्देह इति युक्तम् । तदप्यसत् । यतः—

स वर्णोऽन्येन रूपेण संस्थानं कथमन्यथा । तत्प्रतीयत इत्थञ्च भ्रान्ता बुद्धिः प्रतीयते ॥१५२॥

यदि वर्णसंस्थानमन्यथा प्रतिभाति भ्रान्तिरेव सा । कथं सामान्यप्रत्यक्षता । अथावयवी तत्र प्रतिभाति न सामान्यं नापि वर्णसंस्थानमिति चेत् ।

संस्थानवर्णरूपाभ्यां व्यतिरेकावभासनम् । कुतो द्रव्यस्य किन्तस्मादपरैः प्रतिभासते ॥१५३॥

श्यामतादि रूपं हि वर्णादिकमत्रभासते । न च तत्रान्यदेव द्रव्यमवभासते ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ही अस्पष्ट प्रतिभासता है, तब उसे अस्पष्टता क्योंकर कह सकते हैं, जब स्वरूपेण उसका अवभास होता है ॥१४८॥ अन्य वस्तु का प्रतिभास भी उस वस्तु की अस्पष्टता क्यों ? अप्रतिभास के बिना भाव पदार्थ का स्वरूप ही क्या होगा ? और उसका प्रति-भास भी कैसे होगा ? ॥१४९॥ वैसी बुद्धि को ही पदार्थ की अस्पष्टावभासिता कहना नितान्त असम्भव है, क्योंकि जब बुद्धि का स्वरूपतः निर्भास हो, तब पदार्थ की अस्पष्टावभासिता कभी रह ही नहीं सकती ॥ १५० ॥

समाधान—किसी पदार्थ से जन्य बुद्धि जब तदाकार नहीं हो पाती, तब अस्पष्ट प्रतिभासता का व्यवहार जगत् में किया जाता है ॥१५१॥

शङ्का—अतदाकार बुद्धि ही सामान्य तत्त्व है । सामान्य का न कोई वर्ण (रूप) होता है और न संस्थान (आकार), रूप और आकार तो द्रव्य के ही आश्रित होता है, तब कथित बुद्धि को सामान्य क्योंकर मान सकेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्ण और संस्थान से रहित होने के कारण ही सामान्य का अवभास नहीं होता, केवल वर्ण और संस्थान का ही प्रतिभास होता है, वे दोनों साधारण धर्म हैं, अतः स्थाणु और पुरुष का सन्देह हो जाना उचित ही है ।

समाधान—यदि रूप और आकार की प्रतीति अन्यथा ही होती है, तब उस प्रतीति को भ्रमात्मक ही मानना होगा ॥१५२॥ वर्ण और संस्थान से रहित होने के कारण सामान्य तत्त्व का प्रत्यक्ष क्योंकर होगा ? यदि कहा जाय कि वहाँ न तो सामान्य वस्तु का भान होता है, न वर्ण (रूप) का और न संस्थान (आकार) का, किन्तु अवयवी का प्रतिभास होता है । तो वैसा कहना युक्ति-युक्त न होगा, क्योंकि संस्थान और वर्ण से रहित द्रव्य का प्रतिभास क्योंकर होगा ॥१५३॥ वस्तु-स्थिति यह है कि श्यामतादि रूप वर्णादि ही प्रतिभासित होता है, उससे भिन्न कोई द्रव्य अव-भासित नहीं होता । वही वर्णादि ही द्रव्य है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वर्ण (नीलादि रूप) और संस्थान (कपालादि का संयोग) दोनों ही गुण हैं, द्रव्य नहीं ।

वार्तिकालङ्कारः

तद्व्यतिरेकेणापरस्य द्रव्यस्याप्रतिभासनात्। तदेव द्रव्यमिति चेत , न। गुणत्वात् संस्थानवर्णयोः।

अथ वर्णसंस्थानवद् द्रव्यम्, न तद्व्यतिरेकेणान्यथा प्रतिभासनाभावात्। न खलु स्पष्टास्पष्टवर्णसंस्थानव्यतिरेकेणापरं द्रव्यमुपलभ्यते। अस्पष्टवर्णसंस्थानस्य च तदपरसामग्रीप्रभवज्ञानेन बाध्यमानत्वात्। नेदमेवम्भूतमिति स्पष्टाकारप्रत्ययोदये सति भवतीति। तदनुपलब्धिरेव च तद्विपर्ययोपलब्धिरूपा बाधकम्। नेदमिति (कल्पना) प्रत्ययस्यानुत्पत्तेर्नैवमिति चेत्, न, उत्पद्यत एव सोऽपि नेदमिति प्रत्ययः। तथा हि तद्वर्णमेतत्संस्थानं न भवतीति तद्व्यतिरिक्तसंस्थानबाधकमुपजायत एव ज्ञानम्। व्यतिरिक्तस्य न बाधकमिति चेत्। यत एवाव्यतिरिक्तसंस्थानबाधकमत एव व्यतिरेकि संस्थानं भविष्यति। तदसत्।

यादृशस्य प्रतीतिः प्राग् बाधनं तादृशस्य चेत्। अन्यथा न प्रतीतिश्च किमन्यदवशिष्यते ॥१५४॥

यादृशं संस्थानं द्रव्यं वा वर्णाव्यतिरिक्तं प्रतिपन्नम्। यदि तादृशस्य बाधा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वर्ण और संस्थान का आश्रय द्रव्य है—यह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि वर्णादि से अतिरिक्त द्रव्य का अन्यथा प्रतिभासन नहीं होता। दूर से देखने पर वर्ण और संस्थान अस्पष्ट और समीप से स्पष्ट हो सकते हैं, किन्तु उनसे व्यतिरिक्त द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। अस्पष्ट वर्ण और संस्थान का स्पष्टवर्णादि की प्रतिभासक अन्य की सामग्री से प्रभूत ज्ञान के द्वारा बाध होता है—नेदमेवम्भूतम् (यह पुरुष नहीं, स्थाणु है)। स्थाणुत्व की उपलब्धि साक्षात् पुरुषत्व का बाधक नहीं, अपितु स्थाणुत्व की उपलब्धि से पश्चाद्भाविनी पुरुषत्व की अनुपलब्धि पुरुषत्व को बाधक होती है।

शङ्का—दूर से सामान्यतः प्रतीयमान पुरुषत्व का समीपतः प्रतीयमान स्थाणुत्व के द्वारा बाध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे प्रतीयमान रजत का बाधक होता है—'नेदं रजतम्'—इस प्रकार की प्रतीति। वैसे ही पुरुषत्व की बाधक हो सकती थी—'नायं पुरुषः' ऐसी प्रतीति, वह यहाँ होती नहीं, अतः पुरुषत्व का बाध क्योंकर होगा?

समाधान—उक्त स्थल पर 'नेदम्' इस प्रकार का प्रत्यय उत्पन्न हो जाता है, अतः पुरुषत्व का बाध अवश्य हो जायगा। 'तद् वर्णम् , एतत् संस्थानं न भवति'—इस प्रकार वर्ण से अव्यतिरिक्त संस्थान का बाधक ज्ञान उत्पन्न हो ही जाता है।

शंका—अव्यतिरिक्त का बाधक होने पर भी व्यतिरिक्त (वर्ण से भिन्न) संस्थान का बाधक नहीं और अव्यतिरिक्त संस्थान का बाधक है, फलतः वर्ण से भिन्न संस्थान सिद्ध हो जाता है।

समाधान—जो वस्तु जिस रूप में प्रसक्त या प्रतीयमान होती है, उसका उस रूप में ही बाधक प्रत्यय के द्वारा बाध किया जाता है। अर्थात् जैसा भी संस्थान या द्रव्य वर्ण से भिन्न प्रतीत होता है, उसका ही यदि बाध हो जाता है, तब और क्या शेष रह जाता है ॥१५४॥ वहाँ दो विभक्त पदार्थ तो प्रतीत होते नहीं कि एक का बाध कर देने पर दूसरा पदार्थ अबाधित रह जाता है।

शंका—संस्थानादि यदि वर्ण से भिन्न है, तभी संस्थानादि की प्राप्ति होने से वर्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः प्राप्त वर्ण से अप्राप्त द्रव्य को भिन्न मानना होगा। अतः दूर से श्वेत वर्ण की प्रतीति होने पर भी आकार और द्रव्य का ग्रहण नहीं होता,

वार्तिकालङ्कारः

किमपरमवशिष्यते । न खलु योगविभागो विद्यते । येन तत्रैकस्य बाधनमपरस्य नेति व्यवस्थाविभागः ।।अथापि स्यात् ।

तस्य वर्णस्य न प्राप्तिः संस्थानद्रव्ययोस्तदा ।

ततः प्राप्तेः परं द्रव्यन्तच्च प्रागिति वित्तिमत् ।।१५५।।

यच्च पूर्वोत्तरभावेन वेद्यते यच्च न तथा । तयोर्विरुद्धधर्माध्यासयोगो न युक्तः । प्रभेदो हि सकल एवमेव साधनीयो परस्य भेदसाधनस्याभावात् । तदसत्—

तदन्यद् यदि तत्त्वेन प्रत्यक्षे किन्न भासते । पूर्वे परे वा उभयोर्दृश्यते सम्भवः कदा ।।१५६।।

यदि तत् परमार्थतो भिन्नं वर्णसंस्थानं द्रव्यात् संस्थानं वा वर्णात् कथं पूर्वत्र परत्र वा प्रत्यक्षे न प्रतिभाति । प्रत्येकमप्रतिभासने समुदायस्य तद्व्यतिरिक्तस्याभावात् तत्र प्रतिभासनमिति महन्मोहसामर्थ्यम् । न च द्वयोः समवधानमिति कुतः समुदायः । अनुसन्धानञ्च न प्रत्यक्षादिति । तदभावादनुमानमपि नास्तीति कुतो व्यतिरेकप्रतीतिः ।

तस्मान्न साधारणं नाम किञ्चित् । सर्वस्य स्वात्मनि व्यवस्थितत्वात् विशेषतैव । तस्मान्न क्रिया करोतीति साधारणरूपा यजनादिक्रिया विशेषाणां सामान्यम् । ततो न भावना कर्तृव्यापाररूपा तद्व्यतिरेकेणाविभावनात् । न च धात्वर्थोऽपि द्रव्यव्यतिरेकेणास्ति । द्रव्यमेव पूर्वापरीभूतमन्वयव्यतिरेकेण कल्पितव्यतिरेकिस्वभावमभेदेऽपि भेद-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संशय होकर रह जाता है—गौर्वा ? अश्वो वा ? ।।१५५।। जो दो पदार्थ क्रमशः पूर्वोत्तरभाव से प्रतीत होते हैं, उनमें भेद और जो नियमतः एक साथ प्रतीत होते हैं, उनका अभेद मानना तर्कसंगत है । पदार्थों का प्रभेद सर्वत्र इसी प्रकार सिद्ध किया जाता है, अन्य कोई उपाय भेद का साधक नहीं । फलतः दूर से केवल वर्ण की एवं समीप से संस्थान और द्रव्य की उपलब्धि से यह तथ्य सिद्ध होता है कि वर्ण, संस्थान और द्रव्य—ये तीनों परस्पर भिन्न होते हैं ।

समाधान—वर्ण से यदि संस्थानादि तत्त्वतः भिन्न हैं, तब प्रत्यक्ष ज्ञान में वे क्रमशः अवभासित न होकर युगपत् ही क्यों उपलब्ध होते हैं ? ।।१५६।। अर्थात् यदि वर्ण और संस्थान परमार्थतः द्रव्य से भिन्न हैं, एवं संस्थान वर्ण से भिन्न है, तब वे क्रमशः प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतीत क्यों नहीं होते ? वर्ण, संस्थान और द्रव्य में से प्रत्येक का पृथक् प्रतिभास नहीं होता, उनसे भिन्न समुदाय नहीं और नियमतः युगपत् अवभासित हैं, फिर भी अभिन्न नहीं—यह तो एक महान् आश्चर्य और मोह है । दोनों का जब समवधान नहीं, तब समुदाय कैसे होगा ? व्यतिरिक्त वर्णादि के अनुसन्धान (सम्बन्ध) का प्रत्यक्ष नहीं, उसके बिना अनुमान भी प्रवृत्त नहीं होता, व्यतिरेक की सिद्धि किससे होगी ?

इस प्रकार विशेष से भिन्न सामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं । प्रत्येक पदार्थ अपने में व्यवस्थित और विशिष्ट ही है । अतः धात्वर्थरूप यागादि विशेष क्रियाओं से भिन्न कोई सामान्य क्रिया ('कृञ्'धातु का अर्थ) नहीं, जिसे भावना कहा जाय । अतः कर्तृव्यापाररूप भावना कोई भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं होती । धात्वर्थ भी द्रव्य से व्यतिरिक्त नहीं । पूर्व-पूर्व देशों से विभागपूर्वक उत्तरोत्तर देशों से संयुक्त रथादि द्रव्य के लिए ही 'रथो गच्छति' आदि शब्दों का औपचारिक प्रयोग हो जाता है । क्रिया और क्रियावान् द्रव्य का कोई भेद न रहने पर भेद का आरोप करके वैसा व्यवहार-

वार्तिकालङ्कारः

वदुपचर्यंक्रियातो भिन्नं क्रिया च ततो भिन्नेति व्यवहारमात्रमेतत्। नैयं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः। स्वव्यापारधात्वर्थौ च नियोगकाले भाविनौ प्रतीयेते। ततः कथन्तदालम्बना प्रतीतिः पूर्ववासनाबलादुपजायमाना न निरालम्बनेत्युक्तम्।

अथापि स्यात्—प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानविषयत्वाद् भाविभूतविषये नालम्बनत्वं शब्दस्य तु तद्विषयत्वेऽपि न तत्त्वम्। तदाह 'चोदने'त्यादि। तदसत्—

अदृश्यमानः सोऽप्यास्तीत्येतद् व्यवसितं कथम्। अनुमाने तु सम्बन्ध इति तत्र तथा स्थितिः॥१५७॥

सर्वा हि परोक्षविषया प्रतीतिरर्थसम्बन्धादेवाविसंवादिनी यथा अनुमानप्रतीतिः। न हि यो येनासम्बद्धस्तदभावे तस्य भावनियमः। निरालम्बना तु तत्स्वरूपाभावादेव। न ह्यविद्यमानस्य स्वरूपग्रहणमित्युक्तम्। न च भाविना सह सम्बन्धनियमः। अनुमाने

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मात्र हो जाता है। यह कोई वस्तुतत्त्व की व्यवस्था नहीं। जिस समय यागादि में पुरुष की नियुक्ति को जाती है—"यजेत स्वर्गकामः"। उस समय न तो पुरुष का अपना व्यापार होता है और न धात्वर्थरूप याग, अपितु दोनों ही भावी (भविष्य के गर्भ में) होते हैं। तब उनको विषय करनेवाली प्रतीति निरालम्बन क्यों नहीं? वस्तुतः घट-पटादि की समस्त प्रतीति निरलाम्बन (निर्विषयक) है। पुरुष पुद्गल के अपने अनादि संस्कारों के आधार पर ही कथित प्रतीतियाँ होती रहती हैं, [जैसा कि श्री धर्मकीर्ति ने कहा है—

अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः।
शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मी भावाभावोभयाश्रयः॥ (शब्द २०५)]

शंका—प्रत्यक्ष प्रमाण केवल वर्तमान पदार्थ का ही ग्राहक होता है, अतः नियोग एवं भावनादि भावी पदार्थों को विषय नहीं कर सकता, किन्तु शब्दप्रमाण से प्रतीति भावी पदार्थ को भी विषय कर लेती है, अतः उस प्रतीति में तत्त्व (निरालम्बन तत्त्व) नहीं कह सकते। [जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्।" (शाबर पृष्ठ १३) यहाँ 'चोदना' पदतात्पर्य बताते हुए कुमारिलभट्ट ने कहा है—"चोदनेत्यब्रवीच्चात्र शब्दमात्रविवक्षया" (श्लोक वा० पृ० ३५)। अर्थात् शब्द मात्र का यह स्वभाव और सामर्थ्य है कि अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थ की प्रतीति को जन्म दे सकता है]।

समाधान—अदृश्यमान् अतीत और अनागतादि पदार्थ है—ऐसा निश्चय शब्द के द्वारा कैसे होगा? अनुमान तो अदृश्य अग्न्यादि के व्याप्तिरूप सम्बन्ध को लेकर उसकी प्रतीति कराता है किन्तु शब्द उसका बाधक क्योंकर होगा? ॥१५७॥ अर्थात् सभी ही परोक्ष प्रतीति विषय वस्तु के सम्बन्ध को लेकर ही अविसंवादिनी होती है, जैसा कि अनुमान प्रतीति। जो पदार्थ जिससे सम्बन्धित नहीं होता, उसके भाव से अग्न्यादि का भाव सिद्ध नहीं होता। निरालम्बना प्रतीति तो विषयवस्तु का स्पर्श नहीं करती, क्योंकि अविद्यमानं नियोगादि के स्वरूप का ग्रहण नहीं हो सकता—यह कहा जा चुका है। भावी पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नियम नहीं होता। अनुमान में तो कारण (मेघोन्नति आदि) के द्वारा वर्षादि कार्य का ज्ञान होता है, जैसा कि प्रत्यक्ष-स्थल पर देखा जाता है। अग्निहोत्रादि में स्वर्गादि फलों की कारणता कहीं देखी ही

वार्तिकालङ्कारः

तु कारणात् कार्यं प्रतीयते। तथा परत्र दर्शनात्। न च फलकारणताग्निहोत्रादेरुपलब्धा। नापि तदकरणे प्रत्यवायनिश्चयः।

अथात्मनः सामर्थ्यमवगच्छन् यागकरणतामात्मनः प्रतिपद्यमानो यागे प्रवर्त्तिष्यते।

कारणत्वं यदा स्वर्गे तस्य न प्रतिपद्यते। यागस्य देशितोऽप्येष कस्मात् तत्र प्रवर्त्तते ॥१५८॥

अत एव 'भावनानियोगधात्वर्थानां परस्परसम्बन्धः फलाभिसम्बन्धो वा विधिवाक्यार्थं' इति न युक्तम्। सर्वस्य भावित्वेन ज्ञानेनाग्रहणान्निरालम्बनतैव बुद्धेः। अतो दृश्यविकल्प्यार्थैकीकरणात् प्रवर्त्तते। स एव चान्यापोह इति। न कश्चित् प्रेक्षापूर्वकारी वेदात् प्रवर्त्तेत इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

तस्माद् 'वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशतेऽध्यारोपितः। प्रामाण्यन्तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम्।' (२१२)

न खल्वध्यारोपेण सत्यार्थविषयेण भवितव्यं प्रतिबन्धमन्तरेणेति व्यवस्थितमेतत्।

२. व्यवहारिकत्वेन प्रमाणता—

यदि तर्हि अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्। अथ प्रत्यभिज्ञादिप्रत्ययादपि 'स एवा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं जाती और न अग्निहोत्रादि कर्मों के न करने पर कहीं प्रत्यवाय (पाप) ही श्रुत है, जिससे उसकी नित्यकर्मता सिद्ध हो जाती।

शंका—पुरुष अपने में योग्यता और सामर्थ्य को देखकर अपने में यागादि के कर्तृत्व का निश्चय कर लेगा और उसके आधार पर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हो जायगा।

समाधान—जब कि यागादि में स्वर्गादि फलों की कारणता प्रतिपन्न (निश्चित) नहीं होती, तब यागादि में कर्त्तव्यता का बार-बार उपदेश होने पर भी उसके अनुष्ठान में क्योंकर प्रवृत्त होगा ? ॥१५८॥ अतएव 'भावना', 'नियोग' और धात्वर्थ का परस्पर सम्बन्ध अथवा इनका फल के साथ सम्बन्ध ही विधिवाक्य का अर्थ है—ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि कथित सम्बन्ध भावी है, अतः उसका ज्ञान निरालम्बनमात्र है। दृश्य वस्तु की विकल्पना और विषयार्थ की एकता का आरोप करके वैसे ही पुरुष प्रवृत्त हो जाता है, जैसे शुक्ति में रजत की कल्पना और रजत का पुरःस्थित पदार्थ से एकीकरण आरोपित करके रजतार्थी प्रवृत्त होता है। रजतादि का शुक्त्यादि से भिन्न न होना ही अन्यापोह है। इसी के आधार पर पुरुषों की प्रवृत्ति हुआ करती है, वेद के द्वारा किसी प्रेक्षापूर्वक कार्य करनेवाले (बुद्धिमान्) व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती। [इस अन्यापोह का ज्ञान न होने के कारण वैदिकगण भ्रान्त है—ऐसा शान्तरक्षित कहते हैं—

अन्यापोहापरिज्ञानादेवमेते कुदृष्टयः।
स्वयं नष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति पुरानपि ॥ (तत्त्व० १००२)

फलतः शब्द का प्रामाण्य बाह्यार्थ के प्रतिपादन में नहीं, अपितु जो पदार्थ अनादि वासनाओं के द्वारा कल्पित अन्यापोहात्मक है, उसी में शब्द का तात्पर्य पर्यवसित होता है। कल्पना या अध्यारोप-प्रतीति कभी सत्यार्थविषयिणी नहीं होती—यह अत्यन्त प्रसिद्ध सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

२—व्यावहारिकत्वेन प्रमाणता—

गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं धीप्रमाणता।
प्रवृत्तेस्तत्प्रधानत्वाद् हेयोपादेयवस्तुनि ॥ ५ ॥

'सोऽयं घटः', 'यमद्राक्षम् , तं स्पृशामि'—इत्यादि स्थलों पर प्रत्यक्षदर्शन के अनन्तर उसी विषय का एकत्व-स्थिरत्वादि कल्पनाओं से संवलित द्वितीय ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि वह गृहीत विषय का ही ग्राहक होता है, अनधिगत अर्थ का प्रकाशक नहीं होता। यद्यपि त्वगिन्द्रिय अपने द्वारा अगृहीत घटादि का ग्राहक है, तथापि इन्द्रियादि को प्रमाण न मानकर ज्ञान को ही प्रमाण माना जाता है, क्योंकि प्राणी की प्रवृत्ति (उपादेय पदार्थ के ग्रहण एवं हेयार्थ के परित्याग) के उत्पादन में ज्ञान की ही प्रधानता देखी जाती है ॥ ५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यमि'त्यादि ज्ञात्वा प्रवर्तमानोऽविसंवादभागिति प्रमाणं स्यात्।

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥१५९॥

अवयव्यादिविषयत्वं संवादकत्वात् प्रमाणमिति। अथालोचनाज्ञानसामर्थ्यादसौ विकल्प उत्पद्यमानो न प्रमाणम्। अवयविनि चावयवविज्ञानसामर्थ्यात्। तथा सति तदप्यालोचनाज्ञानं चक्षुःसन्निकर्षादि (सामर्थ्यादि)ति न स्यात् प्रमाणम्। तत्र यदि कारणपरम्परान्विष्यते चक्षुरादीनां प्रसङ्गः। अथानन्तरं विकल्पस्यैव प्रामाण्यप्रसङ्गः। अत्रोच्यते—गृहीतग्रहणानेष्टमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रत्यभिज्ञा-प्रमाणता—

यदि अर्थक्रिया की स्थिति को अविसंवाद पदार्थ माना जाता है, तब प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को भी प्रमाण मानना होगा, क्योंकि 'स एवायम्'—इस प्रकार के ज्ञान से प्रवर्तमान पुरुष भी अविसंवादन (अपनी प्रवृत्ति की सफलता) का लाभ करता है। प्रत्यभिज्ञा ज्ञान भी अज्ञानार्थविषयक, अबाधितविषयक एवं अदुष्ट कारण से जनित होने के कारण लोक में प्रमाण माना जाता है ॥१५९॥ 'सोऽयं घटः' इत्यादि ज्ञान घटादिरूप अवयवी पदार्थ को विषय करते हैं, इनके आधार पर प्रवर्तमान पुरुष घटादि का लाभ करता है, अतः उक्त ज्ञान संवादी होने के कारण प्रमाण माना जाता है। यदि कहा जाय कि पहले 'अयं घटः'—इस प्रकार का आलोचनात्मक निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है, उसके अनन्तर सामान्यविषयक सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है—'सोऽयं घटः'। अतः यह ज्ञान प्रमाण नहीं। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अवयवी (टघादि) के सन्निकर्ष से जनित घट-ज्ञान तद्वति तत्प्रकारक होने से प्रमाण रूप ही है। आलोचन-ज्ञान-सामर्थ्य से जनित होने के कारण यह ज्ञान यदि अप्रमाण है, तब आलोचन-ज्ञान भी चक्षुःसन्नि-कर्ष-सामर्थ्य से जनित होने के कारण अप्रमाण हो जायगा। विकल्प ज्ञान का जनक निर्विकल्पक और उसका जनक है—चक्षुःसन्निकर्ष। इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से जनित 'सोऽयम्' ऐसा सविकल्प ज्ञान प्रमाण क्यों न होगा ?

प्रत्यभिज्ञा ज्ञान की अप्रामाणिकता—

प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को जो तत्पदार्थ और इदंपदार्थ की एकता का बोधक होने से प्रमाण माना जाता है, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि इतर प्रमाण से अगृहीत (अपूर्व)

वार्तिकालङ्कारः

स एवायमिति प्रत्यय उत्पद्यमानो नैकत्वे प्रमाणम्। अपूर्वस्य एकत्वस्याग्रहणात्। दृष्टस्यैव तस्य प्रतिपत्तेः। एकत्वं हि पूर्वेण सह गृह्यमाणमेकतां विवादविषयतां स्वीकरोति। वर्त्तमानतामात्रस्यैकत्वे सिद्धसाधनमेव। तच्च पूर्वं पूर्वप्रत्ययेन गृहीतत्वान्नापरम्। पूर्वप्रत्ययेन चासौ त्रुटयदवस्थ एवापूर्वतया च गृह्यते। ततः पुनरनुसन्धीयमानं यथाभूतं गृहीतं तथा भूतमेव वानुसन्धातव्यम्। गृहीतत्वेन च ग्रहणे स्मरणमेतदिति गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमपरस्मरणवत्। संवादस्त्वर्थक्रियाकरणात्। न चैकत्वसाध्यार्थक्रिया। वस्तु सामर्थ्यमात्रादुत्पत्तेः। तस्मात् स एवायमिति प्रत्ययद्वयमेवैतत्। अथैकता प्रतीयते पूर्वेण सह अपरस्य। तदयुक्तम्—

पूर्वमध्यक्षतोऽवित्तौ तेनैकत्वेऽस्ति न प्रमा। एकत्वमप्रतीतेन प्रतीतमिति साहसम् ॥१६०॥
तेन सांवृतमेकत्वं पूर्वपूर्वविकल्पतः। प्रामाण्यं प्रत्ययस्यास्य सांवृतस्य न विद्यते ॥१६१॥
घटादिविषयो योऽपि प्रत्ययः सरसादिके। तत्प्रत्ययैर्गृहीतेऽर्थे समुदायविकल्पनात् ॥१६२॥
समुदायात् परस्त्वेको नैव केनचिदीक्ष्यते। अनादिवासनादार्ढ्यात् परस्याग्रहवैशसम् ॥१६३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

एकत्वरूप अर्थ का वह ग्राहक ही नहीं। केवल पूर्वदृष्ट घटादि का ही ग्राहक होता है। पूर्वगृहीत और वर्तमानगृहीत घट की एकता में तो विवाद रह जाता है। केवल वर्तमान-गृहीत घट की एकता का ग्रहण तो सिद्ध-साधन (गृहीत-ग्रहण) है, क्योंकि पूर्वकाल में गृहीत 'अयं घटः'—इस ज्ञान के द्वारा विषयीकृत एकत्व ही वर्तमान ज्ञान के द्वारा गृहीत हो रहा है, अगृहीत नहीं। 'अयं घटः'—इस प्रकार पूर्वोत्पन्न प्रत्यय (अभिज्ञा ज्ञान) के द्वारा गृहीत घट अननुसन्धीयमान, अतएव अपूर्व (अनधिगततया) गृहीत होता है और वर्तमानकाल में पुनः अनुसन्धीयमान अर्थात् यथाभूत गृहीत हुआ था, तथाभूत गृहीत होना चाहिए। गृहीतत्वेन गृहीत होने के कारण वह घट स्मर्यमाण है। वह ज्ञान गृहीत-ग्रहण होने के कारण स्मरण, अतएव वैसा ही अप्रमाण है, जैसा कि पटादि का स्मरण। अर्थक्रियाकारी (अपने प्रयोजन का साधक) होने के कारण संवादक माना जाता है। पूर्वोत्तरोत्पन्न दोनों ज्ञानों के विषय की एकता वहाँ अर्थक्रियाकारी (सत्) नहीं, क्योंकि उक्त ज्ञान केवल (एकत्व-रहित) वस्तुमात्र के सामर्थ्य से जनित है। फलतः 'स एवायम्'—इस प्रकार का वहाँ एक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अपितु 'अयं घटः'—यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक और 'सः'—यह स्मरणात्मक है। इस प्रकार वहाँ दो ज्ञान होते हैं, एक नहीं। यह जो कहा जाता है कि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के द्वारा पूर्वोत्तरगृहीत पदार्थों की एकता प्रतीत होती है, वह कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि पूर्व प्रत्यक्ष-काल में उत्तरभावी ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ था और उत्तर ज्ञान-काल में पूर्व ज्ञान नष्ट हो गया, अतः अप्रतीत अर्थ के साथ प्रतीयमान की एकता उद्घोषित करना बड़े साहस का कार्य है ॥१६०॥ अतः पूर्व-पूर्व विकल्प-गृहीत पदार्थों की एकता संवृतिमात्र कल्पित है। एकत्वग्राही सांवृत ज्ञान प्रमाण ही नहीं है ॥१६१॥ जैसे घटादि नाम की अवयवी वस्तु कोई नहीं, केवल रूप-रसादि गुणों और कपालादि अवयवों के समुदाय को घट कह दिया जाता है ॥१६२॥ उस समुदाय से भिन्न 'एकोऽयं घटः'—ऐसी प्रतीति की विषयवस्तु वास्तविक नहीं, अनादि संस्कारों के आधार पर कल्पित घटादि आकार और उनमें एकत्व की सांवृतिक सत्ता बाह्यार्थवादी व्यक्तियों के आग्रह को मिटाने के लिए मानी जाती है ॥ १६३ ॥

विषयाकारभेदाच्च धियोऽधिगमभेदतः ।
भावादेवास्य तद्भावे स्वरूपस्य स्वतो गतिः ॥ ६ ॥

धी (ज्ञान) में उद्भूत विषयाकारों के भेद से अधिगम (अर्थ-प्रतीति या प्रमात्व) का भेद एवं उसके भावाभाव पर प्रमात्व का भावाभाव निर्भर है, अतः विषयाकारों के द्वारा ही प्रमात्व की उत्पत्ति होती है, प्रमात्व स्वतः नहीं, स्वतः तो केवल ज्ञान के स्वरूप की ही अवगति होती है ॥ ६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कथन्तर्हि धियः प्रामाण्यं यदि पूर्वापरादिकस्य नैका प्रतिपत्तिः। अत्रोच्यते–हेयोपादेयविषये प्रवर्त्तकं हि प्रमाणमुच्यते। तत्र च प्रवर्त्तने धीरेव प्रधानम्। यद्यपि नाम भाव्यर्थो न प्रतिपन्नस्तथापि तत्र प्रवर्त्तनात् प्रमाणम्, यथानुमानस्याग्रहणेऽपि प्रामाण्यम्। न ह्यनुमानेन वस्तुस्वरूपस्वीकार इति प्रतिपादयिष्यते। न च चक्षुरादिकात् प्रवर्त्तते ज्ञानमन्तरेण विकल्पमन्तरेणाऽपि बुद्धयाभ्यासात् प्रवर्त्तते। ततो हेयोपादेयविषये धीरेव पूर्विका प्रवर्त्तनात् प्रमाणं न विकल्पादयः। यत्र तु नाभ्यासस्तत्रानुमानमेव प्रत्यभिज्ञानादयोऽतो नातिप्रसङ्गः। एवन्तावत् फलार्थितां व्यवहारिकत्वेन प्रमाणत्वं प्रतिपादितम्।

३. अधिगमफलविषयविभागकारितया प्रमाणता—

इदानीमधिगमफलविषयविभागकारितया प्रतिपाद्यते—विषयाकारभेदाच्चेति।

अपि च। धिय एव प्रामाण्यं नान्यस्य। यतः विषयाकारभेदादधिगमस्य प्रमाणफलस्य भेदः। न प्रवर्त्तनात् प्रमाणम्, अपि तु प्रतिपत्तिकरणात्। प्रतिपत्तौ हि ज्ञातायां प्रवर्त्ततां वा न वा। तथाऽर्थतथाभावव्यवस्थापनात् प्रमाणम्। व्यवस्थापितेऽर्थे यदि न प्रवर्त्तते। नायं प्रमाणस्य दोषः। प्रापकत्वात् प्रमाणमिति चेत्, न, प्रापणयोग्यत्वात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—"सोऽयं घटः"—इस प्रकार की बुद्धि यदि पूर्वगृहीत की एकता पश्चाद् गृहीत विषय के साथ अधिगत नहीं होती, तब उसमें प्रामाण्य क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान—उसी ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है, जो उपादेय (अभीष्ट) विषय में प्रवर्तक और हेय (त्याज्य) विषय से निवर्तक हो। कथित प्रवृत्ति और निवृत्ति में बुद्धि की ही प्रधानता रहती है। यद्यपि यागादिरूप भावी पदार्थ ज्ञान-काल में विद्यमान नहीं, तथापि उसमें प्रवर्तक होने के कारण यागादिनिष्ठ इष्ट-साधना ज्ञान को वैसे ही प्रमाण माना जाता है, जैसे अनुमान को। अनुमान ज्ञान केवल प्रवर्तक होता है, अग्न्यादि वस्तु का ग्राहक नहीं होता—यह अनुमान-परिच्छेद में कहा जायगा। चक्षुरादि के द्वारा जहाँ प्रवृत्ति होती है, वहाँ केवल अभ्यास के आधार पर ही प्रवृत्ति हो जाती है, न तो वहाँ किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और न किसी प्रकार की एकत्वादि-कल्पना, तब प्रवृत्ति में बुद्धि (ज्ञान) की प्रधानता क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ पूर्वाभ्यास नहीं होता, वहाँ अनुमान और प्रत्यभिज्ञादि के द्वारा विकल्पोत्पाद प्रवर्तक माना जाता है। इस प्रकार व्यावहारिकत्वेन प्रमाणता का प्रतिपादन किया गया।

३. प्रमाणफल-भेदात् प्रमाणता—

यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि साधन और साध्य (फल) का आधार एक ही होता है। घटादिप्रकाशस्वरूप फल (प्रमा) की आधार बुद्धि है, अतः बुद्धि में ही प्रमासाधनतारूप प्रमाणता न्याय-प्राप्त है। बुद्धिगत विषयाकाररूप साधन के भेद से

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणस्य। तदेव प्राप्तावसत्यां कथं ज्ञायते, रूपविशेषदर्शनात्। अव्यभिचारिणो रूपस्य कथं परिच्छित्तिः।

समाप्तस्तर्हि बाह्यार्थव्यवहारः। अव्यभिचारित्वाज्ज्ञाने हि स्वरूपसंवेदनमात्रमेव परिस्फुटम्। तथा च कुतो बाह्यार्थपरसन्तानादिप्रतीतिः। एतच्चोत्तरत्र वक्ष्यामः। विषयाकार इवाकारोऽस्य विषयाकारं ज्ञानम्। तस्य भेदो विषयाकारभेदः। विषये वा आकारभेदो विषयाकारभेदः। आकरणमाकारः। उल्लेख इत्यर्थः। विषयसदृशता विषयोन्मुखता च। तद्भेदाद् धियोऽधिगमभेदः नीलस्य संवित्तिस्तदाकारस्य चेति। अर्थाधिगमश्च प्रमाणफलं स्वरूपाधिगमो वा। तथा चाह—'प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः।' स च विषयाकार आत्मभूतो ज्ञानस्य। ततो ज्ञानमेव प्रमाणम्।

न यथाकारो ज्ञानात्मभूतस्तथाधिगमोऽपि। ततो ज्ञानमेव फलमिति प्राप्तम्। सत्यमेतत्।

प्रमाणतः फलन्नान्यत् प्रमाणं न फलात् परम्। एवं प्रकारा सर्वा च क्रियाकारकयोः स्थितिः ॥१६४॥

एतच्चोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यते। यथा चक्षुरादयो न भवन्ति प्रमाणन्तथाऽऽकारोऽपि मा भूत्। यथा कारका अपि संवेदनस्य चक्षुरादयो न प्रमाणन्तथाकारोऽपीति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विषयाधिगमरूप फल का भेद होता है, अतः विषयाधिगमरूप प्रमा की करण होने के कारण ही बुद्धि को प्रमाण कहा जाता है, प्रवर्तक होने से नहीं। प्रमा ज्ञान के हो जाने पर पुरुष प्रवृत्त हो या नहीं, बुद्धि में अर्थतथात्व की व्यवस्थापकता आ जाने से प्रमाणता सुस्थिर हो जाती है। विषयवस्तु के व्यवस्थापित हो जाने पर पुरुष यदि प्रवृत्त नहीं होता, तब यह प्रमाण का दोष नहीं। प्रमाण में विषय की प्रापकता अनिवार्य नहीं, अपितु प्रापण-योग्यता अपेक्षित है। विषय की प्राप्ति न होने पर प्रापणयोग्यता का ज्ञान कैसे होगा? विषयाव्यभिचारित्वात्मक विशेषरूप के दर्शन से ज्ञान के अव्यभिचारित्व स्वरूप का निश्चय कैसे होगा?

यदि अव्यभिचारित्व ज्ञान का ही स्वरूप है, तब बाह्य विषय की क्या आवश्यकता? अर्थात् बाह्य विषय की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान की विषयाव्यभिचारितारूप प्रमाणता का निश्चय होता है, किन्तु विषयाव्यभिचारिता यदि ज्ञान का ही स्वरूप है, ज्ञान स्वप्रकाश है, उसके स्वरूप का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है, उसके लिए विषय का बाहर होना आवश्यक नहीं, यह आगे चलकर कहा जायगा। ज्ञानगत प्रमाणता का प्रयोजक ज्ञानगत विषयाकार है। वह विषय का प्रतिबिम्ब नहीं अपितु विषयाकार के समान वह आकार है, जो अनादि वासनाओं द्वारा प्रादुर्भूत होता है। 'आकार' शब्द का अर्थ आकरण या उल्लेख है। ज्ञान का विषयाकार में परिणत या विषय के सदृश होना। विषयाकार के भेद से अधिगम (विषय-प्रतीति) का भेद होता है। अर्थाधिगम ही प्रमाण का फल (प्रमा) है। उसे ही स्वरूपाधिगम या प्रमेयाधिगम कहते हैं—"प्रमाणाधीना हि प्रमेयाधिगमः"। वह विषयाकार ज्ञान का अपना स्वरूप है, अतः ज्ञान ही प्रमाण है।

शङ्का—जैसे विषयाकार ज्ञान का स्वरूप है, वैसे ही विषयाधिगम भी, अतः ज्ञान ही प्रमाण (प्रमा का साधन) और ज्ञान ही फल (प्रमा) सिद्ध होता है, किन्तु वही साधन और वही साध्य—ऐसा क्योंकर होगा?

समाधान—यह सत्य है कि प्रमाण से भिन्न फल (प्रमा) नहीं और फल से भिन्न

वार्तिकालङ्कारः

आह—भावादेवास्य तद्भावे ।

तद्भावे आकारभावे । अस्याधिगमस्य फलस्य भावादेव । न खलु चक्षुरादिभावेऽस्य फलस्य भाव एव । आकारस्य तु भावे भाव एवाव्यतिरेकादिति साधकतमत्वम् । 'साधकतमञ्च करणम्' । अव्यवधाने च साधकतमत्वमिति प्रतिपादयिष्यते ।

कथन्तर्हि चक्षुषा पश्यति रूपमिति । कारणें कार्य्योपचारादेवमुच्यते । 'चौरैर्ग्रामो दग्ध' इति यथा । तस्मात् ज्ञानमेव प्रमाणम् ।

ननु प्रापकमेतज्ज्ञानमिति कथं ज्ञातव्यम् । न तावत् प्रत्यक्षतः । न खलु स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणाप्रमाणविभागमुपदर्शयति । सर्वज्ञानेषु स्वसंवेदनस्य भावात् । न च तदुत्पत्तिकाल एव संवादीतरज्ञानविभागसवेदने प्रवर्त्तमानः कश्चिद् विप्रलभ्यते । नापि सन्देहवान् स्यात् ।

अथाबाधितत्वलक्षणं प्रामाण्यं स्वत एव प्रसिध्यति । तदर्थापत्त्या प्रसाध्यमानं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रमाण नहीं । इसी प्रकार विज्ञानवाद में समस्त क्रिया और कारक की स्थिति है ॥१६४॥ इस पर आगे चलकर विशेष प्रकाश डाला जायगा ।

शङ्का—जैसे चक्षु और चक्षु का सन्निकर्ष प्रमाण नहीं, वैसे ही ज्ञानगत विषयाकार को भी प्रमाण नहीं मानना चाहिए । जैसे ज्ञान के जनक होने पर भी चक्षुरादि को प्रमाण नहीं माना जाता, वैसे ही विषयाकार भी अप्रमाण क्यों न माना जाय ?

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करते हुए वार्तिककार ने कहा है—"भावादेवास्य तद्भावे" । तद्भावे का अर्थ है—आकारभावे । विषयाकार के रहने पर ही विषयाधिगति का भाव होता है—इस पर अव्यतिरेक से विषयाकार में साधकतमत्वरूप करणता ध्वनित की गई है, जैसे कि महर्षि पाणिनि ने कहा है—"साधकतमं कारणं करणम्" (पा० सू० १।४।४२) । साधकतमत्व (अतिशयेन साधकत्व) वह एक विशेषता या योग्यता है, जिसके आधार पर सामान्य कारण को करण कहा जाता है । यहाँ कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल में रहकर कार्य-जनकता ही साधकतमता है । [न्यायवार्तिककार आचार्य उद्योतकर ने 'साधकतम' शब्द का अर्थ करते हुए कहा है—"कः खलु साधकतमशब्दार्थः ? (१) भावाभावयोस्तद्वत्ता । (२) यद्वान् वा प्रमिमीते । (३) सतोर्वाऽकर्तृत्वं यदभावात् । (४) संयोगवच्चरमभाविता वा । (५) प्रतिपत्तेरानन्तर्यं वा । (६) असाधारणकारणता वा । (७) प्रमाकारणसंयोगविशेषकत्वं वा" (न्या० वा० १।१।१)] इस विषय का विस्तार से वर्णन आगे किया जायगा ।

यदि चक्षु प्रमाण नहीं, तब उसको करणता का व्यवहार 'चक्षुषा पश्यति रूपम्'—ऐसा क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"कारणे कार्योपचारात् ।" अर्थात् जैसे चोर गाँव में अग्नि लगाते हैं और अग्नि गाँव जला डालती है । यहाँ अग्नि लगाने के कारणीभूत चोरों में अग्निरूप कार्य का व्यवहार हो जाता है—"चौरैर्ग्रामो दग्धः" । उसी प्रकार 'चक्षुषा रूपं पश्यति'—ऐसा उपचार हो जाता है । प्रमाण सदैव ज्ञान ही होता है ।

शङ्का—विषय-प्राप्ति से पहले यह कैसे जाना जा सकता है कि यह ज्ञान प्रापक है । प्रत्यक्षतः नहीं जाना जा सकता, क्योंकि स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष प्रमाणाप्रमाण का विभाग नहीं करता । स्वसंवेदन तो सभी ज्ञानों का होता है । संवादी ज्ञान और तदितर ज्ञान का विभाग स्वसंवेदन में प्रतीत नहीं होता और न सन्देह होता है ।

वार्तिकालङ्कारः

परोक्षज्ञानवादिनां कथं स्वतः सिद्ध्यति । यथार्थापत्त्या ज्ञानसत्ता सिद्धयति । तस्यार्थापत्त्या ज्ञानस्य नापरेण प्रामाण्यं ज्ञायते । स्वत एव तु प्रमाणता । अप्रामाण्यन्तु बाधकज्ञानात् । बाधकज्ञानस्य च स्वत एव प्रामाण्यम् ।

किञ्च । कारणादुत्पद्यते विज्ञानम् , प्रामाण्यन्तु तस्य स्वत एव । तदव्यपवादेन बाधकज्ञानेनाबाधितत्वलक्षणमपोद्यते । अत्रोच्यते—

यदि स्वतः प्रमाणत्वं निजकारणभावतः । तथोत्पन्नस्य तस्यान्यैर्बाधकैर्नान्यथा क्रिया ॥१६५॥
अथात्मा ज्ञानरूपत्वात् प्रमाणं स्वत उच्यते । बाधकानां सहस्रेऽपि तस्याप्यस्ति न विक्रिया ॥१६६॥
दुष्टकारणसद्भावादप्रामाण्यं भवेद् यदि । गुणवत्कारणासङ्गात् प्रामाण्यं न किमिष्यते ॥१६७॥
दोषाभावत एवास्य प्रामाण्यं यदि सम्मतम् । अप्रामाण्यं गुणाभावात् कस्मादस्य न गम्यते ॥१६८॥
न च प्रमाणेतरतः कश्चिदात्मेक्ष्यते परः । प्रमाणत्वाप्रमाणत्वं येन तस्यान्यतो भवेत् ॥१६९॥
बोधात्मकः स चेदिष्टः स्वापावस्थागमादिषु । स्वसंवेदनभावोऽस्य कदाचिन्नापगच्छति ॥१७०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि कहा जाय कि अबाधितत्त्वरूप प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'यदि ज्ञानमप्रमाणं स्याद्, रजतज्ञानवद् बाधितं स्यात् , न बाध्यतेऽतः प्रमाणम्'—इस प्रकार अबाधितत्वरूप प्रामाण्य की सिद्धि जब अर्थापत्ति प्रमाण से की जाती है, तब वह स्वतः कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—जैसे अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है, वैसे उस ज्ञान का प्रामाण्य अन्य प्रमाण से अवगत नहीं होता, अतः स्वतःप्रमाणता पर्यवसित होती है । अप्रामाण्य बाधक ज्ञान से बाधित होता है । उस बाधक ज्ञान में प्रामाण्य भी स्वतःसिद्ध है । ज्ञान जिस सामग्री से उत्पन्न होता है, प्रामाण्य भी उसी से उत्पन्न होता है, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—

आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत् ।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥ (श्लोक पृ० ४५)

अर्थात् ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए इन्द्रियादि की अपेक्षा करता है, किन्तु बोधकत्वादि कार्य के लिए उसकी स्वतः प्रवृत्ति होती है ।

समाधान—यदि ज्ञानगत प्रामाण्य ज्ञान के निजी कारणों से ही उत्पन्न होता है, तब उसका अन्य बाधक ज्ञानों के द्वारा बाध नहीं होना चाहिए ॥१६५॥ वेदान्त-सम्मत आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से स्वतः प्रमाण है, उसका बाध तो हजारों बाधकों के द्वारा नहीं हो सकता ॥१६६॥ दुष्ट कारणों के सद्भाव में यदि अप्रामाण्य माना जाता है, तब गुणयुक्त कारणों के आसङ्ग (सम्बन्ध) से प्रामाण्य क्यों नहीं माना जाता ? [श्लोकवार्तिककार ने संशय और विपर्ययरूप अप्रामाण्य की सिद्धि दुष्ट कारण के सद्भाव में कही है—"वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात्" (श्लो० वा० पृ० ४६) । इस पर विनिगमनाभाव का उपालम्भ दिया गया है] ॥१६७॥ "स्वत एव हि तत्रापि दोषाज्ञानात् प्रमाणता" (श्लो० वा० पृ० ४८) इसके अनुसार यदि ज्ञान में दोषाभाव के कारण प्रमाणता मानी जाती है, तब गुणाभाव से ज्ञान में अप्रामाण्य क्यों नहीं माना जाता ? ॥१६८॥ प्रमाण और अप्रमाण से भिन्न कोई आत्मा दिखाई नहीं दिखता कि प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व उससे भिन्न सिद्ध होते ॥१६९॥ यदि वह (आत्मा) बोधस्वरूप अभीष्ट है, तब सुषुप्ति और मोक्ष में भी स्वसंवेदनानुभव की निवृत्ति नहीं हो सकेगी ॥१७०॥ सुषुप्ति आदि में तो कुछ भी

वार्तिकालङ्कारः

न वेद्यते तदा किञ्चिदात्मास्तीति कथम्मतः । बोधेतरव्यवस्था तु दूराद् दूरतरं गता ॥१७१॥
तस्मादुत्पद्यते ज्ञानं प्रमाणमितरत् तथा । कारणादेव तद्भूदं न स्वतस्तस्य मानता ॥१७२॥
समानाकारसद्भावान्न तु तत्त्वेन निश्चयः । अबाधितत्वं सर्वस्य प्रथमन्तेन न प्रमा ॥१७३॥
पश्चाद् बाधस्तु सन्दिग्धो निश्चयस्तस्य सोऽन्यतः । प्रत्यक्षतोऽनुमानाद्वा प्रमाणमपरं न हि ॥१७४॥
संवादप्रत्ययः सोऽन्यविषये यदि वर्त्तते । तेन पूर्वस्य मानत्वमतीतस्येक्ष्यते कथम् ॥१७५॥
साधनप्रत्ययस्यापि सन्देहविषयत्वतः । साधनत्वं कथन्तस्य प्रमाणत्वाप्रतीतितः ॥१७६॥
बोधात्मकत्वान्मानं चेत् प्रसक्ता सर्वमानता । अबाधितार्थबोधोऽपि प्रथमन्न प्रसिध्यति ॥१७७॥
अथार्थकारितां ज्ञात्वा तदर्थस्य प्रमात्ववित् । प्रमाणं प्रागसिद्धं यत् तस्य वित्तिः कथन्ततः ॥१७८॥

स्यादेतत्—

यदि प्रमाणं प्राक्सिद्धं क्रिया स्यात् तस्य योगवित् ।
अर्थक्रियातस्तज्ज्ञानं प्रमाणमिति गृह्यते ॥१७९॥

यत्रैवार्थक्रिया तत्र प्रमाणमथ तन्मतम् । अर्थक्रियादयो दृष्टास्तेऽप्रमाणाद् मतादपि ॥१८०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान नहीं होता, तब वहाँ आत्मा की सत्ता कैसे सिद्ध होगी ? । फलतः बोधाबोध की व्यवस्था सर्वथा अनुपपन्न हो जाती है॥१७१॥ अतः प्रमाणाप्रमाणभूत ज्ञान अपनी-अपनी सामग्री से उत्पन्न होता है, स्वतः कोई भी नहीं, तब स्वतःप्रमाणता नहीं सिद्ध होती ॥१७२॥ उत्पत्ति अवस्था में प्रमा और अप्रमा दोनों ज्ञान समान आकार के होते हैं, उस समय तत्त्वेन या अबाधितत्वेन निश्चय नहीं होता, अतः पहले प्रमात्व की सिद्धि नहीं हो सकती ॥१७३॥ पश्चात् (भविष्य में) किसी ज्ञान का बाध नहीं होगा—ऐसा नियम सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा प्रमाणता या अप्रमाणता का निश्चय नहीं हो सकता ॥१७४॥ रही संवाद-प्रतीति की बात, वह भी प्रमाणता की निर्णायक नहीं हो सकती, क्योंकि उसके द्वारा अतीत (विगत) ज्ञान की प्रमाणता क्योंकर ज्ञात हो सकेगी ? ॥१७५॥ [चक्षुरादि साधन-सामग्री की दुष्टता और अदुष्टता पर मिथ्यात्व और सत्यत्व की निर्भरता शबरस्वामी ने बताई है—"चक्षुरादिभिरुपहतं मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्म्यादिभिर्बाह्यो वा विषयः । ततो मिथ्याज्ञानम् , अनुपहतेषु हि सम्यग्ज्ञानम्" (शाबर० १।१।५) । इसकी आलोचना है कि] साधन-प्रत्यय भी सन्दिग्ध है, निर्णायक नहीं हो सकता । प्रमाणता की प्रतीति न होने पर प्रमाण-साधनत्व का निश्चय क्योंकर होगा ? ॥१७६॥ [श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—"तस्माद्बाधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता" (श्लो० वा० पृ० ४६) । उस पर दोषाभिधान किया जाता है—] यदि ज्ञान में बोधात्मकत्वेन प्रमाणता मानी जाती है, तब मिथ्या ज्ञानों में भी प्रमाणता अतिप्रसक्त होती है, क्योंकि बोधात्मकता तो उनमें भी है । अबाधितार्थ-बोधकता ज्ञानोत्पत्ति के समय सिद्ध नहीं, अतः ज्ञान में स्वतः प्रमाणता क्योंकर सिद्ध होगी ? ॥१७७॥ यदि प्रतीयमान वस्तु की अर्थक्रिया-कारिता का ज्ञान हो जाने पर उसके ज्ञान में प्रमात्व का संवेदन माना जाय, तब जो प्रमाण पहले सिद्ध ही नहीं, उसका संवेदन कैसे होगा ? ॥१७८॥ यदि प्रमाण पहले सिद्ध है, तब उसके विषय की अर्थक्रिया-कारिता युक्तियुक्त (संगत) हो सकती है और उस अर्थक्रिया-कारिता के आधार पर ज्ञानगत प्रमाणता गृहीत हो सकती है ॥१७९॥

जहाँ अर्थक्रिया देखी जाती है, वहाँ ही प्रामाण्य होता है । किन्तु स्वप्नादि में

वार्तिकालङ्कारः

ततो नार्थक्रिया सा चेदन्यतोऽपि कथम्मता । ततः कदाचिदप्राप्तेः सान्यत्रापि समीक्ष्यते ॥१८१॥
यतो न प्राप्तिसंदेहः तत् प्रमाणम्मतं यदि । सन्देहस्य निवृत्तिर्हि समानाकारतः कुतः ॥१८२॥
अभ्यासाल्लक्ष्यते पश्चादाकारः सविलक्षणः । ततः प्राप्त्यविनाभाव एष सोऽन्योऽन्यसंश्रयः ॥१८३॥
तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः । स्मरणाद् व्यवहारश्चेदनुमानात् तथा सति ॥१८४॥
तच्चानुमानमध्यक्षादध्यक्षमनुमानतः । इतरेतराश्रयादेवं नास्त्यन्यतरसंस्थितिः ॥१८५॥

स्वभावालम्बनाकारपरिच्छेदि हि प्रत्यक्षं तृणस्यापि न कुब्जीकरणे समर्थम् ।

न पूर्वापरयोस्तेन सम्बन्धः परिगृह्यते । देशकालान्तरव्याप्त्या सङ्गतिर्योग उच्यते ॥१८६॥
देशकालान्तरव्याप्तेरध्यक्षं ग्रहणे क्षमं । यदि सर्वस्य सर्वार्थ दर्शितैव प्रसज्यते ॥१८७॥
सहभावस्तयोर्व्याप्त्या न तस्मादनुमोदयः । कादाचित्कतया तस्य सर्वत्रास्त्वनुमाथवा ॥१८८॥
इदानीमेवमाकारमेतदस्तीति वेद्यताम् । अध्यक्षतो न देशाद्यन्तरस्थग्रहणन्ततः ॥१८९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थक्रिया अप्रमाण ज्ञान से भी मानी जाती है ॥१८०॥ स्वप्नादि में अप्रमाण ज्ञान से वैसी अर्थक्रिया नहीं होती । तब स्वप्न में अर्थक्रिया क्यों मानी गई—"बालकस्येव मूत्रणम्" (प्र० वा० अलं० पृ० ३९१) । यदि स्वप्न में कदाचित् ही अर्थक्रिया होती है, कदाचित् उसकी प्राप्ति नहीं होती—ऐसा कहा जाय तो वह युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि कदाचित् अर्थक्रिया की अप्राप्ति (अनुपलब्धि) प्रमाण ज्ञान से भी होती है ॥१८१॥ जहाँ अर्थक्रिया की प्राप्ति में सन्देह न हो, वह ज्ञान यदि प्रमाण माना जाता है, तब प्रश्न उठता है कि केवल समानाकारता के दर्शन से सन्देह की निवृत्ति क्योंकर होगी ? ॥१८२॥ प्रथम बार न सही, बार-बार के दर्शन से विलक्षणाकारता परिलक्षित हो जाती है, उससे सन्देह नहीं रहता । इसका तात्पर्य तो यही निकला कि अर्थक्रिया की प्राप्ति होने पर प्रमाणता और प्रमाणता का निश्चय होनें पर अर्थक्रिया-स्थिति, फिर तो अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है ॥१८३॥ यदि सब कहीं अर्थक्रिया का दर्शन न होने पर परिदृष्ट कतिपय स्थलों पर समुद्भूत अनुभवों से जनित संस्मरणों के द्वारा अन्यत्र अर्थक्रिया का अनुमान करके प्रवृत्ति मानी जाती है, तब प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दोनों की अन्योऽन्याश्रयता की स्थिति में अन्यतर की संस्थिति कैसे होगी ? ॥१८४-१८५॥

बौद्ध-सम्मत स्वभाव (स्वलक्षण) मात्र को विषय करनेवाला प्रत्यक्ष तो किसी काम का नहीं, एक खड़े तिनके को भी टेढा नहीं कर सकता । किसी विषय के पूर्वभावी (ज्ञान) और उत्तरभावी (अर्थक्रिया) क्षणों का सम्बन्ध कथित प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं हो सकता, विभिन्न देशों और कालों में व्याप्त दो पदार्थों की संगति का नाम योग है । इस योग की सिद्धि निर्विकल्पकावगाही प्रत्यक्ष से कैसे होगी ? ॥१८६॥ देशान्तर और कालान्तर की व्याप्ति के ग्रहण में यदि बौद्ध-प्रत्यक्ष सक्षम हैं, तब सभी प्राणियों में सर्वदर्शिता प्रसक्त होती है ॥१८७॥ देशान्तर और कालान्तर में व्याप्त धूम और अग्नि-जैसे पदार्थों का सहचार-दर्शन जिस प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, उसके बल पर अनुमान का उदय क्योंकर होगा ? कादाचित्क सहचार-दर्शन से यदि अनुमान का उदय माना जाता है, तो सर्वत्र अनुमान की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी ॥१८८॥ "इदानीम् , एवमाकारम्, एतदस्ति"—इस प्रकार वर्तमानकाल, देश और वस्तुक्षणों का प्रत्यक्ष होने पर भी देशान्तरादि में अवस्थित वस्तुक्षणों का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं ही

वार्तिकालङ्कारः

अगृहीते च देशादौ तद्व्याप्तिर्गृह्यते कथम्। तस्याग्रहे नानुमानं चैतदत्यन्तसाहसम् ॥१९०॥
अनुमानान्तराक्षेपादनवस्थावतारतः। प्रकृताऽप्रतिपत्तिः स्यात् तस्य तस्येत्यपेक्षणात् ॥१९१॥
तस्मात् स्वतः प्रमाणत्वमुत्सर्गेण व्यवस्थितम्। बाधकारणदुष्टत्वज्ञानाभ्यान्तदपोद्यते ॥१९२॥
प्रमाणमविसंवादाद् बाधकं चेन्न विद्यते। प्रमाणमेव तद् व्यक्तं तद्धि बाधकतोऽन्यथा ॥१९३॥

अत्रोच्यते—

बाधकाभावमात्रेण न प्रमाणत्वनिश्चयः। प्राप्तिकाले च यो बाधः तस्याभावः पुरः कुतः ॥१९४॥

प्रमाणाज्ज्ञायतां प्राप्तेः प्राप्ता साऽर्थक्रियास्थितिः।
सा च स्वरूपसंवेद्यज्ञानात् पश्चाद् विभाव्यते ॥१९५॥

प्राक् तु तत्रानुमानस्य प्रवृत्तिर्भाविवस्तुनि। ततोऽनवस्था सैव स्यात् प्रमाणत्वगतिः कुतः ॥१९६॥
न प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपरं मानमिष्यते ॥१९७॥

किञ्च—स्वरूपस्य स्वतो गतिः। स्वतो हि स्वरूपस्यैव गतिर्न पररूपस्य।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकता, अतः वस्तुक्षणों की व्याप्ति का ग्रहण क्योंकर होगा? व्याप्ति का ग्रहण न होने पर भी अनुमान का सद्भाव मानना बहुत बड़ा दुःसाहस है [शाब्दिक मर्यादा और भाव-भङ्गि को दृष्टिकोण में रखते हुए "तस्याग्रहे नानुमानम्"—इसके स्थान पर "तद-ग्रहेऽनुमानं च" ऐसा पाठ उचित प्रतीत होता है ।१८९-१९०॥ अगृहीत देशादि का अनुमान से उपस्थान मानने पर अनुमान-परम्परा-प्रयुक्त अनवस्था दोष प्रसक्त होता है, प्रकृत अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो पाती ॥ १९१ ॥ फलतः स्वतःप्रमाणत्व उत्सर्गतः (स्वभावतः) व्यवस्थित हो जाता है, उसका बाध तभी होगा, जब कि पश्चात् उसका कोई बाधक प्रत्यय उत्पन्न हो या उसकी कारण-सामग्री में दोष का निश्चय हो जाय [जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने (श्लो० वा० पृ० ४६ पर) कहा है—

तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥

यहाँ अर्थान्यथात्व का अर्थ है—बाधकप्रत्यय] ॥१९२॥ जिस प्रामाण्य का विसंवाद न होने के कारण बाध नहीं होता, वह सदैव व्यवस्थित रहता है और अप्रामाण्य का संशय भी नहीं होता। [जैसा कि श्लोकवार्तिक में (पृ० ४८ पर) कहा है—"दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने न शङ्क्या निष्प्रमाणता"] ॥१९३॥

समाधान—केवल बाधकाभाव के आधार पर प्रमाणत्व का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि बाध का निश्चय वस्तु की प्राप्ति के समय होता है, उसका अभाव पहले (ज्ञान-काल में) ही कैसे होगा? ॥१९४॥ प्रमाण से वस्तु का ज्ञानमात्र होता है। प्रवर्तमान पुरुष को जब विषयवस्तु का लाभ हो जाता है, तब अर्थक्रिया-स्थिति (संवाद) उत्पन्न होती है। पश्चात् स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्ष के समय वह अर्थक्रिया-स्थिति सुस्पष्ट होती है॥ १९५ ॥ पहले तो स्वलक्षण-प्रत्यक्ष होने पर प्राप्य जलादि वस्तु का अनुमान होता है। अनुमान प्रमाण के द्वारा प्रमाणता का ग्रहण मानने पर अनुमानगत प्रमाणता का ज्ञान अन्य अनुमान के द्वारा—इस प्रकार अनुमान-परम्परा का अनुसरण और अनवस्था दोष से छुटकारा नहीं हो सकता, प्रमाणत्व का निश्चय तो दूर रहा ॥१९६॥ प्रत्यक्ष और अनुमान से कोई तीसरा प्रमाण सिद्ध नहीं होता, जिससे प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता ॥१९७॥

प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम् ।
अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परम् ॥ ७ ॥

अग्नि-ज्ञान में प्रामाण्य (प्रमात्व) तभी सिद्ध होगा, जब कि दाह-पाकादि-व्यवहार की कसौटी पर अग्नितत्त्व खरा उतर जाय। लौकिक व्यवहारों के अविषयी-भूत स्वर्गापवर्गादि पदार्थों का मोह (अज्ञान) शास्त्रोपदेश के द्वारा निवर्तित होता है। अथवा प्रमाण का लक्षण है—'अज्ञातार्थप्रकाश'। 'प्रकाश' पद का अर्थ है—'ज्ञान'। वह ज्ञान प्रमाण है, जिसका विषय अज्ञात हो। स्वरूप (स्वलक्षण) का ज्ञान हो जाने के पश्चात् जो सामान्य लक्षण का अनुमान ज्ञान होता है वह भी अज्ञात स्वलक्षण विषयक होने से ही प्रमाण होता है ॥ ७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

साक्षाद् गतिर्हि प्रत्यक्षं साक्षात्करणं च स्वरूपस्य न पररूपस्य प्राप्तिकालविशेषणस्य। प्रमाणता च प्राप्यपदार्थाव्यभिचारिता। न च प्राप्यपदार्थाग्रहणे तत्सम्बन्धग्रहणम्। न च तथानवसीयमानं प्रमाणमित्यवसितं भवति। पुरोवर्त्तिरूपासङ्गिता तु सर्वज्ञानानामविशिष्टा। न च यो भाविरूपसम्बन्धपरिग्रहः। नापि भाविनार्थक्रियाज्ञानेन पूर्वरूपसम्बन्धपरिग्रहः। ततः स्वरूपसंवेदनात्मत्वान्न प्रत्येकं सम्बन्धपरिग्रहः, नापि समुदायसम्भवः। क्रमेण साधनार्थक्रियाग्रहणयोर्भावात्। तदुत्तरकालभावि तु स्मरणं यथानुभवं प्रवर्त्तमानमसंबद्धमेव द्वयं विकल्पयति। यथानुभवपरित्यागात्तु तदुपप्लुतमेवेति न ततः सम्बन्धप्रतिपत्तिः। ततस्तत्सम्बन्धाग्रहणात् पश्चादपि दृष्टसाधर्म्यात् कथं प्रतिपत्तिरनुमानादिति न प्रामाण्यप्रतिपत्त्युपाय इति 'स्वरूपस्यैव स्वतो गतिर्न' प्रामाण्यस्य। अथ प्रमाण्यं स्वरूपमेव भावप्रत्ययवाच्यस्य ततोऽव्यतिरेकात्। तदयुक्तम्—

न ज्ञान रूपं प्रामाण्यं प्राप्यरूपसमन्वयि। स्वरूपमात्रग्रहणे तदग्राह्यमितीरितम् ॥१६८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि वार्तिककार ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि "स्वरूपस्य स्वतो गतिः। प्रामाण्यं व्यवहारेण।" अर्थात् प्रत्येक ज्ञान के अपने स्वरूप का ही स्वतः मानस प्रत्यक्ष होता है, अर्थाव्यभिचारित्वरूप प्रामाण्य का नहीं, क्योंकि 'स्वतो गतिः' शब्द का अर्थ है—'साक्षात् गति', 'प्रत्यक्ष' या 'साक्षात्करण'। "स्वरूपस्य"—यह सावधारण है—'स्वरूपस्यैव'। एवकार प्रामाण्यरूप पररूप का व्यवच्छेदक है, उसका ग्रहण विषयवस्तु की प्राप्ति के समय होता है, पहले नहीं। प्रमाणता का अर्थ है—प्राप्य विषय की अव्यभिचारिता। प्राप्य पदार्थ का अग्रहण होने पर उसके अव्यभिचारित्वरूप सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता। जब तक ज्ञान में प्राप्य विषय का अव्यभिचार गृहीत नहीं होता, तब तक उस ज्ञान को प्रमाण नहीं कह सकते। पुरतः (सामने) अवस्थित पदार्थ की आसङ्गिता (सम्बन्ध) तो प्रमा-अप्रमा सभी ज्ञानों में समान है। न तो भावीरूप (प्राप्यार्थ की अव्यभिचारिता) पहले गृहीत हो सकती है और न अर्थक्रिया-कारिता का सम्बन्ध पूर्वावभासित अर्थ के साथ अवगत हो सकता है। इन दोनों रूपों में से न तो प्रत्येक का निश्चय स्वरूप-संवेदन-काल में हो सकता है और न दोनों रूपों के समुदाय का, क्योंकि प्रामाण्य के साधनीभूत अर्थाव्यभिचारिता और अर्थक्रिया-स्थिति का ग्रहण क्रमशः ही होता है, युगपद् नहीं। इसीलिए उसके उत्तर काल में होनेवाला स्मरण ज्ञान भी अपने जनक अनुभव के अनुरूप कथित दोनों पदार्थों के असम्बद्धरूप में विकल्पित करता है, फलतः स्मरण उपप्लुत (असम्बद्धावगाही) होने

वार्तिकालङ्कारः

न हि ज्ञानस्वरूपमेव प्रामाण्यं 'प्राप्यरूपसम्बन्धेन' तत्त्वव्यवस्थापनात्। तस्य चाग्रहणमिति प्रतिपादितमेव। ततोऽप्रवृत्तिनिवृत्तिकं स्वस्वरूपसंवेदनमात्रमेव न भेदवादावतारः। तस्मान्न प्रेक्षावद्भिः क्वचित् प्रवर्त्तितव्यं न निवर्त्तितव्यं वा कुतश्चित्।

कथन्तर्हि प्रामाण्यमप्रमाणतो निवृत्तं व्यवस्थाप्यते, 'प्रामाण्यं व्यवहारेण'। सांव्यवहारिकमेतदिति प्रतिपादितम्। संव्यवहारश्च विचार्यमाणो विशीर्यत एव। तत्र यद्येतावता परितोषः तदा न किञ्चित् कर्त्तव्यमिति मुक्तिरेव संसारात् तस्यात्यन्तमभावात्। अथ व्यवहारप्रसिद्धः संसारः। तथा सति प्रमाणेतरविभागोऽप्यस्त्येवेति प्रमाणत्वप्रतिपादनाय यत्न आस्थेयः।

किञ्च सांव्यवहारिकं प्रामाण्यं प्रतिपादयता परमार्थत एकमेव स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति।

तथा हि यदि मानत्वमध्यक्षादनुमानतः। सिद्धिमृच्छत्यसन्देहं व्यवहारपदं वृथा ॥१६९॥

यदि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा परिस्फुटा प्रमाणत्वसिद्धिः किमर्थमुच्यते व्यवहारे-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के कारण ज्ञान के साथ अर्थाव्यभिचारिता का सम्बन्ध प्रकाशित नहीं कर सकता, अतः पश्चात् उत्पन्न दृष्ट-साधर्म्यक अनुमान के द्वारा भी उसकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, तब वह प्रामाण्य-प्रतिपत्ति का जनक क्योंकर होगा ? वार्तिककार का उद्घोष अत्यन्त सत्य है कि ज्ञान के स्वरूप की ही स्वतः प्रतिपत्ति होती है, तद्गत प्रामाण्य की नहीं।

शङ्का—प्रामाण्य ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि 'प्रमाणस्य भावः प्रामाण्यम्'—यहाँ भावार्थ में 'प्रमाण' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है। भाव का अर्थ स्वरूप ही है, अतः स्वरूप का स्वतः ग्रहण मानने पर प्रामाण्य का भी स्वतः ग्रहण सिद्ध हो जाता है।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि प्रामाण्य कभी ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता, अपितु ज्ञानगत प्राप्यार्थ का अव्यभिचारित्व प्रामाण्य कहलाता है, अतः ज्ञानस्वरूप का स्वतः ग्रहण होने पर भी प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण नहीं हो सकता ॥१६८॥

तत्त्व-व्यवस्थापक धर्म को प्रामाण्य कहते हैं। ज्ञानगत प्राप्यार्थ का अव्यभिचारित्व धम ही तत्त्व-व्यवस्थापक होने से प्रामाण्य पदार्थ माना जाता है। ज्ञान के स्वरूप का स्वतः ग्रहण होने पर भी प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण नहीं होता—यह कई बार कहा जा चुका है। ज्ञान के स्वरूप का संवेदन न प्रवृत्ति का जनक होता है और न निवृत्ति का। जैसे प्रमा ज्ञान से प्रवृत्ति की सफलता और अप्रमा ज्ञान से प्रवृत्ति की निष्फलता होती है, वैसे स्वरूपसंवेदन से प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता। स्वरूपसंवेदन यदि प्रमाण है, तब बुद्धिमान् पुरुष को न कहीं प्रवृत्त होना चाहिए और न कहीं से निवृत्त।

यदि ऐसा है, तब प्रामाण्य धर्म की अप्रमाण ज्ञान से निवृत्ति क्योंकर हो सकेगी ? इस प्रश्न का उत्तर है—"प्रामाण्यं व्यवहारेण"। यह प्रामाण्य सांव्यवहारिक है—यह कहा जा चुका है। संव्यवहार तो विचार करने पर विशीर्ण हो ही जाता है, जैसा वार्तिककार ने आगे चलकर कहा है—

इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥

यदि संसार अपने-आप विशीर्यमाण पदार्थ है, तब तो इससे मुक्ति पाने के लिए कुछ करना-धरना नहीं, यदि सांव्यवहारिक जगत् सत् है, तब प्रमाण-अप्रमाण आदि

वार्तिकालङ्कारः

णेति। तस्माद् व्यवहारमात्रप्रसिद्धानुमानाश्रयेण प्रसिद्धं सम्बन्धमाश्रित्य तदेतदर्थक्रियासाधनमिति दर्शनेन स्पृश्यादिसाधनस्य प्रतिपत्तौ प्रवर्त्तते। पश्चादभ्यासानुमानमन्तरेणापि प्रतिभासमात्रादेव वृत्तिरिति प्रत्यक्षमपि प्रवर्त्तकत्वात् प्रमाणम्। अत उच्यते- 'प्रामाण्यं व्यवहारेणे'ति।

ननु दर्शनेन रूपमेवोपलभ्यते न स्पृश्यम्। तथा वर्त्तमानमेव न भावि प्राप्यम्। तथा स्वदृश्यत्वमेव न परदृश्यत्वमपि, तत् कथमन्यदर्शनेऽन्यप्राप्त्या प्रमाणम्। उक्तमत्र 'स्वरूपस्य स्वतो गतिरि'ति। किञ्च—

व्यवहारत एकत्वात् प्रमाणत्वव्यवस्थितिः। देशाद्यभेदादेकत्वं द्रव्यस्य व्यपदिश्यते ॥२००॥

उक्तमेतत्—'प्रामाण्यं व्यवहारेणे'ति। ततो व्यवहारप्रसिद्धमवयविन एकत्वं समाश्रित्य यदेव दृष्टं तदेव प्राप्तमिति व्यवसायात् प्रमाणताव्यवहारः। स चैकत्वाध्यवसायो देशकालाद्यभेदात्। तदभेदोऽपि तत्सामर्थ्यस्य सामग्रीजननात्। एवं भाविभूतयोरपि तदेकसन्तानपतितत्वेन समानार्थक्रियातश्चैकत्वाभिमानः। ततः प्रवृत्तिस्ततोऽर्थक्रियासिद्धौ प्रमाणत्वव्यवस्थितिः। तस्माद् व्यवहारेणैव प्रमाणत्वव्यवस्थितिः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विभाग भी मानना होगा और प्रमाणत्व का निर्दुष्ट लक्षण करना होगा।

दूसरी बात यह भी है कि सांव्यवहारिक प्रामाण्य के उपपादन का अर्थ होगा—एकमात्र स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण का अभ्युपगम, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण ही सर्वथा अबाधित स्वलक्षण सतत्त्व का ग्राहक परमार्थ सत् पदार्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से अनुमान प्रमाण है। यदि प्रमाणता प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दो में ही पर्यवसित है, तब "प्रामाण्यं व्यवहारेण"—ऐसा कहना निःसन्देह व्यर्थ है ॥ १९९ ॥ अर्थात् यदि प्रत्यक्ष या अनुमान के आधार पर प्रमाण्य की सिद्धि अत्यन्त विस्पष्ट है, तब 'व्यवहारेण"—ऐसा क्यों कहा जाता है? अतः व्यवहारमात्र के द्वारा प्रसिद्ध अनुमान के द्वारा प्रसिद्ध व्याप्तिरूप सम्बन्ध का आश्रयण कर अर्थक्रियाकारित्व की सिद्धि की जाती है। दर्शन के द्वारा स्पृश्य (प्राप्य) जलादि की सिद्धि कर जलावगाहनादि के लिए प्रथमतः प्रवृत्ति होती है। पश्चात् अभ्यास हो जाने पर अनुमान के बिना भी प्रत्यक्षमात्र से प्रवृत्ति होती रहती है। फलतः प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक होने से प्रमाण है—इस तथ्य को ध्यान में रख कर कहा गया है—"प्रामाण्यं व्यवहारेण।"

शंका—'इदं जलम्'—इस प्रकार के ज्ञान से केवल जल के रूप का ही दर्शन होता है, स्पृश्य जल का लाभ नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जलादि के जिस स्वलक्षण तत्त्व का भान होता है, वह स्वदृश्यमात्र है, परदृश्य नहीं। अन्य (रूप) के दर्शन से अन्य (स्पृश्य जल) की प्राप्ति होती है, अतः जल-दर्शन प्रमाण क्योंकर होगा?

समाधान—उक्त प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है—' 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः।" अर्थात् दृश्य जल ही स्पृश्य जल है, व्यावहारिक दृष्टि से दृश्य और प्राप्य की एकता है, अतः जलज्ञान की प्रमाणता व्यवस्थित हो जाती है। जिस द्रव्य पर्याय के देश और काल में अभेद होता है, वह द्रव्य अभिन्न माना जाता है ॥ २०० ॥ यह भी कहा जा चुका है कि """प्रामाण्यं व्यवहारेण"। अपने अवयवों के आश्रित जलादि अवयवी पदार्थ एक है, अतः जिस जल का दर्शन होता है, वही प्राप्त होता है, ऐसी व्यवहारिक एकता के निश्चय में प्रमाणता का व्यवहार चला आ रहा है। जलादि द्रव्यों की एकता का व्यवहार उनके देशादि के अभेद पर आधृत है। देश-कालादि का अभेद उसकी सामर्थ्य

वार्तिकालङ्कारः

नन्वर्थक्रियाप्रापकत्वात् प्रमाणम् । प्रामाण्यञ्च किमर्थक्रियाज्ञापकमथ कारकम् । न तावत् कारकात् प्रमाणं करणं हि तदा स्यात् । अथ ज्ञापकत्वात् प्रमाणमुच्यते, तदप्ययुक्तम् ।

ज्ञापकं न तदर्थस्य क्रियासंदेहभावतः । कादाचित्कार्थक्रियेति तस्या ज्ञापकता कुतः ॥२०१॥

साधनज्ञानमन्तरेणापि अर्थक्रियोपलब्धा । तत् कथं तत्कारणमर्थक्रियायाः । तदन्तरेणापि भाविना तत्कारणं स्यात् कार्यस्य । नापि ज्ञापकं दृष्टेऽप्यर्थे कदाचिदर्थक्रियाऽभावात् । न च तज्ज्ञानमप्रमाणमर्थाशून्यत्वात् । अतः कारकत्वज्ञापकत्वाभावे कथं प्रमाणं प्रापकमर्थक्रियायाः । अत्रोच्यते—

उपेये नाम सन्देहस्तावता न प्रमा न सा । निश्चितत्वादुपायस्य प्रमाऽसौ किन्न तावता ॥२०२॥

न खलूपेयसन्देहपरिजिहीर्षा । सर्वत्रोपायनिश्चयमात्रेण वृत्तेः । तत उपायनिश्चये सति कृषीबलादिवत् प्रामाणिकाः प्रवर्त्तन्ताम् । तदसत् । यतः—

उपेयार्थितया सर्वः प्रवर्त्तननिवर्त्तने । करोति पुरुषस्तस्य सन्देहश्चेत् कथं प्रमा ॥२०३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सामग्री के द्वारा सम्पादित होता है । इस प्रकार भावी प्राप्य जल और उसकी भावी जलावगाहनादि अर्थक्रिया में एकत्व का अभिमान लोकप्रसिद्ध है, क्योंकि दृष्ट जल की सन्तति में ही वह प्राप्य जललक्षण है, जिस की अर्थक्रिया अनुभूत होती है । फलतः व्यवहार के द्वारा ही प्रमाणत्व व्यवस्थित होता है ।

शंका—अर्थक्रियाकारी ज्ञान को जो प्रमाण कहा जाता है, वहाँ अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ क्या अर्थक्रिया-जनकत्व है ? या अर्थक्रिया-ज्ञापकत्व ? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि प्रमा-कारणरूप प्रमाण प्रमा को जन्म नहीं दिया करता, अन्यथा मरुमरीचि में जलज्ञान से भी अर्थक्रिया की उत्पत्ति होनी चाहिए । द्वितीय कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि अर्थक्रिया के सन्देह मात्र से ज्ञान में अर्थक्रियाज्ञापकता नहीं आती । अव्यभिचारित पदार्थ ही ज्ञापक होता है, कादाचित्क अर्थक्रियाकारी ज्ञान को उसका ज्ञापक नहीं मान सकते ॥ २०१ ॥ जबकि साधनीभूत ज्ञान के बिना भी अर्थक्रिया (दाह-पाकादि) उपलब्ध होते हैं, तब ज्ञान अर्थक्रिया का जनक क्योंकर होगा ? भावी अर्थक्रिया का ज्ञान अभी नहीं, वह जब है ही नहीं, तब भावी अर्थ-क्रिया ज्ञान का जनक कैसे हो सकेगा ? ज्ञान अर्थक्रियाज्ञान का ज्ञापक इसलिए भी नहीं हो सकता कि वह्न्यादि पदार्थों का दर्शन हो जाने पर भी कदाचित् दाहादि कार्य नहीं होता । वह वह्नि-दर्शन अप्रमाण है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि विषय-रहित नहीं । इस प्रकार कारकत्व (जनकत्व) और ज्ञापकत्व दोनों कल्पों के असंगत हो जाने पर प्रमाण को अर्थक्रिया का प्रापक कैसे कहा जा सकता है ?

यदि कहा जाय कि अन्नादि की उत्पत्ति रूप उपेय पदार्थ में सन्देह रहने पर भी कृषिकर्म में अन्नसाधनता का निश्चय क्या प्रमाज्ञान नहीं होता ? अन्न-प्राप्ति की उपायता (साधनता) के निश्चयमात्र से किसान खेती में प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ २०२ ॥ अर्थात् किसी कार्य में प्रवृत्त होने के लिए उपेय पदार्थ के सन्देह की परिजिहीर्षा आवश्यक नहीं, अपितु उपायता (अर्थ-साधनता) के निश्चयमात्र से प्रवृत्ति हो जाती है, अतः खेती में किसानों के समान अर्थक्रिया में सन्देह होने पर भी प्रवृत्ति हो जायगी ।

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्नादि उपेय पदार्थों की प्राप्ति एवं अनुपेय

वार्तिकालङ्कारः

यदर्थमिष्यते प्रमाणन्तत्रोपेये सन्देहात् प्रमाणमिति कैषा वाचोयुक्तिः ? ननु प्रमाणेनार्थो ज्ञापयितव्यो नत्वर्थक्रिया कर्त्तव्या। अर्थक्रिया हि कुतश्चित् सामग्रीविशेषात् पश्चाद् भवन्तीति कथं ज्ञापयितुं शक्या। तदप्यसत्।

यदर्थ एष प्रारम्भस्तदनिष्पत्तिरेव चेत्। असिद्धः साध्यसम्बन्धः कथं साधक उच्यताम् ।।२०४।।

अमृतः प्रमाणादभिमतार्थसिद्धिमासादयेयमिति प्रमाणतान्वेषणपरः प्रेक्षावान् नान्यथा। व्यसनमेव त्वन्यथा भवेत्। अर्थश्च प्रकाशितो यदि नार्थक्रियाकारी कुतस्तस्यानर्थात् तैमिरिकोपलब्धकेशादेर्विशेषः।

अथ कदाचित् तत्रार्थक्रिया भवति न तैमिरिकादौ। एवन्तर्हि तदर्थी कथं प्रवर्त्तते। न खलु सन्देहात् प्रवर्त्तमानः प्रमाणात् प्रवृत्तो भवति। प्रमाणं हि निश्चायकं न सन्देहकृत्। अर्थक्रियाकारिणि निश्चयश्चेत्। अर्थक्रियानिश्चये कथं तथा निश्चयः। अथ तेन प्रमाणेनार्थसाधनवस्तु दर्शितम्। अर्थक्रिया तु यदि कुतश्चित वैकल्यान्न भवति। न प्रमाणस्यासौ दोषः। तदप्ययुक्तम्—

अज्ञापकत्वं मानस्य न दोषो यदि दृश्यते। न तस्यास्त्यपरो दोष इति सर्वं प्रमा भवेत् ।।२०५।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(अनिष्ट) अर्थ का त्याग करने के लिए सभी पुरुषों की प्रवृत्ति और निवृत्ति हुआ करती है। यदि उपेयादि में सन्देह रहता है, तब उसका ज्ञान प्रमा क्योंकर होगा ? ।।२०३।। जिस प्रमेय के लिए प्रमाण की आवश्यकता है, वह प्रमेय पदार्थ सन्दिग्ध रहे और प्रमाण की प्रमाणता व्यवस्थित हो जाय—ऐसा कैसे हो सकता है ?

यदि कहा जाय कि प्रमाण के द्वारा विषयवस्तु ज्ञापित की जाती है, अर्थक्रिया की उत्पत्ति नहीं की जाती। वह तो अपनी निश्चित सामग्री से उत्पन्न होती है, वह भी ज्ञान के पश्चात् भविष्य में, अतः पूर्वभावी प्रमाण उसका ज्ञापक क्योंकरहो सकेगा ?

तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जिस अर्थ के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसकी यदि निष्पत्ति नहीं होती, तब साध्य के साथ जिस हेतु का व्याप्तिरूप सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं, ऐसा हेतु साधक क्योंकर कहा जा सकेगा ? ।।२०४।। अर्थात् अमुक प्रमाण के द्वारा मैं अभिमत पदार्थ की सिद्धि करूँ—इस प्रकार के उद्देश्य से प्रमाण का अन्वेषण किया करता है, बिना प्रयोजन के नहीं, अन्यथा (बिना किसी प्रयोजन के) प्रमाणान्वेषण करना एक व्यसन (खोटी आदत) समझा जायगा। अभिमत पदार्थ यदि प्रकाशित होकर अर्थक्रिया का जनक नहीं होता, तब तैमिरिक व्यक्ति के द्वारा दृश्यमान केशोण्डुक से उस पदार्थ की क्या विशेषता ? यदि कहा जाय कि तैमिरिक-दृष्ट केशोण्डुक तो अत्यन्त निरर्थक होता है, किन्तु आपात-प्रकाशित पदार्थ कभी-कभी अर्थक्रियाकारी भी हो जाता है। तब प्रश्न उठता है कि बिना निश्चय के अर्थार्थी की प्रवृत्ति कैसे होती है ? सन्देह-जनित प्रवृत्ति को प्रमाण-जनित नहीं कहा जाता, क्योंकि संशयात्मक ज्ञान प्रमाण नहीं होता। प्रमाण ज्ञान सदैव निश्चय का जनक होता है। अर्थक्रियाकारी पदार्थ का निश्चय होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अर्थक्रिया का निश्चय न होने पर अर्थक्रिया-कारी पदार्थ का निश्चय क्योंकर होगा ?

शंका—प्रमाण तो दाहादिरूप अर्थक्रिया के साधनीभूत अग्निपदार्थ को ज्ञापित या प्रदर्शित कर देता है। यदि किसी न्यूनता या प्रतिबन्धक के कारण अर्थक्रिया नहीं होती तो इसमें प्रमाण का क्या दोष ?

वार्तिकालङ्कारः

प्रमीयते येन परिच्छिद्यते समीहितोऽर्थस्तत् प्रमाणम् । न चाज्ञापकस्य परिच्छेदशक्तिरित्यप्रमाणम् । तस्मादन्यथा प्रतिपद्यते—

अर्थक्रियास्वरूपस्य निश्चितस्यावबोधनात् । ज्ञानं प्रमाणं तादात्म्ये तदुत्पत्तिप्रभावतः ॥२०६॥

यत् खल्वर्थक्रियाज्ञानं तदर्थक्रियात्मत्वादर्थक्रियाङ्गमयति । तदर्थक्रियायान्तदेव साधनज्ञानम् । पूर्वकन्तु साधनज्ञानं यदि स्थिरतयाऽसाववधृतोऽर्थस्तदा । पूर्वको हि स्वभावो भाविनं प्राप्तिकालेऽवश्यं भावयतीति तत्प्राप्तिः । तत उत्तरः स्वभावः पूर्वकस्य स्वभाव एव वस्तुतः । ततस्तत्रापि तादात्म्यमेव ।

अथवा तदवश्यम्भावि कार्यं कारणमेव तेन व्याप्तत्वात् कारणस्य । यच्च व्यतिरिक्तं व्यापकं तत् कारणमेव तेन विना तदभावात् । अनुत्पन्नं कथं कारणम् । उत्पन्नमपि कथमिति समानो दोषः ।

नन्वस्मिन् सतीदं भवति । अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते । एतदत्र व्याप्रियते । एतदनेन

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—अर्थक्रियाकारी पदार्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, जो वैसा नहीं होता, उसे ज्ञापक ही नहीं माना जाता, अतः प्रमाण की अज्ञापकता यदि दोष नहीं, तब उसका अन्य कोई दोष नहीं, सभी ज्ञान प्रमा हो जायेंगे ॥२०५॥ "प्रमीयते येन, तत् प्रमाणम्"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार परिच्छेदक (निश्चायक) शक्ति से समन्वित पदार्थ को प्रमाण कहते हैं । अज्ञापक में परिच्छेद शक्ति ही नहीं होती, अतः वह अप्रमाण है, अप्रमाण से अन्यथा प्रतिपत्ति (अन्यथाख्याति या भ्रम) होती है, प्रमा नहीं ।

[सब ज्ञापक हेतु तीन प्रकार के होते हैं—"अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य" (न्या० बिन्दु० २।११) । इनमें शिंशपादि स्वभावहेतु अपने वृक्षात्मक साध्य से तादात्म्यापन्न होने के कारण उसका ज्ञापक होता है और धूमादिकार्य हेतु अपने अग्निरूप साध्य से उत्पन्न होकर साध्य का ज्ञापक माना जाता है] यहाँ प्रमाणभूत ज्ञान ज्ञापक और अर्थक्रिया ज्ञाप्य है । अतः प्रमाण ज्ञान तादात्म्य (अर्थक्रियारूपता) या तदुत्पत्तिकता (अर्थक्रिया-जन्यता) के आधार पर अर्थक्रिया का ज्ञापक होता है ॥२०६॥ अर्थात् जो अर्थक्रिया का ज्ञान है, वह अर्थक्रिया तादात्म्यापन्न होने के कारण अर्थक्रिया का ज्ञापक है । अतः अर्थक्रिया में उसी का ज्ञान साधन (ज्ञापक) होता है । उससे पूर्वोत्पन्न पदार्थविषयक ज्ञान प्रमाण तब होगा, जबकि उस पदार्थ की स्थिरता निश्चित हो । पूर्वोत्पन्न प्रमाण ज्ञानरूप स्वभाव हेतु भाविनी अर्थक्रिया को वस्तु-प्राप्ति के समय अवश्य ही सिद्ध (ज्ञापित) करता है, वही प्राप्ति है । इसका निष्कर्ष यह निकला कि उत्तरभावी स्वभाव हेतु पूर्वोत्पन्न पदार्थ-ज्ञान का स्वभाव ही है वस्तुतः, अतः उनमें भी तादात्म्य ही है ।

अथवा कार्य और कारण का तादात्म्य होता है, भावी अर्थक्रियारूप कार्य प्रमाण ज्ञानरूप कारण का स्वरूप ही है, क्योंकि कारण कार्य से व्याप्त होता है । जो कार्य से भिन्न कार्य का व्यापक होता है, वही कारण होता है, क्योंकि उसके बिना कार्य की निष्पत्ति ही नहीं होती । अनुत्पन्न कार्य कारणस्वरूप क्योंकर होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में पूछा जा सकता है कि उत्पन्न कार्य भी कारण स्वरूप क्योंकर होगा ?

शङ्का—सत्ता, उत्पत्ति और व्यापार के माध्यम से कार्य-कारणभाव का व्यवहार

वार्त्तिकालङ्कारः

क्रियत इति कार्यकारणभावमवगच्छन्ति लौकिकाः । न च भाविनः सत्ता नाप्युत्पादो न च व्यापारो नापि कारणं तेनाविद्यमानत्वात् तदानीम । अत्रोच्यते—

सत्तोत्पादादयो भावस्वभावत्वान्न परात्मकाः ।

अस्मिन् सतीति नैवास्मादपरार्थस्य सम्भवः ।।२०७।।

उत्पादो हि न सत्तास्वभावादपरः । कारणान्तरभाविनी चेत् सत्तोत्पादः किमनन्तरभाविन्येव सत्तोत्पादः । एवं चेत् सुप्तस्य चिरमुत्थितस्य ये विकल्पास्तेषां पूर्वाभ्यासादुत्पादो न स्यात् । अनन्तरभावित्वाभावात् । शरीरादि च कारणं नेति प्रतिपादयिष्यामः । न च व्यापारः परः स्वभावात्, ततः स्वरूपात् स्वरूपमिति प्राप्तम् । न च कार्यकाले कारणं पूर्वकमपि स्वरूपं कालस्य पूर्वकस्याविनाभावितामात्रन्तु भाविन्यपि विद्यतेऽवश्यम्भाविकार्यस्य । कारणस्यापि । ततो भाव्यपि कारणम् ।

अथ दृष्टं भूतं वा यत् तत्र व्यापकं सत्कारणन्तथा पूर्वभावि तदेव कारणं न भावीति चेत्, अत्रोच्यते—

न दृष्टस्य स्वरूपेण व्यापकत्वं प्रतीयते । आरोपितेन रूपेण भाविनोऽपि भवेदिदम् ।।२०८।।

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

लोक में देखा जाता है—'अस्मिन् सति इदं भवति' (मृदि सत्यां घटो भवति), 'अस्योत्पादाद् इदमुत्पद्यते' (सामग्र्युत्पादाद् घट उत्पद्यते), 'एतदत्र व्याप्रियते' (दण्डो घटोत्पत्तौ व्याप्रियते), 'एतद् अनेन क्रियते' (घटः कुलालेन क्रियते) । भावी कार्य की न सत्ता होती है, न उत्पत्ति, न व्यापार और न कारण, क्योंकि उस समय (पूर्व काल में) विद्यमान हीनहीं होता । अतः "अस्येदं कार्यं कारणम्" (वै० सू० ९।२।१) ऐसा व्यवहार क्योंकर होगा ?

समाधान—सत्ता और उत्पत्ति आदि पदार्थ वस्तु के स्वरूप से भिन्न न होने के कारण परस्पर भी भिन्न नहीं होते । 'अस्मिन् सतीदम्'—इस प्रकार के व्यवहार से अन्य वस्तु से अन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।।२०७।। अर्थात् उत्पत्ति पदार्थ सत्ता-स्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं । यदि कहा जाय कि कारण-व्यापार के अनन्तर होनेवाली कार्य की सत्ता उत्पादपदार्थ है । तो इसका अर्थ यदि 'कारणानन्तरभाविनी एव सत्ता'—ऐसा है, तब इष्ट-साधनता की विविध अनुभूति करते-करते कोई व्यक्ति सो गया और आठ घण्टे बीत जाने पर बहुत देर से उठा । अनुभूत पदार्थों के ग्रहण की इच्छा हुई और चल पड़ा क्रय-विक्रय के लिए । किन्तु यह सभी कुछ कारण-कलाप के अव्यवहित उत्तरकाल में न होने से विगत अनुभूतियों का कार्य नहीं कहा जायगा । शरीरादि कारण नहीं होते—यह आगे कहा जायगा । व्यापार (क्रिया) भी वस्तु के स्वरूप से भिन्न नहीं, अतः कारण से कार्य का अर्थ हुआ—स्वरूप से स्वरूप की उत्पत्ति । कार्य-काल में भी पूर्ववृत्तित्व-विशिष्ट कारण नहीं रहता । फलतः कार्य कारण का अविनाभाव-नियम ही कार्यता और कारणता का नियामक मानना होगा, वह तो अतीत और भावी कार्यों में भी अक्षुण्ण है ।

शङ्का—जो पदार्थ दृश्यमान् या दृष्ट हो चुका है एवं कार्य का व्यापक है, वह कारण है, भावी वैसा नहीं, अतः उसे कारण नहीं कह सकते ।

समाधान—दृश्यमान पदार्थ स्वरूपतः व्यापक प्रतीत नहीं होता, अपितु उसमें व्यापकता का आरोप होता है । वह भावी पदार्थ पर भी हो सकता है ।।२०८।।

वार्तिकालङ्कारः

दृश्यमानं हि न तावता व्यापकं व्याप्यस्य तदानीमप्रतीतेः। यदा च व्याप्यप्रतीतिस्तदा तद्भाविभूतरूपेण व्यापकमन्यथा भाविरूपाग्रहणे व्यापिता न स्यात्।

अथ येन रूपेण पूर्वभावित्वेन तद् दृष्टं तेनैव तस्य रूपेण व्यापकता प्रतीयते न भाविरूपेण। तदसत्।

भाविरूपाप्रतीतौ न व्यापकत्वं प्रतीयते। प्रादेशिकी नहि व्याप्तिरव्याप्तिः सा तथा भवेत्॥२०९॥

तथा व्यापिताभावात्। भूतभविष्यत्कालव्यापित्वेन हि प्रतीयमानं कारणं नान्यथा। सा च व्याप्तिः पूर्वं दृष्टस्य द्रक्ष्यमाणस्यापि समाना। द्रक्ष्यमाणस्य कथं कारणत्वं दृष्टस्यापि तदानीमसत्त्वात् कथमिति न प्रश्नावतारः। सत्त्वाच्चेत् द्रक्ष्यमाणस्यापि सा। तदा नेत्येतत् समानमुभयत्रापि। पूर्वता चेत्, कः पूर्वापरयोः स्वभावे विशेषः। द्वयमप्यारोपिताकारेण गृह्यते नापरेणेति न भेदः।

अथैकं पूर्वरूपतया दृष्टमारोप्यते। अपरन्तु द्रक्ष्यमाणतया पररूपतया च। तेन नास्ति द्वयोरपि कारणतेति।

अन्योऽन्यमविनाभावो द्वयोरपि तयोः समः। अवान्तरविशेषस्तु तत्र न क्वोपयोगवान्॥२१०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कोई पदार्थ दृश्यमान है, एतावता व्यापक है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय भावी व्याप्य वस्तु प्रतीत ही नहीं होती। उसकी प्रतीति के बिना व्यापकता का भान नहीं हो सकता, अतः भावीरूपेण व्याप्य की प्रतीति माननी पड़ती है, अतः उसी रूप से व्याप्यता-निरूपित व्यापकता का भान मानना होगा।

जब भावित्वेन रूपेण पदार्थ दृष्ट ही नहीं, तब उसमें उस रूप से व्यापकता का ग्रहण क्योंकर होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भावी रूप की अप्रतीति होने पर कारण में व्यापकता की प्रतीति हो ही नहीं सकती। सभी देशों और सभी कालों के सहचार को व्याप्ति कहते हैं, कादाचित्क या क्वाचित्क (प्रादेशिक) सहचार को नहीं, अन्यथा व्याप्ति का लक्षण अव्याप्त रह जायगा॥ २०९॥ केवल पूर्वभावित्वेन सहचार से व्यापकता का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि भूत, भविष्यत् काल-व्यापित्वेन प्रतीयमान पदार्थ कारण माना जाता है। कार्य-कारण की वह व्याप्ति दृष्ट एवं द्रक्ष्यमाण दोनों पदार्थों की समान ही होती है। भविष्य में द्रक्ष्यमाण पदार्थ वर्तमान में न होने के कारण क्योंकर होगा? ऐसा प्रश्न उठने पर कहा जा सकता है कि पूर्वदृष्ट पदार्थ भी वर्तमान में न होने से कारण क्योंकर होगा? कदाचित् सत्ता को लेकर यदि अतीत पदार्थ कारण माना जाता है, तो उसी प्रकार भावी पदार्थ भी कारण बन जायगा। वर्तमान में तो दोनों समानरूप से अविद्यमान हैं। पूर्ववृत्तिता को यदि कारणता का प्रयोजक माना जाता है, तब पूछा जा सकता है कि पूर्ववृत्तिक और परवृत्तिक पदार्थ के स्वरूप में क्या अन्तर? दोनों ही आरोपित कारणता के रूप में गृहीत होते हैं, अन्यरूपेण नहीं, अतः अतीत और अनागत कारणों में कोई स्वरूप-भेद नहीं।

पूर्व (प्रमाण ज्ञानरूप कारण) केवल पूर्वभावित्वेन ही गृहीत होता है, कारणत्वेन नहीं। अपर (अर्थक्रिया रूप कार्य) केवल परत्वेन ही गृहीत होता है, कार्यत्वेन नहीं, अतः उन दोनों में कार्य-कारणभाव क्योंकर बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उन दोनों में जो अविनाभाव गृहीत होता है, वही कार्यकारणभाव का नियामक है, पूर्वोत्तरभावादि विशेषताओं का विशेष उपयोग नहीं॥ २१०॥ अर्थात् जिस (दण्डादि)

वार्तिकालङ्कारः

येन विना यन्न भवति तत् तस्य कारणं व्यतिरिक्तत्वे सति। यथा च कारणस्य पूर्वं भावं विना न भवति कार्यन्तथावश्यंभावि कार्यं कारणं कार्यस्य परभावं विना नेति समानं कार्यकारणभावनिबन्धनमिति द्वयोरपि परस्परं कार्यकारणभावः।

समानत्वान्निमित्तस्य कार्यकारणता द्वयोः। व्यापित्वव्यतिरेकस्य परलोकानुमाप्यतः ॥२११॥

न खलु व्यापितां व्यतिरेकस्य व्युदस्यापरमत्र जगति निबन्धमुपलभामहे। तेन द्वयोरपि कार्यावश्यम्भाविकार्यकारणयोः परस्परं कार्यकारणभाव इति युक्तं पश्यामः। तस्मात्—

कारणं यदि तज्ज्ञानं स्वभावो वार्थजन्मनः। कार्यं वा सर्वथा तेन ज्ञाप्यतेऽर्थक्रियोदयः ॥२१२॥

यदि साधनज्ञानमर्थक्रियायाः कारणं यदि स्वभावो यदि कार्यं सर्वथा तेन सम्बन्धसम्भवाज् ज्ञाप्यते। एतच्च व्यापितादात्म्यं कार्यकारणभावश्च व्यवहारप्रसिद्ध इति व्यवहारेण प्रामाण्यं ज्ञायत इति।

ननु यावत प्रत्यक्षं न भवति सम्बन्धसाधकं न तावदनुमानम्। प्रत्यक्षेण हि सम्बन्धग्रहणेऽनुमानं प्रामाण्यं साधयति। प्रमाणं सत् प्रत्यक्षं सम्बन्धग्रहणे समर्थमितीतरेतराश्रयदोषः न।

अथ नानुमानेन प्रामाण्यं साध्यतेऽपि त्वर्थक्रियानुभवेन। स च स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के बिना जो (घटादि) नहीं हो सकता, वह दण्डादि घटादि का कारण और घटादि दण्डादि का कार्य होता है। इस प्रकार दोनों में कार्य-कारणभाव सम्पन्न हो जाता है।

कार्य-कारणभाव का नियामक अविनाभावरूप निमित्त अतीत और अनागतरूप दोनों पदार्थों में समान है, अतः दोनों में कार्यकारणता (कार्यकारणभाव) घट जाता है। 'यदभावे यदभावः'—इस प्रकार के व्यतिरेक की व्यापिता से कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। अतः कार्य या कारणरूप हेतु के द्वारा परलोक की अनुमा (अनुमान) भी हो जाता है ॥ २११ ॥ अर्थात् व्यतिरेक (कारणाभाव और कार्याभाव) की व्यापिता को छोड़कर और काई निमित्त (कार्यकारणभाव का प्रयोजक) उपलब्ध नहीं होता यह व्यापित्व या अविनाभाव कारण के समान भविष्य में अवश्यंभावी कार्य में भी है, अतः दोनों में कार्यकारणभाव सम्पन्न हो जाता है। चाहे साधन ज्ञान अर्थक्रिया का कारण हो, या स्वभाव हो, चाहे कार्य सर्वथा वह अर्थक्रिया की उत्पत्ति का ज्ञापक है ॥ २१२ ॥ कारणहेतु, स्वभावहेतु और कार्यहेतु—ये तीनों ही अपने साध्य के व्याप्य होने से ज्ञापक होते हैं। इन तीनों में से साधन ज्ञान को अर्थक्रिया का कोई भी हेतु क्यों न माना जाय, उसके द्वारा अर्थक्रिया ज्ञापित अवश्य होती है। कथित तीनों हेतु व्यवहार-प्रसिद्ध हैं, अतः कहा गया है कि "व्यवहारेण प्रामाण्यं ज्ञाप्यते।" स्वभाव हेतु तादात्म्यापन्न और शेष दोनों हेतु साध्य-व्यापी (साध्याविनाभूत) कहे जाते हैं।

जब तक व्याप्तिरूप सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तक प्रामाण्यसाधक अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती और प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर ही वह ज्ञान सम्बन्ध के प्रमापण में सक्षम होता है—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त हो जाता है।

शङ्का—यदि कहा जाय कि पहले जल को दूर से देखकर जो ज्ञान उत्पन्न हुआ

वार्तिकालङ्कारः

प्रसिद्धः। तत्र नार्थक्रियाज्ञानं प्रत्यक्षं सत् प्रमाणतां पूर्वस्य गृह्णाति। नापि लिङ्गभूतं सदनुमापयति। प्रत्यक्षेण प्रामाण्यस्य ग्रहणाभावाद् अतीतत्वाच्च तद्व्यक्तेः। न हि व्यक्तिं विना सामान्यं मानत्वं प्रत्येतुं शक्यमभावात् सामान्यस्य। तस्मात् प्रमाणतायां संदेहमात्रं स चार्थक्रियासम्बन्धः सन्दिग्धः। अर्थक्रियानिर्भासात् तत्र संदेहो व्यावर्त्तत एव। तदप्यसत् यतः—

संदेहमात्रव्यावृत्त्या न हि कश्चित् प्रवर्त्तते। प्रत्यक्षानिश्चयाद् वापि दृश्यते वृत्तिरर्थिनाम् ॥२१३॥
स एवार्थक्रियाभासः प्रत्यक्षमिति चेन्मतम्। प्रत्यक्षादेव मानत्वप्रतिपत्तिरितीष्यताम् ॥२१४॥
प्रत्यक्षादनुमानाद्वा संदेहोऽपि निवर्त्तते। विरुद्धस्योपलब्धेर्न विनान्यस्य निवर्त्तनम् ॥२१५॥
यदि प्रत्यक्षभावात् सा तदा नाम निवर्त्तयेत्। संदेहं तदभावोऽस्तु तदैव कथमन्यदा ॥२१६॥
तत्संदेहनिवृत्त्या च नास्त्येवात्र प्रयोजनम्। प्रवर्त्तनार्थं सेव्येत प्रवृत्तिः सा च साधिता ॥२१७॥
सर्वस्य चार्थसम्बन्धो न ज्ञानस्याक्षवीक्षितः। सामान्येन च सम्बन्धमनुमानं व्यवस्यति ॥२१८॥
न चापरा प्रमास्तीति कुतः संदेहविच्छिदः। तत उक्तं 'प्रामाण्यं व्यवहारेणे'ति ॥२१९॥

यदि तर्हि व्यवहारेण प्रामाण्यं प्रमाणलक्षणशास्त्रं तर्हि किमर्थम्। शास्त्रनि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

था—'इदं जलम्'। उसकी प्रमाणता की सिद्धि किसी अनुमान के द्वारा नहीं की जाती, अपितु उस ज्ञान के कई क्षणों के पश्चात् जलावगाहन करते समय जलीय अर्थक्रिया का जो अनुभव होता है, उसके द्वारा 'इदं जलम्'—इस ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध की जाती है। अर्थक्रिया का अनुभव अपने स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमाणित होता है। अर्थक्रिया का अनुभव प्रत्यक्ष या लिङ्ग के रूप में विगत ज्ञान की प्रमाणता का ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि उस समय पूर्वोत्पन्न 'इदं जलम्'—ऐसी ज्ञान व्यक्ति नष्ट हो चुकी होती है। व्यक्ति के बिना प्रामाण्यरूप सामान्य धर्म किसमें सिद्ध किया जायगा ? अतः प्रामाण्य का सन्देहमात्र होने से अर्थक्रिया का उसके साथ सम्बन्ध भी सन्दिग्ध ही होता है। अर्थक्रिया का अनुभव होने पर वह सन्देह निवृत्त हो जाता है।

समाधान—सन्देहमात्र की निवृत्ति हो जाने से ही कोई व्यक्ति कहीं प्रवृत्त नहीं होता। अथवा प्रत्यक्षतः विषयवस्तु का अनिश्चय रहने पर किसी की प्रवृत्ति नहीं होती ॥ २१३ ॥ यदि अर्थक्रिया के निर्भास (अनुभव) को प्रत्यक्ष मान लिया जाता है, तब प्रत्यक्ष के आधार पर ही प्रमाणता की प्रतिपत्ति माननी होगी ॥ २१४ ॥ प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा संशय भी निवृत्त हो जाता है। विरुद्ध स्वरूप की उपलब्धि के बिना संशयादि की निवृत्ति नहीं होती ॥ २१५ ॥ यदि वह (अर्थक्रिया) प्रत्यक्षत्वेन रूपेण सन्देह को निवृत्त करती है, तब स्वतः प्रमात्ववाद मानकर सन्देह का अभाव सदैव क्यों नहीं मान लिया जाता ॥ २१६ ॥ वस्तुस्थिति यह है कि सन्देह निवृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं, वह निष्प्रयोजन है। प्रवृत्ति के लिए ही सन्देह की निवृत्ति अपेक्षित थी, किन्तु सन्देह के रहने पर भी प्रवृत्ति की सिद्धि हो जाती है ॥ २१७ ॥ सूक्ष्म-स्थूलादि सभी पदार्थों का आविनाभावरूप सम्बन्ध प्रत्यक्षतः गृहीत नहीं होता, सामान्यतः सम्बन्ध ज्ञान से ही अनुमान व्यवस्थित हो जाता है। वहाँ अन्य कोई प्रमाज्ञान होता नहीं, तब सन्देह का विच्छेद किससे होगा। इसीलिए तो कहा गया है— "प्रामाण्यं व्यवहारेण" ॥२१९॥

यदि व्यवहार के द्वारा ही प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता है, तब प्रमाण-लक्षण-

वार्तिकालङ्कारः

दिष्टमपि न वचनमात्रात् तथा भवति, अपि तु व्यवहाराविसंवादेन । स चेदस्ति व्यर्थकं शास्त्रमित्याह—शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम् ।

यदि व्यवहारतः प्रमाणस्वरूपमवगम्यते । कस्मात् परस्परविरोधीनि लक्षण-शास्त्राणि । ततो व्यवहारेऽपि विमतिरेव व्यवहारिणाम् । तथाहि—

न सर्वो व्यवहारेण प्रामाण्यमवगच्छति । प्रमाणलक्षणतेन परस्परविरोधवत् ॥२२०॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणेन परलोको न गम्यते । आगमादपरः प्राहेत्यतो न व्यवहारतः ॥२२१॥

तस्माद्—

व्यवहारपरामर्शाच्छास्त्रं मोहनिवर्त्तनम् । पूर्वापरस्यास्मरणं शास्त्रेणानेन वार्यते ॥२२२॥

अतएव शास्त्रेणैव सर्वज्ञोक्तेन मोहो निवर्त्तते नान्येनेत्यनेन प्रकारेण सर्वज्ञवचन-मेव प्रमाणमिति परमार्थतः सर्वज्ञज्ञानमेव प्रमाणं नापरमिति परमार्थः ।

अन्यस्य न प्रमाणत्वं प्रमेयाव्याप्तिसम्भवात् । अव्यापिता न कार्यादिसम्बन्धस्य परिग्रहः ॥२२३॥

कार्यकारणभावो ह्यतीतानागतवर्त्तमानकालदेशव्यापिसाहचर्यरूपो न खलु सर्वज्ञ-ज्ञानस्य विषयः । वर्तमानसन्निहितदेशमात्रग्रहणात् प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तत्र चानव-तारात् । सर्वज्ञत्वं कथं ज्ञायते शास्त्रकारस्य चैदद्युत्तरमत्र वक्ष्यामः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिपादक शास्त्र की क्या आवश्यकता? शास्त्र-निर्दिष्ट पदार्थ भी वचनमात्र के आधार पर सिद्ध नहीं होता, अपितु व्यवहार की अविसंवादिता पर निर्भर है। व्यवहार का यदि अविसंवाद है, तब शास्त्र व्यर्थ क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर है—"शास्त्रं मोहनि-वर्तनम्"। आशय यह है कि यदि व्यवहारतः प्रामाण्य की अवगति मानी जाय, तब यह प्रश्न उठता है कि व्यवहार-निपुण शास्त्रकारों ने एक ही लक्ष्य पदार्थ के परस्पर विरोधी लक्षण क्यों किये? इससे यह नितान्त स्पष्ट है कि व्यवहार में भी वैमत्य है। व्यवहार से प्रामाण्य अवगति होती है—इस तथ्य में सभी वादी एकमत नहीं, क्योंकि एक ही प्रमाण वस्तु के परस्पर-विरोधी लक्षण उपलब्ध होते हैं ॥ २२० ॥ कोई कहता है कि प्रत्यक्षादि परिगणित प्रमाणों के द्वारा परलोक की अवगति नहीं होती। कोई कहता है कि अनुमान से होती है और कोई आगम से परलोक का अवगम मानता है ॥ २२१ ॥ व्यवहार पर गम्भीर विचार करने पर यह तथ्य निकलता है कि शास्त्र मोह का निवर्तक है। पूर्वापर की विस्मरणमूलक असङ्गतियों की निवृत्ति शास्त्र से होती है ॥ २२२ ॥ अतएव सर्वज्ञ (भगवान् बुद्ध) के द्वारा प्रणीत शास्त्र ही मोह का निवारक माना जाता है। सर्वज्ञ का वचन और ज्ञान ही प्रमाण है, अन्य पुरुष का न तो वचन प्रमाण है और न ज्ञान। अन्य (अल्पज्ञ) पुरुष का ज्ञान समस्त प्रमेय को व्याप्त न करने के कारण प्रमाण नहीं माना जाता। अव्यापी (व्याप्ति-रहित) हेतु के द्वारा कार्यादि साध्य धर्मों का सम्बन्ध परिगृहीत नहीं हो सकता ॥ २२३ ॥ अतीत, अनागत और वर्तमान काल एवं सर्वदेश में व्याप्त सहचाररूप कार्यकारणभाव असर्वज्ञ के ज्ञान का कभी विषय नहीं हो सकता, क्योंकि साधारण व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वर्तमान काल और सन्निहित देश तक ही सीमित होता है। उसका अनुमान भी उस सीमा को पार नहीं कर सकता। शास्त्रकार की सर्वज्ञता का ज्ञान कैसे होता है—आगे चलकर कहा जायगा।

वार्तिकालङ्कारः

(५) अज्ञातार्थप्रकाशकं प्रमाणम्, अज्ञातार्थप्रकाशो वा—

अथवेदं प्रमाणलक्षणम् । प्रकाश्यतेऽनेनेति प्रकाशः । अज्ञातस्यार्थस्य प्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम् । सांवृतन्तु ज्ञानमज्ञातस्यार्थस्य न प्रकाशकः । न हि तेन कश्चिदज्ञातोऽर्थः प्रकाश्यते । गृहीतानामेव रूपादीनामनेन पृथग्विकल्पनात् । प्रतीत्य परामर्शात् तु तदेकमिति व्यवह्रियते ।

ननु यद्यविसंवादनमन्तरेणाज्ञातप्रकाशनं प्रमाणम् । द्विचन्द्राद्याकारस्यापि प्रमाणताप्रसङ्गः । न । अर्थग्रहणादसौ हि नार्थः । नन्वर्थत्वमविसंवादे न च ज्ञायते । ततश्चाविसंवादि ज्ञानमिति तदेव लक्षणमिति कथं लक्षणान्तरम् । न । सामर्थ्याक्षिप्तस्यालक्षणत्वात् ।

उक्तसामर्थ्यतो यस्य प्रतीतिस्तन्न लक्षणम् । तथान्यस्यापि वस्तुत्वप्रभृतेर्लक्षणार्थता ॥२२४॥

लक्षणं हि यदुपात्तं साक्षात् तदेव । येन तु तल्लक्षणं साध्यते । तदपि सम्भवित्वमात्रेण न लक्षणम् । अन्यथा वस्तुत्वादिकमपि भवेत् ।

अथापि स्यात् । न वस्तुत्वं तत्रोपयोगि साक्षादन्यथा वा । अविसंवादस्तूपयोग्यर्थत्वज्ञापने ।

सत्यमेतत् । तथापि अज्ञानार्थग्रहणेन गृहीतग्राहि प्रत्ययः शक्यः परिहर्त्तुं नाविसंवादिग्रहणेन । तत्राप्यविसंवादग्रहणात् । न चाविसंवादेनार्थत्वगतिः । अविसंवादेऽपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

५. अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन प्रमाणता—

अथवा प्रमाण का लक्षण है—'अज्ञातार्थ प्रकाशः' जिसके द्वारा विषयवस्तु प्रकाशित की जाय, उसका नाम है–प्रकाश । अज्ञातार्थ का प्रकाशक ज्ञान प्रमाण होता है । सांवृत (आविद्यक या शुक्ति-रजतादि भ्रम) ज्ञान अज्ञातार्थ का प्रकाशक नहीं होता, अपितु रजतादि दृष्ट पदार्थ ही शुक्ति में कल्पित होता है । परमार्थ (व्यावहारिक) रजत से अभेदारोप करके 'इदं रजतम्'—ऐसा व्यवहार होने लगता है ।

शङ्का—[ज्ञान की प्रमाणता के लिए उसका अविसंवाद (अर्थाव्यभिचार आवश्यक है, यह कहा जा चुका है] । यदि कोई अविसंवादन के बिना ही अज्ञातार्थ-प्रकाशकता के आधार पर प्रमाण माना जाता है, तब द्विचन्द्रादि विषयक भ्रम ज्ञान में प्रमाणता प्राप्त होती है । यदि कहा जाय कि 'अज्ञातार्थ प्रकाश'–यहाँ पर 'अर्थ' पद के प्रभाव से उक्त अतिप्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि द्विचन्द्रादि अर्थ नहीं अनर्थ है, अतः अर्थप्रकाश न होने के कारण द्विचन्द्र-भ्रम में उक्त लक्षण की अतिप्रसक्ति क्यों होगी ? अर्थ और अनर्थ का ज्ञान अविसंवाद और विसंवाद पर निर्भर है, फिर तो वही पूर्वतन लक्षण (अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्) पर्यवसित क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस लक्षण के सामर्थ्य से अविसंवाद का लाभ होता है और पूर्वतन लक्षण में अविसंवाद का साक्षात् उल्लेख है । सामार्थ्याक्षिप्त कभी लक्षण नहीं माना जाता, साक्षात् उपात्त लक्षण ही सल्लक्षण है । अर्थाक्षिप्त को भी लक्षण मानने पर वस्तुत्वादि को भी लक्षण मानना होगा ॥ २२४ ॥ 'अज्ञातार्थप्रकाश' पद के द्वारा अविसंवादिज्ञान के ग्रहण की सम्भावनामात्र से लक्षणान्तर का अभिधान नहीं माना जाता, अन्यथा 'वस्तुत्वं प्रामाण्यम्'—ऐसा भी लक्षण किया जा सकता है ।

समाधान—यद्यपि 'अविसंवाद' पद के द्वारा द्विचन्द्रादि भ्रमज्ञानों में प्रामाण्य

वार्तिकालङ्कारः

संवृतिसतामर्थत्वस्यासिद्धेः । कथन्तर्ह्यर्थत्वगतिः परामर्शादिति मन्तव्यम् ।

अथवार्थशब्देनात्र परमार्थ उच्यते । अज्ञातार्थप्रकाश इति परमार्थप्रकाश इत्यर्थः । परमार्थश्चाद्वैतरूपता । तत्प्रकाशनमेव प्रमाणम् । तथा च प्रत्ययादिस्वरूपस्य स्वतोगतिरिति । उक्तञ्च—'प्रामाण्यं व्यवहारेणे'ति ।

तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् । पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य । यद्यज्ञातार्थप्रकाशकं प्रमाणं सामान्यार्थोऽप्यज्ञात एव प्रथमभाविना स्वलक्षणज्ञानेन तदुत्तरालभाविना प्रकाश्यते । तथा सम्बन्धादिरपीति तस्यापि प्रामाण्यं प्रसज्यते । न च गृहीतग्राहित्वात् स्मृतिरेवैषा । अगृहीते स्मरणाभावात् ।

न स्वलक्षणविज्ञानं सामान्यं गृह्णदीष्यते । ग्रहणादगृहीतस्य प्राप्ता सामान्यवित्प्रमा ॥२२५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

की अतिप्रसक्ति निवृत्त हो जाती है, तथापि स्मृत्यादि गृहीत-ग्राही अप्रमाण ज्ञानों में प्रामाण्य का अतिप्रसङ्ग बना ही रहता है, क्योंकि उनमें भी अविसंवाद पाया जाता है। "अज्ञातार्थप्रकाशकं प्रमाणम्"—ऐसा लक्षण करने पर स्मृत्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि स्मृत्यादि ज्ञान गृहीत-ग्राही होते हैं। ऊपर जो कहा गया है कि 'अविसंवाद' पद के द्वारा अनर्थ-निवर्तक अर्थत्व का प्रतिपादन किया गया है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि घट-पटादि सांवृतिक पदार्थों में अविसंवाद रहने पर भी अर्थत्व (परमार्थत्व) नहीं माना जाता है। अविसंवाद के द्वारा अर्थत्व का ज्ञान यदि नहीं होता, तब किससे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—'परामर्शात्'। अर्थात् 'यह परमार्थ है' या 'अबाधित है'–इस प्रकार के अध्यवसाय के द्वारा परमार्थत्व की सिद्धि होती है।

अथवा 'अज्ञातार्थप्रकाशः'—यहाँ पर 'अर्थ' शब्द के द्वारा परमार्थ का ही अभिधान किया जाता है, अतः पूरा लक्षण इस प्रकार निष्पन्न होता है—"अज्ञातपरमार्थप्रकाशः प्रमाणम्"। परमार्थ है—'अद्वैतरूपता'। [न्यायबिन्दु में स्वलक्षणतत्त्व को परमार्थसत् कहा गया है—"तदेव परमार्थसत्" (न्या० बि० १।१४)। स्वलक्षण तत्त्व विज्ञप्तिमात्रता या अद्वैततत्त्व है, अग्रिम वार्तिक-पद्य में ही इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—"अविज्ञाते स्वलक्षणे"]। ज्ञाननिष्ठ परमार्थ प्रकाशनता ही प्रमाणता है। अतः ज्ञान के स्वरूप की स्वतः गति और प्रामाण्य का ज्ञान व्यवहार से, अत एव कहा गया है–"प्रामाण्यं व्यवहारेण।" इन प्रामाण्य-लक्षणों में पारमार्थिक प्रमाण का यह (अविज्ञातार्थप्रकाशन) लक्षण है और पूर्व-प्रदर्शित (अविसंवादिज्ञानम्) व्यावहारिक प्रमाण का लक्षण है।

शङ्का—यदि अविज्ञातार्थ प्रकाशक ज्ञान को पारमार्थिक प्रमाण माना जाता है, तब वह्नित्वादि सामान्य को विषय करनेवाले अनुमान ज्ञान को भी पारमार्थिक प्रमाण मानना होगा, किन्तु वह व्यावहारिक प्रमाण ही माना जाता है। उसका विषयीभूत सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं, अतः अनुमान अविज्ञातार्थ का प्रकाशक है। व्याप्तिरूप सम्बन्धादि भी प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रकाशित ही है, अतः उनका भी ज्ञान पारमार्थिक प्रमाण हो जायगा। इन ज्ञानों को स्मृतिरूप नहीं मान सकते, क्योंकि स्मृति ज्ञान गृहीत-ग्राही होता है, अगृही-ग्राही नहीं होता। पूर्वतन प्रत्यक्ष ज्ञान केवल स्वलक्षण का ही ग्राहक होता है, सामान्यादि का नहीं, अतः सामान्यविषयिणी वित्ति (अनुमिति) में पारमार्थिक प्रमात्व प्रसक्त होता है॥ २२५ ॥

प्राप्तं सामान्यविज्ञानम्, अविज्ञाते स्वलक्षणे ।
यज्ज्ञानमित्यभिप्रायात् स्वलक्षणविचारतः ॥ ८ ॥

यदि अगृहीत विषय के ग्राहक ज्ञान को प्रमाण माना जाता है, तब अगृहीत सामान्य का ग्राहक अनुमान ज्ञान भी प्रमाण प्राप्त होता है [केवल इतना ही नहीं शुक्ति-रजतादि-ज्ञानों में भी प्रमाणता प्रसक्त होती है]। यदि "अगृहीतार्थ-ग्राहकं ज्ञानं प्रमाणम्" इतना ही प्रमाण का लक्षण किया जाता, तब अवश्य ही उक्त अतिप्रसक्ति होती है किन्तु प्रमाण का पूरा लक्षण है—"अगृहीतस्वलक्षणविषयकं ज्ञानं प्रमाणम्"। 'शब्दोऽनित्यः' इत्यादि अनुमान ज्ञान भी अगृहीत शब्द-स्वलक्षण को ही अनित्यत्वेन ग्रहण करने के कारण प्रमाण माना जाता है। स्वलक्षणतत्त्व की अज्ञातता को इतना महत्त्व क्यों ? इसका उत्तर है—"विचारतः" अर्थात् इस प्रमाण शास्त्र में विशेषरूप से स्वलक्षण का विचार किया गया है। अर्थक्रियाकारिता स्वलक्षण में ही मानी जाती है ॥ ८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तदेवाह—स्वरूपाधिगतेः परम् ।

प्रमाणमिति सम्बन्धार्थः। स्वसंवेदनेन च सामान्यं ज्ञानात्मभूतं प्रतीयत इत्यत्राविवाद एव। ततो यदि परभूतं ज्ञानात् सामान्यमर्थाभूतम्। सर्वथा तज्ज्ञानं प्राप्तम्। न। अत्रोच्यते—अविज्ञाते स्वलक्षणे।

सत्यप्यगृहीतग्रहणे साऽन्यज्ञानस्य न प्रमाणता। किङ्कारणम्। 'अविज्ञाते स्वलक्षणे'। यज्ज्ञानं तदेव प्रमाणमभिप्रेत न सामान्येऽपि। अज्ञातसामान्यज्ञानं न प्रमाणम्। अपि त्वज्ञातस्वलक्षणज्ञानम्। कुत एतत्, स्वलक्षणविचारतः। अस्ति नास्तीति वा व्यवस्थापनार्थं प्रमाणं प्रेक्षावतापेक्ष्यते। चास्तिनास्तीति वा विचारः स्वलक्षणस्यैव न सामान्यस्य तत्र पुरुषाणामनादरात्। यत्र च विचारणा तत्र तदुत्तर-

---

वार्तिकालङ्कार व्याख्या

यही शङ्का वार्तिककार उठा रहे हैं—"प्राप्तं सामान्यविज्ञानम्"। इसके आगे 'प्राणम्'—ऐसा अपनी ओर से जोड़ कर शङ्का ग्रन्थ का अर्थ कर देना चाहिए कि—यदि प्रमाण का अविज्ञातार्थप्रकाशन लक्षण किया जाता है, तब सामान्यविषयक ज्ञान भी प्रमाण हो जायगा। सामान्य पदार्थ अपने ज्ञान से अभिन्न है, अतः वह स्वसंवेदन के द्वारा प्रतीत होता है—यह निर्विवाद-सिद्ध है। यदि सामान्य तत्त्व अपने ज्ञान से भिन्न है, तब भी अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान होगा, सर्वथा उसका ज्ञान प्राप्त है।

समाधान—"अज्ञातार्थज्ञापकं ज्ञानं प्रमाणम्"—इतना ही प्रमाण का लक्षण नहीं, अपितु "अज्ञातस्वलक्षणविषयकं ज्ञानं प्रमाणम्"—ऐसा लक्षण विवक्षित है, अतः सामान्यविषयक ज्ञान अगृहीत-ग्रहण होने पर भी प्रमाण नहीं कहला सकता। इसका क्या कारण ? कारण यह है कि वह ज्ञान स्वलक्षणविषयक न होकर सामान्यविषयक है। आशय यह है कि यहाँ स्वलक्षण तत्त्व ही विचारणीय है, प्रक्रान्त है। समीक्षक विद्वानों को विचारणीय विषयवस्तु की सत्ता-असत्ता व्यवस्थित करने के लिए प्रमाण की अपेक्षा होती है। प्रकृत में अस्ति-नास्ति का विचार एकमात्र स्वलक्षण विषय है, सामान्य लक्षण नहीं, क्योंकि सामान्य लक्षण में पुरुषों का विशेष आदर नहीं। अथवा स्वलक्षणतत्त्व ही अर्थ-क्रियाकारी होता है, सामान्य लक्षण नहीं। सामान्य लक्षण की विचारणा से कोई लाभ नहीं, स्वलक्षण स्वरूप विचार के अनन्तर विशेष रूप में

वार्तिकालङ्कारः

कालं तत्स्वभावं वा प्रत्यते प्रमाणमिति न सामान्ये वृत्तिः प्रमाणस्येति न तत्र प्रमाणम् । अथ सामान्यानवबोधे कथं तदेवेदमिति ज्ञात्वाप्र वर्तते । न । सामान्यानवबोधेऽप्यत्यन्ताभ्यासात् प्रवर्त्तनात । अथ तत्रापि सामान्यमेव प्रवर्त्तकम् । अज्ञातस्य प्रवर्त्तकत्वाज्ञानात् । ज्ञानेऽपि तस्य यदि स्वलक्षण न ज्ञायते न प्रवर्त्तते । स्वलक्षणज्ञाने तु सामान्यापरिच्छेदेऽप्यभ्यासात् । ततस्तत्राप्रवर्त्तकत्वात् तदुन्मुखत्वाभावाच्च न सामान्ये ज्ञानं प्रमाणम् ।

भवतु वा प्रवर्त्तकत्वम्, तथापि तदुन्मुखत्वाभावान्नतत्र प्रमाणम् । स्वसंवेदनेन तु ग्रहणे स्वलक्षणमेव तदिति स्वलक्षणविषयमेव प्रमाणम् । यदा तु पुनरद्वैतं तदा न सामान्यम् । तत्र च स्वलक्षणप्रतिपत्तेरूर्ध्वम् अन्यद्वेति व्यपदेश. ।

'अवित्' न विद्यते विदस्यति अवित् । क्व ज्ञाते स्वलक्षणे तज्जानमिति । न खलु पूर्वोत्तरभावे प्रमाणं येन स्वलक्षणज्ञानादुत्तरकालमेतदिति विलक्षणता वा प्रतीयते । स्वलक्षणमेवात्र सर्वत्र ज्ञाने प्रतीयते । न च भेद इति ।

किमर्थंर्न्तर्हि प्रत्यक्षानुमानभेदो बाह्यविज्ञानभेदश्च भगवता निर्दिष्टः । संक्लेशव्य-

वार्तिकालङ्कार व्याख्या

निखरता है, जिससे मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति-निवृत्ति में पूर्ण सहयोग मिलता है । इसी लिए सामान्य लक्षण में प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं होती ।

यदि प्रमाण की प्रवृत्ति सामान्य (समान पदार्थों के धर्म) की सिद्धि में नहीं होती, तब पदार्थों की समानता (समानरूपता) के आधार पर जो 'तदेवेदम्'—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है, वह कैसे ? और उसके द्वारा प्रवृत्ति क्योंकर होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सामान्य पदार्थ का ज्ञान न रहने पर भी पूर्वाभ्यास के द्वारा प्रवृत्ति हो जाती है । यदि वहाँ भी सामान्य पदार्थ को ही प्रवर्तक माना जाता है, तब अज्ञात सामान्य तो प्रवर्तक हो नहीं सकता । ज्ञात सामान्य पक्ष में भी जब तक स्वलक्षण का ज्ञान न हो, तब तक प्रवृत्ति नहीं होती । स्वलक्षण का ज्ञान यदि है, तब सामान्य लक्षण का ज्ञान होने पर भी अभ्यास के आधार पर प्रवृत्ति हो जाती है । फलतः ऐसे स्थल पर प्रवर्तक न होने के कारण सामान्य ज्ञान प्रमाण क्योंकर होगा ? यदि सामान्यज्ञान को प्रवर्तक मान भी लिया जाय, तब भी सामान्योन्मुखता किसी की प्रवृत्ति होती, अपितु विशेषोन्मुख ही होती है, अतः सामान्य-ज्ञान को प्रमाण नहीं मान सकते । स्वसंवेदन के द्वारा ग्रहण मानने पर वह स्वलक्षणरूप ही होता है, फलतः स्वलक्षण विषयक ज्ञान ही प्रमाण है । अद्वैतवाद में तो "सामान्यलक्षणमन्यत् स्वलक्षण-मन्यत्"—ऐसा शब्द-प्रयोग भी नहीं हो सकता ।

'अवित्' पद का अर्थ है—'न विद् अस्य' अर्थात् अविज्ञात । स्वलक्षण का ज्ञान हो जाने के अनन्तर ही सामान्यलक्षण का ज्ञान होता है—ऐसा पौर्वापर्य कहाँ निश्चित किया गया है ? अर्थात् सामान्यलक्षण सामाभ्यलक्षण के ज्ञान में अज्ञातस्वलक्षण का भान नहीं होता—ऐसे कथन में कोई प्रमाण नहीं । अतः अज्ञात स्वलक्षण ही अनुमानादिज्ञानों में प्रतीत होता है, उसका भेद नहीं । यदि अनुमान ज्ञान में प्रत्यक्ष के समान अज्ञात स्वलक्षण का ही भान होता है, तब प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद एवं बाह्य विज्ञान का भेद भगवान् ने क्यों निर्दिष्ट किया ? इस प्रश्न का उत्तर है—'अभिप्रायात्' अर्थात् अनुमान ज्ञान अविसंवादी होने के कारण प्रमाण माना गया है । बाह्य विज्ञान-

तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये ।
भूतोक्तिः साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता ॥ ९ ॥

अविसंवादितार्थबोधकत्व और अज्ञातार्थप्रकाशकत्वरूप द्विविध प्रमाणता से युक्त

वार्तिकालङ्कारः

वदाने चेत्याह—'अभिप्रायात्' अविसंवादाच्च । विनेयज्ञानाभिप्रायात् तमपेक्ष्य स्वसंवेदनमेवैकं प्रत्यक्षं प्रमाणं नापरम्, प्रपञ्चविनेयानुरोधात् । यथा यथा विनेयानां तत्त्वमार्गानुप्रवेशः सम्भवी तथा तथा भगवतो देशनेति न विरोधः । कुत एतत् 'स्वलक्षणविचारतः । विचार्यमाणं हि सकलमेव विशीर्यते । नाद्वैतादपरन्तत्त्वमस्ति । तदेव क्रमेण भगवता विचार्यते । अक्रमेण विचारयितुमशक्यत्वात् ।

(६) भगवतः प्रामाण्यम्—

अथ बहिर्विपरिवर्तमानस्य कथं स्वसंवेदनता । नैतदस्ति ।

बहिरन्तरिति ज्ञानं देशकालाद्यपेक्षणात् । स्वरूपव्यतिरेकेण देशकालावसङ्गतौ ॥२२६॥

एतच्च पश्चाद् दर्शयिष्यते ।

भगवतस्तर्हि कथं प्रामाण्यम् । प्रत्यक्षानुमयोर्हि व्यवहारमात्रेण प्रामाण्यम्, न भगवतः, तद्धि परं प्रमाणम् । अत्रोच्यते—तद्वत् प्रमाणं भगवान् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वासना-वासित विनेयों (शिष्यों) की अपेक्षा को ध्यान में रख कर भगवान् ने अनुमान को भी प्रमाण मान लिया है । वस्तुतः स्वसंवेदनात्मक एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं । अनुमानादि प्रपञ्च शिष्यों के अनुरोध पर किया गया है । जिस-जिस मार्ग से अधिकारी जनों का तत्त्व-मार्ग में अनुप्रवेश हो सके वही कल्प भगवान् अपनाते गये हैं, अतः किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता [वैदिक अद्वैतवादियों ने भी इस तथ्य का दर्शन किया था—

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वीत्याचार्यभाषितम् । (पञ्चद-८।७३)] ।

अनुमान के विषयीभूत सामान्यलक्षण पर विश्वास क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"स्वलक्षणविचारतः" । विचार या तर्क एक ऐसा संहारक अस्त्र है, जिसका प्रयोग करने पर काल्पनिक विषयवस्तु बिखर कर रह जाती है, एकमात्र स्वलक्षणतत्त्व ही अर्थक्रियार्थी विचारकों के हाथ लगता है । अद्वैततत्त्व से भिन्न अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं । उसी अद्वैत तत्त्व का विचार भगवान् (बुद्ध) कर रहे हैं । किसी वस्तु अक्रमेण (युगपत्) विचार सम्भव नहीं ।

६. भगवान् (बुद्ध) की प्रमाणता—

वस्तु का स्वलक्षणतत्त्व विज्ञान से बाहर है, अतः उसका स्वसंवेदन क्योंकर होगा ? ऐसा प्रश्न नहीं कर सकते, क्योंकि बाह्यतंत्र और अन्तरता का व्यवहार देश-काल की अपेक्षा से होता है । स्वलक्षण विज्ञान का स्वरूप है, उसमें देश-काल सङ्गत नहीं होते ॥ २२६ ॥

शङ्का—भगवान् में प्रमाणता कैसे ? प्रत्यक्ष और अनुमान में तो व्यवहारतः प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, भगवान् में नहीं ।

समाधान—"तद्वत् प्रमाणं भगवान्" । अर्थात् संवादी या अज्ञातार्थविषयक आर्य-

होने के कारण भगवान् बुद्ध प्रमाण माने जाते हैं, क्योंकि उनके द्वारा उपदिष्ट दुःखादि-रूप चार आर्यसत्य अविसंवादी और प्रमाणान्तर से अज्ञात हैं। नमस्कार-श्लोक में भगवान् के लिए जो प्रमाणभूताय कहा गया है, वहाँ भूतपद का ग्रहण अभूत (ईश्वरादि नित्य) के निवृत्ति के लिए किया गया है अर्थात् ईश्वरादि नित्य पदार्थों को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमाणता सदैव साधन-सापेक्ष (जन्य) ही होती है। बुद्ध की प्रमाणता में तायित्वादि साधनों का निर्देश किया जायगा ॥ ९ ॥

नित्यं प्रमाणं नैवास्ति प्रामाण्याद् वस्तुसद्गतेः ।
ज्ञेयानित्यतया तस्या अध्रौव्यात् क्रमजन्मनाम् ॥ १० ॥

वार्तिकालङ्कारः

तथागतो हि भगवान्। तद्वानिति कृत्वा प्रत्यक्षरूप एव भगवान् प्रमाणं पश्चात् प्रतिपादयिष्यते। कुत एतत् प्रतीयते। तदाह—अभूतविनिवृत्तये।

भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थम। यतस्तस्य भगवतो 'भूतोक्ति'स्ततः स एव सर्वज्ञो नापरस्तथा च प्रमाणम्। आह च—'साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता'। भगवत एव न वेदस्य। वेदस्य हि न किञ्चिदर्थसम्बन्धे प्रमाणम्। अस्य तु भूतोक्तिरेव प्रमाणं प्रमाणविषये। अन्यत्र तु वक्ष्यामः।

अथवा परमार्थतस्तद्वदद्वैतावबोधादेव प्रमाणं भगवानपि न सर्वार्थपरिज्ञानतः। सर्वार्थपरिज्ञानन्तु लोकव्यवहारेण सांवृतमेव। तथा चोक्तं 'अद्वयं यानमुत्तमम्'।

(७) ईश्वरादेरप्रामाण्यम्—

(१) नित्यानित्ययोरप्रमाणता

ननु यदि प्रत्यक्षानुमानयोरप्रमाणत्वात् सर्वज्ञ एव प्रमाणं तदा नित्य एवेश्वरादिको ज्ञाता प्रमाणम्। वेदो वा नित्यः प्रमाणम्। ततः किमन्यान्वेषणेनेत्याह—नित्यं प्रमाणन्नैवास्ति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सत्य का ज्ञान रखने के कारण भगवान् तथागत प्रमाणभूत हैं। भगवान्प्रत्यक्षरूप प्रमाण हैं—यह आगे चल कर कहा जायगा।

भगवान् को प्रमाण क्यों कहा गया? इस प्रश्न का उत्तर है—"अभूतविनिवृत्तये"। अर्थात् भ्रान्ति निवृत्त करने के लिए भगवान् को प्रमाण कहा गया है। भगवान् की उक्ति (उपदेश) सत्यार्थक है, अतः वह ही सर्वज्ञ है, अन्य नहीं, इस प्रकार भगवान् प्रमाण है। प्रमाणता स्वतः नहीं, परतः (साधन-सापेक्ष) मानी जाती है, अतः बुद्ध की प्रमाणता जिस साधन से सिद्ध है, वह साधन वेद में न होने से वेद प्रमाण नहीं हो सकता। शब्द का बाह्य अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं—यह विगत पृ० १३ पर कहा जा चुका है। बुद्ध की सत्यार्थोक्ति ही सर्वज्ञता में प्रमाण है। बुद्ध की प्रमाणता में प्रमाण कहा जायगा।

अथवा परमार्थतः अद्वैतावबोध से युक्त होने के कारण भगवान् भी उक्त बोध के समान ही प्रमाण हैं, सर्वज्ञता के कारण नहीं, क्योंकि सर्वार्थ परिज्ञान भी लोकव्यवहारानुरूप सांवृत ही है, जैसा कि कहा गया है—"अद्वयं ज्ञानमुत्तमम्"।

७ ईश्वरादि की अप्रमाणता—

शङ्का—यदि प्रत्यक्ष और अनुमान मुख्य प्रमाण नहीं, अपितु कोई सर्वज्ञ ही प्रमाण हैं, तब नित्य ईश्वर सर्वज्ञ होने से प्रमाणसिद्ध होता है अथवा नित्य वेद प्रमाण हो जाता है, अन्य (बुद्धादि) को प्रमाण मनाने की क्या आवश्यकता?

समाधान—"नित्यं प्रमाणं नैवास्ति"। अर्थात् उत्पत्ति-रहित नित्य पदार्थ की

नित्य पदार्थों को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमाणता में सद्रूप (अर्थक्रियाकारी) पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा है और ज्ञेय पदार्थों के अनित्य होने के कारण ज्ञान भी अनित्य होता है। जिस ज्ञेय से जन्य ज्ञान क्रमजन्मी अर्थात् युगपत् न होकर क्रमशः उत्पन्न होते हैं, उस ज्ञेय पदार्थ को नित्य नहीं कहा जा सकता ॥१०॥

वार्तिकालङ्कारः

नित्यादुत्पत्तिविश्लेषादपेक्षाया अयोगः। न खलु सदा स्थायि नित्यं प्रमाणमस्ति प्रमाणाभावात्। किञ्च, वस्तुसतो गतिः प्रमाणं न यस्य कस्यचित्। न च वस्तु सर्वदा विद्यते। येन गतेः सर्वदा भावः। ततो ज्ञेयानित्यतया तस्या अपि अध्रौव्यम्।

ननु ज्ञेयानित्यतया ज्ञानमनित्यमिति कुतः। ज्ञेयरूपे व्यापारो वा प्रमाणत्वं ज्ञेयरूपादुत्पत्तिस्तत्स्वभावता वेति न पक्षान्तरसम्भवः। अत्र व्यापृतस्याव्यापृतस्य वा यदि न विशेषः कथं व्यापारेतरविवेकः।

अथ दर्पणस्थानीयं तद् यो य एवार्थः सन्निहितः स एव प्रतिभातीति चेत्। अर्थ एव तर्हि स्वसामग्रीतस्तथा भवति न ज्ञातुर्व्यापारः।

अथ निश्चलोन्मिषितलोचनोऽपि समापततोऽर्थान् क्रमेण पश्यति। न कदाचिदपरापरविलक्षणव्यापाररूपता परोपलक्ष्यते, तथा तस्यापि। अत्रोच्यते—

व्यापारश्चक्षुषस्तत्राप्यन्वयव्यतिरेकतः। नान्वयव्यतिरेकित्वं स्थाणोर्नित्यस्य विद्यते ॥२२७॥

तस्मादर्थ एवायम्भूतो नास्य ग्रहणे व्यापारः कस्यचिदिति कथं प्रमाणम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अपेक्षा ही नहीं, क्योंकि सदातन (स्थायी) नित्य वस्तु प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि उसके प्रमाण होने में कोई प्रमाण नहीं। दूसरी बात यह भी है कि सत् (अर्थक्रियाकारी) वस्तु से जनित गति (ज्ञान) ही प्रमाण होता है, जैसे-तैसे पदार्थ का ज्ञान प्रमाण नही माना जाता। अर्थक्रियाकारी सर्वदा नहीं रहती कि उसका ज्ञान भी सदा रह जाता। ज्ञेय (प्रमेय) वस्तु के अनित्य होने से उसका ज्ञान भी अध्रुव (अनित्य) होता है। ज्ञेय के अनित्य होने से उसका ज्ञान भी अनित्य होता है—ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रमा की करणता का नाम प्रमाणता है, करणता तीन प्रकार की होती है—(१) कुठार का काष्ठ पर उद्यमान-निपातनरूप व्यापार कुठारगत करणता, (२) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पत्ति ज्ञानगत करणता, अथवा (३) ज्ञानस्वरूप अर्थ-सादृश्यात्मक करणता ज्ञान की। इनसे अतिरिक्त कोई और पक्ष करणता का सम्भव नहीं। यहाँ यदि व्यापृत (उद्यमन-निपातन-युक्त) और अव्यापृत (उद्यमनादि-रहित) कुठार में कोई अन्तर नहीं, तब व्यापार और अव्यापार का विवेक क्योंकर होगा?

शङ्का—यदि ज्ञान दर्पण के स्थान पर है, जो-जो पदार्थ उसके सन्निहित होता है, वही-वही पदार्थ प्रतिविम्बित या प्रतिभात होता है—ऐसा माना जाता है, तब विषयवस्तु ही अपनी सामग्री से प्रतिभात हो जाता है, वहाँ ज्ञाता पुरुष का व्यापार अपेक्षित नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ निश्चल (निर्व्यापार व्यक्ति आँख खोल कर विभिन्न पदार्थों को क्रमशः देखता है 'वहाँ उससे भिन्न और कोई व्यापार प्रतीत नहीं होता, वैसे ही प्रकृत में भी व्यापारान्तर की अपेक्षा क्यों होगी?

समाधान—वहाँ पर भी अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर चक्षु का व्यापार सिद्ध होता है, वह व्यापार किसी स्थायी नित्य पदार्थ का नहीं हो सकता ॥ २२७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथ सोऽर्थो भवतु प्रमाणं स तु तत्सम्बन्धीति तेन ज्ञात उच्यते। नैतदुपपन्नं यतः-

सम्बन्धोऽन्वयपूर्वेण व्यतिरेकेण सिध्यति। नित्यस्याव्यतिरेकस्य कुतः सम्बन्धसम्भवः ॥२२८॥

न खलु नित्यमव्यतिरेकं क्वचिदुपयोगीति शक्यं विज्ञातुम्। अथ तेन दर्शनादुपयोगः। न तु तदेवेदं परिचोदितं' कथन्तेनेति। तस्मिन् सति तथाभूतमिति तेनेत्युच्यते आकाशादिष्वपि तदिति कथं स एव द्रष्टा। आकाशस्य तदर्थनिर्देशाभावात् स एव द्रष्टा नाकाशादिः।

निर्देशो वचनं तस्मादेतदेव कुतो मतम्। सर्वथाऽव्यतिरेके च कारणत्वं न बध्यते ॥२२९॥

अतीतानागतो योऽर्थः स कथं प्रतिभासते। अतीतत्वेन विज्ञानमित्यतीतं कथम्भवेत् ॥२३०॥

न च दर्पणसंक्रान्तिरतीतादेः कथन्न च। प्रतिभासस्तथाभूतो दर्प्पणे सति सम्भवी ॥२३१॥

प्रतिभासो न नित्यस्य कार्यमित्युदितं पुरः। आकाशादेरपि प्राप्तं तदर्थग्रहणन्न किम् ॥२३२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नित्य पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है कि उसका किसी वस्तु के ग्रहण में व्यापार सम्भव नहीं, तब वह प्रमाण क्योंकर होगा ?

शङ्का—नित्यज्ञानवान् ईश्वर का ज्ञान भी प्रमाण है। यद्यपि वह विषय से जनित नहीं, तथापि विषय-सम्बन्धी अवश्य है।

समाधान—वैसी शङ्का भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक से ही सिद्ध होता है, नित्य पदार्थ का व्यतिरेक (अभाव) होता नहीं ? तब उसका विषय के साथ सम्बन्ध क्योंकर सिद्ध होगा ? ॥ २२८ ॥ नित्य पदार्थ का कहीं व्यतिरेक नहीं, अतः वह कहीं उपयोगी होता है—ऐसा नहीं जाना जा सकता।

शङ्का—शब्द नित्य है, क्योंकि उसके द्वारा उत्पन्न ज्ञान श्रोता पुरुष को होता है, अतः शब्द यदि उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, तब वह दूरस्थ व्यक्ति के श्रोत्रों तक कैसे पहुँचेगा ? और अर्थ-बोध करायेगा ? इसी आशय से महर्षि जैमिनि ने सूत्र बनाया है—"नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्" (जै० सू० १।१।१८)। इसी प्रकार नित्य और सर्वज्ञ ईश्वर ने दर्शन (ईक्षण) किया—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" (छां० उ० ६।२।३) नित्य तत्त्व में ही 'तदेवेद' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वही द्रष्टा ज्ञाता भोक्ता होता है। नित्य तो आकाश भी है, वह द्रष्टा क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आकाश दृष्ट अर्थ का निर्देश नहीं कर सकता और ईश्वर निर्देश करता है।

समाधान—निर्देश नाम है वचन-प्रयोग का। नित्य ईश्वर में वचन-हेतुत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नित्य पदार्थ का कहीं व्यतिरेक (अभाव) न होने से वचनादि के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक क्योंकर होगा ? अन्वय-व्यतिरेक के बिना वचनादि की करणता नित्य पदार्थ में अध्यवसित नहीं होती ॥ २२९ ॥ अतीत और अनागत पदार्थों का ज्ञान ईश्वर को क्योंकर होगा ? अतीतत्वेन उसका भान मानने पर वह अतीत क्योंकर होगा ? ॥ २३० ॥ ज्ञान दर्पण के स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है दर्पण में अतीत और अनागत विषय का भी प्रतिबिम्बित नहीं होता। दर्पण के विद्यमान होने पर भी असद्भूत वस्तु का उसमें प्रतिभास सम्भव नहीं ॥२३१॥ ईश्वर नित्य है, उसका ज्ञान भी नित्य है। नित्य ज्ञान में विषय का प्रतिभास नित्य का कार्य नहीं हो सकता—यह पहले ही कहा जा चुका है। आकाश भी नित्य है, अतः उसमें भी विषय-

नित्यादुत्पत्तिविश्लेषादपेक्षाया अयोगता ।
कथंचिन्नोपकार्यत्वादनित्येऽप्यप्रमाणता ॥ ११ ॥

नित्य ईश्वर से ज्ञान की उत्पत्ति युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि वह सर्वथा समर्थ है, अतः समस्त एक काल में उत्पन्न कर देगा । सहायक सामग्री की अपेक्षा भी क्रमशः ज्ञान

वार्तिकालङ्कारः

सर्वार्थदर्शने तस्य वचसोऽर्थः क उच्यते । तदनन्तरभावित्वं नियतं चेन्न गम्यते ॥२३३॥
सर्वार्थदर्शनायातः शब्दः सर्वस्य वाचकः । विवक्षानियमो नाम न नित्यस्योपपत्तिमान् ॥२३४॥
विवक्षास्ताः पृथग्भूता दर्शनानि तथा पृथक् । कनैकता भवद् द्रष्टुः प्रमाणं स च वः कथम् ॥२३५॥
विवक्षितस्य दृश्यस्य स एव ग्राहको यदि । विवक्षिततदन्यस्य कथमेकत उद्ग्रहः ॥२३६॥
प्रत्यक्षानुमयोरेवमेकता केन नोच्यते । परमार्थत एकत्वं तयोरपि मतं यदि ॥२३७॥
क्रमेण युगपद् वापि न भेदोऽस्ति तयोरपि । क्रमेणैवैकरूपत्वं प्रमाणेन प्रतीयते ॥२३८॥
तेनान्येन च यद् वस्तु ज्ञात्रैकत्वे न मीयते । तदेकमिति किं सत्यमसत्यत्वे वृथा वचः ॥२३९॥
अथापि स स्वयं ज्ञात्रा सर्वथात्मावगम्यते । केनैव गम्यतामेवमिति वाङ्मात्रमेव सः ॥२४०॥
न स्वसंवेदनादन्यदिति पूर्वं प्रसाधितम् । ततो न परमार्थोऽसावीश्वरो नापि संवृतिः ॥२४१॥

अथापि स्याद् यद्यपि ज्ञानं ज्ञेयानित्यतया वा नित्यं यस्तु ज्ञाता स नित्यः । न चान्यस्यानित्यत्वेऽन्यस्यापि तदिति युक्तमुच्यते । क्रमजन्मनो ज्ञानस्य ज्ञेयानित्यत्वेन ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ग्राहकता प्रयुक्त क्यों नहीं होती है ॥ २३२ ॥ यदि ईश्वर सर्वार्थदर्शी है, तब उसके वचन का अर्थ क्या होगा ? जिस वस्तु के ज्ञान के अनन्तर जो शब्द-प्रयोग होता है, उस शब्द का वही अर्थ है—ऐसा नियम प्रतीत नहीं होता ॥ २३३ ॥ सर्वार्थ दर्शन से जनित शब्द सर्वार्थक होगा । विवक्षा का नियम नित्य ईश्वर के लिए उपपन्न नहीं होता ॥ २३४ ॥ प्रत्येक शब्द की विवक्षा भिन्न और उसके अर्थ का दर्शन भिन्न है, तब द्रष्टा की अनेकता क्यों नहीं ? फिर वह आपका प्रमाण भून कैसे ? ॥ २३५ ॥ यदि विवक्षित विषय का ही वह ग्राहक है, तब विवक्षिताविवक्षित समस्त पदार्थों का एक ज्ञाता वह क्योंकर होगा ? ॥ २३६ ॥ यदि ईश्वर का एक ही ज्ञान सन्निहितासन्निहित समस्त विषयों का ग्राहक है, तब प्रत्यक्ष और अनुमान—दोनों ज्ञानों का एकता सिद्ध होती है । यदि उन दोनों की भी परमार्थत, एकता ही है, तब किसी एक दर्शन ने भी उन दोनों की एकता का समर्थन क्यों नहीं किया ? ॥ २३७ ॥ प्रत्यक्ष में अनुमान का भेद, उस भेद का भेद—इस प्रकार भेद-परम्परा न क्रमशः रह सकती है और न युगपत् । वैसे ही अनुमान में प्रत्यक्ष-भेद-परम्परा नहीं रह सकती । क्रमशः विन्यस्त भेदों में एकरूपता ही भेद-ग्राहक प्रमाण से प्रमाणित होती है ॥ २३८ ॥ जिस ज्ञाता पुरुष को ईश्वरगत एकत्व का प्रमा-बोध उत्पन्न नहीं हुआ, उसका 'एक एवेश्वरः' ऐसा कहना क्या सत्य है ? यदि असत्य है, तब उसका वचन मिथ्या है ॥ २३९ ॥ प्रत्येक ज्ञाता पुरुष स्वात्मा को जानता है, परमात्मा को नहीं, तब अज्ञात ईश्वर का प्रतिपादन वाङ्मात्र है ॥ २४० ॥ स्वसंवेदन ज्ञान से अन्य (अपने से भिन्न) तत्त्व का नहीं होता—यह पहले ही कहा जा चुका है, फलतः ईश्वर न परमार्थसिद्ध होता है और न सांवृतिक ॥ २४१ ॥

शङ्का—यद्यपि ज्ञेय वस्तु की अनित्यता होने के कारण ज्ञान अनित्य है । तथापि जो ज्ञाता है, वह नित्य है, अन्य के अनित्य होने से अन्य पदार्थ अनित्य नहीं हो सकता ।

उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि ईश्वर पद्मपलाश के समान निर्लिप्त है, सहायक सामग्री से उपकृत नहीं हो सकता। ईश्वर को अनित्य मानने पर भी उसमें प्रमाणता सम्भव नहीं ॥ ११ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नित्यादुत्पत्तेरयोगात्। नित्यं व्यापि चाकाशकल्पं न कस्यचित् कारणमिति प्रतिपादितम्। तेनैव च स्वरूपेण यदि जनयति सर्वदा जनयेद् विशेषाभावात्। विशेषे चानित्यत्वम्।

अथाविशेषेऽपि सहकारिभावाभ्यां कार्यस्य क्रम इति चेत्, न अपेक्षाया उपयोगात्। यदि सहकारिणामेवान्वयव्यतिरेकित्वं तेषामेव कारणत्वन्न तु तस्य। तस्यापि तदपेक्षया कारणत्वमिति न युक्तम्। अपेक्षमाणस्य तदितरावस्थयोर्विशेषाभावात्। अपेक्षकत्वं न प्रतीयते स्वयमपरेण वेति वचनमात्राद् यदि परमेतत् प्रत्येयम्। अत एवाह—अपेक्षाया अयोगतः। नित्यं हि सदैकरूपमपेक्ष्यमाणेनोपकर्तुं न शक्यम्। न हि तत्रानुपकारिणस्तेनापेक्ष्यताम्। एवर्न्तहि अनित्यं भविष्यति प्रमाणं न तु दानादिसाधनापेक्षम्। वैराग्यैश्वर्ययोगस्य पूर्वपूर्वसजातिकारणादुत्पत्तेर्न तत् कदाचिदन्यथाभूत सदन्यथोत्पत्तिमत्। अत्रोच्यते—कथञ्चिन्नोपकार्यत्वाद्। अनित्येऽपीश्वरेनास्ति प्रमाणता, न तत् प्रमाणम्। कुत एतत्, 'कथञ्चिन्नोपकार्यत्वात्'। यो हि कथञ्चित् केनचिदुपक्रियते उपहन्यते वा। तस्य रागाद्यनुभवे रागादिप्रतिपक्षाववोधादिसम्भवे तद्देशना। सत्त्वस्नेहेन करुणया च देशनासम्भवात् प्रमाणन्तद् भवति लोकस्य, न स्वरूपसत्तामात्रात्। न च तस्येयं व्युत्पत्तिः न ह्यखण्डितः पण्डितो भवति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—नित्य पदार्थ से किसी को उत्पत्ति का विश्लेष (अभाव) है। आशय यह है कि नित्य पदार्थ आकाश के समान किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता—यह सिद्ध किया जा चुका है। नित्य वस्तु यदि किसी कार्य को जन्म देती है, तब सदैव ही जन्म देती रहेगी। यदि उसमें कोई विशेषता का आधान किया जाता है, तब वह नित्य न रह कर अनित्य हो जाती है।

शङ्का—विशेषता का आधान न करने पर भी सहकारी सामग्री के भावाभाव पर कार्यों का क्रम बन जाता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि सहकारी के आधार पर ही सब व्यवस्था हो जाती है, तब नित्य ईश्वर की क्या आवश्यकता ? सहकारिसापेक्ष ईश्वर कारण है—ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान—ईश्वर निरपेक्ष है, उसमें अपेक्षणीय सामग्री के सम्बन्ध से कोई विशेषता नहीं आ सकती—"अपेक्षाया अयोगतः"।

ईश्वर को अनित्य मान लेने पर भी उसमें प्रमाणता (जगत्कारणतादि) की सिद्धि नहीं की जा सकती। ईश्वर सहकारी सामग्री से उपकृत होकर क्रमशः कार्यकारी होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शाणादि के द्वारा कुठार की धार जैसे तेज की जाती है, वैसे ईश्वर में कुछ नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो पदार्थ सहकारी कारणों के द्वारा सक्षम या अक्षम किया जा सकता है, वहाँ ही सहकारी सामग्री सफल होती है, किन्तु ईश्वर में वह निष्फल है। राग-द्वेषादि का अनुभव कर राग-द्वेषादि की निवृत्ति के लिए उसकी प्रतिपक्ष-भावनाओं (विरोधिभावनाओं) का उपदेश कर सकना जैसा कि कहा गया है-"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्" (यो. सू. २।१।३३)। दुःखी जीवों पर स्नेह

वार्तिकालङ्कारः

अथ स्वभावासिद्धिन्तस्य सकलपरिज्ञानम्। अयुक्तमेतत्। रागादीनामननुभवे कथं संसारप्रपंचस्वलक्षणावबोधः। अनुभवे संसार्येवासाविति कथं प्रमाणता। न रागाद्यवबोधादेव रागादिप्रपंचप्रतिपक्षदेशना रागादियोग एव सर्वज्ञता अविनाशिताऽतुलशक्तियोगश्चेति स एव प्रमाणम्, तदप्ययुक्तम्।

रागादिप्रतिपक्षस्य देशनाव्यर्थता भवेत्। रागादियोगेऽपि यदि भवेदैश्वर्यमच्युतम् ॥२४२॥

अथ वस्तुवृत्तमेतन्न रागादियोगितामैश्वर्यसम्भवस्ततस्तत्प्रतिपक्षदेशनेति।

यद्येवं भावनाभावाद वैराग्यादेरसम्भवः। आकस्मिकन्तस्य कुतस्तदैश्वर्यादि सिद्ध्यतु ॥२४३॥

न हि यद्वैराग्यादिप्रतिपक्षभावनातो भवतीति ज्ञायते तदन्यथापि भवतीति ज्ञायते। किं च—

वरप्रदानशक्तिः सा विद्यते तस्य नेदृशी। येनानुष्ठानरहितो ददात्यैश्वर्यमर्थिनि ॥२४४॥

अथ नास्त्येव सा शक्तिस्तस्यान्यापि कथम्भवेत्। अनुग्रहीतुं शक्तेति प्राप्ता तत्राप्रमाणता ॥२४५॥

अयमप्यर्थः। अनित्येऽप्यप्रमाणता न विद्यते प्रमाणमस्मिन्नित्यप्रमाणन्तस्य भावोऽप्रमाणता। न तत्र प्रमाणमस्तीति यावत्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

और करुणा से उद्वेलित होकर हितकर देशना करेगा और जीवों के लिए प्रमाणभूत सिद्ध होगा। सुख दुःख का अनुभव किये बिना स्वरूप-सत्तामात्र से कोई अनुभवी शास्ता नहीं बन सकता जैसा लौकिक न्याय प्रचलित है—"न ह्यखण्डितः पण्डितो भवति" अर्थात दुःखादि बाधाओं से जो खण्डित (पीड़ित) नहीं होता, वह कभी पण्डित (अनुभवी) उपदेष्टा नहीं हो सकता।

शङ्का—ईश्वर स्वतः सर्वज्ञ है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि राग-द्वेषादि का अनुभव न होने पर संसार-प्रपञ्च का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता। यदि ईश्वर भी रागादि का अनुभव करता है, तब वह भी संसारी है, अन्य जीवों के लिए वह प्रमाण क्यों होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रागादि का अनुभव करके ही उन का उपदेश कर सकता है—ऐसी बात नहीं अपितु रागादि का वियोग होने के कारण ईश्वर में सर्वज्ञता, अविनाशिता और अलौकिक शक्ति का योग होने से वह प्रमाण है।

समाधान—रागादि के रहने पर भी ईश्वर में अच्युत (अविनाशी) ऐश्वर्य यदि विद्यमान है, तब रागादि की निवृत्ति के लिए विरोधी भावना का उपदेश व्यर्थ है॥ २४२॥

शङ्का—यह एक वस्तुस्थिति है कि रागादि के रहने पर ऐश्वर्य नहीं रह सकता, किन्तु वह ऐश्वर्य स्वाभाविक है।

समाधान—यदि वैराग्यादि भावना सम्भव नहीं, तब ईश्वर में आकस्मिक ऐश्वर्य क्योंकर सिद्ध होगा॥ २४३॥ जो (ऐश्वर्य) रागादि की प्रतिपक्ष (विरोधी) वैराग्य भावना से सिद्ध होता है वह उसके बिना भी होता है—यह कैसे होगा?

दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर में वर देने की शक्ति स्वाभाविक माननी होगी, जिससे अधिकारी पुरुष में किसी प्रकार के अनुष्ठान के बिना भी वह शक्ति सिद्ध हो सकती है॥ २४४॥ यदि ईश्वर के भक्तों में कोई ऐसी शक्ति नहीं, तब ईश्वरगत ऐश्वर्य के सन्दिग्ध हो जाने से प्रमाणता भी निश्चित नहीं हो सकती॥ २४५॥

ईश्वर को अनित्य मान लेने पर भी उसमें सप्रमाणता सिद्ध नहीं होती, अर्थात्

वार्तिकालङ्कारः

अथाराधनक्रमेण रागाद्युपशमप्रकारेणानुग्रहकार्यसौ धर्मोपदेशेनानुग्रहस्यान्यथा कर्तुमशक्यत्वात्। तदसत् यतः—

तदुक्तानुष्ठितो लोकानुग्रहः केन गम्यते। तदुक्तागममात्राच्चेदेवमन्योऽन्यसंश्रयः ॥२४६॥

आगमोऽसौ तदुक्तत्वादागमाच्च तदुक्तता। अन्योऽन्याश्रयतस्तत्र कथमेकतरस्थितिः ॥२४७॥

किंच—

ईदृशी तस्य सा शक्तिः कारणात् कुत आगता। स्वभाव एष तस्येति कुत एतत् प्रतीयताम् ॥२४८॥

नन्वीदृशी तस्य शक्तिः सर्वदर्शनानुग्राहकरूपा कुतः कारणादागता। अत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यं यत एवं भवन्तीति चेत्। तथा हि—

इदमेवं न चेत्येतत् कस्य पर्यनुयोज्यताम्। अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयोज्यताम् ॥२४९॥

तदेतदसदत्यन्तम्।

स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे परैः पर्यनुयुज्यते। तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥२५०॥

न त्वदृश्ये। तथा हि—अत्र वस्तु स्वभावैरुत्तरं वाच्यमिति कोऽर्थः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धमेतत्। कथमेतदिति न पर्यनुयोगस्य विषयः। यथा प्रत्यक्षेणोपलब्धो वह्निर्दाह्यं दहन् न पर्यनुयोज्यते कथन्दहतीति। यदि भूतत्वेन व्योमादि दहेत्। अथ स्वभाद्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ईश्वर के साधक प्रमाणों में साधन-क्षमता ही नहीं।

शङ्का—भक्तों को आराधना के क्रम से भगवान् रागादि का उपशम करके ऐसा धर्मोपदेश करता है, जिसके अनुष्ठान से भक्तों में लोकोत्तर शक्ति प्रकट हो जाती है।

समाधान—धर्मोपदेश के अनुष्ठान से भक्तों में लोकोत्तर शक्ति का आविर्भाव होता है—ऐसा कैसे ज्ञात हुआ? यदि ईश्वरोक्त आगम से वैसा सिद्ध होना माना जाता है, तब अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है ॥२४६॥ अर्थात ईश्वर की प्रमाणता उसके आगम की प्रमाणता और आगम की प्रमाणता ईश्वर की प्रमाणता पर निर्भर होने से अन्योऽन्याश्रयता सुव्यक्त है ॥ २४७ ॥ यह भी एक प्रश्न उठता है कि ऐसी लोकोत्तर शक्ति उसमें किस कारण से उत्पन्न हुई? उसका स्वभाव ही ऐसा है—यह मानने पर भी स्वभाव के विषय में भी वही प्रश्न उजागर होता है कि ऐसा निश्चय किस प्रमाण से होता है? ॥२४८ ॥

शङ्का—ईश्वरादि में ऐसी सर्वदर्शनानुग्राहक शक्ति किस कारण से उत्पन्न हुई? इस प्रश्न के उत्तर में स्वभाववाद को प्रस्तुत किया जा सकता है कि वह शक्ति किसी से उत्पन्न नहीं हुई, अपितु स्वाभाविकी है। यह ऐसा क्यों? ऐसा क्यों नहीं इस प्रकार वस्तु-स्वभाव के लिए किसी प्रकार का प्रश्न नहीं उठ सकता कि अग्नि क्यों जलाती है? आकाश क्यों नहीं? ऐसा पर्यनुयोग कौन कर सकता है? ॥२४९॥

समाधान—प्रत्यक्षतः किसी स्वभाव के सिद्ध होने पर भी लोग जो प्रश्न उठा दिया करते हैं। उसके उत्तर में कहा जाता है कि 'न दृष्टेऽनुपपन्नता'। अर्थात् प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थ की अनुपपन्नता कभी सम्भव नहीं ॥२५० ॥ किन्तु अदृश्य वस्तु के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—यह जो कहा गया कि "वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्"। इसका क्या अर्थ? प्रत्यक्ष-सिद्ध पदार्थ की अनुपपन्नता सम्भव नहीं, जैसे कि प्रत्यक्षतः देखा गया है कि अग्नि काष्ठादि दाह्य पदार्थों को भस्मसात् कर देता है। उसके लिए कोई

स्थित्वाप्रवृत्तिसंस्थानविशेषार्थक्रियादिषु ।
इष्टसिद्धिरसिद्धिर्वा दृष्टान्ते संशयोऽथवा ॥ १२ ॥

(१) स्थित्वाप्रवर्तमानत्व (स्थितिपूर्वक गतिमत्त्व), (२) संस्थानविशेषवत्त्व (कम्बुग्रीवादिरूप आकारविशेषवत्त्व) और (३) अर्थक्रियाकारित्व (सप्रयोजनवत्त्व या सार्थकत्व)—इन तीन हेतु-प्रयोगों के द्वारा नैयायिकादि ईश्वर को सिद्धि अधिष्ठातृत्व, कर्तृत्व और बुद्धिमत्त्वरूपेण किया करते हैं—(१) परमाण्वादयः साधिष्ठानाः, स्थित्वाप्रवर्तमानत्वाद् रथादिवत् । (२) क्षित्यादयः सकर्तृकाः, संस्थानविशेषवत्त्वात् प्रासादादिवत् । भूभूधरादयः बुद्धिमत्कर्तृकाः, अर्थक्रियाकारित्वात् सरित्सागरादिवत् ।

इन अनुमानों में अधिष्ठाता और कर्त्ता सामान्य विवक्षित है या विशेष (ईश्वर) ? प्रथम कल्प में सिद्ध-साधनता और द्वितीय कल्प में रथघटादिदृष्टान्त-साध्य-विकल या सन्दिग्धसाध्यक हो जाते हैं ॥ १२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वात् प्रतिनियतात् तदेश्वरोऽपि सकलगुणहेतुविकलो गुणवानिति समानम् । न समानम् । दृष्टत्वादग्नेरपरस्य च विपर्ययादिति नेदमुत्तरम् । अन्यथा यत्किंचिदात्माभिमतविधावन्यनिरुत्तरस्तत्र कृतम्, तदुत्तरं वस्तुस्वभावैरिह वाच्यम् । इत्थं तथोत्तरं स्याद् विजयी समस्तः । तस्मादनित्येऽपि । अपिशब्दान्नित्येऽप्यप्रमाणतेति सूक्तम् ।

(७) ईश्वरसाधकप्रमाणदूषणम्

नन्वस्ति प्रमाणम्—

स्थित्वा प्रवृत्ति संस्थानविशेषार्थक्रियादयः । कार्यात्मानः कथं कार्यात् कारणस्याप्रसिद्धता ॥२५१॥

अन्यथान्यस्यापि करणस्यानुमानं न स्यात् । तथा हि–यद् वस्तु स्थित्वा स्थित्वा प्रवर्त्ततेऽभिमतसाधनाय तद् बुद्धिमत्कारणाधिष्ठानाद् । यथा वास्यादिर्द्वैधीकरणादौ । न खलु वास्यादयः स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते । प्रवर्त्तने वा सदा प्रवर्त्तनं भवेत् । स्थित्वा च प्रवर्त्तनमभिमतं प्रेक्षावता केनचित् प्रवर्त्तकेन भवितव्यम् । यथायत्नं संस्थानविशेषपारिमाण्डल्यादियोगि तच्चेतनावदुत्पादितं तद् यथा घटादिकम् । तथा यदर्थक्रियाकारि तच्चेतनावत्पदार्थप्रेरितम् , तद् यथा घटादयः । अत्राह—स्थित्वा प्रवृत्तिसंस्थानेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं पूछता कि वह क्यों जलाती है ? यदि भूत द्रव्य होने के कारण जलाती है, तब आकाश भी भूत है, वह क्यों नहीं जलाता ? यदि अग्नि अपने प्रति नियत स्वभाव के कारण जलाती है, तब ईश्वर भी अपने स्वभाव से सर्वज्ञ है। इस प्रकार दोनों में समानता है।

समाधान—दोनों में समानता नहीं, क्योंकि अग्नि में प्रत्यक्ष-सिद्ध दाहकता है, किन्तु ईश्वर से शक्ति प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं । अन्यथा कोई भी व्यक्ति अपनो अभिमत वस्तु को स्वाभाविक न मानकर कथक्कड़-सम्प्रदाय में विजय प्राप्त कर लेगा ? अतः ईश्वर को नित्य माना जाय या अनित्य, यह प्रमाण-सिद्ध नहीं होता :

(७) ईश्वर-साधक प्रमाणों का निरास--

शङ्का--(१) स्थित्वाप्रवृत्ति, (२) संस्थानविशेष और (३) अर्थक्रियाकारित्वादि साधनों के द्वारा अपने कारणीभूत पदार्थ की सिद्धि क्यों नहीं हो सकती ? ।।२५१।। यदि ईश्वर के कार्यों के द्वारा उसकी सिद्धि नहीं की जा सकती, तब संसार में धूमादि

वार्तिकालङ्कारः

य एते कार्यहेतुत्वेनाभिमताः स्थित्वा प्रवृत्त्यादयो नैते सम्यग्घेतवः। यत एषु सत्स्वपीष्टस्यैव सिद्धिः सिद्धसाधनम्। न च सिद्धः पक्षो भवतीति। असिद्धस्य पक्षत्वात् यत्र हि विवादस्तत्साधनाय साधनोपन्यासो युक्तः। कर्मलक्षणचेतनाधिष्ठितं च सकलमिष्यते। यतः—

'कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्।'

ननु कर्मजमेवेति न साध्यते। कर्मव्यतिरिक्तेश्वरचेतनाधिष्ठितत्वस्य साधनात्। तथा चाह—'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव'। न चेश्वरचोदनाधिष्ठितकर्मपूर्वकत्वसाधने सिद्धसाधनम्।

नैतदस्ति। कर्म चेच्चेतनारूपमस्ति तदा परचेतनासाधनं व्यर्थम्। तत् किलाचेतनं तत् प्रवर्त्तितुमशक्तम्। इदन्तदिति निरूप्य प्रवृत्तिदर्शनात्। ततः स्वयं वा निरूप्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कार्यों के द्वारा अग्न्यादि की सिद्धि भी न हो सकेगी। फलतः कार्य से कारण की सिद्धि मानना अनिवार्य है—(१) जो वस्तु ठहर-ठहर कर प्रवृत्त होती है, वह अवश्य ही किसी बुद्धिमान् व्यक्ति के द्वारा अधिष्ठित होती है, जैसे वास्य-कुठारादि काष्ठ के द्वैधीकरण में वर्धकी आदि किसी पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होते हैं, अपने-आप नहीं। यदि जड़ पदार्थ प्रवृत्त हो जाता है, तो सदैव प्रवर्तमान ही रहेगा, ठहर-ठहर कर नहीं। दूर से जो शब्द आ रहा है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि किसी व्यक्ति के द्वारा काष्ठ पर कुठार का व्यवस्थित प्रहार हो रहा है, वैसे ही परमाण्वादि की व्यवस्थित चालन-प्रक्रिया से पृथिवी आदि का निर्माण ईश्वर के अधिष्ठातृत्व में होता है। जैसे परिमण्डल (गोल) लम्बे-चौड़े आदि संस्थान (आकार) वाले घटादि पदार्थों का कर्त्ता कुलालादि पुरुष होता है, वैसे ही क्षित्यादि का कर्त्ता ईश्वर है। जैसे अन्न-वस्त्रादि सार्थक पदार्थों का निर्माता बुद्धिमान् व्यक्ति होता है, वैसे ही सरित्-समुद्रादि पदार्थों का निर्माता ईश्वर है।

समाधान—जिन स्थित्वाप्रवृत्ति आदि कार्य-हेतुओं के द्वारा ईश्वर की सिद्धि अभीष्ट है, वे सद्धेतु नहीं असद्धेतु (हेत्वाभास) हैं, क्योंकि वास्यादि साधनों को सामान्यतः अधिष्ठाता की अपेक्षा है, ईश्वररूप अधिष्ठाता की नहीं, सामान्य अधिष्ठाता तो कर्म है ही, बौद्ध सिद्धान्त में कर्म को चेतनारूप माना जाता है, जैसा कि भगवान् बुद्ध ने ही कहा है "चेतनो हि भिक्खवे कम्मं वदामि" (अङ्गुत्तर० ३) को शकार ने भी कहा है—"कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्" (अभि० को० ४।१) अर्थात् विचित्र लोक की रचना कर्म से जनित या अधिष्ठित है। मानस कर्म का नाम चेतना है।

शङ्का—जगत् में कर्म-जन्यत्व यदि सिद्ध करते, तब अवश्य सिद्ध-साधनता दोष होता हम तो ईश्वर-चेतनाधिष्ठितत्त्व सिद्ध करना चाहते हैं, जैसा कि कहा गया है—"तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव"। इस प्रकार ईश्वरीय प्रेरणा-जन्य कर्मपूर्वकत्व सिद्ध करने पर सिद्ध-साधनता प्रसक्त नहीं होती।

समाधान—कर्म यदि चेतनारूप है, तब ईश्वर चेतनापूर्वकत्व सिद्ध करना व्यर्थ है। जो अचेतन है, वह स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह पदार्थ ऐसे किया जाय—ऐसा निरूपण करके कार्य सम्पन्न किया जाता है। अतः या तो स्वयं निरूपण करके

वार्तिकालङ्कारः

प्रवर्त्तितव्यं निरूपकप्रेरणया गत्यन्तराभावात् । तत्राचेतनानां स्वयं निरूपणाभावात् । परनिरूपणमपि यदि न स्यादप्रवर्त्तनमेव प्रसक्तम् । तस्मात् प्रेरकेन चैतनावतान्येन भवितव्यमित्यभिप्रायः । तत्र—

चेतना कर्मरूपैव प्रवृत्तेर्यदि कारणम् । निरूपणेऽपि न परं तन्निरूपणमिष्यते ॥२५२॥

तथा चासिद्धो दृष्टान्तः ।

चेतनावत्कृतत्वेऽपि नेश्वरेण घटादयः । कृताः प्रयोजनाभावादन्यथेशोऽपि सेश्वरः ॥२५३॥

स्वस्यामर्थक्रियायामित्यनवस्था प्रवर्त्तते ।

अथ प्रवर्त्तते सोऽपि कुलालादिः प्रवर्त्तितः । अज्ञानादीश्वरस्तज्ज्ञो न सोऽन्येन प्रवर्त्तितः ॥२५४॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥२५५॥

अज्ञो हि चेतनावानपि निरूपणासमर्थः । स घटादिवदपरेण निरूपणासमर्थत्वादपरेण प्रेर्यते नेश्वरस्तस्य निरूपणासमर्थत्वादिति नानवस्था ।

तदप्यसत् ।

कर्त्तृत्वसिद्धौ सर्वज्ञत्वसिद्धिः पुनस्ततः । कर्त्तृत्वमित्यवस्थायामत्रान्योऽन्याश्रयो महान् ॥२५६॥

यदि हि सर्वस्य कर्त्तासाविति प्रसिध्यति परमेश्वरस्तदास्य स्यात् सर्वज्ञता नान्यथा ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रवृत्त हो या अन्य निरूपक (जानकार) की प्रेरणा से । अन्य कोई गति नहीं । जड़ात्मक तत्त्व स्वयं निरूपण नहीं कर सकता । यदि अन्य की प्रेरणा न मिले, तब वह प्रवृत्त ही नहीं होगा, अतः चेतनावान् प्रेरक कुठारादि से भिन्न होना चाहिए । यदि कर्म चेतना-प्रवृत्ति कारण है, तब निरूपण (कार्यानुरूप उपादानादि का परिज्ञान) भी वही कर लेगा, अन्य पुरुष की क्या आवश्यकता ? ॥२५२॥ इस प्रकार कुठारादि दृष्टान्तों में साध्य-वैकल्य है । घटादिरूप कार्य यदि किसी चेतनपुरुष की रचनाएँ हैं, तब भी ईश्वर के द्वारा घटादि का निर्माण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ईश्वर को उनसे क्या प्रयोजन ? यदि कुछ प्रयोजन परम्परा से माना जाता है, तब भी सभी साधनों में साधिष्ठानत्व अनिवार्य होने पर ईश्वर को भी साधिष्ठान (सेश्वर) मानना होगा ॥२५३॥ अर्थक्रियाकारित्व हेतु में अर्थक्रियाकारित्व और उसमें भी अर्थक्रियाकारित्व का अनुमान करने पर अनवस्था दोष है ।

शङ्का—कुलाल की प्रेरणा से वास्यादि और कुलाल भी कदाचित् अपने से अधिक ज्ञान रखनेवाले की प्रेरणा ले सकता है, क्योंकि इन प्रवृत्त होनेवालों में अज्ञान है, पूर्णाभिज्ञता नहीं, किन्तु ईश्वर नित्य सर्वज्ञ है, उसे अन्य की प्रेरणा अपेक्षित नहीं, अतः अनवस्था क्यों होगी ? ॥२५४॥ जीव स्वभावतः अज्ञानी है, अपने सुख-दुःख के साधन में स्वयं अनीश (असमर्थ) है । हाँ, ईश्वर की प्रेरणा से वह स्वर्ग भी जा सकता है और श्वभ्र (नरक) लोक भी ॥२५५॥ अज्ञानी पुरुष चेतना होने पर भी विषयवस्तु के कारणकलाप के विश्लेषण नहीं कर सकता, अतः वह अन्य व्यक्ति के द्वारा प्रेरित होता है, किन्तु ईश्वर को किसी की प्रेरणा अपेक्षित नहीं, क्योंकि वह स्वयं निरूपण में समर्थ है ।

समाधान—ईश्वर में सर्व-कर्तृत्व की सिद्धि होने पर सर्वज्ञत्व और सर्वज्ञत्व की सिद्धि होने पर सर्वकर्तृत्व की सिद्धि होती है—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होता है ॥२५६॥ ईश्वर की सर्वज्ञता पर ही प्रेरक-परम्परा की अनवस्था दूर

वार्तिकालङ्कारः

सर्वज्ञतायाञ्च प्रेरकत्वमन्यथा तस्याप्यपरः प्रेरक इति सैवानवस्था।

किञ्च। यद्यसौ सर्वज्ञः किमज्ञं जनमसद्व्यवहारे प्रवर्त्तयति। विवेकवन्तो हि सदुपदेशदायिनो दृष्टाः। स तु विपर्ययप्रवृत्तमपि जनं जनयति। तत् कथं प्रमाणम्।

अथोपदेशमसौ सन्तमेव करोति तेन प्रमाणम्। अधर्मकारिणन्तु फलमसदनुभावयति। तत्र उचितफलदायी विवेकवानेव। तदप्यसत्। यस्मात्—

अधर्मकरणेऽप्येष वर्त्तयत्येव जन्मिनः। अयुक्तं कारयित्वासौ कथं युक्ते प्रवर्तयेत् ॥२५७॥

प्रथमन्तावत् पाप एव प्रवर्त्तयति। ततस्तद्व्यावर्त्तनाय धर्म इति केयं प्रेक्षापूर्वकारितेश्वरस्य। तदिदमायातं प्रक्षाल्य परित्यक्ष्यामीति।

अथ पापे प्रवर्त्तयति तत्कर्माधिष्ठित एवासौ तथा सति प्रेक्षाक्रियाहानिः। तदपि कर्म कस्मात् कारयतीति समानः प्रसंगः।

अथाधर्ममसौ न कारयति। अधर्मकारिणन्तु तत्फलमनुभावयति। तदन्येश्वरवत्। तदप्यसारम्।

अपक्त्यान्येश्वराः पापप्रतिषेधं न कुर्वते। स त्वत्यन्तमशक्तेभ्यो व्यावृत्तमतिरिष्यते ॥२५८॥

अथाशक्त एवासौ तथा सति।

नेश्वरेण कृतं सर्वमिति वक्तव्यमुच्चकैः। पापवत् स्वार्थकारित्वाद्धर्मादिरपि किन्ततः ॥२५९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो सकती है। दूसरी एक बात ऐसी भी है कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वकल्याणकारी है, तब अज्ञ और भोले-भाले व्यक्ति को असद्व्यवहार में क्यों प्रवृत्त करता है? विवेकशील पुरुष तो सदैव सदुपदेश ही दिया करते हैं, किन्तु आपका ईश्वर तो विपरीत कार्य में भी प्रवृत्ति की प्रेरणा देता है, अतः वह क्योंकर प्रमाण होगा?

शङ्का—जो व्यक्ति असद्व्यवहार में पहले से ही प्रवृत्त है, उसी को ही ईश्वर अनुप्राणित करता है और अधर्मकारी को उचित दण्ड देता है, अतः ईश्वर न्यायी और प्रमाण है।

समाधान—अधर्म करने में भी ईश्वर प्राणियों को प्रवृत्त करता है। अनुचित कार्य कराकर वह न्यायी और प्रमाण क्योंकर होगा? ॥२५७॥ पहले तो ईश्वर पापकर्म में प्रवृत्त करता है, फिर उधर से हटाने के लिए धर्म में प्रवृत्ति करता है—यह ईश्वर की कैसी बुद्धिमत्ता? कीचड़ पहले पोत लिया कि धोकर साफ कर देंगे। यदि कहा जाय ईश्वर पापकर्म नहीं कराता, अपितु जीव पूर्वोपार्जित पापकर्म ही पाप कराते हैं, ईश्वर केवल उनका अधिष्ठाता हो जाता है। तब भी वही बात आ गई, अधिष्ठाता बनना, पापकर्म कराना एक ही बात है। आक्षेप वही बना है कि ईश्वर जीवों से पाप क्यों कराता है? यदि कहा जाय कि ईश्वर किसी से अधर्म नहीं कराता, हाँ, अधर्म का फल अवश्य देता है, जैसे अन्य राजा पापी को दण्ड देता है। ऐसा कहना भी निस्सार है, क्योंकि दूसरा राजा पापी के पापों को दूर करने की शक्ति नहीं रखता, किन्तु वह (ईश्वर) तो अशक्त प्राणियों से अत्यन्त विलक्षण है ॥२५८॥ यदि ईश्वर अशक्त है, तब नैय्यायिकों को यह उद्घोषणा उच्च स्वर से नहीं करनी चाहिए कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है। मनुष्य जैसे पापकर्म स्वयं करता है, वैसे पुण्य (धर्म) भी स्वयं करता है, ईश्वर की प्रेरणा से नहीं ॥२५९॥

वार्तिकालङ्कारः

किञ्च ।

अधर्मस्य फलं भुंक्ते लोकः किं नेश्वराद् विना । विनापि यदि कस्तस्य कारणत्वं प्रकल्पयेत् ॥२६०॥

अथ तस्माद् विनाऽधर्मफलं भुंक्ते न कश्चन । प्रेक्षावान् कथमेतस्मिन् प्रवर्त्तेत निरर्थके ॥२६१॥

क्रीडार्था तस्य वृत्तिश्चेत् प्रेक्षापूर्वक्रिया कुत. । एकस्य क्षणिका तृप्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥२६२॥

किञ्च ।

शास्त्रान्तराणि सर्वाणि यदीश्वरविकल्पतः । सत्यासत्योपदेशस्य प्रमाणं दानतः कथम् ॥२६३॥

सकलशास्त्रलक्षणपरस्परविरोधबाधितसत्यासत्योपदेशदानादसौ प्रमाणमिति महदद्भुतं प्रामाणिकत्वञ्च ।

अथ न सकलशास्त्रार्थक्रिया तदा शास्त्रान्तरवदेव नेश्वरेण सर्वं व्यधायि ।

अथ धर्माधर्मप्रेरितोऽसौ सकलमेव करोति नान्यथा पदार्थसम्भवः । तथा सति सर्व एवात्मा प्राकृतजनानां धर्माधर्मादिप्रेरणादेव करिष्यतीति व्यर्थमीश्वरकल्पनम् ।

सर्वस्य कर्त्ता नात्मा चेत् सर्वस्येति यदीष्यते । तस्य सर्वस्य कर्त्तृत्वं क्वोपयोगं प्रयास्यति ॥२६४॥

सर्वैरेवात्मभिः सर्वकरणे किं प्रहीयते । तथा बहुभिरेकस्य बहूनां चैकतः क्रिया ॥२६५॥

अथैक एव सर्वस्य कारकः कश्चिदिष्यते । सर्वज्ञतान्यथा न स्यादिति नान्यस्य कर्त्तृता ॥२६६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि जीव अपने अधर्म का फल ईश्वर के बिना क्यों नहीं भोग सकता ? यदि ईश्वर के बिना ही पुरुष पाप करता और उसका फल भोगता है, तब ईश्वर को समस्त कार्यों का कारण कौन सिद्ध कर सकेगा ? ॥२६०॥ यदि ईश्वर के बिना धर्म का फलोपभोग कोई नहीं कर सकता, तब कौन प्रेक्षावान् पुरुष इस निष्फल कर्म में प्रवृत्त होगा ? ॥२६१॥ जगत् की रचना तो उसकी क्रीडामात्र है, जैसा कि महर्षि व्यास ने कहा है—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्र० सू० २।१।३३)। पहले राजा लोग जङ्गल में जानवरों का शिकार करना अपनी एक क्रीडा ही मानते थे। लोमड़ी अपने बच्चों के साथ उछलती-कूदती जा रही है, राजा साहब ने गोली मार दी। राजा साहब का तो एक क्षणिक मनोरंजनमात्र हुआ और गरीब जानवर अपनी प्यारी जान खो बैठा ॥२६२॥

यह भी एक प्रश्न उठता है कि चौर्वाक, जैन, बौद्धादि के सभी शास्त्रों का प्रणयन यदि ईश्वर करता है, तब वह परस्पर विरुद्ध उपदेशों का प्रदाता होने के कारण कैसे प्रमाण होगा ? ॥२६३॥ यदि सभी शास्त्रों का वह कर्त्ता नहीं, तब सभी जगत् का भी वह कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि धर्म और अधर्म की प्रेरणा से ईश्वर समस्त शास्त्रों के समान समस्त जगत् की रचना करता है, अन्यथा पदार्थों का सद्भाव नहीं हो सकता। तब तो सभी साधारण पुरुषों का आत्मा धर्माधर्म की सहायता से सब कुछ कर सकता है, ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि जीवात्मा सर्व जगत् का कर्त्ता नहीं माना जाता, तब इसमें दोष क्या ? समस्त जगत् के कर्तव्य का उपयोग क्या ? ॥२६४॥ यदि सभी जीव मिलकर सभी कार्य कर लेते हैं, तब क्या बिगड़ता है। लोक में तो देखा जाता है कि कहीं एक व्यक्ति कई काम कर लेता है तो कहीं कई व्यक्ति मिलकर एक कार्य का सम्पादन करते हैं ॥२६५॥

शङ्का—जब कि कोई एक ही पुरुष जगत् का कर्त्ता माना जाता है, तब उसमें सर्वज्ञता सिद्ध होती है, अतः ईश्वर को छोड़ कर अन्य अल्पज्ञ व्यक्ति में जगत् का

वार्तिकालङ्कारः

प्रधानभूतः कर्त्तासौ वरप्राप्तिः ततोऽर्थिनाम् । न हि सर्वज्ञतामात्रादशक्तः सेव्यते परैः ॥२६७॥

तदप्यसत् ।

अर्थानर्थक्रियाशक्तो गुडगोरसकारकः । सर्वज्ञोऽपि न सेव्यत्वं प्रयात्यनुपकारतः ॥२६८॥

सर्वज्ञत्वे प्रसिद्धे च शक्तत्वे सर्वकारकः । सर्वकारकतायाश्च तस्य सर्वज्ञता पुनः ॥२६९॥

असर्वज्ञस्य कर्त्तृत्वे दर्शने सर्ववित् कथम् । तस्माद् दृष्टान्ततः सिध्येत् तथा चेत् प्रेक्षताक्षतिः॥२७०॥

न चाज्ञता कुलालादेः स्वकार्येऽस्ति वृथेश्वरः । कर्मसामर्थ्यसिद्धौ च नोपयोगः कथं क्रिया ॥२७१॥

जानानोऽपि कुलालादिः प्रेर्यमाणो यदि क्षमः । ईश्वरोऽपि तथान्येन प्रेर्यः स्यादविशेषतः ॥२७२॥

अथ सर्वज्ञतासिद्धिमात्मनोऽभिलषन्नसौ । सर्वस्य प्रेरको जातस्तदेतत् केन गम्यताम् ॥२७३॥

किञ्च ।

स्वयं निरूप्य यः कर्त्ता तत्राकारक ईश्वरः । ईश्वरादेव सर्वस्य बुद्धिरित्यप्रमाणकम् ॥२७४॥

हेतुत्वमुपदेशादेरुपदेष्टुस्तदन्यतः । उपदेश इत्यनादित्वात् समाप्तं सर्वमीहितम् ॥२७५॥

तस्मात् स्थित्वा प्रवृत्तानामीश्वरप्रेरणं कुतः । प्रधानपुरुषादीनान्नातः कर्त्तृत्वनिश्चयः ॥२७६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कर्तृत्व नहीं माना जा सकता ॥२६६॥ प्रधानभूत ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। वही विविध कामनावान् प्राणियों की कामना-सिद्धि का वर-प्रदान करता है, अतएव वह सभी प्राणियों के द्वारा सेवित होता है, केवल सर्वज्ञ होने से नहीं ॥२६७॥

समाधान—अर्थ और अनर्थ रूप गुड़ और गोबर सभी पदार्थों के करने में समर्थ सर्वज्ञ व्यक्ति भी सब का सेव्य नहीं होता, क्योंकि वह सब का उपकारक नहीं ॥२६८॥ पहले ईश्वर में सर्वज्ञता और सर्वशक्तत्व सिद्ध हो जाने पर सर्व-कारकत्व सिद्ध होगा एवं सर्वकारकत्व के सिद्ध होने पर सर्वज्ञता सिद्ध होगी—इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है ॥२६९॥ यदि असर्वज्ञ ही सर्व कर्त्ता हो जाता है तब ईश्वर सर्वज्ञ क्योंकर सिद्ध होगा ? कुलालादि दृष्टान्तों के आधार पर असर्वज्ञ को जगत् का कर्त्ता मानना होगा, तब तो उसमें "तदैक्षत" (छां उ. ६।२।३) इस श्रुति से प्रतिपादित जगदुपादानादि की प्रेक्षता सम्भव न हो सकेगी ॥२६९॥ कुलालादि असर्वज्ञ ही जगत् के कर्त्ता बन जाते हैं, तब सर्वज्ञ की कल्पना व्यर्थ है। चेतनात्मक कर्म के सामर्थ्य से सर्व कार्य सिद्ध हो जाता है, ईश्वर का कोई उपयोग नहीं ॥२७१॥ कुलालादि विज्ञ पुरुष भी यदि ईश्वर की प्रेरणा पाकर ही-कार्य-सम्पादन में सक्षम होते हैं, तब ईश्वर भी किसी अन्य ईश्वर के द्वारा प्रेर्यमाण होकर हो जगत् के निर्माण में समर्थ हो सकेगा ॥२७२॥ यदि ईश्वर अपनी सर्वज्ञता-सिद्धि को प्रमाणित करने के लिए सबका प्रेरक बना है, तब जिज्ञासा होती है कि इस तथ्य की अधिपति कैसे होगी ॥२७३॥ दूसरी बात यह भी है कि जहाँ पर कोई कर्त्ता अन्य की प्रेरणा के बिना ही अपने—आप निरूपण (उपादानोपादेयभाव की ऊहा) करके कार्य सम्पन्न करता है, वहाँ ईश्वर कारक (प्रेरक) नहीं, तब यह डङ्के की चोट पर कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर ही सब को ज्ञान और प्रेरणा देता है ॥२७४॥ यदि हेतुत्व (साध्य-साधन-भाव) का ज्ञान किसी उपदेष्टा के उपदेश से माना जाय, तब एक उपदेष्टा को भी, साध्यसाधनभाव का ज्ञान अन्य उपदेष्टा एवं अन्य को अन्य से—इस प्रकार अनादि परम्परा मानने पर मानव मात्र की अपनी ऊहापोह निरर्थक एवं समाप्त हो जाती है॥ २७५॥ फलतः ठहर-ठहर कर प्रवृत्त होने वाले कुठारादि को ईश्वर की प्रेरणा कैसे ? विशेषतः निरी-

वार्तिकालङ्कारः

संस्थानसङ्गतत्वादिति चायमप्यहेतुः। न हि संस्थानं सकलमेव पुरुषपूर्वकं दृष्टम्। बीजादिकारणविशेषमात्रेणापि तस्य दृष्टेः। वृक्षादिसंस्थानवत्। तत्र यथा—

वृक्षादीनां हि संस्थानमचिद्धेतुसमन्वयि। तथा घटादि तद्वत् स्यात् प्रधानाद्यप्रवर्त्तितम् ॥२७७॥
यथा हि बीजमुत्पन्नं वृक्षतो वृक्षकारणम्। तथा घटोऽपि मृत्पिण्डाद् घटादेरप्रवर्त्तितात् ॥२७८॥
कुलालादिः पुनस्तस्य साक्षी सततमिष्यते। शरीरवर्णसंस्थानमन्यतस्तादृगुद्भवात् ॥२७९॥

न कुलालादिस्तस्य संस्थानादेर्जनकः। न खलु बीजविजातीयं संस्थानमुत्पादयितुं वृक्षस्य सुशिक्षितोऽपि चेतनावान् समर्थः।

ननु न मृत्पिण्डस्य संस्थानं कुलाल उत्पादयन्नुपलभ्यते। न मृत्पिण्डस्यापि तादृशत्वात्। तादृग्वर्णसंस्थानरूप एव मृत्पिण्डः। यथा वटबीजं वटवृक्षवर्णसंस्थानवत्। तदपि कथमिति चेत्। अत्रोच्यते—

वर्णसंस्थानरूपत्वं बीजे यदि न शक्तितः। कार्ये कुतस्तदायातं बीजहेतोरभावतः ॥२८०॥
ईश्वरस्तस्य कर्त्ता चेद् बीजात् किन्न तदन्यतः। इति पूर्वं प्रतिक्षिप्तं हेतुस्तस्येश्वरः कथम् ॥२८१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

श्वरवादी सांख्यादि दर्शनों में प्रतिपादित प्रकृति और पुरुषादि की प्रवृत्ति कभी सम्भव न हो सकेगी ॥२७६॥

पृथिवी आदि के संस्थानविशेष को देखकर भी ईश्वररूप कर्त्ता की कल्पना नहीं की जा सकती, क्यों कि पर्वतादि के समस्त संस्थान पुरुष-निर्मित नहीं देखे जाते, अपि तु वृक्षादि के अपने संस्थान (आकार-प्रकार) अपने बीजादि रूप जड़ कारणों के द्वारा ही समुत्पादित होते हैं। जैसे वृक्षादि के संस्थान अपने जड़ एवं चेतनाप्रेरित बीजादि कारणों से निर्मित होते हैं, वैसे ही घटादि समस्त कार्य ऐसे मृत्पिण्डादि मात्र कारणों से सम्पन्न हो जाते हैं, जो कि किसी प्रधान या ईश्वर से प्रेरित नहीं ॥२७७॥ जैसे बीज वृक्ष से उत्पन्न होकर वृक्ष का कारण (उत्पादक) होता है, वैसे ही घट भी जिस मृत्पिण्ड से उत्पन्न होता है, वह मृत्पिण्ड किसी अन्य घटादि से प्रवर्तित नहीं होता ॥२७८॥ कुलालादि तो घट का सदैव साक्षी होता है। घटादि का शरीर, वर्ण-संस्थानादि (आकार-प्रकारादि) उसी प्रकार के मृत्पिण्ड से उत्पन्न होते हैं, वह मृत्पिण्ड कुलाल से भिन्न होता है ॥२७९॥ कुलालादि घटादि वर्ण-संस्थान का जनक नहीं होता। वृक्षगत बीज के सजातीय वर्ण-सस्थान का जनक कृषक (किसान) कभी नहीं हो सकता, भले ही वह कितना ही बुद्धिमान् और समर्थ क्यों न हो।

शङ्का—यह तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि जिस वर्ण का जैसा छोटा-बड़ा घट बनाना होता है, कुलाल उसी प्रकार का मृत्पिण्ड बनाता है, क्योंकि मृत्पिण्ड भी घट के समान वर्ण-संस्थानवाला होता है। वटवृक्ष की रूप-रेखा अपने बीज के समान है, वह किसी सर्वज्ञ-सर्व-कर्त्ता के बिना क्योंकर उपपन्न होगी ?

समाधान—बीज का वर्ण और संस्थान बीज में निहित उसकी अपनी शक्ति की देन है, यदि ऐसा नहीं, तब वृक्षरूप कार्य में वर्ण-संस्थानादि कहाँ से आयेंगे ? जिस कार्य का बीजरूप हेतु ही नहीं, वह आत्मलाभ नहीं कर सकता ॥२८०॥ बीज-शक्ति के बिना ही यदि ईश्वर वृक्षगत वर्ण-संस्थान का कर्त्ता माना जाता है, तब वह अन्यबीज से वह कार्य क्यों नहीं कर देता ? इस प्रकार पूर्व-निरस्त वर्ण-संस्थान का कर्त्ता ईश्वर कैसे होगा ? ॥२८१॥

वार्तिकालङ्कारः

बीजकारणं हि वृक्षस्तदानीं बीजकालकार्ये नास्ति। ततो न तस्य संस्थाकारणत्वम्। नापीश्वरस्य। विजातीयवृक्षकारणबीजादसंभावादीश्वरस्य तत्कारणत्वे किमिति न विजातीयबीजादपि तद् वृक्षसंस्थानम्। तस्माच्छक्तिरूपेण विद्यमानमेव वृक्षबीजे वृक्षसंस्थानमाविर्भवति। यथान्धकारव्यवस्थितो बालदारकः प्रदीपात्। तथा मृत्पिण्डादपि संस्थानमाविर्भवति कुलालात्। कुलालस्यापि घटादिविधाने संस्थानं शक्तिरूपेण संस्थितं संस्थानादेव। ततः कुलालादिः पुरुषः साक्षिभूत एवोपभोक्ता। न तस्य व्यापारः कश्चित्। तदुपभोगेच्छया तथा तथा शक्तिरूपस्य प्रधानस्य प्रवृत्तेः। तथा चाह—

पुरुषोपभोगसिद्ध्यर्थं प्रधानस्य प्रवर्तनम्। सामाजिकार्थसिद्ध्यर्थं नटरङ्गक्रिया यथा ॥२८२॥

ततश्च बुद्धिमत्कारणविपर्ययस्य प्रसिद्धिः। अथ प्रतिपुरुषमात्मनां भेदादपरेण रागादिरहितेनात्मना सर्वेषामीश्वरेण भवितव्यम्। अन्यथा प्रतिनियतवर्णसंस्थानादयः संसारिपुरुषाणां केनोपदर्शिताः। यत्रोपभोगेच्छया प्रधानस्य प्रवृत्तिः। उक्तमत्र—यथा सामाजिकानामनाद्युपदेशदर्शनाद् दिदृक्षा विनिवृत्यर्थं नटस्य नाटकप्रयोगः तथा संसारिपुरुषाणामपि।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आशय यह है कि बीज का कारण वृक्ष माना जाता है, किन्तु वह बीज के कार्यभूत वृक्ष के समय विद्यमान नहीं, तब वह पश्चाद्भावी वृक्ष में वर्ण और संस्थान का उत्पादन नहीं कर सकता। ईश्वर भी नहीं कर सकता, क्योंकि विजातीय वृक्ष के कारणाभूत बीज से जो संस्थान सम्भव नहीं, उसका भी यदि कारण है, तब विजातीय बीज से भी ईश्वर उस वृक्ष में संस्थानादि उत्पन्न क्यों नहीं कर देता? फलतः यह स्थिर होता है कि वृक्ष के बीज में शक्तिरूपेण (सूक्ष्मरूपेण) अवस्थित संस्थान वृक्ष में वैसे ही आविर्भूत हो जाता है, जैसे अन्धकार में अवस्थित बालक दीप के प्रकाश में। उसी प्रकार मृत्पिण्ड में अवस्थित आकार घट में आविर्भूत हो जाता है। कुलाल भी घटस्थ संस्थान को बनाता नहीं, अपितु मृत्पिण्ड में अव्यक्त रूप से अवस्थित आकार घट में व्यक्त हो जाता है। फलतः कुलालादि पुरुष केवल साक्षी भोक्ता है। उसके उपभोग की इच्छा के द्वारा शक्तिस्वरूप प्रधान तत्त्व प्रवृत्त हो जाता है, उस प्रवृत्ति में पुरुष का व्यापार कुछ भी नहीं होता, जैसा कि कहा गया है—'पुरुष का उपभोग सिद्ध करने के लिए प्रधान (प्रकृति) की वैसे ही प्रवृत्ति होती है, जैसे नाट्यशाला में अवस्थित दर्शकों के मनोरञ्जन की सिद्धि के लिए नट (नृत्याङ्गना) की नृत्य-क्रिया होती है ॥२८२॥ इस प्रकार सांख्यादि दर्शन में बुद्धिधारी (चेतन) पुरुष की प्रवृत्ति का विपर्यय (अभाव) प्रसिद्ध है?

शङ्का—सांख्य-मत के अनुसार नाना जीव अर्थात् शरीर के भेद से चेतन आत्मा भी भिन्न-भिन्न माना जाता है। प्रत्येक पुरुष स्वतः रागादि से युक्त हैं। यदि कोई एक पुरुष प्रकृति का प्रवर्तक है, तब वह केवल अपने उपभोग के लिए ही प्रकृति का प्रवर्तक होगा, उससे अन्य पुरुष का उपभोग सिद्ध न हो सकेगा, अतः सभी जीवों से भिन्न एक ईश्वर मानना होगा, जो स्वयं वीतराग है और सभी जीवों के योग की सिद्धि के लिए प्रकृति प्रवर्तक है।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि प्रकृति यद्यपि जड़ है, तथापि उसकी प्रवृत्ति के लिए किसी चेतन पुरुष की आवश्यकता नहीं, जैसे सामाजिक पुरुषों की अनादि

वार्तिकालङ्कारः

क्षीरस्य कथमज्ञात्वा वत्सवृद्ध्यै प्रवर्त्तनम्। तथेदमपि किं नेष्टं प्रधानस्य प्रवर्त्तनम् ॥२८३॥

तस्मात् पर्यवसाने सुखाद्यर्थितरूपतादर्शनात् सुखादिरूपेण सकलस्य कारणेन भवितव्यम्। तावता परिसमाप्तमिति नेश्वरसिद्धिः। अयुक्तञ्चैतत्।

अप्रेक्षापूर्वकत्वस्य पदार्थेषूपलब्धितः। अचेतनत्वन्तद्धेतोरिति युक्तिविदां नयः ॥२८४॥

अप्रेक्षावत्पदार्थानां कारणं न न युक्तिमत्। छागादीनां पुरीषादेर्वर्त्तुलीकरणेन किम् ॥२८५॥

(८) प्रधानकारणतानिरासः—

प्रधानमेव तर्हि कारणं भविष्यतीति सांख्याः। अत्रेदमुच्यते—

अन्वयश्चेत् सुखादीनां वस्तुत्वाच्चेतनत्वतः। पुरुषाणां ततस्तत्त्वं कारणं न किमिष्यते ॥२८६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उपदेश-परम्परा के आधार पर दिदृक्षा (दर्शन की इच्छा) को निवृत्त करने के लिए नटी का नाट्य-प्रयोग देखा जाता है, वैसे ही संसारी पुरुषों के दर्शन की प्यास बुझाने के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। क्षीर एक जड़ तत्त्व है, उसे यह ज्ञान नहीं कि उसको पीकर ही बछड़े की जीवन-रक्षा होगी, तथापि बछड़ा पैदा होते ही गौ के स्तनों में दूध अपने-आप उतर आता है। उसी प्रकार जड़ प्रकृति की भी अपने-आप प्रवृत्ति क्यों नहीं हो सकती? ईश्वर कृष्ण ने भी कहा है—

"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य" ॥ २८३ ॥]

प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सुखादिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि देखी जाती है, अतः सुखादिरूप पुरुषार्थ ही समस्त प्रवृत्ति का साधन होता है, जैसा कि ईश्वर कृष्ण ने कहा है—"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कारणम्" (सां० का० ३१)। फलतः ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। युक्ति-युक्त भी यही है, क्योंकि लोक में बहुत-से पदार्थ ऐसे भी देखे जाते हैं, जिनकी रचना अप्रेक्षापूर्वक (बिना सोचे-समझे) है। ऐसे पदार्थों की रचना अचेतनापूर्वक है—ऐसा युक्ति-वेत्ताओं का मत है ॥२८४॥ अप्रेक्षापूर्वक पदार्थों की रचना को युक्ति-युक्त नहीं कह सकते, जैसे कि भेड़-बकरे आदि की पुरीषरूप मींगनियों को गोल-गोल क्यों बनाया गया? ईश्वर चेतन है, बुद्धिमान् है, उसका प्रत्येक कार्य सप्रयोजन और युक्ति-युक्त होगा, किन्तु बकरियों की मींगनी के समान अयुक्त पदार्थ उसके बनाये नहीं, अतः वह सर्व-कर्त्ता क्योंकर सिद्ध होगा?

(८) प्रधान की कारणता का निरास—

शङ्का—सांख्याचार्यों का कहना है कि यदि ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता, तब प्रधान (प्रकृति) को ही विश्व का कारण मान लेना चाहिए [जैसा कि ईश्वर कृष्ण ने कहा है—"भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारण-कार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य कारणमस्त्यव्यक्तम्" (सां० का० १५-१६) अर्थात् पृथिवी जलादि समस्त कार्य सुख, दुःख और मोह से समन्वित हैं, अतः उनका कारण सुखादि त्रितयस्वरूप प्रधानतत्त्व वैसे ही मानना होगा, जैसे मृदादिस्वरूप से समन्वित घटादि का कारण मृत्पिण्ड होता है]।

समाधान—यदि घटादि समस्त जगत् में सुख, दुःख और मोह का समन्वय होने से सुखादिस्वरूप त्रिगुणात्मक प्रधान तत्त्व जगत् का कारण माना जाता है, तब सत्त्वादि गुणों में वस्तुत्व का समन्वय देख कर सत्त्वादि का भी कोई वस्तुस्वरूप कारणान्तर

वार्तिकालङ्कारः

न तु वर्णादिसंस्थानं प्रधानस्यास्ति भाविकम् । वर्णादि कार्यकरणं प्रधानस्य मतं कथम् ।।२८७।।
अथापि शक्तिरूपेण सर्वमत्रोपगम्यते । सर्वशक्त्यात्मकं वस्तु प्रधानमिति कथ्यते ।।२८८।।
तस्यादृष्टस्य तादृक् च कारणत्वानुमानवत् । कार्यं हि कार्यान्तरतः कार्यत्वादन्यकार्यवत् ।।२८९।।

न खलु कारणमकारणमुपलभ्यते । तत उपलब्धरूपानुसरणेनैव कारणकल्पना ।

अथ भेदानामन्वयादन्वयिना केनचित् तद्रूपेण कारणेन भवितव्यम् । कारणस्य तु न केनचिदन्वय इति कथमन्वयस्यापरं कारणम् । घटशरावादीनां हि भेदे मृद्रूपान्वयादेकमृत्पिण्डपूर्वकता । न तु मृत्पिण्डस्यापरमृत्पिण्डपूर्वकतैकत्वान्मृत्पिण्डस्य । मृत्पिण्डदण्डादीनामप्यपरमेकं यावदेकमेवान्तेन्वयि । तदप्यसत् । उक्तं सत्त्वादीनां पुरुषाणाञ्चापरं कारणं प्राप्तम् । भवतु तर्ह्येकमेव किमपि कारणम् । तदप्यसत् ।

त्रिगुणादिरूपता तस्य प्रधानस्य न सिध्यति । वस्तुत्वेनान्वयाद् वस्तु कारणं किमपीक्ष्यताम् ।।२९०।।

वस्तु वस्त्वित्यन्वयात् कार्याणां वस्तुरूपता कारणस्य । न च मृदादिरूपादपरा वस्तुरूपता । ततोऽमृदादिरूपतैव कारणस्य प्राप्ता । तथा सति सर्वात्मकं प्रधानमिति प्राप्तम् । नैतदस्ति ।

कारणानुगतं कार्यं स्वरूपेण न सर्वथा । अन्यथाभूतवह्न्यादेर्धूमादिर्दृश्यतेऽन्यथा ।।२९१।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मानना होगा । इतना ही नहीं, सभी पुरुषों में चेतनत्व का समन्वय देखकर सभी पुरुषों का भी कोई चेतनात्मक कारण क्यों नहीं माना जाता ? ।। २८६ ।। प्रधान (प्रकृति) में वर्ण और संस्थान (आकार) आदि कुछ भी वास्तविक नहीं, तब वर्णादि-युक्त घटादि पदार्थों की कारणता प्रधान में कैसे मानी जाती है ? ।।२८७।। यदि प्रधान तत्त्व में भी वर्णादि शक्तिरूपेण अवस्थित माने जाते हैं, अत एव प्रधानवस्तु सर्वशक्त्यात्मक कही जाती है ।।२८८।। जैसे अदृष्ट कारण परम्परा का अनुमान कारणत्वरूप हेतु के द्वारा किया जाता है, वैसे ही कार्यत्वरूप हेतु के द्वारा कार्य-परम्परा का अनुमान किया जाता है—कार्यं कार्यान्तरतः सञ्जातम्, कार्यत्वाद्, 'अन्यकार्यवत्' ।।२८९।। कारण कभी अकारण (कारण-रहित) नहीं होता, अतः उपलब्ध स्वरूप के अनुसार कारण-परम्परा की कल्पना की जाती है ।

शङ्का—"भेदानां परिमाणात् समन्वयात्" (सां० का० १५) इस सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सुखादिरूपेण अन्वयी घटादि पदार्थ ही सुखादिकारणक होते हैं, सत्त्वादिगुण किसी अन्य सुखादि से अन्वित न होने के कारण अन्यार्थकारणक क्योंकर सिद्ध होंगे ? घट-शरावादि परस्पर-भिन्न पदार्थ मृदात्मकत्वेन समन्वित होने के कारण एकमृद्रूप कारणवाले होते हैं, न कि एक मृत्पिण्ड अन्यमृत्पिण्डपूर्वक एवं अन्यमृत्पिण्ड अपरमृत्पिण्डपूर्वक—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त नहीं होती ।

समाधान—प्रधानतत्त्व जगत् का त्रिगुणत्वेन कारण नहीं, अपितु वस्तुत्वेन कारण है, अतः प्रधान त्रिगुणत्व सिद्ध न होकर वस्तुत्व ही सिद्ध होता है ।।२९०।। घटादि में वस्तु-वस्तु—इस प्रकार का समन्वय कारण में केवल वस्तुरूपता का ही साधक है। यदि कहा जाय कि मृदादिरूपता को छोड़कर वस्तुरूपता कोई अन्य पदार्थ नहीं, अतः कारण में मृदादिरूपता ही पर्यवसित होती है, फलतः सर्वकारणीभूत प्रधानतत्त्व सर्वात्मक सिद्ध हो जाता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि कार्य में कारणरूपता

वार्तिकालङ्कारः

कारणं हि तत् तस्य यद्यदन्वयव्यतिरेकादनुवर्त्तते न तु तद्रूपम्। तथा च वह्ने धूमो मेघादिभ्यो जलमिति। तत्र नास्ति सरूपतेति न कार्यकारणभावः स्यात्।

अथ तत्राप्यस्ति सरूपं किमपि कारणं तथाभूतकार्यत्वादेवानुमीयताम्। अनुमीयतां यदि सारूप्येण कार्यकारणभावस्य प्रतिबन्धोऽस्ति। न चास्ति व्याप्तेरभावात्। येन व्यभिचारस्तस्यापि पक्षीकरणमिति चेत्। एवन्तर्हि न किञ्चिदनैकान्तिकं नाम स्यात्। येन येन व्यभिचारस्तमेव पक्षीकुर्यादिति। तस्मादनवस्थाप्रसङ्गादसदेतत्।

(९) न कर्मकारणता—

अथाप्युच्यते—

कर्मणां परिणामोऽयमिति सिद्धमिदं कुतः। अन्वयव्यतिरेकित्वं कर्मणोऽपि न विद्यते ॥२९२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का सर्वथा समन्वय नहीं देखा जाता, जैसे कि अन्यथाभूत (श्वेतादिरूप-समन्वित) अग्नि का धूमरूप कार्य अन्यथा (श्यामादि रूपान्वित) देखा जाता है ॥२९१॥

वस्तुतः कारण वही कहलाता है जो कार्य के अन्वय-व्यतिरेक का अनुवर्जन करता हो, न कि कार्यात्मक हो, जैसे वह्नि धूम का और मेघ वर्षा का कारण होता है। यदि कार्य और कारण में समानरूपता अपेक्षत है, तब धूम और अग्नि एवं वर्षा और मेघ का कार्य-कारणभाव सम्भव न हो सकेगा। यदि उक्त स्थलों पर भी तथाभूत कार्यत्व हेतु के द्वारा कारण-सरूपता का अनुमान किया जाता है—तब वह अनुमान तभी पनप सकेगा, जबकि सरूपता के साथ हेतु का प्रतिबन्ध (व्याप्तिरूप सम्बन्ध) हो, किन्तु वह विरूप कार्य-कारणों में व्यभिचरित है। यदि अग्नि-धूमादि व्यभिचार-स्थलों को भी पक्ष कोटि में प्रविष्ट कर "पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारो न दोषभाक्"—इस न्याय का सहारा लेकर हेतु को व्यभिचार (अनैकान्तिकता) दोष से अछूता रखना चाहें, तब अनैकान्तिक नाम का हेत्वाभास ही उच्छिन्न हो जायगा, क्योंकि जिस-जिस स्थल में व्यभिचार होता है, उस-उस स्थल को पक्ष-कोटि रखकर अनैकान्तिकता दोष से बचा जा सकता है। फलतः कारण में अन्वयी कारण-परम्परा को लेकर प्रधानकारणतावाद में अनवस्था दोष वज्र-लेप के समान चिपक रहा है।

(९) कर्म-कारणतावाद का निरास—

शङ्का—बौद्धाचार्य स्थविरवर श्री वसुबन्धु ने कहा है—

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं ततः।
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ॥ (अभि० को० ४।७)

इसी प्रकार अभिधर्मप्रदीपकार भी कहता है—

कायिकं वाङ्मयं चैव चेतनाख्यं च मानसम्।
कर्माण्येतानि लोकस्य कारण नेश्वरादयः ॥ (अभि० प्र० का० १२५)

अर्थात् समस्त जगत् का कारण कर्म है। कर्म के तीन भेद हैं—मानस, वाचनिक और कायिक। मानक कर्म चेतना है, शेष दोनों कर्म उस चेतना से जनित होते हैं।

समाधान—जगत् कर्म का परिणाम (कार्य) है, यह कैसे सिद्ध होगा? कर्म का अन्वय-व्यतिरेक भी देखा नहीं जाता। मानस कर्म शेष कर्मों का जनक होने से प्रधान है, वह दृष्ट नहीं, अतः उसका अन्वय व्यतिरेक भी देखा नहीं जा सकता, अतः कार्य-कारणभाव कैसे सिद्ध होगा? ॥२९२॥ अतः शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) स्वरूप

वार्तिकालङ्कारः

न खलु कर्मापि शुभाशुभादिकमस्य जगतो वैचित्र्यस्य कारणमिति ज्ञायते। आस्तान्तावदेतदित्यन्यदुच्यते। यदुक्तं रागादिमानपि सकलशक्तियुक्तो भविष्यति। ततः क्रीडाद्यर्थं जगद्वैचित्र्यकरणम्। तत्रोच्यते—

अज्ञानां रागिणां क्रीडारसः शुद्धात्मनां न हि। किंचिन्मात्रविशुद्धयापि नार्यः क्रीडासु वर्त्तते ॥२९३॥
नरकादिभयादन्यो नार्यः क्रीडासु वर्त्तते। तस्य त्वेतद् भयं नास्ति कस्मात् ताभ्यो निवर्त्तते ॥२९४॥
रागादिभ्यो यदा दुःखं नरकादिषु वर्तते। तस्य तन्नास्ति केनेदं भवतः सुहृदोच्यते ॥२९५॥
भावनातः समुद्भूता वासीचन्दनकल्पना। नरकादिभयं दुःखन्न बाधत इति स्थितिः ॥२९६॥
एवमेव तदुद्भूतमिति युक्तमिदन्न च। स्वाभाविकत्वे तत्तस्य जगत् स्वाभाविकं भवेत् ॥२९७॥
तस्यैवैकस्य तदिदं व्यक्तमीश्वरचेष्टितम्।

किञ्च।

ईश्वरादीश्वरत्वस्य प्राप्तिस्तस्यापि साम्यतः। तदन्यस्यापि सान्यसमान्न स्वाभाविक ईश्वरः ॥२९८॥
उत्कर्षोऽस्ति गुणानां चेत् शक्रब्रह्मत्वसम्भवे। ईश्वरत्वमपि प्राप्तं नास्ति नित्येश्वरस्थितिः ॥२९९॥
अथैतदपि नास्त्येव संसारी नेश्वरस्ततः। अत्र यस्य प्रतिक्षेपस्तस्यान्यत्रापि का क्षमा ॥३००॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कर्म किसी प्रकार के जगद्गत वैचित्र्य का कारण नहीं प्रतीत होता। इस प्रसङ्ग को यहीं विराम दिया जाता है।

शङ्का—यह जो कहा जाता है कि ऐसा रागादि से युक्त पुरुष भी सकल शक्ति-संबलित हो सकता है, जिसकी क्रीड़ा या मनोरंजन के लिए जगत् की रचना हुई।

समाधान—अज्ञानी और रागी पुरुषों को क्रीड़ा-रस देखा जाता है, शुद्धात्मा महा-पुरुषों को नहीं। जिनके अन्तस्तल में थोड़ी भी शुद्धि होती है, उन आर्यपुरुषों की क्रीड़ा में कभी रुचि नहीं होती ॥२९३॥ रागादि-युक्त आर्यपुरुष भी नरकादि प्राप्ति के भय से क्रीड़ा (आखेटादि) में कभी भी प्रवृत्त नहीं होता। इस (सर्वज्ञ ईश्वर) को तो नरकादि भय है नहीं, तब वह हिंसादि क्रीड़ा से ही निवृत्त क्योंकर होगा ? ॥२९४॥ जब कि राग द्वेषादि के कारण नरक में अनन्त दुःखों की प्राप्ति धर्मशास्त्रों में बताई गई है, तब रागी ईश्वर को नरकादि दुःख नहीं होता—ऐसा आपके किस सुहृद् (मित्र) नें आपको कह दिया ? ॥२९५॥ जैसे वासी (वसला या कुठार) से चन्दन की लकड़ी काटते-काटते कुठार चन्दनमय हो जाता है, वैसे ही नरकादि से भय-भीत होते होते नरकभयात्मक दुःख समुद्भत हो जाता है, ईश्वर से भयाक्रान्तता नहीं, अतः उसे उक्त दुःख बाधित नहीं करता—इस प्रकार दुःख समुद्भत होता है- ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं। ईश्वर में ऐश्वर्य यदि स्वाभाविक है, तब जगत् भी स्वाभाविक ही हो जायगा ॥२९६–९७॥ उसी एक ईश्वर की यह सब रचना हैं। एक ईश्वर में ईश्वरत्व दूसरे ईश्वर से और दूसरे में तीसरे से ईश्वरत्व की प्राप्ति मानने पर कोई भी ईश्वर स्वाभाविक नहीं हो सकता ॥२९८॥ जब कि यह सुना जाता है कि साधारण जीव अपनें गुणों को तपःसाधना के द्वारा उत्कृष्ट कर इन्द्र और ब्रह्मा की पदवी पर प्रतिष्ठित होता है, तब ईश्वरत्व के विषय में वैसा ही सन्देह हो उठता है कि ईश्वरत्व भी गुणो-त्कर्ष-जनित होगा, तब तो नित्य ईश्वर की स्थिति सम्भावित नहीं रह जाती ॥२९९॥ यदि गुणोत्कर्ष जनित ईश्वर नहीं, यह जीव भी ईश्वर नहीं, तब जिस ईश्वर का यहाँ प्रतिक्षेप (निरास) किया गया है, वह अन्यत्र क्योंकर सिद्ध होगा ? ॥३००॥ जो व्यक्ति

वार्तिकालङ्कारः

यो हि ग्राममेव मुष्णाति साधुजनसमवाये तस्यारण्ये त्राणासम्भविनि का क्षमा। तथा यस्तारतम्यसम्भविन्यामवस्थायां तदनुगमने प्रकर्षसम्भवं प्रत्याचक्षीत। तस्य निरनुगमे वस्तुनि न प्रतिक्षेप इति क एवं प्रत्येति। तस्मात्—

संस्थानसङ्गमाद् भावाः कृता कर्त्रेति सिध्यति। अहेतुगुणयुक्तस्य कुत एव तु सिद्धता ॥३०१॥

(१०) न परमाण्वादिकारणता—

गुणतारतम्यदर्शनादभियोगविशेषात् सामर्थ्यसम्भवः प्रागसमर्थानामपि पक्षादिति युक्तमेतत्। अत्यन्तविलक्षणस्य तु स्वभावसिद्धसामर्थ्यात्मनोऽनुगमरहितस्य साधनासम्भव एव।

किंच।

संस्थानं हि नामेदं वस्तुवृत्ते न सिद्धिमत्। भ्रान्तिमात्रस्य सद्भावात् परमाणव एव ते ॥३०२॥

न खलु परमाणुभ्यो व्यतिरिच्यमानशरीरं द्रव्याश्रितमस्ति। परमाणव एव केवलास्ततो वैधर्म्येण परमाणव इति कथमुच्यते।

अथ लोकप्रतीतिमात्रव्यवस्थापितं तदुपादीयते। तदप्ययुक्तम्। कल्पनारचितमात्रस्यासाधनत्वात्। अथ परमाणव एव तेन रूपेणोच्यन्ते। तथा सति परमाणवोऽपि कार्या एव। ततः कार्यत्वादेवेत्ययमेव हेतुरन्यासार्हः। अथ तत्राभूतभ्रान्तिजनकाः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शहर के चहल-पहल चौरोह पर किसी का अपहरण कर सकता है, उसके लिए निर्जन वन में किसी के अपहरण की बात ही क्या? जो व्यक्ति गुणोत्कर्षादि युक्तियों से परिपूर्ण क्षेत्र में ईश्वर का अपहरण कर सकता है, उसके लिए सर्वथा युक्तिरहित स्थल पर ईश्वर का अपहरण क्यों नहीं कर सकता? इसलिए वर्ण-संस्थान-समन्वित विश्व का कर्त्ता ऐसा पुरुष माना जाता है जो स्वाभाविक अस्वाभाविक गुणों से सर्वथा रहित है। वह क्योंकर सिद्ध होगा? वैदिक दर्शनों के पारद्रश्वा आचार्य मण्डन मिश्र ने भी ईश्वरवाद की ऐसी ही प्रखर आलोचना की है—

सन्निवेशादिमत्सर्वं बुद्धिमद्धेतु यथापि।
प्रसिद्धेः सन्निवेशादेरेककारणता कुतः॥ (विधि पृ० २१९)

(१०) परमाणुकारणतावाद का निरास—

पदार्थों में गुण तरतम भाव से अवस्थित होते हैं, योगविशेष (तपःसाधना अथवा पारदादि के योग) से सामर्थ्याधान करके अक्षम पदार्थों को भी सक्षम बनाया जाता है—यह अत्यन्त युक्ति-संगत है, किन्तु कार्य से अत्यन्त विलक्षण स्वाभाविक सामर्थ्यरहित पदार्थों में जगत् की साधनता का सम्पादन सर्वथा असम्भव है, जैसे कि 'पृथुबुध्नाकारोऽयं घटः'—यहाँ न तो घटनाम का अवयवी वस्तु सत् है और न उसमें पृथुबुन्धाकारत्व, क्योंकि वहाँ केवल कुछ परमाणु ही रहते हैं, परमाणुओं में यदि स्थलत्व है, तब उसे परम+अणु कौन कहेगा? परमाणुओं में द्रव्य-कल्पना अवयवी की भ्रान्तिमात्र होती है ॥३०२॥ परमाणुओं से व्यतिरिक्त कोई अवयवी अवयवों के आश्रित नहीं रहता। परमाणुओं का स्थूलत्वादि वैधर्म्यरूपेण ग्रहण क्योंकर होगा?

'अयं घटः' इत्यादि लौकिक प्रतीतियों के आधार पर भी घटादि की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि गुञ्जा-पुञ्जादि में कल्पनामात्र के द्वारा कल्पित अग्नि से दाहकादिरूप अर्थक्रिया सिद्ध नहीं होती। यदि परमाणु ही घटादिरूपेण व्यवहृत होते हैं

कालङ्कारःवार्तिका

परमाणव एव तथोच्यन्ते । एवन्तर्हि—

परमाणवः स्वरूपेणावभासन्ते यदि भावतः । ईश्वरस्य कथं बुद्धिः संस्थानकरणं मम ॥३०३॥
निरूप्य करणन्तस्य यदि नास्तीति भण्यते । सर्वज्ञता कथन्तस्य निरूप्य करणे सति ॥३०४॥
परोपगमनेनाथ संस्थानस्य निरूपणम् । स्वयमप्रतिपन्नस्य परोपगमनं कुतः ॥३०५॥
अथावयविसद्भावादिवमुत्तरमुच्यते । निरूपयिष्यते पश्चादेतदत्यन्तदुर्घटम् ॥३०६॥

अथवा दृष्टान्ते संशयः । तेनैवेश्वरेण संशयोऽनैकान्तिकता संस्थानस्यासिद्धत्वात् । स्वरूपमेवार्थक्रियाकारिहेतुत्वेनोपादीयते । तच्च तथा स्वरूपमीश्वरस्यापीति तेनैवानैकान्तः । न हि स ईश्वरः स्थित्वा स्थित्वा प्रवर्त्तते अर्थक्रियाकारी वान्येन प्रेर्यमाणः । अथासौ स्वयमेव शक्तस्ततः परेण न प्रेर्यते । कुलालादयोऽपि यत्र शक्ताः परेण प्रेर्यन्त इत्ययुक्तमेव । तेऽसमर्था एवेति चेत् । दृष्टस्य समर्थत्वेन कथमसामर्थ्यम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तब परमाणुओं में भी घटादि के समान कार्यत्व (जन्यत्व) मानना होगा । घटादयः कथं साकाराः ? कार्यत्वात्—ऐसा हेतु-प्रयोग करना होगा "यदि परमाणुओं को ही अभूत (असत्) घटादि की भ्रान्ति का कारण कहा जाता है, तब प्रश्न उठता है कि ईश्वर को परमाणु स्वरूपतः प्रतिभासित होते हैं या नहीं ? यदि अवभासित होते हैं, तब ईश्वर को यह भान क्योंकर होता है कि घटादि आकार मेरा बनाया है, क्योंकि वहाँ घटादि आकार वस्तुतः हैं ही नहीं, परमाणुमात्र हैं ॥३०३॥ यदि ईश्वर ऐसा निरूपण करता है कि दृश्यमान आकार घट का है और घट के कारण परमाणु हैं किन्तु घट वस्तुतः नहीं है, तब ऐसे विरुद्धार्थाभिधायी पुरुष को ईश्वर कौन कहेगा ? क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ होता है । वस्तु के साध्य-साधन भाव निरूपण कर उसका अपलाप करना सर्वज्ञता कैसी ? ॥३०३॥ यदि कहा जाय कि घटादि अवयवी पदार्थ की सत्ता नैयायिकादि मानते हैं, उनके मत का अभ्युपगम करके ही संस्थावान् घट का निरूपण किया गया, अपने मन से नहीं । तब यह प्रश्न उठता है कि जब हम घटादि की पृथक् सत्ता मानते ही नहीं, तब दूसरे को भी नहीं मानने देंगे, उसके कहने मात्र से हमारा मानना तो दूर रहा ॥३०५॥ अथवा अवयवी का सद्भाव मानकर यह उत्तर दिया जाता है । संस्थान और उसके आश्रय की समस्या नितान्त जटिल है, इसका निरूपण पश्चात् किया जायगा ॥३०६॥

पृथिव्यादि-संस्थानों में ईश्वर-रचितत्व सिद्ध करने के लिए घटादिगत संस्थानों को दृष्टान्त बनाया गया है । घटादिगत संस्थानों में संशय है कि उनमें ईश्वर-रचितत्व है ? या नहीं ? यदि नहीं, तब घटादि के संस्थानों में अनैकान्तिकता (व्यभिचार) है, क्योंकि ईश्वर-रचितत्वाभाव के घटादि-संस्थानरूप आधार में संस्थानत्वरूप हेतु विद्यमान है । "परमाण्वादयः साधिष्ठानाः, स्थित्वा स्थित्वा प्रवर्तमानत्वाद् वासी-कुठारादिवत्"—इस अनुमान में प्रयतमानत्व या प्रवृत्तिहेतुत्व रूप धर्म को जो हेतु बनाया गया है, वह अनुभूयमान अर्थक्रियाकारित्वमात्र स्वरूप ही मानना होगा, जो कि कुलाल और ईश्वरादि में भी है, किन्तु वहाँ साधिष्ठानत्व या अन्यप्रेर्यमात्वरूप साध्य नहीं, अतः हेतु में अनैकान्तिकता स्पष्ट है । कुलालादि जिस कार्य के करने में सक्षम हैं, वहाँ अन्य की प्रेरणा अपेक्षित नहीं । वे किसी कार्य में स्वयं समर्थ नहीं— ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उनका सामर्थ्य प्रत्यक्ष दृष्ट है । तब ईश्वरगत दृष्ट

वार्तिकालङ्कारः

तस्यापि तर्हि दृष्टस्यानुमानेन समर्थतास्ति। अनुमानेनापरानुमाने न कुलालस्य सामर्थ्यं केवलस्येति चेदीश्वरस्य अपरेश्वरानुमानमित्यनवस्था।

किञ्च।

संस्थानं परमाणूनां नास्तीत्येतत् कुतो मतम्। तत्त्वादेवेति चेदेतत् कुतस्तत्त्वं प्रतीयताम् ॥३०७॥

नहि परमाणूनां परमाणुत्वमेवंविधमवगतं येन संस्थानाभावः।

अथैवमुच्यते। यत् स्थूलं तदवयवोपचयपूर्वकं यथानेकबिन्दुसमाहाररूपो जलसंघातः। द्व्यणुकपर्यन्तं च स्थूलन्ततोऽनेकसंघातरूपमिति परमाणुसिद्धिः। तदप्यसत्।

अष्टाणुकात् परं रूपमस्तीति कुतो गतिः। एतदष्टाणुकं रूपमन्यथा वेति का प्रमा ॥३०८॥

दृष्टत्वे परमाणूनां तत्संख्या स्याद् विनिश्चिता। अथ स्थूलं तदत्यन्तं तेन तद् द्व्यणुकं न हि ॥३०९॥

द्व्यणुकादि यदाऽदृष्टं किमपेक्ष्यास्य पीनता। अनुमीयमानापेक्षा चेदनवस्था प्रसज्यते ॥३१०॥

अनुमीयमानसापेक्षा सर्वस्य स्थूलता भवेत्। अथापि दृश्यं यद् रूपं पर्यन्तेऽणुरसौ मतः ॥३११॥

वर्त्तुलत्वादिसंस्थानं तस्य किं नोपलभ्यते। परमाणुर्न सिद्धश्चेत् कुतोऽवयविसम्भवः ॥३१२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सामर्थ्य का तत्साधक अनुमान के द्वारा समर्थन क्यों न मान लिया जाय? यदि कुलाल से भिन्न किसी अन्य प्रेरक कर्त्ता का अनुमान किया जाता है, तब केवल कुलाल का सामर्थ्य नहीं रहा जाता, इसी प्रकार ईश्वर के भी प्रेरक परम्परा का अनुमान करने पर अनवस्था दोष सुस्थिर हो जाता है।

दूसरी जिज्ञासा यह भी है कि प्रतीयमान संस्थान परमाणु का नहीं—इसका ज्ञान कैसे हुआ? यदि कहा जाय कि तत्त्वात् (परमाणुत्वात्) संस्थानाभाव का ज्ञान (अनुमान) होता है, तब परमाणुत्व आकाराभाव का नाम है—यह क्योंकर सिद्ध होता है? ॥३०७॥ परमाणुओं का परमाणत्व निराकारत्व रूप है—ऐसा कोई विधान उपलब्ध नहीं होता कि परमाणत्व के द्वारा संस्थानाभाव सिद्ध किया जा सके।

शङ्का—यदि ऐसा कहा जाता है कि 'जो स्थूल पदार्थ है, वह अपने अवयवों के उपचय से जनित होता है, जैसे सागर जल-बिन्दुओं के उपचय से उत्पन्न होता है। यह स्थूलता द्व्यणुक-पर्यन्त पाई जाती है। यह स्थूलता अपने जिन अवयवों के उपचित है, उनका ही नाम परमाणु है, इस प्रकार परमाणु-सिद्धि हो जाती है।

समाधान—उक्त अनुमान में दृष्टान्त का लाभ करने के लिए यह वस्तु अपने चार दिशाओं और चार उपदिशाओं में स्थित सभी आठ अवयवरूप परमाणुओं से उपचित है—ऐसी अवगति क्योंकर होगी? यह वस्तु अष्टाणुक है, अथवा अन्यथा है—ऐसी प्रथा कैसे होगी? ॥३०८॥ आशय यह है कि परमाणुओं के प्रत्यक्ष—दृष्ट होने पर ही वैसा परमाणुगत अष्टत्व संख्या का ज्ञान हो सकता था। अथवा यह पदार्थ अत्यन्त स्थूल है, अतः द्व्यणुक नहीं—ऐसा ज्ञान भी किसकी अपेक्षा से होगा, जब कि द्व्यणुक इष्ट नहीं। यदि अनुमीयमान द्व्यणुक की अपेक्षा से अधिक स्थूलतावगति करना चाहें तब अनवस्था प्रसक्त होती है ॥३०९-३१०॥ अनवस्था का कारण यह है कि वस्तु और उसकी अवयव-परम्परा का ज्ञान एक अनन्त अनुमान-परम्परा पर आश्रित है। अथवा घटादि दृश्य पदार्थ के लिए कहा जाय कि घटादि पदार्थ अपनी अपचय-कोटि में परमाणुरूप है, या परमाणुओं के उपचय से जनित संस्थावाला है। तब प्रश्न उठता है कि परमाणुगत वर्तुलत्व (परिमण्डलत्वरूप) आकार उपलब्ध क्यों नहीं होता? परमाणु यदि सिद्ध ही नहीं, तब

वार्तिकालङ्कारः

सिद्धिश्चेद् परमाणूनां कुतोऽवयविसम्भवः । एकदेशेन संसर्गः परमाणुरसौ कथम् ॥३१३॥
एकदेशेन संसर्गः सर्वस्यैवोपलभ्यते । ततः संसर्गसद्भावात् नाणुः स्थूलपदार्थवत् ॥३१४॥

अथापि स्यात् । द्वयोः परमाण्वोः संयोग उपजायते पदार्थान्तरं न तु संस्पर्शः सर्वात्मनैकदेशेन वा । तदप्यसत् ।

असंसर्गेऽपि संयोगो यदि कुतः स एव सः । कथमेकघनाकाराः परमाणुषु संविदः ॥३१५॥
अथान्योऽवयवी तत्र तत्रैकाकारता धियाम् । नित्यत्वात् परमाणूनां सान्तराणां दृशिर्भवेत् ॥३१६॥
यदि नामास्मदादीनामदृश्याः परमाणवः । ईश्वरस्याक्षदृश्यत्वन्तेषां नैव हि सम्भवि ॥३१७॥
अथद्वयमसौ पश्येत् समवायः कथम्भवेत् । भ्रान्ततैव जनस्य स्यात् तथा सत्यन्यथेक्षणात् ॥३१८॥

अवयवसंयोगपूर्वकश्च स्थूलमिति कुत एतत् । यदि नाम मृत्पिण्डादावुपलब्धमङ्कुरादौ तु नोपलभ्यत एव । तथा हि—

वटस्य बीजमत्यल्पं तत्कार्यमतिपीवरम् । तत्रावयवसंयोगः प्रागभावे कथं भवेत् ॥३१९॥

विद्यमानानामेवावयवानां संयोग इति समयः । न च स्थूलरूपकाण्डादेः प्राक् तदवयवानामुपलम्भस्ततः कथं संयोगः । कुतश्चावयवीति सकलमन्धकारनर्त्तनम् ।

अथाकाशदेशव्यापिनः परमाणवो दृष्टसहायाः सञ्चीयन्ते । तदयुक्तम् ।

सञ्चीयन्ते स्थिताः सन्तः किमपूर्वोदयस्ततः । कारणादिति सर्वेषामत्र संदेह एव नः ॥३२०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

घटादि अवयवी पदार्थ सम्भव क्योंकर होंगे ? ॥३११-३१२॥ यदि परमाणु की सिद्धि कथमपि हो भी जाती है, तब भी अवयवी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि निरवयव परमाणुओं का परस्पर संयोग नहीं होता और अवयव संयोगरूप असमवायिकारण के विना अवयवी की उत्पत्ति नहीं होती। परमाणुओं का संयोग मानने पर संयोग सावयव पदार्थों का होता है, अतः परमाणु सावयव हो जाने से परमाणु-पदास्पद क्योंकर रह सकेंगे ? ॥३१३॥ सभी पदार्थों का संयोग एक देशावच्छेदेन ही होना है, अतः यह अनुमान पर्यवसित होता है—"परमाणुः अणुर्न सम्भवति, संयोगित्वाद् घटादिस्थूलपदार्थवत्" ॥३१४॥

शङ्का—दो परमाणुओं का संयोगरूप पदार्थान्तर उत्पन्न होता है । वह सर्वात्मना हैं, या एकदेशेन यह कुछ नहीं कहा जाता ।

समाधान—संसर्ग-रहित परमाणुओं में यदि संयोग माना जाता है, तब उसे संसर्ग (सम्बन्ध) क्योंकर कहा जायेगा ? असंयुक्त परमाणुओं में 'एकोऽयं स्थूलो घटः' इत्यादि बुद्धियाँ क्योंकर होंगी ? ॥३१६॥ यदि परमाणु हमलोगों के लिए अदृश्य हैं, तब ईश्वर के लिए भी दृश्य नहीं हो सकते ॥३१७॥ यदि ईश्वर परमाणु और उनसे आरब्ध अवयवी—इन दोनों को एक साथ देखता है, तब विभक्त परमाणुकाल में अवयवी के न होने से उसका समवाय सम्बन्ध विभक्त परमाणुओं में क्योंकर होगा असमवायी का समवायी और असमवेत को समवेत देखना वैसा ही भ्रमज्ञान है, जैसे शुक्ति में रजत-दर्शन ॥३१८॥ अवयवों के संयोग से आरब्ध घटादि में ही स्थूलता का भान होता है, किन्तु असंयुक्त परमाणुओं में न तो घटादि की उत्पत्ति होगी और न उसमें स्थूलता की प्रतीति । दूसरी बात यह भी है कि संयुक्त अवयवों से आरब्ध घटादि में स्थूलता का भान होता है—ऐसा नियम नहीं देखा जाता, क्योंकि वट-बीज के अवयवों से आरब्ध वट-धाना में स्थूलता का भान नहीं होता । वट-धाना कितनी

वार्तिकालङ्कारः

अथादृष्टोऽपि दृष्टान्तादस्तीत्येव प्रतीयते। प्रदीपदृष्टान्तबलात् सांख्यदर्शनमागतम् ॥३२१॥
तत एवेश्वरः कर्त्तेत्येतद् दूरतरं गतम्। व्यञ्जकश्च प्रदीपादिरचेतनतया गतः ॥३२२॥
अचेतनाद् व्यक्तिरिति कथमीश्वरसाधनम्। चेतनाधिष्ठितः सोऽपीत्यत्र प्राक्कृतमुत्तरम् ॥३२३॥
तस्माद् यतो यतो यद् यत् तत्तदस्तु ततस्ततः। किञ्चिच्चेतनतः किञ्चिदन्यतश्चेति निश्चयः ॥३२४॥
पीतमप्यन्यथा शुक्लं वस्तुत्वादन्यशुक्लवत्। प्रत्यक्षबाधतो नेति सोऽत्र नेति कुतो मतिः ॥३२५॥
मम नास्तीति नैवासौ तवादृष्टिर्नहि प्रमा। तवादृष्टिः प्रमाणञ्चेदीश्वरो नेति गम्यताम् ॥३२६॥
तवाप्रमा सा दृष्टिश्चेदीश्वरो नेति गम्यताम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सूक्ष्म और वटवृक्ष कितना पीवर (विशाल)? वहाँ अवयय-संयोग की उपलब्धि भी नहीं होती ॥३२०॥ विद्यमान कपालादि अवयवों का संयोग होता है—यह न्याय का समय (संकेत या सिद्धान्त) है, किन्तु स्थूल-स्वरूप काण्ड (तना) आदि के अवयव उपलब्ध नहीं होते. उनका संयोग कैसे होगा और अवयवी कहाँ से उत्पन्न होगा? अतः अवयव-अवयवी की यह रचना कदलीवन में मोर नाचने के समान मात्र है।

शङ्का—आकाशदेशव्याप्त (बिखरे हुए) जल-कण मेघरूप में सञ्चित हो जाते हैं। इसी दृष्टान्त की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि आकाश-व्यापी परमाणु घटादिरूपों में सञ्चित हो जाते हैं।

समाधान—उक्त कथन अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि यदि आकाश में अवस्थित परमाणु सञ्चित हो गये तो उससे कौन-सा अपूर्व (नूतन) कार्य उत्पन्न हो गया? ऐसा सभी को सन्देह होता है ॥३२०॥ यदि कहा जाय कि परमाणु-सञ्चयादिरूप अदृष्ट पदार्थ मेघादि दृष्टान्त के आधार पर सिद्ध हो जाता है, तब वह सांख्य-सिद्धान्त फलित हो जाता है, जो कहा गया है—"प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" (सां० का० १३) अर्थात् जैसे तेल, बत्ती और अग्नि के समान परस्पर-विरोधी पदार्थ भी पुरुष के भोगादि की सिद्धि के लिए सञ्चित होकर प्रकाशरूप एक कार्य सम्पन्न कर देते हैं, वैसे ही सत्त्व, रजस् और तमस्—तीनों गुण पर भी पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए सञ्चित होकर पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि करते हैं ॥३२१॥ इस पक्ष में भी जगत् का ईश्वर कर्त्ता है—यह सिद्ध नहीं होता कर्तृत्व सदैव चेतन में रहता है—ऐसा भी कोई नियम नहीं, क्योंकि प्रदीप एक जड़ पदार्थ है, तथापि अन्धकारस्थ घटादि की अभिव्यक्ति का कर्त्ता माना जाता है ॥३२२॥ अचेतन पदार्थ से भी जब अभिव्यक्ति हो जाती है, तब चैतन्यात्मक ईश्वर की सिद्धि क्योंकर होगी? यदि कहा जाय कि प्रदीपादि भी ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही कार्यकारी है, तो इसका भी उत्तर दिया जा चुका है कि अनवस्था दोष की प्रसक्ति होती है ॥३२३॥ हमारे कहने का सार यह है कि लोक में जो वस्तु जिससे होती है, उससे होगी। कोई पदार्थ चेतन से और कोई अचेतन (जड़) से ॥३२४॥ अन्यथा [सभी पदार्थों की उत्पत्ति एक चेतन या एक जड़ से मानने पर] पीत पदार्थ को पक्ष बनाकर उसे शुक्लत्व सिद्ध कर देंगे—"इदं (पीतं) वस्तु शुक्लम्, पदार्थत्वाद् अन्यशुक्लवत्"। यदि वादी कहता है कि प्रकृत में इदंपदार्थ पीत है, अतः उसमें शुक्लता बाधित है। तब उससे पूछा जायगा कि इदंपदार्थ में शुक्लता का अभाव कैसे सिद्ध होगा? वादी कहता है—ममादर्शनात्। तब उसे प्रतिवादी यह स्पष्ट कह देगा कि आपका अदर्शन हमारे लिए प्रमाण नहीं हो सकता। यदि आपका अदर्शन प्रमाण है, तब ईश्वरविषयक

सिद्धं यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् ।
सन्निवेशादि तद् युक्तं तस्माद् यदनुमीयते ॥ १३ ॥

घटादि पदार्थों के सन्निवेश (आकार-प्रकार) सुघटित है, क्योंकि उन्हें एक बुद्धिमान् कुशल-कुलाल ने जन्म दिया और बल्मीक पर्वतादि के सन्निवेश अघटित हैं, क्योंकि उन्हें किसी कुशल कलाकार ने नहीं बनाया, अतः सुघटित संस्थान के द्वारा ही उसके बुद्धिमान् कर्त्ता का अनुमान हो सकता है, जैसे-तैसे सन्निवेश (सामान्य) सन्निवेश के द्वारा नहीं, क्योंकि सन्निवेश-विशेष ही कर्त्ता या अधिष्ठाता से व्याप्त (भावाभावानुविधायी) होता है, सन्निवेश सामान्य नहीं ॥ १३ ॥

वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः ।
न युक्तानुमितिः पाण्डुद्रव्यादिव हुताशने ॥ १४ ॥

'पृथिव्यादीनां संस्थानं पुरुषकृतम्, संस्थानत्वाद् घटादिसंस्थानवत्'–यहाँ पर वस्तुभेद (घटात्मक दृष्टान्तवस्तु) में प्रसिद्ध पुरुषकृतत्व का अनुमान पृथिव्यादि के अघटित संस्थानरूप हेतु से वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे बाष्परूप (धूसरिताकार पाण्डुद्रव्य)

वार्तिकालङ्कारः

अपि च । न कार्यमित्येव संस्थानमित्येव वस्त्वित्येवाभिमतकारणमनुमापयति । न खलु पुरुषेच्छया हेतवः साध्यसाधनाय प्रवर्त्तन्ते । अन्यथेश्वरविपर्ययोऽपि स्यात् । तस्यापि सिद्धिप्रसङ्गात् । ततः न किञ्चित् कस्यचिन्न सिध्येत । अपितु यादृशाद् यथा यदुपलभ्यते तादृशमेवानुमापयतीत्याह—सिद्धं यादृगधिष्ठातृ ।

यादृगधिष्ठातुर्भावाभावादनुवृत्तिकारि दृष्टम् । यादृशो वाधिष्ठातुर्भावाभावानुवर्त्तमानं यदुपलब्धं तादृशात्तु तदेवानुमीयत इति युक्तम् । सन्निवेशादि । सन्निवेशो वस्तुत्वं स्थित्वा प्रवृत्तिर्वा । यादृशी यादृशादुपलब्धा तादृश्यास्तादृगधिष्ठात्रनुमानमुपपन्नं नान्यथेत्याह—वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आपका अदर्शन ईश्वर को भी असिद्ध करके रख देगा ॥३२६॥ आप (नैयायिकों) की "ईश्वरोऽस्ति"—यह दृष्टि यदि अप्रमा है, तब ईश्वर नहीं है—यही सिद्ध होता है ।

दूसरी बात यह भी है कि कार्यमात्र या संस्थानमात्र या वस्तुमात्र से कर्त्ता या कारण की सिद्धि नहीं होती, अपितु विशेष कार्यादिकर्त्ता की सिद्धि होती है [आशय यह है कि मन्दिर-प्रासादादि कार्यों को देखकर कर्त्ता की कल्पना अवश्य होती है, गिरि-सरित्-सागरादि कार्यों को देखकर उसके कर्त्ता का कभी स्फुरण नहीं होता । इसी प्रकार घटादि के संस्थान (आकार-प्रकार) को देखकर अवश्य कुलालादि का अनुमान होता है किन्तु पृथिवी, चन्द्र, सूर्यादि के संस्थान किसी अधिष्ठाता के कल्पक नही होते । इसी प्रकार दाह-पाकादिरूप अर्थक्रिया-सक्षम अग्नि वस्तु को देखकर उसकी सत्ता अनुमित होती है, वस्तुमात्र से नहीं । अन्यथा शुक्ति-रजत एवं ईश्वराभाव की भी वस्तुत्वेन सत्ता माननी पड़ेगी] । वासी-कुठारादि की ठहर-ठहर कर प्रवृत्ति से तक्षादि अधिष्ठाता की कल्पना जागरित होती है, मेघ-वायु आदि की वैसी प्रवृत्ति से किसी अधिष्ठाता की ऊहा प्रस्फुरित नहीं होती । सारांश यह है कि व्याप्य से व्यापक की तर्कना होती है, वस्तुमात्र से वस्तुमात्र की नहीं, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—,'वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य'' इत्यादि ।

धूम से हुताशनविषयक अनुमान नहीं होता, क्योंकि पुरुष-रचितत्वरूप साध्य से व्याप्त घटादि का सुघटित संस्थान ही है, पृथिवी आदि का असुघटित संस्थान नहीं, वह तो केवल 'संस्थानरूप' सामान्य शब्द का वाच्य है, साध्य-व्याप्त नहीं ॥ १४ ॥

अन्यथा कुम्भकारेण मृद्विकारस्य कस्यचित् ।
घटादेः करणात् सिद्धेद् वल्मीकस्यापि तत्कृतिः ॥ १५ ॥

अन्यथा [साध्य-व्याप्त धर्मविशेष का अनुमापक न मानकर धर्मसामान्य को साध्य का साधक मानने पर] कुलाल के द्वारा किसी एक घटादिरूप मृन्मय पदार्थ को रचते देखकर वल्मीकादिरूप मृद्विकार की भी किसी पुरुष की रचना माननी होगी ॥ १५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि हि संस्थानभेदं परित्यज्य संस्थानशब्दमात्रवाच्यं कर्त्तृविशेषानुगमं निरस्य हेतुरुपादीयते वस्तुत्वमात्रं वा तदा युक्तानुमितिः । स्यात्पाण्डुद्रव्यादिव वह्नौ । तत्र हि पाण्डुविशेषोवधारणीयो यो धूमगतः । धूमादेव तदनुमानं तर्हि किं पाण्डुतया । अत्रोच्यते—

विशिष्टमेव पाण्डुत्वं धूम इत्यभिधीयते । व्यतिरिक्तन्न धूमत्वे पाण्डुत्वस्य विशेषणम् ॥३२७॥

धूमगतपाण्डुत्वादिति कोऽर्थः । अग्न्यन्वयव्यतिरेकानुविधानमेव कथमवगन्तव्यम् । अत्रापि धूमत्वमग्न्यविनाभावीति कार्यकारणभावस्य ग्रहणेनानुमा भवेत् । तथा च सुतरामीशो न सिद्धिमधिगच्छतीति लाभमिच्छतो मूलस्यापि नाशः । तस्माद् वस्तुभेदे दृष्टान्ते यो दृष्टो वस्तुभेदः संस्थानविशेषे घटादौ पुरुषाधिष्ठानविशेषस्तस्य शब्द-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि विशेष संस्थान को छोड़कर संस्थानमात्र से कर्त्ता का अनुमान किया जाता है, तब वह अनुमान सदनुमान न होकर अनुमानाभास होगा, जैसे धूमत्वेन धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान न करके पाण्डुद्रव्यत्वेन (श्वेत-पीतरूपेण प्रतीयमान) वाष्पादि से वह्नि का अनुमान ।

शङ्का—पाण्डुता तो धूमगत एक विशेषता है किन्तु जब केवल धूम से वह्नि का अनुमान सम्पन्न हो जाता है, तब पाण्डुता की क्या आवश्यकता ?

समाधान—विशिष्ट पाण्डु द्रव्य को धूम कहा जाता है। धूम में धूमत्व से भिन्न कोई पाण्डुत्व विशेषण पृथक् नहीं लगाया जाता कि उसकी व्यर्थता का सन्देह किया जाय ॥३२७॥

"अयं धूमो वह्निसमानाधिकरणः, धूमगतपाण्डुत्वात्' यहाँ 'पाण्डुत्वात्' का क्या अर्थ ? अग्नि के अन्वय और व्यतिरेक का अनुगमन [अग्निसत्त्वे धूमसत्त्वम् , अग्न्यभावे धूमाभावः] । यह कैसे निश्चय हो कि यहाँ धूमत्व अग्नि का अविनाभावी (व्याप्त) है, अतः अग्नि और धूम का अन्वय-व्यतिरेकमूलक कार्यकारणभाव का निश्चय हो जाने पर धूम से अग्नि का अनुमान हो जाता है । नित्य और व्यापक ईश्वर के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्भव न हो सकने के कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । इस प्रकार कार्यकारणभाव-साधक अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ईश्वर-सिद्धिरूप वृद्धि की इच्छा ईश्वररूप मूलधन को भी खो बैठी । फलतः वस्तुभेद (महानसादि दृष्टान्तवस्तु) में जैसा (पुरुष-निर्मित) घटादिगत विशेष संस्थान (आकारादि) देखा जाता है, उसी से अधिष्ठातृ चेतन की अनुमिति होती है, पृथिवी आदि के (अपौरुषेय) संस्थानों के द्वारा

वार्तिकालङ्कारः

साम्यादभेदवतो न युक्तानुमितिः । यथेश्वरस्यापीत्येकान्त एषः ।

अथापि स्याद् । यदि पाण्डुत्वाद् विशेषरहितादनुमानं प्रवर्त्तयेमहि ततः प्रत्यक्षबाधा स्यात् न सर्वस्य तु पाण्डुतायामग्निसंसर्गः प्रत्यक्षतो विपर्ययस्य दर्शनात् । ईश्वरानुमाने तु बाधेत तदनुमानम् । नैतदस्ति ।

न न बाध्यत इत्येवमनुमानं प्रवर्त्तते । सम्बन्धदर्शनात् तस्य प्रवर्त्तनमितीरितम् ॥३२८॥

न खलु वल्मीकस्य कुम्भकारकरणेऽनुमाने बाधकमस्ति । न न दर्शनमेव बाधकम् । यदि कुम्भकारः कर्त्ता भवेदुपलभ्येत । ईश्वरेऽपि किमनुपलम्भः । नन्वेवमदृष्टं कर्मापि न कल्पनीयम् । तत्किमिदानीं शुषिरमित्येव जानुप्रवेशः । अथ कर्मापि परिकल्प्यापर ईशः परिकल्प्यते । ततस्ततोऽन्योऽपीत्येवमनवस्था । किञ्च ।

कुम्भकारोऽपि तत्कार्ये किमदृष्टो न कल्प्यते कष्टकल्पनमेतत् किमीश्वरेऽपि न सम्भवि ॥३२९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किसी अधिष्ठाता पुरुष की कल्पना सम्भव नहीं । आशय यह है कि 'संस्थान' शब्द तो समान है, पुरुष-द्वारा रचित और अरचित सभी आकारों को कहता है, किन्तु अधिष्ठातृ चेतन का साधन-विशेष (पुरुष रचित) संस्थान ही है, सामान्य संस्थान नहीं । फलतः संस्थान सामान्य से ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती ।

प्रश्न—यदि धूमरूप विशेष पाण्डुद्रव्य को छोड़कर वाष्प-साधारण समान पाण्डु द्रव्य से वह्नि का अनुमान किया जाता है, तब प्रत्यक्षतः बाध उपलब्ध हो जाने से उस अनुमान को असदनुमान या अनुमानाभास कहा जाता है, किन्तु ईश्वरानुमान में किसी प्रकार का बाध उपलब्ध नहीं होता, तब वह अनुमानाभास क्योंकर होगा ?

उत्तर—अनुमान की प्रवृत्ति बाधाभाव पर निर्भर नहीं, अपितु साध्य और साधन के सम्बन्ध-ज्ञान से होती है ॥३२८॥ यदि अनुमान को अपनी प्रवृत्ति के लिए बाधाभाव की अपेक्षा हो, तब मृत्तिका एक विकारभूत घट की उत्पत्ति कुम्भकार से देखकर वल्मीक (दीमकों का भीटा या बाँबी) के समान किसी भी मृद्विकार में कुम्भकारककर्तृकत्व का अनुमान किया जा सकेगा, क्योंकि वहाँ किसी प्रकार का बाध उपलब्ध नहीं होता ।

'यदि कुम्भकारो वल्मीकस्य कर्त्ता भवेत् तर्हि उपलभ्येत, नोपलभ्यते'—इस प्रकार का नदर्शन (अनुपलब्धि) को बाधक मानने पर ईश्वर का भी अनुपलम्भ ईश्वर की सत्ता में बाधक हो जायगा ।

शङ्का—यदि वस्तु का अदर्शन उसकी सत्ता में बाधक है, तब अदृष्ट पुण्य-पापादि कर्म की भी कल्पना क्योंकर हो सकेगी ?

समाधान—क्या आप कर्म की कल्पना मनवाकर ईश्वर की कल्पना भी लाद देना चाहते हैं ? यदि ऐसा है, तब यह चेष्टा तो वैसी ही है, जैसे किसी को उँगली जाने भर का छेद मिल गया और वह उसमें अपना जानू (पूरा घुटना) ही घुसेड़ने लगा, किन्तु यह स्मरण रहे कि अदृष्ट-अधिष्ठातृ-परम्परा की कल्पना में अनवस्था दोष का प्रसञ्जन किया जा चुका है । दूसरी बात यह भी है कि यदि अनुपलब्ध कर्त्ता की कल्पना की जाती है, तब वल्मीक-स्थल पर भी अदृष्ट कुम्भकार की कल्पना क्यों नहीं होगी ? वहाँ कुम्भकार की कल्पना यदि क्लिष्ट कल्पना है, तब ईश्वर की कल्पना भी क्लिष्ट कल्पना क्यों नहीं ? ॥३२९॥ यदि वल्मीक में दण्ड, मृत्तिका, दण्ड और चक्रादि

साध्येनानुगमात् कार्ये सामान्येनापि साधने ।
सम्बन्धिभेदाद् भेदोक्तिदोषः कार्यसमो मतः ॥ १६ ॥

घटादिरूपकार्यविशेष में साध्य (पुरुषपूर्वकत्व) का अनुगम (व्याप्तत्व) देखकर (कार्यत्व सामान्य के द्वारा साध्य-सिद्धि करने पर वल्मीकादि में अनैकान्तिकता निश्चित है। इस अनैकान्तिकोद्भावन को कार्यसमनाम का जात्युत्तर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यभिचारोद्भावन को कार्यसम नहीं कहा जाता, अपितु पक्ष और दृष्टान्तरूप सम्बन्धियों के भेद से हेतु का भेद विकल्पित कर असिद्धयादि दोषों का उद्भावन कार्यसम कहलाता है, अर्थात् दृष्टान्तवृत्ति 'कार्यत्व' हेतु है ? अथवा पक्षवृत्ति ? दृष्टान्तगत कार्यत्व पक्ष में न रहने के कारण स्वरूपासिद्धि और पक्षवृत्ति कार्यत्व दृष्टान्त में न रहने के कारण व्याप्यत्वासिद्धि होती है ॥ १६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथ दण्डमृत्पिण्डचक्रकरप्रक्रमानुगमो न वल्मीक उपलभ्यते । यदि तर्हि महतीयं भवतः सूक्ष्मेक्षिका । तदा पर्वतादिष्वप्यनियतसंस्थानेषु न प्रेक्षावद्वृत्तिरुपलभ्यते इत्येषामपि क्रिया न किमर्द्धजरतीयमालम्ब्यते ।

अथ पृथिवीधारणमात्रकरणे पर्वतादेरुपयोगः । किन्तत्र 'पर्वतादिषु घटितसंस्थानेनेति । एवं तद्धि ।

उपयोगं विना भूभृत् संस्थानं क्रियतेऽन्यथा । किं वा न पुरुषस्तत्र हेतुस्तेन विरूपता ॥३३०॥

किमुपयोगाभावात् पुरुषकर्तृत्वेऽपि संस्थानमतिशोभनं न जायते पुरुषो वा न कर्त्तेति संदेह एव ।

नन्वेष दोषः कार्यसमः । तथा हि । 'प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः । प्रयत्नानान्तरीयकत्वात् कार्यः शब्द इति । प्रयत्नान्तरं व्यक्तिरपि दृष्टा इति न कार्यः शब्द इति । तथात्रापि संस्थानमत्यकार्यमपि दृष्टमिति । तदप्यसत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का अनुगम (अन्वय) उपलब्ध न होने से वहाँ कुम्भकार की कल्पना नहीं कर सकते, तब यह कहा जा सकता है कि यदि आपकी ऐसी सूक्ष्म दृष्टि है, तब पर्वत, सरित्, सागरादि के संस्थानों में भी पुरुषकृत प्रासादादि के संस्थानों से अन्तर क्यों नहीं दिखता ? वल्मीक-संस्थान में कुम्भकार-कृति घटादि के संस्थानों से विचित्रता दिखती है, किन्तु पर्वतादि के संस्थानों में नहीं—ऐसी अर्धजरतीयता (आधा तीतर, आधा बटर) क्यों ?

शङ्का—पर्वतों या भूधरों का उपयोग केवल पृथिवी के धारण में है, उनका संस्थान पुरुष-कृत नहीं, क्योंकि जैसे पटादि के संस्थान पुरुष अपनी आवश्यकता के अनुसार किया करता है, वैसे पर्वतादि के संस्थान नहीं, अतः मानव-उपयोग को ध्यान में रखे बिना ही पर्वतादि के संस्थान प्रतीत होते हैं, ऐसी विरूपता (विलक्षणता) देखकर इन संस्थानों का हेतु (कर्त्ता) पुरुष नहीं हो सकता ॥३३०॥ फलतः यहाँ यह सन्देहमात्र होकर रह जाता है कि पर्वतादि का लोक-व्यवहार में विशेष उपयोग न होने के कारण पर्वतादि के आकार पुरुष-कृत होने पर मन्दिरादि के समान बहुत सुन्दर नहीं ? अथवा उनका कर्त्ता कोई पुरुष है ही नहीं ?

कार्यसमता का सन्देह—कथित संशय का उत्थापन कार्यसमा नाम का जात्युत्तर

वार्तिकालङ्कारः

साध्येन हि कार्यत्वादिना सामान्येनापि साधने साधनविषय उक्तो यो दोषः स कार्यसमो मतः। कार्यसमजातिरूपः कीदृशो दोषः। भेदोक्तिदोषः। भेदस्योक्तिरुपक्षेपः। कार्यत्वन्नाम किमभिव्यक्तिगतमुपादीयते किं वोत्पत्तिगतमिति। सम्बन्धिभेदाद् यो भेदोक्तिदोषः स कार्यसमः। तत्रापि यद्यनैकान्तिकमुद्भावयति। प्रयत्नादावरणविगमादित्येवमपि न विरोधीति। न जात्युत्तरम्। किन्तु सामान्येनापि साधनं भवति। यतोऽभिव्यक्तिरपि नित्यस्य विरुद्धैव। ततो जात्युत्तरमन्यथा नैकान्तिकोद्भावनं सत्यमेव भवेत्।

अथात्रोत्तरम्। कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः। प्रयत्नकार्यान्यत्वोपपत्तेः स्यादेतत् सत्त्वं शब्दे स्यात्। अनुपलब्धिकारणस्य व्यवधानादेरुपपत्तेः न च शब्दस्य व्यवधानादिकारणोपपत्तिः। तेन नास्य प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिः। यत्र

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्यों न मान लिया जाय? क्योंकि न्यायसूत्रकार ने कार्यसमा का ऐसा ही लक्षण किया है—"प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः" (न्या० सू० ५।१।३७)। अर्थात् "शब्दोऽनित्यः, प्रयत्ननान्तरीयकत्वाद् घटादिवत्"। यहाँ सन्देह होता है कि प्रयत्न के अनन्त असत् शब्द घटादि के समान उत्पन्न होता है? अथवा दीप-ज्वालन प्रयत्न के अनन्तर अन्धकारस्थ घटके समान सत् शब्द अभिव्यक्तमात्र होता है? इसी प्रकार पर्वतादि के संस्थान पुरुष के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं? अथवा अभिव्यक्त?

न्याय-सम्मत कार्यसमता का निरास—

न्यायसूत्रकार का उक्त लक्षण यक्तियुक्त नहीं, क्योंकि अनित्यत्वरूप साध्य से अनुगत (व्याप्त) सामान्य कार्यत्व हेतु में उद्भावित दोष को कार्यसम माना जाता है। कार्यसमजातिरूप दोष का लक्षण आचार्य दिङ्नाग ने किया है—

कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनम्।

तत् कार्यसमं प्रोक्तम्...।" आचार्य धर्मकीर्ति ने भी उसी का स्पष्टीकरण किया है। 'कार्यसम नाम का जात्युत्तररूप दोष कैसा होता है? इस प्रश्न का उत्तर है—'भेदोक्तिदोषः'। अर्थात् 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्'—यहाँ पर कार्यत्व या यत्न-साध्यत्व दो प्रकार का होता है—(१) अभिव्यक्त (कूप-खनन से प्रकट होने वाले जलादि) में रहनेवाला और (२) तन्त्वादि के आतान-वितान से उत्पन्न होनेवाले पटादि में रहनेवाला। इसी प्रकार प्रकारान्तर से भी कार्यत्व के दो भेद होते हैं—(१) शब्दरूप पक्ष में रहनेवाला और (२) घटादिरूप दृष्टान्त में रहनेवाला। इस प्रकार भेदोक्तिपूर्वक 'दोषाभिधानकार्यसमः' कहलाता है। इनमें अभिव्यक्त जलादिगत कार्यत्व शब्द में नित्यत्व का विरोधी न होने से जात्युत्तर नहीं [घटादिगत कार्यत्व शब्द में निश्चित नहीं। पक्षगत कार्यत्व दृष्टान्त में न रहने के कारण साध्य-व्याप्त नहीं और दृष्टान्तगत कार्यत्व पक्ष में असिद्ध है] किसी प्रकार के भेद की विवक्षा न कर सामान्य कार्यत्व को भी साधन बनाया जा सकता है, क्योंकि अभिव्यक्त भी नित्यपदार्थ की विरुद्ध ही है।

उत्तर—इस कार्यसमा का उत्तर-सूत्र है—"कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः" (न्या. सू ५।१।३८) इस सूत्र का भाष्य है—"सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुत्वं शब्दस्याभिव्यक्त्यै। यत्र प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिस्तानुपलब्धिकारणं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविनो-

वार्तिकालङ्कारः

प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिस्तत्रानुपलब्धिकारणमुपयुज्यते व्यवधानम् । व्यवधानापोहाच्चार्थस्योपलब्धिरूपतद्विलक्षणाभिव्यक्तिर्भवति । अत्रोच्यते—

शब्दस्यापि न सेत्येतत् कथं कस्मात् प्रतीयते । यद्यभिव्यक्तिसम्बन्धो नित्यस्याप्युपपत्तिभाक् ॥३३१॥

अथापि स्यात् ।

शब्दस्यानुपलब्धत्वे व्यवधानादिकारणम् । घटादीनामिव व्यक्तं नेक्ष्यतेऽतः प्रयत्नजाः ॥३३२॥

तदप्यसत् ।

व्यवधानादयः सन्ति शब्दस्येत्यपि कल्प्यताम् । प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छब्दस्य न विनाशिता ॥३३३॥

घटादयोपि प्रागुपलब्धा व्यवधानावस्थायां न विनष्टा इति व्यवधानापगमे प्रत्यभिज्ञानादेव प्रतीयते । शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् तथैव युक्तः । अथान्येनोपलम्भादेवं प्रतीतिर्न प्रत्यभिज्ञानात् स्वयं साक्षादिति महती तत्त्वदृष्टिः । किञ्च ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति, न तु शब्दस्यानुपलब्धिकारणं किञ्चिदुपपद्यते यस्य प्रयत्नानन्तरमयोहाच्छब्दस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति । तस्मादुत्पद्यते शब्दो, नाभिव्यज्यते" । अर्थात् कार्यत्व या प्रयत्न-साध्यत्व हेतु के दो भेद होते हैं—कहीं असत् वस्तु की उत्पत्ति के लिये प्रयत्न किया जाता है और कहीं सत् पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए । इस प्रकार कार्यत्व हेतु 'जन्यत्व' और 'व्यङ्ग्यत्व'—इन दो रूपों में विभाजित हो जाता है । जहाँ सत् (विद्यमान) पदार्थ की अनुपलब्धि का कोई आवरणादि कारण उपलब्ध होता, जिसकी निवृत्ति से विषयवस्तु की अभिव्यक्ति हो जाती है, किन्तु शब्द का कोई व्यवधायक उपलब्ध नहीं होता, अतः शब्द प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न ही होता है, अभिव्यक्त नहीं ।

अभिव्यक्तिवादी—मीमांसक का कहना है कि यदि शब्दादि नित्य पदार्थों के साथ अभिव्यक्ति का सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है, तब शब्द की वह (अभिव्यक्ति) क्यों नहीं मानी जा सकती ? ॥३३१॥

नैयायिक—जैसे घटादि की अनुपलब्धि कारण उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही शब्द का भी कोई व्यवधान या आवरण उपलब्ध नहीं ।

अभिव्यक्तिवादी—शब्द की भी वह (अभिव्यक्ति) क्यों नहीं हो सकती, यदि शब्द के नित्य होने पर भी उसका अभिव्यक्ति के साथ सम्बन्ध बन जाता है ॥३३१॥

नैयायिक—शब्द के अनुपलब्ध होने पर जब घटादि के समान उसके व्यवधानादि कारण नहीं देखे जाते, तब शब्द को प्रयत्न-जन्य मानना चाहिए ।

अभिव्यक्तिवादी—उक्त कथन युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि सत् शब्द की अनुपलब्धि के कारण व्यवधानादि की भी कल्पना की जा सकती है । 'सोऽयं गकारः'—इस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमान होने के कारण शब्द की विनाशिता किसी हेतु से भी सिद्ध नहीं होती ॥३३३॥ घटादि भी पहले उपलब्ध हो रहे हैं । व्यवधान होने पर नष्ट हो गये—ऐसी कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि व्यवधान हट जाने पर 'सोऽयं घट' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है । इसी प्रकार शब्द भी प्रत्यभिज्ञायमान होने के कारण वैसा (नित्य) ही होगा ।

यदि कहा जाय कि मीमांसकादि अन्य पुरुषों को वैसी प्रत्यभिज्ञा होती है, हम को साक्षात् नहीं । तो आपकी यह तत्त्व-दृष्टि नितान्त प्रशंसनीय है, किन्तु अन्य पुरुषों

वार्तिकालङ्कारः

परेणाऽपि प्रतीतं तत् प्रत्यभिज्ञानतोऽन्यतः । न गम्यते कथन्तस्य परस्मादपि नित्यता ।।३३४।।

तस्मादत्र प्रागुक्त एव परिहारः । 'सामान्येनापि साधने सम्बन्धो'त्यादि । अथवा–

कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनम् । तत् कार्यसममेतत् तु त्रिधा वक्त्रभिसन्धितः ।।३३५।।

इति आचार्यप्रणीतं कार्यसमलक्षणमाश्रित्येदमुक्तम् । अक्षपादलक्षणन्त्वयुक्तमेवेति प्रतिपादितं विकल्पसमं तु 'साधर्म्येऽपि विशेषोक्तिर्विकल्पसमं' । तद्यथा पूर्वव घटसाधर्म्येणानित्यत्वे कृते सत्याह सत्येतस्मिन् साधर्म्ये कार्यत्वचाक्षुषत्वादिना घट एवानित्यो नान्यः ।

ननु अत्रापि कार्यत्वसंस्थानत्वादिसामान्येन साधनं भवति । विशेषसम्बन्धिद्वारपरिकल्पने कार्यसमप्रथवचनतैव घटपर्वतादिसंस्थानपरिकल्पनात् । तदसत्यम् ।

संस्थानादेर्न सामान्य बुद्धिपूर्वक्रियोद्भवः । अन्यत्राप्यस्य दृष्टत्वाद् वृक्षादाविति वर्णितम् ।।३३६।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

को भी शब्द की नित्यता प्रत्यभिज्ञा से भिन्न अन्य प्रमाण के द्वारा अवगत नहीं हो सकती ।।३३४।। फलतः नैयायिक सम्मत कार्यसमता का निरास और बौद्धाभिमत कार्यसमलक्षण का उपसंहार करते हुए आचार्यों ने अपनी दृष्टि से प्रकृत में कार्यसम दोष की अप्रवृत्ति बनाई है—"सामान्येनापि साधने' (प्र. वा. १।१६) । अथवा आचार्य दिङ्नाग की उक्ति है—"कार्यान्यत्वलेशेन" इत्यादि (न्या. वा. तात्पर्य. में पृ. ३६३ पर उद्धृत) अर्थात् कार्यत्व हेतु के अन्यत्व (भेदों) को लेकर जो जात्युत्तरवादी प्रकृत साध्य असिद्धि उद्भावित करता है, वह कार्यसम नाम का जात्युत्तर है—इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग-प्रणीत लक्षण को ध्यान में रखकर ही शङ्का की गई है—"नन्वेवं दोषः कार्यसमः ।" अक्षपाद का उक्त लक्षण तो युक्ति-युक्त नहीं—यह कहा जा चुका है [दिङ्नागीमलक्षण का आशय यह कि 'शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वाद् घटवत'—यहाँ प्रयुक्त 'कार्यत्व' हेतु के तीन भेद होते हैं—(१) पक्षवृत्तिकार्यत्व, (२) सपक्षवृत्तिकार्यत्व और (३) पक्षमात्रवृत्तिकार्यत्व । प्रथम हेतु दृष्टान्त में न रहने के कारण साध्य-व्याप्त, अतः सोपाधिक है । द्वितीय हेतु पक्ष में न रहने के कारण असिद्ध और तृतीय हेतु असाधारण अनैकान्तिक है] कुछ लोगों ने यहाँ विकल्पसम नामक जाति का उद्भावन किया है । विकल्पसम का लक्षण न्यायभाष्यकार के शब्दों में है—'साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्मविकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः" (न्या. सू. ५।१।४) । [न्यायवार्तिककार ने 'विकल्प' शब्द विशेष अर्थ करते हुए कहा है—"विकल्पो विशेषः" सत्येतस्मिन् उत्पत्तिधर्मकत्वे विभागजः शब्दो न विभागजो घटः । विभागजाविभागजादिविकल्पवत् नित्यानित्यविकल्प इति विकल्पसमः"] अर्थात् जैसे अनित्य घटादि के कार्यत्वरूप साधर्म्य को लेकर शब्द अनित्य माना जाता है, वैसे घटगत अविभागजत्व या चाक्षुषत्वादि धर्मों को लेकर यह कहा जा सकता है कि 'घट एवानित्यो न शब्दादिः ।

कार्यत्व-सामान्य और संस्थान-सामान्य के द्वारा सकर्तृकत्व-सामान्य की सिद्धि क्यों नहीं हो सकती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी प्रकार के संस्थानों का किसी बुद्धिमान पुरुष के द्वारा समुद्भव नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुरुष के द्वारा अप्रणीत पक्ष और वल्मीकादि में भी संस्थान देखा जाता है ।।३३६।। दृष्टान्त में व्याप्य (सुघट

जात्यन्तरे प्रसिद्धस्य शब्दसामान्यदर्शनात् ।
न युक्तं साधनं गोत्वाद् वागादीनां विषाणिवत् ॥ १७ ॥

"वाग् विषाणी, गोपदास्पदत्वाद् धेन्वादिवत्"—यहाँ वागात्मक पक्ष से अत्यन्त विजातीय (वागवृत्तिगोत्वजाति से युक्त) धेनुरूप दृष्टान्त में प्रसिद्ध विषाणित्वरूप साध्य की गोपदास्पदत्वरूप हेतु के द्वारा सिद्धि (अनुमिति) वाक् में युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि विषाणित्व की व्याप्ति गोपदास्पदत्व में नहीं, अपितु सास्नादि-विशिष्टगोपदास्पदत्व में हीं है ॥ १७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिबद्धविशेषस्य त्यागाद् यत् साधनं क्वचित् । तदत्यन्तमसम्बद्धमनित्ये काककार्ष्ण्यवत् ॥३३७॥

अत्राह परः । यदि नाम बुद्धिपूर्वक्रियान्वयो न दृष्ट स एव साधनं संस्थानादिर्मा भूत् । शब्दवाच्यतान्वयस्तु संस्थानं संस्थानमित्यादिर्भविष्यति । ततस्तदभिन्नलक्षणत्वादेककार्यत्वसिद्धिः । असदेतद् , यतः—

कल्पनामात्ररचितादर्थासत्तिविवर्जितात् । धर्मात् तत्सम्भविन्यर्थे यत्र तत्र समीहितात् ॥३३८॥

जात्यन्तरे—

शशादिविलक्षणो हि जात्यन्तरे प्रसिद्धो विषाणसम्बन्धः । स किं गौरिति वचनाभेदमात्रादनुमीयते ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संस्थान) के सुघटरूप विशेष अंश का त्याग कर जो संस्थानमात्र रखा जाता है, वह सकर्तृकत्व के साथ सम्बद्ध वैसे ही नहीं, जैसे अनित्यता के साथ काककार्ष्ण्य (काक की कालिमा) का ॥ ३३७ ॥

शङ्का—यद्यपि वल्मीकादि के संस्थानों में बुद्धिपूर्वकारित्व का अन्वय (सम्बन्ध) नहीं देखा गया, तथापि 'संस्थान' शब्द की वाच्यता तो वल्मीकादि के संस्थानों में भी है, फलतः जब 'संस्थान' शब्द का वाच्य घटादि का संस्थान पुरुष-प्रयत्न-साध्य है, तब संस्थानपदास्पद पृथिव्यादि का संस्थान किसी बुद्धिमान् की रचना क्यों नहीं ? संस्थानपद-वाच्यत्वेन दोनों संस्थान अभिन्न होने के कारण एककार्यकारी अवश्य होंगे।

समाधान—शब्द का वाच्यता सम्बन्ध मानव की अपनी कल्पना है। सुघटित और असुघटित उभयविध संस्थानों में संस्थानपद-वाच्यता मान लेने से क्या होता है ? पृथिव्यादि के संस्थानों में पुरुषबुद्धिपूर्वकत्वरूप साध्य की आसत्ति (व्याप्तिरूप सम्बन्ध) नहीं, अतः घटादि के संस्थानों में समीहित पुरुषपूर्वकत्व पृथिव्यादि के संस्थानों में सम्भव नहीं ॥३३८॥ वार्तिककार ने अत्यन्त विस्पष्ट शब्दों में कहा है कि पृथिवीत्व से भिन्न घटत्वादि जातिवाले पदार्थों में सिद्ध पुरुष-कृति-साध्यत्व का अनुमान पृथिव्यादि में नहीं हो सकता, क्योंकि पृथिव्यादि के संस्थान केवल संस्थानपदास्पद हैं, साध्य-व्याप्य नहीं। एक ही 'गो' पद के अनेक अर्थ होते हैं—गौ, इन्द्रिय, शब्द, पशु आदि-आदि, किन्तु गोपदास्पदत्वेन सर्वत्र विषाणित्व (शृङ्गित्व) का अनुमान नहीं किया जा सकता। ["शशादीनां विषाणिवत्"—इसके स्थान पर "वागादीनां विषाणिवत्"—ऐसा पाठान्तर उपलब्ध होता है। यही उचित प्रतीत होता है। इसके अनुसार अनुमानाभास का आकार होता है—वाग् विषाणी गोपदवाच्यत्वाद वलीवर्दवत्'। यदि श, ष, आदि शब्दों को पक्ष बनाया जाता है तब 'शषादयो विषाणवन्तः, गोपदास्पदत्वात्' इत्यादि प्रयोग सम्भावित है। "गौर्वाहीकः" आदि प्रयोगों में 'गो' पद

विवक्षापरतन्त्रत्वाद् न शब्दाः सन्ति कुत्र वा ।
तद्भावादर्थसिद्धौ तु सर्वं सर्वस्य सिद्ध्यति ॥ १८ ॥

पुरुषों की विवक्षा के अधीन किसी अर्थ में किसी शब्द की प्रवृत्ति होती है। पुरुषों की विवक्षा तो सभी अर्थों की सभी शब्दों से हो सकती है, अतः सभी शब्दों से सभी अर्थों की सिद्धि प्रसक्त होती है ॥ १८ ॥

एतेन कापिलादीनामचैतन्यादि चिन्तितम् ।
अनित्यादेश्च चैतन्यं मरणात् त्वगपोहतः ॥ १९ ॥

एतेन [केवल 'गो' शब्द की समानता के आधार पर वागादि में विषाणित्व सिद्ध नहीं हो सकता—इस तथ्य के आधार पर] सांख्यादि दर्शनों के द्वारा बुद्ध्यादि में प्रदर्शित अचेतनत्वादि का निरास किया जा सकता है [। दसवीं कारिका में बुद्ध्यादि

वार्तिकालङ्कारः

अर्थाभेदेऽपि पाण्डुत्वान्नानुमानमितीरितम् । किं पुनर्यत्र नार्थोऽपि शब्दमात्रं परं समम् ।।३३९।।

अर्थस्य तावत् सम्भवति समीहितसाध्यप्रतिबद्धता । तस्यापि सूक्ष्मेक्षिकावह्निरसाधकतोच्यते । किं पुनः शब्दसमानताया यस्याः साध्यसम्बन्धगन्धोऽपि विदूरीकृतः । यतः–

विवक्षेत्यादि—

कुत्र चैते शब्दा न सन्ति विवक्षायाः सर्वत्राप्रतिघातात् । ततश्चेदर्थः साध्यः सिध्यति । न कश्चिदर्थसिद्धिवैधुर्यमासादयेत् । तस्मादसत्परगतम् ।

एतेनेत्यादि—

कापिलादीनामप्यचैतन्यमितरद् वा यतः सिद्धिसौधशेखरीभवति । तदर्थत्वाभावा-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पशुपरक माना जाता है, शश (खरगोश) भी एक पशु है, अतः 'शशो विषाणी, गोपदार्थत्वात्'—ऐसा प्रयोग भी हो सकता है] । शशादि जातियोंसे भिन्न जात्यन्तर (गोत्व-विशिष्ट) गवादि में विषाण-सम्बन्ध प्रसिद्ध है। वह क्या 'गौः' इस प्रकार के शब्दाभेदमात्र के द्वारा अनुमित हो सकता है ? कभी नहीं ।

धूलि-पटल या बाष्पादि में भ्रम-वश 'धूम' शब्द का प्रयोग हो जाने पर भी उससे वह्नि की अनुमिति नहीं होती—यह कहा जा चुका है, किन्तु जहाँ वैसा लिङ्गाभासरूप पदार्थ भी नहीं, केवल शब्द प्रयुक्त हो जाता है, वहाँ अनुमिति कथमपि नहीं हो सकती ।।३३९।। धूमादि पदार्थों में तो समीहित (वाञ्छित) अग्न्यादि की प्रतिबद्धता (व्याप्ति-युक्तता) सम्भव है। उसमें भी जब सूक्ष्मदृष्टि-सम्पन्न पुरुषों के द्वारा बाष्पादि की सत्ता सिद्ध कर वह्नि की असाधकता प्रमाणित कर दी जाती है, तब 'गो' आदि शब्दों की समानतामात्र के आधार पर साध्य के सम्बन्ध की गन्धमात्र भी सम्भावना के क्षेत्र से कोसों दूर हो जाती है, क्योंकि शब्दों की प्रवृत्ति सदैव पुरुष-विवक्षा के अधीन होती है, इसी तथ्य के आधार पर ही 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः' —ऐसी कहावत प्रचलित हो गई है फलतः शब्द-साम्य को लेकर तो सब पदार्थों से सब कुछ सिद्ध हो जायगा, क्योंकि सभी पदार्थों की विवक्षा सभी शब्दों से हो सकती है, अतः कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ की साधकता से वञ्चित नहीं रहेगा, फलतः शब्द-साम्यमात्रता के द्वारा एककार्यकारित्व का सिद्धान्त सर्वथा अयुक्त है।

इसी प्रकार कपिलानुयायी सांख्याचार्यों ने जिस अनित्यत्वादि के द्वारा ज्ञानादि

में अनित्यत्वादि धर्म कहे गये हैं—'हेतुमदनित्यमव्यापि"। अनित्य होने के कारण बुद्धयादि में अचैतन्यरूपता दिखाई गई है—"त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि" (सां० का० ११)। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या में कहा है—"सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतनाः, न तु वैनाशिकवच्चैतन्यं बुद्धेः"। इस प्रकार उक्त अनुमान पर्यवसित होता है।

वार्तिकालङ्कारः

च्छब्दमात्रसाम्यरचितमेव। तथा हि—

अनित्यत्वं न सांख्यस्य प्रसिद्धं वस्तुवृत्तितः। तस्याव्यक्तिः पदार्थानां न निरन्वयनाशिता ॥३४०॥

न खलु सत एवानभिव्यक्तिरनित्यता बौद्धस्य प्रसिद्धा। का तर्हि ? निरन्वयनाशिता।

ननु न तिरोभावो विनष्टानभिव्यक्तयोस्तुल्य एव। कोऽयं तिरोभावः ? अदृश्यात्मता। ननु शशविषाणादीनाञ्च प्रधानादीनामनित्यताप्राप्तिः। विद्यमानस्या यनित्यतेति चेत्। दृश्यात्मनायां प्रधानादीनामपि स्यात्। दृश्यस्यादृश्यात्मताप्राप्तावनित्यतेति चेत्। केयं दृश्यता नाम ? यद्यर्थस्वरूपं कथं दृश्यस्यादृश्यता। तत्परित्यागे

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में अचैतन्यता अथवा संघात-परार्थत्व के द्वारा पुरुषतत्त्व की सिद्धि की है, वह भी शब्द-समानता के द्वारा असाधकार्थ में साधकता का आरोप करके ही सिद्ध किया है। जैसे कि "ज्ञानादयोऽचेतनाः, अनित्यत्वात्" यहाँ जिस अनित्यता के आधार पर ज्ञानादि पदार्थों में अचैतन्यता सिद्ध की है, वह अनित्यता सांख्यमतानुसार अनभिव्यक्तिमात्र एवं बौद्ध-सिद्धान्त में निरन्वय विनाशस्वरूप है। प्रथम प्रकार की अनित्यता बौद्ध-मत एवं द्वितीय सांख्य-मत में असिद्ध है ॥३४०॥ अर्थात् सत् पदार्थ की अनभिव्यक्तिरूप अनित्यता बौद्ध-मत में प्रसिद्ध नहीं। तब बौद्धों की अनित्यता क्या है ? निरन्वय विनाशिता [बौद्धेतर आचार्यों का कहना है कि जिस सुवर्ण-खण्ड में कटक का नाश (विलय) होता है, उसी से कुण्डलादि की उत्पत्ति होती है। पूर्व कार्य के विनाश और उत्तर कार्य के उत्पाद की मध्यावस्था में सुवर्ण-खण्ड ध्रुवभावी (स्थिर) है, आचार्य उमास्वाति ने कहा है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (तत्त्वार्थसूत्र ५।२९) अर्थात् सभी सत् कहलानेवाले पदार्थ उत्पाद, व्यय (नाश) और 'ध्रौव्य (स्थिरता) से युक्त होते हैं। इस प्रकार का सान्वय विनाश बहुदर्शन-सम्मत है, किन्तु बौद्धाचार्यों का कहना है कि जिस सुवर्ण-खण्ड में कटक विलीन होता है, उसी से कुण्डल का उत्पाद नहीं होता, क्योंकि क्षण-भङ्गवाद में कोई भी वस्तु एक क्षण से अधिक नहीं रहती, फलतः अन्य सुवर्ण-खण्ड से कुण्डल उत्पन्न होता है। इस प्रकार विनाश और उत्पाद के मध्य में कोई ऐसा स्थायी पदार्थ नहीं, जिसका अन्वय दोनों में हो]।

सांख्य-सम्मत तिरोभाव तो विनष्ट पदार्थ का भी वैसा ही होता है और अनभिव्यक्त का भी, तब अनित्यता का गमक तिरोभाव क्या है ? यदि अदृश्यता को अनित्यता कहा जाय, तब शशविषाण एवं प्रधानादि (प्रकृत्यादि) अदृश्य पदार्थों में भी अनित्यता प्राप्त होती है। यदि विद्यमान पदार्थ की अदृश्यता कहा जाता है, तब शशविषाणादि में अनित्यता प्रसक्ति न होने पर भी प्रधानादि में अनित्यता-प्राप्ति बनी रहती है। यदि दृश्य पदार्थ की अदृश्यता को अनित्यता माना जाता है, तब प्रधानादि अदृश्य पदार्थों की व्यावृत्ति अवश्य हो जाती है, किन्तु यह जिज्ञासा होती है कि अदृश्यता की घटको-

वार्तिकालङ्कारः

वस्तुरूपमेव नास्ति। अथ वस्तुनाऽन्यद् दृश्यात्मत्वं तथा तर्हि तस्याभावः कथं न निरन्वयविनाशः। न चान्यस्याभावेऽन्यस्य तिरोधानम्। तस्य वा सर्वदा प्रधानतुल्यत्वान्नानित्यत्वम्। तस्माच्छब्दपरिकल्पनामात्रमेव साधनात्केनोपादीयते। तथा मरणत्वात् त्वगपोहतः सर्वत्वगपहरणे मरणादिति मरणशब्दप्रवृत्तिमात्रकमेव।

विज्ञानादिनिरोधो हि मरणं बौद्धबोधतः। असिद्धं यस्य तरुषु विज्ञानं तन्मतिस्तथा ॥३४१॥

यस्य बौद्धस्य तरुषु विज्ञानसन्देहस्तदादिनिरोधरूपमरणमसंदिग्धमिति कः प्रत्येति। विज्ञानस्य निरोधो विज्ञानाभावे नास्ति तथायुषः।

'आयुर्जीवितमाधार ऊष्मविज्ञानयोर्हि यः' इति वचनात्। कथं हि मरणमभ्युपपन्नचैतन्यमभ्युपेयात्। तस्माच्छोपमयं मरणमाह। तच्च नैकान्तसाधनं विज्ञानस्य कर्दमादिष्वपि दर्शनात्। मरणशब्दवृत्तेस्तदपि सिद्धमेवेति चेत्। उक्तमत्र—'विवक्षापरतन्त्रत्वादि'ति? अथार्थदर्शनायातात्र विवक्षा ततोऽयमदोषः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भूत दृश्यता क्या है? यदि दृश्य पदार्थ का स्वरूप ही दृश्यता है, तब दृश्य की अदृश्यता कैसे सम्भव होगी? क्योंकि अदृश्यता मानने पर उसका स्वरूप ही समाप्त हो जायगा। यदि दृश्यता वस्तु-स्वरूप से भिन्न दृश्यात्मता है, तब उसका अभाव या अदृश्यता निरन्वय विनाश ही पर्यवसित हो जाता है, क्योंकि उसी वस्तु का अभाव ही उसका तिरोधान कहलाता है, अन्य वस्तु का अभाव अन्य वस्तु का तिरोभाव नहीं होता। वह (निरन्वय विनाश) प्रधानादि के समान सर्वदा रहने के कारण अनित्य नहीं कहा जा सकता। फलतः तिरोधानादिरूपेण कल्पित शब्दों को विज्ञानादि में अचैतन्यादि-साधनत्वेन कौन ग्रहण करेगा?

इसी प्रकार जैनाचार्यों के द्वारा प्रयुक्त "तरवः चेतनाः, त्वगपोहतो मरणात्"—इस वाक्य में मरणरूप हेतु विवादास्पद है, क्योंकि वृक्षों की छाल उतार देने से वृक्षों का मरण बौद्ध-सिद्धान्त में प्रसिद्ध नहीं और बौद्ध-मत-प्रसिद्ध विज्ञानादि का निरोधरूप मरण सांख्य-सम्मत नहीं ॥३४१॥ बौद्धमतानुसार भी वृक्षादि में जब विज्ञानादि के होने में भी सन्देह है, तब वृक्षों के विज्ञान-निरोधरूप मरण पर कौन विश्वास करेगा? जैसे विज्ञान के न होने पर विज्ञान का निरोध नहीं बन सकता, वैसे आयु के न होने पर आयु का नाश भी नहीं बन सकता, क्योंकि आचार्य वसुबन्धु ने आयु का स्वरूप प्रतिपादित किया है—

आयुर्जीवितमाधार ऊष्मविज्ञानयोर्हि यः।
लक्षणानि पुनर्जातिर्जरा स्थितिरनित्यता ॥ (अभि० को० २।४५)

वैभाषिक मतानुसार शरीर के अन्दर विद्यमान जीवित इन्द्रिय ही आयु कहलाती है, जो कि उष्णता और विज्ञान की आधार हैं, वृक्षादि स्थावर पदार्थों में उसकी सत्ता नहीं मानी जाती। फलतः चेतन प्राणियों का ही मरण होता है, वृक्षादि का नहीं। वृक्षादि का सूख जाना ही मरण कहा जा सकता है। शोष (सूख जाना) मात्र विज्ञान या चैतन्य का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि कर्दम (कीचड़) आदि जड़ पदार्थों में भी पाया जाता है। 'मृताः तरवः'—इस प्रकार वृक्षादि में 'मरण' शब्द की प्रवृत्ति देखकर चैतन्य भी सिद्ध हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पुरुष की विवक्षा के आधार पर अयोग्य अर्थ में भी शब्दों की प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे "कूलं

वस्तुस्वरूपेऽसिद्धेऽयं न्यायः सिद्धे विशेषणम् ।
अबाधकमसिद्धावप्याकाशाश्रयवद् ध्वनेः ॥ २० ॥

वार्तिकालङ्कारः

मरणसिद्धौ तच्छब्दः प्रतिबद्धः प्रसिध्यति । प्रतिबन्धे च शब्दस्य ततो मरणसिद्धता ॥३४२॥

शब्दाद् विज्ञानादिनिरोधलक्षणमरणसिद्धिः तथाभूतमरणदर्शनायातत्वे । तथा भूतमरणदर्शनायातत्वञ्च मरणसिद्धावितीतरेतराश्रयदोषः ।

अथ नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः । तथा सति वागादीनामपि विषाणिता । अथान्य एव वागादिषु गोशब्दः स न प्रतिबद्ध एव विषाणविषाणित्वे मरणशब्दो हि तर्हि नापर इति किमत्र भवतः प्रमाणम् । तन्नानित्यत्वादि अचैतन्यस्य साधनम् तथा स्थित्वा प्रवृत्ता· देरिति न साध्यसिद्धिः ।

यदि तर्हि विशेषपरिकल्पनेन साधनस्यासाधनता संस्थानादेरनित्यादेश्च । अन्यस्यापि कृतकत्वादेरसाधनमेव परवाद्यपेक्षया सर्वमेवाप्रसिद्धं विकल्पनेन च । तथाहि—

आकाशगुणः शब्दधर्मोऽसिद्धः परं प्रति । साध्यदृष्टान्तधर्मस्य परस्परमसिद्धता ॥३४३॥

तदप्यसत् ।

आगमाद् व्योमधर्मत्वं वाचकं नैव कस्यचित् । विशेषकल्पनायान्तु हेतुरेव विहीयते ॥३४४॥

तस्माद्—वस्वस्वरूपेत्यादि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पिपतिषति" । इसी प्रकार वृक्षादि में 'मरण' शब्द की प्रवृत्ति हो जाने मात्र से चैतन्य सिद्ध नहीं हो सकता, अपितु वास्तविक मरण पदार्थ के सिद्ध हो जाने पर ही 'मरण' शब्द का उसके साथ सम्बन्ध स्थापित होगा, तब कहीं 'मरण' शब्द उसका बोधक हो सकेगा । 'मरण' शब्द के द्वारा मरणार्थ की प्रसिद्धि मानने पर विस्पष्ट अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है ॥३४२॥ अर्थात् 'मरण' शब्द के द्वारा विज्ञानादि के निरोधरूप 'मरण' पदार्थ की सिद्धि और तथाभूत 'मरण' पदार्थ की सिद्धि हो जाने पर 'मरण' शब्द की प्रवृत्ति मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष दुर्वार है ।

यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, तब गोशब्द के अर्थभूत वागादि में विषाणित्व होना चाहिए । यदि कहा जाय कि विषाणिरूप अर्थ का वाचक 'गो' शब्द अन्य है और वागादि का वाचक 'गो' शब्द अन्य, इस शब्द का विषाणीरूप अर्थ के साथ वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध ही नहीं, तब वह उसका बोधक क्यों होगा ? आपका कहना ठीक है, तब तो 'मरण' शब्द भी दृष्टान्त और पक्ष में भिन्न-भिन्न नहीं—इस में आपके पास क्या प्रमाण है ? इसी प्रकार न तो अनित्यत्वादि अपने साध्य के साधन हैं और न 'स्थित्वा प्रवृत्त्यादि' किसी अधिष्ठाता के साधक ।

शङ्का—इस प्रकार साधनों में विशेषार्थ (भेद) की कल्पना कर लेने पर संस्थानादि और कृतकत्वादि साधनगण भी पर (अन्य) वादी की अपेक्षा असिद्ध माने जा सकते हैं । जैसे कि "शब्दोऽनित्यः"—यहाँ पर नैयायिकों ने जिस आकाश के धर्मभूत शब्द को पक्ष बनाया है, यह बौद्धादि के प्रति नहीं । इसी प्रकार साध्य (पक्ष) में रहने वाला हेतु दृष्टान्त में और दृष्टान्त में रहनेवाला साधन पक्ष में असिद्ध है ॥३४३॥

समाधान—लोक में शब्द वाचकत्वेन प्रसिद्ध है, आगम (शास्त्र) के द्वारा शब्द में आकाश-धर्मता प्रतिपादित है । आकाशधर्मत्व-प्रयुक्त शब्दगत वाचकत्व किसी मत से भी प्रसिद्ध नहीं । लोक·प्रसिद्ध शब्द की अपेक्षा विशेष शब्द की कल्पना करने पर

धर्मी (पक्ष) और हेतुरूप वस्तु के सिद्ध होने पर असिद्ध विशेषण साध्य का बाधक नहीं होता, जैसे शब्द में आकाशगुणत्व विशेषण बौद्ध मत में सिद्ध नहीं, तथापि शब्दगत अनित्यता का बाधक नहीं। शब्दरूप धर्मी प्रत्यक्ष-सिद्ध और कृतकत्वादि धर्म अनुमान-सिद्ध हैं ।। २० ।।

असिद्धावपि शब्दस्य सिद्धे वस्तुनि सिद्ध्यति ।
औलूक्यस्य यथा बौद्धेनोक्तं मूर्त्यादिसाधनम् ।। २१ ।।

वार्तिकालङ्कारः

आगमप्रसिद्धो हि शब्दस्याकाशगुणत्वेऽसिद्धोऽपि शब्दः स्वरूपेण धर्मितया प्रसिद्ध एव इति धर्मासिद्धिः। तथा विशेषपरिकल्पनायामपि न हेतुरसिद्धधर्मिसम्बन्धो नैकान्तिको वाऽसाधारणतया। धर्मी हि प्रमाणसिद्ध इति न विशेषणाप्रसिद्धावसिद्धिः। नापि विशेषपरिकल्पना क्वाप्युपयोगिनीति। न हि तत्रावश्यं विशेषपरिग्रहः। तथा हि—

अनित्यताकार्यतयोः सामान्यमुपयोगवत् । विशेषस्य प्रसिद्धिस्तु न केनचिदपीष्यते ।।३४५।।
हेत्वनन्तरभावित्वं तदन्तरनाशिता । न शब्दघटयोरस्ति विशेषणसमन्विता ।।३४६।।

न खलु पूर्वापरस्वरूपविविक्ताया क्वाप्यस्ति विशेषः न चैव देशस्तं विशेषीकरोति। तदेकपरामर्शविषयत्वात्। तदसत् विकल्पनम्। संस्थानादि तु तत्प्रतिबद्धमसिद्धमेव। शेषः प्रागेवोक्तः संस्थानशब्दमात्रकन्त्वसाधकमेव। यतः—

असिद्धेत्यादि—

वार्तिकालङ्कार व्याख्या

उसमें शब्दत्वरूप हेतु ही नहीं रहता है ।। ३४४ ।। अतः यदि पक्ष वस्तु अत्यन्त अप्रसिद्ध हो, तब यह अप्रसिद्धधर्मिता दोष दिया जा सकता है, किन्तु लोक-प्रसिद्ध शब्द में आकाशगुणत्वरूप विशेषण की असिद्धि न तो कोई दोष है और न किसी की बाधक।

आशय यह है कि यद्यपि आगम-प्रसिद्ध आकाश का धर्मभूत शब्द लोक-प्रसिद्ध नहीं, तथापि स्वरूपेण लोक-सिद्ध है, वही प्रकृत अनुमान का धर्मी (पक्ष) बन जाता है। आकाशगुणत्वरूप विशेषार्थ की कल्पना में भी हेतु का धर्मि-सम्बन्ध (पक्षवृत्तिता) सिद्ध होने से हेतु अनैकान्तिक नहीं। शब्दरूप धर्मी (पक्ष) प्रमाण सिद्ध है, अतः आकाशगुणत्वरूप विशेषण की असिद्धि होने पर भी पक्षासिद्धि नहीं हो सकती। आकाशगुणत्वरूप विशेषार्थ की कल्पना का कोई उपयोग भी नहीं, क्योंकि शब्द में अनित्यता की सिद्धि कार्यता हेतु से हो जाती है, कथित विशेषता का उपयोग कहीं भी नहीं और न कोई वादी उसको अनिवार्यता मानता है। "शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्"—यहाँ केवल सामान्यतः अनित्यत्व और कार्यत्व का ही उपयोग है, आकाशाश्रयत्वरूप विशेषण का कोई उपयोग नहीं ।।३४५।। शब्दरूप पक्ष और घटरूप दृष्टान्त में हेत्वनन्तरभावित्व (कार्यत्व) और उत्पत्ति के अनन्तर नाशित्व का होना ही आवश्यक है, आकाशगुणत्व का समन्वय कहीं नहीं होता ।।३४६।। पक्ष और दृष्टान्त में पूर्व (व्याप्य) और अपर (व्यापक) के अन्वय और विविक्तता (व्यतिरेक) में कथित विशेषता से कोई अन्तर नहीं पड़ता। पक्षरूप देश भी आकाशगुणत्व को अपना विशेषण नहीं बनाता। 'अनित्यत्वव्याप्यकार्यत्ववानयम्'—इस प्रकार के परामर्श का विषय शुद्ध शब्द है, आकाशगुणत्व-विशिष्ट शब्द नहीं। अतः आकाशगुणत्व की कल्पना अत्यन्त असत् है। पुरुषपूर्वक संस्थानादि ही कर्ता या अधिष्ठाता के साधक हैं, पृथिव्यादि में

शब्द की सिद्धि भले ही न हो वस्तु (पदार्थ) के सिद्ध होने पर अभीष्ट साध्य सिद्ध हो जाता है, जैसे वैशेषिक के प्रति परमाणु में अनित्यता सिद्ध करने के लिए बौद्ध-द्वारा प्रयुक्त "परमाणवोऽनित्याः, मूर्तिमत्त्वात्"—इस अनुमान में बौद्धाभिमत स्पर्शवत्त्वरूप मूर्त्तत्व हेतु वैशेषिक मत में सिद्ध नहीं और परिच्छिन्नपरिमाणकत्वरूप वैशेषिकाभिमत मूर्तत्वहेतु बौद्ध-मत में सिद्ध नहीं, तथापि साध्य-सिद्धि हो जाती हैं ॥२१॥

तस्यैव व्यभिचारादौ शब्देऽप्यव्यभिचारिणि ।
दोषवत् साधनं ज्ञेयं वस्तुनो वस्तुसिद्धितः ॥ २२ ॥

शब्द का व्यभिचार न होने पर भी अर्थ का व्यभिचार हो जाने से साधन दोष-युक्त हो जाता है, क्योंकि वस्तु से वस्तु की सिद्धि होती है, शब्द से नहीं ॥ २२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मूर्त्तत्वादनित्याः परमाणव इति वैशेषिकं प्रति बौद्धेन साधनमुक्तम् न चात्र शब्दः परस्पराभिमते विषये प्रसिद्ध । असर्वंगतद्रव्यपरिमाणस्य मूर्तिशब्दवाच्यत्वात् । स्पर्श-योगश्च मूर्तिरिति सौगताः । तदयमेव शब्दः परस्पराभिमते विषये यदि नाम न सिद्धस्त-थापि तदभिमतस्यार्थस्योभयोरपि सिद्धत्वादसिद्धावपि शब्दस्य सिद्धे वस्तुनि बौद्धस्या-भिमते द्वयोरपि सिध्यत्यभिमतः साध्योऽर्थः ।

ननु यथा वस्तुनोऽव्यभिचारित्वे सिद्धत्वे वा सिध्यति साध्यम् तथा शब्देप्येवमेव कोऽनयोर्विशेषः । न । तस्यैत्यादि—

न हि यथा शब्दासिद्धावपि वस्तुबलात् साध्यसिद्धिः । तथा वस्त्वसिद्धावपि शब्द-बलात् साध्यसिद्धिः । अपि तु तस्यैव वस्तुनो व्यभिचारोऽसिद्धौ विरोधे च दोषवत् साधनं ज्ञेयमव्यभिचारिण्यपि शब्दे । न तावद् वस्तुनो व्यभिचारादौ शब्दस्याव्यभिचारिता असम्भवति । अभ्युपगम्यापि तूच्यते—भवत्वव्याभिचारी शब्दस्तथापि दोषवत् साधनम् । कुतो वस्तुनो वस्तु सिध्यति न शब्दात् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उनका अभाव है। संस्थानमात्र तो वलमीकादि में व्यभिचरित है, पुरुष का साधक नहीं, क्योंकि वैशेषिक के प्रति बौद्ध का कहना है—"परमाणवोऽनित्याः मूर्त्तत्वात् ।" यहाँ बौद्ध-सम्मत स्पर्शयुक्तत्वरूपमूर्तत्व वैशेषिक मत में और वैशेषिकाभिमत परिच्छिन्न परिमाणरूप मूर्तत्व बौद्ध-सिद्धान्त में सिद्ध नहीं । फलतः 'मूर्त' शब्द उभय-सम्मत सिद्ध नहीं । तथापि उक्त प्रयोगोपात्त 'मूर्त्तत्व' शब्द अभीष्ट साध्य का साधक माना जाता है ।

शङ्का—जैसे साध्य-साधन वस्तुओं के व्यभिचारी न होने पर अभिमत साध्य की सिद्धि होती है, वैसे ही शब्द में भी होना चाहिए । वस्तु और शब्द में क्या अन्तर ?

समाधान—जैसे शब्द की सिद्धि न होने पर भी वस्तु के बल पर साध्य की सिद्धि हो जाती है, वैसे वस्तु की असिद्धि होने पर केवल शब्द के बल पर साध्य-सिद्धि नहीं होती, अपितु वस्तुओं के व्यभिचार से साध्य-सिद्धि नहीं होती, भले ही शब्द अव्यभिचारी हो । वस्तु-व्यभिचार होने पर शब्द की अव्यभिचारिता कभी सम्भव नहीं होती । वस्तु से ही वस्तु सिद्ध होती है, शब्दमात्र से नहीं ।

यथा तत् कारणं वस्तु तथैव तदकारणम् ।
यदा तत् कारणं केन मतं नेष्टमकारणम् ॥ २३ ॥

ईश्वर नाम की वस्तु सदैकरस है। वह जैसे प्रलयकालीन अकारणता की अवस्था में रहती है, वैसी ही सृष्टिकालीन कारणता की अवस्था में, किन्तु दण्डादि कारण सदैकरस नहीं रहते, कारणतावस्था में सक्रिय और अकारणतावस्था में निष्क्रिय रहते हैं, अतः सदैकरूपापन्न ईश्वर को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता ।।२३।।

वार्तिकालङ्कारः

ननु यदि न साध्याव्यभिचारी शब्दस्तथा सति शब्दात् साध्यसिद्धिः । अथ ततः साध्यसिद्धिः कथमव्यभिचारी शब्दः । एतदनेन दर्शयति—वस्तुप्रतिपादनद्वारेण शब्दः साध्यसिद्धावुपयोगी न तु साक्षात् । ततः शब्दस्याव्यभिचारवाञ्छायामपि नार्थपरित्यागात् साध्यसाधने सामर्थ्यम् । तस्मादर्थगतैव चिन्तोपयोगवती । वस्तुव्यभिचारेतरनिरूपणन्तु पश्चाद् भविष्यति । तस्मान्नार्थरूपो हेतुरस्ति यत ईश्वरसिद्धिरतोऽनित्यत्वेऽप्यप्रमाणतेतिसिद्धम् । तथा नित्येऽपि । न चाकाशादीनामीश्वरस्य च नित्यतया कारणत्वाकारणत्वविभागः । तथा हि—

यथेत्यादि—

व्यापित्वैकत्वादयो धर्मा यथेश्वरस्य तथाकाशादीनामपि । ततः समानत्वेऽपीश्वरः कारणमकारणमाकाशादिकमिति कुतो विभागः ? अथ तस्य ज्ञानेन चिकीर्षालक्षणेन सम्बन्धादेवमुच्यते । तदप्यसत् , तत्रापि समानत्वात् । किंच—

चिकीर्षामात्रकेणैव न कारणमितीक्ष्यते । काकतालीयमेतत् किमथवा कारणन्तथा ।।३४७।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—यदि शब्द साध्य का अव्यभिचारी है, तब शब्द से साध्य-सिद्धि होती है। यदि साध्य की सिद्धि नहीं होती, तब शब्द अव्यभिचारी क्योंकर होगा ? इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु-प्रतिपादन के द्वारा शब्द साध्य-सिद्धि में उपयोगी होता है, साक्षात् नहीं। अतः शब्द की अव्यभिचारिता अभिवाञ्छित होने पर अर्थ का परित्याग कभी नहीं हो सकता, अन्यथा शब्द में साध्य-साधन-सामर्थ्य सम्भव नहीं, अतः अर्थ (वस्तु) की चिन्ता ही उपयोगवती होती है। वस्तु का व्यभिचार और अन्य (शब्द) का निरूपण पश्चात् होगा। फलतः अर्थरूप हेतु उपलब्ध नहीं, जिससे ईश्वर की सिद्धि होती। इसी प्रकार ईश्वर के आनित्यत्व-पक्ष में भी अप्रमाणता ही सिद्ध होती हैं। एवं नित्य ईश्वर की सिद्धि भी अप्रामाणिक है।

जब आकाशादि और ईश्वर दोनों नित्य हैं, तब आकाशादि अकारण और ईश्वर कारण क्यों ? जैसे ईश्वर के एकत्वादि धर्म व्यापक होते हैं, वैसे ही आकाशादि के, इस प्रकार दोनों के समान होने पर भी ईश्वर जगत् का कारण और अकाशादि अकारण— ऐसा वैषम्य क्यों ? यदि चिकीर्षा और उपादान-गोचर ज्ञान के सम्बन्ध से ईश्वर को कारण माना जाता है, तब वह भी समान है। दूसरी बात यह है कि चिकीर्षामात्र के आधार पर किसी को कारण मान लिया जाय—ऐसा नहीं देखा जाता। कर्त्ता पुरुष में चिकीर्षा क्या काकतालीय-न्याय से उत्पन्न हो गई ? अथवा चिकीर्षा-विशिष्ट पुरुष में ही कर्तृत्व माना जाता है ।।३४७।। [३४८ वें श्लोक का

वार्तिकालङ्कारः

यदि कर्मादिनि ''करणं कारणम्भवेत्। अन्यथा कारणं सर्वं सर्वस्य न किमिष्यते ॥३४८॥

अथवा यदा सर्गात् प्राक् तदकारणम्। तथा सर्गावस्थायां विशेषाभावादकारणमेव। सकलरागादिनिर्मुक्तस्यौदासीन्यमेव युक्तम्। लोककर्माधिपत्यादौदासीन्यं न लभत एवेति चेत्,

अन्यकर्मपरतन्त्रतयाऽसावीश्वरः कथमीश्वर एव।
तत्कृपाक्रमतोऽथ विशेषो नारकादिरचनादकृपः किम् ॥३४९॥
कर्मैव लोकस्य तथेति तत्कृद् अशक्तिरस्मिन्निति नार्यतास्य।
आर्यस्य कर्त्तुं यदि साध्वशक्तिरसाधुकृत्यं किममौ विधाता ॥३५०॥

उपेक्षैव साधूनां युक्ताऽसाधौ क्रियाक्रमे। न क्षतक्षारनिक्षेपः साधूनां साधु चेष्टितम् ॥३५१॥

अथैवम्भूत एवायं क्रमस्तमेवासौ प्रकाशयति चेष्टते च तत्करणाय। एवम्भूत एव मम स्वभावः। न निवारयितुं मया शक्यः। तत्र लोकैर्यथायोगं विहर्त्तव्यम्।

आत्मन्यपि वशी नासाविति स स्फुटमीश्वरः। स्वकर्मोचितचेष्टस्य न लोकस्य किमीशता ॥३५२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मूल पाठ अधूरा और असंलग्न है। न्यायभूषणकार ने ठीक उद्धृत किया है—

यदि कर्मादि निर्भेत्स्य कारणं कारणं भवेत्।
अन्यथा कारणं सर्वं सर्वस्यापि प्रसज्यते॥ (न्या० भू० पृ० ४८५)

अर्थात् क्या ईश्वर जगत् के कर्मादि (धर्माधर्मादि) कारणों को हटा कर स्वयं एकमात्र जगत् का कारण बनता है? अथवा कर्मादि कारणों को भी अपने साथ रखता है? [अन्यान्य कारणों के रहते-रहते ईश्वर में विशेष कारणता नहीं आ सकती, किन्तु यह भी देखा जाता है कि घट के प्रति कुलालरूप कारण के रहने पर दण्डचक्रादि व्यर्थ भी नहीं होते]। प्रत्येक पदार्थ अकारणता की अवस्था में निर्व्यापार या प्रसुप्त-सा रहता है किन्तु ईश्वर तो सृष्टि के पूर्व जैसा था सृष्टि-काल में भी वैसा ही रहता है। वह सदैव आप्तकाम, निःस्पृह और उदासीन है, फिर सृष्टि का निर्माण क्यों और कैसे करेगा? यदि कहा जाय कि जीवों के अदृष्ट ईश्वर को प्रेरित कर सक्रिय बना देते हैं। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि ईश्वर अन्यदीय कर्म के अधीन हो जाता है, तब उसे ईश्वर कौन कहेगा? यदि ईश्वर अपनी कृपा और दया के कारण स्वयं सृष्टि करने में प्रवृत्त हो जाता है, तब विविध क्रूर और वीभत्स नरकों की रचना कर अनन्त यातनाएँ देते समय उसकी कृपा कहाँ चली जाती है?॥ ३४९ ॥ आर्य पुरुषों में कर्म करने और कराने की विशेष शक्ति पाई जाती है, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—"आर्यास्तावद् विशिष्येरन्नदृष्टार्थेषु कर्मसु" (तं० वा० पृ० २१९) वैसी शक्ति यदि ईश्वर में नहीं, तब उसमें आर्यता सम्भव नहीं, और उसमें यदि साधु कर्म (सत्कर्म) कराने की शक्ति है, तब मनुष्यों से असाधु कर्म (असत्कर्म) क्यों कराता है?॥३५०॥ वस्तुतः ईश्वर राग-द्वेष से रहित साक्षी-मात्र है, तब इसे तो उपेक्षा (उदासीनता) ही अपनानी चाहिए, जैसा कि मनु का उपदेश है—"उपेक्षकोऽसंकुसको मुनिर्भावसमाहितः (मनु० ६।४३)। घाव पर नमक छिड़कना साधुओं का काम नहीं॥ ३५१ ॥

यदि ईश्वर कहता है कि कर्मों के आधार पर ऐसा ही सृष्टि-क्रम निश्चित है, उसी को कार्यान्वित करने की मैं चेष्टा करता हूँ। ऐसा ही मेरा स्वभाव है, उसे मैं अन्यथा नहीं कर सकता। मनुष्यों को यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। तब यह प्रश्न

शस्त्रौषधाभिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे ।
असम्बद्धस्य किं स्थाणोः कारणत्वं न कल्प्यते ॥ २४ ॥

शस्त्र (तलवारादि) के सम्बन्ध (आघात) से चैत्र को व्रण (घाव) हो गया, अतः उस (घाव) का कारण तलवार है। सञ्जीवनी औषध के सम्बन्ध से घाव अच्छा हो जाता है, अतः उसका कारण (औषध) है किन्तु स्थाणु (ठूठ) के समान असम्बद्ध पदार्थ को कारण क्यों नहीं माना जाता ? ॥ २४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ईश्वरस्तेरितः सोऽपि यद्यन्योऽन्यसंश्रयः। एकस्यापि न सद्भावस्तथा सत्युपपत्तिमान् ॥३५३॥

ईश्वरस्य यदि नास्ति न शक्तिः साधु कर्मविधिरेव जनः स्यात् ।
स स्वतन्त्रचरितो यदि लोकः कर्मवाद इह शस्त उदग्रः ॥३५४॥

अथापि स्याद् ईश्वरस्यापि कदाचित् कारणत्वम्भविष्यति यद्यपि नामास्मदादिभिरतत्त्वदर्शिभिर्न ज्ञायते। एवन्तर्हि—

तत्त्वदर्श्येव तद्वित्त्यै ज्ञातव्यस्तस्य चापरः। ज्ञाता स्यादनवस्थानादनेकेश्वरसम्भवः ॥३५५॥

अस्मदादिभिस्तु—

शस्त्रेत्यादि—

अथ स्थाणोर्नास्ति व्यापार इत्यकारणत्वमसम्बन्धात्। स्थाणोरपि कदाचिदस्ति व्यापारः। स त्वस्माभिर्नोपलक्ष्यतेऽतत्त्वदर्शनैः। अनुपलक्षणादेव तर्हि नास्ति स्थाणो-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उठता है कि जिस पुरुष का अपने पर भी वश नहीं, उसे ईश्वर कौन कहेगा ? इस प्रकार तो सभी जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार व्यवहार करते हैं, वे ईश्वर क्यों नहीं ? ॥ ३५२ ॥ यदि कहा जाय कि ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव का कर्म जीव से व्यवहार कराता है, तब स्पष्ट अन्योऽन्याश्रय दोष होता है कि जीवों के कर्म से ईश्वर जीवों के कर्मों को प्रेरित करता है। ऐसी अवस्था में किसी की भी सत्ता सम्भव नहीं ॥ ३५३ ॥ यदि ईश्वर में किसी प्रकार की शक्ति न मानी जाय तब साधु कर्मों का विधान भी न हो सकेगा, क्योंकि मानव का निरंकुश व्यवहार क्या नहीं कर सकता ? अतः कर्मवाद की स्थिरता और प्रशस्तता ईश्वरीय शक्ति की देन है ॥ ३५४ ॥

यदि कहा जाय कि ईश्वर भी कदाचित् कारण हो सकता है किन्तु वह हमलोग असर्वज्ञ पुरुषों के द्वारा जाना नहीं जा सकता। तब तो एक सर्वज्ञ को जानने के लिए दूसरा और उसको जाननेवाला तीसरा—इस प्रकार अनवस्था दोष प्रसक्त होता है और अनेक ईश्वरों की कल्पना करनी पड़ती है ॥ ३५५ ॥

स्थाणु में व्यापार नहीं, अतः उसमें कारणता भी नहीं, क्योंकि उसका कार्य के साथ सम्बन्ध नहीं। यदि कहा जाय कि स्थाणु में कदाचित् व्यापार होता है, किन्तु हमलोग अतत्त्वदर्शी हैं अतः उसके व्यापार की उपलब्धि हमें नहीं होती। तो वैसा नहीं कह सकते क्योंकि यदि उसका व्यापार अनुभव में नहीं आता, तब निश्चित रूप से उसमें है ही नहीं, क्योंकि जो पदार्थ प्रवाह-नित्य या कूटस्थ नित्य है, उसमें स्वभाव परिवर्तन के बिना व्यापार बन ही नहीं सकता। इस पद्य में "व्यापारोऽपि—यह 'अपि' शब्द अध्याहृत 'ईश्वर' पद के साथ जोड़ लेना चाहिए, जिस का अर्थ होगा—स्थाणु के समान ईश्वर में भी व्यापार नहीं बन सकता। जैसे कुलालादि के शरीर में मुद्रा-परिवर्तन कार्य करते समय उपलब्ध होता है, वैसी विशेषता यदि ईश्वर में भी सम्भव होती, तब

स्वभावभेदेन विना व्यापारोऽपि न युज्यते ।
नित्यस्याव्यतिरेकित्वात् सामर्थ्यं च दुरन्वयम् ॥ २५ ॥

निर्व्यापार वस्तु सव्यापार होकर कारण बनती है किन्तु वस्तु के स्वभाव में जब तक कोई परिवर्तन नहीं होता, तब तक व्यापार का उसके साथ योग नहीं होता। जिस पदार्थ के न होने पर कार्य सम्पन्न नहीं होता, वह कारण माना जाता है, अतः एव नित्य पदार्थ किसी का कारण नहीं माना जाता, क्योंकि उसका कहीं व्यतिरेक (अभाव) होता नहीं कि कार्य-कारणभाव का सामर्थ्य अवगत हो सके ॥ २५ ॥

येषु सत्सु भवत्येव यत् तेभ्योऽन्यस्य कल्पने ।
तद्धेतुत्वेन सर्वत्र हेतूनामनवस्थितिः ॥ २६ ॥

जिन कारणों के रहने पर जो कार्य होता ही है, उन कारणों से भिन्न पदार्थ को उस कार्य का कारण मानने पर सर्वत्र कार्य के हेतुओं में अपरापर-हेतु-कल्पनारूप अनवस्था प्रसक्त होती है, अतः जिन खेत-जल-बीजादि कारणों में अंकुर-जनन का सामर्थ्य देखा जाता है, वे ही अङ्कुर के कारण हैं, उनसे भिन्न ईश्वरादि को कारण मानना उचित नहीं, क्योंकि उनमें अङ्कुरोत्पादन का सामर्थ्य दृष्टचर नहीं ॥२६॥

वार्तिकालङ्कारः

व्यापारः । एवन्तर्हि—स्वभावेत्यादि

नित्यस्य प्रबन्धनित्यतयान्यथा वा स्वभावभेदेन विना कार्यस्येश्वरस्य व्यापारोऽप्युपलक्षितः कथं युक्तः । ईश्वरस्यापीत्यपि शब्दो भिन्नक्रमः । यथा कुलालादिकृतो विशेषः ।

तथेश्वरकृतोऽपि स्यात् सामर्थ्यपरिकल्पना । नित्यस्य चाव्यतिरेकित्वात् सामर्थ्यं दुरन्वयम् ॥३५६॥

सदा स्थानव्यापकत्वेन व्यतिरेकाभावतः ।

येषु सत्स्वित्यादि

दृष्टकुलालादिषु कर्मणि च सति भवत्येव समीहितम् । तथाप्यन्यस्य तत्र कल्पने सर्वेषामेककार्याणां हेतूनामनवस्थितिः पर्यवसानं न स्यात् ।

न खलु निरनुगमकल्पनावतारानुगतौ तदपरो व्याघातः । अथवा अनवस्थितस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसमें भी कार्य-प्रजनन-सामर्थ्य की कल्पना की जा सकती थी किन्तु नित्य पदार्थ का कहीं व्यतिरेक (अभाव) न होने के कारण किसी भी कार्य की कारणता उसमें सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ३५६ ॥ ईश्वर सदा अवस्थित और सर्वत्र व्यापक है, अतः उसका न कालिक व्यतिरेक (अभाव) हो सकता है और न दैशिक व्यतिरेक ।

जब कि कुलालादिरूप दृष्ट कारण के द्वारा ही कार्य सम्पन्न हो जाता है, तब भी उससे भिन्न अदृष्ट कारण की कल्पना करने पर उत्तरोत्तर कारण-परम्परा की कल्पना कहीं समाप्त न होगी, फलतः अनवस्था दोष प्रसक्त होता है। व्याप्य पदार्थ के द्वारा व्यापक की कल्पना होती है किन्तु अव्यापक की कल्पना में अनवस्था जैसा व्याघात दोष ही दिया जाता है।

शङ्का—'अथवा अनवस्थिति' पद का एक दूसरा भी अर्थ किया जा सकता है—अनवस्थित अर्थात् चिरन्तन उत्पादक हेतु ही स्थिति का भी कारण बन जाता है, अभि-

स्वभावपरिणामेन हेतुरङ्कुरजन्मनि ।
भूम्यादिस्तस्य संस्कारे तद्विशेषस्य दर्शनात् ॥ २७ ॥

ऊसर-बंजर खेत को जोत-माँड कर खेती के योग्य बनाया जाता है, तब कहीं उसमें खेती होती है। आशय यह है वस्तु को सक्षम बनाने के लिए उसके स्वभाव या स्वरूप का योग्यरूप में परिणत करना आवश्यक होता है, किन्तु ईश्वर के समान कूटस्थ अविकारी पदार्थ को विकृत या संस्कृत नहीं किया जा सकता फलतः उसमें जगत् की कारणता का आधान करना सम्भव नहीं ॥ २७ ॥

यथा विशेषेण विना विषयेन्द्रियसंहतिः ।
बुद्धेर्हेतुस्तथेदं चेन्न तत्रापि विशेषतः ॥ २८ ॥

जैसे स्वभावगत विशेषता के बिना ही विषय (घटादि) और चक्षुरादि की संहतिः (सन्निकर्ष) ज्ञान की उत्पादिका होती है, वैसे ही ईश्वर भी बिना किसी विशेषता के जगत् का कारण क्यों न हो सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कथित विषय और इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी गति या अभिसर्पणादि विशेषता के बिना नहीं होता ॥ २८ ॥

पृथक् पृथगशक्तानां स्वभावातिशयेऽसति ।
संहतावप्यसामर्थ्यं स्यात् सिद्धोऽतिशयस्ततः ॥ २९ ॥

पृथक्-पृथक् (असन्निकृष्ट) विषय और इन्द्रियों में किसी विशेषता के बिना ज्ञान-जनन-शक्तता नहीं देखी जाती, अतः उनके सन्निकर्ष में भी किसी विशेषता के बिना ज्ञानोत्पादकता नहीं बन सकती, अतः ज्ञानरूप कार्य को देखकर कारण में विशेषता की सिद्धि होती है ॥ २९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

चिरन्तनस्य तस्यैव स्थितिर्हेतूनामेवमपि स एव हेतुरिति व्यर्थकमपरं कर्मेति स्यात् ।

यथा तर्हि पृथिवी कारणमङ्कुरादेः सदा स्थायिनी तथेश्वरोऽपीति । न च पृथिव्यादीनामादिरुपलभ्यते । अत्र परिहारः—स्वभावेत्यादि

सीरव्यापारादिविशेषविकृतिसमन्वयानुगमो हि दृश्यते यत्रादिप्रसवानामिति पृथिव्यादिकारणत्वपरिकल्पना । पुनरपि चोद्यपरिहारौ—यथेत्यादि

चक्षुरादौ हि कारणत्वं कार्यरूपविशेषादवसीयते । कार्यं हि विज्ञानं रूपग्रहण-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नव हेतु की कल्पना व्यर्थ है। जैसे कि अङ्कुरादि का पृथिवी रूप कारण सदा स्थायी है, वैसे ही ईश्वर से भी पृथिव्यादि की आदि (आरम्भ) उपलब्ध नहीं होती अतः वह अनादि है।

समाधान—अनादिकाल से बँजर पड़ी ऊबड़-खाबड़ बूढ़ी धरती देख कर किसान की अन्तरात्मा रो पड़ती है। साहस बटोर कर कुआं खोदता है। पानी निकाल कर पृथिवी को तर करता है। हल चलने लगा सीर-व्यापार क्रिया (जोताई) होने लगी। बैलों की छाती ने खेत को मैदा बनाकर रख दिया, तब कहीं बीजा गया। कुछ ही दिनों में वहाँ जौ, गेहूँ, मक्का, बाजरा की हरियाली लहलहा उठी, किसान कृतकृत्य हो गया। किन्तु ईश्वर की जोताई चौरसाई कौन करेगा ? उसके बिना ईश्वर किस काम का ?

चोद्य (शङ्का) और उसके परिहार (समाधान) की लड़ी यहाँ ही समाप्त नहीं, अपितु आगे भी वैसी ही चल रही है—

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिनियतं रूपाकारं बोधरूपन्तदेषां परस्परपरिहारेणोपयोगाद् भेदस्य सम्भवात् कार्यस्य विज्ञानस्य कारणं चक्षुरादयः। यत एते पृथक् पृथगशक्ता विज्ञानाकारेऽसमुदाये न चक्षुषो बोधरूपता। न रूपाद् रूपग्रहणप्रतिनियमो न मनस्कारादितरत्। एकैकस्मादेवमदर्शनात्।

अथ स्याद्, यथा चक्षुषि उन्मिषिते परापररूपोपढौकने परापररूपदर्शनं न च तदा चक्षुषो विशेषः। तथा रूपे स्थित एवापरापरचक्षुर्विज्ञानभावः, तथेश्वरेऽपि सदा समानतया व्यवस्थिते परापरभावोत्पत्तिरिति नाकारणभावः। उक्तमत्र—आकाशादीनामपि कारणभाव इत्यतिप्रसङ्गः।

विशेषाच्चक्षुषो रूपविशेषादपि विद्यते। विज्ञानस्य विशिष्टत्वं रूपादेर्हेतुता ततः ॥३५७॥
रूपविशेषाद् विपरिस्फुरताकारादिलक्षणाद्। सौमनस्यादियोगि विज्ञानमुपजायते ॥३५८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—जैसे किसी विशेषाधान (विकार) के विना ही विषय (घटादि) और (इन्द्रिय) का सन्निधानमात्र (सन्निकर्षमात्र) रूपादि-ज्ञान का हेतु (कारण) बन जाता है। वैसे ही ईश्वर जगत् का कारण क्यों न बन सकेगा ?

समाधान—वहाँ भी विशेषता होती है, क्योंकि विषय और इन्द्रियादि की पृथक्-पृथक् (असन्निहित) अशक्त सन्तति में भी किसी अतिशय के विना ज्ञान-जनन-सामर्थ्य नहीं हो सकता, फलतः अतिशय (विशेष व्यापार) सिद्ध हो जाता है ॥ २८-२९ ॥ चक्षु आदि इन्द्रियों में कार्य विशेष के द्वारा कारणता निश्चित होती है। यहाँ कार्य है—रूपादि का ज्ञान। रूप-ग्रहण में नियमतः सक्षम चक्षु इन्द्रिय रूपाकार या विषयाकार में परिणत होती है। परस्पर असम्बद्ध पदार्थों का ज्ञानोत्पादन में कोई उपयोग नहीं। अतः इन्द्रियादि कारणों में अकारणावस्था का भेद अवश्य मानना होगा, क्योंकि विषय और इन्द्रिय पृथक्-पृथक् रह कर ज्ञानोत्पाद में अशक्त ही रहते हैं—विषय, इन्द्रिय और विज्ञान (चित्त) का समुदाय न होने पर केवल चक्षु में बोधकत्व, केवल रूप में रूप-प्रतिबिम्बन और अकेले मन में मनस्कारत्व नहीं देखा जाता। फलतः तीनों की एक देशस्थ सन्तति अनिवार्य है। ऐसी कोई विशेषता ईश्वर में सम्भव नहीं।

शङ्का—'आँख खुलते है चाक्षुष रश्मियाँ विषय की ओर गतिशील हो जाती हैं और विषय का ज्ञान हो जाता है—'अयं घटः।' उस समय तक चक्षु में किसी प्रकार की विशेषता या विकृति नहीं आती। रूपादि (घटादि) विषय भी अपने देश में जैसे-का-तैसा अवस्थित रहता है। उसी प्रकार अविकृत ईश्वर भी सदा एकरूप में अवस्थित रह कर जगत् का कारण बन जाता है, तब उसमें अकारण-भाव (अकारणता) क्यों होगी ? आकाशादि को भी कारण माना ही जाता है, अतः उनमें भी कारणता का अतिप्रसङ्ग नहीं, अपितु इष्टापत्ति ही है।

समाधान—चक्षु, रूपादि विषय और विज्ञान (चित्त) इन तीनों में विशेषता आने पर ही ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ३५७ ॥ रूपादि में इन्द्रिय की विषयाकारता-योग्यता, इन्द्रिय में विषयाकारता और चित्त में सौमनस्यादि विशेषताओं के आ जाने पर ही विज्ञान उपजनित होता है ॥ ३५८ ॥ अर्थात् आँख का अन्य दिशा में उन्मीलन न होकर विषय की ऊर्ध्वादि दिशा में उन्मीलन, विषय की स्फीतता और चित्त का उसी इन्द्रिय से जुड़ना—इन विशेषताओं के बिना कार्य (रूपादि-ज्ञान) की कारणता

तस्मात् पृथगशक्तेषु येषु सम्भाव्यते गुणः ।
संहतौ हेतुता तेषां नेश्वरादेरभेदतः ॥ ३० ॥

जिन इन्द्रिय और विषयादि पदार्थों के अलग-अलग रहने पर ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु उनके मिल जाने पर उनमें उत्पन्न किसी गुण (स्वभाव-विशेष) के कारण ज्ञानोत्पादन-क्षमता देखी जाती है, वे पदार्थ ही किसी कार्य के कारण बनते हैं, सदैक रूप में रहनेवाले ईश्वर, प्रधान, पुरुषादि पदार्थ किसी भी कार्य के कारण नहीं बन सकते ॥ ३० ॥

प्रामाण्यं च परोक्षार्थज्ञानं तत्साधनस्य च ।
अभावान्नास्त्यनुष्ठानमिति केचित् प्रचक्षते ॥ ३१ ॥

जैमिनीय दर्शन के अनुयायी कुमारिल भट्टादि का कहना है कि परोक्ष (देश-काल-विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान ही प्रमाणता है । वह किसी व्यक्ति को नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी साधन-सामग्री ही सम्भव नहीं, तब उसके उपदेश का अनुष्ठान कैसे होगा ? ॥ ३१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तस्मादित्यादि

तथा चक्षुषोर्ध्वनिमीलनादिविशेषादस्पष्टतादिविशेषः । स तत्प्रतिबद्धस्तस्य कार्यतां कारणस्योपकल्पयति । नैवमीश्वरकारणत्वकल्पने हेतुरिति । ततः 'पृथक्पृथगशक्तानां सन्तानातिशयेऽसति' सन्तानातिशयाभावे 'संहतावप्यसामर्थ्यं' स एव स्वभावः कारणविपरीतः कारणं भवेत् कथमिति किमत्रोत्तरम् ? रूपादीनान्तु कारणत्वोपकल्पने निमित्तमुक्तमिति न दोषः ।

(११) भगवान् प्रमाणम् , ज्ञानवत्त्वात्—

यदि तर्हीश्वरस्य परिज्ञानादिहेतुर्नास्ति ज्ञापकः कारको वा नापरत्रापि स स्यात् । यतः—प्रामाण्यमित्यादि

यस्तावदसर्वज्ञ एव सर्वज्ञो भवति । तस्य परोक्षार्थपरिज्ञाने को हेतुः । न खल्वी-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सिद्ध नहीं होती है किन्तु ईश्वर में कारणता की कल्पना का कोई कारण या प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । वह सदैव एकरस सब से निर्लिप्त (असन्निकृष्ट) और अकारणावस्था से अविशिष्ट है, तब 'कारणं कथम् ?' इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता । रूपादि की कारणता में नियामक निमित्त दिखाया जा चुका है ।

(११) भगवान् प्रमाणम् , ज्ञानवत्त्वात्—

यदि ईश्वर में ज्ञापकत्व या जनकत्वरूप कारणत्व बन नहीं सकता—एतावता अन्यत्र कहीं भी कारणता सम्भव नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ हैं । प्रमाणपुरुष हैं, उनमें जगदुद्धार की कारणता निश्चित है ।

शङ्का—कुमारिल भट्टादि का कहना है कि प्रमाणपुरुष उसे कहा जाता है, जो परोक्ष (विप्रकृष्ट देश या काल में अवस्थित) पदार्थों का ज्ञान रखता हो किन्तु परोक्षार्थविषयक ज्ञान के साधनों का अभाव है, अतः साधनानुष्ठान भी सम्भव नहीं । जो व्यक्ति वस्तुतः सर्वज्ञ नहीं किन्तु अपने को सर्वज्ञ मानता है, उससे पूछना चाहिए कि स्वर्गापवर्गादि परोक्ष पदार्थों का ज्ञान किस साधन से हुआ ? ऐसा कोई साधन

वार्तिकालङ्कारः

दृशं किमपि कारणमुपलक्षितं यतोनुष्ठानात् सर्ववेदनं भवति। मन्त्रतन्त्रादयस्तु प्रायशः सकलसमयसम्भविनः। नापि तन्निश्चये हेतुरस्ति। एकदेशसंवादः सकलवचनानामेव। न च परोक्षाणां साक्षात्कारणसम्भवः सकलार्थानामिन्द्रियज्ञानस्य सन्निहिताविषयस्य दर्शनात्।

इन्द्रियार्थविशेषेपि यदि सर्वविदुद्भवः। सर्वज्ञ एव सर्वः स्यादिन्द्रियार्थाविशेषतः ॥३५९॥
अशुच्यादिरसास्वादसङ्गमश्चानिवारितः। प्राप्यकारीन्द्रियत्वे च सर्ववित् कथमुच्यते ॥३६०॥
मनोविज्ञानमप्यस्य नेन्द्रियाननुसारतः। स्वतन्त्रन्तु मनोज्ञानं नैव केनचिदीक्ष्यते ॥३६१॥
अभ्यासात् स्पष्टता तस्य न सर्वविषया भवेत्। आगामयाश्रितत्वेप्यभ्रान्ततापि प्रसज्यते ॥३६२॥
अनुमानप्रसिद्धं तु वस्तु सर्वं न लभ्यते। ततो न सर्वविषया भावना सर्ववित् कथम् ॥३६३॥
शास्त्राद्यभ्यासतः शास्त्रप्रभृत्येवावगच्छतु। साकल्यवेदनन्तस्य कुत एवागमिष्यति ॥३६४॥
सर्वं वेत्तीति विज्ञानं तज्ज्ञेयावेदने कुतः। तज्ज्ञेयवेदनेऽपि स्यात् स एव खलु सर्ववित् ॥३६५॥
रागादिरहितो यश्च विकल्परहितस्तथा। देशना तत्कृतेत्येतत् तु याचितकमण्डनम् ॥३६६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इस समय उपलब्ध नहीं, जिसके अनुष्ठान से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। मन्त्र-तन्त्रादि प्रायः अनादि काल से केवल प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। सभी प्रकार के वचनों का कुछ न कुछ अंश संवादित (सत्य) हो ही जाता है। परोक्ष पदार्थों का साक्षात्करण कभी सम्भव नहीं, क्योंकि सकल पदार्थों के ऐन्द्रियक ज्ञान में इन्द्रिय-सन्निकर्ष अपेक्षित होता है। यदि इन्द्रिय और पदार्थों में सन्निकर्षरूप विशेषता के बिना ही सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, तब सभी सर्वज्ञ हो जाएँगे, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षरूप विशेषता की कोई आवश्यकता नहीं ॥३५९॥ यदि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष बोध होता है, तब अत्यन्त अशुचि पदार्थों का दूर से भी रसास्वाद सब को होना चाहिए इन्द्रियाँ यदि प्राप्यकारी (विषय से संयुक्त होकर) ज्ञान को जनक मानी जाती हैं, तब सभी को सर्वज्ञ क्योंकर कहा जा सकेगा? ॥३६०॥ परोक्ष पदार्थों का मानस ज्ञान भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन इन्द्रियों की सहायता से ही बाह्य पदार्थों का ग्रहण करता है- स्वतन्त्र नहीं। स्वतन्त्र मन के द्वारा बाह्यपदार्थों का ज्ञान कोई नहीं मानता, मण्डन मिश्र ने स्पष्ट कहा है—'परतन्त्रं बहिर्मनः" (विधिवि० पृ० ११४) ॥३६१॥ श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में मानस वृत्ति का अभ्यास करने पर विषय में स्पष्टता अवश्य आती है, किन्तु इतना नहीं कि भ्रान्तता की निवृत्ति होकर अभ्रान्तता निखर पड़े।।३६२॥ अनुमानैकगम्य (नित्यानुमेय) धर्मादि पदार्थ कभी उपलब्ध नहीं होते, तब सर्वविषयक भावनाभ्यास भी नहीं हो सकता, अतः सर्वज्ञता का लाभ क्योंकर होगा? ॥३६३॥ शास्त्रों के अभ्यास से शास्त्र का ही ज्ञान होता है, सकलविषयक ज्ञान (सर्वज्ञता) का लाभ कैसे होगा? ॥३६४॥ 'अयं सर्वं वेत्ति'—इस प्रकार का ज्ञान किसी सर्वज्ञ को ही हो सकता है, क्योंकि प्रथम सर्वज्ञ को वही जान सकता है, जिसको सर्वविषयक ज्ञान हो [कुमारिलभट्ट ने ऐसा ही कहा है—"सर्वज्ञावसौविति ह्येष तत्काले तु बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥ (श्लो० वा० पृ० ६४-६५)] ॥३६५॥ जो रागादि से रहित एवं निर्विकल्प है, उसी की देशना (उपदेश) ग्राह्य है--ऐसा बौद्धों का कहना केवल याचित-मण्डन है अर्थात् शून्यवाद या विज्ञानवाद में देशनादि पदार्थों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती, अतः सर्वसत्तावादि

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभि ॥ ३२ ॥

स्वर्गापवर्ग, प्रधानपुरुषादि पदार्थों का ज्ञान रखनेवाले प्रमाण पुरुष की खोज की जा रही है कि उसके द्वारा उपदिष्ट उपाय का अनुष्ठान किया जा सके। अज्ञानी पुरुषों के उपदेश में विप्रलम्भ की सम्भावना बनी रहती है, अतः वैसा पुरुष अपेक्षित है ॥ ३२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भूतं भवद्भविष्यच्चानाद्यन्तं कः पृथक् क्रमात् । प्रत्येकं शक्नुयाद् बोद्धुं वस्तु कल्पान्तरैरपि ॥३६७॥
एकदेशपरिज्ञानं कस्य नाम न विद्यते । न ह्येकं नास्ति सत्यार्थं पुरुषे बहुकल्पके ॥३६८॥
यत्रातिशयवान् दृष्टः स तावन्मात्रसंस्थितेः ।
किञ्चिन्मात्रान्तरज्ञः स्यान्नातीवातीन्द्रियार्थवित् ॥३६९॥
न चैकदेशतत्त्वज्ञः सर्वज्ञ उपपत्तिमान् । काकतालीयमेतत् स्यादपरभ्रमकारकम् ॥३७०॥
युगपत् सर्वविज्ञानेनादिसंसारता कथम् । यस्मिन् परिसमाप्तिज्ञः स एवादिरुच्यते ॥३७१॥

अत्रोच्यते—न परःप्रमाणं सर्वं वेत्तीतीष्यते । अपितु विप्रलम्भकारी न भवति अस्तु समीहितसम्पादनसमर्थः । किङ्कारणम्—

न खल्वन्यदनुष्ठातुमीहितमन्यत्र ज्ञानमुपदेष्टुरन्विष्यते । तद्विनिश्चयेपि समीहित-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

से माँग कर अपने शास्त्रों को सजाया गया है ॥३६६॥ विषयवस्तु अतीत, वर्तमान और भावी रूपों में बिखरी पड़ी है, उसके प्रत्येक क्षण का क्रमशः बोध कल्प-कल्पान्तरों में भी नहीं हो सकता ॥३६७॥ एकदेश (सर्वविषय के किसी एक भाग) का ज्ञान किसको नहीं, सभी को है, अतः सभी सर्वज्ञ माने जाएँगे, क्योंकि जो पुरुष बहुत बोलनेवाला है, उसका कोई न कोई एक वाक्य तो सत्यार्थक हो ही जाता है ॥३६८॥ साधारण व्यक्ति की अपेक्षा विशिष्ट पुरुषों में कुछ अतिशय (विशेषता) अवश्य उपलब्ध होता है, वह योग्य विषय की ही कुछ विशेष जानकारी रखता है, न कि अतीतानागतादि अयोग्य विषयों का साक्षात्कार नहीं कर सकता है। [श्री कुमारिलभट्ट ने भी कहा है—"यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादि दृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ (श्लो० वा० पृ० ६०) ॥३६९॥ एकदेश का तत्त्व-ज्ञान रखनेवाला मनुष्य सर्वज्ञ नहीं माना जाता, क्योंकि किसी एक वस्तु का सत्य ज्ञान काकतालीय-न्याय से भी हो जाता है जिससे दूसरे व्यक्ति को भ्रम हो जाता है कि यह सत्यवादी पुरुष सर्वज्ञ है ॥३७०॥ युगपत् सर्वपदार्थों का ज्ञान हो जाने पर अनादि संसार (जन्म-मरण-प्रवाह) क्योंकर होगा ? क्योंकि जिसमें विश्व की समाप्ति अवगत होती है, वही ब्रह्म आदि कारण है- उसके ज्ञान से संसार-धारा अवरुद्ध हो जाती है ॥३७१॥

समाधान—प्रमाण पुरुष के लिए सर्वज्ञ होना आवश्यक नहीं, अपितु विप्रलम्भक (प्रतारक या वञ्चक) नहीं होना चाहिए। अभीष्टार्थ की सिद्धि में समर्थ अवश्य होना चाहिए, वस्तुतः अभिज्ञावान् उपदेष्टा की खोज होती है, क्योंकि सत्यवादी पुरुष के उपदेशों का अनुष्ठान करने से ही सत्यार्थ का लाभ होता है किन्तु अज्ञानी पुरुष के उपदेश से विप्रलम्भ की सम्भावना बनी रहती है। अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थ से भिन्न अर्थ का उपदेश अपेक्षित नहीं, क्योंकि अन्यार्थ का निश्चय रहने पर भी अभीष्ट पदार्थ की

वार्तिकालङ्कारः

विप्रलम्भनसम्भवात् । अथ तत्रापि तस्य ज्ञानमस्त्येवेति निश्चयः । न सर्वत्र ज्ञानं ज्ञानासम्भवात् । तस्मात् तदेव तेन ज्ञातव्यन्तच्चेज्ज्ञातमिति ज्ञायते । अतोऽज्ञैरज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिस्तद्विषयज्ञानज्ञाने प्रमाणमेवासौ । अन्यत्रापि तस्य ज्ञानं सम्भावनीयं । यो हि प्रधानपुरुषार्थज्ञः प्रमाणपरिशुद्धसकलतत्त्वज्ञश्च स एव प्रमाणम् । तावतैवासावुपास्य । परिशिष्टन्तु सकलमेव समानं सर्वोपास्यानाम् । तच्च कस्य सम्भाव्यते ? येनोपदिष्टं । ये तु प्रमाणदृष्टं प्रधानपुरुषार्थञ्च न वदविदन्ति । अयमेव विदन्ति न ते प्रमाणम् । तत्राप्यपरिज्ञानसम्भवात् । कथमुपदेश इति चेत् । अनादिपरम्परातो नास्तिक्योपपदेशवत् ।

(१२) भगवान् प्रमाणम्, हेयोपादेयवेदकत्वात्—

अथ सर्वापरिज्ञाने सर्वत्र शङ्कोत्पत्तेरपरिज्ञानमपरस्यापीति सम्भाव्यते । ततश्च सर्वज्ञानमसम्भावयन् कथमत्रापि सम्भावयेत् परिज्ञानम् । उपदेशस्तु पारंपर्योपदेशादिति । तदसत्,

अप्रमाणे स्फुटा वस्तुन्युपदेशपरम्परा । प्रामाणिके त्वसम्भाव्या सोपदेशपरम्परा ॥ ३७२ ॥

नित्यत्वादौ हि प्रमाणासम्भविनि नोपदेशपरम्परातोऽन्या गतिः । प्रमाणेन चेद् वस्तु परिच्छिन्नं कथं तत्राज्ञानाशङ्का ? भवतु वा तथापि तत्राप्रवर्त्तनमवश्यम्भावि प्रमाणेन निश्चयात् । अथ प्रमाणदृष्टेऽप्यनिश्चयः साक्षात्करणे । तदेतदायातम् ।

सूक्ष्मेक्षिकेदृशी जाता प्रमाणाद् दृष्टदर्श्यपि । शंक्यते येन तीर्थ्येषु कथा कैव भविष्यति ॥३७३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सिद्धि नहीं होती । अपेक्षितार्थ का ही ज्ञान उपदेष्टा को होना चाहिए । अज्ञानी पुरुष के उपदेश में अज्ञानियों को विप्रलम्भन की शङ्का बनी रहती है । जो पुरुष प्रधानपुरुषादि सांख्यीय प्रमेयों का ज्ञान रखता है और प्रमाण-परिशुद्ध तत्त्व का पूर्णतया अभिज्ञान रखता है, वही हमारा प्रमाण पुरुष है । उसमें अन्य विषय का भी ज्ञान सम्भावित है—एतावता वह पुरुष उपासनीय है । शेष पुरुष तो सर्व-साधारण सर्वोपास्य हैं, वे प्रमाण नहीं, क्योंकि उनमें भी अपेक्षित अर्थ का अज्ञान सम्भावित है । तब ऐसे पुरुष उपदेश क्योंकर करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वे अनादि-परम्परा से सुनते आए हैं ।

(१२) भगवान् प्रमाण हैं हेयोपादेय के ज्ञाता होने से

शङ्का—यदि सर्व विषय का परिज्ञान नहीं, तब सर्वत्र शङ्का उत्पन्न हो सकती है; क्योंकि अपेक्षित अर्थ का अज्ञान भी उसमें सम्भावित है । उपदेश तो परम्परा से सुन-सुना कर भी किया जा सकता है ।

समाधान—अप्रमाणभूत वस्तु में ही प्रायः उपदेश-परम्परा देखी जाती है । आर्यसत्यादि प्रामाणिक अर्थ की उपदेश-परम्परा सर्वथा असम्भाव्य है ॥ ३७२ ॥ अर्थात् नित्यत्वादि अप्रामाणिक अर्थों में उपदेश-परम्परा को छोड़ कर और कोई गति नहीं किन्तु जो वस्तु किसी प्रमाण के द्वारा प्रमाणित है, उसमें अज्ञान की शङ्का ही नहीं होती । यदि होती भी है, तथापि उसमें प्रवृत्ति अवश्यमेव होती है, क्योंकि वह वस्तु प्रमाण के द्वारा निश्चित की जाती है । यदि प्रमाणभूत बुद्धपुरुष के द्वारा दृष्ट पदार्थों [में भी संशय रहता है, तब तो ऐसा कहना होगा कि जब नितान्त सूक्ष्मदर्शी भगवान् बुद्ध के द्वारा दृष्ट पदार्थों में भी शङ्का होती

तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य न क्वोपयुज्यते ॥ ३३ ॥

अनुष्ठेयरूप दुःखोपशमोपाय का ज्ञान प्रमाण पुरुष को होना चाहिए, उसमें कीड़े-मकोड़ों की संख्या के ज्ञान का क्या उपयोग ? ॥ ३३ ॥

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥ ३४ ॥

दुःखसत्य रूप हेयतत्त्व एवं उसके उपायभूत समुदयसत्य, निरोधसत्यरूप उपादेयतत्त्व और उसके उपायभूत मार्गसत्य का वेदक (जानकार) महापुरुष ही प्रमाण-पुरुष माना जाता है, न कि अनपेक्षित सर्व पदार्थों का ज्ञाता । (१) दुःख, (२) दुःख के हेतु, (३) दुःख निरोध और (४) दुःख-निरोध के साधनतत्त्व (मार्गसत्य) का ज्ञान और उपदेश ही प्रमाणरूपता का असाधारण ज्ञापक हैं, जो कि भगवान् बुद्ध में विद्यमान था ॥ ३४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणदृष्टस्य कथनमस्ति तथागतस्य भगवतः । तत्रापि यस्य शङ्का तस्य तीर्थेषु का गणना येषु परिज्ञानाननुगम एव । तस्मात् प्रामाणिकार्थकथनात् प्रमाणमेव भगवान् ।

स्वर्गापवर्गमार्गस्य प्रमाणं वेदको नरः । अन्यस्याप्यपरिज्ञाने संभवेदपि तस्य तत् ॥ ३७४ ॥

यतः—

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्र निषिध्यते । सर्वमन्यन्निषेधस्तु परः केन निवार्यते ॥ ३७५ ॥

ननु यद्येकदेशपरिज्ञानसंवादात् तथागतः सर्ववेदीति सम्भाव्यते । 'अग्निर्हिमस्ये'-त्यादि संवादादपरोऽपीत्यनवस्थैव स्यात् । न चैवम्, अनुष्ठानस्य परस्परविरोधेनासम्भवात ।

तदप्यसत्यम । हेयेत्यादि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है, तब अन्य तैर्थिकों (दार्शनिकों) का कहना ही क्या ? ॥३७३॥ भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रमाण-दृष्ट हैं—आर्यसत्यादि धर्म । उनमें भी जिस व्यक्ति को अनुष्ठेयत्व का संशय है. उसको अन्य दार्शनिकों द्वारा उपदिष्ट पदार्थों में सन्देह क्यों न होगा ? अन्य आचार्यों के प्रमेयों में पूर्ण ज्ञान का अनुगम या समन्वय ही नहीं । फलतः प्रामाणिक पदार्थों का उपदेश करने के कारण भगवान् प्रमाण ही हैं । स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग का वेत्ता महापुरुष प्रमाण कहलाता है । अन्य पुरुष को उसका ज्ञान न होने पर भी प्रमाण पुरुष में कथित मार्ग का ज्ञान सम्भव है ॥ ३७४ ॥ जिसको स्वर्गापवर्ग के मार्ग का ज्ञान है, वही सर्वज्ञ माना जाता है सर्व (समस्त) कीट-पतङ्गादि के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि यहाँ (बुद्ध) में केवल धर्मज्ञत्व के निषेध का निषेध किया जाता है । इससे अतिरिक्त सर्व ज्ञान का निषेध तो कौन हटा सकता है ? ॥३७५॥

शङ्का—यदि समस्त विषय वस्तु का बुद्ध में ज्ञान न होने पर भी उसके एकदेश (कतिपय आर्यसत्यादि विषय) का ज्ञानमात्र होने के कारण प्रमाणता मानी जाती है, तब ऐसी प्रमाणता तो सभी पुरुषों में मानी जा सकती है, जैसे कि "अग्निर्हिमस्य भेषजम (तै. सं. ७।४।१८।२) अर्थात अग्नि हिम (शीत) का निवारक है—ऐसा वेदार्थ के एकदेश का ज्ञान सब को है, सभी सर्वज्ञ और प्रमाण क्यों न होंगे ?

समाधान—दुःखादि हेय और सुखादिरूप उपादेय पदार्थों के हान और उपादान का

दूरं पश्यतु मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥ ३५ ॥

दूर की वस्तु देखे चाहे न देखे, आर्यसत्यचतुष्टयरूप अभीष्ट तत्त्व को जो देखता है, वही हमारा प्रमाणपुरुष और भगवान् है। यदि केवल दूरदर्शी ही प्रमाण है, तब हम मुमुक्षुओं से प्रार्थना करेंगे कि मुमुक्षुओ एत (आओ) हम सब गृध्रों की उपासना करें, क्योंकि वे दूर-से-दूर की वस्तु को देखते हैं ॥ ३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यस्मान्न सर्वस्यैव देशस्यापुरुषार्थलक्षणस्य वेदक इति तावता सर्वः सर्ववेद्यसौ भवति पुरुषार्थलववेदनं हि न कस्यचिदसम्भवि। तत्र हेयोपादेयतत्त्वं दुःखनिरोधसत्ये। अभ्युपायतत्त्वं तयोरेव दुःखनिरोधसत्ययोः कारणं समुदयमार्गसत्ये। ततश्चतुरार्यसत्यलक्षणस्य हेयोपादेयतत्त्वस्य वेदको यः प्रमाणसिद्धस्य वेदयिता स प्रमाणमिति यावत्। स्वर्गमार्गस्य च प्रमाणपरिच्छेदसम्भविनः। अन्यत् तु स्त्रीशूद्रविस्मापनं सुगतवचसि नासम्भवि। तस्मात् प्रधानपुरुषार्थवेदक एव प्रमाणमन्यस्यायोगात्। तस्माद्। दूरमित्यादि

न हि दूरदर्शनमस्तीत्येव सर्ववेदनं सम्भाव्यते। यदि त्वेवं भवेद् गृध्रादीनामपि तदित्येत गृध्रान् दूरश्रुतींश्च वराहादीनुपासनया स्वीकुर्म्म इति सकलन्यायमार्गपरित्याग एव जातः।

(१३) भगवान् प्रमाणम्, कारुणिकत्वाद्—

(१) जन्मान्तरसिद्धिः—

अथ किं सकलार्थज्ञानमसम्भवि निरर्थकंश्चैकान्तेन येन प्रधानपुरुषार्थज्ञानमेवास्य मृग्यते। नैतदस्ति।

सर्वं जानातु सर्वस्य वेदको न निषिध्यते। नास्माभिः शक्यते ज्ञातुमिति सन्तोष इष्यते ॥ ३७६ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जो ज्ञान है, वही प्रमाणता और उसका आश्रय पुरुष ही प्रमाण एवं सर्वज्ञ कहलाता है। पुरुषार्थ का आंशिक वेदन असम्भव नहीं। हेयतत्त्व है–दुःखसत्य और उपादेयतत्त्व है—निरोधसत्य। उपायतत्त्व उन दोनों (दुःखसत्य और निरोधसत्य) के कारण हैं—समुदयसत्य और मार्गसत्य। अतः (१ दुःख, २ दुःखहेतु, ३ दुःखनिरोध और ४ दुःखनिरोध का उपाय (अष्टाङ्गिक मार्ग) इन प्रमाण सिद्ध चार आर्यसत्यों का वेदयिता (ज्ञाता पुरुष) ही प्रमाण कहा गया है—"प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे" (प्रमाणसमुच्चय ?)। स्वर्गापवर्गादि का ज्ञान भी यही है। अन्य स्त्री-शूद्रादि को विस्मय में डालनेवाला ज्ञान भी सुगत में असम्भावित नहीं। फलतः प्रधान, पुरुष, स्वर्गापवर्ग आदि पदार्थों का वेदक महापुरुष ही प्रमाण हैं, उससे भिन्न कोई दूसरा प्रमाण कहलाने का अधिकारी नहीं।

इस का निष्कर्ष यह है कि सर्वज्ञ पुरुष बहुत दूर की या सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु देखे या न देखे. हेयोपादेयादि अभीष्ट पदार्थों का दर्शी यदि है, तब वही प्रमाण है। केवल दूर की वस्तु को देख लेना ही यदि प्रमाणता है, तब नितान्त दूरदर्शी गृध्र एवं दूर की सुननेवाले सूकर आदि को सबसे बड़ा प्रमाण और पूज्य पुरुष मानना होगा। इस प्रकार समस्त न्यायोचित मार्ग का परित्याग हो हो जायगा।

(१३) भगवान् प्रमाण हैं, कारुणिक होने से—

शङ्का—क्या बुद्ध में सर्व-ज्ञान सम्भव नहीं, या निरर्थक है, जिस से प्रधान (प्रकृति) और पुरुषादि के ज्ञान की खोज की जा रही है ?

साधनं करुणाऽभ्यासात् सा बुद्धेर्देहसंश्रयात् ।
असिद्धोऽभ्यास इति चेन्नाश्रयप्रतिषेधतः ॥ ३६ ॥

प्रमाणपुरुष की प्रमाणता का साधन है—करुणा । दुःख एवं दुःख के साधनों से जीव के उद्धार की कामना ही करुणा है । करुणा की पूर्णता का जन्म-जन्मान्तर में करुणा-परम्परा के अभ्यास से होता है अर्थात् पूर्व-पूर्व जन्म की करुणा से उत्तरोत्तर जन्मों में समुत्पन्न करुणा-परम्परा से करुणा-पारमिता सम्पन्न होती है । चार्वाकों का जो कहना है कि बुद्धि (चैतन्य) का आश्रय यह स्थूल शरीर ही है, इसके नष्ट हो जाने पर जन्मान्तर नाम की वस्तु सम्भव नहीं, तब जन्मान्तराभ्यास कैसा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"आश्रयप्रतिषेधतः । अर्थात् केवल भौतिक जड़ शरीर से ही यदि चैतन्य उत्पन्न होता हैं, तब घट-पट आदि सभी चेतन क्यों नहीं हो जाते ? समस्त जड़ जगत् में चैतन्यापत्तिरूप अतिप्रसङ्ग यह सिद्ध करता है कि केवल भौतिक शरीर चैतन्यादि का उत्पादक नहीं, अपितु पूर्व-पूर्व शरीरों में प्रवाहित विज्ञान स्कन्ध करुणादि भावनाओं से सहगत होकर उत्तरोत्तर जन्मों में प्रतिसंहित होता है, फलतः जन्मान्तर अनिवार्य है । पूर्व-पूर्व शरीर की करुणा से उत्पादित करुणा अपनी परिपक्व अवस्था में पहुँच कर समस्त जगत् के उद्धार की क्षमता अर्जित कर लेती है ॥ ३६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खलु सर्वज्ञः सर्वज्ञं जानात्युपायाभावात् । तथा हि—

जानाति सर्वमित्येषा तज्ज्ञेयज्ञानतो मतिः । तदेकदेशविज्ञानं तज्ज्ञस्यैवोपजायते ॥ ३७७ ॥

वृक्षादयोऽपि स्त्रीशूद्रज्ञानसाधारणाः परेण ज्ञायन्ते न वेति तज्ज्ञानादेव मतिः । स्वयमविज्ञाते तु ज्ञातमनेनेति नोपायः समस्ति । ये तु महान्तो दूरदर्शनगतयस्तेषामेकदेशपरिज्ञानपूर्विका सकलज्ञतासम्भावना तेषामपि तदपरेण तत्त्वसम्भावना ॥

ननूभयलक्षणस्यापि प्रमाणस्य कुतः साधनं को वा हेतुरित्याह—

तस्य प्रामाण्यस्य साधनं कुतो भवति । 'करुणाभ्यासात्' 'सा' च करुणा 'बुद्धे-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—भगवान् सबकुछ देखते और जानते हैं इसे नकारा नहीं जाता हों, हमलोगों को वैसा ज्ञान नहीं, अतः सर्वज्ञता कहीं न होने पर हमें एक सन्तोष अवश्य होता है ॥ ३७६ ॥

यह जो कहा जाता है कि असर्वज्ञ व्यक्ति सर्वज्ञ पुरुष को नहीं जान सकता, अपितु सर्वज्ञ ही सर्वज्ञ को जान सकता हैं, वह भी उचित नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता को जानने का कोई उपाय ही नहीं, अर्थात् "अयं सर्वं जानाति"—इस प्रकार का ज्ञान उसके ज्ञेयविषक ज्ञान के द्वारा ही होता है किन्तु उसको ज्ञान समस्तविषयों के एकदेशभूत हेयादि कतिपय विषयों का ही होता है ॥ ३७७ ॥ आशय यह है कि जैसे स्त्री-शूद्रादि को ज्ञान होता है, वैसे वृक्षादि को भी ज्ञान होता है ? या नहीं ? स्वयं अज्ञात विषय में "ज्ञातमनेन"—इस प्रकार के ज्ञान का कोई उपाय नहीं । जो महान् दूरदर्शन-सम्पन्न महापुरुष हैं, उन्हीं में ही एकदेशाभिज्ञानपूर्वक सकलज्ञता सम्भावित होती है, उनकी भी सर्वज्ञता का ज्ञान दूसरों को नहीं हो सकता ।

कथित उभयविध प्रमाणता का साधन क्या ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर है—करुणा । वह करुणा अभ्यास अर्थात् कल्याणमित्रादि सत्पुरुषों के सहवास से होती है । करुणा बुद्धि के आश्रयीभूत देह के आश्रय अर्थात् करुणाबुद्धि-सम्पन्न कल्याण मित्रादि

वार्तिकालङ्कारः

देहसंश्रयात् । बुद्धेर्यो देहस्तदाश्रयात् सा करुणाऽभ्यासपरिकरा परां प्रकर्षगतिमासादयति ।

दुःखहेतोस्तथा दुःखाद् वियोगेच्छा परस्य या । सा कृपा तद्वतस्तेन तदुपायार्जने मतिः ॥ ३७८ ॥

अवश्यं हि परदुःखवियोगेच्छावतस्तदुपायपर्येषणमिति पश्चात् प्रतिपादयिष्यते ।

अथवा साधनं करुणा । करुणावान् हि परोपकारविरहितो न भवति । ततः परार्थदेशनया प्रमाणम् । करुणावानुपाये प्रवर्त्तते । तदुपायश्च स्वप्रामाण्यसाधनम् ।

सैव करुणा सर्वत्राणेच्छालक्षणा कुतो भवतीत्याह 'करुणाऽभ्यासात्' । करुणा हि दुःखाभ्यासादुदासीनशत्रुपक्षयोरपि प्रवर्त्तते । ततः सकलत्राणमसर्वज्ञत्वे न सम्भवतीति तदुपायाभ्यासः समासाद्यते ।

ननु स्वबुद्धिर्देहाश्रिता बुद्धिमतां करुणापि बुद्धिरेव । ततः सापि शरीराश्रितैव ततः शरीरस्य भस्मीभावादावसिद्धोऽभ्यासः यदि हि जन्मान्तरसम्भवस्तदानेकजन्माभ्यासोपचयात् समीहितसमापत्तिः । तथा हि—

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः । मतत्रयमिहाश्रित्य नास्त्यभ्यासस्य सम्भवः ॥ ३७९ ॥

तदाह 'बुद्धेर्देहसंश्रयाद ।

पूर्वान्वयबुद्धिरहितस्य केवलस्य देहस्याश्रयणस्य प्रतिषेधात् । न खलु कार्यत्वे गुणत्वेऽन्यथा वा भवत्याश्रयभावो देहस्य केवलस्य ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सत्पुरुषों के सम्पर्क से करुणा का लाभ होता है । करुणा से प्रामाण्य की उत्पत्ति क्योंकर होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दुःख की सामग्री तथा दुःख से समुद्धार करने की कामना को करुणा या कृपा कहते हैं, अतः प्रमाण पुरुष सदैव करुणा के लाभ का प्रयत्न किया करते हैं ॥ ३७८ ॥ परकीय दुःखों को दूर करने की इच्छा वाले पुरुष ही प्रायः वैसा प्रयास किया करते हैं—यह पश्चात् कहा जायगा । अथवा प्रमाणता का साधन करुणा इस लिए है कि करुणावान् पुरुष कभी परोपकार से विमुख नहीं होता जगत् का उद्धार करने के लिए देशना (उपदेश) का मार्ग अपनाता है, प्रमाणता का अर्जन करता है । करुणावान् व्यक्ति दुःखोच्छेद के उपाय की खोज करता है, अतः वह उपाय ही स्वगत प्रामाण्य का साधन होता है । वह सर्व प्राणियों के दुःखों को दूर करने की इच्छारूप करुणा किससे उत्पन्न होती है ? उत्तर है—"करुणाभ्यासात्' । दुःखाभ्यास के द्वारा शत्रु एव तटस्थ व्यक्ति इन दोनों में करुणा उत्पन्न होती है, अतः सर्व प्राणियों का त्राण (रणक्ष) सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकता, इसीलिए उसके उपाय का अभ्यास किया जाता है ।

शङ्का—स्वकीय बुद्धि देह के आश्रित रहती है, बुद्धिमान् पुरुषों की करुणा भी एक बुद्धि ही है । इस प्रकार करुणा भी देह के आश्रित ही माननी होगी : मृत शरीर तो भस्मसात हो जाता है. तब जन्म-जन्मान्तरों के द्वारा करुणा-पारमिता का अभ्यास क्योंकर होगा ? यदि जन्मान्तर सम्भव हो, तब अनेक जन्मों के अभ्यासोपचय से अभीष्ट-सिद्धि का लाभ होता है—मति (ज्ञान) देहात्मक है या देह का कार्य है या देह का गुण है—इन तीनों में देह के नश्वर होने से अभ्यास सम्भव नहीं ॥ ३७९ ॥

समाधान—पूर्वान्वय-बुद्धि से रहित केवल देह के आश्रयण का प्रतिषेध किया गया है । कार्यत्व-गुणत्व या अन्य पक्ष में केवल देह का आश्रय नहीं माना जाता और न

वार्तिकालङ्कारः

न देहाद्याश्रिता बुद्धिः ।

ननु देहाश्रिता बुद्धिरुपलभ्यते देहकार्या मातापितृदेहाश्रयणदर्शनात् । तथा हि— तद्रूपायाश्चेतःपाटवादयो मातापित्रन्वयिनो जन्यशरीरमहाभूताश्रया तच्चित्रादय इव । चित्रकररूपविज्ञानानाद्यन्वयिनः कुड्याश्रिताश्चित्रकरकार्यंरूपाः । ततो न चित्रं कुड्य-विरहितमवतिष्ठते कुड्यान्तरं वा संक्रामत्यागतं वा कुड्यान्तरात । आम्रफलादिपाकज-रूपवद् वा । कार्यं वा धूमो न धूमध्वजान्तरादागच्छति । नापि धूमध्वजान्तरं प्रयाति । मदशक्तिस्तु मद्याश्रिता कषायादिरससंपर्कादपूर्वा प्रादुर्भवति । विलीयमाना न मद्यान्तर-मवलम्बते । तथेन्द्रियचेतनाविशेषाः । तथा चाह— पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि । पृथिव्यादीन्येव तत्त्वानि तत्त्वान्येव पृथिव्यादीनि । नाकाशादीनि न क्षणिकत्वादीनि । तथा तत्वान्येव न विज्ञानमात्रं नापि सकलमेव शून्यम् । सर्वत्र प्रमाणाभावात् । तत्स-मुदाये विषयेन्द्रियशरीरसंज्ञा । महाभूतानामेवापरिमितः परिणतिविशेषसंभूत समुदायः शरीरादिव्यपदेशविषयः । तेभ्यः शरीरेन्द्रियविषयेभ्यश्चैतन्यम् । यथा किण्वादिभ्यो मदशक्तिः । तस्मान्मदशक्तिवद् विज्ञानम् । न परलोकादागच्छत् प्रतिसन्धिमत् । मद-शक्तिवदिति चोपलक्षणं चित्रवद् धूमवदिति च । न खल्वेते सञ्चारिणो दृष्टाः । तदसत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बुद्धि को देह के आश्रित माना जाता है ।

शङ्का—देह के आश्रित ही बुद्धि उपलब्ध होती है—"अयं ज्ञानवान् जनः" । देह की कार्यता भी बुद्धि में निश्चित होती है, क्योंकि माता-पिता के देह का आश्रयण कर बालक को ज्ञान होता है । जैसे कोई चित्रकार किसी दीवार को साफ-स्वच्छ घोट-घाट कर उस पर विविध चित्र बनाता है, वैसे ही माता-पिता अपनी सन्तान की देह को साफ स्वच्छ नहला-धुला और पोछ-पाछ कर विविध साज-सज्जा की शिक्षा उसे देते हैं । इससे यह साफ दिखाई देता है कि माता-पिता की सीख या उनकी शिक्षा से जनित ज्ञान का आश्रय सन्तान का शरीर ही होता है । जैसे आम फल पर पाकज पीला रूप आम पर ही रहता है, वैसे ही शरीर-जन्य ज्ञान शरीर पर ही रहता है । धूमादि के समान ज्ञान को शरीर का कार्य माना जाता है । धूम न किसी अन्यदेशीय अग्नि से आता है, न अन्यत्र जाता है, वैसे ही बुद्धि जिसका कार्य है, उसी के आश्रित रहेगी । जो और गुड़ आदि के योग से उत्पन्न मद्य में मद शक्ति भी मद्य के आश्रित ही रहती है, न किसी अन्य वस्तु से आती है और न अन्यत्र जाती है । विलीन होकर अपने आश्रय में ही रह जाती है, वैसे ही इन्द्रियादि-जन्य चेतना (बुद्धि) देहाश्रित ही रहती है । जैसा कि लोकायत-सूत्रकार ने कहा है—"पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि ।" कथित तत्त्व न तो ज्ञानमात्रस्वरूप हैं और न शून्य । इन सभी प्रतिज्ञाओं का एकमात्र हेतु है—"प्रमाणाभावात्" । उक्त तत्त्वों के समूह की संज्ञाएँ हैं—विषय और इन्द्रिय । महाभूतो की एक विशेष परिणति शरीर है । उन शरीर-इन्द्रिय और विषयों से चैतन्य वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसे किण्वसंज्ञक सड़े-गले जो आदि के अवयवों से मद शक्ति उत्पन्न होती है । वैसा ही विज्ञान है । वह न तो परलोक से प्रतिसन्धि-विज्ञान के रूप में आता है और न कहीं जाता है । 'मदशक्तिवत्'—यह दृष्टान्त उपलक्षणमात्र है अन्य दृष्टान्तों का । वे हैं—'चित्रवत्', 'धूमवत् ।' ये धुम और चित्रादि पदार्थ सञ्चारी (अपने-अपने आश्रय को छोड़कर अन्यत्र संचरणशील) नहीं देखे जाते ।

प्राणापानेन्द्रियधियां देहादेव न केवलात्।
सजातिनिरपेक्षाणां जन्म जन्मपरिग्रहे ॥ ३७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

रूपादिव्यतिरेकेण कुतो भूतोपलम्भनम्। तानि पञ्च ततः संख्यावधारणमयुक्तिमत् ॥ ३८० ॥

रूपशब्दगन्धरसस्पर्शाः पञ्चमहाभूतानि। तत्समुदाये पृथिव्यादिसंज्ञा। पृथिव्यादीनामन्यथोपलम्भनाभावात्।

अथ रसस्य स्पृश्यतैवेति चतुःपरिमाणता। तथापि पृथिव्यादीनीति न युक्तं रूपादीन्यभिधेयं स्यात्। क्षणिकत्वादयः पश्चाद् भविष्यन्ति साध्या इति न तत्प्रतिक्षेपः। किञ्च।

दृश्यं दृश्यमिति ह्येवं सर्वमेकं प्रसज्यते। प्रकारभेदे तु पुनरनन्तत्वं प्रसज्यते ॥ ३८१ ॥
तस्मात् पंचाश्रयग्राह्यं पञ्चधा व्यपदिश्यताम्। तस्यावान्तरभेदस्तु पञ्चत्वानुपरोधकृत् ॥३८२॥
यच्चोक्तं सर्वशून्यत्वे प्रमाणं चेन्न शून्यता। शून्यता चेत् प्रमा नास्ति तदिदे व्याहतं द्वयम् ॥३८३॥
प्रतिपादयिष्यते पश्चाद् यादृशी सर्वशून्यता। तत्र यादृक् प्रमाणं च त्वराऽत्र क्वोपयोगिनी ॥३८४॥

(१४) भूतचैतन्यमतनिरासः—

ननु मातापितृशरीराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायीनीन्द्रियादीनि शरीरमहाभूतस्वभावत्वात् तदाश्रितान्येव नान्यथोपलभ्यन्ते परलोकादागतत्वेन। तत् कथं परलोकास्तित्ववादः साधीयान्। तदप्यसत्यम्। यतः—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—रूपादि गुणों से व्यतिरिक्त (भिन्न) पाँच भूतों की उपलब्धि कहाँ होती है? भूत पाँच ही हैं—ऐसा अवधारण करना भी युक्तियुक्त नहीं ॥३८०॥ रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पाँच महाभूत हैं। इनके समुदाय की पृथिव्यादि संज्ञा है। पृथिव्यादि की अन्यथा उपलब्धि नहीं हो सकती। यद्यपि रस स्पर्श से भिन्न नहीं, तब भी चार भूतों का परिणाम सिद्ध होता है। तथापि पृथिव्यादि—ऐसा कहना उचित नहीं, रूपादि ऐसा कहना चाहिए। क्षणिकत्वादि की सिद्धि पश्चात् होगी, अतः उनका प्रतिक्षेप नहीं किया जाता। दूसरी बात यह भी है कि यदि समस्त विश्व को एक दृश्य के रूप में देखा जाता है, तब पाँच कैसे? यदि प्रत्येक प्रकार (भेद) पर दृष्टिपात करते हैं, तब अनन्त भूत हो जाते हैं ॥३८१॥ अतः रूपादि पाँच गुणों के आश्रय में पञ्चात्मता का गौण व्यवहार मानना होगा। अवान्तर भेद पञ्चत्व संख्या के उपरोधक (बाधक) नहीं, क्योंकि शत में पञ्चाशत होते ही हैं ॥३८२॥ यह जो कहा था कि शून्यता में यदि प्रमाण है, तब सर्वशून्यता कैसे? यदि शून्यता में प्रमाण नहीं, शून्यता क्योंकर सिद्ध होगी? ॥३८३॥ सर्वशून्यता जैसी अभीष्ट है, उसका प्रतिपादन किया जायगा और उसमें जैसा प्रमाण है, वह कहा जायगा, त्वरा क्या? (उतावली काहे की?) ॥ ३८४ ॥

(१४) भूत-चैतन्यमत-निरास—

शङ्का—माता-पिता के शरीरादि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान इन्द्रियगण करते हैं एवं शरीरगत महाभूतों का स्वभाव भी उनमें पाया जाता है, अतः इन्द्रियाँ शरीर से उत्पन्न और शरीर के आश्रित हैं, परलोक से उनका आना सिद्ध नहीं होता, तब परलोकास्तित्ववाद सिद्ध क्योंकर होगा?

अतिप्रसङ्गाद् यद् दृष्टं प्रतिसन्धानशक्तिमत् ।
किमासीत् तस्य यन्नास्ति पश्चाद्येन सन्धिमत् ॥ ३८ ॥

प्राण, अपान इन्द्रिय और बुद्धि आदि की उत्पत्ति अपने सजातीय कारण (समनन्तर प्रत्यय) से निरपेक्ष केवल देह से नहीं हो सकती, क्योंकि केवल जड देह से बुद्धि (चैतन्य) की उत्पत्ति मानने पर अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है कि जड़ीभूत कारणों से उत्पन्न समस्त घटादि जगत् चेतन हो जायगा। पूर्वशरीर की मृत्यु होने पर उस से च्युत (निःसरित) विज्ञानस्कन्ध में प्रतिसन्धि (उत्तर शरीर में प्रवेश करने) के किस सामर्थ्य की कमी है कि उत्तर शरीर में वह प्रतिसंहित (अवक्रान्त या प्रविष्ट) न हो सकेगा ? ॥ ३७-३८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्राणादयो हि स्वभावविशेषाच्चपलतादिकृतात् स्वजातिनिरपेक्षा न युक्ताः। चपलतादयश्चात्माभ्यासान्वयिनो न मातापित्रभ्यासान्वयिनः। अन्यथा मातापितृस्वभावो न स्यादसंतसंपर्कादिना। तस्मात् स्वजातिनिरपेक्षान्मातापितृदेहमात्रादेव न भावः। यदि तु मातापितृस्वभावेऽभिलाषादयः प्रागासन्, तदा मातापित्रादिशरीरमपि कारणमिति युक्तम्।

अथाभ्युपगम्यते जन्मपरिग्रहः परलोकनिरपेक्ष एव। तदा जन्मपरिग्रहेऽभ्युपगम्यमानेऽतिप्रसङ्गः। सर्व एव कार्यकारणभावो विशीर्येत। स चानुमानपरिच्छेदादवधार्यः।

अभ्यासपूर्वकाः सर्वे प्राणापानादयो यदि। स्वाभ्यासरहिताश्च स्युः कथन्नाम निराश्रयाः ॥३८५॥

एष हि कार्यस्य धर्म्मो यत कारणमपहायान्यथा न भवनं। अन्यथा स तस्य न जन्यः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जन्यजनकभावः। तस्मात् समानजातीयाभ्याससम्भविचक्षुरादिपूर्वका एव चक्षुरादयः। ननु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—प्राण, अपान, इन्द्रिय और बुद्धि केवज शरीर से उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें जो चपलता आदि का स्वभाव पाया जाता है, वह अपने पूर्वभावी सजातीय प्राणादि तत्त्वों का ही हो सकता है केवल माता-पिता के अंशों का नहीं, अन्यथा असत्संसर्गादि के द्वारा पिता से भिन्न किसी अन्य संसर्ग-कर्त्ता के स्वभाव की अनुगति भी उपलब्ध होनी चाहिए। यदि सन्तान के उपकरणों में माता-पिता के शरीर से विलक्षण स्वभाव उपलब्ध होता है, तब माता-पिता का शरीर भी सन्तान के शरीर का कारण नहीं माना जा सकता। यदि परलोक-निरपेक्ष ही माता-पिता के शरीरादि से सन्तान के शरीरादि का जन्म माना जाता है, तब यह अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है कि प्राण, इन्द्रिय और बुद्ध्यादि में एक नियतस्वभावता न होकर अनियतस्वभावता होनी चाहिए, समस्त कार्य-कारण-परम्परा ही विशीर्ण हो जायगी किन्तु कार्य-कारणभाव एवं उसकी नियतस्वभावता अनुमान के द्वारा प्रमाणित होती है।

यदि प्राणापानादि स्वसजातीय कारण पूर्वक हैं, तब विजातीय परम्परा एवं विलक्षण स्वभाव के कारण से उनका जन्म क्योंकर होगा ? ॥३८५॥ कार्य का यह धर्म या स्वभाव है कि अपने कारण को छोड़कर अन्य पदार्थ से वह उत्पन्न नहीं होता। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कार्य कारणभाव पर्यवसित होता है, फलतः चक्षु श्रोत्रादि कार्य-वर्ग अपने पूर्वभावी समानस्वभाववाले चक्षु आदि से ही उत्पन्न होता है।

वार्तिकालङ्कारः

धूमो धूमान्तरोत्पन्नो न धूमादेव सर्वथा। शालूकादपि शालूकः कथम्भवति गोमयात् ॥३८६॥

तथा।

चित्रं चित्रकराज्जातं पतत्रिष्वपि किन्तया। भ्यासाद्धि विशेषो यः सोऽन्यथापि भविष्यति ॥३८७॥

तदप्यसत्।

धूमो धूमाद् यथाभूतः सोन्यतोऽपि न ज्ञायते।
अभ्यासात्तु विशेषो यः स जन्मादौ तथा स्थितिः ॥३८८॥

य एव विशेषः श्रुताभ्यासादिजन्मकः स एव तथाभूत इह जन्माभ्यासव्यतिरेकेऽपि दृश्यते। न च तस्याभ्याससङ्क्रमो बाध्यते। अतीताभ्यासस्यान्यत्रापि तदानीमुपलब्धुमशक्यत्वात्। ग्रामान्तरादागताभ्यासवत्। तत एव नापारलौकिकाभ्यासपूर्वकत्वमपि साधयतीति कारणेन सह कार्यस्य प्रतिबन्धात्। अदृष्टकारणस्यापि तत्कार्यत्वात् देशान्तराभ्यासपूर्वकत्वमपि साधयतीति। कारणेन सह कार्यस्य प्रतिबन्धात्। अदृष्टकारणस्यापि तत्कार्यत्वात्। देशान्तराभ्यासपूर्वकपरिज्ञानवत्। तदत्र तौतोपाख्यानमायातम्—

कश्चित् तौतः किलान्येन पृष्टः कथय सम्भवम्। मातुर्दीर्घविषाणस्य वृषभस्य कथं स्थितिः ॥३८९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—धूम केवल धूम या धूमान्तर से उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार शालूक बिच्छू) अपने सजातीय बिच्छू से ही नहीं होता, अपितु गोमय (गोबर) से भी उत्पन्न हो जाता है ॥ ३८६ ॥ केवल इतना ही नहीं, 'चित्रकार ही चित्र बनाए'—ऐसा कोई नियम नहीं, अपितु मयूरादि पक्षियों के शरीर पर चित्रकार के बिना ही सुन्दर चित्रावलि बनी देखी जाती है। वह जैसे अपने सजातीय पूर्व कारण से उत्पन्न नहीं होती, वैसे ही अन्यत्र भी कार्यवर्ग का जन्म हो जायगा ॥३८७॥

समाधान—धूम जैसे धूम से उत्पन्न होता नहीं देखा जाता, वैसे अन्य पदार्थों (घटादि) से भी उत्पन्न होता नहीं देखा जाता। प्रत्येक कार्य अपने पूर्ववृत्ति सजातीय कारण (समनन्तर प्रत्यय) से उत्पन्न होता है, तभी उसमें विशेष स्थिति (सभाग सन्तति) बनी रहती है ॥३८८॥

शङ्का—लोकायत का कहना है कि जैसी विशेषता अधीत शास्त्र के अभ्यास से प्राप्त होती है, वैसी ही विशेषता जन्माभ्यास (बार-बार जन्म-ग्रहण) के बिना भी देखी जाती है, वहाँ किसी प्रकार के अभ्यास के सङ्क्रमन का बाध भी नहीं किया गया। अतीतकाल का अभ्यास इस समय वैसे ही उपलब्ध नहीं किया जा सकता जैसे ग्रामान्तर से आये व्यक्ति का अभ्यास। इसीलिए पारलौकिकाभ्यासपूर्वकत्व भी सिद्ध नहीं होता, केवल कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध होता है। अदृष्ट कारण का भी कार्य देखा जाता है। देशान्तरीय अभ्यास भी देशान्तरीय कार्य का साधक होता है, क्योंकि कारण और कार्य का सम्बन्ध ही वैसा होता है। अदृष्ट कारण का कार्य वैसे ही देखा जाता है, जैसे देशान्तरीयाभ्यासपूर्वक परिज्ञान।

समाधान—लोकायत का उक्त वक्तव्य वैसा ही है, जैसे किसी तौत (लालबुझक्कड़) का उपाख्यान—किसी व्यक्ति ने पूछा कि भाई यह तो बताओ कि ये बड़े-बड़े सींगवाले मोटे-डाटे बैल और भैंसें अपनी माता (गौ-भैंस) के पेट में कैसे रहे और बाहर कैसे आये ? इस प्रश्न का उस तौत ने उत्तर दिया कि ये वृषभ और महिष अपनी माता की

वार्तिकालङ्कारः

स प्राह कुक्षेर्जायन्ते न मातुर्महिषा अमी। हट्टागतानामेषान्तु मूल्येन क्रयमात्रकम् ॥ ३९० ॥

तथाभूतमेवेदं लोकायतमतम्।

अथवा, अतिप्रसङ्गादिति यदि जन्मान्तरादागतिमन्तरेण तेभ्य एव महाभूतेभ्यश्चैतन्यं कार्यमुद्भवति (किन्न सकलं प्राणिमयम्भवति ? परिणतिविशेषसद्भावादिति) चेत्। स एव परिणतिविशेषः कस्मान्नेति समानः पर्यनुयोगः।

अथानादिः परिणतिः परम्पराविशेषो वानुपलक्ष्यमाणः कश्चिदस्ति यतः किंचित् प्राणिनो नान्ये। तदप्ययुक्तम्।

यदि परिणतेर्विशेषस्य दृश्यते नेति कल्पना कैषा।
दर्शनयोग्यमदृश्यं सद्व्यवहारस्य नो विषयः ॥ ३९१ ॥

यदि स परिणतिविशेषो भवेदुपलभ्येत। अथ कार्यदर्शनादेव कल्प्यते तथा सति दृष्ट एवाभ्यासः कल्पनीयः अदृष्टकल्पनागौरवात। ततः साधूक्तं समानजातीयभावपूर्वकाः प्राणादयः। भवतु कार्यात् कारणानां सिद्धिः पूर्वजन्मभाविनां परजन्मिनान्तु कथमनुमानम् ? तदाह—अतिप्रसङ्गादिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कुक्षी से जन्म नहीं लेते, अपितु हाट (बाजार) में आते हैं और कुछ रुपयों के बदले में बेंचे और खरीदे जाते हैं ॥३८९-३९०॥

अथवा अतिप्रसङ्ग की दूसरी व्याख्या इस प्रकार है कि यदि जन्मान्तर से आगति के बिना ही महाभूतों से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, तब समस्त जगत् प्राणिमय क्यों नहीं हो जाता। यदि परिणाम की विचित्रता मानी जाय, तब चैतन्य-रूपेण समस्त परिणिति क्यों नहीं ? यदि कहा जाय कि कोई अनुपलक्षित अनादि परिणति-परम्परा ही ऐसी चली आ रही कि जिससे कुछ ही प्राणी (चेतन) होते हैं, सभी नहीं। यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि यदि-परिणाम की कुछ विशेषता है, तब वह दिखती नहीं—यह कैसी कल्पना ? सद्व्यवहार का ऐसा कोई विषय नहीं, जो दर्शन के योग्य हो और दिखे नहीं ॥३९१॥ यदि वैसा कोई परिणाम-विशेष होता तो अवश्य उपलब्ध होता। यदि उसका कार्य देखकर केवल उसकी कल्पना की जाती है, तब दृष्ट (अनुभव-सिद्ध) अभ्यास ही कल्पनीय है अन्यथा अदृष्ट-कल्पना में महान् गौरव प्रसक्त होगा।

कार्य हेतु के द्वारा कारण की सिद्धि अवश्य होती है किन्तु पूर्वजन्मभावी कारणों की सिद्धि परजन्म में क्योंकर होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे पूर्वजन्म के शरीर में प्रवाहित प्राणादि से इस शरीर में प्राणादि की उत्पत्ति हुई, वैसे ही इस मध्य शरीर में अवस्थित प्राणादि में भावी जन्म के प्राणादि के उत्पादन की शक्ति देखी जा रही है, अतः पूर्व-प्रतिसन्धि के समान ही उत्तर-प्रतिसन्धान भी होगा अर्थात् इस शरीर में अवस्थित प्राणादि से भावी शरीर-परम्परा में प्राणादि-परम्परा अवश्य प्रवाहित होगी। अर्थात् पूर्व प्रतिसन्धि शक्ति के द्वारा भावी प्रतिसन्धि-परम्परा का अनुमान सुकर है—" [एतच्छरीर-प्रतिसन्धिः पूर्वशरीरप्रतिसन्धिपूर्विका प्रतिसन्धित्वात् , पूर्वप्रतिसन्धिवत्"। पालि-ग्रन्थों में प्रतिसन्धि को पटिसन्धि कहा गया है और पूर्वमृतशरीर से निकले चित्त का पहला कार्य बताया गया है—पटिसन्धि—किच्चसङ्गहे किच्चानि नाम पटिसन्धि-भवङ्ग-आवज्जन-दस्सन-सवनादीनि चुद्दसविधानि" (अभि० सं० ३।९)। पटिसन्धि की व्याख्या है—"भवेन भवं पटिसन्धाति संयोजेतीति पटिसन्धि"। अर्थात् पूर्व मृत शरीर

वार्तिकालङ्कारः

पूर्वपूर्वस्य हि प्रतिसन्धानं निश्चितं अनुमानानुमितानुमादिभिः। ननु चापलादिकमचापलत्वात् तदभ्यासतो भवति, अस्पन्दमन्दतादिलक्षणात्। सा तु महाभूममात्रकादेव। ततस्ततोऽपि भावे धूममद्धूमान्तरभावेऽपि न सर्वदा प्रबन्ध एव। तत उच्छेदोऽपि धूमवदेवेति नानन्ततापि प्राणिनां अपूर्वसत्त्वप्रादुर्भावश्च दोषाः। तदपि नास्ति।

मन्दप्रवृत्त्यभ्यासेन मन्दताप्यस्ति जन्मिनाम्। ततस्तत्पूर्विका सापात्यनादिभवचक्रकम्। ३९२॥

न खलु प्राणिनां स्वभावत एव मन्दतादयः प्रकाराः, अपि तु समानजातीयाभ्यासात्। यथैव चपलादयस्तदभ्यासतस्तथा मन्दताद्यपि कौसीद्याभ्यासादिति सिद्धमनादित्वं संसारस्य। स्वापाद्यभ्यासतो हि मन्थरता चक्षुरादीनां ततश्चपलचक्षुरादिकः सुप्तप्रबुद्धश्चपलचक्षुरादिना युज्यतेऽन्योऽन्येनेति। ततो जन्मादावपि सुप्तप्रबोधवदेवाभिमुखीभूतवासनाप्रबोधस्य चक्षुरादियोगः। कथमन्यशरीरगतं चक्षुरन्यशरीरे प्रतिसन्धीयते। कथं द्रव्यान्तरगता शक्तिरन्यत्र सञ्चारिणी ?

मन्त्रतन्त्रादिसामर्थ्याद् गुडादौ विषशक्तयः। तथैव कर्मसामर्थ्यादन्यदेहेक्षशक्तयः ॥३९३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

से निःसृत चित्तस्कन्ध का दूसरे गर्भ में प्रवेश करना ही प्रतिसन्धि है। इसे पुनर्जन्म या उत्तर गर्भ में प्रवेश भी कह सकते हैं]।

शङ्का—यद्यपि शब्द अपने सजातीय शब्दान्तर से उत्पन्न होता है किन्तु सजातीय शब्द-परम्परा से ही शब्द उत्पन्न होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि भेरी-मृदङ्गादि से भी शब्द उत्पन्न हो जाता है। धूम अपने सजातीय कारण धूमान्तर से ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि विजातीय कारण अग्नि से भी धूम होता है। चापलत्व अपनी सजातीय कारण से न होकर अचापलता (मन्दता) से भी अभ्यास करने पर उत्पन्न होता देखा जाता है, फलतः सजातीय कारणों की परम्परा सिद्ध नहीं होती, तब करुणादि की सिद्धि के लिए अनादिजन्म-परम्परा सिद्ध नहीं होती। प्रतिसन्धि-प्रवाह का धूमादि के समान ही कभी उच्छेद भी हो सकता है एवं अपूर्व (नूतन) सत्त्वों (जीवों) का प्रादुर्भाव भी हो सकता है।

समाधान—कुछ प्राणियों में जो मन्द प्रवृत्ति देखी जाती है, वह पूर्वजन्म-सिद्ध मन्दताभ्यास का ही कार्य है। निश्चितरूप से वह मन्दता अनादि भवचक्र की रक्षा करती आ रही है ॥३९२॥ प्राणियों की प्रकृति में मन्दता-तीव्रतादि के प्रकार (भेद) देखने में आते हैं, वे सभी समानजातिवाले कारणों से उत्पन्न होते हैं। जैसे चपलतादि उसके अभ्यास से उत्पन्न होते हैं वैसे ही मन्दतादि भी कौसीद्य (प्रमाद, आलस्य) आदि के अभ्यास से परिनिष्पन्न होते हैं। फलतः संसार की अनादिता सिद्ध है। निद्रादि के अभ्यास से मन्थरता (मन्दता) चक्षु-श्रोत्रादि में आती है। प्रबोधकाल में जो इन्द्रियाँ चपल (सक्रिय) हो जाती हैं, वह भी पूर्व प्रबोधावस्थ इन्द्रियों की कृपा है। इससे यह सिद्ध होता है कि लुप्त-प्रबोध के समान ही अनादि संचित वासनाओं के उद्बुद्ध होने से इन्द्रियगणों में प्रबोधादि का योग होता है। अन्य शरीरगत चक्षु आदि इन्द्रियाँ अन्य शरीर से क्योंकर जुड़ेंगी ? अन्य द्रव्य में रहनेवाली शक्ति अन्य द्रव्य में क्योंकर सञ्चारित होगी ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि जैसे मन्त्र-तन्त्रादि के बल पर गुड़ादि में विषशक्ति (मारकशक्ति) उत्पन्न की जाती है, वैसे ही विचित्र कर्मवासनाओं के सामर्थ्य से अन्य देह में अन्य देह की शक्तियाँ प्रतिसंहित होती हैं

वार्तिकालङ्कारः

यथा स्वप्नान्तिकः कायस्त्रासलंघनधावनैः । जाग्रद्देहविकाराय तथा जन्मान्तरेष्वपि ।।३६४।।

अथासौ सत्यताहीनः सुतरामेव शोभनम् । असत्याऽपि विकाराय यत्र सत्ये तु का कथा ।।३६५।।

व्यवहारमात्रकमिदं सत्यतासत्यतेति च । स्वरूपसाक्षात्करणे सत्यतादीति दुर्घटं ।।३६६।।

तस्माद् यत् प्रतिसन्धानशक्तिमत् पूर्वपूर्वमुपलब्धं तस्य किमासीदधिकं यत् पश्चान्नास्ति तदभावात् पश्चादसन्धिमत् । कारणवैकल्ये हि कार्यस्याभावः सकले तु कलावति कारणे कार्यमनुत्पत्तिमदिति व्याहतम् ।

ननु क इवात्र व्याघातः ? नन्वयमेव यः कार्यकारणभावाभावः ।

सर्वावस्थासमानेऽपि कारणे यद्यकार्यता । स्वतंत्रं कार्यमेवं स्यान्न कार्यन्तत्तथा सति ।।३६७।।

कारणपरतन्त्रं हि कार्यं तत्समर्थकारणं हठादेव जनयति । तथाप्यभावे न कार्यम् भवेत् । अथ तदभावे न भवतीति कार्यम्, तदभावे न भवतीति कुतः ? ननु तद्भावेऽवश्यं भवतीत्येतदपि कुतः ? तथात्वेन परिच्छेदात् । तदभावे न भवतीत्येतदपि परिच्छिद्यत एव । सर्वदेति कुत इति समानमुभयत्र । तस्माद् यथा दृश्यते तथाभ्युपगन्तव्यम् । उभयञ्च

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

।।३६३।। जैसे स्वप्न के मध्य में समुद्भूत शरीरगत त्रास (भय), लंघन और धावनादि क्रियाओं से जागरित देह में विकार उत्पन्न होता है, वैसे ही जन्मान्तर की कर्म-वासनाओं से जन्मान्तर में विविधताएँ प्रकट होती हैं ।।३६४।। यदि कहा जाय कि यह स्वाप्न शरीर सत्यता-हीन है तो वैसा कहना बहुत शोभन (अच्छा) है, क्योंकि हमें यह कहने का अवसर मिल गया कि जहाँ स्वप्न का असत्य शरीर जागरित के सत्य शरीर में विकार उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है, वहाँ सत्य शरीर-परम्परा का अभ्यास क्या नहीं कर सकता ? ।।३६५।। 'यह सत्य है', 'यह असत्य है'—ऐसा केवल व्यवहारमात्र है । स्वरूप-साक्षात्कार में साधनगत सत्यता अपेक्षित है—ऐसा कहना अत्यन्त दुर्घट है ।।३६६।। जो विज्ञान स्कन्ध प्रतिसन्धान शक्ति से समन्वित होने के कारण पूर्व-पूर्व शरीरों से प्रतिसंहित होता आया है, उसमें क्या कमी आ गई कि वह भावी शरीरों में प्रतिसंहित नहीं होगा एवं कौन-सी अघटित घटना घट गई कि जो पहले प्रतिसन्धान-शक्ति से युक्त था और पश्चात् उससे वियुक्त हो गया ? कारण की विकलता (न्यूनता) से कार्य का अभाव होता है । कारण की सकलता (समग्रता) से सम्पन्न हो जाने पर भी कार्य अनुत्पत्तिमत् (अनुत्पन्न) रहता है—ऐसा कहना अत्यन्त व्याहत (विरुद्ध) है ।

प्रश्न—यह व्याघात (विरोध) क्या है ?

उत्तर—यही तो व्याघात है—कार्यकारणभाव का अभाव । अर्थात् सर्वावस्था-सम्पन्न कारण के रहने पर भी यदि उसका कार्य उत्पन्न नहीं होता, तब वह कार्य उस कारण का न होकर स्वतन्त्र माना जायगा ।।३६७।। कार्य सदैव कारण के अधीन होता है । समर्थ कारण कार्य को बलात् जन्म दे डालता है । तथापि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता । यदि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता तो वहाँ जिज्ञासा होती है कि क्यों ऐसा होता है ? इस व्यतिरेक के लिए समुत्थित प्रश्न के समान ही "कारणे सति कार्यमवश्यं भवति"—ऐसा क्यों ? यदि कहा जाय कि कारण होने पर कार्य का दर्शन होता है, अतः अन्वय उचित है, तब व्यतिरेक के लिए भी ऐसा ही कहा जा सकता है कि कारण के न होने पर कार्य नहीं देखा जाता है, अतः 'कारणे सति कार्यं

वार्तिकालङ्कारः

दृश्यते तद्भावेऽवश्यं भवत्यसाकल्ये न भवत्येवेति तदुभयमङ्गीकर्तव्यम्। एवमदृष्टो न कार्यकारणभाव इति चेत्,

व्याप्त्या न व्यतिरेकस्य नान्वयस्यास्ति दर्शनम्। कार्यकारणभावस्य कथमस्यास्ति दर्शनम् ॥३९८॥

यदि व्याप्त्या न दर्शनमिति न कार्यकारणभावसिद्धिः। एवन्तर्हि न कस्यचिदन्वयव्यतिरिक्तस्य दर्शनमित्युक्तमेतत्—'स्वरूपस्य स्वतो गतिरि'ति।

'न परलोको नेहलोको न परलोकबाधनं न संदेहो न महाभूतपरिणतिरित्यादि' विज्ञप्तिमात्रकमेव। अथापि व्यवहारादेतत्। एवं परलोकोऽपीति।

यद्यद्वैते न तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथा। वर्तते व्यवहारश्चेत् परलोकोऽपि चिन्त्यताम् ॥३९९॥

सत्युपप्लवे वरमेवमुपप्लवः प्रशमस्य स्वर्गाद्यननुकूलत्वात्। रागाद्युपप्लवो हि सकलसमीहितसाधनत्वादिभावहानिमेव विधत्ते। तथा हि—चक्षुरादिरागादिभेदाः सकला एवानादिवासनाबलावलम्बिनो विज्ञप्तिमात्रतो न भिद्यन्ते ततश्चक्षुरादिविकलस्यापि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भवत्येव'— ऐसा नियम बन जाता है। कारण का अभाव होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती अतः 'कारणाभावे कार्यं न भवति'—ऐसा भी नियम सिद्ध हो जाता है। फलतः जैसा देखा जाता है, वैसा ही अभ्युपगत होता है। ये दोनों (अन्वय और व्यतिरेक) देखे जाते हैं—'तद्भावे (कारणसत्त्वे) अवश्यं कार्यं भवति' और 'कारण-साकल्य के न होने पर कार्य नहीं होता'। अतः ये दोनों नियम माने जाते हैं।

शङ्का—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक-दर्शन पर निर्भर कार्य-कारणभाव सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि "यत्र-यत्र अग्निः, तत्र-तत्रैव धूमः। यत्राग्निर्नास्ति, तत्र धूमोऽपि नास्ति"—इस प्रकार की व्याप्ति का दर्शन विज्ञानाद्वैतवाद में सम्भव नहीं, क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता से व्यतिरिक्त बाह्य देशादि की सत्ता इस अद्वैतवाद में मानी ही नहीं जाती ॥ ३९८ ॥ अन्वय की व्याप्ति और व्यतिरेक की व्याप्ति का दर्शन न होने पर कार्य-कारणभाव की सिद्धि नहीं होती। यह विगत छठे (प्र० वा० ६) श्लोक में कहा जा चुका है कि विज्ञान के स्वरूप का ही स्वतः दर्शन होता है, पररूप का नहीं, विज्ञान से भिन्न न परलोक है, न यह लोक, न परलोक का बाध, न सन्देह और न महाभूतों का परिणामात्मक विश्व, अपितु सब कुछ विज्ञप्तिमात्र (केवल विज्ञान) है।

समाधान—यदि पारमार्थिक दृष्टि से सब कुछ विज्ञप्तिमात्र होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से समस्त देश, काल, व्याप्ति, कार्यकारणभावादि सब कुछ है, तब भले ही लोक-परलोकादि का व्यवहार उचित मान लिया जाय। एक आचार्य अपने मेधावी शिष्य को कहता है कि हे शिष्य! यदि इस अद्वैतवाद में तुझे इस लिए सन्तोष नहीं कि अद्वैतत्व भी एक प्रकार का द्वैत पदार्थ है एवं अद्वैततत्त्व का उपपादन द्वैत-भाषा के बिना नहीं हो सकता। तब तो तू उस अद्वैततत्त्व में पहुँच चुका है, जहाँ कुछ कहना-सुनना नहीं, अतः तू सर्वथा मुक्त हो गया। यदि तेरी दृष्टि में कुछ व्यवहार की सत्ता शेष है, तब परलोक पर भी विचार किया जा सकता है ॥ ३९९ ॥ उपप्लवों (रागादिदोषों) के रहने पर ही स्वर्गादि का साधन-मार्ग खोजा जा सकता है, रागादि का उपशम (अभाव) तो स्वर्गादि-साधनों के अनुष्ठान में प्रतिबन्धक है। रागादि दोष ही तो सकल समीहित (अभीष्ट) फल की साधनता का स्मरण दिलाकर साधनानुष्ठान में पुरुष को प्रवृत्त करते हैं। इतना ही नहीं, समीहितार्थ की प्राप्ति भी करा देते हैं। जैसे कि किसी

न स कश्चित् पृथिव्यादेरंशो यत्र न जन्तवः।
संस्वेदजाद्या जायन्ते सर्वबीजात्मकं ततः ॥ ३९ ॥

पृथिव्यादि महाभूतों का कोई ऐसा प्रदेश नहीं, जहाँ प्राणी उपलब्ध न हों। अन्ततोगत्वा संस्वेदज (मशक मच्छरादि) तो सर्वत्र पाये जाते हैं। अतः भूतों के परिणाममात्र प्राणियों के बीजरूप हैं, फलतः महाभूतों से प्राणियों की उत्पत्ति माननी अनुचित नहीं ॥ ३९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

जन्मान्तरे पुनरविकलचक्षुरादिता। ततो जन्मपरम्परास्वयमेव प्रकारो नादिता च संसारस्य। यावच्च नोपप्लवप्रशमस्तावती तस्यानन्ततापि। सत्यतायामपि चक्षुरादीनां बाह्यार्थत्वे वानादिरसौ स्वभाव इति संसारानाद्यनन्तता।

(१५) न महाभूतोद्भवा बुद्धिः

ननु महाभूतविशेषः कठिनत्वादय उपलभ्यन्त एव। ततस्तद्विशेषान्महाभूतोद्भवत्वेऽपि नातिप्रसङ्ग इति। ततः कठिनत्वादिविशेष एव बीजात्मकस्तत एव प्राणिसम्भव इति। उक्तमत्र 'कार्यकारणभाव एव न स्यादि'ति।

अपि च। न स कश्चिदित्यादि।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नेत्र-हीन प्राणी का चक्षुविषयक राग (नेत्र को लिप्सा) अनादि वासनावसिक्त विज्ञप्तिमात्रता के रूप में बना रहता है। अतएव नेत्र-हीन व्यक्ति को जन्मान्तर में अविकल चक्षुरिन्द्रिय का लाभ हो जाता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि संसारस्थ प्राणियों की जन्म-परम्परा में अनादिता निश्चित है। संसार का अन्त तब तक नहीं होता, जब तक रागादि दोषों का उपशम (नाश) नहीं होता। चक्षुरादि सत्य होने पर भी बाह्य रूपादि विषयों के ही ग्राहक होते हैं, क्योंकि अनादिकाल से ही इनका ऐसा ही स्वभाव देखा जाता है।

(१५) बुद्धि महाभूतों से उद्भूत नहीं होती---

शङ्का—[महाभूतों से प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदि की उत्पत्ति मानने पर जो अतिप्रसङ्ग दिया गया कि समस्त जड़ जगत् प्राणादिमान हो जायगा, वह उचित नहीं, क्योंकि जैसे मृत्तिका से घट की उत्पत्ति मानी जाती है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि रेत, बालू, कङ्कड़, पत्थरादि सबसे घट की उत्पत्ति मान ली गई। घट के योग्य मृत्तिका से ही घट की उत्पत्ति मानी जाती है, सभी प्रकार की मृत्तिका से नहीं। वैसे ही केवल महाभूतों से प्राणादि की उत्पत्ति नहीं कही जाती, अपितु देहादिरूपेण परिणत होनेवाले महाभूतों से ही प्राणादि की उत्पत्ति अभीष्ट है, सभी भूतों से नहीं]। महाभूतों में कठिनता, तरलता, उष्णतादि विशेषताएँ जैसे पाई जाती हैं, वैसे ही प्राणादि के उत्पादन की योग्यता से मण्डित महाभूत ही देहादिरूप से परिणत होकर प्राणादि को जन्म दे सकेंगे, सभी नहीं, तब कथित अतिप्रसङ्ग क्यों उपस्थित होगा ? अयोग्य पदार्थों का अयोग्य पदार्थों के साथ कोई कार्यकारणभाव नहीं होता, जैसा कि कहा गया है---"कार्यकारणभाव एव न स्यात्"।

अपि च पृथिव्यादि महाभूतों का एक भी कण ऐसा नहीं जहाँ कोई न-कोई जीवजन्तु न हो, स्वेदजादि क्षुद्र जातियों का प्राणी सर्वत्र मिलेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि महाभूतों का कण-कण प्राणियों का बीज है, उससे प्राणादि की उत्पत्ति स्वतः

तत् सजात्यनपेक्षाणां भक्षादीनां समुद्भवे ।
परिणामो यथैकस्य स्यात् सर्वस्याविशेषतः ॥ ४० ॥

यदि इन्द्रियादि की उत्पत्ति अपने सजातीय कारणों से निरपेक्ष केवल महाभूतों से मानी जाती है, तब सर्वत्र लोष्ठ-पाषाणादि से भी इन्द्रियादि की उत्पत्ति होनी चाहिए ॥ ४० ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खलु कठिनत्वादिविशेषविभागेन प्राणिविभागोत्पत्तिः, सर्वत्र प्राणिदर्शनात् । संस्वेदजादयोऽपि हि प्राणिनो न खलु विभागेन न दृश्यन्ते । ततः कठिनत्वादिकृतो न विभागः । कर्मैव चेतनालक्षणं यदि परमवशिष्यते । अथ काष्ठाद्यन्वयिनी प्राणिजातिरुपलभ्यत इति वदेत् । तदा समानजातीयं सर्वं तद्रूपप्राणिमयं भवेद् । यन्महिम्ना व्यवस्थापितामम्भो भवति । तत् सकलं तद्रूपप्राणिमयं भवेत् । कुतो वर्णसंस्थानवैलक्षण्यं प्राणिनाम् ?

तथा हि रक्तशिरसः पीतकायादयः परे । जलादिप्राणिनो दृष्टाः स आकारः कुतो भवेत् ॥४००॥

तद्रूपबीजात् कमलादिभेदः किंदृष्टदृष्टोऽनियतः कदाचित् ।
न प्राणिभेदो नियतोऽस्ति बीजात् सन्त्यत्र कर्माणि नियामकानि ॥४०१॥

तत्सेयादि ।

अपि च । मनोविज्ञानाश्रितानीन्द्रियाणि स्वकार्यकारीणि न तु मनोविज्ञानमेव तदाश्रितम् । ततो मनोविज्ञानादेवेन्द्रियाणां सम्भवो न भूजलादिभ्य इति दर्शयति । 'प्रत्येकमि'त्यादि ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सिद्ध है ॥३९९॥ कठिनत्वादि विशेषताएँ प्राणिसमुद्भूति-क्षेत्र की विभाजक नहीं, अपितु सर्वत्र प्राणी देखे जाते हैं । कठिन धरातल पर अमुक प्राणी और कोमल धरातल पर अमुक प्राणी रहते हैं—ऐसा कोई विभाग नहीं किया जा सकता, हाँ, चेतनात्मक कर्म के अनुरूप प्राणी विविध क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं । यदि काठिन्यादि को विशेष प्राणियों का उत्पादक माना जाता है, तब उस प्रकार के सम्पूर्ण क्षेत्र में उनकी उपलब्धि होनी चाहिए । यदि महाभूतों की किसी एक विशेषता को वर्ण-संस्थानादि का जनक माना जाता है, तब प्राणियों के वर्ण संस्थानों में वैलक्षण्य न होकर एकरूपता ही होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अपितु जल-जन्तुओं में लाल मुख वाले प्राणियों से पीत शरीर वाले जीव उत्पन्न होते देखे गये हैं, वह कैसे होगा ? ॥ ४०० ॥ कमल-बीज से क्या सदा एक जाति के कमलों की उत्पत्ति होती है ? ऐसा कोई नियम नहीं । वैसे ही प्राणियों के बीज और क्षेत्र पर प्राणियों के वर्ण-संस्थान निर्भर नहीं, अपितु सब अपने-अपने कर्मों से नियन्त्रित होते हैं ॥ ४००–४०१ ॥

समाधान—यदि प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदि पदार्थ अपने सजातीय प्राणादि से रहित केवल महाभूतों से उत्पन्न होते हैं, तब लोष्ठ-पत्थर आदि से भी प्राणादि की उत्पत्ति माननी होगी । वस्तुतः मनोविज्ञान (विज्ञानस्कन्ध) के आश्रित रह कर ही इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, न कि आश्रयीभूत केवल मनोविज्ञान । इससे स्पष्ट है कि मनोविज्ञान से ही इन्द्रियों का समुद्भव होता है, महाभूतों से नहीं—यही दिखाया गया है अग्रिम वार्तिक में—"प्रत्येकमुपघातेऽपि" ।

प्रत्येकमुपघातेऽपि नेन्द्रियाणां मनोमतेः ।
उपघातोऽस्ति भङ्गेऽस्यास्तेषां भङ्गश्च दृश्यते ॥ ४१ ॥

इन्द्रियगण के किसी एक इन्द्रिय का उपघात (भङ्ग) होने पर मनोमति (मानस ज्ञान) का उपघात नहीं होता, किन्तु मानस बुद्धि का उपघात (भय-शोकादि-जनित विकार) होने पर इन्द्रियों का भङ्ग (विकार) अवश्य देखा जाता है, अतः इन्द्रियाँ मनोविज्ञान की कार्य एवं तदाश्रित हैं ॥ ४१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथवा मनोविज्ञानं न तावन्न तत्समुदायरूपशरीरादुत्पत्तिमत् । प्राणापानादयस्तु महाभूतपरिणतिस्वभावा एव मातापितृबीजमात्रकात् । मनोविज्ञानञ्च संसारि नेन्द्रियादयः । यतः—

छेदसन्धानवैराग्यहानिच्युत्युपपत्तयः । मनोविज्ञान एवेष्टा उपेक्षायां च्युतोद्भवौ ॥४०२॥

इत्युक्तम् । ततो मनसः संसारित्वं न भूताश्रितत्वम् । यतः, प्रत्येकेत्यादि ।

मनोमतेर्हि भङ्गे भयशोकहर्षक्रोधादिना चक्षुरादिविकारदर्शनाच्चचक्षुरादीनि मनोविज्ञानाश्रितानि । ततो जन्मादावपि तदाश्रितान्येवेति भवान्तरप्रसिद्धिः । न चैवं मनोविज्ञानं शरीराश्रितम् । मनोविज्ञानविकार्यपञ्चेन्द्रियसमुदायकार्याश्रितत्वात् ।

ननु यदि नाम चक्षुरादीनि मनोविज्ञानविकार्याणि । तत एव तूत्पत्तिरिति कुतः ? न ह्यग्नेर्विकारमासादयद् घटादि वस्तु वह्नेरेवोत्पद्यते । अत्रोच्यते—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अथवा मनोविज्ञान भूतादि-समुदायात्मक शरीर से उत्पन्न नहीं होता, इसके विपरीत प्राणापानादि तो महाभूत परिणति के स्वभाववाले हैं, अतः माता-पिता के बीज मात्र से उनका समुद्भव होता है। मनोविज्ञान ही संसारी आत्मा कहलाता है, इन्द्रियादि नहीं, क्योंकि छेद (पूर्वशरीर से वियोग), सन्धान (उत्तर शरीर के साथ योग), वैराग्य, हानि एवं पूर्व-पूर्व शरीर से च्युति (मरण) और उत्तरोत्तर शरीर में उपपत्ति (जन्म) आदि मनोविज्ञान में ही माने जाते हैं। उपेक्षा (रागादि वृत्ति की निवृत्ति) होने पर च्युति और उपपत्ति होती है ॥ ४०२ ॥ इस प्रकार मन में ही संसारित्व (संसरण या च्युति और उपपत्ति) होना माना गया है, महाभूतों में नहीं, क्योंकि इन्द्रियवर्ग के किसी एक इन्द्रिय का उपघात होने पर मनोगत ज्ञान का उपघात (अशक्तत्व) नहीं होता है, किन्तु मन के भय-शोकादि से आक्रान्त होने पर इन्द्रियों का शक्ति-भङ्ग अवश्य होता है, अतः चक्षुरादि इन्द्रिय मनोविज्ञान के ही आश्रित हैं। अतः जन्मादि के समय भी विगत शरीर से मनोविज्ञान अपने आश्रित इन्द्रियों के साथ लिये इस शरीर में आता है, अतः भवान्तर (जन्मान्तर) सिद्ध हो जाता है। मनोविज्ञान भी शरीर के आश्रित नहीं, अपितु मनोविज्ञान के द्वारा विकृत होने वाला जो इन्द्रियादि का समुदाय है, उसी के आश्रित है।

शङ्का—यदि चक्षुरादि इन्द्रिय मनोविज्ञान के द्वारा विकार्य है, तब मनोविज्ञान से ही उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाती है ? जो जिसके द्वारा विकार्य होता है, वह उसी से उत्पन्न होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि घटादि पदार्थ वह्नि के द्वारा विकार्य (कच्चे घटादि अग्नि के द्वारा पका दिये जाते) हैं, किन्तु वे अग्नि के कार्य नहीं माने जाते, अपितु मृत्तिका के कार्य माने जाते हैं।

वार्तिकालङ्कारः

घटादिरन्यथा दृष्टस्ततो न तत एव सः । नान्यथा तु पुनर्दृष्टमिन्द्रियन्तद्विकारतः ।।४०३।।

प्रासादादिलक्षणलक्षितं हि सकलमेवेन्द्रियमुपलभ्यते । न तु घटादिकमग्निकृतविकारमेव । ततो न घटादिर्दृष्टान्तः । अथ यद्यपि नामेदानीं मनोविज्ञानमाश्रयो दृष्टोऽन्यदापि तथैवेति कुतः ? तदेतदसत् ।

वह्नेर्यद्यपि धूमो दृश्यते तत एव सः । अन्यदापीति नाध्यक्षं प्रमाणमिह कस्यचित् ।।४०४।।

तस्माद्

यथा धूमेऽग्निपूर्वत्वगतिस्तत्प्रत्यभिज्ञया । तथा मनोविकार्यत्वगतिर्जन्मादिभाविनी ।।४०५।।

जन्मादौ चक्षुरादीनि चापलादियोगिमनोऽनुरूपविकार्यतया प्रत्यभिज्ञायमानानि तथैव तानीत्यवगमो युक्तः । यथा सकृदग्निपूर्वकः क्वापि यत्प्रसवो दृष्टः प्रदेशान्तरे तत्पूर्वकतयैव प्रत्यभिज्ञायमानोऽस्ति ।

पुत्रादीन्द्रियवैकल्येऽप्यस्ति मानसविक्रिया । तदाश्रितं मनः प्राप्तं नियमो नोभयोरपि ।।४०६।।

यदि सर्वत्र पुत्रादिचक्षुरादिविकारे न विक्रियेति नियमाभावात् पुत्रादिचक्षुरादीनीति नाश्रयः । स एव नियमाभावो दृष्ट उभयोरपि । नात्मचक्षुरादिविकारेऽपि विकारो मनसः कस्यचिदिति न तान्यपि नाश्रय इतीन्द्रियाणां नाश्रयत्वम् । एवन्तर्हि मनोविज्ञानमिन्द्रियाणामाश्रय इन्द्रियाणि तु न मनस इत्यनाश्रितं मनः प्रसक्तम् । षण्णामपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—घटादि में अग्नि के बिना भी उपादानादि के विकार से विकृतता देखी गई है, अतः घटादि अग्नि के कार्य नहीं, अपितु मृत्तिका के कार्य हैं किन्तु इन्द्रियों में विकार मनोविकार से उत्पन्न होता है, अतः इन्द्रियगण मनोविज्ञान के ही कार्य माने जाते हैं ।। ४०३ ।। जैसे प्रासादादि (राज-प्रसाद या मन्दिरादि) मृत्तिका के नियमतः कार्य हैं, वैसे ही इन्द्रियादि भी मनोविज्ञान के ही कार्य हैं किन्तु घटादि पदार्थ केवल अग्नि-जनित विकार के आश्रय नहीं होते, अतः अग्नि के कार्य नहीं माने जा सकते, अतः घटादि दृष्टान्त उचित नहीं ।

यदि इस समय इन्द्रियादि का मनोविज्ञान आश्रय है, तब अन्य काल में भी वही आश्रय क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि वर्तमान काल में धूम अग्नि से उत्पन्न होता दिखाई देता है, तथापि भविष्यत् कालों में भी धूम अग्नि से उत्पन्न होगा—ऐसा कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं ।।४०४।। फिर भी जैसे प्रत्यभिज्ञा के द्वारा धूम में अग्निपूर्वकत्व का निश्चय हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जन्मान्तरस्थ इन्द्रियों में मनोविकार्यत्व निश्चित हो जाता है ।।४०५।। जन्मादि में चक्षुरादि इन्द्रियाँ मानस चपलता से युक्त होने के कारण मनोविकार्यत्वेन प्रत्यभिज्ञात होती हैं, वैसे ही जन्म-जन्मान्तर में भी अवगति स्थिर होती है ।

पुत्रादि स्वकीय जनों की इन्द्रियों में वैकल्य (भयङ्कर दोष) आने पर भी पिता के मन में विकार उत्पन्न हो जाता है, अतः पुत्रादि की इन्द्रियाँ भी पैत्रिक मनोविज्ञान के ही आश्रित माननी होंगी । यदि नियमतः विकाराश्रयता आवश्यक मानी जाती है, तब वह न तो स्वकीय इन्द्रिय-विकारों की आश्रयता मिलेगी और न परकीय विकारों (पुत्रादि-इन्द्रिय-विकारों) की आश्रयता मिलेगी ।।४०६।। अर्थात् इन्द्रियाँ चाहे अपनी हों या पुत्रादि की, उनके विकार की नियमतः आश्रयता मनोविज्ञान में नहीं

तस्मात् स्थित्याश्रयो बुद्धेर्बुद्धिमेव समाश्रितः ।
कश्चिन्निमित्तमक्षाणां तस्मादक्षाणि बुद्धितः ॥ ४२ ॥

बुद्धि का आश्रय तो समानजातीय कोई पदार्थ है, सेन्द्रिय शरीर नहीं। वह आश्रय तत्त्व बुद्धि के ही आश्रित है, वह है—कर्म (वासना)। अतः इन्द्रियाँ बुद्धि से उत्पन्न होती हैं, बुद्धि उन से नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

चक्षुरादिविज्ञानानामाश्रयेण केनचिद् भवितव्यम् ।

इन्द्रियं मनसो ज्ञानात् तस्माच्चात्रास्ति मनोमतिः ।
ततस्तत्राऽपि स्याच्चेत्यनाद्यनन्तभवस्थितिः ॥४०७॥

यदि मनोमतिरपीन्द्रियविकारतो न विकार्या एवम् ।

नेत्रादिनाशेऽनेकत्र मनो दैन्यादि दृश्यते । तत्राश्रितं कुतस्तेन नेहाशोभनमूह्यते ॥४०८॥

नैतदस्ति । नावश्यमाश्रयः सर्वस्य कश्चिदिति नियमोऽस्ति ।

अथ निर्बन्धस्तदप्युच्यते—तस्मादित्यादि ।

तस्माद् बुद्धेः स्थित्याश्रयो यः स निमित्तमक्षाणां चेतनालक्षणकर्मसञ्ज्ञितः । स एव तर्हि चक्षुरादीन्द्रियं समाश्रित इति तदाह । स च बुद्धिमेव समाश्रितो नेन्द्रियाणि । न हीन्द्रियाणि तस्याश्रयः । चेतना कर्म चेतयित्वा वाक्कर्मेति वचनात् । चेतना चेदं चेदं चेत्येवमात्मिका । सा च पूर्वानुसन्धानरूपा बुद्धिमेवाश्रित्य भवति न कायाश्रिता ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होती । यदि ऐसा है, तब मनोविज्ञान इन्द्रियों का आश्रय होगा किन्तु इन्द्रियों को मन का आश्रय नहीं मान सकते, अतः मन अनाश्रित हो जायगा । चक्षुरादि छः विज्ञानों का भी कोई आश्रय होना चाहिए । मनोज्ञान से इन्द्रिय, इन्द्रियों से मनोविज्ञान—इस प्रकार अनादि-अनन्त संसार-स्थिति सिद्ध होती है ॥४०७॥

यदि मनोविज्ञान भी ऐन्द्रियक विकार से विकारी नहीं होता, तब वह भी उसका आश्रय नहीं । नेत्रादि का नाश होने पर अधिकतर मनोविकार (दैन्यादि) देखा जाता है, कहीं कहीं नहीं, अतः नेत्रादि का भी आश्रय मनोविज्ञान क्योंकर होगा ? इस का उत्तर है—नावश्यमाश्रयः सर्वस्य कश्चिदिति नियमोऽस्ति ।" अर्थात् सभी पदार्थों का कोई आश्रय होना ही चाहिए—ऐसा कोई नियम नहीं । यदि कोई नियम माना जाता है, तब इतना ही कहा जा सकता है कि जो कर्म (वासना) बुद्धि की स्थिति का आश्रय है, वही बुद्ध्यादि का निमित्त-कारण है । अर्थात् बुद्धि की स्थिति का जो कारण है, वही इन्द्रियों का निमित्त-कारण है—चेतनालक्षणं कर्म । चेतनात्मक कर्म किसके आश्रित है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"बुद्धिमेव समाश्रितः" कर्म भी बुद्धि के ही आश्रित है, "इन्द्रियों के नहीं, क्योंकि सूत्रग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है—"न हि इन्द्रियाणि तस्याश्रयः, चेतना मानस कर्म चेतयित्वा वाक्कर्म" [अङ्गुत्तरनिकाय ३ । पृ० ४१५ में मानस, वाचनिक और कायिक कर्मों का विभाग करके मानस कर्म का चेतना कर्म तथा शेष दोनों कर्मों को चेतयित्वा कर्म कहा है । चेतयित्वा कर्म का अर्थ है—चेतना-जनित कर्म, अतः अभिधर्मकोश का वचन है—"चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी" (अभिकोश ४।१)] । चेतना का स्वरूप है—"इदं चेदं च करिष्यामि" अर्थात् 'मैं यह-यह कार्य करूँगा'—इस प्रकार की मानस अवधारणा को चेतना कर्म कहते हैं । वह पूर्वानुभवाश्रित स्मृतिरूप होने के कारण बुद्धि (चित्त) के ही आश्रित है, काया के

याद्दश्याक्षेपिका साक्षात् पश्चादपि तादृशी ।
तज्ज्ञानैरुपकार्यत्वादुक्तं कायाश्रितं मनः ॥ ४३ ॥

जन्म के आरम्भ में जैसी 'अहम्'—इस प्रकार की आत्मग्रह-योगिनी बुद्धि पूर्व-और इन्द्रियादि की आक्षेपिका (अनुमापिका) है, वही पश्चात् (मरणावस्था में) भी शरीरान्तर-सम्बन्धी बुद्धि और इन्द्रियादि से घटित जन्मान्तर की आक्षेपिका होगी ॥ ४३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सा च काचिदेवेन्द्रियाणां स्वाश्रयो न सर्वा आरूप्यधाताविन्द्रियाणामभावात् । शरीर-सतृष्णेन हि कर्मणा शरीरेन्द्रियाणां जननम् । तत्राभिरतियोगात् । तृष्णाविषये हि लब्धेऽभिरतिरुत्पद्यत इति । तस्मादक्षाणि बुद्धितो न त्वक्षेभ्यो बुद्धिरित्युपसंहारः । तस्मान्मनस एव कारणत्वमिति मनसा पूर्वपूर्वजन्माक्षेपः ।

यदि तर्हि मनोमतेरहमित्येवमात्मकल्पनारूपाया इदानीन्तनं जन्म परत्र तर्हि जन्मनि कः संप्रत्ययहेतुः कथं वा कायाश्रितं मन उक्तमित्याह—याद्दशीत्यादि ।

याद्दश्यात्मग्रहस्तासां मनोबुद्धिरनादिजन्मप्रबन्धस्याक्षेपिका संसारिणामासीत् । तादृशी पश्चादप्याक्षेपिका भवतु । नान्यथा तथा भाव्यमिति । स एव पश्चादपि जन्म-परिग्रहः । यो हि यत्करणस्वभावाविशिष्टस्वभावः स करोत्येव तत् । तद् यथा धूमजनन-स्वभावाविशिष्ट एवापरः सार्द्रेन्धनादिसङ्गतः कृशानुः । अन्यथा न कार्यकारणभावो न व्यवहार इत्यनीहं जगत् स्यात् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आश्रित नहीं । कोई-कोई ही चेतना इन्द्रियों का आश्रय होती है, सभी चेतनाएँ नहीं, क्योंकि आरूप्य धातु (अभिधर्मकोश ३।३ में वर्णित आकाशानन्त्यायतनादि चार लोकों) में काय और इन्द्रियगण नहीं होते । शरीर-तृष्णा-सम्प्रयुक्त कर्म के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । तृष्णा की विषयवस्तु में अभिरति उत्पन्न होती है ।

आचार्य स्थिरमति ने भी ऐसा ही कहा है—"आरूप्य धातौ तु रूपवीतरागत्वाद् रूपविपाकानभिनिर्वृत्तेर्नामोपादानमेव" त्रिंशिकाभा ३] । फलतः इन्द्रियाँ ही बुद्धि से उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियों से बुद्धि नहीं । मन (चित्त) ही पूर्व-पूर्व जन्मों का लाभ करता आया है और आगे भी मोक्ष-पर्यन्त वैसा ही करता रहेगा ।

शङ्का—यदि 'अहम्'—इस प्रकार आत्मकल्पनात्मक मानस ज्ञान की उत्पत्ति इस समय हुई है, तब पूर्व जन्म में कौन अहंप्रत्यय का हेतु था और मन काया के आश्रित है—यह क्योंकर कहा गया ?

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान है—"याद्दश्याक्षेपिकेत्यादि" । अर्थात् जैसी आत्मग्रहरूप बुद्धि जन्मपरम्परा की आक्षेपिका (कल्पिका) पहले संसारी पुरुषों की थी, वैसी ही पश्चात् भी होनी चाहिए, अन्यथा कभी नहीं होनी चाहिए । पूर्वजन्म-परिग्रह के समान ही उत्तरजन्म-परिग्रह अनिवार्य है, क्योंकि जिस कारण में जिस कार्य के करण (उत्पादन) का स्वभाव निहित होता है, वह कारण उस कार्य को करता ही है, जैसे कि धूम-जनन-स्वभाव से युक्त आर्द्रेन्धिन-संयुक्त अग्नि धूम को जन्म देती ही है । नियत स्वभाव के अभाव में न तो लोक प्रसिद्ध कार्य-कारणभाव होगा और न जागतिक व्यवहार, फलतः चहल-पहल-भरा संसार श्मसान-भूमि बनकर रह जायगा ।

यद्यप्यक्षैर्विना बुद्धिर्न तान्यपि तया विना ।
तथाप्यन्योऽन्यहेतुत्वं ततोऽप्यन्योऽन्यहेतुके ॥ ४४ ॥

यद्यपि इन्द्रियों के विना बुद्धि नहीं होती और इन्द्रियाँ भी बुद्धि के विना नहीं होतीं। तथापि दोनों में अन्योऽन्यहेतुकत्व स्थिर होता है, अतः काय और मन में भी बीज-वृक्ष के समान अन्योऽन्यहेतुकत्व होने के कारण अनादि संसार सिद्ध हो जाता है ॥ ४४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

(१६) विज्ञानसिद्धिः—

अथ मनसोऽपि कायाश्रितत्वं प्रतिपादितं भगवता अन्योऽन्यानुविधायित्वं कायचित्तयोरपि वदता। अत्र परिहारः—कायविज्ञानैरुपक्रियमाणत्वादुक्तं कायाश्रितत्वं मनसो भगवता। न तु साक्षात् कायस्तस्याश्रयः चक्षुरादिविज्ञानानामिव चक्षुरादीनि। तस्मादहङ्कारलक्षणं मनो न चक्षुरादीन्द्रियाश्रितं न देहाश्रितम्। समानजातीयमनःसमाश्रितत्वमेवास्य युक्तम्। आरूप्यधातावपि तस्य भावात् तस्य च सम्भवप्रतिपादनात्।

मा भूद् वाक्षैर्विना वुद्धिस्तथापि न परलोकाभावः अन्योऽन्याश्रयस्य भावात्। तदाह—यद्यपीत्यादि।

यथैव हि भवतोऽभ्युपगमः शरीरमन्तरेण न बुद्धिरिन्द्रियात्मकं तथा दर्शनादिति। तथा तान्यपीन्द्रियाणि न मनोबुद्धि बिना इत्यभ्युपगम्यताम्। अभ्युपगमनिबन्धनस्य तथा दर्शनस्य समानत्वात्। तथा सत्यन्योऽन्यहेतुकत्वं प्रसक्तमुभयसन्तानस्य परस्परमुपकारात्। अन्योऽन्यहेतुकयोश्च सामग्री सामग्र्यन्तरादुत्पत्तिमती। ततोऽपि सामग्रीतः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(१६) विज्ञान-सिद्धि—

शङ्का—मन की कायाश्रितता का प्रतिपादन भगवान् बुद्ध ने उस प्रसङ्ग में किया है, जहाँ काय और चित्त में परस्पर-अनुविधान का स्वभाव बताया है।

समाधान—काय-विज्ञानों के द्वारा मन उपकृत होता है अतः मन को काय के आश्रित कहा है भगवान् ने। मन साक्षात् काय के आश्रित नहीं, अपितु परम्परया। अतः अहङ्कारात्मक मन न तो चक्षुरादि इन्द्रियों के आश्रित है और न कायाश्रित। इस प्रकार मन अपने पूर्वभावी समनन्तर प्रत्ययरूप मन के ही आश्रित सिद्ध होता है। आरूप्य-धातु में रूपस्कन्ध के न होने पर भी विज्ञानस्कन्ध रहता है, अतः मन में उत्तर मन की आश्रयता सम्भव है।

यदि इन्द्रियों के विना बुद्धि नहीं हो सकती तो न सही, एतावता परलोक का अभाव नहीं, अपितु इन्द्रिय और बुद्धि में परस्पराश्रयता सम्भव है, यही कहा गया है—"यद्यप्यक्षैर्विना बुद्धिर्नेत्यादि।' अर्थात् जैसे आप (भौतिकवादियों) का मत है कि शरीर के बिना बुद्धि और इन्द्रियादि नहीं रह सकते, क्योंकि वैसा ही देखा जाता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी मनोवुद्धि के विना नहीं रह सकती—यह भी मानना होगा, क्योंकि दोनों पक्षों में अनुकूल दर्शन समान है। वैसा मान लेने पर कथित उभय सन्तानों (प्रवाह-परम्परा) में अन्योऽन्यहेतुकत्व प्रसक्त होता है, क्योंकि दोनों में परस्पर की उपकारकता समान है। अन्योऽन्यहेतुकता में भी बीज-वृक्ष के समान अन्योऽन्याश्रयता नहीं, क्योंकि उत्तरजन्म के कार्यों का समानन्तरप्रत्यय पूर्व जन्म

नाक्रमात् क्रमिणो भावो नाप्यपेक्षाऽविशेषिणः ।
क्रमाद् भवन्ती धीः कायात् क्रमं तस्यापि शंसति ॥ ४५ ॥

अक्रमिक (क्रम-रहित) उपादान कारण से क्रमिक कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती । क्रम-युक्त सहकारी कारणों से सहकृत उपादान कारण से भी क्रमिक कार्य नहीं हो सकता । किसी प्रकार की विशेषता से रहित स्थिर एवं एकरूपवाला उपादान कारण (प्रधानादि) भी क्रमिक कार्य को जन्म नहीं दे सकता ॥ ४५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

पूर्वके परे च कायमनसी अन्योऽन्यहेतुके मध्यावस्थावदिति ज्ञातव्यम् ।

यदि च काय एवाश्रयो मनोबुद्धिर्न सा कायस्य । ततः कायाद् बुद्धिर्भवन्ती क्रमवतोऽक्रमाद् वा भवेत् प्रकारान्तराभावात् । तत्र न तावदक्रमाद् यतः-नाक्रमादित्यादि ।

इयं हि मनोबुद्धिः क्रमवती । अन्यथाहमिति स्वाकारस्य ग्रहणेऽतीतवर्त्तमानानागतसकलस्वस्वभावग्रहणमिति सकलजन्मग्रहणप्रसङ्गः । अथावस्थानामग्रहणे न पूर्वापरव्याप्तिप्रतीतिः ।

अवस्थाऽग्रहणेऽवस्थातृप्रतीतिः कथं भवेत् । व्याप्याप्रतीतावन्यस्य व्यापकत्वाप्रतीतितः ॥४०९॥

यदि हि व्यापिन्यवस्था न प्रतीयते । व्याप्याप्रतीतेः कथमसौ व्यापकस्तथा प्रतिपन्नो भवति । न हि तेन रूपेणाप्रतीयमानोऽपि तथा भवति । प्रतीतिरेव हि तत्त्वमन्यत्त्वं वा व्यवस्थापयति । व्यापकत्वञ्चेदस्य न प्रतीयते । तदा तदन्येन रूपेण प्रतीयत इत्यापन्नम् । ततः कालान्तरस्थायितस्य नास्तीति न कालान्तरता प्रतीत्यन्तरस्य । ततः क्रमवतो प्रतीतिः । ततो नाक्रमात् क्रमिणो भावः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में पूर्व जन्म के कार्यों का कारण उससे पूर्वजन्म में—इस प्रकार अनादि परम्परा प्रवाहित है ।

यदि काया ही मनोबुद्धि की आश्रय है, मानस बुद्धि काया का आश्रय नहीं, तब काया से उत्पन्न बुद्धि या तो क्रमिक कारण से होगी, या क्रम-रहित कारण से । तीसरा कोई मार्ग सम्भव नहीं । उनमें क्रम-रहित कारण से बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यह क्रमवती है, अन्यथा 'अहम्'—इस प्रकार अतीत, अनागत और वर्तमान, को समेटती हुई बुद्धि सकल जन्मों को अपेक्षा करती है ।

अवस्थाओं का ग्रहण न मानने पर पूर्वापर की व्याप्ति प्रतीत नहीं हो सकती, क्योंकि अवस्थाओं का ग्रहण न होने पर अवस्थावान् का ग्रहण कैसे होगा ? व्याप्यभूत अवस्थाओं की प्रतीति के बिना व्यापकीभूत अवस्थावान् की प्रतीति कथमपि नहीं हो सकती ॥ ४०९ ॥

अवस्था व्यापिनी है, उसकी प्रतीति न होने पर व्यापक की प्रतीति क्योंकर होगी ? जो वस्तु जिस रूप से प्रतीत नहीं होती, वह वैसी कदापि नहीं हो सकती । प्रतीति ही वस्तु के तत्त्व या अन्यत्व की व्यवस्थापिका होती है । यदि इसकी व्यापकता का भान नहीं होता, तब अन्य रूप से उसकी प्रतीति होती है—यही सिद्ध होगा । तब कालान्तरावस्थायित्व इसमें सिद्ध न होगा । इससे यह सिद्ध हो गया कि क्रम-रहित कारण से क्रमिक बुद्धि नहीं हो सकती ।

वार्तिकालङ्कारः

ननु यदि नामाक्रमं कारणं तथाभूतेनैव कार्येणापि भवितव्यमिति कुतः ? न हि कारणादभिन्नमेव कार्यम् । विलक्षणस्यापि दर्शनात् । अत्रोच्यते—

अक्रमाद् यदि कार्यं स्यात् तदैव सकलं भवेत् ।
अन्यदा तु स नास्त्येव तदा परिसमाप्तितः ॥४१०॥

एवं हि तत्कार्यकारि यदि कार्यकाले गृह्येत । न ह्यप्रतीयमानं तदा तस्य कारणम् । प्रतीतिश्चेत् तदा एकत्वाद् विनाशावधि प्रतीतिरिति तदैव विनष्टः स्यात् । एवं हि तस्याक्रमता । ततो विनष्टादपरं कार्यन्न भवेदेव । भवद् वा न तत्कार्यम् । अथ क्रमेण प्रतीयमानं क्रमवतः कारणम् । तथा सति नाक्रमम् । न हि नीलतया प्रतीयमानमनीलम् । अथवा—

नोच्यते कारणात् कार्यन्तद्रूपमुपजायते । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणतेति तु ॥४११॥

कारणविलक्षणमपि कार्यं कार्यमेव । अन्वयव्यतिरेकानुविधानलक्षणत्वात् कार्यकारणलक्षणतायाः । यत्र त्वन्वयव्यतिरेकौ न भवतः तन्न कार्यं कारणञ्च । यच्च तथाभूत एव कारणे न भवति न तस्य कारणानुविधायिता ।

ननु न तु तद्भावेनोत्पद्यते इत्येव तद्भावे तु भवत्यवश्यमिति क्वोपयोगोऽस्य ।

यद्भावेऽपि न भावश्चेदभावेऽभाविता कुतः । तदभावप्रयुक्तोऽस्य सोऽभाव इति तत्कुतः ॥४१२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—यदि अक्रमिक कारण नहीं, तब बुद्धिरूप कार्य को भी वैसा ही होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं । कार्य कारण से अभिन्न नहीं होता, विलक्षण भी कार्य देखा जाता है ।

समाधान—क्रम-रहित कारण से यदि कार्य उत्पन्न होता है, समस्त तब कार्य युगपत् उत्पन्न होगा, क्योंकि अन्य काल में कारण ही नहीं, तब कारण की समाप्ति में कार्य क्योंकर होगा ? ॥४१०॥ कारण तभी कार्यकारी माना जायगा, जब कि उस रूप में प्रतीत हो, अप्रतीयमान कारण की सत्ता हो सिद्ध नहीं होती । यदि प्रतीति नहीं होती, तब कारण का विनाश मानना होगा । कारण का नाश होने पर कार्य ही नहीं होगा, यदि होगा भी तो विनष्ट कारण से कार्य न होगा, अपितु कारणान्तर का किन्तु कारणान्तर है नहीं । क्रमिक कार्य का कारण भी क्रमिक ही प्रतीत होगा, क्योंकि नीलरूपेण प्रतीयमान वस्तु कभी अनील नहीं हो सकती । अथवा कार्य के सदृश ही कारण होता है—ऐसा नियम न मानकर अन्वय-व्यतिरेक पर आधृत कार्य-कारण-भाव मानना उचित है ॥४११॥ कारण-जन्य कार्य यदि विलक्षण है, तब भी वह उसका कार्य ही माना जायगा । हाँ, जहाँ अन्वय व्यतिरेक सम्भव नहीं, वहाँ कार्य-कारणभाव की व्यवस्था नहीं हो सकती । जो कार्य कारण के रहने पर भी नहीं होता, उस कार्य को कारण का अनुविधायी नहीं कहा जा सकता ।

शङ्का—कारण का भाव होने पर भी यदि कार्य का भाव होता है—ऐसा न कहकर इतना ही नियम किया जाता है कि कारण का भाव होने पर कार्य अवश्यंभावी है, तब अन्वय-व्यतिरेक का क्या उपयोग ?

समाधान—कारण का भाव होने पर भी यदि कार्य नहीं होता, तब कारण का अभाव होने पर कार्य की अभावता क्योंकर सिद्ध होगी ? कारणाभाव-प्रयुक्त कार्य का अभाव है—यह भी कैसे कहा जा सकेगा ॥ ४१२ ॥ यदि यह (कार्य) समर्थ कारण के

वार्तिकालङ्कारः

यद्यसौ समर्थेऽपि कारणे न भवति। कारणमेव तस्य तन्न स्यात्। कुतो वैत-दवगम्यते तदभावप्रयुक्तोऽस्याभाव इति? यथैव तदवस्थ एव कारणे सति स्वयमेव न भवति। तथा तदभावेऽपि स्वयमेव न भविष्यति स्वातन्त्र्यात्। तस्यापरतन्त्रत्वे कार-णस्य सति सामर्थ्येऽवश्यमेव भवेदिति।

अभावो हि पदार्थानां स्वयमेव भवेदपि। भावस्तु परतन्त्रत्वात् कथं हेतोर्भवेन्न सः ॥४१३॥

अभावो हि निर्हेतुकत्वात् स्वयमेव भवतीति युक्तम्। भावस्तु हेतुपरतन्त्रत्वात् समर्थहेतौ न भवतीति न युक्तमेतत्।

ननु कार्याभावः स्वतन्त्रत्वात् कारणे सत्यपि च? न भवतीति युक्तमेवैतत्। एवं तर्हि तदभावेऽभाव इति न कारणाभावप्रयुक्तोऽभाव इति कथं भवेत् कार्यमस्य। ततः स्वयमेव न भवेत्। यश्च स्वयमेव न भवति नासौ नियम्यते तेन। ततो यथा स्वयं न भवति तथा भवेदपि। ततो न कार्यम्। यदा तु कारणे सति भवेदेव तदा स्वरसनिरोधे-ऽपि अपरापरक्षणोत्पत्तेस्तदभाव एव सन्तानोच्छेद इति कारणप्रतिबद्धत्वम्। तस्मान्ना-क्रमात् क्रमिणो भावः।

अथाक्रमादपि सहकारिणं क्रमिणमपेक्षमाणात् क्रमवत् कार्यमिति। तदपि नास्ति। नास्त्यपेक्षाऽविशेषणाऽनाधेयावशेषस्य क्वचिद् विशेषलाभाय नापेक्षा। न तस्य विशेषो-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रहने पर भी नहीं होता, तब उस कारण को अभीष्ट कार्य का कारण ही नहीं कह सकेंगे। एवं यह भी क्योंकर निश्चित होगा कि कारणाभाव-प्रयुक्त इस कार्य का अभाव है। जैसे नित्य कूटस्थ कारण के सदा एकरस रहने पर कार्य नहीं होता, वैसे ही कारण का अभाव होने पर भी कार्य स्वयं नहीं होता। यदि कार्य स्वतन्त्र न होकर कारणाधीन है, तब समर्थ कारण के होने पर कार्य अवश्य ही होगा। पदार्थों का अभाव तुच्छ और कारण रहित होने के कारण स्वयं ही होता है—ऐसा मानना उचित है, किन्तु भाव पदार्थ परतन्त्र (कारण के अधीन) होने के कारण अपने कारण के होने पर क्योंकर न होगा? ॥ ४१३ ॥ अभाव के समान भाव पदार्थ को अहेतुक या स्वतन्त्र नहीं माना जाता, अतः कारण के होने पर कार्य का न होना सम्भव नहीं।

शङ्का—कार्याभाव स्वतन्त्र है, अतः कारण के रहने पर भी नहीं होता—ऐसा कहना युक्ति-युक्त है किन्तु "तदभावेऽभावः"—इस प्रकार का व्यतिरेक न होने से कारणाभाव-प्रयुक्त यह कार्याभाव है—ऐसा नहीं कह सकते, उस कारण का वह कार्य क्योंकर बन सकेगा? अभाव स्वयं नहीं होता, तब वह भावरूप प्रतियोगी से नियन्त्रित क्योंकर होगा? तब तो वह जैसे स्वयं नहीं होता, वैसे ही स्वयं हो भी जायगा। फिर वह कार्य किसका होगा? जब कारण के होने पर कार्य होता ही है, तब स्वरस (स्वाभाविक) निरोध में भी पूर्व-पूर्व क्षण से उत्तरोत्तर क्षण की उत्पत्ति माननी होगी। वैसा न मानने पर सन्तान का उच्छेद प्रसक्त होगा, कार्य-कारण-भाव बाधित हो जायगा। फलतः अक्रमिक कारण से क्रमिक कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु यदि सहकारी कारणों की अपेक्षा कार्य क्रमवत् हो जाता है तब क्या दोष?

समाधान—प्रधान और ईश्वर के समान सहायक कारण ऐसे हैं, जिन पर किसी प्रकार के संस्कार या अतिशय का आधान नहीं किया जा सकता। अतः वैसे सहायक कारण से कोई लाभ नहीं। उसके होने और न होने पर कोई विशेषता नहीं आती।

वार्तिकालङ्कारः

ऽस्तीति। विशेषे वाऽनित्यताव्यतिरिक्तविशेषाभ्युपगमं च बुद्धिशेषापेक्षं कार्यन्तत एव भवन्न ततो नित्यात्। तस्यासौ विशेष इति चेत्, न; विशेष इति विशेषकरत्वं विशेषप्रत्ययकरत्वं वा? न विशेषकरत्वं तस्याविशेषात्। विशेषाद् विशेष इति तदेवानित्यत्वं व्यतिरेके पूर्वकः प्रसङ्ग इति। अथ विशेषप्रत्ययहेतुत्वं। तदप्ययुक्तम्।

नैवाभावे विशेषस्य विशेषप्रत्ययोदयः। तथा चेद् भ्रान्तिरेवेयमिति व्यर्थः परिश्रमः ॥४१४॥

अविशेषप्रतीतौ हि स नित्य इति गम्यते। विशेषेऽभ्रान्ततायाञ्च नित्यतायां प्रमा कुतः ॥४१५॥

अविशेषप्रतीतिश्चेदपेक्ष्यत्वे कथं भवेत्। औदासीन्यं यतस्तस्य विशेषोऽपि न विद्यते ॥४१६॥

विशेषसम्भवे तस्य तत्रापेक्षेति युक्तिमत्। एतदर्थमपेक्षेति व्यवहारोऽस्ति लौकिकः ॥४१७॥

तस्मान्नास्त्यपेक्षाऽविशेषिण इति युक्तं।

कायात् क्रमाद् भवन्ती धीः क्रमं कायस्य बोधयेत्।
अन्यथा यत्कृतस्तस्याः क्रमो हेतुरसौ स्फुटः ॥४१८॥

पूर्वपूर्वानुभवतः सा मनोधीः प्रवर्त्तते। सोऽपि पूर्वत एवेति सोऽपीत्यस्यानवस्थितिः ॥४१९॥

अथ पूर्वपूर्वबुद्धिसापेक्षः कायः क्रमेण बुद्धिं जनयति। तथा सति कायस्य विशेषेण भवितव्यम्। ततः कायस्य बुद्धिसहितस्य पूर्वः पूर्वस्तथाभूत एव कायो हेतुरिति प्राप्तः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनित्यता को छोड़कर प्रधानादि में अन्य कोई विशेषता माननें पर वह कथित विशेषता नित्य ही होगी, अतः उससे भी क्रमिक कार्य क्योंकर होगा? यदि प्रधानादि में पुरुषार्थ-जनकत्व के समान कोई विशेषता मानी जाती है, तब जिज्ञासा होती है कि विशेषता का अर्थ क्या विशेषकार्यकारित्व है? या विशेष प्रत्यय की जनकता? अनित्यता को छोड़कर अन्य कोई भी विशेषता मानने पर पूर्वोक्त प्रसङ्ग बना रहता है!

विशेषप्रत्यय-हेतुत्वरूप विशेषता भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थ में स्वयं कुछ विकार के न होने पर विशेष प्रत्यय-कारणत्व भी सम्भव नहीं। अविशेषार्थ में विशेषता की प्रतीति भ्रममात्र है। अतः विशेषतोत्पादन का श्रम व्यर्थ हैं ॥४१४॥ 'स एवायम्'—इस प्रकार की अविशेष-प्रतीति के आधार पर ही प्रधानादि को नित्य माना जाता है, विशेष-प्रतीति होने पर नित्यता-प्रतीति में प्रमात्व क्योंकर बनेगा ॥ ४१५ ॥ अविशेष-प्रतीति होने पर क्रमिकोत्पत्ति में उसकी अपेक्षा क्योंकर होगी? रागादि-रहित ईश्वर उदासीनमात्र है, अतः उसमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं बन सकती ॥४१६॥ विशेषता के सम्भव हो जाने पर कार्य की क्रमोत्पत्ति में अपेक्षा हो सकती है, क्योंकि लोक में ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है कि संसार की विचित्र रचना के लिए ईश्वरादि की अपेक्षा की जाती है ॥ ४१७ ॥ फलतः प्रधान और ईश्वरादि अविशेष पदार्थों की अपेक्षा क्रमिक कार्य उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

काया (शरीर) से उद्भूत क्रमिक बुद्धि कार्य के क्रम का बोध अवश्य करायेगी, क्योंकि कार्य का क्रम कारण के क्रम पर ही निर्भर होता है। यदि क्रमिक बुद्धि शरीर से उत्पन्न नहीं, तब जिस से उत्पन्न होती है, उसका क्रम बुद्धि के क्रम का हेतु होगा ॥४१८॥ वस्तुतः पूर्व-पूर्व अनुभव से वह बुद्धि प्रवृत्त होती है। वह अनुभव भी पूर्व-पूर्व अनुभव पर आश्रित हैं—ऐसी अनवस्थिति माननी ही पड़ती है ॥४१९॥ यदि पूर्व-पूर्व बुद्धिसापेक्ष काया क्रमशः बुद्धि को जन्म देती है, तब काया में कोई ऐसी विशेषता होनी

प्रतिक्षणमपूर्वस्य पूर्वः पूर्वः क्षणो भवेत्।
तस्य हेतुरतो हेतुर्दृष्ट एवास्तु सर्वदा ॥ ४६ ॥

बुद्धि, इन्द्रिय और कायादि के समुदाय का पूर्व-पूर्व क्षण उसका हेतु होता है। अतः अनन्तर बुद्धि, इन्द्रिय आदि के प्रवाह में पूर्व-पूर्व क्षण उत्तरोत्तर क्षण का हेतु है, फलतः जन्मान्तर सिद्ध हो जाता है।।४६।।

वार्तिकालङ्कारः

तथा सति। प्रतिक्षणेत्यादि।

य एव खलु बुद्धिसहकारी देहः परस्य पूर्वः पूर्वं उपलब्धो हेतुः स एव सर्वदा मध्यावस्थावज्जन्ममरणयोरपि हेतुरिति सिद्धम्। अन्यथा व्याप्तेरप्रतिपत्तेर्हेतुरेव कश्चित् कस्यचिन्न भवेदुपायान्तराभावात्।

तस्मात् सकृत् ततो दृष्टस्तत एवान्यदापि सः। कार्यकारणभावोऽयमेवमेव प्रसिध्यति ॥ ४२० ॥

न च कार्यकारणभावो नाभ्युपगम्यते व्यवहारिभिरिति प्रतिपादितमेतत् पुरस्तादिति विरम्यते।

ननु यथा मध्यावस्थायां सविज्ञानककायपूर्वकत्वेन कायस्योपलब्धेः पूर्वकोऽपि जन्मादिकायो विज्ञानसहितकायपूर्वक इति जन्मान्तरविज्ञानादेव विज्ञानमैहिकादपि भाविजन्मविज्ञानमिति परलोकप्रसिद्धिः। तथा हेत्वन्तराद् विपर्ययोऽपीति परपक्षप्रसिद्धिः। तथा हि—

यद् यन्मरणविज्ञानं न तज्जन्मान्तरानुगम्। तच्चित्तत्वाद् यथा वीतदोषस्य मृतिवेदनम् ॥४२१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

चाहिए, जिससे बुद्धि-सहित काया का पूर्व-पूर्व भाव ही बुद्धि-सहित काया का हेतु सिद्ध होगा। तब तो प्रत्येक कार्य के अपूर्व (उत्तरोत्तर) क्षण का पूर्व-पूर्व क्षण हेतु होगा अर्थात् जो बुद्धि का सहकारी कारण देह है, उसका पूर्व-पूर्व क्षण अपने उत्तरोत्तर क्षण का हेतु उपलब्ध होता आया है, वही सर्वदा मध्यावस्था के समान जन्म-मरण का भी हेतु सिद्ध होता है। अन्यथा कार्य-कारणभाव का कोई नियम न होने के कारण कोई किसी का हेतु ही न हो सकेगा, क्योंकि उसका कोई उपायान्तर है ही नहीं। अतः जो कार्य जिस हेतु से एक बार भी उत्पन्न होते देखा गया है, उसी से कालान्तर में भी होगा—इसी प्रकार कार्य-कारण-भाव प्रसिद्ध होता है ॥४२०॥ व्यवहारी पुरुषों के द्वारा कार्य-कारणभाव नहीं माना जाता—ऐसी बात भी नहीं, यह पहले ही कहा जा चुका है।

शङ्का—शरीरादि की धारा अनादि काल से बहती आ रही है और भविष्य में भी निर्वाण-पर्यन्त बहती ही जायगी। मध्यपाती सचित्तक कायादि कार्य अपने पूर्ववर्ती समनन्तर प्रत्यय से उत्पन्न होता आ रहा है। जन्मान्तरस्थ विज्ञान (चित्तस्कन्ध) से भावी जन्म में विज्ञानक्षण की प्रतिसन्धि होती रहती है, परलोक या जन्मान्तर की सिद्धि अनायास ही हो जाती है। इसी तथ्य को विपरीत दृष्टिकोण से देखने पर परलोक न मानने वाले चार्वाकादि का पक्ष भी सिद्ध हो सकता है, जैसे कि ऐसा अनुमान किया जा सकता है—"मरणचित्तं न जन्मान्तरानुगम्, मरणचित्तत्वाद्, यथा वीतदोषस्य (रागादिदोषरहितस्य अर्हत्पुरुषस्य) चित्तम्।" अर्थात् जैसे अर्हत् या ज्ञानी पुरुष का मरण-चित्त मरने के पश्चात् जन्मान्तर में प्रवेश नहीं करता, अपितु मुक्त हो जाता है, वैसा ही सभी पृथक्जनों के मरणावस्थ चित्तक्षणों के लिए जन्मान्तराभाव का अनुमान

चित्तान्तरस्य सन्धाने को विरोधोन्त्यचेतसः ।
तद्वदप्यर्हतश्चित्तमसन्धानं कुतो मतम् ॥ ४७ ॥

परलोक-सिद्धि का विरोध करने के लिए चार्वाकों ने जो अनुमान प्रस्तुत किया था—"मरणचित्तं न प्रतिसन्धिमत्, मरणचित्तत्वाद, अर्हतो मरणचित्तवत्" । वहाँ दृष्टान्त को असिद्ध करने के लिए बौद्धसिद्धान्ती प्रश्न करता है—"सन्धाने को विरोधः ?" अर्थात् मरणचित्त का चित्तान्तर के साथ न तो सहानवस्थानात्मक विरोध है और न परस्पर-परिहार-स्थितिरूप विरोध, क्योंकि उन दोनों में भावाभाव के समान निवर्त्य-निवर्तकभाव नहीं और न व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक भाव है, मरणचित्त केवल अमरणचित्त का ही व्यवच्छेदक (व्यावर्तक) है। दूसरी बात यह भी है कि आप (चार्वाक) के मत में अर्हत्पदार्थ भी सिद्ध नहीं, तब 'अर्हतो मरणचित्तवत्'—यह दृष्टान्त क्योंकर सिद्ध होगा ? ॥ ४७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यन्मरणविज्ञानं तच्चित्तान्तरं न प्रतिसन्धत्ते यथा वीतरागमरणचित्तम् । मरणचित्तं च जन्मान्तरप्रतिसन्धानकारितयेष्टं पृथग्जनचित्तमिति न प्रतिसन्धिरस्ति ।

अथायं हेतुरेव न भवति विपर्ययेण प्रतिबन्धात् । विपर्ययोऽपि तर्हि न हेतुरनेन प्रतिबन्धादिति समानम् । न समानम् । यतो यो येन विरुद्धः स तदभावं साधयेत् । यो येन सम्बद्धः स तद्भावम् । न च मरणचित्तस्य प्रतिसन्धानविरोधः । यतः, चित्तत्यादि ।

अन्त्यचेतसो हि चित्तान्तरप्रतिसन्धानेऽसत्त्वेन साध्ये को विरोधः तेन सह तद्विषये न वा येन तस्याभावः साध्यते । को विरोधः । न कश्चित् । न सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारलक्षणो वा । मरणचित्तत्वागमे प्रतिसन्धानविपर्ययस्यादृष्टेः । अत

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कर परलोक-सिद्धि का प्रतिपक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है ।।४२१।।

यदि कहा जाय कि उक्त अनुमान का हेतु सद्धेतु नहीं, क्योंकि जन्मान्तराभावरूप साध्याभाव से व्याप्त होने के कारण विरुद्ध नाम का हेत्वाभास है। तब तो विपरीत हेतु को भी विरुद्ध कहना होगा, क्योंकि वह भी जन्मान्तराभावाभावरूप साध्याभाव से व्याप्त है, अतः दोनों हेतु समान हैं।

समाधान—उक्त दोनों हेतु समान नहीं, क्योंकि जो जिससे विरुद्ध है, वह उसके अभाव को सिद्ध करेगा और जो जिस साध्य से सम्बद्ध (व्याप्त) है, वह उसके भाव को सिद्ध करेगा। मरणचित्त का प्रतिसन्धि के साथ कोई विरोध नहीं कि वह प्रतिसन्धि के अभाव का साधक हो सके।

यहाँ सहज में ही यह प्रश्न उठ जाता है कि अन्तिम चित्त (मरणचित्त) का चित्तान्तर-प्रतिसन्धि के साथ क्या विरोध है ? जिससे वह उसके अभाव का साधक हो जायगा। "को विरोधः ?"—इस प्रश्न का उत्तर है— 'न कश्चित्" । अर्थात् विरोध दो प्रकार का होता है—(१) सहानवस्थानरूप, जैसे प्रकाश और अन्धकार का। (२) परस्पर-परिहाररूप, जैसे अहि और नकुल का। प्रकृत में कोई विरोध नहीं, क्योंकि मरण-चित्तत्व के आने पर न तो प्रतिसन्धि का अभाव देखा जाता और न मरणचित्त की प्रतिसन्धि का परिहार करते हुए अवस्थिति। अतः मरणचित्तत्व प्रतिसन्धान-

वार्तिकालङ्कारः

एव तत्परिहारेणावस्थानस्यादृष्टिः । अदृश्यत्वाज्जन्मान्तरप्रतिसन्धानस्य । ततो मरणचित्तत्वं न प्रतिसन्धानविरुद्धमुभयरूपस्यापि विरोधस्यादृष्टेः । ततः प्रतिसन्धानाभावं न साधयति । कार्यत्वन्तु प्रतिसन्धानाभावविरुद्धम् । ततस्तदभावसाधनाय समर्थमिति विपर्ययात् प्रतिसन्धानप्रसिद्धिः । न च परस्परविरुद्धार्थाव्यभिचारिणावेकत्र स्त इति प्रतिपादयिष्यते ।

नवन्त्र परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो विरोधोस्त्येव कथं विरोधाभावः । यतः—

अर्हन्मरणचित्तस्य प्रतिसान्धिर्न विद्यते । प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः ॥ ४२२ ॥

प्रदीपस्येव हि निर्वाणमर्हत्सम्मतपुरुषमरणचित्तस्य । ततस्तत्परिहारेण व्यवस्थितं मरणचित्तमिति प्रतीतेर्विरोधप्रसिद्धिरिति विरोधाभावो न प्रसिद्धः ।

तदप्यसम्बद्धम् । तदपि नामार्हतश्चित्तं कुतः प्रमाणादसन्धानं मतं भवताम् । नात्र भवतां प्रमाणमस्ति तद्बाधनायैव भवतामुद्यमात् । यद्यर्हन्नह्यभ्युपगम्यते । ततस्तस्य क्लेशविसंयोगकृतमसन्धानं नान्यथा । स च क्लेशविसंयोगः पृथग्जनानां नास्तीति कुतोऽप्रतिसन्धानमरणचित्तत्वेऽपि । न हि मरणचित्तत्वं प्रतिसन्धानविरोधि क्लेशविसंयोगस्य प्रतिसन्धानेन विरोधाभ्युपगमात् । स च नाभ्युपगतः ।

ननु च सिद्धान्तादेव गम्यते विरोधः । न । सिद्धान्तस्यार्हन्मरणचित्त एव विरोधप्रतिपादनाय वृत्तेः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विरुद्ध नहीं, क्योंकि उनमें कथित दोनों प्रकार के विरोध नहीं देखे जाते । तब मरणचित्त प्रतिसन्धानाभाव का साधक क्योंकर होगा ? मरणचित्तगत कार्यत्व (क्रियावत्त्व) प्रतिसन्धानाभाव का विरोधी है [क्रिया से पूर्व संयोग का नाश एवं उत्तर देश के साथ संयोग (प्रतिसन्धान) अवश्य होता है] । फलतः कार्यत्व प्रतिसन्धानाभाव के अभाव की सिद्धि में समर्थ है, अतः प्रतिसन्धानाभावाभावरूप-प्रतिसन्धान की सिद्धि पर्यवसित हो जाती है । परस्पर-विरुद्धार्थ के अव्यभिचारी दो हेतु एक पक्ष में नहीं रह सकते—यह आगे चलकर कहा जायगा ।

शङ्का—अन्तिम चित्त का प्रतिसन्धान के साथ सहानवस्थानात्मक विरोध न रहने पर भी परस्पर-परिहार-स्थितिरूप विरोध अवश्य है, क्योंकि अर्हत् पुरुष के मरणचित्त की प्रतिसन्धि (जन्मान्तर) नहीं होती, अपितु जैसे प्रदीप बुझ जाता है, वैसे ही अर्हत्-चित्त सदैव के लिए निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ४२२ ॥ अर्हत्सम्मत पुरुष का मरणचित्त नियमतः प्रतिसन्धि (जन्मान्तर) का परिहार करके ही रहता है—इस प्रकार की प्रतीति होने के कारण विरोध प्रसिद्ध है, विरोधाभाव नहीं ।

समाधान—अर्हत्पुरुष के चित्त की प्रतिसन्धि नहीं होती—यह किस प्रमाण के आधार पर कहा जा रहा है ? यदि अर्हत्पुरुष माना जाता है, तब "अनसेसकिलेसप्पहानेन अरहा नाम होति" (अभिधम्मत्थं. ९।४२) इत्यादि प्रमाणों के आधार पर अशेष क्लेशों का प्रहाण होने पर अर्हत्व की प्राप्ति कहनी होगी, फिर तो क्लेश-विसंयोग-प्रयुक्त सन्धानाभाव कहा जायगा । क्लेश-विसंयोग साधारण जनों का नहीं होता, तब पृथग्जनों के मरणचित्त की प्रतिसन्धि क्यों न होगी ? मरणचित्तत्व प्रतिसन्धान का विरोधी नहीं, अपितु क्लेश-विसंयोग प्रतिसन्धान का विरोधी है । वह साधारण पुरुषों में कभी सम्भव नहीं । मरणचित्त का प्रतिसन्धि के साथ सिद्धान्ततः विरोध है—ऐसा

असिद्धार्थः प्रमाणेन किं सिद्धान्तोऽनुगम्यते ।
हेतोर्वैकल्यतस्तच्चेत् किं तदेवात्र नोदितम् ॥ ४८ ॥

यदि चार्वाक कहता है कि बौद्ध-सिद्धान्त में तो अर्हत् सिद्ध है, अतः दृष्टान्त असिद्ध नहीं। तब सिद्धान्ती का कहना है कि फिर तो बौद्ध-सिद्धान्त-सिद्ध परलोक भी मानना पड़ेगा। यदि आश्वास-प्रश्वास-इन्द्रियसामर्थ्यादि सामग्री के न होने से चित्तान्तर के साथ प्रतिसन्धान नहीं होता, तब कथित अनुमान में इसी सामग्री वैकल्प को प्रतिसन्धान भाव का हेतु क्यों नहीं बनाया ? हेत्वन्तर नाम का निग्रहस्थान भी प्रसक्त होता है ॥ ४८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सिद्धान्तो हि न सर्वस्य विरोधस्य विधायकः ।
मृते चित्तस्य सन्धानं क्व चित्तेनोपपादितम् ॥ ४२३ ॥
अथ प्रमाणतः सिद्धिः प्रतिसन्धेर्न विद्यते । तेन तत्राप्रमाणत्वाद् विरोधस्यास्ति सम्भवः ॥ ४२४ ॥

तदप्यसत् । यदि सिद्धान्तः प्रमाणबाधितस्तदाऽप्रमाणमेव । कुतस्ततः समीहितसिद्धिः। असिद्धेत्यादि ।

यदि न प्रमाणमेव सिद्धान्तस्तदा ततो न विरोधसिद्धिः प्रतिसन्धानेन मरणचित्तस्य । किमसावनुगम्यतेऽनुवर्त्यते वा । न खलु अप्रमाणमनुवर्त्यमानमपि प्रमाणं भवति । प्रमाणं चेत् सर्वत्र प्रमाणमिति विपर्ययासिद्धिः । क्वचित् प्रमाणं क्वचिदप्रमाणमिति चेत्। न, इच्छाया उभयोरपि वादिप्रतिवादिनोः समानत्वात्। अथ।हेतुर्वैकल्यादिति हेतुर्विरोधस्य साधको न सिद्धान्तः । हेतोर्वैकल्यतस्तदसन्धानं यदि । तदेव हेतुवैकल्यं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी नहीं कह सकते, क्योंकि सिद्धान्त अर्हत्पुरुष के मरणचित्त का ही प्रतिसन्धि के साथ विरोध प्रतिपादित करता है । अर्थात् हमारा सिद्धान्त सभी मरणचित्तों का प्रतिसन्धान के साथ विरोध का विधान नहीं करता, अतएव मरने पर चित्त का प्रतिसन्धान कहीं-कहीं प्रतिपादित है ॥ ४२३ ॥ यह जो कहा जाता है कि मरणचित्त की प्रतिसन्धि में कोई प्रमाण नहीं, अतः प्रमाण के अभाव में मरणचित्त का प्रतिसन्धि के साथ विरोध सम्भव है ॥ ४२४ ॥ वह कहना भी असत् है, क्योंकि यदि सिद्धान्त किसी प्रमाण से बाधित है, तब वह अप्रमाण ही है, उससे अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती ।

यदि "प्रमाणमेव सिद्धान्तः"—ऐसा नहीं कह सकते, तब मरणचित्त का प्रतिसन्धान के साथ विरोध सिद्ध नहीं होता । अप्रमाणभूत सिद्धान्त का अनुगमन या अनुवर्तन करने पर भी वह प्रमाणरूप नहीं हो सकता । प्रमाण यदि सर्वत्र प्रमाण ही है, तब प्रमाण का विपर्यय (अभाव) कभी सिद्ध नहीं होता । यदि सिद्धान्त कहीं प्रमाण है और कहीं अप्रमाण, तब वादी और प्रतिवादी—दोनों की इच्छाओं को समान आदर देना होगा, फलतः प्रमाण-प्रमाण की व्यवस्था न बन सकेगी । यदि सिद्धान्त विरोध का अहेतु है, तब हेतु विरोध का साधक होगा, सिद्धान्त नहीं। हेतु का वैकल्य (अभाव) होने के कारण सन्धान नहीं होगा । तब हेतु (क्लेशादि) के अभाव को ही आपने असन्धान का हेतु क्यों नहीं कहा ? मरणचित्तत्वरूप अनैकान्तिक हेतु को प्रतिसन्धानाभाव का हेतु क्यों मान लिया ? ["मरणचित्तं प्रतिसन्धानरहितम्, मरणचित्तत्वात्"—यहाँ क्लेशयुक्त पुरुष के मरणचित्त में प्रतिसन्धानाभावरूप साध्य का अभाव (प्रतिसन्धान) रहने

तद्वीवत् ग्रहणप्राप्तेर्मनोज्ञानं न सेन्द्रियात् ।
ज्ञानोत्पादनसामर्थ्यभेदान्न सकलादपि ॥ ४९ ॥

शरीर यदि मनोविज्ञान का हेतु है, तब वह सेन्द्रिय हेतु है ? या निरिन्द्रिय ? एवं सेन्द्रिय-पक्ष में प्रत्येक इन्द्रिय से युक्त ? या सकल इन्द्रियों से युक्त ? प्रथम कल्प में ऐन्द्रियक बुद्धि के समान ही मनोज्ञान भी विशदात्मक विशेषार्थावभासक प्रसक्त होता

वार्तिकालङ्कारः

कस्मान्नोदितं नोक्तं हेतुत्वेन । किं मरणचित्तत्वादनैकान्तिको हेतुरुपन्यस्तः । अथवा हेतोर्वैकल्यतस्तच्चेत् । हेतोः शरीरादिलक्षणस्य मरणावस्थायां वैकल्यं यदि हेतुत्वे तु किमत्राधिकमुक्तम् । अयमपि हेत्वाभास एव । पूर्वकोऽनैकान्तिकः । अयं पुनरसिद्धः । यतस्तदेवात्र हेतुवैकल्यं न विद्यते । अथवा किं तदेवात्र नोदितम् । नो इति प्रतिबोधे । 'अमानोनाः प्रतिषेधवाचका' इति । किं नोदितं न दितम् । दितं खण्डितं खण्डितमेवेत्यर्थः । वैकल्यमेवासिद्धमविकलस्य पूर्वकस्य मनसो हेतुत्वात् । यथा चैतत् तथा प्रतिपादितम् ।

अथापि स्यात् । नाथमसिद्धो हेतुर्हेतुतुल्यवैकल्यलक्षणः । तथा हि—सेन्द्रियः कायोऽनिन्द्रियो वा केशनखाग्रादिलक्षणो मनोविज्ञानस्याश्रयः । तथा हि—कायादेवोत्पद्यते हृदयलक्षणात् अन्यतो वा । तदयुक्तम् । कायस्य द्वयी गतिः सेन्द्रियोऽनिन्द्रियो वा प्रत्येकं हेतुरन्यथा वा । न तावत्सेन्द्रियः । तद्धीवदित्यादि ।

न तावत् प्रत्येकं सेन्द्रियः काय आश्रयः । सहेन्द्रियशक्तिभिर्वर्त्तत इति सेन्द्रियः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर भी मरणचित्तत्व रहने के कारण व्यभिचारी या अनैकान्तिक है] । अथवा यदि हेतु के अभाव से प्रतिसन्धानाभाव सिद्ध किया जाता है और हेत्वभाव है—शरीरादि का अभाव—"मरणचित्तं प्रतिसन्धानाभाववत् शरीरादिरहितत्वात्" । तब भी कौन-सी नई बात हो गई ? क्योंकि यह भी हेत्वाभास है । जहाँ पहला (मरणचित्तत्व) हेतु अनैकान्तिक था, वहाँ यह (शरीराभाव) हेतु असिद्ध है, क्योंकि मरणचित्त शरीराभाववत् नहीं होता, अतः शरीररूप हेतु का वैकल्प (अभाव) नहीं । अथवा "किं तदेवात्र नोदितम् "—इस वार्तिक-वाक्य का ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि 'नो' अव्यय का अर्थ निषेध है, जैसा कि कोषकार ने कहा है "अमानोनाः प्रतिषेधवाचकाः" । ['दितम्' शब्द 'दो अवखण्डते' धातु से "क्त" करने पर "द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति" (पा० सू० ७।४।४०) इस सूत्र से 'इ' का आदेश होता है, रूप बनता है—'दितम्'] इसका अर्थ है—खण्डतम् । किं नो दितम् ? का अर्थ निष्पन्न होता है—क्या खण्डित नहीं किया ? अर्थात् अवश्य खण्डित कर दिया । यहाँ हेतु का वैकल्प ही असिद्ध है, क्योंकि अविवेकता पूर्व मन प्रतिसन्धि का हेतु है । यह सब पहले ही प्रतिपादित हो चुका है ।

शङ्का—प्रतिसन्धानाभाव-साधक यह हेतु असिद्ध नहीं, क्योंकि सेन्द्रिय या अतिन्द्रिय काया (शिखा से लेकर नासाग्र तक का शरीर) मनोविज्ञान का आश्रय है, क्योंकि इस शरीर के हृदय-प्रदेश में मनोज्ञान उत्पन्न होता है ।

समाधान—[शरीर दो प्रकार का है—(१) सेन्द्रिय और (२) अनिन्द्रिय । सेन्द्रिय भी दो प्रकार का है—(१) प्रत्येक इन्द्रिय से युक्त, और (२) समस्त इन्द्रियों से युक्त । इनमें से प्रत्येक इन्द्रिय से युक्त शरीर मनोविज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, ऐसा

है, क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान नियमतः संशय-विपर्ययादि से रहित विशेषावभासी होता है, मनोज्ञान वैसा नहीं। सकल इन्द्रियों से युक्त पक्ष तो इसलिए 'अयुक्त' हो जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण करने में इन्द्रियान्तर-निरपेक्ष अकेली ही समर्थ है, तब समस्त का मिलकर एक मनोविज्ञान उत्पन्न करना सम्भव नहीं, अन्यथा किसी भी एक इन्द्रिय के अभाव में मनोज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा ।। ४९ ।।

वार्तिकालङ्कारः

इन्द्रियरूप एव शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । ततश्च प्रत्येकमिन्द्रियेभ्य एव, मनोविज्ञानमुत्पद्यत इति पक्षः । तदाह–'मनोज्ञानं न सेन्द्रियान्नेन्द्रियेभ्यः प्रत्येकं भवति । तद्धीवदिन्द्रियबुद्धिवत् प्रतिविषयं ग्रहणस्य प्राप्तेः । चक्षुरिन्द्रियानुसारि हि मनो नियमेनापरेन्द्रियानुसारि मनः स्वभावमन्यथा तद्धेतोरतत्स्वभावत्वे स कुतः स्वभावस्तस्येत्यहेतुकः स्यात् ।

नन्वेकमपि कारणं तदतत्स्वभावकार्यजननस्वभावमुपलभ्यते । यथा वह्निर्धूमजननस्वभावः । सामग्रीभेदश्च विद्यते रूपसामग्रीसमवधाने चक्षुश्च चक्षुर्विज्ञानं जनयति । रूपविरहे मनोविज्ञानमिति । एवं श्रोत्रादिषु वाच्यम् । तदसत् ।

अक्षव्यापारमाश्रित्य भवदक्षजमिष्यते । तद्व्यापारी न तत्रेति कथमक्षभवं भवेत् ।। ४२५ ।।

तद्धीवद् ग्रहणप्राप्तेरिति । अस्यायमर्थः—अक्षबुद्धिर्हि तद्व्यापारमनुसरन्ती ग्राहि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वार्तिककार कहते हैं–"मनोविज्ञानं न सेन्द्रियात्" । अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियों से युक्त शरीर मनोविज्ञान का जनक नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय का पृथक्-पृथक् विशदावभास करता है, वैसा मनोविज्ञान नहीं। चक्षु-इन्द्रिय का अनुसरण करने वाले मन का स्वभाव अन्य इन्द्रिय का अनुसरण करने वाले मन का नहीं हो सकता, अन्यथा कारण और कार्य का लोक-प्रसिद्ध स्वभाव-साम्य न बन सकेगा ।

शङ्का—भिन्न स्वभाव वाला कारण भिन्न स्वभाव वाले कार्य को जन्म देता देखा जाता है, जैसे शुभ अग्नि में नीलधूम-जनन स्वभाव उपलब्ध होता है। सामग्री-भेद भी कार्य का भेदक होता है। अतः रूप-सामग्री-युक्त चक्षु चाक्षुष ज्ञान का जनक है रूप का विरह होने पर चक्षु मानस ज्ञान का। इसी प्रकार श्रोत्रादि का स्वभाव स्थिर होता है।

समाधान—इन्द्रिय-व्यापार का आश्रयण कर ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है। इन्द्रिय का व्यापार जहाँ नहीं, वह ज्ञान इन्द्रियक क्योंकर कहलायेगा ? ।। ४२५ ।। वार्तिकस्थ "तद्धीवद् ग्रहणप्राप्तेः" इस वाक्य का अर्थ है—इन्द्रिय-जन्य बुद्धि इन्द्रिय-व्यापार का अनुसरण करती हुई अर्थ की विशद ग्राहिका कही जाती है, जिसमें किसी प्रकार का संशय-विपर्यय नहीं होता। यदि मानस बुद्धि भी वैसी ही (इन्द्रिय-व्यापार-सापेक्षा) है, तब वह भी इन्द्रिय-जन्य बुद्धि के समान संशयादि-रहित प्रत्यक्षात्मक ही होगी, अन्यथा उसमें सेन्द्रियकाय-जन्यता का व्यवहार क्योंकर होगा ? इन्द्रिय-व्यापार का अनुसरण तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु है वह इन्द्रिय-जन्य—ऐसा कहना अत्यन्त विरुद्ध है। इन्द्रिय के द्वारा जो अत्यन्त असन्निहित एवं तैमिरिक को केशोण्डुकादि विकल्प विज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय-व्यापार-निरपेक्ष नहीं होता। मनोविज्ञान तो आँखों के बन्द रहने पर भी हो जाता है, उसमें इन्द्रिय-व्यापार का क्या काम ? मन में विकार होने पर भी इन्द्रियों में कोई विकार नहीं, तब मनोज्ञान इन्द्रिय-जन्य क्योंकर होगा ? अतः "तद्धीवद् ग्रहणप्राप्तेः" इस वार्तिक का यह भी अर्थ निकलता है कि इन्द्रिय विकार

अचेतनत्वान्नाऽन्यस्माद्धेत्वभेदात् सहस्थितिः ।
अक्षवद् रूपरसवद् अर्थद्वारेण विक्रिया ॥ ५० ॥

अन्य (सेन्द्रिय शरीर से भिन्न अनिन्द्रिय) शरीर के द्वारा वैसे ही मनोज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे केश और नखादि के द्वारा, क्योंकि केशादि के समान ही केवल शरीर अचेतन है। यहाँ यह अनुमान फलित होता है "निरिन्द्रियं शरीरं न मनोज्ञानजनकम्, अचेतनत्वात्, केशनखादिवत्" । यहाँ जिज्ञासा होती है कि अचेतनत्व क्या है ? इन्द्रिय-ज्ञान-रहितत्व ? अथवा मनोज्ञानरहितत्व ? प्रथम कल्प

वार्तिकालङ्कारः

कार्श्यस्येति तथा व्यपदिश्यते । यदि मनोबुद्धेरपि तत्त्वम् सोऽपि तद्धीवद् ग्राहिणी स्यात् तद्व्यापारानुसरणेन । अन्यथा कथं तथा व्यपदिश्यते । तद्व्यापारानुसारणञ्च नोपलभ्यते तज्जत्वेन च प्रतिपत्तिरिति व्याहतम । इन्द्रियाच्चासन्निहितेऽप्यर्थे पुरो व्यवस्थितार्थनिरूपणाकारचक्षुर्विज्ञानविज्ञानं तिमिरोपहतकेशकलापालोचनाकारवत् । मनोविज्ञानन्तु निमीलितलोचनस्याप्युपजायते कथं तत्रेन्द्रियव्यापारः । यद्विकारे च न विकार, कथन्तदिन्द्रियजम् । तत्र तद्धीवद्ग्रहणप्राप्तेरिति तद्विकारेण विकारिविज्ञानप्राप्तेरित्यर्थः । ग्रहणं विज्ञानमेव । अथ तद्विकारेण न विकारः तदा न तज्जता । समुदायादपि नोत्पद्यत एत्ययमेव परिहारः ।

परिहारान्तरमाह—ज्ञानोत्पादनसामर्थ्यभेदात् । ज्ञानोत्पादनं प्रति भिन्नमेव सामर्थ्यं पृथग्भूतमन्यानपेक्ष्यमेव दृश्यते । न, परस्परापेक्ष्यम् । अन्यथा समुदायस्याभावेऽप्यभावादङ्कुर इव क्षित्यादिवैकल्ये न स्यात् । भवति च चक्षुरादिविकलानामपि मनोविज्ञानन्तन्न समुदायप्रतिबद्धं मनः । अपिशब्देन पूर्वको हेतुः समुच्चितः ।

'अचेतनत्वादन्यस्मादपि' नोत्पद्यतेऽनिन्द्रियात् नन्वचेतनत्वादिति कोऽर्थः । यदी·

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पूर्वकत्व मनोविज्ञान में प्रसक्त होता है । ग्रहण तो करण का विकारात्मक ज्ञान है किन्तु जिस विकार-विज्ञान से इन्द्रिय में उन्मीलनादि विकार उत्पन्न नहीं होता वह इन्द्रियजन्य कभी नहीं हो सकता । समस्त इन्द्रियों से युक्त काया को मनोविज्ञान का जनक मानने पर भी यही परिहार (दोष-दान) किया जा सकता है ।

परिहारान्तर भी प्रस्तुत है—"ज्ञानोत्पादनसामर्थ्यभेदात् ।" प्रत्येक इन्द्रिय में अपने रूपादि असाधारण विषय के ज्ञानोत्पादन का सामर्थ्य उपलब्ध होता है । मनोविज्ञान सर्वविषयक है, तब वह इन्द्रिय-जन्य क्योंकर होगा ? एक इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान उत्पन्न करने में इन्द्रियान्तर की अपेक्षा नहीं, अन्यथा जैसे क्षिति, सलिलादि-समुदाय के बिना अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही समस्त इन्द्रिय-समुदाय के बिना प्रत्येक इन्द्रिय से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी । चक्षुषादि से विहीन पुरुष को भी मनोविज्ञान होता है, अतः इन्द्रिय-समुदाय से मन का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं । वार्तिकस्थ 'अपि' शब्द के द्वारा पूर्वोक्त (ग्रहणाप्तेः) परिहार का समुच्चय किया गया है ।

"अचेतनत्वादन्यस्मादपि"—इस वाक्य का पूरक वाक्य है—"नोत्पद्यतेऽनिन्द्रियात्" । अर्थात् इन्द्रिय-रहित केशनखादि-समूहात्मक शरीर से भी मनोविज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि केशादि अचेतन (जड़) हैं । लोष्ठपाषाणादि जड़ पदार्थों से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती ।

में पर्यवसित अनुमान है—"निरिन्द्रियं शरीरं न मनोज्ञानजनकम् इन्द्रियज्ञानरहितत्वात् ।" यहाँ इष्टापत्ति है, क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के अभाव में मनोज्ञान नहीं माना जाता। द्वितीय कल्प में उक्त अनुमान का आकार होगा—"निरिन्द्रियं शरीरं न मनोज्ञानजनकम्, मनोज्ञानाभाववत्त्वात् ।" यहाँ साध्यसम नाम का हेत्वाभास है—"साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः" (न्या० सू० १।२।८) अर्थात् साध्य के समान हेतु भी साधनीय है, सिद्ध नहीं, असिद्ध है। यदि काय मनोविज्ञान का आश्रय नहीं, तब इन दोनों का सहावस्थान क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—"हेत्वभेदात्" अर्थात् शरीर और मन का हेतुभूत कर्म (धर्माधर्मादि) अभिन्न है, अतः एक सामग्री-साध्य होने के कारण दोनों सहावस्थित हैं, आश्रयाश्रयिभाव के कारण नहीं। इसी प्रकार का सहावस्थान इंद्रियों में रूप और रस में देखा जाता हैं। शरीरगत विकार से जो मनोविज्ञान में विकार आता है, वह शरीर पर शस्त्र-प्रहाररूप निमित्त कारण से जनित है ॥ ५० ॥

वार्तिकालङ्कारः

न्द्रियविज्ञानविरहादिति। तदिष्यत एव। कथमयं हेतुर्यदि नामेन्द्रियज्ञानं ततो न भवति। मनोविज्ञानन्तु कस्मान्न भवति। अथ मनोविज्ञानाभावादचेतनत्वं तदेव विचार्यमाणमिति प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः। अत्रोच्यते—

चेतयन्तो न दृश्यन्ते यदा केशनखादयः। तदा तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीति कथं स्थितिः ॥ ४२६ ॥

यथा हि चेतनतः स्पर्शादय उपलभ्यन्ते तद्विज्ञानैर्न तथा मनोविज्ञानेन केशनखादयः। तत्परिबद्धत्वे तदभावे मनोविज्ञानं न यस्मात् तदुपघाते चोपहतं भवेत्। यदि न काय आश्रयस्तदा सहस्थितिः कथम्। तदाह—'हेतोः कर्मसंज्ञितस्य सहस्थितिनियमकारिणोऽभेदात् सामर्थ्यस्य तथा व्यस्थितत्वात्। 'अक्षवद्रूपरसवत्'। यक्षाक्षाणां रूपरस-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—'अचेतनत्वात्'—इसका क्या अर्थ ? यदि इसका अर्थ है—'इन्द्रियविज्ञानविरहात्'। वह तो माना ही जाता है, क्योंकि इन्द्रिय-रहित केवल शरीर से ऐन्द्रिय विज्ञान कैसे होगा ? किन्तु यह इन्द्रिय-विज्ञानाभाव का साधक क्योंकर होगा ? पूर्वपक्षी कह सकता है कि केवल शरीर से यदि ऐन्द्रियक ज्ञान नहीं होता तो सभी, मानस ज्ञान उससे क्यों नहीं होता ? यदि मनोविज्ञानाभाव के कारण केवल शरीर में अचेतनत्व सिद्ध होता है। तब तो यही विचारणीय (साध्य) है। यह हेतु प्रतिज्ञा का एकदेश मात्र होकर रह जाता है।

समाधान—जब कि केश और नखादि पदार्थ चेतनत्वान् नहीं देखे जाते, तब उनसे मनोविज्ञान कैसे हो सकता है ? ॥४२६॥ जैसे त्वगादि इन्द्रियगण चेतन (चैतन्यरूपज्ञान के जनक) हैं, अतः उनसे जनित स्पर्शनादि ज्ञान के द्वारा स्पर्शादि जाने जाते हैं, किन्तु केशनखादि विषय उनसे जनित ज्ञान नहीं होते। यदि मनोविज्ञान के नखादि जनक होते, तब नखादि के उपहत हो (कट) जाने पर मनोविज्ञान भी उपहत हो जाता।

यदि मनोविज्ञान का काय (शरीर) आश्रय नहीं, तब इन दोनों का सहावस्थान क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—"हेत्वभेदात् सहस्थितिः।" अर्थात् धर्माधर्मरूप कर्म ही उन दोनों की सहस्थिति का कारण है, क्योंकि उनका जनकीभूत कर्म अभिन्न है। "अक्षवद् रूपरसवत्"—इस दृष्टान्त का आशय यह है कि जैसे इन्द्रियों में परस्पर

वार्तिकालङ्कारः

योश्च परस्परमनाश्रितत्वेऽपि कञ्चित् कालं सहस्थितिनियमः। न हि सहस्थितावाश्रयाश्रयिभाव एव कारणम्।

ननु 'तद्विकारविकारित्वादाश्रयाश्चक्षुरादय' श्चक्षुर्विज्ञानादीनाम्। तथा शरीरविकारात् विश्लेषादिना मनसः स्तिमितादिलक्षणो विकार इत्याश्रयाश्रयिभावः।

तदप्यसद्। अर्थस्य ग्राह्यस्य द्वारेण विक्रिया। पीडामसहमानस्य तद्भावनया तन्मनसिकारेण विक्रिया। आलम्बमाना हि शस्त्रप्रहारादयो मनसा मनसः पीडाकारिणो नाश्रयभूताः। आलम्बनञ्च बाह्यमपि विकारकारि। न च तस्याश्रयभावः। तदभावेप्यारोपमात्रात् पीडोत्पत्तेः।

तस्मादारोपिताकारमन्तर्बाह्यञ्च वेद्यते। मनसा तद्विकारेण विक्रिया मानसस्य सा ॥ ४२७ ॥

न चाश्रयालम्बनयोरेकता। ततस्तदाश्रयो न काय इति। न क्लिष्टं मनः कायाश्रितं ततः। यश्च तस्याश्रयः स पश्चादावेदयिष्यते। पूर्वापरसमारोपमात्रमालम्बनं परं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आश्रयाश्रयिभाव न होने पर सहावस्थान देखा जाता है अथवा रूप और रस में आश्रयाश्रितभाव के बिना ही सहावस्थिति देखी जाती है। वैसे ही एकसामग्र्यधीनत्व के कारण मनोविज्ञान और शरीर की सहस्थिति का नियम बन जाता है।

शङ्का—चक्षुरादि में विकार आने से चक्षुर्विज्ञान में विकार देखा जाता है, अतः चक्षुरादि को चाक्षुष ज्ञानादि का आश्रय मानना न्याय-संगत है। उसी प्रकार शरीर में विकार हो जाने पर मनोविज्ञान विकृत हो जाता है। [अर्थात् भोगादि विष के सेवन या श्लेष्मादि रोग के कारण शरीर विकृत होकर मन को स्तब्ध-सा विकृत बनाकर रख देता है]। इस मनोविज्ञान का आश्रय काया ही सिद्ध होती है।

समाधान—मनोविज्ञान में विकार सीधा कायागत विकार से उत्पन्न नहीं होता, अपितु ग्राह्य (विषय विकार) के द्वारा अर्थात् शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले शस्त्र-प्रहारादि आलम्बनों (निमित्तों) से मन में पीड़ा उत्पन्न होकर मनोविज्ञान को विकृत कर देता है। वह आश्रयत्वेन सम्मत शरीर का विकार नहीं। आलम्बन (निमित्त) तो शरीर के बाहर भी रह कर मनोविज्ञान का विकारकारी हो सकता है, वह मनोविज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि स्वप्नादि में वास्तविक शस्त्र-प्रहारादि के न रहने पर भी उनके आरोप-मात्र से मन में पीड़ा उत्पन्न होती देखी जाती है। अतः आरोपिताकारवाले जो शस्त्र-प्रहारादि निमित्त शरीर के अन्दर या बाहर मन से प्रतीत होते हैं, उनके ही विकार से मन का विकार होता है ॥४२७॥

आश्रय और आलम्बन (निमित्तकारण) इन दोनों की एकता सम्भव नहीं। फलतः मनोविज्ञान का आश्रय काया नहीं, क्लिष्ट मन का भी शरीर आश्रय नहीं। [क्लिष्ट मन के विषय में आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—"तदालम्बनं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम्" (विज्ञप्ति. त्रि. ५) अर्थात् आलयविज्ञान को ही अपना आश्रय और आलम्बन (निमित्त) बनाकर जो मन या मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, उसे क्लिष्ट मन कहते हैं, वह मननात्मक है और (१) आत्मदृष्टि, (२) आत्ममोह, (३) आत्ममान एवं (४) आत्मस्नेह रूप चार क्लेशों से युक्त है]। क्लिष्ट मन का आश्रय आलयविज्ञान है—यह पश्चात् कहा जायगा। वस्तुतः आलयविज्ञानगत पूर्वापरसमारोपात्मक संस्कार ही क्लिष्ट मन के आलम्बन हैं, अतः वस्तुतः क्लिष्ट मन निरालम्बना-

सत्तोपकारिणी यस्य नित्यं तदनुबन्धतः ।
स हेतुः सप्तमी तस्मादुत्पादादिति चोच्यते ॥ ५१ ॥

उपकारकमात्र को कार्य का आश्रय नहीं कहा जाता, अपितु निर्वर्त्तक (उपादान कारण) को कार्य का आश्रय कहते—"सत्तोपकारिणी यस्य" अर्थात् जिस पदार्थ की सत्ता अपने उपादेय की उपकारिका होती है, वह आश्रय होता है। जो कदाचित् उपकारक होता है, वह धर्मी का उपकारक न होकर धर्मी की किसी विशेषता का ही उपकारक होता है। उसके न होने पर भी धर्मी की सत्ता मानी जाती है। काया की निवृत्ति से चित्त की निवृत्ति नहीं मानी जाती। नित्यानुबन्धी हेतु को अभिलक्ष्य करके सप्तमी का प्रयोग किया जाता है—"अस्मिन् सतीदं भवति"। "तस्मादुत्पद्यते" इस प्रकार पञ्चमी एवं कार्यगत उपादेयता को ध्यान में रखकर "उत्पादात्"—ऐसा प्रयोग किया जाता है ॥ ५१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मनसो नान्यदस्तीति निरालम्बनाश्रयः । अपि च—

नोपकारक इत्येव हेतुस्तस्य निवर्त्तकः । विशिष्टमेव हेतुत्वं कार्यस्य विनिवर्त्तकम् ॥ ४२८ ॥

कोऽसौ विशिष्टो हेतुर्यस्य निवर्त्तकत्वम् । तदाह—सत्तोपकारिणीति ।

स हि हेतुर्निर्वर्त्तको यस्य सत्तोपकारिणी 'नित्यं तदनुबन्धतः' तदनुबन्धेनेति । अनुबन्धोऽनुवर्त्तनम् । सदानुवर्त्तनादुपकारिणी यस्य सत्ता । यस्य तु कदाचिदुपकारसामर्थ्यन्तदभावेऽपि कदाचिदुपकारोऽन्यतोऽपि भवति विशेषलक्षणः । स नित्यमनुवर्त्तको न भवतीति न तन्निवृत्यापि तन्निवृत्तिः । देहस्य च सत्ता न सर्वदोपकारिणी पूर्वचित्तमात्रविकारेऽपि कदाचिद् विकारदृष्टेः । ततो देहाभावेऽपि कदाचिच्चित्तविकारविहितविकारत्वात् तदुपस्तम्भादास्त एव चित्तसन्ततिरिति संभाव्यते । न च देहः सदोपकारितया कारणमिति प्रसिद्धः । तथा हि—

स्वयं परेण वा देहो हेतुर्गम्येत केनचित् । उत्पन्नेनान्यथा वापि वेदनेनेति कल्पनाः ॥ ४२९ ॥

न तावदनुत्पन्नं वेदनं जानात्यहमतो भविष्यामि भवामि अभूवं वेति । उत्पन्नस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

श्रयक है। अपि च उपकारकमात्र को कार्य का निर्वर्तक हेतु नहीं कहा जाता, अपितु विशिष्ट हेतु कार्य का निर्वर्तक या जनक माना जाता है ॥ ४२८ ॥ कौन वह विशिष्ट हेतु है, जिसको निर्वर्तक कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है—"सत्तोपकारिणी यस्य ।" वह हेतु कार्य का निर्वर्तक होता है, जिसकी सत्ता घटादि कार्यों में मृत्तिका के समान अनुगत होकर उपकारक होती है। यहाँ अनुबन्ध का अर्थ अनुवर्तन या अनुगमन है। सदा अनुवर्तन पूर्वक जिसकी सत्ता उपकारिणी होती है, उसके न होने पर कार्य कदापि नहीं होता, किन्तु जिसकी सत्ता कदाचित् उपकारक होती है, उसके न होने पर भी कार्य हो जाता है। देह की सत्ता मनोविज्ञान की सदा उपकारिणी नहीं, अतः जन्मान्तर में इस देह के न रहने पर भी मनोविज्ञान उपलब्ध होता है। पूर्वविज्ञान (आलयविज्ञान) के विकार से विकृत होनेवाला मनोविज्ञान आलयविज्ञान के आश्रित होता है। देह सदा उपकारकत्वेन लोक-प्रसिद्ध नहीं, जैसा कि लोक-व्यवहार है—उत्पन्न या अनुत्पन्न किसी भी ज्ञान के द्वारा देह में हेतुता का ग्रहण सम्भव नहीं ॥४२९॥ अर्थात् न तो अनुत्पन्न वेदन (ज्ञान) यह जानता है कि मैं (मनोविज्ञान) देह से उत्पन्न हूँगा या उत्पन्न हो रहा हूँ अथवा उत्पन्न हुआ

वार्तिकालङ्कारः

तु वेदनस्याहमिति । स्वरूपमालम्बमानस्यान्यद् वा तदधिगतिरेव । कुतः पुनरन्यस्याव-गतिरिदममुत उत्पन्नमिति । न खल्वन्यदालम्बमानमन्यदवगच्छति । चक्षुरादिविज्ञाना-नामपि तर्हि सैव कल्पनेति कुतश्चक्षुरादिकारणत्वमतिः । न तेषामन्वयव्यतिरेकगति-सम्भवात् । तथा हि—

चक्षुरुन्मीलयन्नेव नरः प्रत्यवगच्छति । रूपदर्शनमुत्पन्नं गम्यते तदनन्तरम् ॥ ४३० ॥

जन्मादि देहोऽभिमुखो हेतुत्वेन न गम्यते । ज्ञानस्य प्रागभावे हि ज्ञातृत्वस्य विबोधकः ॥ ४३१ ॥

परेणास्य प्रतीतिश्चेत् प्रागभावगतिः कुतः । अदृश्यानुपलम्भो हि नाभावस्य प्रसाधकः ॥ ४३२ ॥

सुप्तस्यापि प्रबोधोऽस्ति प्राग्ज्ञानानुपलम्भने । न तत्र स्वप्नविज्ञानप्रागभावगतिः सती ॥ ४३३ ॥

अथास्य स्यात् स्वसंवित्तिर्यदि प्राग् विद्यते मतिः ।

प्रसुप्तावस्थायां नास्त्येव स्मृतेरभावात् ।

प्रबुद्धस्य यतो दृष्टा स्वप्नसंवेदने स्मृतिः ।

तदसत् ।

अभावः प्रतिपत्तेः किं किंवा सदपि विस्मृतम् । जाग्रता हि कृतं स्वप्ने स्मर्यते नैव केनचित् ॥४३४॥

न खलु स्वप्नसंवेदनं जाग्रद्विज्ञानान्तरमिति केनचित् प्रतीयते । तथापि तत् तत एव ।

अथ प्रबोधे सति तस्य प्रतीतिः । तस्यापि प्रबोधे न प्रतीयते इति कुत एतत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

था । उत्पन्न वेदन (मनोविज्ञान का आलम्बन अहमाकार आलयविज्ञान है, वह अन्य पदार्थ का ज्ञापक क्योंकर होगा ? "इदममुतः उत्पन्नम्" ऐसा ज्ञान उससे हो ही नहीं सकता, क्योंकि "आलम्बन कुछ अन्य और ज्ञान किसी अन्य का"—ऐसी विसंगति कभी नहीं होती। इसी प्रकार चाक्षुषादि विज्ञानों की चक्षुरादि में कारणता का अपलाप क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वह कार्यकारणभाव नियन्त्रित है, क्योंकि आँख खोलते ही मनुष्य यह जान जाता है कि मुझे रूप का ज्ञान हो गया । रूप-ज्ञान पहले उत्पन्न होता और पश्चात् ज्ञात होता है ॥४३०॥ जन्म से लेकर यह अभिमुख देह मनोविज्ञान का कारण नहीं ज्ञात होता । हाँ, ज्ञान का प्रागभाव अपने आश्रय में ज्ञातृत्व का बोधक होता है ॥४३१॥ यदि अन्य को इस ज्ञान की प्रतीति हो रही है, तब उसके प्रागभाव की अवगति क्योंकर होगी ? अनवगत (अयोग्य) अनुपलम्भ अभाव का साधक नहीं होता ॥४३२॥ प्रसुप्त व्यक्ति को भी ज्ञानानुपलब्धि के पहले प्रबोध (ज्ञान) होता है । स्वप्न-विज्ञान के प्रागभाव की वहाँ अवगति नहीं होती ॥ ४३३ ॥

शङ्का—प्रसुप्त अवस्था में यदि मति (बुद्धि) होती, तब स्वप्रकाश होती, किन्तु वहाँ ज्ञान नहीं होता, क्योंकि जागने पर उसको स्मृति नहीं होती । यह एक अकाट्य नियम है कि प्रबोध-काल में स्वप्न-संवेदन की स्मृति होती है ।

समाधान—सुप्तावस्था में क्या ज्ञान का अभाव था ? अथवा ज्ञान था, किन्तु जागने पर भूल गया। बहुत-से व्यक्तियों को सुप्तावस्था कुछ भी स्मरण नहीं होती ॥ ४३४ ॥

यद्यपि स्वप्न-विज्ञान जाग्रद्विज्ञान के अनन्तर है—ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती, तथापि वह (स्वप्न-संवेदन) जाग्रद्विज्ञान से ही उत्पन्न होता है । यदि कहा जाय

वार्तिकालङ्कारः

तस्मादप्रतीतिरेव देहस्य सदोपकारित्वेन ततोऽस्य निवर्त्तने विज्ञानं निवर्त्तत इति न गतिः ।

अथ गोमयादुत्पद्यते शालूकः । न च तस्य सत्तोपकारिणी नित्यं तदनुबन्धेन । तथापि गोमयाभावे प्रथमभाव एव शालूकस्य ।

तदपि यत्किञ्चित् । यतः—

गोमयात् प्रथमोत्पत्तिर्यादृशी तादृशी पुनः । तदभावे न दृष्टैव ज्ञानस्य तु विपर्ययः ॥ ४३५ ॥

यादृशो हि गोमयादुत्पद्यमानो दृष्टः शालूकः स किं तादृश एवान्यदाप्युपलभ्यते । मनोविज्ञानन्तु तथा भूतमेवादौ पश्चाच्चेति न तेनैकान्तिकता ।

(१६) अस्मिन् सतीदमित्यस्य व्याख्या—

ननु "अस्मिन् सतीदं भवत्यस्योत्पादादिदमुत्पद्यते" इत्येतदेव हेतुलक्षणं भगवतोक्तम् । न तु सदानुवर्त्तकमपरं विचारितम् । भगवानेव च परमार्थतः कार्यकारणभावे पारमार्थिकं प्रमाणं व्याप्यन्वयव्यतिरेकग्रहणादिति प्रतिपादितम् । न च सम्भव्युपकारवानर्थो नोच्यते भगवता । तत् कथमेतत् ।

नैष दोषः । तस्मादेवास्माभिरुक्तात् सदोपकारित्वेन सप्तमी । तस्मादेव पञ्चमी उत्पादादिति चोच्यते । अस्मिन् सतीदं भवति इति सदानुवर्त्तनमाह । सतीति

वार्तिकालङ्कार व्याख्या

कि प्रबोधावस्था में स्वप्न-विज्ञान में जाग्रद्विज्ञानानन्तर्य प्रतीत होता है, तब "प्रबोधे न प्रतीयते" ऐसी प्रतीति क्योंकर होगी ? फलतः प्रसुप्तावस्था में देह की अप्रतीति होने से निवृत्ति माननी होगी । देह की निवृत्ति होने पर भी मनोविज्ञान निवृत्त नहीं होता, अतः शरीर न तो चित्त का सदा उपकारी है और न आश्रय ।

शङ्का—गोमय (गोबर) से विच्छु उत्पन्न होता है, किन्तु गोबर की सत्ता विच्छु की नित्य उपकारिणी नहीं । तथा गोमय के अभाव में शालूक का अभाव होता है, अतः कारणप्रतियोगिक निवृत्ति को कार्य का निवर्तक नहीं कह सकते ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि विच्छू की गोमय से प्रथम उत्पत्ति जैसी देखी जाती है, वैसी उत्पत्ति गोमय के अभाव में कदापि नहीं देखी जाती, किन्तु मनोविज्ञान के लिए वैसा नहीं कहा जा सकता ॥ ४३५ ॥ अर्थात् जैसा गोमय से उत्पन्न शालूक देखा गया, क्या वैसा ही गोमय के अभाव में देखा जाता है ? मनोविज्ञान तो वैसा ही आदि और अन्त में रहता है, अतः शरीर से उसकी ऐकान्तिक (अव्यभिचार) नहीं ।

(१६) "अस्मिन् सतीदम्" इसकी व्याख्या—

शङ्का—भगवान् बुद्ध ने हेतु का लक्षण किया है—"अस्मिन् सतीदं भवति" "अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते" । "सदानुवर्तकम्"—ऐसे लक्षण पर कोई विचार नहीं किया । भगवान् ही परमार्थतः कार्यकारण भाव में एकमात्र प्रमाण है । यह सम्भव ही नहीं कि भगवान् ने उपकारवान् अर्थ की हेतुता न कही हो, तब इसका क्या समाधान ?

समाधान—इसीलिए तो हम (वार्तिककार) ने कह दिया है कि कारण के सदा उपकारी होने के कारण "अस्मिन् सति इदं भवति"—इस प्रकार सप्तमी तथा "तस्मादेव तद्भवति", "तत उत्पादात्"—इस पञ्चमी का प्रयोग किया गया है । "अस्मिन्

वार्तिकालङ्कारः

निमित्तसप्तमी। अन्यथा तदभावेऽपि भवने न तन्निमित्तकोऽस्य भावः। पञ्चम्यपादानेऽपादानता च जनिकर्त्तुः प्रभव इति। प्रभवश्च निमित्तमेव।

अथवान्यथा व्याख्यायतेऽस्माभिः। यदि विज्ञानपूर्वकं विज्ञानन्तथापि जन्मादिविज्ञानात् पूर्वकजन्मविज्ञानमिति प्रतीयताम्। तस्य तत्कार्यत्वात्। भाविजन्मविज्ञानन्तु कुतोऽनुमीयते। अथ समर्थकारणदर्शनात् कार्यानुमानम्। तत् तर्हि हेत्वन्तरं प्रसक्तं कारणलक्षणम्। अथ कार्ये सन्देहात् योग्यतानुमानं न भाविपरलोकानिश्चये व्यर्थता योग्यतानुमानस्य। भाविपरलोकानुमाने हि धर्मादिषु प्रवर्त्तनप्रयासः सफलः। अत्रोच्यते—कारणमेव भाविजन्मविज्ञानं कार्यमपि तत्। यतः—"सत्तोपकारिणी यस्य नित्यन्तदनुबन्धतः"। स हेतुः। यस्य हि सत्तोपकारिणी नित्यं तदनुबन्धतः। व्यापित्वेन व्यापकं व्यतिरेके सति कारणम्। अर्थान्तरे गम्ये कार्यमेव हेतुर्यदर्थान्तरस्य गमकं तद्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सतीदं भवति"—इस वाक्य से सदा अनुवर्तमानता कही है। 'सति'—यह निमित्त सप्तमी है। ["निमित्तात् कर्मयोग"—इस वार्तिक के द्वारा 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' आदि प्रयोगों में जैसे चर्मनिमित्तक (बाघाम्बर प्राप्त करने के लिए बाघ का हनन होता है, वैसे ही कारण-सत्ता निमित्तक कार्य-सत्ता की अवगति होती है]। यदि कारण-सत्ता के बिना ही कार्य की सत्ता हो, तब कारण-सत्ता-निमित्तक कार्य का भाव नहीं कहा जा सकेगा। "अस्मादिदं भवति"—इस प्रकार भी वही अर्थ निकलता है, क्योंकि "अपादाने पञ्चमी" (पा. सू. २।३।२८) यहाँ अपादान वही है, जो 'जनि' क्रिया के कर्त्ता (जायमान पदार्थ) प्रभव या प्रकृति हो—'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः" (पा सू. १।४।३०) अर्थात् जायमान पदार्थ के हेतु को अपादान संज्ञा है। इसी अपादान को 'प्रभवः' भी कहते हैं—"भुवः प्रभवः" (पा. सू. १।४।३१)। 'प्रभव' का अर्थ निमित्त है। इस प्रकार 'कारणम् कार्यं भवति'—इससे कारणनिमित्तक ही कार्य का भवन सिद्ध होता है।

अथवा अन्य प्रकार से भी इसकी व्याख्या की जा सकती है—

शङ्का—यह जो कहा जाता है कि "विज्ञानं विज्ञानपूर्वकं भवति।" इसके आधार पर पूर्व-जन्मपरम्परा अवश्य सिद्ध होती है, क्योंकि पूर्वजन्म का विज्ञान कारण और उत्तर जन्म का विज्ञान कार्य है। कार्य से कारण का अनुमान तर्क-संगत है। किन्तु भावी जन्म के विज्ञान का अनुमान क्योंकर होगा? जैसे भावी वृष्टि के योग्य मेघमंडल को देखकर भावी वर्षा का अनुमान हो जाता है, वैसे ही समर्थ कारण-कलाप को देखकर भावी जन्म का अनुमान क्यों न होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि फिर कार्य से कारण का अनुमान न होकर कारण से कार्य का अनुमान एक उपायान्तर है। यदि कार्य में सन्देह होने के कारण योग्यता का अनमान नहीं हो सकता, क्योंकि भावी परलोक का जब निश्चय ही नहीं, तब योग्यता का अनुमान व्यर्थ है। भावी परलोक का अनुमान हो जाने पर ही धर्मादि के अनुष्ठान में लोगों की प्रवृत्ति का प्रयास सफल होता है।

समाधान—वही चित्त कारण और वही कार्य है। अन्तर केवल क्षणों का होता है, क्योंकि जिसकी सत्ता कार्य में नित्य अनुगत होकर कार्य की उपकारिणी हो, वही कारण माना जाता है। जिसका व्यतिरेक (अभाव) होने पर कार्य नहीं होता,

वार्तिकालङ्कारः

व्यापकस्यैव। अन्यथा व्यभिचारित्वादगमकता स्यात्। यच्च यमन्तरेण न भवति तत् तस्य कारणम्। कारणं कथं कार्यमिति चेत्, न तस्य कार्यत्वात्। तथा हि—

विकाराश्चेतनादीनामुदयादेः प्रसाधकाः। तद्विकारतयेक्ष्यन्ते तच्च कार्यत्वमुच्यते ॥ ४३६ ॥

अयं विकार एव न स्यात्। यद्यभ्युदयेन न भवितव्यं तत्कृतोऽयं विकार इति सकललोकव्यवहारः। एतावतैवान्यत्रापि कार्यत्वं भावि कथं कारणम्। तदव्यभिचारादेव।

ननु य उपकारो स कारणं कथं च भाव्यविद्यमानमुपकारि। अतीतं तर्हि कारणन्न प्राप्नोति। तदप्यसत्। नोपकारोति न। तदुत्पत्तिकाले विद्यमानत्वात्। कोऽयमुत्पत्तिकालः। यदि कार्यात् प्राक् कथमविद्यमानस्योपकारकः। अत एव कारणमविद्यमानकरणात्। अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः। तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता। तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबंधनम्। व्यवहितस्यापि कारणत्वात्। तथाहि—

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्। जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥ ४३७ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वह कारण एवं व्यापक होता है। कार्यकारणभावादि से निरपेक्ष जहाँ भिन्न पदार्थ से भिन्न जिस पदार्थ की अनुमिति होती है, वह व्यापक ही होता है, अन्यथा व्यभिचारी हेतु में गमकता (अनुमापकता) नहीं होती। जो पदार्थ जिसके बिना नहीं होता, वह उस पदार्थ का कारण होता है। 'कारण ही कार्य है'—यह कैसे ? इसका उत्तर है—कारण का उत्तर-क्षण अपने पूर्व-क्षण से उत्पन्न होने के कारण कार्य कहलाता है—चेतनात्मक मनोविज्ञान के उत्तरवर्ती विकार ही उसकी उत्पत्ति आदि के साधक होते हैं, विकारवत्त्वेन परिलक्षित पदार्थ ही कार्य कहलाता है ॥ ४३६ ॥ यह विकारात्मक कार्य ही नहीं होगा, यदि उदय (उत्पत्ति) आदि न हों, क्योंकि यह विकार उदयादि के द्वारा ही किया जाता है—ऐसा ही लोक-व्यवहार है। एतावता भावी कार्य कारण क्योंकर होगा ? अव्यभिचरित होने के कारण।

शङ्का—कार्य के उपकारी पदार्थ को कारण कहा गया है। भावी पदार्थ विद्यमान नहीं, अतः वह उपकारक क्योंकर बनेगा ? यदि ऐसा है, तब अतीत भी कारण क्योंकर हो सकेगा ?

समाधान—अतीत वस्तु अविद्यमान होने से उपकारक नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह अपनी उत्पत्ति के समय तो विद्यमान था। यह उत्पत्तिकाल क्या है ? यदि कार्य से पूर्वकाल उत्पत्ति-काल है, तब उस समय कार्य विद्यमान नहीं, अविद्यमान कार्य का उपकारक कैसे होगा ? अतः मानना होगा कि अविद्यमान कार्य के कारण को ही करण कहते हैं। 'अविद्यमानस्य (कार्यस्य) करणम्'—इसका क्या अर्थ ? कारण के अनन्तरभाविनी कार्य की सत्ता यदि उसका अर्थ है, तब तो यह आनन्तर्य उभयापेक्षा मानना होगा अर्थात् जैसे भूत (अतीत कार्य और कारण) का, वैसे ही भावी कार्य और कारण का। सर्वत्र आनन्तर्य ही कार्य-कारणभाव का नियामक है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि व्यवहित पदार्थों का भी कार्य-कारणभाव देखा जाता है, जैसे कि गाढ प्रसुप्त (गहरी नींद में सोये) व्यक्ति का विज्ञान प्रबोधावस्था के अव्यवहित पूर्व में प्रतीत है, किन्तु वस्तु-स्थिति ठीक उसके विपरीत है कि उसके व्यवहित काल में

वार्तिकालङ्कारः

न खलु तत्र शरीरं कारणं पूर्वसंस्कारानुवर्त्तनैन तस्य दृष्टेः। तादृश एव हि शरीरेऽन्यथा चान्यथा पूर्वविज्ञानानुरूप्येणोत्पत्तेः।

तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्। कार्यकारणभावस्य तदभाविन्यपि विद्यते ॥४३८॥

यदेव यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तदेव तस्य कारणमपरस्तु विशेषो व्यर्थः।

अथापि स्यात्। "अस्मिन् सतीदं भवति अस्योत्पादादिदमुत्पद्यत" इति कार्यकारणभावलक्षणम्। न चात्रान्वयव्यतिरेकमात्रमनेन कथ्यते। यतः—

सप्तम्या पूर्वभावस्य पंचम्या च निदर्शनम्। परभावः प्रथमया ततोऽपि च निदर्श्यते ॥ ४३९ ॥

न हि तदन्वयव्यतिरेकानुविधानमात्रमत्रोपदर्शितम्। पूर्वापरभावोपदर्शनस्य परिस्फुटत्वात्।

तदप्यसत्यम्। सप्तमी तस्मादुत्पादादिति चोच्यते। न खलु सप्तम्या पूर्वभावस्योपदर्शनं पञ्चम्या वा। निमित्तत्वमात्रत्वस्योपदर्शनात्। एतन्निमित्तकोऽयमित्यर्थः। यदभावे च न भवति यः स एव भवंस्तन्निमित्तकोऽयमित्यर्थः।

ननु सतीति कथं भावी व्यपदिश्यते। तस्याविद्यमानत्वादेवं व्यपदेशानुपपत्तेः। तथा नोत्पादोऽनुत्पन्नस्य।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रबोध उत्पन्न होता है ॥ ४३७ ॥ वहाँ प्रबोध का कारण शरीर है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्व-संस्कारानुवृत्ति ही वहाँ प्रतीत होती है, अतः पूर्व-विज्ञान के अनुरूप ही प्रबोध की उत्पत्ति होती है। फलतः अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान ही कार्य-कारण भाव का नियामक प्रतीत होता है, वही अतीत और भावी पदार्थों में सर्वत्र प्रतीत होता है ॥ ४३८ ॥ जो पदार्थ जिस कार्य के अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करता है, वही उस कार्य का कारण होता है, अन्य (आनन्तर्यादि) विशेषताओं को कार्य-कारणभाव का नियामक मानना व्यर्थ है।

शङ्का—"अस्मिन् सतीदं भवति", "अस्योत्पादाद् इदमुत्पद्यते"—यह कार्य-कारण-भाव का लक्षण है। यहाँ केवल अन्वय-व्यतिरेक का कथन नहीं किया गया, क्योंकि "अस्मिन सति"—इस सप्तम्यन्त पद के द्वारा कारण का पूर्वभाव, "अस्योत्पादात्"—इस पञ्चम्यन्त पद के द्वारा प्रकृतित्व या उपादानता का निदर्शन एवं "इदमुत्पद्यते"—इस प्रकार प्रथमान्त पद के द्वारा कार्य का परभाव दिखाया जाता है ॥ ४३९ ॥ यहाँ अन्वय-व्यतिरेक के अनुविधानमात्र का प्रदर्शन नहीं किया जाता, क्योंकि पूर्व-अपर-भाव का प्रदर्शन नितान्त स्फुट है।

समाधान—'अस्मिन्'—यह सप्तमी तथा 'अस्योत्पादादिदम्'—इस प्रकार पञ्चमी प्रदर्शित है। कारण का पूर्वभाव न तो सप्तमी के द्वारा प्रदर्शित है और न पञ्चमी के द्वारा, केवल निमित्तमात्र का प्रदर्शन किया गया है—'एतन्निमित्तकोऽयम्'। अर्थात् जिस पदार्थ का अभाव होने पर जो कार्य नहीं होता, वह कार्य जब उत्पन्न होगा, तब तन्निमित्तक ही होगा ?

शङ्का—'अस्मिन् सति'—यहाँ सप्तमी के द्वारा वर्तमान कारण का तो किया जा सकता है, क्यों उसके लिए 'सति' (विद्यमान) ऐसा कहना सम्भव है किन्तु भावी कारण के लिए 'सति' (विद्यमान) कहना संगत नहीं, क्योंकि वह विद्यमान नहीं। वैसे ही वर्तमान कार्य उत्पन्न हो चुका है, उसके लिए "अस्मादिदं उत्पद्यते"—ऐसा कहना क्योंकर बनेगा ?

वार्तिकालङ्कारः

नन्वतीतस्यापि कथं सत्ता येनासौ सतीति व्यपदिश्यते । विनष्टस्य च कथमुत्पादः । आसीदिति चेत् । अन्यस्यापि भविष्यति । कः प्रागभावप्रध्वंसाभावयोर्विशेषः । अथवा अस्मिन् सतीदं भवतीति यस्य च भावेन भावलक्षणमित्यनेन सप्तमी । ततः सतीत्यनेन निमित्तभावमात्रं लक्ष्यते । न तु तदा सत्त्वं तदभावेन च भावलक्षणम् । भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति । लोके व्यवहारः । यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवं भूतमरिष्टमिति । न चोत्पादादिति कालविभागः । न खलु विभक्तयः कालविशेषविधायिन्यः कारकत्वमात्रप्रतिपादने सामर्थ्यात् । कारकत्वमेवासतः कथमिति चेत् । कथमंकुरो जायते । घटं करोतीति कर्तृकर्मभावः । बुद्धिस्थतया कारकत्वे नात्र तस्य काकैर्भक्षणम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—अतीत कारण कौन-सा विद्यमान है कि उसको 'सति' कहना वैध होता ? इसी प्रकार अतीत कार्य नष्ट हो जा चुका है, अतः उसके "अस्योत्पादाद् अस्योत्पादः" कैसे कहा जायगा ? यदि कहें कि वह भूतकाल में 'आसीत्'—ऐसा कह सकते हैं, तब भावी कार्य के लिए भी 'भविष्यति'—ऐसा कहना सम्भव क्यों न होगा ? इतनी ही तो विशेषता है कि वर्तमान में भावी कार्य का प्रागभाव और अतीत का ध्वंस, अविद्यमानता दोनों की समानता है ।

अथवा "अस्मिन् सतीदं भवति"—यहाँ सप्तमी विभक्ति "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" (पा. सू. २।३।३७) इस सूत्र के द्वारा विहित हुई है । [जिसका अर्थ है—जिस द्रव्य का भाव (क्रिया) अन्य भाव (क्रिया) का उपलक्षक हो, उस द्रव्य के वाचक पद के उत्तर सप्तमी विभक्ति होगी । जैसे "गोषु दुह्यमानासु रामो गतः" अर्थात् 'गौओं के दुहते समय राम गया'—यहाँ जैसे गोगत दोहन-क्रिया रामगत गमन-क्रिया का उपलक्षक है, वैसे ही] 'सति' इस पद के द्वारा कारणगत सत्ता में कार्यगत सत्ता का निमित्तभावमात्र (निमित्ततामात्र) उपलक्षित है, सदा सत्ता अपेक्षित नहीं, क्योंकि अविद्यमान (भूत और भावी) सत्त्व भी कार्य के सत्त्व का उपलक्षक माना जाता है । जैसा कि लोक-व्यवहार—'मृत्यप्रयुक्तमरिष्टम्' । अर्थात् यदि मृत्यु आनेवाली न होती, तो अरिष्ट कभी नहीं होते, अतः भावी मृत्यु अरिष्टों की प्रवर्तिका सिद्ध होती है एवं वे अरिष्ट भावी मृत्यु के सूचक होते हैं । यदि मृत्यु आनेवाली न होती तब वैसे अरिष्ट न होते ।"अस्योत्पादादस्योत्पादः"—यहाँ पञ्चमी विभक्ति कार्य-काल कारण-काल की भेदिका है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग" (पा० सू० २।३।५) इत्यादि विशेष विधानों को छोड़कर कारक-विभक्तियाँ कालविशेष का विधान नहीं करतीं, विभक्तियों का सामर्थ्य कारकत्वमात्र के प्रतिपादन में निहित होता है । भावी करणादि में कारकत्व (क्रिया-साधनत्व) ही क्योंकर बनेगा ?. इस प्रश्न के उत्तर में प्रश्न किया जाता है कि यदि भावी, वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब 'अङ्कुरो जायते" "घटं करोति"—इत्यादि कर्तृकर्म-व्यवहार क्योंकर होंगे ? अर्थात् अङ्कुर में जिस क्रिया (जनि) कर्तृता और घट में जिस क्रिया (करोति) की कर्मता व्यवहृत है, वह सब भावी बुद्धिस्थ मात्र है । लोक-व्यवहार उसीके आधार पर निभ जाता है । प्रकृत में भी वैसा ही (बुद्धिस्थ) क्रिया को लेकर कारकत्व-व्यवहार जो माना है, उसे क्या कौए काट खायेंगे ?

वार्तिकालङ्कारः

(१७) कारण-पदार्थः—

अथ यस्योपलम्भपूर्विका यस्योपलब्धिस्तत् कारणम्। तदप्यसत्।

यस्योपलब्धिः प्रथमं तत् तस्य यदि कारणम्। न खलान्तर्गतं बीजं हेतुः स्यादंकुरोदये ॥ ४४० ॥

अथ तज्जातीयस्य प्रथममुपलब्धिरिति तथोच्यते। कथमनुपलब्धस्य कारणत्वम्। न ह्यन्यस्योपलब्धावन्यस्योपलभ्यमानता। उपचरमात्रन्तु स्यात्। तस्मादुपलब्ध्या सत्तोपलक्ष्यते। तथा च स एवार्थः। अस्मिन् सतीति निमित्तभावः सत्तायाः। स चाव्यभिचारविषयत्वमेव। यस्य तु प्रागुपलब्धिरिति तु सर्वस्य तु पूर्वभाविनः कारणत्वप्रसङ्गः। अव्यभिचारविषयत्वे तदेव कारणत्वम्। अथाव्यभिचारविषयत्वे सति पूर्वाभावस्तदपि यत् किञ्चित्।

तद्भावभावितामात्राद् यदि कारणकार्यता। को विरोधस्तदा पूर्वपरभावः किमर्थकः ॥ ४४१ ॥

पूर्वपरभावस्य हि क्वोपयोगो न चानुपयोगवदपेक्ष्यते। अथापि स्यात्।

पूर्वत्वे कारणस्येष्टे उपादानं तदर्थिनाम्। परत्वे चानुमानं यत् सामर्थ्यात् तद् भविष्यति ॥४४२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(१७) कारण-पदार्थ—

शङ्का—"यदुपलब्धिपूर्विका यदुपलब्धिः, तत् तस्य कारणम्" अर्थात् घटादि कार्यों की उपलब्धि के पहले कुलाल के घर में दण्ड, चक्र, चीवरादि की उपलब्धि होती है, उसके पश्चात् घटादि की उपलब्धि होती है, अतः दण्डादि को घटादि का कारण कहा जाता है।

समाधान—कारण का उक्त लक्षण अयुक्त है, क्योंकि जिस पदार्थ की उपलब्धि जिससे पहले हो, यदि वह पदार्थ उसका कारण है तब खलियान में रखा बीज भी अंकुर की उत्पत्ति का कारण होना चाहिए ॥४४०॥ यद्यपि भावी कारण की उपलब्धि पहले नहीं होती, तथापि तज्जातीय व्यक्त्यन्तर की उपलब्धि कार्य के पूर्व काल में हो जाती है। इस प्रकार उपलब्धि को कारण-व्यक्ति का उपलक्षक मानने पर यह दोष अवश्य रह जाता है कि अविद्यमान और अनुपलब्ध व्यक्ति में भी कारणता माननी पड़ती है, जो कि युक्ति-युक्त नहीं क्योंकि उपलब्ध हो व्यक्त्यन्तर और कारण हो व्यक्त्यन्तर—ऐसी वस्तु-स्थिति सम्भव नहीं, हाँ, कारणता का उपचार (आरोप) अवश्य किया जा सकता है। अतः उपलब्धि को सत्ता का उपलक्षक मानना उचित है। फलतः वही (पूर्वोक्त) अर्थ ही सिद्ध होता है, जैसा कि "अस्मिन् सति, इदं भवति"—इस वाक्य का अर्थ करते हुए पूर्ववृत्ति सत्ता में निमित्तभाव दिखाया जा चुका है। सत्तागत निमित्तभाव का अर्थ—अव्यभिचार-विषयत्व। जिस वादी (नैयायिकादि) के मत में प्रागुपलब्धि को निमित्तभाव का उपलक्षक माना जाता है, उसके मतानुसार समस्त पूर्वभावी पदार्थों में कारणता प्रसक्त होती है। अव्यभिचारविषयत्व को विशेषण मानने पर भी वही अतिप्रसक्ति बनी रहती है। "यस्य भावे, यस्य भावः, तत् तस्य कारणम्"—यही यदि कार्यकारणभाव है, तब किसी भी पदार्थ में किसी भी कार्य की कारणता मानने पर क्या विरोध ? फलतः पूर्वपरभाव के नियम का क्या उपयोग ? ॥ ४४१ ॥ पूर्वपरभाव का जब कोई उपयोग नहीं, तब लक्षण में उसके निवेश की क्या आवश्यकता ?

शङ्का—कारण की पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने पर कार्यार्थी व्यक्तियों को उसके उपा-

वार्तिकालङ्कारः

पूर्वं हि कारणं कार्यार्थिनोऽप्यादातुं शक्यम्। ततः कारणस्य पूर्वभाव इष्यते। तद्यथा भाविपरलोकसाधनाय तत्प्राग्भाविवर्त्तमानेह लोकोपादानम्।

तदपि न युक्तं कारणत्वमपि तस्यास्त्येव न हि प्राग्भाविनः कारणत्वं न विद्यते। कार्यत्वमपि तु तस्य भाव्यव्यभिचारापेक्षया भवतीति भण्यते। यच्च कारणत्वे सत्युपादानं तत् कार्यत्वे भविष्यति। को हि विशेष उपादानेऽव्यभिचारमात्रेणोपादानमियता किन्न पर्याप्तम्। यच्चोक्तं समर्थकारणादेवानुमानं किन्तत्र कार्यत्वेन। तदसत्।

को हि हस्तगतं द्रव्यं पादगामि करिष्यति। परशुच्छेद्यतां को वा नखच्छेद्ये सहिष्यते ॥४४३॥

को हि हस्तगतं पादगतं कुर्यात्। नखच्छेद्ये वा कुठारच्छेद्यतां प्रतीक्षेत।

कार्यत्वेनैव मुख्येन गमकत्वे क्रमाद् ऋजोः। यत्नसाध्यकारणत्वे गमकत्वमनर्थकम् ॥ ४४४॥

तस्मादनागतस्यापि कारणत्वमव्यभिचारादिति युक्तमेतत्। उक्तन्तावदर्थद्वारेण

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दान (संग्रह) में प्रवृत्ति हो जाती है एवं कार्य में परभावित्व का अनुमान भी पूर्वभावी कारण-सामर्थ्य से हो सकेगा ।।४४२।। घटादि कार्यों की अभिलाषा रखनेवाले व्यक्तियों के द्वारा पूर्वभावी मृत्पिण्डादि का ही उपादान किया जा सकता है, अतएव कारण का कार्य के अव्यवहित पूर्व होना अनिवार्य माना जाता है, जैसे कि परलोक-साधन के लिए पूर्वभावी इहलोक (ऐहिक पुण्योपार्जन) उपादेय होता है।

समाधान—उक्त शङ्का अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि कारणत्व तो उसमें है ही, पूर्ववर्ती पदार्थ में कारणत्व नहीं—ऐसा कोई नहीं कहता। भावी कार्य से अव्यभिचरित होने के कारण पूर्वभावी पदार्थ में कारणत्व कहा जाता है।

यह जो कहा गया कि पूर्वभावी पदार्थ में कारणत्व अवगत होनें पर उसका उपादान (ग्रहण) होगा ? कारणता की अवगति कार्य-कारणभाव की अवगति पर निर्भर है।

वह कहना भी कोई विशेष अर्थ नहीं रखता, क्योंकि कार्याव्यभिचारी पदार्थ में रहनेवाली कारणता से पूर्ववर्तिपदार्थगत कारणता में क्या विशेषता ? क्या वह कारणता पर्याप्त (सक्षम) नहीं ?

यह जो विगत ४४२ वें श्लोक में कहा गया है कि दण्डादि सामग्री में पूर्वभावित्वरूप समर्थ कारणत्व धर्म के द्वारा दण्डादि में उपादेयत्व का अनुमान होता है, कार्यत्व (कार्याव्यभिचारित्व) के द्वारा नहीं। वह कहना नितान्त अयुक्त है, क्योंकि जो वस्तु हाथ के समीप है, उसे पैरों से कौन पकड़ेगा ? अर्थात् सुगम पदार्थ को दुर्गम बनाना बुद्धिमत्ता नहीं। जिस कोमल पदार्थ को नाखूनों से काट सकते हैं, उसके लिए परशु (कुल्हाड़ा) कौन उठाएगा ? ।।४४३।। हस्त-प्राप्य वस्तु के लिए पैरों का व्यायाम जैसे निरा निरर्थक है, वैसे ही नख द्वारा छेद्य वस्तु के लिए कुठार से काटने का प्रयास व्यर्थ है। जबकि कार्यत्व (घटादिगत मृत्पिण्डादि की कार्यता) के ज्ञान से ही मृत्पिण्डादि में उपादेयता का ज्ञान सरल रीति से हो जाता है, तब कार्याव्यभिचारित्व से कार्य-पूर्ववृत्तित्व और कार्यपूर्ववृत्तित्व के द्वारा अवगत कारणता के माध्यम-परम्परा से उपादेयता का ज्ञान करना अतिवक्र मार्ग का अनुसरण करना होगा ।।४४४।। फलतः कार्याव्यभिचार के द्वारा कारणता की अवगति भावी कारण में भी हो सकती है, पूर्वभावित्व के द्वारा नहीं।

अस्तूपकारको वापि कदाचित् चित्तसन्ततेः ।
वह्न्यादिवद् घटादीनां विनिवृत्तिर्न तावता ॥ ५२ ॥

चार्वाक शरीर को ही चेतना का जनक मानते हैं, अतः शरीर की निवृत्ति हो जाने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है, फलतः परलोक सिद्ध नहीं होता। इस पर परलोकवादियों का कहना है कि यद्यपि शरीर चित्त का जनक नहीं, तथापि जैसे अग्नि घट की उपकारक (पकानेवाली) है, वैसे ही शरीर चित्त का उपकारक मात्र है, अतएव जैसे अग्नि की निवृत्ति से घट की निवृत्ति नहीं होती, वैसे ही शरीर की निवृत्ति से चित्त की निवृत्ति नहीं होती, दूसरे शरीर में चित्त-संचार होता है, फलतः पूर्वलोक और परलोक सिद्ध हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

अनिवृत्तिप्रसङ्गश्च देहे तिष्ठति चेतसः ।
तद्भावभावाद् वश्यत्वात्प्राणापानौ ततो न तत् ॥ ५३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

विक्रिया देहान्न चक्षुरादिवदाश्रयत्वद्वारिका। अभ्युपगम्येदानीमुच्यते—अस्तूपकारक इति।

कदाचिदाश्रयत्वेनोपकारकत्वेऽपि देहस्य तावता न देहनिवृत्तौ विनिवृत्तिश्चित्तसन्ततेः। नोपकारक इत्येव निवर्त्तको भवत्युपकार्यस्य न वह्न्यादेरासादितोपकारकविशेषस्य घटादेर्वह्न्यादिनिवृत्तौ नियमेन निवृत्तिः सुवर्णादेर्वा द्रवता लक्षणविशेषासादनेऽपि चित्रभानोर्न तन्निवृत्तौ निवृत्तिः।

यदि नाम स एव विशेषो द्रवतादिलक्षणो निवर्त्तते सुवर्णं तु तदवस्थमेव। यस्य चित्तं कारणं चेतसस्तस्य देहस्य तदवस्थस्य भावेऽपि तद्वैगुण्यान्निवृत्तिः। केवलदेहकारणत्वे बाधकमुक्तम्। अपरमप्युच्यते—अनिवृत्तिप्रसङ्गश्चेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इससे यह सिद्ध हो गया कि चक्षुरादिगत विकार के द्वारा जो चित्त में विकार देखा जाता है, उससे चक्षुरादि में चित्त की आश्रयता स्थिर नहीं होती, अपितु निमित्तकारणतामात्र [अर्थात् चक्षुरादिगत विकार के द्वारा पूर्वचित्त-सन्तति में विकार और उसके द्वारा उत्तरोत्तर चित्तसन्तति में विकार उत्पन्न होता है, साक्षात् नहीं]।

अब चक्षुरादिगत विकार से साक्षात् चित्त में विकार की उत्पत्ति को स्वीकार करके कहा जाता है—"अस्तु इत्यादि"। अर्थात् देह कदाचित् चित्त-सन्तति का आश्रय होकर उपकारक माना जा सकता है—एतावता देह की निवृत्ति होने पर भी (जन्मान्तर में) चित्त-सन्तति की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कोई पदार्थ किसी का कभी कथञ्चित् उपकारक हो गया इतने मात्र से उसकी निवृत्ति से उपकार्य वस्तु की निवृत्ति हो जायगी—ऐसा नहीं हो सकता, अन्यथा घटादि के पाक में उपकारक वह्नि की निवृत्ति से घटादि की भी निवृत्ति हो जायगी। वैसे ही सुवर्ण में द्रवत्वरूप विशेषता के निमित्त कारणभूत अग्नि की निवृत्ति से सुवर्ण की निवृत्ति हो जायगी। यदि द्रवत्वरूप विशेषता ही निवृत्त होती है, सुवर्ण तो तदवस्थ ही रहता है, तब द्रवत्व को ही अग्नि का उपकार्य मानना होगा, सुवर्ण को नहीं। उसी प्रकार देह चित्त-कारण नहीं, अपितु चित्तगत साद्गुण्य का देह के तदवस्थ रहने पर चित्त की निवृत्ति न होकर देहगत वैगुण्य से चित्त का साद्गुण्य ही निवृत्त होगा।

केवल देह को चित्त का कारण मानने में एक बाधक दिखाया गया। बाधक

शरीर ही यदि चित्त का जनक है, तब मृतावस्था में भी शरीर के रहते-रहते चित्त (चैतन्य) की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। मृत शरीर में भी यदि चित्त या चेतना है, तो मरण कैसा ? तद्भाव (चित्त का भाव) होने पर प्राणापान का भाव और चित्त का अभाव होने से प्राणापान का अभाव देखा जाता है, अतः चित्त ही प्राणापान का कारण सिद्ध होता है, प्राणापान चित्त के कारण सिद्ध नहीं होते। प्राणापान चित्त के वशीभूत हैं, इससे भी चित्त ही प्राणादि का कारण स्थिर होता है। यहाँ 'प्राणापान' शब्द के द्वारा श्वास-प्रश्वास का ग्रहण व्याख्याकार को सम्मत है ॥५३॥

वार्तिकालङ्कारः

देहाभावे भस्मावस्थायां भवतु निवृत्तिः कारणाभावात्। देहे तु तथाभूत एव निष्ठति न निवृत्तियोगः। अन्यथापि च। सर्वावस्थानुयायित्वाच्च।

अथ प्राणापानकार्यतापि तस्य ततस्तद्वैकल्यात् निवृत्तिरिति। तदप्ययुक्तम् प्राणापानौ चित्तादेव न ततश्चित्तमिति न परिहारः। कुत एतदिति चेत्। तदत्र भावभावात्। चित्ते सति तयोर्भाव इति न विपर्ययः। वश्यत्वाच्च प्राणापानाभ्यां न तत्। यदि चित्तकारणं प्राणपानौ तदा तद्वशौ न स्यातामुपलभ्यते च चित्तवश्यता तयोः। यदि चान्यत उत्पन्नो तदा तत एव तदुत्पत्तिरिति चित्तमकिञ्चित्करमेव स्यात्। न खल्वन्याधीनमन्येन वशयितुं शक्यम्। तयोः स्वकारणाधीनयोश्चित्तं परिच्छेदकमेव केवलं भवेत्। अथ चित्तसहकारि तयोः कारणं तौ जनयेत्। चित्तमपि तर्हि तयोः कारणमिति न ताभ्यामुत्पद्यते। अथान्यतोऽपि मूलत उत्पन्नौ प्राणापानौ चित्तेन नियम्येते यथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कान्तर दिखाया जाता है—"अनिवृत्तिप्रसङ्गेत्यादि"। अर्थात् देह यदि चित्तसन्तति का कारण है, तब देह की निवृत्ति (भस्मसात्) हो जाने पर चित्त की निवृत्ति न्याय-प्राप्त है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं रह सकता, किन्तु देह के यथावत् रहने पर चित्त की निवृत्ति उचित नहीं ठहराई जा सकती, जैसा कि मृत देह में देखा जाता है। दूसरी बात यह भी है कि देह जाग्रतादि सभी अवस्थाओं में अनुगत है और देहमात्र ही चित्त का हेतु है, अतः सभी अवस्थाओं में चित्त को भी रहना चाहिए।

शङ्का—केवल देह चित्त का कारण नहीं, अपितु प्राणापान-सहित देह। मृतावस्था में प्राणापान रूप सहकारी कारण के न रहने से चित्त भी नहीं रहता।

समाधान—प्राण और अपान चित्त के न तो सहकारी कारण हैं और न प्रधान कारण, उलटे चित्त ही प्राणापान का कारण है, क्योंकि "तद्भावभावात्" अर्थात् चित्त के रहने पर ही प्राण और अपान रहते हैं, अन्यथा नहीं। दूसरा कारण है—"वश्यत्वात्"। अर्थात् प्राण और अपान-दोनों चित्त के वश में हैं, चित्त उनके वश में नहीं। यदि प्राणापान चित्त के कारण होते, तब वे दोनों चित्त के वश में न होते, किन्तु प्राणापान चित्त के वशीभूत हैं—ऐसी अनुभूति होती है। प्राण और अपान यदि चित्त को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न होते, तब उसी के वश में होते, चित्त अकिञ्चित्कर ही रह जाता, क्योंकि अन्य के अधीन वस्तु अन्य के वश में हो—ऐसा कभी हो नहीं सकता। यदि प्राणापान अन्य के अधीन होते तो चित्त केवल अन्याधीनता का प्रकाशक मात्र होता प्राणापान का जनक नहीं। यदि प्राण और अपान का चित्त सहकारी कारण है, तब भी वह प्राणापान का जनक ही होगा, उनसे जन्य नहीं।

प्रेरणाकर्षणे वायोः प्रयत्नेन विना कुतः।
निर्ह्रासातिशयापत्तिर्निर्ह्रासातिशयात् तयोः ॥ ५४ ॥

वायु का प्रेरण (प्रश्वास) और आकर्षण (श्वास) ये दोनों क्रियाएँ किसी चेतन-तत्त्व के प्रयत्न से ही सम्पन्न हो सकती हैं, उसके बिना कैसे सम्भव हो सकेंगी ? चित्त की क्रिया का नाम चेतना है—"चेतना मानसं कर्म" (अभि० व्यो०)। इस प्रकार चित्त ही प्राण और अपान का कारण सिद्ध होता है। इसके विपरीत यदि प्राणापान को चित्त का कारण माना जाता है, तब चित्त में निर्ह्रास (मन्दता) और अतिशय (तीव्रता) की प्रसक्ति होगी, क्योंकि चित्त के कारणीभूत प्राणापान में उक्त दोनों धर्म पाये जाते हैं। कारण के धर्म ही कार्य में प्रतिफलित होते हैं ॥ ५४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्वामिना भृत्यः। तदसत्।

भृत्यस्यान्यत उत्पत्तिर्दृश्यते न पुनस्तयोः। न चित्तमन्तरेणास्ति तयोरुत्पत्तिरन्यतः ॥ ४४५ ॥

न हि प्राणापानौ चित्तमन्तरेण दृश्येते भृत्यवद्। अतो नान्यतः कारणादिति चित्तमेव कारणमिति न ताभ्यान्तत्।

अथापि स्यात्। स्वापावस्थायां प्राणापानयोर्भावात् न चित्तकारणत्वमनयोः। न हि तत्र तथाभाव एव हि। अनन्यहेतुतामेव दर्शयति—प्रेरणाकर्षणे वायोरिति।

यदि प्राणापानकार्यं चैतन्यं तदा प्रेरणाकर्षणे वायोः प्रयत्नेन विना स्याताम्। न चैवं प्रेरणाकर्षणरूपत्वात् तयोः। अथ प्रेरणाकर्षणमेव तयोश्चित्ताधीनं न स्वरूपं न स्वरूपमन्यतः कारणादिति तच्चित्तं ततः प्रेरणाकर्षणे। तदप्यसत्।

मृतस्यापि स वायुश्चेच्चेतना किं निवर्त्तते। स चेदकारणन्तस्याः कायः कारणमागतः ॥ ४४६ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि कहा जाय कि चित्त अपने किसी अन्य मूलकारण से उत्पन्न होता है किन्तु चित्त उनका वैसे ही नियामक है, जैसे स्वामी अपने दास का। तो वैसा कहना उचित न होगा, क्योंकि भृत्य की तो अन्य व्यक्ति से उत्पत्ति देखी जाती है किन्तु चित्त को छोड़कर अन्य किसी से प्राणापान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती ॥ ४४५ ॥ प्राण और अपान चित्त के बिना अन्य किसी से उत्पन्न होते प्रतीत नहीं होते, फलतः चित्त से ही प्राण और अपान उत्पन्न होते हैं, उनसे चित्त नहीं।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्था में प्राण और अपान तो होते हैं किन्तु चित्त नहीं, तब उनमें चित्तकारणकत्व क्योंकर बन सकेगा ?

समाधान—प्राण और अपान का चित्त ही कारण है, यह दिखाते हैं—"प्रेरणाकर्षण इत्यादि।"

यदि चैतन्य प्राणापान का कार्य है, तब तो प्राणन (अन्दर की वायु का प्रेरण-निःसारण) तथा अपानन (बाह्य वायु का अन्दर खींचना)—ये दोनों बिना प्रयत्न के ही होना चाहिए। [यहाँ प्रश्वास को 'प्राण' और श्वास को 'अपान' पद से अभिलक्षित किया गया है]। प्रयत्न के बिना श्वास-प्रश्वास हो नहीं सकता। यदि कहा जाय कि प्राणापान का स्वरूप प्रयत्न-निरपेक्ष है, केवल उनका प्रेरण और आकर्षण ही चित्त के अधीन है, अर्थात् प्राणापान का स्वरूप अन्य कारण से उत्पन्न होता है, प्राणापान के स्वरूप से चित्त और चित्त से प्राण और आकर्षण सम्पन्न होते हैं। तो वैसा कहना

तुल्यः प्रसङ्गोऽपि तयोर्न तुल्यं चित्तकारणे ।
स्थित्याबेधकमन्यत्र यतः कारणमिष्यते ॥ ५५ ॥

अपि च देह के रहने पर तयोः (प्राण और अपान की) अनिवृत्ति की प्रसक्ति भी चित्तानिवृत्ति-प्रसङ्ग के ही समान है, क्योंकि प्राणापान का भी हेतु देह ही है। फलतः मरण के समय प्राणापान की अनिवृत्ति होने के कारण चित्त की अनिवृत्ति की आपत्ति जैसी-की-तैसी है किन्तु चित्त का पूर्व चित्त को ही समनन्तर प्रत्यय मान लेने पर उक्त आपत्तियाँ नहीं रहतीं, क्योंकि देह में चित्त की स्थिति का आवेधक (आक्षेपक) कर्म ही उसका नियामक माना जाता है, कर्माक्षिप्त समय की समाप्ति होने पर चित्त उस देह में नहीं रह सकता ॥ ५५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि स्थिरो वायुर्न कारणं चेतनायाः । अनिवृत्तिरेव प्रसक्ता चेतसः । अथापि कारणं तथापि मृतस्यापि स्थिरता वायोरस्तीति । प्राणापानौ च कार्यरूपाविति न तदभावान्निवृत्तिश्चेतस इति अनिवृत्तिप्रसङ्गः । प्राणापाननिर्ह्रासातिशयाभ्याञ्च चेतसो निर्ह्रासातिशयौ प्राप्नुतः । तत्कार्यत्वादवश्यं कारणे परिहीयमाणेऽतिबर्द्धमाने वा कार्यस्य हानिरुपचयश्च भवेदन्यथा कारणन्तदिति न स्यात् ।

भवेतां वा प्राणापानौ चेतसः कारणन्तथापि देहे तिष्ठति चेतसोऽनिवृत्तिप्रसङ्गः । तयोरपि प्राणापानयोरनिवृत्तेः । तयोरपि देहकार्यत्वादनिवृत्तिरेव । तदनिवृत्तेश्चेतसोऽप्यनिवृत्तिरिति ।

स्यादेतत् । चेतः कारणेऽपि चेतस्ययमेव प्रसङ्गः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उचित नहीं, क्योंकि मृत शरीर में भी यदि प्राण हैं, तब चित्त या चेतना की निवृत्ति क्यों ? यदि प्राणवायु चित्त का कारण नहीं, तब शरीर को चेतना का कारण मानना होगा ॥ ४४६ ॥

यदि स्थिर वायु चित्त का कारण नहीं, तब शरीर को कारण कहना होगा, अतः मृत शरीर से चित्त (चेतना) की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए और यदि स्थिर वायु चेतना का कारण है, स्थिर वायु की सत्ता तो मृत शरीर में भी है, अतः उसमें चेतना भी प्रसक्त होती है। चित्त कारण है—प्राण और अपानरूप अस्थिर या सक्रिय वायु का, अतः प्राण और अपान का भी अभाव वहाँ नहीं होना चाहिए। एवं प्राणापानरूप कार्य में उत्कर्षापकर्ष चित्तरूप कारण के उत्कर्षापकर्ष से उत्पन्न होकर चित्त में उत्कर्षापकर्ष-शीलता सिद्ध करता है, क्योंकि कारण के परिहीयमाण (अपकृष्ट) होने पर कार्य में अपकर्ष और कारण की अभिवृद्धि से कार्य में उत्कर्ष आता है, अन्यथा [चित्त यदि उत्कर्षापकर्ष-रहित है, तब] वह प्राणापान का कारण ही नहीं हो सकेगा। तुल्येत्यादि।

प्राणापान को यदि चित्त का कारण मान भी लिया जाता है, तब भी देह के रहते-रहते चित्त की अनिवृत्ति का प्रसङ्ग बना ही रहता है, क्योंकि प्राण और अपान भी देह के कार्य हैं। देह की अनिवृत्ति से प्राणापान की अनिवृत्ति और प्राणापान की अनिवृत्ति से चित्त की अनिवृत्ति तर्क-संगत है।

शङ्का—(पूर्व) चित्त को भी (उत्तर) चित्त का कारण मान लेने पर यह

वार्तिकालङ्कारः

अनिवृत्तिप्रसङ्गश्च चित्ते तिष्ठति चेतसः । चेतसो न च पूर्वस्य तत्पूर्वेऽष्टौ निवर्त्तनम् ॥ ४४७ ॥

अत्रोच्यते—"न तुल्यं चित्तकारणे । स्थित्यावेधकमन्यच्च यतः कारणमिष्यते ।" अन्यदपि तद्देहसतृष्णकर्मसंज्ञितं कारणमिष्यते ।

न हि पूर्वचित्तसत्तामात्रकादेव चित्तमुत्पद्यते । तदपरस्यापि संस्कारबीजसंज्ञितस्याविद्यादिरूपस्य कारणत्वात् तस्य पूर्वचित्तप्रबोधने तत्र चित्तोत्पत्तिरन्यत्र वा चित्रत्वाद् वासनाभेदानां प्रबोधकानाञ्च । तद्यथा—न सिद्धसम्बन्धमात्रादेव नानाप्रकारस्वप्नदर्शनम् । समानेऽपि हि सिद्धसमागमे कदाचिदेव किंचित् स्वप्नदर्शनं भवति वासनाप्रबोधचित्रत्वात् । वासनाप्रबोधचित्रत्वाद्धि निवृत्तिर्न तु देहमात्रकारणत्वेऽप्येवमेव दृष्टत्वादिति कुत एतत् ।

चित्तस्य वासनादृष्टेरन्यथयोऽनुपपत्तितः । स्वप्नविज्ञानवत् सर्वं वासनाबोधकारणम् ॥ ४४८ ॥

यदि देहसिद्धमात्रमेव कारणं सर्वेषां सर्वदा समानं स्वप्नदर्शनं प्रसक्तम् । कस्यचित्तु किंचिदुपलभ्यत इति वासनासङ्गमकृतमेव तदिति युक्तम् । वासनानामनेकाकारत्वात् । ततः सकलमेव चित्तं तत्र देहेऽन्यत्र च वासनाप्रबोधविहितव्यतिकरं नान्यथा सम्भावनीयम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतिप्रसङ्ग बना रहता है, क्योंकि चित्त के रहने पर चित्त की निवृत्ति क्योंकर होगी ? पूर्वचित्त की निवृत्ति से पहले कार्यचित्त की निवृत्ति अभीष्ट नहीं ॥ ४४७ ॥

समाधान—उक्त शङ्का का निरास करने के लिए ही वार्तिककार ने कहा है—"न तुल्यं चित्तकारणे । स्थित्यावेधकमन्यच्च यतः कारणमिष्यते ।" अर्थात् केवल चित्त को चित्त का कारण न मानकर अन्य भी एक कर्मसंज्ञक कारण माना जाता है । आशय यह है कि पूर्वचित्त की सत्ता मात्र से उत्तरचित्त उत्पन्न नहीं होता, अपितु अविद्या संस्कारादि द्वादशाङ्गों में परिगणित संस्कारसंज्ञक अदृष्टरूप कर्म सहकारी कारण है । जैसे क्षिति-सलिलादि के सम्बन्ध से उद्बोधित बीज अङ्कुरादि का जनक होता है, वैसे पूर्वचित्त से उद्बोधित उक्त कर्म उत्तरचित्त का उत्पादक होता है । उद्बोधकों एवं कर्मों का स्वभाव विचित्र होता है, अतः कर्म के द्वारा उत्तरचित्त का आरम्भ कभी उसी शरीर में होता है और कभी शरीरान्तर में । जैसे कि केवल सिद्ध (अनुभूत) वस्तु के संस्कार ही विचित्र स्वप्नों के जनक नहीं होते, क्योंकि एक प्रकार के संस्कार देश-कालादि के भेद से विविध स्वप्नों का जनक होता है । वासना और उसके प्रबोधक पदार्थों के भेद से ही चित्त की उत्पत्ति, स्थिति और निवृत्ति होती है, देह की कारणता पर चित्त की स्थिति निर्भर नहीं, क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है । वासना और उसकी दृष्टि (उद्बोधना) के द्वारा अंकित सीमाओं का अन्यथाकरण चित्त कभी वैसे ही नहीं कर सकता, जैसा स्वाप्न विज्ञान । वस्तुस्थिति यह है कि समस्त चित्त वासना और उसके उद्बोधक का कार्य है ॥ ४४८ ॥

यदि केवल देहरूप सिद्ध पदार्थ ही चित्त का कारण होता, तब सभी व्यक्तियों को सर्वदा समान ही स्वप्न-दर्शन होता, किन्तु किसी को कभी कुछ और कभी कुछ स्वप्न में दिखाई देता है, वह सब वासना-वैचित्री की देन है । सारांश यह है कि सकल चित्त चाहे इस देह का हो, चाहे देहान्तर का, वासना और उसके प्रबोधक कारण-कलाप के द्वारा उसकी कक्षा और गति-विधि निर्धारित है, वह अन्यथा सम्भावित नहीं ।

वार्तिकालङ्कारः

(१८) वासनाबलादुत्पत्तिः—

अथ वासनाबलादुत्पत्तिमासादयदसत्यमेव स्वप्नवत् । तदप्यसत्यम् ।

वासनाबलभावेऽपि प्रपञ्चः सुरतादिकः । नासत्यः स्वार्थनिष्पत्तेः सत्यार्थक्रियाकृताम् ॥ ४४९ ॥

वासनाबलमवलम्ब्यमाना हि सुरतादिव्यवहाराः समीहितार्थक्रियाकरणप्रवणप्रवर्त्तनाः किमसत्यताव्यतिकरव्यस्तात्मानः ।

अथ वासनान्वयिनोऽपि सुरतादिव्यवहाराः सत्यस्त्र्यादिसमन्वयिन इति नासत्याः जन्मादिव्यवहारा अपि तथेति समानम् । तेषामपि तत्र सत्यशरीरान्तरोत्सङ्गोपादानतेति नासत्यता । तथा हि शुक्रशोणितोपजनितं शरीरान्तरमुपादाय जन्म प्रवर्त्तते वासनाबलभावेऽपि । कथं शरीरान्तरसंचरणमुपलभ्यतामन्तरेण । वृद्धादिशरीरावस्थासंचरणवत् ।

एकोपादानभावेन तदेकत्वव्यवस्थितेः । शरीरान्तरसञ्चारो न भवत्येव तादृशः ॥ ४५० ॥

एकशुक्रशोणितोपादानमेव शरीरं तदिति न शरीरान्तरसञ्चारः । पश्वादिशरीरन्तु शुक्रशोणितान्तरादुत्पन्नं शरीरान्तरम् । तथाभूते च न सञ्चारो दृष्टस्तत् कथं सम्भाव्यते ।

न शरीरान्तरत्वस्य तथापि व्यतिरेकिता । विलक्षणत्वं तत्त्वस्य निवर्त्तकमितीष्यते ॥ ४५१ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(१८) वासनाबलादुत्पत्तिः—

यह जो शङ्का की जाती है कि यदि चित्त की उत्पत्ति केवल वासना (संस्कारों) के द्वारा होती है, तब चित्त स्वाप्न-प्रपञ्च के समान असत्य क्यों नहीं ? वह शङ्का अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि यद्यपि स्वाप्न स्त्री-संगम केवल वासना से जनित है, तथापि असत्य नहीं, क्योंकि अर्थक्रियाकारी है ॥४४९॥ अर्थात् स्वप्न में सुरत (काम-क्रीड़ा) आदि व्यवहार केवल वासना के बल पर ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु असत्य नहीं, अपितु समीहित (अभीष्ट) अर्थ (प्रयोजन) के साधक होने से असत्य नहीं कहे जा सकते ।

यदि कहा जाय कि स्वाप्न सुरत-क्रीडा आदि व्यवहार पूर्ववासना-प्रसूत होने पर भी सत्य स्त्री आदि से समन्वित होने के कारण असत्य नहीं, तब तो चित्त की च्युति (मृत्यु) और उपपत्ति (उत्पत्ति) आदि व्यवहार भी सत्य ही मानने पड़ेंगे, क्योंकि वे भी सत्य शरीर के त्याग और सत्यशरीरान्तर से समन्वित हैं। आशय यह कि सत्यभूत शुक्र और शोणित से जनित एक शरीर का त्याग और वैसे ही शरीरान्तर का ग्रहण क्रमशः मरण और जन्म कहलाता है। चित्तस्कन्ध एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तर में सञ्चार करता है–इस तथ्य की उपलब्धि कैसे होती है ? इस प्रश्न का उत्तर है–"वृद्धादिशरीरावस्थासञ्चरणवत्" । अर्थात् जैसे बाल्यावस्थापन्न शरीर को छोड़कर चित्त वृद्धावस्था वाले शरीर में सञ्चरण करता उपलब्ध होता है. वैसे ही शरीरान्तर में सञ्चरण करता है । एक शुक्र-शोणित से उत्पन्न शरीर मरणपर्यन्त एक शरीर माना जाता है, उसमें चित्त का जैसा सञ्चार होता है, वैसा शरीरान्तर में नहीं होता ॥४५०॥ अर्थात् एक शुक्र-शोणित से उत्पन्न शरीर 'एक' या 'तत्' कहलाता है, उसमें चित्त का सञ्चार शरीरान्तर-सञ्चार नहीं माना जाता । मनुष्य-शरीर के पश्चात् प्राप्त पश्वादि-शरीर अन्य शुक्र-शोणित से उत्पन्न होने के कारण शरीरान्तर कहलाते हैं । ऐसे शरीरान्तरों में चित्त का सञ्चार देखा नहीं जाता, अतः उसकी सम्भा-

वार्तिकालङ्कारः

बालादिभावेन हि कुमारादिशरीरं न तदेकमिति शक्यं वक्तुम्। तत्र सञ्चारो दृष्ट एव। तत्सहचारितयोत्पत्तिरेव तत्र संचारः। वासनाबलाच्च तथोत्पत्तिरित्यविरोधः।

अथ विलक्षणशरीरान्तरसंचारो न दृष्टः। तदपि स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनादनैकान्तिकम्। तस्यालीकत्वादसञ्चार एवासाविति चेत्। न, दृश्यमानस्यालीकत्वायोगात्। यथैव हि तस्यासत्यत्वं तथा तत्र सञ्चारोऽपि। किमिदमसत्यत्वं नाम। बाध्यमानत्वं जाग्रत्प्रत्ययेनेति चेत्। यदा स प्रत्ययस्तदा स न बाध्यते। अन्यदा तु बाध्यत इत्ययुक्तम्। तदैव जाग्रतानोपलभ्यत इति चेत्। तेनापि जाग्रत्प्रत्ययोपलब्धो नोपलभ्य इति समानो बाध्यबाधकभावः। अथ प्रबोधे नोपलभ्यते। प्रबोधाप्रबोधयोः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बना क्योंकर हो सकती है? बाल्यावस्थापन्न शरीर की अपेक्षा युवावस्था के शरीर में यद्यपि शरीरान्तरत्व है, शरीरान्तरत्व का व्यतिरेक (अभाव) नहीं, तथापि यहाँ 'शरीरान्तर' शब्द से विलक्षण या विजातीय शरीर विवक्षित है।।४५१।। [इस प्रकार शङ्कावादी का तात्पर्य यह है कि—मनुष्य-शरीर के पश्चात् लब्ध पश्वादिरूप विलक्षण (विजातीय) शरीरों में चित्त का सञ्चार नहीं देखा जाता, तब जन्मान्तर की सम्भावना कैसे की जाय? इस शङ्का का जो संक्षिप्त समाधान किया गया "वृद्धादिशरीरावस्थासञ्चरणवत्" उसका ही स्पष्टीकरण किया जाता है—] बाल, युवा और वृद्ध रूपों में परिणममान यह शरीर न 'तत् शरीरम्' कहा जा सकता है और न 'एकं शरीरम्'। अपितु भिन्न-भिन्न या अनेक हैं—ऐसा कहा जा सकता है, उनमें चित्त का सञ्चरण दृष्टचा है। तत्तदवस्थाओं से सहचरित चित्त-सन्तान की जो उत्तरोत्तर उत्पत्ति है, वही सञ्चार है। वासना के बल पर उत्तरोत्तर उत्पत्ति होती है, फलतः जन्म-जन्मान्तर के सञ्चरण में किसी प्रकार की बाधा या विरोध उपस्थित नहीं होता।

यह जो कहा जाता है कि विलक्षण (विजातीय) शरीर में सञ्चार देखा नहीं जाता, वह कहना भी असत्य है, क्योंकि स्वप्न के मध्य में देवदत्त अपने विविध शरीरों का धारण करना और उसमें स्वयं संचरण करता हुआ अनुभव करता है। यदि कहा जाय कि स्वप्न में प्राप्त विलक्षण शरीर अलीक हैं, उनमें अनुभूयमान आत्मान्वय संचार नहीं कहा जा सकता। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि स्वप्न-विलक्षण-शरीर दृश्यमान होने के कारण अलीक नहीं कहे जा सकते। स्वाप्न शरीरों में जैसी असत्यता है, वैसा ही उनमें संचार।

यह असत्यत्व क्या है?

जाग्रत् ज्ञान के द्वारा स्वाप्न ज्ञान का बाधित होना ही स्वाप्न ज्ञान की असत्यता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जब स्वाप्न ज्ञान है, तब जाग्रत् ज्ञान नहीं और जब जाग्रत् ज्ञान है, तब स्वाप्न ज्ञान नहीं, बाध किसका होगा? जब स्वाप्न प्रत्यय (ज्ञान) है, तब तो उसका बाध नहीं और जब वह नहीं, तब उसका बाध होना है—यह तो एक विस्मयावह पहेली है। देवदत्त को स्वप्न में गज दिखाई देता है, उसी समय जागते हुए यज्ञदत्त को वहाँ गज उपलब्ध नहीं, अतः यह बाध उसी समय हो रहा है, अतः स्वाप्न असत्य है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यज्ञदत्त को जो जाग्रदवस्था घटादि प्रतीत होते हैं, वे भी तो बाहर उपलब्ध नहीं होते, अतः इस प्रकार का बाध तो सत्य और

वार्तिकालङ्कारः

कथं विवेकः। प्रबुद्धोऽहमिति प्रत्ययोत्पत्तेः प्रबुद्धोऽहमिति प्रत्ययः स्वप्नेऽपि भवतीति कथन्ततो विवेकः। तस्मात् समाने उपलम्भे नाभावोऽसत्यता वा युक्ता।

अथ वासनादौर्बल्यादचिरस्थायिताऽसाधारणोपलम्भो दौर्बल्यलक्षणोऽसत्यत्वम्।

यत्र तर्हि वासानादाढ्र्यं तत्र विपर्यय इति सत्यता संचारस्य। साधारणोपलम्भे च।

तथा हि वासनादाढर्च्यान्न परोऽसत्यतोदयः। वासनादाढर्च्यमात्रेण सत्यता जाग्रतो विदाम् ॥४५२॥

यत्र वासनादाढ्र्यं स जाग्रत्प्रत्ययः। सत्यश्च साधारणोपलम्भश्च। स्वरूपेण तु तदस्त्येव ततः सिद्धः संचारः। दाढर्च्याभावात्तु झटिति विघटनम्। यत्र च देवतादेशो द्वयोरपि स्वप्नदर्शिनोः प्रतिभासते तत्र कथमसत्यता।

अथ तदा सत्यतैव तथा सति न स्वप्नार्थस्य सकलस्यासत्यता। तथा सति—

सञ्चारस्य प्रसिद्धत्वाद् विशेषपरिकल्पनात्। विकल्पसममेवं हि जात्युत्तरमिदं स्फुटम् ॥४५३॥

अथवा जन्मादौ चित्तसंस्कारफलस्य पाटवस्योपलम्भान्मरणान्तरं संचार इति प्रतीतम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

असत्य—दोनों का समान है [ज्ञान की निरालम्बनता सिद्ध करते हुए बाह्य पदार्थ का बाध आगे चल कर कहा जायगा]। यह जो कहा गया कि प्रबोध अवस्था में स्वाप्न पदार्थ उपलब्ध नहीं होते। वहाँ प्रबोध और अप्रबोध का क्या अन्तर? "प्रबुद्धोऽहम्"—इस प्रकार का ज्ञान तो जाग्रत् (प्रबोध) के समान स्वप्न (अप्रबोध) में भी होता है। तब स्वप्न से प्रबोध (जाग्रत्) में क्या विशेषता? फलतः स्वप्न में विषयाभाव या असत्यता मानना युक्ति-युक्त नहीं।

(ख) स्वाप्न ज्ञान (गजादि का भान) दुर्बल वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण चिरस्थायी नहीं और असाधारण है अर्थात् जो व्यक्ति वहाँ सो रहा है, केवल उसी को गजादि का भान होता है, अन्य किसी व्यक्ति को नहीं। स्वाप्न ज्ञानों की इस दुर्बलता का नाम ही असत्यता है।

यदि वासनागत दुर्बलता ही कार्य की असत्यता है, तब दृढ़ वासना से उत्पन्न जाग्रज्ज्ञान में असत्यतादि का विपर्यय अर्थात् सत्यता और साधारणता (सर्व-ग्राह्यता) माननी होगी क्योंकि जाग्रज्ज्ञान की जनकीभूत वासनाओं की दृढता के कारण जाग्रज्ज्ञान में असत्यता का उदय (उत्पाद) नहीं हो पाता। वासनागत दृढतामात्र से उत्पन्न जाग्रत् पुरुष के ज्ञानों में सत्यता प्रतिष्ठित होती है ॥ ४५२ ॥ जिस ज्ञान की उत्पादक वासनाओं में दृढता होती है, वह ज्ञान जाग्रज्ज्ञान है। वह सत्य है और उसका विषय साधारण (सभी पुरुषों के द्वारा गृहीत) होता है। उसकी स्वरूप-सत्ता है, अतः उसमें संचार भी सत्य ही सिद्ध होता है। वासना-दाढर्च्य न होने के कारण स्वाप्न ज्ञान का झटिति (तुरन्त) विघटन हो जाता है, किन्तु स्वाप्न स्त्री-संगमन और देवताओं का आदेशोपदेश—ये दोनों स्वप्नदर्शियों के लिए अर्थक्रियाकारी होने के कारण असत्य क्योंकर होंगे? जब कि ऐसे स्वप्न सत्य हैं, तब समस्त स्वप्नों को असत्यार्थक नहीं कह सकते। फलतः स्वप्नगत विलक्षण (विजातीय) एवं सत्य-शरीरान्तरों में चित्त-संचार दृष्टचर हो जाता है, तब "विलक्षणशरीरान्तरसंचारो न दृष्टः"—ऐसा कहना विकल्पसमनामक जात्युत्तर है ॥ ४५३ ॥ [न्यायभाष्यकार ने विकल्पसमनामक जात्युत्तर का लक्षण इस प्रकार किया है—"साधनधर्मयुक्तेद दृष्टान्तधर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्म-

वार्तिकालङ्कारः

शरीराग्रहरूपस्य चेतसः सम्भवो यदा । जन्मादौ देहिनां दृष्टः किन्न देहान्तरागतिः ॥ ४५४॥

अयन्तावज्जन्मादावन्यदा च शरीराग्रहादिरूपंचेतसः स्वभावस्तारतम्ययोगी सकलजन्मिनां पूर्वाभ्यासतारतम्यफलतयोपलभ्यमानो न पूर्वकशरीराग्रहाभ्याससंस्कृत-चित्तमन्तरेण भवतीति । तत्सामर्थ्यादेव शरीरान्तरादिह शरीरे संचरणमिति प्रतीय-ताम् । नान्यथानुमावृत्तिः ।

अथ प्रत्यक्षं संचारे नास्ति तत्कथमनुमातः प्रतीतिः । अयमप्यदोषो यतः—

अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्षमिति कैवात्र दुष्टता । अध्यक्षस्यानुमानस्य विषयो विषयो न हि ॥४५५॥

परस्परविषयपरिहारेण हि प्रवर्त्तनमध्यक्षानुमानयोरिष्यत एव । कथं स एव दोषः । अथ तज्जातीये वृत्तिमन्तरेणाध्यक्षस्य कथमनुमानम् । स चापि न दोषः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः" (न्या० सू० ५।१।४) अर्थात् धूम के आधारभूत महानस में अग्नि है किन्तु जहाँ अग्निरूप कारण के नष्ट होने पर भी एक क्षण के लिए धूमरूप कार्य है, वहाँ अग्नि नहीं, अतः धूम के आधारभूत पर्वत में अग्नि सिद्ध क्योंकर होगी, वैसे ही संचार के विषय में भी विकल्प के द्वारा प्रतिपक्ष का निराश किया जा सकता है]।

अथवा कुछ व्यक्तियों में जो जन्म-जात पटुताएँ, विशेषताएँ और सिद्धियाँ पाई जाती हैं, वे निश्चितरूप से पूर्वाभ्यास की देन या फल हैं । सभी देहधारियों का चित्त जन्म के आरम्भ में शरीर का आग्रह (ग्रहण या धारण) किया करता है, उससे देहान्तर से आगति (आगमन) क्यों न सिद्ध होगी ? ॥ ४५४ ॥ वह एक जन्म के आरम्भ या अन्य समय में भी चित्त का एक निश्चित स्वभाव है कि वह शरीर का ग्रहण करता है। सभी जन्मधारियों में तरतमभाव (उच्चावचभाव) से शरीर धारण देखा जाता है। वह पूर्व शरीर-ग्रहणाभ्यास के बिना सम्भव नहीं। उसी पूर्वतन-अभ्यास के द्वारा पूर्वशरीर से आकर इस शरीर में चित्त का संचार समझ लेना चाहिए। इस प्रकार संचार-प्रत्यक्ष न मानने पर उसका अनुमान भी नहीं हो सकेगा। यह जो दोष दिया जाता है कि जब संचार में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, तब अनुमान के द्वारा संचार की सिद्धि क्योंकर होगी ? वह दोष भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अनुमेय विषय में प्रत्यक्ष का न होना कौन-सा दोष है ? अर्थात् कोई दोष नहीं, क्योंकि न तो अनुमान का विषय (सामान्य लक्षण) प्रत्यक्ष का विषय होता है और न प्रत्यक्ष का विषय (स्वलक्षण) अनुमान का विषय होता है ॥ ४५५ ॥ बौद्ध दर्शन व्यवस्थित प्रमाणवादी है अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान—दो ही प्रमाण हैं और स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण—दो ही प्रमेय हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान के विषय एवं अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष के विषय को छोड़कर ही अपने-अपने प्रमेय के प्रकाशन में ही प्रवृत्त होते हैं। इस स्वभाव को दोनों का दोष नहीं कहा ।

शङ्का—जैसे पर्वत में धूम के द्वारा पर्वतीय वह्नि का अनुमान तभी होता है, जबकि वह्निजातीय महानसीय वह्नि के साथ धूम-सहचार का प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही देह चित्त-संचार का अनुमान तभी होगा, जब कि संचारजातीय किसी संचार का प्रत्यक्ष हो, किन्तु संचार जब प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं, तब उसका अनुमान क्योंकर होगा ?

समाधान—यह दोष भी कोई सक्षम दोष नहीं। क्योंकि किसी पदार्थ का ग्रहण

वार्तिकालङ्कारः

आग्रहस्तावदभ्यासात् प्रवृत्त उपलभ्यते । शरीरेऽन्यत्र वाध्यक्षात् तत एवानुमा न किम् ॥४५६॥

तदेतदुच्यते । कथन्तज्जातीये प्रत्यक्षमन्तरेणानुमानमध्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य। तत्रायं परिहारः । यदि नाम न दृष्टोऽध्यक्षतः संचारः संचारानुरूपन्तु फलमुपलभ्यत एव । ग्रामान्तरसंचारवत् । तद्यथा ग्रामान्तराद् देशान्तराद् वागतः पूर्वाभिरतिविषयसजातीय एवोपकरणादौ रममाण उपलब्धः । यदि नामापरस्तथाभूतो ग्रामान्तरादागच्छन्नोपलब्धस्तथापि तथाभूतदेशादागतिरस्योपलभ्यत एवानुमानात् । एवमुपकरणादिविशेषाभिरसादेव लोकादागतिरप्यनुमीयतां ग्रामान्तरादागतौ प्रत्यक्षवृत्तिमात्रेणानुमानवृत्तेः। न हि धूमादनुमीयमानेऽग्नौ विशेषयोगिनि प्रत्यक्षवृत्तिः । अग्निमात्रप्रवृत्तिरिति चेत् । इहापि देशादिसंचारे वृत्तिरिति समानमेतत् ।

अथापि स्याद् । देशान्तरादिसंचारस्तेनैव शरीरेण दृष्टः शरीरमत्यजतः । यथा च स्वप्नशरीरसंचारोऽसत्यस्तथेहापि जन्मादौ शरीरापरित्यागासत्यते स्यातामित्य-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पूर्वाभ्यास पर निर्भर है [अर्थात् इस जन्म या शरीर-ग्रहण से पहले पूर्वजन्म में जिस पदार्थ में इष्ट-साधनता की अनुभूति होती है, पश्चात् उसी पदार्थ के ग्रहण में प्रवृत्ति होती है । एक शरीर से निकल कर चित्त की इसीलिए दूसरे शरीर के ग्रहण में प्रवृत्ति होती है कि उसकी इष्ट-साधनता का अनुभव पूर्वजन्म में हो चुका होता है] । इष्टसाधनता का प्रत्यक्ष शरीर या अन्य पदार्थों में हो जाता, अतः शरीरान्तर के ग्रहण का अनुमान क्यों न होगा ? ॥ ४५६ ॥

यह जो प्रश्न उठाया गया कि संचारजातीय पदार्थ का प्रत्यक्ष न होने पर शरीरान्तर में उसका अनुमान क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है कि यदि प्रत्यक्षतः संचार नहीं देखा गया तो न सही, द्वितीय शरीर में चित्त-संचार के अनुरूप जीवन (प्राण-संचार) तो उपलब्ध होता है । चित्त का यह शरीर में सचार वैसा ही होता है, जैसा कि किसी व्यक्ति का एक ग्राम से निकल कर दूसरे ग्राम में सञ्चार (प्रवेश) करना है । बहुत दिनों से कोई बिछुड़ा हुआ व्यक्ति दूर देश से आकर किसी ग्राम में अपने घनिष्ट मित्र के घर पहुँच कर आनन्द-मग्न मुद्रा में बैठा है, उसका मित्र-मण्डल भावविह्वल होकर उसके स्वागत-सत्कार में लगे हैं, कुशल-समाचार सुख-दुःख के प्रश्नोत्तर चल रहे हैं । यह सब-कुछ कर जिस व्यक्ति ने उस ग्राम में नवागत संचार नहीं देखा, वह भी तुरन्त अनुमान कर लेता है कि "अयं देशान्तरादागतः, अतिथिवत्सत्कारभाजनत्वात् ।" उसी प्रकार जातमात्र बालक की चेष्टओं से चित्त का शरीर-सञ्चार अनुमित हो जाता है । शरीरान्तर-सञ्चारानुमान के लिए शरीरान्तर सञ्चार-प्रत्यक्ष की अपेक्षा वैसे ही नहीं होती, जैसे कि धूम के द्वारा पर्वतीय वह्नि की अनुमिति के लिए पर्वतीय वह्नि का प्रत्यक्ष अपेक्षित नहीं । वह्निमात्र के प्रत्यक्ष से वह्नि-विशेष का जैसे अनुमान हो जाता है, वैसे ही सञ्चारमात्र (ग्रामादि-सञ्चार) के प्रत्यक्ष से शरीरान्तर-सञ्चार अनुमित हो हो जाता है ।

शङ्का—देशान्तर-सञ्चार तो उसी शरीर से होता है, जिससे पूर्वग्राम का त्याग किया गया । ग्रामान्तर-सञ्चार का शरीर-त्याग नहीं होता । एवं जैसे स्वाप्न शरीर असत्य है, अतएव उसमें चित्त-सञ्चार भी असत्य है, वैसे ही शरीरान्तर-सञ्चार भी असत्य ही सिद्ध होता है । इस प्रकार से दोष प्रसक्त होते हैं—(१) शरीरापरित्याग और

वार्तिकालङ्कारः

समंजसम् । तथा हि—

शरीरान्तरसञ्चारत्यागौ सत्यसमागमौ । स्यातां यदि ततः सत्यं परलोकप्रसाधनम् ।।४५७।।

यथा चात्यन्तविच्छेदः स्वप्नेऽस्वप्नोपलम्भिनः ।

तथैव मरणात् पूर्वं पश्चाद् तु यदि किं कृता ।।४५८।।

यथैव खलु देशान्तरसंचारः शरीरमन्तरेण तथा जन्मान्तरसंचारोऽपि यदि भवेद् विपरीतसाधनमायातम् । तथा स्वप्नसंचारो सत्यशरीरान्वयी दृष्ट इति परलोकसंचारोऽपि तथा भवेदसत्य एव परः पूर्वश्च लोक इतीष्टमेव नास्तिकानाम् ।

किं च यथा स्वापावस्थायामस्वप्नदर्शिनो विच्छेद एव विज्ञानस्याव्यक्तविज्ञानता वा । तथा यदि परलोकोऽपि किं तादृशेनेति न विनष्टा दृष्टिर्नास्तिकानां किं कृतं परलोकवादिनां स्यात् । अत्रैतदुच्यते—

तेनैव हि शरीरेण सञ्चारोऽध्यक्षबाधितः । परित्यागः शरीरस्य पूर्वकस्यान्यदर्शनम् ।।४५९।।

स्वप्नसंवेदनं सर्वं सत्यविज्ञानजन्मनः । स्वप्नाच्च सत्यविज्ञानमिति कैव विरोधिता ।।४६०।।

प्रबोधसङ्गतः सर्वो विच्छेद उपलभ्यते । मरणादपि विच्छेदः सत्यताबोधसङ्गतः ।।४६१।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(२) शरीरान्तर-सञ्चार की असत्यता । ये दोष परलोकवाद में असमञ्जसता उत्पन्न कर देते हैं, क्योंकि शरीर-परम्परा का ग्रहण-पूर्वक त्याग एवं सत्य-सञ्चार ये जब सिद्ध होंगे, तभी परलोक की सिद्धि होगी ।। ४५७ ।। जैसे स्वप्न में अस्वप्नोपलम्भी (जाग्रद्दर्शी) चित्त या विज्ञान-तत्त्व का अत्यन्त अभाव (विच्छेद) प्रतीत होता है, वैसे ही यदि मरण से पूर्व और पश्चात् विज्ञानतत्त्व का अभाव है, तब परलोक-सिद्धि किंकृता (क्योंकर होगी) ? [यहाँ "स्वप्ने स्वप्नोपलम्भने" ऐसा पाठ असँल्लग्न है । स्वयं प्रज्ञाकर ने सिद्धान्त-पक्ष में इसका अनुवाद किया है—"स्वप्नावस्थायामस्वप्नदर्शिनो विच्छेदः ।" इसके आधार पर "स्वप्नेऽस्वप्नोपलम्भिनः"—ऐसा पाठ समञ्जस प्रतीत होता है] ।। ४५८ ।।

यदि कहीं देशान्तर-प्रवेश के समान ही चित्त का शरीरान्तर (जन्मान्तर) में सञ्चार मान लिया जाता है, तब तो सब-कुछ सिद्धान्त के विपरीत ही हो जाता है, क्योंकि जैसे स्वप्नावस्था में चित्त का प्रवेश सत्य-शरीर के साथ ही होता है, वैसे ही परलोक गमन भी इसी शरीर के साथ ही होगा । फलतः न तो इस शरीर से पहले शरीरान्तर सिद्ध होता है और न इस शरीर के अनन्तर मरने के पश्चात् । न पूर्वलोक और न परलोक, निरा नास्तिकों (चार्वाकों) का अभीष्ट सिद्ध हो जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि जैसे स्वप्नावस्था में अस्वप्नदर्शी (जाग्रद्दर्शी) व्यक्ति का विच्छेद (अभाव) हो जाता है, वैसे ही मरण के पश्चात् विज्ञान (चित्त) का अभाव ही मानना होगा, तब तो नास्तिकों की दृष्टि (दर्शन) से हम परलोकवादियों का कोई अन्तर नहीं रह जाता ।

समाधान—शरीरान्तर में चित्त का संचार उसी (पूर्व) शरीर के साथ मानना प्रत्यक्ष-बाधित है, अतः पुरातन शरीर का त्याग और नूतन शरीर का ग्रहण मानना आवश्यक है ।। ४५९ ।। समस्त स्वाप्न संवेदन सत्य-विज्ञान चित्तस्कन्ध से उत्पन्न होता है और स्वप्न से पूर्वोपदर्शित सत्य-विज्ञान होता है, अतः स्वाप्न विज्ञान की असत्यता से क्या क्षति या विरोध है ? ।। ४६० ।। स्वप्न या सुषुप्ति में यदि चित्त का विच्छेद है,

वार्तिकालङ्कारः

उक्तमेतद् । विज्ञानं शरीरेऽस्मिन् पूर्वशरीरसङ्गतविज्ञानाभ्यासफलत्वेनोपलभ्यमानं नियमेन शरीरपरित्यागमन्तरेण न भवतीति कथं शरीरापरित्यागः ? दृष्ट एव पूर्वशरीरपरित्यागः । एतच्छरीरोपलम्भ एव पूर्वशरीरपरित्यागोपलम्भ इति पूर्वशरीरस्याप्रसिद्धौ कथं पूर्वशरीरपरित्यागप्रसिद्धिरिति चेत् ।

न शरीराद्यभिरतिः शरीररतिपूर्विका । यदा प्रसिद्धा तत्पूर्वशरीरं सिद्धमेव नः ॥४६२॥

विशिष्टपूर्वाभिरतिसाधनादेव पूर्वशरीरप्रसिद्धिः । न च तदेवेदानीं शरीरमुपलभ्यते । न चातीतमनुपलभ्यमानं तदापि न भवति । ततः पूर्वशरीरापरित्याग इत्यध्यक्षबाधितमेतत् ।

यदपि चोक्तम् । यथा स्वप्नादिहागमनमसत्यात् तथा परलोकादप्यसत्यादेव । तथा चातो गमनं स्वप्नशरीरेऽसत्ये तथा परलोकेऽपीत्यसत्यता परलोकस्य । एतदप्यसत्यम् । स्वप्नासत्यता हि सत्यतान्वयिनी । सत्यप्रत्ययस्य च निमित्तमिति स तथा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तब उसका साक्षी या भासक कौन ? असाक्षिक पदार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता। मरण से जो विज्ञान का विच्छेद कहा जाता है, वह भी सत्य-बोध (चित्त) से समन्वित है ॥ ४६१ ॥

यह तो कई बार कहा जा चुका है कि इस शरीर में संचरित विज्ञान (चित्त) पूर्वशरीरस्थ विज्ञान की अभ्यस्त चर्या के आधार पर ही इस शरीर का ग्रहण कर सका है । पूर्वशरीर-परित्याग के बिना शरीरान्तर का ग्रहण सम्भव नहीं, अतः पूर्व का अपरित्याग कैसे बनेगा ? प्रत्यक्षतः पूर्वशरीर का परित्याग निश्चित है । इस शरीर का उपलम्भ ही पूर्वशरीर-त्याग का उपलम्भ है, अतः पूर्वशरीर की सिद्धि न होने पर पूर्वशरीर के परित्याग की प्रसिद्धि क्योंकर उपपन्न होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शरीर में अभिरति (आसक्ति या मोह) आज का नहीं, अपितु अनादि शरीरों की देन है । यदि पूर्वशरीर और उसमें आसक्ति न होती, तब उत्तरवर्ती शरीरों में उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती थी, फलतः इस शरीर की अभिरति ही पूर्वशरीर की सिद्धि कर रही है ॥ ४६२ ॥ विशिष्ट प्रकार की अभिरति को जन्म देने के लिए पूर्व शरीर की सिद्धि आवश्यक है । पूर्व (अतीत) शरीर इस समय उपलब्ध नहीं होता— एतावता वह अपनी वर्तमान अवस्था में भी नहीं था—ऐसा नहीं कह सकते । निष्कर्ष यह निकला कि पूर्वशरीर का परित्याग किये बिना चित्त का उत्तर-शरीर में संचार सम्भव नहीं ।

यह भी जो कहा गया कि जैसे असत्य स्वप्न से इस जागरणावस्था में चित्त आता है, वैसे ही असत्य परलोक से इस लोक में चित्त आता है । एवं इस सत्य जागरणावस्था से असत्य स्वप्न में जाता है, वैसे ही सत्यभूत इस लोक से असत्य परलोक में जाता है ।

वह भी कहना सत्य नहीं, क्योंकि स्वप्नगत असत्यता भी सत्यता से समन्वित है । अर्थात् सत्यभूत प्रत्यय (विज्ञान) से प्रकाशित है । उस सत्य प्रत्यय का निमित्त (आश्रय) कौन ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उस समय पूर्वशरीर निवृत्त हो चुका होता है और भावी शरीर प्राप्त नहीं होता, अतः अन्तराभव (मध्य में कर्म-जन्य) शरीर ही निमित्त होता है । उस (अन्तराभव देह) का प्रतिपादन आगे चल कर (पृ० ८९) पर

न दोषैर्विगुणो देहो हेतुर्वर्त्यादिवद् यदि ।
मृते समीकृते दोषे पुनरुज्जीवनं भवेत् ॥ ५६ ॥

यदि चार्वाक कहता है कि यद्यपि शरीर ही चैतन्य का हेतु होता है, तथापि वातादि दोषों की विषमता या उग्रता के कारण मृत शरीर विगुण हो जाता है, चेतना का हेतु वैसे ही नहीं रहता, जैसे जली हुई बत्ती दीप-शिखा की जनक नहीं रहती। तब चार्वाक से यह कहना चाहिए कि यद्यपि वातादि दोष विषम होकर शरीर को रुग्ण या विगुण कहते हैं, तथापि समभाव में आकर आरोग्य प्रदान करते हैं, जैसा कि शार्ङ्गधरसंहिता का कहना है—

वार्तिकालङ्कारः

भूतोऽन्तराभव इति वक्ष्यामः। अथवा—

सकलः प्रत्ययः स्वप्नान्न विशेषतया स्थितः। यं च पश्चाद् वदिष्यामः प्रस्तावोऽस्य स एव हि ॥४६३॥

न हि स्वप्नप्रत्ययस्यापरस्य च कश्चिद् विशेष इति वक्ष्यते। ततः स्वप्नशरीरवदेव परलोकशरीरेऽपि सञ्चार इति सिद्धम्। अतोऽन्यत आगतस्य यदि नाम वासनाबलविशेषतः सप्रतिघेतरत्वादिविशेषः। सन्तानहानिस्तु न दृष्टैव ततोऽनुपरतसन्तानतैव प्राणिनामिति सिद्धः परलोकः। मरणादयस्तु स्थित्यावेधकस्य वासनालक्षणस्य चित्रत्वान्नानिवृत्तिप्रसङ्गश्चित्ते तिष्ठति चेतसस्तादृशस्य चित्तस्यैवाभावात्।

चार्वाकस्यापि तर्हि परिहारोऽस्त्येव तादृशस्य देहस्याभावात्। अत आह—न दोषैर्विगुणो देह इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किया गया है—"अन्तराभवदेहो हि" इत्यादि।

अथवा जाग्रत् प्रत्यय सत्य और स्वाप्न प्रत्यय असत्य—यह विभाग ही योगाचार-सम्मत नहीं, अपितु सकल प्रत्यय (ज्ञान) स्वाप्न ज्ञान से विलक्षण नहीं, जिसका प्रतिपादन आगे किया जायगा, उसी का यह प्रस्तुतीकरण है ॥४६३॥ स्वाप्न ज्ञान और अस्वाप्न ज्ञान का कोई अन्तर नहीं—यह आगे कहा जायगा। अतः स्वप्न-शरीर के समान ही परलोक-शरीर में भी चित्त का सञ्चार हो जाता है—यह सिद्ध हो गया। यह शरीर सप्रतिघ (दीवार, पर्वतादि में प्रवेशानर्ह) किन्तु परलोक से आनेवाला शरीर अप्रतिघ अनवरुद्ध गतिवाला होता है, जो कि कर्म-वासनाओं के द्वारा ही विरचित होता है। चित्त-सन्तति की हानि तो कभी नहीं देखी जाती, अतः कभी उपरत न होनेवाली चित्त सन्तानवाले प्राणियों का परलोक सिद्ध हो जाता है। मरणादि अवस्थाओं में शरीरादि की अनिवृत्ति का प्रसङ्ग इसलिए नहीं होता कि शरीरादि की स्थिति की आवेधक (आक्षेपक) वासनाएँ (कर्मज संस्कारावलियाँ) विचित्र होती हैं। उन वासनाओं का आधारभूत चित्त भी वैसा (शरीर की अनिवृत्ति के अनुरूप) नहीं रहता।

आशङ्का—शरीर ही यदि चेतन है, तब मरणावस्था में भी चेतना रहनी चाहिए—इस प्रकार के आक्षेप का समाधान चार्वाक भी कर सकता है कि मरणावस्था में वैसा शरीर नहीं रहता।

समाधान—उक्त शङ्का समाधान करने के लिए वार्तिककार ने कहा है—"न दोषैर्विगुणो देहः" इत्यादि। अर्थात् चार्वाक का जो कहना था कि वात, पित्त, श्लेष्म—

धातवस्तन्मला दोषा नाशयन्त्यसमा तनुम् ।
समाः सुखाय विज्ञेया बलायोपचयाय च ।। (५।४६)

मृतावस्था में दोष असम नहीं रहते, सम हो जाते हैं, अतः चेतना का पुनरुज्जीवन होना चाहिए। समावस्था में दोषों का संशमन हो जाता है, अतः मनोरथनन्दी में "समीभवन्ति" के स्थान पर "शमीभवन्ति" पाठ रखा गया है ।। ५६ ।।

वार्तिकालङ्कारः

दोषैर्हि वातपित्तादिभिर्विगुणो देहस्तादृशो न भवत्येव यादृशादुत्पत्तिमच्चित्तम् । ततस्तादृशस्य देहस्याभावान्नानिवृत्तिप्रसङ्गः । नैतदस्ति । यद्येवं स्यात् । मृतस्य सतः समीभवन्ति दोषास्तत आरोग्यलाभाद् देहस्य पुनरुज्जीवनं भवेत् । 'तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धी विपर्यय' इति वचनात् ।

अथासमीकरणं दोषाणां कुतो ज्ञायते ? ज्वरादिविकारदर्शनात् । विकारकारिणो हि दोषा न मरणमादधति । सर्वदा मरणप्रसङ्गात् । अन्यथा न देहः कारणं भवेत् तस्य चेतसस्तद्विकारभावाभावाननुविधानात् । एवं हि देहकारणता विज्ञायते यदि पुनरुज्जीवनं भवेत् ।

चित्तकारणतायां हि चेतसो न निवर्त्तनम् । चेतसो विगुणत्वे हि गृहेऽप्यपुनरागतिः ।।४६४।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इन दोषों के कारण देह वैसा नहीं रहा, विगुण (विकृत) हो गया अर्थात् जैसे (योग्य साद्गुण्य-युक्त) देह से चित्त उत्पन्न होता है, वैसा देह नहीं रहा, अतः मरणावस्था में चित्त या चैतन्य की अनिवृत्ति का प्रसंग नहीं होता।

वह चार्वाक का कहना उचित नहीं, क्योंकि मरण से पहले जो वात, पित्त, कफ रूप तीन दोष उत्पन्न हो जाते हैं, वे मरणावस्था में समान (शान्त) हो जाते हैं, अतः देह का उज्जीवन (नीरोगत्व) हो जाना चाहिए, जैसा कि कहा गया है—"तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धी विपर्ययः" अर्थात् वातादि की समता का नाम आरोग्य और उनकी क्षीणता या वृद्धि का नाम आरोग्याभाव या रुग्णता कहा जाता है।

कथित दोषों के असमीकरण (क्षय या वृद्धि) का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"ज्वरादिविकारदर्शनात्" अर्थात् वात के बढ़ जाने पर शरीर में ज्वर हो जाता है। वैद्य उसे समझकर उसे वात-ज्वर की संज्ञा देता है, क्योंकि वह वात दोष से जनित होता है। इसी प्रकार सभी दोष देह को केवल विकृत करते हैं, मरण के साधक नहीं होते, अन्यथा कोई-न-कोई दोष सदा बना रहता है, अतः सदैव मरण ही होता रहेगा। अर्थात् वातादि में से किसी भी दोष के आ जाने पर शरीर का नाश और शरीर के नाश से चेतनादि का नाश मानना होगा ? अन्यथा (शरीर का नाश हो जाने पर भी चित्त का नाश न मानने पर) चार्वाक-मतानुसार शरीर को चित्त या चैतन्य का कारण न माना जा सकेगा, क्योंकि कारण के भाव और अभाव का अनुगमन कार्य का भावाभाव किया करता है। यदि शरीर के भावाभाव का अनुसरण चित्त का भावाभाव नहीं करता, तब शरीर को चित्त का कारण कौन मानेगा ?

चित्त को चेतना और प्राणादि का कारण मानने पर शरीर की निवृत्ति से चेतना की निवृत्ति प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि चित्तरूप कारण की यदि कहीं मार्ग में ही विगुणता हो जाती है, तब उस प्राणी का घर तक पुनरागमन सम्भव नहीं ।।४६४।।

निवृत्तेऽप्यनले काष्ठविकाराविनिवृत्तिवत् ।
तस्यानिवृत्तिरिति चेन्न चिकित्साप्रयोगतः ॥ ५७ ॥

चार्वाक से प्रश्न किया गया कि यदि वातादि दोषों के कारण शरीर में अचेतनता आती है, तब मृतावस्था में दोषों के निवृत्त हो जाने पर अचेतनता की निवृत्ति और चेतनता का पुनरुज्जीवन क्यों नहीं होता। यदि चार्वाक उसका उत्तर देता है कि जैसे अग्नि के निवृत्त हो जाने पर भी अग्नि-जन्य काष्ठगत कालिमरूप विकार निवृत्त नहीं होता, वैसे ही दोषों की निवृत्ति होने पर भी अचेतनता निवृत्त नहीं होती। चार्वाक के इस उत्तर को असङ्गत ठहराते हुए कहा गया है—"चिकित्साप्रयोगतः।" अर्थात् वातादि दोषों से जन्य ज्वरादि रोगों की निवृत्ति के लिए ही आयुर्वेद में चिकित्सा का विधान किया गया है। यदि दोष-जन्य विकारों की निवृत्ति नहीं होती, तब वह विधान

वार्तिकालङ्कारः

देहकारणतायान्तु वैगुण्ये विनिवर्त्तते । देहस्तादृश एवासावहेतुश्चेतसः कथम् ॥४६५॥

देहस्य हि कारणत्वे देह एव तथाभूतो भवति कारणमन्यदा नेति न युक्तं तादृश एव वैगुण्ये क्रियते कश्चिदपरो नेति कथमयं विभागः। चित्तकारणत्वे पुनश्चित्तवैगुण्यावैगुण्ये मरणेतरत्वकारणमिति विभागो नानुपपन्नः ।

दोषस्योपशमेऽप्यस्ति मरणं कस्यचित् पुनः । जीवनं दोषदुष्टत्वेऽप्येतन्न स्याद् व्यवस्थितम् ॥४६६॥

न खल्वसमञ्जसवृत्ति कार्यम्भवति । तेन न देहकार्यविज्ञानं देहकार्यत्वे पुनःरुज्जीवनप्रसङ्गात् ।

ननु वैगुण्यकारिणि निवृत्तेऽपि न तत्कृतस्य वैगुण्यस्यावश्यं निवृत्तिः। न खल्वग्निःनिवृत्तावपि काष्ठेऽग्निकृतो विकारः क्वचिन्निवृत्तो दृष्टः। अतः—निवृत्तेप्यनले इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

देह को यदि चित्त का कारण माना जाता है, तब देह के विगुण होने पर चित्त भी निवृत्त हो जाता है किन्तु यदि देह जैसे-का-तैसा रहता है, तब वह चित्त का अहेतु कैसे होगा? ॥४६५॥ अर्थात् देह को चित्त का कारण मानने पर वैसे ही देह कभी चित्त का कारण और कभी अकारण ऐसा मानना युक्ति-युक्त नहीं कहा जा सकता। वैसी ही देह के विगुण होने पर कोई मर जाता है और कोई नहीं—ऐसा विभाग क्योंकर हो सकेगा? पूर्व चित्त को उत्तर चित्त का कारण मान लेने पर तो उक्त विभाग उपपन्न हो जाता है कि चित्त के वैगुण्य से मरण और अवैगुण्य से मरणाभाव होगा।

वातादि दोषों का उपशम हो जाने पर भी किसी-किसी का मरण हो जाता है, और दोष से शरीर के दुष्ट होने पर भी जो जीवन बना रहता है, वह देह को कारण मानने पर यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी ॥ ४६६ ॥ अव्यवस्थितकारणक कार्य कभी व्यवस्थित नहीं होता, फलतः देह का विज्ञान (चित्त) कार्य नहीं होता, क्योंकि देह के मरने पर दोषों के शान्त हो जाने से पुनरुज्जीवन का जो ऊपर प्रसङ्ग दिया, वह बना ही रहता है।

शङ्का—मरणावस्था में देह के वैगुण्यकारी वातादि दोषों के निवृत्त हो जाने पर भी दोष-प्रयुक्त शरीर-वैगुण्य की निवृत्ति अवश्यंभावी नहीं, क्योंकि अग्नि के बुझ जाने पर भी काष्ठगत अग्नि-जन्य विकार (कालापन या कोयला-रूपता) निवृत्त नहीं होता। यही शङ्का वार्तिककार ने उठाई है—"निवृत्तावप्यनले" इत्यादि।

व्यर्थ हो जाता है, अतः दोषों की निवृत्ति से अचेतनता की निवृत्ति अवश्य होनी चाहिए ॥ ५७ ॥

अपुनर्भावतः किञ्चिद्विकारजननं क्वचित् ।
किञ्चिद्विपर्ययादग्निर्यथा काष्ठसुवर्णयोः ॥ ५८ ॥
आद्योऽन्योऽप्यो ह्यसंहार्यः प्रत्यानेयस्तु तत्कृतः ।
विकारः स्यात्पुनर्भावस्तस्य हेम्नि खरत्ववत् ॥ ५९ ॥

कोई पदार्थ किसी वस्तु में ऐसे विकार को जन्म देता है कि जिसकी निवृत्ति से विकार्य वस्तु का पुनर्भाव (पूर्वरूप का लाभ) नहीं होता, जैसे अग्निजन्य काष्ठ की श्यामता। दूसरा प्रकार ठीक उसके विपरीत होता है अर्थात् विकार की निवृत्ति होने पर वस्तु को पूर्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, जैसे अग्नि की निवृत्ति होने पर अग्नि-जन्य सुवर्ण का द्रवत्व (तरलत्व) निवृत्त हो जाता है और सुवर्ण-पिण्ड की कठिनता जैसे-की-तैसी हो जाती है ॥ ५८ ॥ इनमें प्रथम प्रकार का श्यामतारूप विकार अग्नि की निवृत्ति होने पर भी संहार्य (निवर्तनीय) नहीं होता, किन्तु दूसरे प्रकार के विकार की निवृत्ति होने पर वस्तु का रूप प्रत्यानेय (पुनः प्राप्य) होता है, जैसे सुवर्ण का काठिन्य, क्योंकि सुवर्ण का द्रवत्व तत्कृत (अग्नि से जनित) है और काष्ठ की श्यामता अन्यकृत (अग्नि से भिन्न धूम या वायु से जनित है) ॥ ५९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यथा दहननिवृत्तावपि न काष्ठविकारनिवृत्तिस्तथा दोषकृतोऽपि मरणविकारो न निवर्त्तिष्यते । ततो न पुनरुज्जीवनप्रसङ्गः । तदाह—चिकित्साप्रवर्तनात् । निवर्त्य-विकारत्वे हि दोषाणां तन्निवर्तनाय चिकित्सा साफल्यमासादयेत् ।

ननु दोषकृतो विकारः । स्वल्पोऽपि निवर्त्यते एव मरणविकारात् प्राक् मरण-विकारस्तु न निवर्त्तिष्यते । ततो दोषानिवृत्त्यनिवर्त्यविकारा इति नायं दोषः । नेदमुत्तरं यतः—अपुनर्भावतः किञ्चिदिति ।

अस्यायमर्थः । क्वचित्किञ्चिदपुनर्भावविकारारम्भकमेव यथा वह्निः काष्ठे । किञ्चिद्विपर्ययादेव यथा स एव सुवर्णो न पुनरेकमेकत्रैव तथा चाविकारकारि । अत्रा-न्यस्य विकारकारिणो विकार्यस्य वायोर्विकारः । सोऽन्योऽप्यसंहार्यः । श्यामतामात्रमपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—उस शङ्का का समाधान किया गया है—"चिकित्साप्रयोगतः" । अर्थात् वातादि दोषों से जनित ज्वरादि दोषों की निवृत्ति के चिकित्सा-प्रयोग (औषधो-पचार) इसीलिए किया जाता है, ज्वरादि विकार निवर्तनीय (निवृत्ति के योग्य) होते हैं। चिकित्सा की सफलता भी इसी में ही है कि उससे रोग की निवृत्ति है।

शङ्का—दोष-जन्य स्वल्प विकार भी निवृत्त हो जाता है। मरणरूप विकार से पहले, किन्तु मरणरूप विकार निवृत्त नहीं होता, अतः मृत्युरूप विकार को दोष-निवृत्ति से अनिवर्तनीय कहा जाता है।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करने के लिए कहा गया है—"अपुनर्भा-वितः" इत्यादि। अर्थात् कोई पदार्थ किसी वस्तु पर ऐसे विकार का जनक होता है जो विकार निवृत्त होकर उस विकृत वस्तु को अपने भाव या निर्विकारूप में प्रतिष्ठित नहीं कर पाता, जैसे अग्नि से जनित काष्ठगत कालिमारूप विकार। वह निवृत होकर काष्ठ

वार्तिकालङ्कारः

काष्ठेऽग्निकृतमसंहार्यमभिद्रवतापि तु सुवर्णेऽग्निनिवृत्तौ पुनरन्यथा भवति। ततोऽल्पविकारस्य दोषकृतस्य निवृत्यत्वान्महतोऽपि मरणलक्षणस्य निवृत्तिरिति प्राप्तम्। ततः पुनरुज्जीवनप्रसङ्गः। तथा हि निद्राकृतोऽपि चेतनाविरतिलक्षणो विकारो निद्राभावे निवर्तते। अथ तत्र नास्त्येव निवृत्तिरित्युच्यते। तत्प्रत्युच्यते—

असंवेदनरूपं हि न संवेदनमिष्यते। तथापि यदि तद्भावो मृतस्याप्यस्तु वेदनम् ॥४६७॥
न हि संवेदनाभावे विशेषो मृतसुप्तयोः। आश्वासादि पुनः सर्वं यथा तदपि चिन्तितम् ॥४६८॥

संवेदनाभाव एव सुप्तमृतयोर्नापरो विशेषः। ततः सुप्तस्य प्रबोध इव मृतस्यापि प्रहारौषधप्रयोगादिनोज्जीवनं प्रसक्तम्।

अथ प्रसुप्तस्य संवेदनाभाव एव नास्ति मृतस्य तु स इति विशेषः। न असंवेदनस्योभयत्र समानत्वाद्। अथासंवेदनेऽपि शक्तिरूपेण तदास्त इत्युच्यते। केयं शक्तिरिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

को अपने पूर्वरूप में अवस्थापित नहीं कर सकता, दूसरे प्रकार का विकार वह होता है, जो अग्नि के न रहने पर निवृत्त होकर विकृत वस्तु को अपने पूर्वरूप में व्यवस्थित कर देता है, जैसे सुवर्णगत द्रवत्व (तरलता) अग्नि के निवृत्त हो जाने पर द्रवत्व स्वयं निवृत्त होकर सुवर्ण को अपने पूर्वरूप (कठिन सुवर्ण-पिण्ड के रूप) में प्रतिष्ठित कर देता है ॥ ५८ ॥ प्रथम प्रकार का काष्ठगत कालिमरूप विकार अग्नि से भिन्न धूम या वायु का विकार है, अतः न तो वह अग्नि की निवृत्ति से निवृत्त होता है और न स्वयं निवृत्त होकर काष्ठ का पूर्वरूप में संस्थापक है। तत्कृत (अग्निकृत) सुवर्णगत द्रवत्व विकार निवृत्त होकर सुवर्ण का पूर्वरूप में व्यवस्थापक है। निष्कर्ष यह है कि वातादि दोषों से जनित ज्वरादि विकार जैसे दोषों की निवृत्ति होने पर निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही, मरणरूप महान् विकार भी दोषों की निवृत्ति से निवृत्त हो जायेंगे, मरण के पश्चात् पुनरुज्जीवन का प्रसङ्ग जैसा-का-तैसा बना रहता है। देखा भी जाता है कि गाढनिद्रा (सुषुप्ति) से जनित चेतना-विरतिरूप विकार उस गाढ निद्रा की निवृत्ति से चेतना-विरति की निवृत्ति जागरित में हो जाती है। जो व्यक्ति कहता है कि वहाँ चेतना-भाव की निवृत्ति नहीं होती, उसके प्रति कहा जाता है—

सुषुप्ति असंवेदनरूप है, उसमें संवेदन या वह संवेदनस्वरूप कभी नहीं हो सकती। तथापि यदि सुषुप्ति में संवेदन की सत्ता मानी जाती है, तब मरणावस्था में भी संवेदन या चेतना होनी चाहिए ॥ ४६७ ॥ मरण और सुषुप्ति अवस्था में समान संवेदनाभाव रहता है, उसमें कोई विशेषता नहीं। सुषुप्ति में जो श्वास-प्रश्वास की उपलब्धि होती है, उसका विचार विगत ५४ वें वार्तिक में किया जा चुका है—"धारणाकर्षणे वायोः" ॥ ४६८ ॥ संवेदन का अभाव ही सुषुप्ति और मृत्यु में रहता है, अन्य कोई विशेषता नहीं। अतः सुषुप्त चित्त का जागरित में जैसे पुनरुज्जीवन होता है, वैसे ही मृत चित्त का औषध-प्रयोगादि पुनरुज्जीवन होना चाहिए।

प्रसुप्त व्यक्ति में संवेदन का अभाव नहीं किन्तु मृत व्यक्ति में संवेदन का अभाव है—यह दोनों में महान् अन्तर है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संवेदन का अभाव तो दोनों अवस्थाओं में समान है। यदि कहा जाय कि प्रसुप्तावस्था में व्यक्तरूपेण संवेदन के न होने पर भी शक्तिरूपेण रहता है और मृतशरीर में शक्तिरूपेण भी नहीं। तब प्रश्न उठता है कि यह शक्ति क्या वस्तु है ? यदि संवेदन ही शक्तिपदार्थ है, तब संवेदन

वार्तिकालङ्कारः

निर्दिश्यताम्। यदि संवेदनमेव शक्तिस्तथा संवेदनमेवास्ति कथमसंवेदनम्। तच्चास्ति तच्च नास्तीति विरुद्धम्। अथ संवेदनादन्या शक्तिः सा तर्हि शरीरमेव। ततः शरीरे तिष्ठति चैतन्यजनके शक्तिसद्भावादनिवृत्तिरेव तस्य। अथ जनकस्य शरीरस्य विनाशः परस्य चाजनकस्योत्पत्तिरिति न चैतन्यम्। किमिदमजनकत्वम्। संवेदनरहितत्वमिति चेत्। सुप्तस्यापि तदस्तीति। सुप्तस्यापि संवेदनं न भवेत् प्रबोधावस्थायाम्। अथ तत्राश्वासादयः सन्ति ततो नाजनकत्वं देहस्य। तदैव तर्हि सुप्तावस्थायामुत्पत्तिरित्यसुप्त एव भवेत्।

अथ निद्रापरिणतिसहायादाश्वासादेश्चैतन्यमुत्पद्यते। केयं निद्रा नाम। संवेदनाभाव इति चेत्। मृतस्यापि सोऽस्तीति पुनः संवेदनं स्यात्तत्परिणामे। अथाश्वासाभावात्सहकारिवैकल्यात्केवलाद्देहादनुत्पत्तिरिति वदेत्। मूर्च्छादिविकारेऽपि नाश्वासादय इति न संवेदनं भवेत्। तस्मादाश्वासादेर्न संवेदनकारणत्वं न चाश्वासादीनां कारणत्वमिति निवेदितं प्राक्। किञ्च—

निद्राव्यपगमे पूर्वज्ञानसंस्कारतो धियः। तथा विधाः संभवन्ति ततो देहो न कारणम्॥ ४६६॥

समाने हि शरीरसम्भवे पूर्वसंस्कारानुरूपा एव बुद्धयो दृश्यन्ते। ततो न देहः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के रहने पर सुषुप्ति में असंवेदन कैसा? वहाँ संवेदन है भी और नहीं भी—ऐसा मानना नितान्त विरुद्ध है। यदि शक्तितत्त्व संवेदन से भिन्न है, तब सुषुप्ति में संवेदन से भिन्न श्वासादि-युक्त शरीर को ही संवेदन की शक्ति कहना होगा। शरीररूप शक्ति के रहने पर उस शक्ति से जन्य चेतना का भी सुषुप्ति में सद्भाव होना चाहिए। यदि संवेदन की शक्ति या संवेदन के जनकीभूत पूर्व शरीर का नाश और अजनक शरीरान्तर की उत्पत्ति वहाँ मानी जाती है, तब जिज्ञासा होती है कि संवेदन की अजनकता क्या है? संवेदन-रहितत्व ही यदि अजनकत्व है, तब प्रसुप्त व्यक्ति में संवेदन-रहितत्व रहने के कारण उसके जाग जाने पर भी संवेदन नहीं होगा। श्वास प्रश्वास रहने के कारण सुप्त शरीर में संवेदन-राहित्य यदि नहीं माना जाता, तब सुप्तावस्था में ही संवेदन की उत्पत्ति होगी और सुप्तावस्था का विलोप प्रसक्त होगा।

शङ्का—जागरण, स्वप्न, मूर्च्छा और मरण—ये निद्रा की ही परिणतियाँ (परिणाम) हैं। श्वासादि-सहित निद्रा-परिणति को चेतना का उत्पादक माना जाता है। मृत शरीर में निद्रा की परिणति रहने पर भी श्वास-प्रश्वासरूप सहायक कारण के न होने से चैतन्य उत्पन्न नहीं होता।

समाधान—मूर्च्छारूप परिणति में श्वासादि के न रहने पर चेतना (ज्ञान) क्यों कर रहेगी? अतः श्वासादि को चैतन्य की कारणता नहीं मानी जा सकती। इसका विशद विवेचन पहले किया जा चुका है—"प्रेरणाकर्षणे" इत्यादि (प्र. वा. १।५४)।

दूसरी बात यह भी है कि सुषुप्ति से लेकर जागरण तक शरीर वही है, अतः शरीर ज्ञान का कारण नहीं, अपितु पूर्व संस्कारों के आधार पर बुद्धियाँ (ज्ञान) उत्पन्न होती हैं॥४६६॥ शरीर यदि ज्ञान का कारण है, तब सुषुप्ति में भी शरीर के रहने पर ज्ञान की उत्पत्ति प्रसक्त होती है, अतः उद्बुद्ध संस्कारों को ही ज्ञान का कारण मानना युक्ति-युक्त है। फलतः चेतना का कारण न तो शरीर है और न श्वास-प्रश्वासादि।

संस्कार-संस्कृत देह से भी चैतन्य की उत्पत्ति माननी उचित नहीं, क्योंकि

वार्तिकालङ्कारः

कारणमाश्वासादयो वा। अथ संस्कारसहायाद्देहादुत्पत्तिरित्युच्यते, तदसत्।

संस्कारः सहकारी स्यात्तदाऽसन्निति दुर्घटम् ॥४७०॥

न ह्यविद्यमानो विद्यमानस्य सहकारी न च प्रबोधावस्थायां देहस्येव चेतसोऽपि पूर्वकस्य विद्यमानता। न चाविद्यमानः सहकारी सहकरणाभावात्। न हि विद्यमानेतरयोः सहभावः। तस्मात्पूर्वकमेव चेतस्तत्र कारणं न देहः। कथन्तर्हि प्रहारादयः प्रबोधकाः। अस्येदमुत्तरम्।

नावश्यं जातबोधत्वं प्रहारादेव जायते। प्रहारमन्तरेणापि प्रबोध उपलभ्यते ॥४७१॥

न हि प्रहारादेरेव बोधः स्वयमपि प्रबोधात्। ननु प्रबोधानन्तरं दृष्टपदार्थसम्बन्धेन विकल्प उत्पद्यते। ततो दर्शनपूर्वविज्ञानयोः कथं सहकारित्वम्। नैतदपि साधु। यतः—

नात्रापि नियमो दृष्टः प्रत्यासत्तिप्रबोधने। तात्पर्येण यदाक्षिप्य प्रसुप्तस्तत्र बोधतः ॥४७२॥

यदेव तात्पर्येणाक्षिप्य प्रसुप्तस्तदनुरूप एव वासनाप्रबोधोऽस्य भवति। न तु प्रबोधे सति यदुपलभ्यते तत्सम्बन्धेन प्रत्यासन्न एव प्रबोधो दृश्यते। यश्च यथाभ्यासवाँस्तस्य तथाभूत एव प्रबोधो नान्यत्र। प्रबोधश्चान्तरस्पर्शविज्ञानादिकमेव। यथा च यस्याभ्यासस्तदनुरूपमेव कार्यसुखसंवेदनम्। तथा हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संस्कार असत् देह के सहकारी नहीं हो सकते, अतः संस्कार जिस देह के सहकारी हैं, उस देह को असत् क्योंकर कहा जायगा ॥ ४७० ॥

आशय यह है कि अविद्यमान पदार्थ विद्यमान का सहकारी कभी नहीं हो सकता। प्रबोध (जागरण) की अवस्था में देह के समान पूर्व चित्तक्षण कभी विद्यमान नहीं रहता। अविद्यमान पदार्थ सहकारी इसलिए नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सहकरण सम्भव नहीं होता। विद्यमान और इतर (अविद्यमान) का सहभाव कभी नहीं होता। फलतः वर्तमान चित्त का कारण पूर्वतन चित्त ही होता है, देह नहीं।

प्रश्न—यदि देह चेतना का कारण नहीं तब जगाने (चैतन्यावस्था में लाने) के लिए शरीर पर प्रहार क्यों करते हैं, शरीर को झकझोरते क्यों हैं?

उत्तर—देह पर प्रहार करने पर ही प्रबोध होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, प्रहार के विना भी अपने-आप प्रबोध होता देखा जाता है ॥ ४७१ ॥ यदि कहा जाय कि प्रबोधानन्तर (जागने के पश्चात्) जो पदार्थ सन्निहित दिखाई देता है, उसकी प्रत्यासत्ति (सन्निधि) भी विकल्प के रूप में चेतना की जनक हो सकती है। तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दृष्ट पदार्थ की प्रत्यासत्ति और प्रबोधन (चेतना) का नियमतः कार्यकारणभाव नहीं देखा जाता,। अपितु जिस समय पर जाग जाने का संकल्प करके व्यक्ति सोता है, उसके अनुरूप ही संस्कारों का उद्बोधन होता देखा जाता है, न कि जागने पर जो वस्तु सामने दिखती है, उसकी प्रत्यासत्ति से। अधिकतर तो यही देखा जाता है कि जिस पुरुष का अपने सोने-जागने का जैसा अभ्यास पड़ जाता है, वैसा ही समय पर अपने-आप नींद टूट जाती है। प्रबोधक तो आन्तरिक स्पर्श-विज्ञान ही है। जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ का अभ्यास होता है, उसको उसी पदार्थ से कायिक सुख-संवेदन होता है, जैसे कि किसी प्रकार भय उपस्थित होने पर जिन्होंने द्रव (अभिद्रवण या भाग जाने का अभ्यास कर रखा है, उनमें भाग जाने के संस्कार उद्बुद्ध

वार्तिकालङ्कारः

भयधैर्यादिसंस्कारा द्रवशस्त्रग्रहादयः । प्रबोधरूपा जायन्ते प्राणिनां सुखसंविदः ॥४७३॥

भयभावनाभवननिवेशिनां पलायनसुखादिसंवेदनरूप एव प्रबोधोऽन्यथा तु दुःखात्मिका। रौद्रात्मनान्तु परोपद्रवाभिरतीनां परापकरणकारिणां शस्त्रादिग्रहणरूपसुखादिसंवेदनरूपः । ततो न देह आश्वासादयो वा विज्ञानकारणम् । पूर्वकमेव विज्ञानं कारणन्तच्च यदि देहादुत्पन्नं तदा अनिवृत्तिप्रसङ्गात्तु स एव दोषः । तथा पूर्वविज्ञानान्वयिता न स्यादेव । अथ दोषविगुणत्वादकारणम् । वैगुण्याभावे पुनः कारणम्भवेत् । अपुनर्भाविविकारारम्भकत्वे स्वल्पोऽपि तत्कृतो विकारो न निवर्त्यः स्याद्दौर्बल्यादिकः मन्दविज्ञानप्रवर्त्तनलक्षणश्च मूर्च्छादिविच्छेदलक्षणो वा । अपुनर्भाविविकारारम्भकस्य स्वल्पोऽप्यनिवर्त्यः । "प्रत्यानेयस्तु यत्कृतेः । विकारः स पुनर्भावस्तस्य हेम्नि खरत्ववत्" । हेम्नो हि खरत्वं गतमपि विकारहेत्वपगमे पुनः प्रत्यागच्छति । तथा महानपि विज्ञानविच्छेदविकारो मरणलक्षणो निवर्त्यत इति पुनरुज्जीवेत ।

ननु चिकित्साप्रयोगात् प्रत्यानेयत्वविकारमसाध्यव्याधिभावाच्चाप्रत्यानेयविका-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होकर भाग जाने में ही सुख का भान कराते हैं और इसके विपरीत जिन्होंने भय के समय धैर्य धारण कर शस्त्रादि के ग्रहण का अभ्यास कर रखा है, उनके अभ्यास-जन्य संस्कार उद्‌बुद्ध होकर शस्त्र-ग्रहण में सुखानुभव कराते हैं ॥ ४७३ ॥

भय-भावना (भय के संस्कारों) से पलायन-संस्कार उद्‌बुद्ध होकर प्राणी को भय-स्थल से भाग जाने का ज्ञान उत्पन्न करते हैं। अन्यथा दुःखात्मक संवेदन होता है। अङ्गुलीमाल-जैसे क्रूरकर्मा परापकारपरायण हत्यारों को तो शस्त्र-धारणादि में ही सुखानुभूति होती है, क्योंकि उनके संस्कार उनको वैसी ही चेतना देते हैं। निष्कर्ष यह है कि देह और श्वास-प्रश्वादि विज्ञान (चेतना) के जनक नहीं होते, अपितु पूर्वतन विज्ञान (चित्त) ही उत्तरोत्तर ज्ञान-सन्तति का हेतु प्रत्यय है । यदि वह देह से उत्पन्न माना जाता है, तब मृतावस्था में भी उसकी अनिवृत्ति का प्रसङ्गरूप दोष उपस्थित होता है। जैसे मृत्तिका के कार्यभूत घटादि में मृत्तिका अन्वय देखा जाता है, वैसे ही देहादि के कार्यभूत चित्त में देहरूपता का ही समन्वय होना चाहिए, विज्ञानरूपता का अन्वय नहीं। वातादि दोषों से विगुणित (दूषित) देह चित्त का कारण नहीं होता— इस पक्ष का खण्डन करते हुए पहले ही कहा जा चुका है कि फिर तो मृतावस्था सभी दोषों का अभाव होने के कारण चेतना का पुनरुज्जीवन होना चाहिए। वातादि दोषों को यदि ऐसे विकारों का जनक माना जाता है कि पुनः पूर्वावस्थापन्न शरीर नहीं होता, तब शरीर के दौर्बल्यादि स्वल्प दोषों की भी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। एवं वातादि दोषों से जनित मूर्च्छादि की निवृत्ति तथा मूर्च्छा-विच्छेदरूप स्वल्प संज्ञान भी नहीं होना चाहिए जैसा कि वार्तिककार पहले ही कह चुके हैं—"प्रत्यानेयस्तु तत्कृतः । विकारः स्यात् पुनर्भावः तस्य हेम्नि खरत्ववत् ॥" (१।५६) । यह सर्वानुभव-सिद्ध है कि अग्नि से जनित स्वर्ण का द्रवत्व (तरलत्व) अग्नि के निवृत्त होने पर निवृत्त हो जाता है और गया हुआ काठिन्य फिर आ जाता है। वैसे ही स्वल्प विकार की निवृत्ति के समान ही मृत्युरूप महान् विकार भी निवृत्त होकर पुनरुज्जीवन होना चाहिए।

शङ्का—यद्यपि चिकित्सा-प्रयोग के द्वारा ज्वरादि विकार निवृत्त किये जाते हैं, तथापि असाध्य व्याधिरूप विकार प्रत्यानेय (निवर्तनीय) नहीं होते। मृत्युरूप विकार

दुर्लभत्वात् समाधातुरसाध्यं किञ्चिदीरितम् ।
आयुःक्षयाद् वा दोषे तु केवले नास्त्यसाध्यता ॥ ६० ॥

जहाँ वातादि दोषों के शमन में सक्षम भैषज्य या भिषग्वर दुर्लभ हो जाता है, वहाँ व्याधि को असाध्य मान लिया जाता है अथवा जिस रोगी की आयु ही पूरी हो गई हो, उसके रोग को राजरोग या असाध्य कह दिया जाता है। इन विशेष परिस्थितियों को छोड़कर केवल दोष-जन्य व्याधि कभी असाध्य नहीं होती ॥ ६० ॥

मृते विषादिसंहारात् तद्दंशच्छेदतोऽपि वा ।
विकारहेतोर्विगमे स नोच्छ्वसति किं पुनः ॥ ६१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

एवं चेत्युभयथाभावाददोषः । परिहारमाह—दुर्लभत्वात्समाधातु इति ।

सुसाध्यता हि दोषकृतविकारनिवर्तनं समर्थस्यौषधस्य वैद्यस्य चाऽभावादसाध्यं कथितं किञ्चिन्न तु महाभूतोद्भवचैतन्यवादिमतेऽस्तीति दुर्लभत्वादेव समाधातुरपुनरुज्जीवनम् ।

दुर्लभत्वं समाधातुर्विकारस्यानिवर्त्तने । पुनरुज्जीवनाहेतुर्निवृत्तौ व्यर्थता पुनः ॥४७४॥

तस्माद्विकारविनिवृत्तौ भवेदेव पुनरुज्जीवनप्रसङ्गः । ननु परस्याप्यसाध्यत्वमस्त्येव । अत्रोत्तरम् । मम त्वसाध्यं युक्तं तदाह—आयुः क्षयादसाध्यता व्याधेस्तथा हि । तथाभूतेनैव व्याधिना कश्चिन्म्रियतेऽपरो नेति दृश्यते । उपलक्षणमायुः । कर्मक्षयाद्वा । कर्मजो हि व्याधिः श्वित्रादिरसाध्यो भवति । कर्मणस्तादृशस्य भावात् । तस्मात् कर्माधिपत्यमेव परिहारहेतुरित्याह—केवले तु दोषविकारकारिणि नास्ति व्याधेरसाध्यता । तस्मात्—मृते विषादिसंहारादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी वैसा ही क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान—उक्त शङ्का का परिहार करने के लिए वार्तिककार ने कहा है—"दुर्लभत्वादित्यादि।" प्रायः दोषजन्य सभी विकार (रोग) सर्वदा सुसाध्य ही होते हैं, हाँ, योग्य वैद्य या सक्षम औषध के अभाव में या आयु पूरी हो जाने के कारण किसी व्याधि को असाध्य मान लिया जाता है। समाधाता (वैद्य) की दुर्लभता ही विकार की अनिवृत्ति का मुख्य हेतु है। दोष की निवृत्ति होने पर भी यदि विकार निवृत्त नहीं होता, तब दोष-निवृत्ति का प्रयास ही व्यर्थ है ॥ ४७४ ॥ फलतः दोष की निवृत्ति होने पर मृतावस्था में पुनरुज्जीवन अवश्य होना चाहिए।

विकारों की असाध्यता तो बौद्धादि-सिद्धान्तों में भी मानी जाती है। मृत्युरूप विकार भी यदि असाध्य है, तब पुनरुज्जीवन-प्रसङ्ग क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"आयुःक्षयात्"। यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि उसी व्याधि से कोई मर जाता है और कोई नहीं—इसका क्या कारण ? जिसकी आयु क्षीण हो गई, वह मर जाता है और दूसरा नहीं। "आयुःक्षयात्"—यहाँ पर 'आयु' पद कर्म का भी उपलक्षक है। कर्म-जन्य श्वित्र (कुष्ठ) आदि व्याधियाँ भी असाध्य मानी जाती है। कर्म का आधिपत्य ही विकार को निवृत्त नहीं होने देता। अतः कहा गया है कि केवल दोष से जन्य विकार कभी असाध्य नहीं होता। अतएव सर्पदंश से मृत प्राणी का मन्त्रादि के प्रयोग से विष नष्ट हो जाता है, अथवा दंश-स्थान का छेदन कर देने पर पुनरुज्जीवन देखा जाता है,

सर्प-दंशादि से मृत प्राणी का मन्त्रादि-प्रयोग के द्वारा विष उतर जाने अथवा दंश-स्थान का छेदन कर देने पर मरण के हेतुभूत विष का नाश हो जाने पर वह मृत व्यक्ति पुनः क्या जी नहीं उठता ? अवश्य ही भला-चँगा होकर श्वास-प्रश्वासवान् हो जाता है ॥ ६२ ॥

उपादानाविकारेण नोपादेयस्य विक्रिया ।
कर्तुं शक्याऽविकारेण मृदः कुण्डादिनो यथा ॥ ६२ ॥

यदि शरीर चित्त का उपादान कारण होता, तब शरीरगत विकार के बिना चित्त में वैसे ही विकार उत्पन्न नहीं हो सकता था, जैसे मृत्पिण्डगत विकार के बिना घट कुण्डादि में विकार नहीं होता ॥ ६२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मृतस्य हि यदा विषादिसंहारो मन्त्रादिना । स्वयमेव च दंशदेशोपसंहारात्तदङ्गच्छेदतः । विकारहेतोश्च विगमो ज्वरादेर्यदा भवति तदोज्जीवनप्रसङ्ग इति स्थितमेतत् ।

अपि च । नानुपादानकारणनिवृत्तौ निवृत्तिः । न च देह उपादानकारणम् । यदि च स्यात् तदविकारेण न विक्रियेत । यतः—उपादानाविकारेणेति ।

उपादानस्य हि देहस्याविकारेणोपादेयस्य विज्ञानस्य विक्रिया न शक्या स्यात् । मृदो विकारमन्तरेण न कुण्डादेर्विकार उपलब्धः । एष एवोपादानस्य धर्मो यस्तद्विकारेणैव विकारः । बहुष्वपि कारणेषु किञ्चिदेव कस्यचिदुपादानं न कारणमात्रकम् । देहस्य च कारणत्वेऽपि न तद्विकारेणैव विकारस्तदविकारेऽपि भयशोकादिना चित्तस्य पूर्वकस्य विकारमात्रेण विकारस्तद्विकारे चावश्यं विकारात् ।

ननूदकविकारेऽपि भवति विकारोऽङ्कुरस्य न च तदुपादानम् । न सन्तानकारण-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वैसे ही जब विकार के हेतुभूत ज्वरादि का विगम (अभाव) हो जाता है, तब पुनरुज्जीवन की प्रसक्ति पूर्ववत् होती है ।

अपि च "उपादानाविकारणेत्यादि ।" अर्थात् चेतना का उपादानभूत शरीर जब तक विकृत न हो, तब तक उपादेयभूत विज्ञान की विकृति नहीं हो सकती,, क्योंकि मृत्तिका में विकार न होने पर घटादि में विकार नहीं देखा जाता । उपादान कारण का यही स्वभाव है कि उसके विकार से ही उपादेय में विकार उत्पन्न होता है । निमित्तादि अनेकविध कारणों में उपादान कारण की यह विशेषता है कि वह एक कार्य का एक ही उपादान कारण होता है, सभी कारणों को उपादान कारण नहीं कह सकते । देह चित्त का कारण (आश्रय) होने पर भी उपादान कारण नहीं, क्योंकि देह के विकार से चित्त में विकार नियमतः नहीं होता, अपितु देह में विकार न होने पर भी चित्त में भय-शोक आदि विकार पूर्व चित्त के विकारों से उत्पन्न हो जाते हैं । पूर्व चित्त के विकारों से उत्तर चित में विकार अवश्य ही हो जाते हैं । अतः पूर्वतन चित्त ही उत्तर चित्त का उपादान कारण सिद्ध होता है, देहादि नहीं ।

शङ्का—उपादानकारण के विकार से ही उपादेय में विकार होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि उदक के विकार से भी अंकुरादि विकृत होते हैं किन्तु उदक अंकुरादि का उपादानकारण नहीं होता ।

समाधान—अंकुर-काण्ड-नालादिरूप कार्य-सन्तान में समन्वित होने वाले कारण

अविकृत्य हि यद् वस्तु यः पदार्थो विकार्यते।
उपादानं न तत् तस्य युक्तं गोगवयादिवत्॥ ६३॥

जिस वस्तु को विकृत न करके ही जो पदार्थ विकृत किया जा सकता है, वह वस्तु उस पदार्थ की उपादान कारण वैसे ही नहीं होती, जैसे गौ गवय की या गवय गौ का उपादान कारण नहीं होता॥ ६३॥

वार्तिकालङ्कारः

स्योपादानकारणत्वात्। बीजञ्च सन्तानकारणं नोदकमुदकस्यावस्थाविशेषकारणत्वात्। नोदकात्सन्तानसम्भवः। उदकस्य यवादिसाधारणत्वात्। न चोदकनिवृत्तौ शालिसन्ताननिवृत्तिः। उदकाभावेऽपि शालिसन्तानस्याऽव्यावृत्तेः। अङ्कुराद्यवस्था तु तस्योदकात्तस्याश्च तन्निवृत्तौ निवृत्तिरतोऽस्या उपादानकारणमेव उदकं उदकादेश्च शालिबीजविकारद्वारेणैवोत्तरोत्तराङ्कुरादिविकारः। तस्माद् देहाविकारेऽपि विक्रियमाणत्वाद्विज्ञानस्य नोपादानकारणमस्य देहः। तदेवाह—अविकृत्य हि यद्वस्त्विति।

अविकृत्य च देहं विक्रयते विज्ञानमिति न देह उपादानमस्य ततो न देहनिवृत्तावस्य निवृत्तिः। गोगवयादिवदेव तद्विकारेण विकारात्। भवतु गोर्गवयः कथञ्चिदवस्थाविशेषस्य कारणन्तन्निवृत्तौ च स एवावस्थाविशेषो मा भूत्पुनः सन्तानस्य निवृत्तिः। भवतु गोगवयोरनुपादानोपादेयभावेनानिवर्त्यनिवर्तकत्वं कायचेतसोः किमायातम्। न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

को उपादान कारण कहते हैं। ऐसा कारण बीज है, उदक नहीं, उदक तो अंकुरादि में सक्षम बीज की अवस्था विशेष का निमित्त मात्र है। उदक के द्वारा अंकुरादि-सन्तति का समुद्भव नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि उदक किसी एक अंकुर का जनक नहीं, अपितु यव, व्रीहि आदि सभी का साधारण कारण होता है। उदक तो शालि-अंकुर का उपादान कारण तब हो सकता था, यदि उदक की निवृत्ति से शालि-अंकुर की निवृति हो जाती, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि उदक की निवृत्ति हो जाने पर भी शालि-अङ्कुर निवृत्त नहीं होता। हाँ, अङ्कुर की अवस्था-विशेष (शाद्वलता या हरियाली) है, वह उदक-जनित है, उदक के न रहने पर उसकी निवृत्ति अवश्य होती है। उसका उपादान कारण उदक है। उदकादि सहायक सामग्री शालि-बीजगत विकार के द्वारा उत्तरोत्तर अङ्कुर-काण्ड-नालादि अवस्थाओं की पोषिका होती है। फलतः देह के विकृत न होने पर भी विज्ञान (चित्त) भय-शोकादिरूप में परिणत होता है, अतः देह चित्त का उपादान कारण नहीं। यही वार्तिककार ने कहा है—"अविकृत्येत्यादि'। अर्थात् विज्ञान (चित्त) देह को विकृत न करके ही स्वयं विकृत हो जाता है, अतः न तो देह चित्त का उपादान है और न देह की निवृत्ति से चित्त-सन्तति की निवृति होती है, अपितु गो गवयादि के समान चित्त और देह का उपादोनोपादेयभाव नहीं होता। गो गवय का मौलिक उपादानोपादेय न होने पर भी उनके सादृश्यादिरूप धर्मों या अवस्थाओं में परस्पर जो नियम्यनियामकभाव होता है, उनके विकार से वह अवश्य विकृत हो जाता है [दो मोटे-मोटे बैल और गवय का सादृश्य तब बिगड़ जाता है, जब दोनों में कोई एक सूखकर कृषकाय हो जाय]। इस प्रकार विशेष अवस्था का जो कारण है, उसकी निवृत्ति से उस विशेष अवस्था की ही निवृत्ति होगी, आधारभूत वस्तु-सन्तान की निवृत्ति नहीं हो सकती।

चेतः शरीरयोरेवं तद्धेतोः कार्यजन्मनः ।
सहकारात् सहस्थानमग्निताम्रद्रवत्ववत् ॥ ६४ ॥

चित्त और शरीर का भी उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकता, क्योंकि भय-शोक आदि के द्वारा शरीर में किसी प्रकार का विकार न होकर ही चित्त में विकार उत्पन्न होता है। शरीर चित्त का कथंचित् उपकारक अर्थात् चित्त की सुस्थिरता एवं कार्य-क्षमता का साधन है, एतावता शरीर को चित्त का उपादान कारण नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर चित्त-सन्तति का कारण नहीं। शरीर के उपादान कारण कलल आदि गर्भस्थ शरीर और चित्त का उपादान कारण या समानन्तर प्रत्यय दोनों एक समय में अपने कार्यों को जन्म देते हैं, अतः शरीर और चित्त का समकालावस्थान उपपन्न हो जाता है ॥ ६४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ह्यन्यस्य गुणदोषेणान्यगुणदोषोऽनुपादानत्वे सहावस्थानं च न स्यान्नियमेन शाल्यादि-सन्तानोदकवत्। अत्रोच्यते—चेतः शरीरयोरेवमिति।

न ह्यन्यतात्र प्रसिद्धा यतश्चेतःशरीरयोरप्येवमनुपादानोपादेऽप्यभावो गोगवययोरिव कथञ्चिदुपकारित्वमात्रम्। नावश्यं शरीरविकारेणैव विकारश्चेतसः। ततोऽनुपादानकारणत्वात्कार्यस्य न निवृत्तावपि चेतसो निवृत्तिः।

अवस्थाकारण वस्तु नैवोपादानकारणम्। अवस्थाकृन्निवृत्तौ हि सैवावस्था निवर्तताम् ॥ ४७५ ॥
सन्तानकारणं यत्तु तदुपादानकारणम्। तन्निवृत्तौ भवेदस्य सन्तानस्य निवर्तनम् ॥ ४७६ ॥
अग्नेर्निवृत्तौ ताम्रस्य द्रवतैव निवर्तते। चेतसः सह कायेन तावत्कालमवस्थितिः ॥ ४७७ ॥
अन्योऽन्यसहकारित्वादग्निताम्रद्रवत्ववत्। तयोर्हेत्वोर्न कार्यन्तु चित्तन्तिष्ठति हेमवत् ॥ ४७८ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रश्न—गो-गवय में उपादानोपादेयभाव न होने से निवर्त्य-निवर्तकभाव नहीं होता। इससे शरीर और चित्त में क्या ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भिन्न वस्तु के गुण-दोष भिन्न वस्तु को प्रभावित नहीं कर सकते। यदि शरीर चित्त का उपादान नहीं, तब इन दोनों का सहावस्थान क्योंकर बनेगा ?

उत्तर—उक्त प्रश्न का ही उत्तर वार्तिककार ने दिया है—"चेतःशरीरयोरित्यादि"। अर्थात् चित्त और शरीर की अन्यता (पृथक्ता) लोक-प्रसिद्ध नहीं, इनका उपादानोपादेयभाव न होने पर भी शरीर चित्त का उपकारक अवश्य है। एतावता शरीर की निवृत्ति से चित्त की निवृत्ति नहीं हो सकती। शरीर वस्तु चित्त का उपादान कारण नहीं, अपितु चित्त की विशेष अवस्था (व्यक्तता) का कारण है, अतः शरीर की निवृत्ति से चित्त निवृत्त नहीं होता, चित्त की विशेष अवस्था ही निवृत्त होती है ॥ ४७५ ॥ जो जिसकी विशेष अवस्था का ही कारण न होकर सन्तति का कारण होता है, उसे उस वस्तु का उपादान कारण कहा जाता है। उसकी निवृत्ति से कार्य-सन्तति की निवृत्ति होती है ॥ ४७६ ॥ अग्नि ताम्र (ताँबे) का हेतु न होकर ताम्रगत द्रवत्व (तालता) का ही कारण है, अतः अग्नि की निवृत्ति से द्रवत्व की ही निवृत्ति होती है, ताम्र की निवृत्ति नहीं। वैसे ही शरीर के साथ चित्त की स्थिति तब तक बनी रहती है, क्योंकि अग्नि और ताम्रगत द्रवत्व के समान चित्त और शरीर परस्पर उपकारी और सहकारी हैं ॥ ४७७–४७८ ॥ जैसे अग्नि का सहकारी सुवर्ण

वार्तिकालङ्कारः

यथैवाग्निसहकारिणः सुवर्णस्य द्रवतोपादानत्वन्ततोऽग्निताम्रद्रवत्वयोः सहावस्थानं तथा चित्तमपि शरीरनियतं शरीरसहकारिचित्तादुपजायते। शरीरहेतोरपि कललादेः शरीरं चित्तसहकारिण एव भवति। ततः सहस्थानं कार्यजन्मनः। एतदुक्तं भवति—

अन्योऽन्यसहकारित्वादेकसामग्र्यसम्भवे। सहकार्यद्वयस्यापि स्थानं नानुपपत्तिमत् ॥ ४७९ ॥

शरीरहेतोः कललादिसञ्ज्ञितस्य चित्तसहकारित्वाच्चित्तस्यापि देहसहकारित्वेन सहस्थानं कार्यजन्मनः कायचेतोलक्षणस्य वह्निताम्रद्रवत्ववत्। निवृत्ते तु शरीरे शरीरान्तरविशिष्टमशरीरं वा चित्तमिति न तस्य निवृत्तिः। सुवर्णसन्तानवत्।

अथापि स्यात्। यथोदकादेर्व्रीहिसन्तानस्य विशेषः स नोदकनिवृत्तौ निवर्त्तते। अग्न्यादेरुपहतोपादानस्य सन्तानस्यैव निवृत्तिः। तथा चेतस उपादानस्य केनचिदुपहतस्य न सन्तानकारणत्वमिति न सन्तानस्य निवृत्तिः स्यादिति। यथा च शालूकस्य विजातीयाद् गोमयादुत्पत्तिस्तथा शरीरादेव प्रथममुत्पत्तिः। अत्रोच्यते—

व्रीह्यादीनामुपादानमग्न्यादेरुपघातवत्। उपादानन्तु विज्ञानं केनचिन्नोपहन्यते ॥ ४८० ॥
शरीरात्प्रथमोत्पत्तिर्न विज्ञानस्य दृश्यते। उपादानोपघातेन विना न च निवर्तनम् ॥ ४८१ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

या ताम्र स्वगत द्रवत्व के उपादान कारण हैं, अतः अग्नि और ताम्रगत द्रवत्व का सहावस्थान होता है, वैसे ही शरीर-निमित्त चित्त भी शरीर-सहकृत पूर्वचित्त से उत्पन्न होता है, अर्थात् शरीर के उपादानभूत कलल-बुद्बुदादि एवं उत्तर चित्त का उपादानभूत पूर्व चित्त—ये दोनों उपादान कारण एक काल में ही अपने-अपने उपादेयभूत शरीर और उत्तर चित्त के जनक होने से सहकारी कहे जाते हैं। आशय यह है कि यद्यपि शरीर और चित्त—ये दोनों एक सामग्री से सम्भूत (उत्पन्न) नहीं होते, तथापि जिन अपने विभिन्न दो उपादान कारणों से उत्पन्न होते हैं, वे दोनों उपादान कारण एक ही समय में अपने कार्यों को जन्म देते हैं, अतः उनके कार्यभूत शरीर और चित्त का सहावस्थान बन जाता है ॥ ४७९ ॥ [कलल, बुद्बुद, मांस, पेशी आदि गर्भस्थ शरीर की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। सुश्रुत और भावप्रकाशादि में इनका विशद वर्णन किया गया है। पूर्व-पूर्व अवस्था का शरीर उत्तरोत्तरावस्थापन्न शरीर का उपादान कारण होता उसी प्रकार चित्त-सन्तति का पूर्व-पूर्व क्षण उत्तरोत्तर क्षणों का हेतुप्रत्यय होता है]।

शङ्का—जैसे उदकादि के सींचने पर धान की खेती हरी-भरी शाद्वल होकर लहलहा उठती है, वह शाद्वलता उदकादि की निवृत्ति होने पर अवश्य निवृत्त हो जाती है, अङ्कुरादि-सन्तति निवृत्त नहीं होती। हाँ, अग्नि आदि से बीजरूप उपादानकारण के नष्ट हो जाने पर अङ्कुर, नाल, काण्डादि-सन्तति नष्ट हो जाती है, किन्तु चित्त के उपादानभूत पूर्व चित्त का उपघात किसी से नहीं होता, कि उत्तर चित्त-सन्तति निवृत्ति हो जाती।

शङ्का—जैसे वृश्चिक (बिच्छू) की प्रथम बार उत्पत्ति अपने सजातीय वृश्चिक से न होकर विजातीय गोमय (गोबर) से हो जाती है, वैसे ही प्रथय चित्त की उत्पत्ति विजातीय चित्तत्वधर्म-रहित शरीर से क्यों नहीं हो सकती ?

समाधान—व्रीहि आदि का उपादान कारण बीज (धान) तो अग्नि से उपहत (दग्ध) हो सकता है, किन्तु चित्त का उपादानभूत विज्ञानस्कन्ध किसी से उपहत (नष्ट) नहीं हो सकता ॥ ४८० ॥ दूसरी बात यह भी है कि विज्ञान (चित) की

वार्तिकालङ्कारः

नाग्न्यादेरिव व्रीहिसन्तानोपादानस्योपघातो विज्ञानोपादानस्य। विज्ञानमेव विज्ञानस्योपादनम्। न च तस्य दाहादयः सम्भवन्ति। मिद्धादेरुपघात इति चेत्, न मिद्धादेस्तावत्कालिकोपघातहेतुत्वात्॥

पूर्वसंस्कारसापेक्षं ज्ञान व्यवहितादपि। विज्ञानाज्जायते तस्य न विच्छेदोऽस्ति मिद्धतः॥ ४८२॥

न खलु मिद्धमुपादानं विज्ञानस्योपहन्तुं समर्थम्---

विच्छिन्नादपि विज्ञानादुत्पादस्योपलब्धितः। विच्छेदे मरणे मिद्धे न विशेषव्यवस्थितिः॥४८३॥

अथ कदाचिद्विच्छेद एव भवेत्तदसत्।

उपलब्धो न विच्छेदः प्रबोधेन विना कुतः। स्वय परेण वा तस्य कुतः कल्पनमीदृशम्॥ ४८४॥

न तावत्स्वयमुपलभ्यते विच्छेदो ज्ञानस्यास्य हि विच्छेदो ज्ञानेनोपलभ्यते। ज्ञानस्य तु विच्छेदो न केनचित्। ज्ञानाभावेनेति चेत्। ज्ञानाभावोऽसिद्धः कथमभावं साधयेत्। सिद्धश्चेत्सैव सिद्धिर्ज्ञानमिति कथं ज्ञानस्य विच्छेदः॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उत्पत्ति शरीर से होती कभी नहीं देखी गई। उपादान की निवृत्तिके बिना उपादेय की निवृत्ति नहीं हो सकती॥ ४८१॥ अग्नि आदि से जैसे व्रीहि आदि को सन्तति नष्ट हो जाती है, वैसे विज्ञान-सन्तति किसी पदार्थ से नष्ट नहीं की जा सकती। विज्ञान का उदादान कारण विज्ञान ही होता है, उसका दाहादि सम्भव नहीं।

शङ्का—मिद्धसंज्ञक नीवरण (अकर्मण्यता) से चित्त-सन्तति का उच्छेद क्यों नहीं हो सकता ? [जैसा कि 'मिद्ध' शब्द की व्याख्या करते हुए अभिसमयालङ्कारालोक में कहा गया है—"मोहांशिकश्चेतसोऽभिसंक्षयो मिद्धम्" (अभि. पृ. २४८)। अर्थात् जैसे सरस्वती की पावन धारा अपने प्रवाह-पथ में पड़ने वाली कच्चो पर्वत-शृङ्खला से प्रचुरमात्रा में बहाकर लाई गई मृत्तिका, रेत, शर्करादि अवरोधक सामग्री से अवरुद्ध हो गई, सदा-सदा के लिए अपना प्रखर प्रवाह खो बैठी। वैसे ही चित्त-नदी का अनादि प्रवाह अपने में ही प्रवाहित जिस मोहात्मक तामस चैतसिक वृत्तियों से अपना संक्षय कर बैठती है, उन्हीं वृत्तियों की परिभाषा है—'मिद्ध']।

समाधान---'मिद्ध' संज्ञक तामस वृत्ति भी सदा के लिए चित्त की नाशिका नहीं हो सकती, केवल अपनी वर्तमानता के क्षणों में ही चित्त-सन्तति को स्तब्ध कर देती है। उस स्तब्धता से व्यवहित (पूर्वतन) विज्ञान उत्तरभावी चित्त-सन्तति को जन्म दिया करता है। फलतः 'मिद्ध' संज्ञक वृत्ति चित्त-प्रवाह की विच्छेदक नहीं हो सकती॥४८२॥ 'मिद्ध' वृत्ति अपने उपादानभूत विज्ञान के नाश का सामर्थ्य नहीं रखती। सौषुप्तिक क्षणों में विच्छिन्न (तिरोहित) विज्ञान सुषुप्ति के अनन्तर आविर्भूत होकर चित्त-सन्तति को जन्म देना उपलब्ध होता है। यदि मरण के समान ही 'मिद्ध' अवस्था भी विज्ञान की नाशिका है, तव इनमें अन्तर क्यों ? अन्तर या विशेषता लोक-प्रसिद्ध है॥ ४८३॥ प्रबोध (जागरण) के बिना स्वप्नावस्था का नाश न तो स्वयं अनुभूत होता है और न किसी अन्य के द्वारा। तब उसकी कल्पना भी कैसे होगी कि एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न के आधारभूत चित का नाश होता है॥ ४८४॥ विज्ञान के विच्छेद का अनुभव स्वयं विज्ञान को नहीं होता, हाँ, अन्य पदार्थों के विच्छेद का अनुभव तो विज्ञान को होता है, किन्तु ज्ञान का विच्छेद किसी के द्वारा भी उपलब्ध नहीं होता। ज्ञानाभाव के द्वारा ज्ञान के विच्छेद का अनुभव क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है

वार्तिकालङ्कारः

सर्वदापि हि विच्छेदोऽज्ञायमानः सदा भवेत् । अभावः परलोकस्य स एवेति दुरुत्तरम् ॥ ४८५ ॥

तदप्यसत् ।

पूर्वसंस्कारसापेक्षप्रबोधस्योपलब्धितः । सविज्ञानस्य विच्छेदः केवलो नोपलभ्यते ॥ ४८६ ॥

जन्मादौ प्रबोधे च विज्ञानं पूर्वसंस्कारानुगतमेवोपलब्धमिति न पूर्वापरयोः कोट्योर्विच्छेदोपलब्धिः । परेण तु परस्य विज्ञानविच्छेदो नोपलभ्यत एव । उपलब्धिलक्षणप्राप्त्यभावात् । न च वीतरागतया शैथिल्यसम्भवे विच्छेदः ।

स्वार्थे निस्पृहता नाम विरागस्येति संमतम् । परार्थनिःस्पृहस्त्वस्ति निर्दोषोऽपि न सङ्गतः ॥४८७॥

न खलु परार्थनिस्पृहतया निर्दोषता लभ्यते । स एव हि तस्य दोषो यदकृपत्वं नाम । अथवा वीतरागतायां विच्छेद इष्यते एव कैश्चिदिति न दोषः । तस्मान्न दानोपघाः तेन विज्ञानस्य निवृत्तिः । शरीरस्यानुपादानात् । चित्तस्योपहन्तुमशक्यत्वात् ।

स्यादेतद् । यदि नामोपादाननिवृत्त्या न निवृत्तिर्विज्ञानस्याश्रयनिवृत्त्या निवृत्तिरिति न परलोकसिद्धिः ।

तदप्यसन्न सञ्चारश्चित्रादेरुपलभ्यते । तत आधारनाशे स्यान्नाशश्चित्रादिवस्तुनः ॥ ४८७ ॥

चित्रादयो हि पटादिषु नाधारान्तरादागता इति प्रतीयन्ते । विज्ञानन्तु जन्मादौ प्रबोधावस्थायां च जन्मान्तरशरीरसहचारिसंस्कारानुगतं स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चाराः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कि ज्ञानाभाव नाम की वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं। असिद्ध पदार्थ किसी का साधक नहीं होता। यदि ज्ञानाभाव की सिद्धि मानी जाती है, तब वह सिद्धि ही ज्ञान पदार्थ है, ज्ञान का विच्छेद कैसे ?

ज्ञान का विच्छेद सर्वदा अज्ञायमान है। यही तो परलोक का अभाव है ॥४८५॥ ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि पूर्वसंस्कार-सापेक्ष प्रबोध (जागरण) की उपलब्धि सभी को होती है, अर्थात् जागने पर स्वप्न-विज्ञान के विच्छेद का जो अनुभव होता है, वह केवल विज्ञान विच्छेद का नहीं, अपितु पूर्व संस्कार-युक्त विच्छेद का। इससे संस्कार-जनक विज्ञान की भी सिद्धि स्वप्न में होती है ॥ ४८६ ॥ जन्म के आरंभ में या सोकर जागने पर जो विज्ञान (चित्त) उपलब्ध होता है, वह पूर्व-संस्कारों से युक्त होता है, केवल विज्ञान नहीं होता, अतः पूर्व और पर कोटि का विच्छेद उपलब्ध नहीं होता। ज्ञान का विच्छेद न तो उसी ज्ञान के द्वारा प्रकाशित हो सकता है और न ज्ञानान्तर के द्वारा, क्योंकि न्यायबिन्दु (पृ० १०३) में चर्चित उपलब्धिलक्षणप्राप्त या योग्यप्रतियोगिक अभावरूपता विज्ञान-विच्छेद में सम्भव नहीं।

यह जो नैयायिकों ने कहा है—"वीतरागजन्मादर्शनात्" (न्या० सू० ३।१।२५) अर्थात् रागादि दोषों से रहित महर्षि-कल्प प्राणियों का जन्म नहीं होता, विज्ञान का विच्छेद हो जाता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वीतरागता का अर्थ है—निःस्पृहता। राग की शिथिलता है, विज्ञान का विच्छेद नहीं। अतः स्वार्थ में निःस्पृहता ही विरागता मानी जाती है। परार्थता तो परोपकारी महापुरुषों में होती ही है, उसे कोई दोष नहीं कहता ॥ ४८७ ॥ परार्थ-निःस्पृही व्यक्ति निर्दोष नहीं माना जाता, क्योंकि दूसरों पर कारुणिक न होना तो लोक में दोष ही समझा जाता है, ॥ ४८७ ॥ अथवा जिस वीतरागता की अवस्था में विज्ञान का विच्छेद माना जाता है किन्तु सर्वथा रागादि की निवृत्ति सम्भव नहीं। फलतः विज्ञान के उपादानभूत समनन्तर विज्ञान का

अनाश्रयात् सदसतोर्नाश्रयः स्थितिकारणम् ।
ततश्चेदाश्रयो नास्याः स्थातुरव्यतिरेकतः ॥ ६५ ॥

शरीर न तो सत (विद्यमान) चित्त का आश्रय हो सकता है और न असत् (अविद्यमान) चित्त का, क्योंकि सत् पदार्थ निष्पन्न हो चुका है, उसका आश्रय मानना व्यर्थ

वार्तिकालङ्कारः

नुगतञ्चेति न चित्रवत् प्रतिनियताधारम् । प्रतिनियताधारत्वे हि तदाधारविनाशे विनाशः । अपि चाश्रयत्वमपि नास्त्येव देहस्यान्यस्य वा क्वचिदिति कथं तद्विनाशे विनाशः ।

चित्रादयस्तु कुड्याद्यव्यतिरिक्ता एव । ततः स्वविनाशेनैव विनश्यन्ति नाधारविनाशात् । मा भूदव्यतिरेके आश्रयाश्रयिभावो व्यतिरेके कायचेतसोर्भविष्यतीति चेत् । नैतदस्ति —अनाश्रयात्सतोर्नाश्रय इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उपघात न होने के कारण विज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती । शरीर को विज्ञान का उपादान माना नहीं जा सकता—इसका उपपादन किया जा चुका है, अतः शरीर के उपघात से चित्त का उपघात नहीं हो सकता ।

शङ्का—यदि उपादान कारण की निवृत्ति से विज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, तब आश्रयीभूत शरीर की निवृत्ति से विज्ञान की निवृत्ति अवश्य ही हो जायगी । चित्त की आश्रयता देह में ही प्रतीत होती है, अतः जैसे कुड्य (दीवार) आदि आधार द्रव्य की निवृत्ति हो जाने से चित्र की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही देह की निवृत्ति होने पर चित्त की निवृत्ति हो जाती है, चित्त का शरीरान्तर-धारण या परलोक-प्राप्ति की सिद्धि क्योंकर होगी ?

समाधान—उक्त दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की समानता सम्भव नहीं, क्योंकि चित्रावलि एक आधार को छोड़कर आधारान्तर में सञ्चरित होती नहीं देखी जाती, अतः आधार का नाश हो जाने पर चित्रावलि का नाश युक्ति-संगत है ॥ ४८८ ॥ पटादि पर जो चित्रावलि दिखती है, वह किसी दूसरे आधार से सरक कर नहीं आई, किन्तु विज्ञान पूर्वलोक (पुरातन शरीर) से परलोक (नूतन शरीर) में सञ्चरित होता है । इतना ही नहीं, अपितु पूर्व शरीर में उपार्जित संस्कारों से वह विज्ञान वैसे ही संवलित होता है, जैसे जागरित अवस्था के संस्कारों से युक्त विज्ञान स्वप्न में और स्वाप्न संस्कारों से आश्लिष्ट विज्ञान प्रबोधावस्था में सञ्चार करता है । इस प्रकार चित्र का आधार एक निश्चित होता है और विज्ञान एक आधार (शरीर) से दूसरे और दूसरे से तीसरे में सञ्चरित होता रहता है । यदि विज्ञान भी चित्र के समान ही प्रतिनियताधारक होता, तब अपने आधार (शरीर) के नाश से अवश्य नष्ट हो जाता, किन्तु वैसा नहीं । वस्तुस्थिति तो यह है कि देह में चित्त की आश्रयता भी नहीं कि आश्रय नाश-प्रयुक्त चित्त-नाश प्रसक्त होता । चित्रादि कुड्यादि से अव्यतिरिक्त ही होते हैं, अतः स्वाभिन्न द्रव्य के नाश से उसका नाश होता है, आश्रय के नाश से नहीं ।

कुड्य और चित्रादि का अभेद होने से यदि आश्रयाश्रयिभाव नहीं होता तो न सही । शरीर और चित्त तो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, अतः इनका आश्रयाश्रयिभाव क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—अनाश्रयत्वादित्यादि । अर्थात् शरीर को यदि चित्त का

है और असत् वस्तु का आश्रय सम्भव ही नहीं, क्योंकि है ही नहीं, उसका आश्रय कौन होगा ? सत् की उत्पत्ति का कारण न सही, स्थिति का कारण तो अपेक्षित है, शरीर चित्त की स्थिति का कारण होने से आश्रय कहलाता है—ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि स्थिति पदार्थ अपने स्थाता (चित्तादि) से भिन्न नहीं, अतः स्थितिमान् का जो कारण होगा, वही स्थिति का कारण या आश्रय होगा। शरीर चित्त का कारण नहीं, यह कहा जा चुका है। अतः शरीर चित्त की स्थिति का भी कारण नहीं हो सकता॥ ६५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

असतस्तावदाश्रयो नास्ति। न हि खरविषाणस्य कश्चिदाश्रयः केवलमसत्कारणादुत्पत्तिमीहते। ततोऽसतः कारणमेव सम्भवति नाश्रयः। सतोऽपि नाश्रयः सतः सर्वनिराशसत्त्वात्। सतोऽपि स्थितिकरणादाश्रय इत्यपि न सङ्गतम्। स्थितेः स्थातुरव्यतिरेकात्। स्थितिकरणे स एव कृतः स्यात्। न च सत उत्पादनम्। उत्पन्नस्य पुनरुत्पादायोगात्। अथोत्पन्नस्यापि किञ्चिदनुत्पन्नमस्ति तत्करणादाश्रयः। सर्वात्मनोत्पादे कारणमुच्यते। कस्यचिद्धर्मस्योत्पादे आधारादिः। न च स्थितिरव्यतिरिक्ता स्वरूपात्पततोऽपि स्थित्यभावे स्वरूपसद्भावात्। यदि तु पुनरव्यतिरिक्ता स्थितिः स्यात्। स्थितेरव्यतिरिक्तः स स्यात्। सर्वदा स्थितिर्भवेत्। स्वरूपे सति निवर्तमानविरुद्धधर्माध्यासाद् व्यतिरिक्ता भवेदिति युक्तम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आश्रय माना जाता है, तब असत् (अविद्यमान) चित्त का ? अथवा विद्यमान का ? असत् पदार्थ का तो कोई आश्रय हो नहीं सकता, क्योंकि खर-शृङ्गादि असत् पदार्थों का लोक में कोई आश्रय देखा नहीं जाता। असत् पदार्थ सत् बनने के लिए केवल अपने उत्पादक कारण की ही अपेक्षा किया करता है। सत् पदार्थ का भी कोई आश्रय नहीं बन सकता, क्योंकि आश्रित पदार्थ की स्थिति के कारणीभूत पदार्थ का आश्रय कहा जाता है, किन्तु सत् पदार्थ तो किसी की आशंसा (अपेक्षा) ही नहीं करता। यद्यपि सत् पदार्थ अपनी उत्पत्ति के लिए तो किसी की अपेक्षा नहीं करता तथापि अपनी स्थिति के कारण पदार्थ की अपेक्षा करता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्थिति का अपने स्थाता (आश्रित) पदार्थ से अभेद माना जाता है, तब वही उसकी स्थिति का कारण क्योंकर बनेगा ? सत् पदार्थ का उत्पादन भी सम्भव नहीं, क्योंकि सत् (उत्पन्न) पदार्थ का पुनः उत्पादन क्योंकर होगा ?

शंका—उत्पन्न पदार्थ का भी कोई अंश अनुत्पन्न रह जाता है, जिसकी उत्पत्ति के कारण को आश्रय कहा जाता है और वस्तु के सर्वात्मतया (पूर्णतया) उत्पादक को कारण। उसी प्रकार कार्यगत किसी धर्म के उत्पादक को आधारादि शब्दों से अभिहित किया जाता है। वस्तु के स्वरूप से उसकी स्थिति अव्यतिरिक्त (अभिन्न) नहीं होती, क्योंकि जो पत्ता वृक्ष से टूट कर गिर रहा है, कहीं स्थित नहीं हुआ, उसका स्वरूप भी स्वरूप है किन्तु उसे स्थिति नहीं मान सकते। यदि स्थाता से स्थिति अव्यतिरिक्त है, तब वह स्थाता पदार्थ भी स्थिति से अव्यतिरिक्त होगा, तब तो सर्वदा स्थिति माननी होगी, किन्तु स्थिति सर्वदा नहीं और स्वरूप सर्वदा है। इस प्रकार सत्त्व और असत्त्वरूप विरुद्ध धर्मों से युक्त होने के कारण स्वरूप और स्थिति—ये दोनों पदार्थ परस्पर भिन्न सिद्ध होते हैं, अव्यतिरिक्त नहीं।

व्यतिरेकेऽपि तद्धेतुस्तेन भावस्य किं कृतम् ।
अविनाशप्रसङ्गः स नाशहेतोर्यतो यदि ॥ ६६ ॥

स्थिति को स्थाता से व्यतिरिक्त मान लेने पर भी स्थिति का वही आश्रय होगा, जो स्थिति का कारण हो । इस प्रकार शरीर चित्त को स्थिति का कारण होने पर भी स्थितिमान् (चित्त) का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि स्थिति और स्थितिमान् परस्पर व्यतिरिक्त (भिन्न) हैं । यदि शरीर से उत्पन्न होकर स्थिति अपने स्थाता (चित्त) की स्थापना करती है, तब कदाचित् उस स्थिति का विनाश भी होगा । उस नाश में स्थिति के समान ही व्यतिरिक्त-व्यतिरिक्तत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । अर्थात् नाश भी तो अपने भाव से अव्यतिरिक्त किया जा सकता क्योंकि भाव पदार्थ उत्पन्न है, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ' भाव पदार्थ से व्यतिरिक्त नाश की उत्पत्ति मानने पर भाव पदार्थ जैसे-का-तैसा पूर्ववत् उपलब्ध होना चाहिए ॥ ६६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तदसत् । व्यतिरेके सति तद्धेतुरेवासौ स्थितिहेतुरेवासौ नाधारः । भावस्याधार इति चेन् न भावेऽकिञ्चित्करत्वात् । भावस्य स्थितिकरणादाधार इति चेत् । किमसौ स्थितिरुत्पन्नासती स्थाप्यस्य भवत्यथान्यथा । उत्पत्तेः प्राग न भावस्याभावादेव । तत (उत्पन्नान्यस्माद् व्यतिरिक्ता कथं भावस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावात् तत्समवेतोत्पद्यत इति चेत् । तत्समवेतेति कोऽर्थः । तत्र स्थितेरिति स्थितेरप्यपरास्थितिरित्यनवस्था । व्यतिरिक्ता सती व्यतिरिक्तत्वेन कस्मान्न प्रतीयते । समवायसम्बन्धादिति चेत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—यदि स्थिति स्थाता से व्यतिरिक्त है, तब शरीर चित्त की स्थिति का हेतु ही रहेगा, आधार नहीं । भाव (चित्त की सत्ता) का तो शरीर आधार रहेगा, ऐसा कहना सम्भव नहीं, क्योंकि चित्त की सत्ता अनादि है, उसका शरीर किञ्चित्कर हेतु) नहीं माना जा सकता । भाव की उत्पत्ति का कारण न सही, भाव की स्थिति का कारण तो शरीर है, अतः चित्त का आधार क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में जिज्ञासा होती है कि क्या यह स्थिति उत्पन्न होकर स्थाप्य पदार्थ की है ? अथवा अन्यथा ? उत्पत्ति के पहले भाव का भाव ही नहीं, स्थिति किसकी होगी ? अतः वह भाव की स्थिति अन्य पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण भाव की क्योंकर कहलाएगी ? साध्य से तादात्म्यापन्न वृक्षत्वादि या साध्य से उत्पन्न धूमादि ही पदार्थ साधक कहलाते हैं । इन दो सम्बन्धों का जिन पदार्थों में अभाव है, उनमें साध्य-साधक भाव कभी नहीं बन सकता, तत्समवेत (भाव पदार्थ में समवेत) होकर स्थिति उत्पन्न होती है - ऐसा कहने पर प्रश्न उठता है कि 'तत्समवेत' का क्या अर्थ ? 'तत्र समवेता तत्समवेता' ऐसा विग्रह मानने पर (अनवस्था दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि 'समवेता स्थिति' का अर्थ है—समवाय सम्बन्ध से भाव स्थित (स्थितिमती) स्थिति । इस प्रकार स्थिति मानने पर अनवस्था दोष आ जाता है ।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि भाव पदार्थ की स्थिति उससे व्यतिरिक्त है, तब वह व्यतिरिक्तत्वेन प्रतीत क्यों नहीं होती ? समवाय सम्बन्ध के कारण—ऐसा नही कह सकते, क्योंकि समवाय सम्बन्ध के रहने पर भी जो वस्तु जैसी है, वैसी ही प्रतीत होनी चाहिए । स्थिति यदि व्यतिरिक्त है, तब व्यतिरिक्तत्वेन ही उसकी प्रतीति

वार्तिकालङ्कारः

भवतु समवायस्तथापि यस्य यद्रूपत्तेनैव तत्प्रतीयताम्। कथमन्यथा प्रतीतिः। संसर्गाच्चेत्, कोऽयं संसर्गो नाम। यदि सर्वात्मना संसर्गो न व्यतिरेकः। अथैकदेशेन संसर्गः संयोगसमवाययोः को विशेषः। युतायुतसिद्धित्वमिति चेत्। वृक्षाद्यवयवानामपि समवायप्रसङ्गः। इह बुद्धिनिबन्धनत्वे सतीति चेत्, न, संयोग एव प्रसङ्गात्। मस्तके शृङ्गमिति प्रतीतेः। अथ स्वसमवाय्यवयवसमवेतत्वमयुतसिद्धिर्विपर्ययाद्युतसिद्धिः। तथापि भेदप्रतीत्या न समवायः। न च निरवयवस्य वस्तुनोऽवयवेन संसर्गः। अवयवेन संसर्गे भेदप्रतीतिप्रसङ्गः। अन्वितानन्वितत्वेन भेद इति न साम्प्रतम। प्रत्यक्षेणान्वयस्याप्रतीतेः। प्रत्यक्षाभावे च नानुमानमिति नान्वयप्रतीतिः। तस्मात्सहकारिकारणविशेषाद्विशिष्ट एव पदार्थं उत्पद्यते। न स्थितिर्नामेति स्थितम्। तथा च कार्यकारणभावविशेष एवाश्रयाश्रयिभावः। न चोपादानकारणं देह इति तन्निवृत्तौ न निवृत्तिः। यदि चाश्रयो देहः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होनी चाहिए, अन्यथा (अव्यतिरिक्तत्वेन) क्यों ? संसर्गात् (संसर्ग होने के कारण) अव्यतिरिक्तत्वेन प्रतीति हो जाती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संसर्ग पदार्थ क्या है ? यदि भाव के साथ स्थिति का सर्वात्मत्वेन संसर्ग है, तब भाव और स्थिति का अव्यतिरेक हो जाता है, व्यतिरेक नहीं रह जाता। यदि संसर्ग सर्वात्मना न होकर एकदेशेन (अव्याप्यवृत्ति) है, तब समवाय सम्बन्ध का संयोग से कोई अन्तर नहीं रह जाता। संयोग युत-सिद्ध और समवाय अयुत-सिद्ध है—ऐसा अन्तर करने पर वृक्ष संयुक्त दो शाखाओं में भी समवाय सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों शाखाएँ युत-सिद्ध (परस्पर पृथक्) नहीं। वैशेषिकों ने जो समवाय का लक्षण किया है—"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः" (वै० सू० ७।१।२६)। अर्थात 'इह (तन्तुषु) पटः'—इस प्रकार कार्य और कारण में प्रतीति जिस सम्बन्ध के आधार पर होती है उसे समवाय कहते हैं। वह वैशेषिकों का लक्षण भी संयोग में ही अतिव्याप्त होता है, क्योंकि गवादि के मस्तक पर संयोग सम्बन्ध से शृङ्गादि के होने पर भी वैसी ही प्रतीति होती है—'इह शृङ्गम्'। यदि 'स्वसमवाय्यवयवसमवेतत्व' [पट का अपने समवायिकारणरूप अवयवों (तन्तुओं) में समवाय सम्बन्ध से रहना ही अयुत-सिद्धि और उससे भिन्न पदार्थ को युतसिद्ध माना जाता है]। इस प्रकार पट का तन्तुओं के साथ अयुतसिद्धत्व और समवाय सिद्ध होता है, किन्तु तन्तु और पट—दोनों का भेद प्रतीत होने के कारण युत-सिद्धता सिद्ध होती है, अयुत-सिद्धत्व नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि परमाणु, आकाश, गुणादि निरवयव पदार्थों के समवाय में उक्त अवयव-घटित लक्षण क्योंकर घटेगा ? क्योंकि वहाँ अवयव के साथ संसर्ग नहीं होता, संसर्ग मानने पर भेद-प्रतीति की भी प्रसक्ति होती है, क्योंकि अप्राप्त-प्राप्तिरूप ससर्ग सदैव भिन्न पदार्थों का होता है। समवाय तन्त्वादिरूप अन्वित और संयोग अनन्वित अवयवों का होता है—इस प्रकार का भेद भी समवाय और संयोग का नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्वादि में अन्वितत्व की प्रत्यक्ष प्रतीति ही नहीं होती। अन्वितत्व का प्रत्यक्ष न होने पर अनुमान भी नहीं हो सकता, फलतः सहकारी कारण के आधार पर स्थिति-विशिष्ट भाव पदार्थ ही उत्पन्न होता है, केवल स्थिति नहीं। तन्तु और पटादि का कार्यकारणभाव ही आश्रयाश्रयिभाव है। शरीर चित्त का उपादान कारण न होने के कारण शरीर की निवृत्ति से चित्त की निवृत्ति नहीं हो

तुल्यः प्रसङ्गस्तत्रापि किं पुनः स्थितिहेतुना ।
अनाशकागमात्स्थानं तत्तच्चेद्वस्तुधर्मता ॥ ६७ ॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि नाशक हेतु के द्वारा नाश की उत्पत्ति की जाती है, तब स्थिति के हेतुभूत आश्रय से क्या होगा ? जब तक नाश उत्पन्न नहीं होता, तब तक तो भाव की स्थिति अपने-आप रहेगी । जब तक नाशक हेतु का आगमन नहीं होता, तब तक आश्रय के द्वारा चित्तादि की स्थिति मानने पर नाश में वस्तु-धर्मता प्रसक्त होती है अर्थात् नाश भी वस्तु का स्वाभाविक धर्म बन जायगा ॥ ६७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्थितिकरणात्तदाश्रयस्य स्थितिरस्ति न तस्य विनाश इति । तदाह—अविनाशप्रसङ्ग इति । नहि स्थापके सति विनाशसम्भवः ।

(१९) अहेतुको विनाशः—

अथापि स्यान्न स्थापके सति नाशो यदि नाशहेतुर्न स्यान्नाशहेतुभावाद्विनाश इति न विनाशप्रसङ्ग इत्याह—नाशहेतोः स नाश इति चेत् , न, तुल्यस्तत्रापि प्रसङ्गः । तत्रापि नाशे तुल्य एव प्रसङ्गो न नाशो नामान्य एव कश्चिद्भावात् ।

व्यतिरेके च तद्धेतुस्तेन भावस्य किं कृतं ॥ ४८९ ॥

नहि व्यतिरिक्तनाशकरणे स नष्टो नाम । ततश्च न नाशहेतुः किञ्चित्करोति । ततोऽनाशात् स्वयमेवास्त इति किं स्थितिहेतुना । नाकिञ्चित्करः स्थितिहेतुः । अथवा यदि नाशहेतोर्नाशः । यावन्नास्ति नाशहेतुस्तावत्स्वयमेवास्त इति किं स्थितिहेतुना ?

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकती । यदि शरीर चित्त का आश्रय है, तब शरीर चित्त की स्थिति का कारण ही सिद्ध होता है उसका नाशक नहीं । अर्थात् स्थापक के होने पर वस्तु की स्थिति ही सुदृढ़ होती है, उसका विनाश क्योंकर सम्भव होगा ?

(१९) विनाश अहेतुक है—

शङ्का—संस्थापक के रहने पर वस्तु का नाश नहीं होता, यदि नाश का कारण न हो। नाश का हेतु उपस्थित होने पर वस्तु का विनाश हो जाता है । प्रकृत में नाशक हेतु नहीं, अतः विनाश प्रसक्त नहीं होता—यह कहा जाता है—"अविनाशप्रसङ्ग" इत्यादि । नाश के हेतु से यदि नाश माना जाता है, तब स्थिति-पक्ष वह प्रसङ्ग तुल्यरूप से पतित होता है । अर्थात् अपने हेतु से उत्पन्न होनेवाला नाश अपने भावरूप प्रतियोगी से वैसे ही भिन्न नहीं, जैसे स्थिति अवस्था स्थाता से भिन्न नहीं । यदि नाशपदार्थ भाव से व्यतिरिक्त माना जाता है , तब नाश के उत्पन्न होने पर भी भाव पदार्थ पर उसका क्या प्रभाव ? ॥ ४८९ ॥ क्योंकि भाव से अभिन्न नाश यदि उत्पन्न होता, तब भाव का नाश हो जाता, किन्तु उससे व्यतिरिक्त नाश के उत्पन्न होने पर भाव पदार्थ तो नष्ट नहीं हो सकता । फलतः नाश का हेतु अकिञ्चित्कर है, कुछ नहीं कर सकता । फिर तो भाव पदार्थ जैसे-का-तैसा स्थित(विद्यमान) है, स्थिति के कारण (स्थापक) की क्या आवश्यकता इस प्रकारस्थिति का हेतु भी अकिञ्चत्कर (व्यर्थ) है । अथवा यदिनाश के कारण से नाश की उत्पति होती है, तव नाश का हेतु जब तक उपस्थित नहीं होता तब तक भाव पदार्थ की स्थिति अपने-आप रहती है, स्थिति के कारण की क्या आवश्यकता ?

वार्तिकालङ्कारः

इदुक्तम्—अनाशकागमात्स्थानमिति ।

स्थापकमन्तरेण नाशो नाशकमन्तरेणापि स्यात् । स्थापके तु नाशके सति नश्यति । न नाशहेतुं विना । ततः स्थितिकरणात् नाशकात्प्राक् स्थापक इति न व्यर्थता । नन्वेवमहेतुको विनाशः प्रसक्त इति स्वहेतोरेव तथाभूतो भाव इति वस्तुधर्मता नाशस्य । सति विद्यमाने पदार्थेऽबाधोऽसौ । न केनचिद्वस्तुस्वभावोऽन्यथा कर्त्तव्य इति किं स्थिति-हेतुना ।

अथ स्थितिहेतुमन्तरेण विनश्यति । स्थितिहेतौ च सति विनाशप्रतिबन्धः । ननु सोऽपि विनाशप्रतिबन्धोऽन्य एव विनाशात् । ततश्च न विनाशस्य किञ्चिदिति विनश्येदेव कथं स्थितिः । अथ प्रतिक्षणं विनश्वरः स्थापकादन्यथा भवति । तस्यापि विनाशोऽहेतुक इति स एव प्रतिक्षणविनाशः । स चान्यथा स्थापकादुत्पन्न इति कारणमेवासाविति न स्थापकः । अथवा यदि स्थापकात्स्थानमानाशकागमादनाशः । एवं सत्यनाश उत्पन्न इति । अबाधोऽसाविति किं पुनः स्थितिहेतुना । अथ स्थापकसत्ताकाल एवानाशस्तथा सति प्रतिक्षणमपरापरो नाशः स्थापकात् । स्थापकस्य च किं कृतं स्थानम् । स्वहेतुकृतं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—स्थापक हेतु के विना नाशक हेतु और नाशक हेत के विना स्थापक हेतु हो सकता है । जहाँ स्थापक और नाशक—दोनों हेतु हैं, वहाँ भाव पदार्थ का नाश हो जाता है, नाशक हेतु के बिना नाश नहीं होता । अतः नाशक हेतु के आने से पहले स्थापक हेतु स्थिति का साधक होने से व्यर्थ नहीं होता ।

समाधान—स्थिति-क्षण के पश्चात् नाश तो अनुभव-सिद्ध है । यदि नाशक हेतु नहीं, तब नाश को अहेतुक और भाव पदार्थ का स्वभाव मानना होगा । यह स्वभाव भाव वस्त को अपने समनन्तर प्रत्यय से प्राप्त होता है, उसका बाध स्थिति-हेतु से भी नहीं हो सकता, फलतः स्थिति-हेतु व्यर्थ है । क्षणिकत्व तो सद्वस्तु का अपना स्वभाव है, उसका अन्यथा-करण कभी सम्भव नहीं ।

स्थापक (स्थिति-हेतु) के रहने पर वस्तु का नाश नहीं हो सकता, क्योंकि स्थापक हेतु नाश का प्रतिबन्धक होता है ।

शङ्का—नाश का प्रतिबन्ध भी विनाश से भिन्न ही रहेगा, तब विनाश पर उसका कुछ प्रभाव नहीं, अतः वस्तु का नाश अवश्य होगा, स्थिति क्योंकर होगी ? प्रतिक्षण विनश्वर पदार्थ स्थापक हेतु के द्वारा अन्यथा (स्थिर) हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह (स्थापक हेतु) भी क्षणभङ्गुर है, अतः भाव पदार्थ का प्रतिक्षण विनाश ध्रुव है । वह (भाव पदार्थ) अपने स्थापक के द्वारा प्रत्येक क्षण में नूतन उत्पन्न होता है, अतः स्थापक हेतु तो भावान्तर-सन्तान का जनक कारण सिद्ध होता है, स्थापक कैसे होगा ? अथवा यदि स्थापक हेतु से भाव पदार्थ की तब तक स्थिति बनाई रखी जाती है, जब तक विनाशक नहीं आता । तब तो यह कहना होगा कि वही अनाश अवस्था उत्पन्न हो गई, स्थिति-हेतु के द्वारा उसका बाध नहीं हो सकता, अतः वह व्यर्थ है । यदि वह अनाश स्थापक हेतु के सत्ता-काल में ही माना जाता है, तब स्थापक हेतु के द्वारा उत्तरोत्तर नाश की उत्पत्ति माननी होगी, स्थापक की स्थिति क्योंकर होगी ? अपने हेतु से उसकी स्थिति होगी—यदि ऐसा है, तब स्थाप्य पदार्थ की भी स्थिति वैसे ही स्वतः हो जायगी, स्थापक की क्या आवश्यकता ? किसी पदार्थ

नाशस्य सत्यबाधोऽसाविति किं स्थितिहेतुना ।
यथा जलादेराधार इति चेत् तुल्यमत्र च ॥ ६८ ॥

जब कि 'नाश' पदार्थ स्वाभाविक एवं बाध-रहित है, तब स्थिति का हेतु मानना नितान्त व्यर्थ है, क्योंकि नाशक्षण में स्थिति हो नहीं सकती और स्थिति-क्षण में नाशक न होने से हेतु के बिना ही स्थिति अपने-आप ही रह जाती है। सत् जलादि का घटादि आधार है, वैसे ही शरीर चित्त का आधार या आश्रय क्यों नहीं ? इस प्रश्न का भी उत्तर पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। अर्थात्त शरीर में चित्त की आश्रयता चित्तोत्पादकत्वेन न होकर स्थापकत्वेन ही माननी होगी, तब स्थिति की जटिल चर्चा असमञ्जसता उपस्थित कर देती है ॥ ६८ ॥

प्रतिक्षणविनाशे हि भावानां भावसन्ततेः ।
तथोत्पत्तेः सहेतुत्वादाश्रयोऽयुक्तमन्यथा ॥ ६९ ॥

भाव पदार्थ विनश्वरस्वभाववाले होते हैं, उनके प्रतिक्षण भावी विनाश या भावसन्तति का जो भाव पदार्थ सहकारी अर्थात् स्वकीय उपादान में विद्यमान उत्पत्ति का निमित्तकारण होता है, उसको ही आश्रय कहा जाता है, अन्यथा आश्रयभाव सम्भव नहीं ॥ ६९ ॥

स्यादाधारो जलादीनां गमनप्रतिबन्धतः ।
अगतीनां क्रिमाधारैर्गुणसामान्यकर्मणाम् ॥ ७० ॥

जलादि द्रव्य गतिक्रिया (परिस्पन्दनादि) से युक्त होते हैं, अतः उन्हें परिस्पन्दनादि (टपकने) से रोकनेवाले घटादि द्रव्य को आधार माना जाता है, किन्तु क्रिया-रहित पदार्थों (गुण, जाति और कर्मादि) का आधार से क्या प्रयोजन ? अर्थात् चित्त विज्ञानस्वरूप है, क्रियावान् पदार्थ नहीं, कि शरीर को उसका आधार माना जा सके ॥ ७० ॥

वार्तिकालङ्कारः

चेत् स्थाप्यस्यापि तथा भविष्यतीति किं स्थापकेन। अथ कस्यचित्स्थापकात्स्थानं कस्यचित्स्वयमेवेति विभागः। एवन्तर्हि विज्ञानस्यापि स्वयमेव स्थितिरिति किन्नेष्यते।

अथापि स्याद्। दृश्यते जलाधारो भूप्रदेशः। न च दृष्टं विकल्पनं तेनापि बाध्यते। तेनानाश्रयात्सदसतोरिति व्यर्था वाचोयुक्तिर्दृष्टबाधनात्। अत्राप्याह—यथा जलादेराधार इति।

जलादेरप्याधाराभावो भूतलादीनां सदसत्त्वपक्षयोर्युक्त एवेत्यदृष्टो दृष्टान्तः। ननु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

की स्थिति स्थापक के द्वारा और किसी की स्थिति स्वतः—ऐसा विभाग करने पर विज्ञान की भी स्थिति स्वतः क्यों नहीं मान ली जाती ?

जैसे सत् जलादि का आधार भू-प्रदेश (घटादि) देखा जाता है, वैसे ही चित्त का शरीर आधार है—इस व्यवस्था का यह कहकर खण्डन किया जा चुका है कि जैसे घटादि में जलाधारता दृष्टचर है, वैसे शरीर में चित्ताधारता दृष्ट नहीं। इस प्रकार भी शरीर में चित्ताधारता बाधित हो जाती है, अतः पैंसठवीं कारिका में जो कहा गया है—"अनाश्रयात् सदसतोः" वह व्यर्थ है, क्योंकि जब शरीर में चित्ताश्रयता दृष्ट ही नहीं, तब सत्-असत् का विकल्प उठता ही नहीं। यहाँ भी वही कहा गया है—"यथा-जलादेरित्यादि"। अर्थात् भूतलादि में भी सत् या असत् जलादि की आधारता का

वार्तिकालङ्कारः

दृष्टत्वादाधारभावस्य कथमदृष्टः। अदृष्ट एव दृष्टाभिमानो भवतः। क्रियां प्रति य आधारो धारणात्कर्त्तृकर्मणोरिति न्यायः। धारणादाधारः। धारणश्च पततः। यश्च पतति न तस्य धारणम्, यस्य च धारणं न तस्य पतनोपलम्भः। पतनापतनयोः परस्परविरोधात्। पूर्वं पतनं पश्चादपतनमिति चेत्। न तर्हि यस्य पतनं तस्य धारणं प्रत्यक्षेणैकत्वाप्रतिपत्तेः। नैकोऽवस्थाता पतनेतरव्याप्त्युपलब्धः। अव्यापी च कथमवस्थाताऽद्याप्यवतिष्ठत इति हि ग्रहणेऽवस्थाता तथा गृहीतो भवति। क्रमेण व्यापी गृह्यत इति चेत्। कः क्रमार्थ इति चिन्त्यम्। भावाभावयोरेव क्रमव्यपदेशः। स च भिन्नकालयोर्भावाभावौ च ग्राह्यस्य ग्राहकस्य वा ग्राह्यस्य भावाभावसङ्गमे नैकत्वम्। ग्राहकस्य क्रमवत्त्वे ग्राह्यस्यापि तदिति न ग्राह्यावस्थातुरेकता। ततः किञ्चिद् गृहीतातीतं किञ्चिद् गृह्यते किञ्चिदनागतग्रहणमिति विकल्पगोचर एव क्रमः। कुतः प्रत्यक्षता क्रमस्य। येनोपलम्भादुच्यत आधाराधेयभाव इति। ततश्च नाश्रयात्सदसतोरित्ययमेवार्थः। न दृश्यत एवाधाराधेयभाव इति, ततः कल्पनैवेयमाधाराधेयभावस्येति कथन्तर्हि तद्दर्शनमन्तरेणा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अभाव ही उचित है, अतः शरीर में चित्ताधारता की सिद्धि में जो जल-घटादि का दृष्टान्त दिया गया, वह ही असिद्ध हो जाता है। घटादि में जलादि की आधारता दृष्ट ही है, अदृष्ट क्यों ? इसका उत्तर यह है कि अनुपपन्न पदार्थ कभी दृष्ट नहीं हो सकता, अदृष्ट में वैसे ही दृष्टत्वाभिमान होता है, जैसे अरजत में रजताभिमान। पतनादि क्रिया के प्रति आधार वही माना जाता है, जो कर्त्ता और कर्मकारक को धारण करता है। धारण तो पतनशील पर्णादि का होता है। जिस पर्णादि का पतन हो रहा है, उसका धारण नहीं हो सकता, अपितु जिस पत्रादि का पतन अवरुद्ध या समाप्त हो जाता है, ऐसे पतनक्रिया-रहित पत्रादि का भूतलादि होता है। पतन और अपतन—दोनों परस्पर विरोधी हैं। किसी पत्रादि द्रव्य में पतन-क्रिया पहले और पश्चात् उसी द्रव्य में अपतन होता है, इस प्रकार पतन और अपतन—दोनों एक ही द्रव्य में रह जाते हैं, तब पतन और अपतन का विरोध क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस व्यक्ति में पतन था, उसका अपतन नहीं, अपितु व्यक्त्यन्तर में अपतन है, अतः पतनशील और पतन-रहित द्रव्यों की एकता प्रत्यक्षतः प्रतीयमान नहीं। ऐसा कोई एक अवस्थित पदार्थ उपलब्ध नहीं जो पतन एवं अपतन दोनों से व्याप्य हो। जो अवस्थिति से व्याप्त नहीं, वह अवस्थाता क्योंकर होगा ? अवस्थाता द्रव्य वही है जो "अद्यापि अवतिष्ठते"—ऐसी प्रतीति का विषय हो। क्रमशः पतनत्व और अपतनत्व से व्याप्य प्रतीत होता है—यहाँ 'क्रम' शब्द का क्या अर्थ ? एक क्षण में पतन और दूसरे क्षण में पतनाभाव—यही क्रमपदार्थ है। भिन्नकालीन भावाभाव ग्राह्य वस्तु के विवक्षित हैं ? या ग्राहक पदार्थ के ? ग्राह्य पदार्थ के भावाभाव एकवस्तु में संगत (एकत्र) नहीं, अतः दोनों की एकता नहीं हो सकती। ग्राहक के क्रमिक होने पर उससे अभिन्न (विज्ञानस्वरूप) ग्राह्य का भी क्रमिक होना अनिवार्य है, फलतः ग्राह्य अवस्थाताओं की एकता क्योंकर होगी ? अतः किसी पदार्थ की ग्राह्यता अतीत, किसी की वर्तमान और किसी की भावी माननी होगी। फलतः क्रम वस्तुनिष्ठ न होकर विकल्प पर आधृत होता है। प्रत्यक्ष निर्विकल्पक का ही होता है, सविकल्प का नहीं कि प्रत्यक्षोपलब्ध होने से आधाराधेयभाव सिद्ध हो जाता। इससे यही निष्कर्ष

वार्तिकालङ्कारः

धाराधेयकल्पनापि । न भवितव्यमेव । तर्हि विपरीतकल्पनयेत्यायातम् । किञ्च प्रतिक्षण-विनाशिनां भावानामपरापरदेशोत्पादवतामुपादानदेशोत्पत्तिराधारसमागमकृता । अत-स्तथोत्पत्तेः स भूतलादिराश्रयो हेतुत्वात् । हेतोरेव विशिष्टावस्थाया आधार उच्यते पूर्वापरयोरेकत्वमारोप्य । एकत्वारोपे हि सति नोत्पादं प्रतिपद्यते । पूर्वस्य कारणश्चा-रोपयतीत्यनादिवासनासामर्थ्ये मिथ्याविकल्पोऽत एव पूर्वपूर्ववासनाप्रवृत्तत्वादनादिस-न्तानतया परलोकस्य प्रतिष्ठितिरितीष्टमापतितम् । तथा हि—

मानसी कल्पना सर्वा पूर्वहेतुसमुद्भवा । निरालम्बनभावेन मरीच्यान्तोयकल्पवत् ।। ४६० ।।

पूर्वापरयोरेकत्वकल्पना नालम्बनभावान्वयिनी । एकत्वस्याभावात् । अनेकस्मा-देव वस्तुनो भविष्यति । तत्कार्यत्वस्यादृष्टेः । तदसत् । नहि मरीच्यान्तोयकल्पना ताव-न्मात्रनिबन्धना पूर्वजलदर्शनसंस्कारादुत्पत्तेः । न च पूर्वमप्येकत्वमुपलब्धमतो जन्मान्त-रेऽपि सैकत्वकल्पना जन्मान्तरैकत्वग्रहणपूर्विका सापि तथेत्यनादिकल्पना परस्परेत्यना-दिप्राणिसन्तानसिद्धिः । एवमात्मादिग्रहयोगिनी बुद्धिरनादिसन्ताना तथा भवन्ती परतोऽपि न विच्छिद्यत इत्यनाद्यनन्तः संसारः । अपि च—

"स्यादाधारो जलादीनां गमनप्रतिबन्धतः । अगतीनां किमाधारैर्गुणसामान्यकर्मणाम्" ।।

जलादीनां हि गमनविबन्धहेतुराधातुराधार इति युक्तमगतीनान्तु निष्क्रियाणां गुणसामान्यकर्मणां किमाधारैः । चैतन्यञ्च सामान्यं गुणः कर्म वान्यथा । सर्वथा निष्क्रि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निकलता है कि कोई पदार्थ न तो सत् का आधार हो सकता है और न असत् का। प्रत्यक्षतः आधाराधेयभाव दृष्ट नहीं, अतः आधाराधेयभाव को कल्पना मात्र मानना होगा। वस्तुतः आधाराधेयभाव का कहीं दर्शन न होने पर उसकी कल्पना भी क्योंकर होगी ? निश्चित रूप से नहीं होगी। तब चित्त शरीर का आधार है—ऐसी विपरीत कल्पना भी हो सकती है। दूसरी बात यह भी है कि प्रतिक्षण विनश्वर भाव पदार्थों का विभिन्न देशों में उत्पत्ति-विनाश अनेकाश्रित होने पर भी उनमें एकता का आरोप करके एकाधारता का व्यवहार हो जाता है। उत्पन्न एवं उत्पद्यमान चित्रों की एकता का आरोप हो जाने पर पुनरुत्पाद की प्रतीति नहीं होती, केवल पूर्व सन्तान में उत्तर सन्तान की कारणता का आरोप किया जाता है, अतः अनादि वासनाओं (संस्कारों) के सामर्थ्य से मिथ्या विकल्पों की उद्भावना होती रहती है, अतएव पूर्व-पूर्व वासनाओं के आधार पर प्रवृत्त होने के कारण परलोक की प्रतिष्ठा है—यही सिद्ध होता है। अर्थात् समस्त मानसी कल्पना पूर्वतन समनन्तर प्रत्यय से समुद्भूत है। उसका आलम्बन कोई नहीं. केवल मरुमरीची में जल की कल्पना के समान विकल्प-जाल अवभासित हो रहा है।।४६०।। पूर्व और अपर (उत्तर) क्षणों की एकत्व-कल्पना आलम्ब-रहित है, क्योंकि उसका आलम्बनीभूत एकत्व नितान्त असिद्ध है। जैसे आश्रयीभूत अनेक तन्तुओं से पटादि में एकत्व-बुद्धि हो जाती है, वैसे ही अनेक चित्त-सन्तानों के आधार पर चित्त में एकत्व-बुद्धि क्यों न हो सकेगी ? इस प्रश्न का उत्तर वार्तिककार ने दिया है—"स्यादाधारो जलादीनामित्यादि" । अर्थात् जलादि द्रव्य गमनादि (परिस्पन्दनादि क्रिया) से युक्त होते हैं, अतः उनकी गति (परिस्पन्दन-क्रिया) को रोकने के लिए घटादि आधारों की आवश्यकता है, किन्तु विज्ञानादि गुण, कर्म (क्रिया) एवं सामान्य (जाति) आदि अद्रव्य (निष्क्रिय) पदार्थों के आधार की क्या सार्थकता ? चैतन्य तत्त्व

एतेन समवायश्च समवायि च कारणम् ।
व्यवस्थितत्वं जात्यादेर्निरस्तमनपाश्रयात् ॥ ७१ ॥

इस आश्रयाश्रयिभाव-प्रतिषेध के द्वारा वैशेषिक-वर्णित समवाय सम्बन्ध, समवायिकारण और जात्यादि का व्यक्ति में व्यवस्थित होना आदि सब निरस्त हो जाता है, क्योंकि समवायादि सभी पदार्थ आश्रय-सापेक्ष हैं, आश्रय, पदार्थ का निरास हो जाने पर अपने-आप निरस्त हो जाते हैं। वैशेषिकों की मान्यता है कि गोत्वादि जातियाँ कतिपय गवादि व्यक्तियों में ही व्यवस्थित (परिसमाप्त) होती हैं, वह निराधार है ॥ ७१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यमिति नाधारेणास्य प्रयोजनमतो नाधेयस्य चेतसो नाधारविनाशेन विनाशः। सहस्थानमात्रकमेव तस्य। यथा च सहस्थानं तथा प्राक् प्रतिपादितम्।

ननु यथा गुणः समवेतो गतिमत्त्वाभावेऽपि तथा चेतसोऽपि समवेतत्वम्। न च गुणस्य समवेतस्य समवायिकारणमन्तरेण स्थानं, तद्विनाशे विनाश एवेति चेत्. न गमनादिप्रतिबन्धमन्तरेणाधाराधेयभावो नाधाराधेयभावमन्तरेण समवायो यतो युतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिह बुद्धिनिबन्धनः समवाय इति वचनात्। एतदेवाह—एतेन समवायश्चेति।

समवेतत्वेऽपि जातेराधारभूतव्यक्तिमन्तरेणाभावः। नित्यत्वाज्जातेराधाराभावेऽभाव इति चेत्। चेतसोऽपि कारणान्तरप्रतिबद्धत्वादिति समानम्। न चाधाराधेयभाव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

को सामान्य (चेतनानां सामान्यम्) या (ज्ञानरूप) गुण, या (पूर्वोक्त मानसकर्मात्मक) कर्म कहा जाय सर्वथा निष्क्रिय तत्त्व है, अतः इसे आधार से कोई प्रयोजन नहीं। इस प्रकार शरीर न तो चित्त का आधार सिद्ध होता है और न शरीर के नाश से चित्त का नाश प्रसक्त होता है. केवल शरीर और चित्त का सहावस्थानमात्र होता है। इनका सहावस्थान पहले दिखाया जा चुका है।

शङ्का—जैसे रूपादि गुण गमनक्रिया-रहित होने पर भी पटादि में समवेत (समवाय सम्बन्ध से अवस्थित) होता है, वैसे ही चित्त भी शरीर में समवेत होता है। गुण समवाय सम्बन्ध से अपने समवायिकारण में ही रहता है और समवायिकारण के नाश से उसका नाश भी हो जाता है।

समाधान—आधेयगत गमनादि क्रिया की प्रतिबन्धकता के बिना आधाराधेयभाव नहीं होता और आधाराधेयभाव के बिना समवाय सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि समवाय का लक्षण आचार्य प्रशस्तपाद के शब्दों में है—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः" (प्रशस्त० पृ० १७१)। अर्थात् 'उपादान-उपादेय' आदि अपृथक् सिद्ध एवं आधार्याधारभूत पदार्थों का जो सम्बन्ध 'इह तन्तुषु पटः'—इत्यादि प्रतीतियों का कारण है, वही समवाय है। वार्तिककार यही कह रहे हैं—"एतेन समवायश्च इत्यादि"। अर्थात् पटत्वादि जातियाँ तन्त्वादि में समवेत (समवाय सम्बन्ध) से वृत्तिमान हैं. अभिन्न नहीं, तथापि तन्त्वादि का अभाव होने पर भी उनका अभाव नहीं माना जाता। यदि कहा जाय कि पटत्वादि जातियाँ नित्य हैं, अतः उनके आधार का अभाव होने पर भी उनका अभाव नहीं होता, तब चित्त के लिए कहा जा सकता है

परतो भावनाशश्चेत् तस्य किं स्थितिहेतुना ।
स विनश्येद् विनाऽप्यन्यैरशक्ताः स्थितिहेतवः ॥ ७२ ॥

घटादि भाव पदार्थों का यदि स्वतः नाश न मानकर मुद्गरादि अन्य पदार्थों से माना जाता है, तब उस भाव पदार्थ को स्थिति का हेतु (आश्रय) मानना नितान्त निरर्थक है, क्योंकि भाव पदार्थ स्वयं नश्वर न होकर स्थितिशील ही है, उसे स्थापक की आवश्यकता ही नहीं। यदि भावपदार्थ को नश्वर-स्वभाव का माना जाता है, तब भी वह प्रतिक्षण में नष्ट होता ही रहेगा, स्थापक हेतु व्यर्थ है। नाशक हेतुओं के बिना स्थापक हेतु स्थिति करने में सर्वथा अशक्त होते हैं, नाशक स्वभाव का अन्यथाकरण सम्भव नहीं ॥ ७२ ॥

स्थितिमान् नाश्रयः सर्वः सर्वोत्पत्तौ च साश्रयः ।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य न विनाशः कदाचन ॥ ७३ ॥

घटादि के आश्रय कपालादि नित्य नहीं माने जाते, किन्तु उन्हें भी नित्य ही

वार्तिकालङ्कारः

इति । एतेनैवाधाराधेयभावप्रतिक्षेपेण प्रतिक्षेपात् समवायः प्रतिक्षिप्तः समवायि कारणञ्च प्रतिक्षिप्तम् । यदि कारणन्तत् नाधाराधेयभावः । अथ न कारणन्तदा समवायिकारणता नास्ति । व्यवस्थितत्वञ्च जात्यादेः कारणत्वमन्तरेणापि यद्युच्यते । तदपि प्रतिक्षिप्तम् ।

अथवा समवेतत्वेऽपि व्यवस्थितत्वं तत्रैव व्यवस्थितत्वं प्रतिक्षिप्तम् । न हि जातिर्व्यक्तिसमाश्रितत्वेऽपि तत्रैव व्यवस्थिता व्यक्त्यन्तरेऽप्यनुगतत्वात् । एवमाश्रितत्वेऽपि चैतन्यं शरीराभावेऽपि शरीरान्तरानुगतं भविष्यतीति न परलोकासिद्धिः । एकशरीराभावेऽपि तथाभूतबुद्ध्युपादानो न विरुध्यते । व्यक्त्यन्तरेऽप्यन्वयिबुद्धिवत् । तस्मान्न कार्यकारणभावमन्तरेण कश्चिदाश्रयाश्रयिभावः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कि चित्त भी नित्य है, क्योंकि उसका नाश कारणान्तर से प्रतिबद्ध है। 'शरीरे चित्तम्'—इस प्रकार के आधार्याधारभाव का अभाव होने के कारण 'समवाय सम्बन्ध का भी प्रतिक्षेप (खण्डन) हो जाता है। इतना ही नहीं, शरीर में चित्त की समवायिकारणता का भी निरास हो जाता है। यदि शरीर का कारण है, तब उन दोनों में आधार्याधारभाव भी नहीं बनता और यदि कारण नहीं, तब समवायिकारणता शरीर में क्योंकर बनेगी? जाति आदि पदार्थ अपने में स्वयं व्यवस्थित हैं, अतः व्यक्त्यादि में उनकी कारणता न होने पर भी कोई क्षति नहीं। ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, व्यवस्थितत्व का निरास किया जा चुका है। अथवा पटत्वादि जातियाँ में व्यवस्थितत्व होने पर भी तत्रैव (पट में ही) व्यवस्थित है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जाति यदि किसी एक ही व्यक्ति में समवेत नहीं, व्यक्त्यन्तर में भी वह अनुगत मानी जाती है। इसी प्रकार चैतन्य भी शरीर के आश्रित होने पर भी एक शरीर के अभाव में शरीरान्तर में रह सकता है, अतः परलोक असिद्ध नहीं होता, अपितु सिद्ध हो जाता है। एक शरीर का अभाव होने पर भी 'अहं चेतनः'—ऐसी अनुभूति विरुद्ध नहीं पड़ती, क्योंकि अहंपदास्पद शरीरान्तर में चित्त-सन्तति की स्थिति बन जाती है। फलतः कार्यकारणभाव के बिना आश्रयाश्रयिभाव नहीं बन सकता। "परतो भावना" इत्यादि।

मानना होगा, क्योंकि सभी पदार्थों की आश्रय-परम्परा परमाण्वादि नित्य पदार्थों में ही समाप्त होती है, अतः लोक में जो यह व्यवस्था है कि कोई नित्य और कोई अनित्य—यह व्यवस्था भंग हो जायगी, क्योंकि वैशेषिकानुसार सब का आश्रय अन्ततोगत्वा नित्य पदार्थ ही माना जाता है ।। ७३ ।।

स्वयं विनश्वरात्मा चेत् तस्य कः स्थापकः परः ।
स्वयं न नश्वरात्मा चेत् तस्य कः स्थापकः परः ।। ७४ ।।

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ।

भाव पदार्थ यदि स्वयं विनश्वरात्मा है, तब उसका स्थापक कौन होगा ? और यदि भावपदार्थ स्वयं अनश्वरस्वभाव का है, तब उसे किसी स्थापक की क्या आवश्यकता ? ।। ७४ ।।

बुद्धिव्यापारभेदेन निर्ह्रासातिशयावपि ।
प्रज्ञादेर्भवतो देहनिर्ह्रासातिशयौ विना ।। ७५ ।।

प्रज्ञा और मेधादि का उपचयापचय चित्त-व्यापार (अभ्यासादि) पर ही निर्भर है शरीर-व्यापार पर नहीं, फलतः देह में प्रज्ञादिरूप विशेष चित्त की उपादानता सम्भव नहीं, अपितु उत्तरभावी चित्त का उपादान कारण पूर्वतन चित्त ही है, अतः आश्रय सिद्ध होता है ।। ७५ ।।

इदं दीपप्रभादीनामाश्रितानां न विद्यते ।
स्यात् ततोऽपि विशेषोऽस्य न चित्तेऽनुपकारिणि ।। ७६ ।।

वार्तिकालङ्कारः

ननु दीपप्रभयोराधाराधेयतामन्तरेणापि दृष्ट आश्रयाश्रयिभावः न हि प्रभायाः पतनधर्मता । अस्ति च दीपस्याश्रयभावस्तन्निवृत्तौ च प्रभाया निवृत्तिः । न चासौ प्रभा प्रदीपान्तरं सङ्क्रामति तदन्यद्वा । तद्यथा प्रदीपप्रभा प्रदीपविनाशे विनश्यति देशान्तरगतापि एवं शरीराश्रितं विज्ञानं शरीरनिवृत्तौ निवर्तिष्यते विषयगतमपि । न च विषयगतिरपि परमार्थतस्तदाकारतामात्रमेव तत्र मनोविज्ञाने दृश्यते । अत्रोच्यते—तद्विकारविकारित्वादाश्रयाश्रयिभावो दीपप्रभयोर्नैवं शरीरचेतसोरपि तु बुद्धिप्रज्ञादीनाम् । तथाहि—बुद्धिव्यापारभेदेनेति ।

बुद्धेर्विशिष्टसंस्कारवशाद्विशिष्यमाणाः प्रज्ञादयो बोधविशेषा विवर्त्तन्ते । देह-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—प्रदीप और उसकी प्रभा में आधाराधेयभाव के बिना भी आश्रयाश्रयिभाव देखा जाता है । प्रभा में पतन-क्रिया भी नहीं । दीप में प्रभा की आश्रयता और दीपक की निवृत्ति से प्रभा की निवृत्ति देखी जाती है । प्रभा अपने आश्रयीभूत दीपक को छोड़कर दीपान्तर में अभिसर्पण भी नहीं करती । इस प्रकार जैसे प्रदीप-प्रभा प्रदीप के नष्ट होने पर नष्ट हो जाती है, वैसे ही शरीराश्रित विज्ञान (चित्त) शरीर की निवृत्ति होने पर निवृत्त हो जायगा, भले ही अपने विषयदेश में गत (प्राप्त) हो । विज्ञान की विषयदेश में गति भी वस्तुतः नहीं होती, केवल, वह (विज्ञान) विषय के आकार को धारण कर लेता है ।

समाधान—प्रदीप के विकार से प्रभा विकृत हो जाती है, अतः प्रदीप और उसकी प्रभा में आश्रयाश्रयिविभाव माना जाता है । किन्तु शरीरगत विकार से चित्त विकृत

प्रदीप आश्रय और प्रभा उसके आश्रित है, सदैव आश्रय के विकार से आश्रित में विकार देखा जाता है, अनाश्रय के विकार (वृद्धि-ह्रासादि) से अनाश्रित में यह (विकार) नहीं देखा जाता। शरीर के स्वस्थतादि विकारों से जो प्रज्ञादि में विशेषता देखी जाती है, वह भी स्वस्थ शरीर से चित्त में सौमनस्य और उससे प्रज्ञादि में विशेषता होती है, साक्षात शरीर-विकार से जनित नहीं। प्रज्ञादिगत विकार का चित्त विकार अनुपकारी नहीं, सदैव उपकारी ही रहता है ॥ ७६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

संस्कारविशेषमन्तरेणापि ततो बुद्धिरेव पूर्विका बुद्धेराश्रयो न देहः। ततो न दीपप्रभादृष्टान्तः।

ननु च दीपप्रभापि सर्पादिभिर्विकृता क्रियत एव। न प्रदीपस्यैव स विकारो मन्दच्छायालक्षणः। तेन दूरदेशवर्त्तिनी दीपप्रभान्यथा भवति। न तु शरीरविकारो बुद्धिव्यापारभेदसमये। ननु देहविशेषादपि विशेषो दृश्यत एव। ततो देहस्योपादानभाव आश्रयभावो वा।

तत्राह—चित्तोपकारद्वारेणैव तत्रापि देहस्य विकारविकारित्वम्। यत्र च देहपुष्टौ रसायनादेः प्रज्ञादेर्विशेषः। तत्र देहस्य सुखस्पर्शरूपस्योत्पत्तेरव्याकुले मनसि यथाभूतसंस्कारप्रबोधात्कस्यचित् क्वचित्प्रज्ञाविशेषः। अन्यथा सर्वस्य सर्वत्र प्रज्ञासमानताप्रसङ्गः।

यथा क्षुदुपघाते न व्याध्या व्याकुलतोदयः। तन्निवृत्तौ यथाभ्यस्तव्याध्यैवास्य प्रवर्तते ॥ ४६१ ॥
रसायनस्य साम्यात् तृप्तेश्च न भवेदपि। यथाभ्यस्तानुसन्धानं सर्वव्यध्यादयोस्त्वतः। ४६२ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं होता अतः शरीर और चित्त में आश्रयाश्रयिभाव नहीं बनता। पूर्व चित्त विज्ञान या बुद्धि में विकार होने से उत्तर चित्त अवश्य विकृत हो जाता है, अतः पूर्वोत्तरबुद्धियों चित्त-सन्तानों का (आश्रयाश्रयिभाव) स्थिर होता है। दीप-प्रभा का दृष्टान्त प्रकृतोपयोगी नहीं।

प्रदीप-प्रभा भी काले नाग की फुफकार से मन्दतादि रूप विकार वाली होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रभागत मन्दतारूप विकार वस्तुतः प्रदीप के विकार का ही फल है। फलतः प्रभा का आश्रय प्रदीप है किन्तु चित्त का शरीर आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धिगत हर्ष शोक आदि विकार शरीरगत विकार का कार्य नहीं। यह जो शङ्का की जाती है कि शरीरगत स्वस्थता आदि विकारों से बुद्धि (चित्त) में जो विशेष स्फूर्ति प्रतीत होती है, उससे देह में ही चित्त की उपादानता निश्चित होती है।

उस शंका का निरास करते हुए कहा जाता है कि पूर्व चित्त के विकार का ही वह परिणाम है, शरीरगत विकार का नहीं। जहाँ रसायनादि के सेवन से देह की पुष्टि होने पर प्रज्ञा-प्रसाद की अनुभूति होती है वहाँ भी देह-स्पर्श-जनित सुखानुभूति ही प्रज्ञा-प्रसाद को जन्म देती है, शरीर का विकार वैसा कार्य नहीं करता, अन्यथा समान शरीर वाले सभी मनुष्यों में प्रज्ञा-नैर्मल्य समान ही होना चाहिए।

जैसे कलकलाती भूख (क्षुधा) लग जाने पर शरीरगत व्याधि की भयङ्कर पीड़ा भी मन्द पड़ जाती है क्षीर क्षुधा की निवृत्ति हो जाने पर रोगी रोग की पीड़ा से पूर्ववत् कराहने लगता है ॥ ४६१ ॥ रसायनादि के सेवन से धातु-साम्य हो जाने अथवा

रागादिवृद्धिः पुष्ट्यादेः कदाचित् सुखदुःखजा ।
तयोश्च धातुसाम्यादेरन्तरर्थस्य सन्निधेः ॥ ७७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तेन जन्मान्तराभ्यस्तं येन शास्त्रं यदेव हि । प्रज्ञाप्रबोधस्तत्रैव शास्त्रे तस्येति निर्णयः ॥ ४९३ ॥
सर्वाभ्यासस्तु यस्यास्ति तस्य प्रज्ञाविशेषतः । अन्यथा सर्ववेदी स्याद्रसायनविधानतः ॥ ४९४ ॥
अध्यक्षस्मरणे मुक्त्वा न बुद्धिरपरा क्वचित् । प्रज्ञामेधादिभेदोपि स्मृतेरेव प्रबोधतः ॥ ४९५ ॥
यथाभूतस्मृतिः प्रज्ञा दौःप्रज्ञ्यस्तद्विपर्ययः । मेधापि स्मृतिरेवैष तत्र भेदः प्रदर्श्यते ॥ ४९६ ॥
अत्यन्तविस्मृतो योऽर्थः पूर्वसंस्कारमात्रतः । तथैवाभ्युद्यते येन स प्राज्ञ इति कीर्त्यते ॥ ४९७ ॥
स्मरणानुगमेनैव येन संप्रतिपद्यते । स मेधावीति कथितः प्रज्ञानाभ्यासवर्जनात् ॥ ४९८ ॥

तथा—

पृथक् पृथग् गृहीतानां मेधा प्रोक्ता तथा स्मृतिः ।
अन्योन्ययोजने तु स्यात् प्रज्ञा सैव विशेषतः ॥ ४९९ ॥

न चानभ्यासतः काचिद्योजना नाम दृश्यते । तज्जातीयार्थतस्तेन प्रागभ्यासोऽनुमीयते ॥ ५०० ॥

ननु रागोऽपि बुद्धिविशेष एव । न बुद्धेरन्योऽन्यत्वे प्रज्ञादेरप्यन्यत्वप्रसङ्गः । रागादयश्च देहस्य पुष्ट्यादेजार्यन्ते । ततो बुद्धिरपि देहादिति प्राप्तमन्यथा तदनुविधानाभावः । नैतदस्ति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तृप्ति से क्षुधा के निवृत्त हो जानेपर व्याधि की पीड़ा कदाचित् नहीं भी होती। पूर्वाभ्यस्त भावना का अनुसन्धान (स्मरण) होने पर सभी व्याध्यादि का भान होने लगता है ॥ ४९२ ॥ इसीलिए जिस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में जिस किसी एक शास्त्र का अभ्यास कर रखा है, उसी शास्त्र में प्रज्ञा का प्रबोध (उत्कर्ष) देखा जाता है ॥ ४९३ ॥ जिस व्यक्ति ने सभी शास्त्रों का अभ्यास कर रखा है, वह सर्ववेदी (सर्वज्ञ) होता है। पूर्वाभ्यास न होने पर रसायनादि के सेवन से भी सर्वज्ञता देखी जाती है ॥ ४९४ ॥ अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) और स्मरण को छोड़ कर तीसरी बुद्धि (ज्ञान) नहीं होती। स्मृति-प्रबोध के उत्कर्षापकर्ष पर मेधा, स्मृति, धृति आदि प्रज्ञा के भेद प्रकट होते हैं ॥ ४९५ ॥ यथाभूत वस्तु के ज्ञाने का नाम प्रज्ञा और उसके विपर्यय का नाम दौःप्रज्ञता है। मेधा भी स्मृति का ही नाम है, उसके भेद दिखाए जाते हैं ॥ ४९६ ॥ जो पदार्थ अत्यन्त विस्मृत होता है, केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं, उन शेष संस्करों के बल पर जिसे पूर्ण बोध हो जाता है उसे प्राज्ञ कहते हैं ॥ ४९७ ॥ जो व्यक्ति केवल स्मरण के आधार पर सब कुछ समझ लेता है, वह मेधावी है। उसे प्रज्ञानाभ्यास करना नहीं होता ॥ ४९८ ॥ वैसे ही पृथक-पृथक गृहीत पदार्थों का भान मेधा तथा परस्पर सापेक्ष पदार्थों की प्रतीति स्मरण है ॥ ४९९ ॥ पूर्वाभ्यास न होने के कारण पदार्थों में किसी प्रकार की योजना (सम्बन्ध) प्रतीत नहीं होता। हाँ, तज्जातीय अर्थों की प्रतीति से प्रपूर्वाभ्यास का अनुमान अवश्य ही हो जाता है ॥ ५०० ॥

शङ्का—राग भी तो एक विशेष बुद्धि ही है। बुद्धि के अन्यान्यत्व से प्रज्ञादि का भेद प्रसक्त नहीं होता। देह की पुष्टि होने से उसमें रागादि उत्पन्न होते हैं, और बुद्धि भी देह से ही उत्पन्न होती है—ऐसा ही सिद्ध होता है, अन्यथा उसका अनुविधान सम्भव नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

रागादिबुद्धिर्या पुष्ट्यादेः सा न सर्वदापि तु कदाचिदेव यदाभ्यासजोऽयोनिशोः मनस्कारसम्मुखीभावः। यस्य तु पुनरशुभावासनासमागमस्तस्य स एव प्रत्युतो रागस्तनूः भवति। यापि रागादिवृद्धिः सुखदुःखजा सुखितायां वेदनायां रागोनुशेते दुःखितायां द्वेष इति। सुखितस्य स एव पूर्वकोऽयोनिशोमनस्कारप्रबोध इति। दुःखितायान्तु द्वेषः कथमिति चेत्। दुःखितस्य सकलमेवासह्यमतस्तत्परित्यागात्मको द्वेष एव। न चात्र नियमः। दुःखितेऽपि मनसि प्रतिसंख्यानवतः स्वदुःखानुमानात् कृपैव। रागोऽपि भवत्येव तत्प्रतीकारहेतो। तयोरेव तर्हि सुखदुःखयोर्बुद्धिस्वभावयोर्यथा देहादुत्पत्ति र्बुद्धेरपि तथैवेति प्रकृतविरोधः। नैतदस्ति। अन्तरर्थस्य धातुसाम्यलक्षणस्य संन्निधेर्विषयद्वारेणैव सुखमुत्पद्यते नाश्रयद्वारेण। नाश्रयभूतो देहः सुखदुःखे जनयति, अपि तु विषयभूतः। विषयस्य च सुखादिहेतुत्वेन देह आश्रयस्तयोः। विषयस्य बाह्यस्यान्तरस्य च समानत्वात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—जो देह-पुष्टयादि से रागादि बुद्धि उत्पन्न होती है, वह सर्वदा नहीं रहती अपि तु कदाचित् वैसे ही होती है, जैसे यथा-कदाचित् अभ्यास से जनित अयोनिशो मनस्कार (चित्त की असम्यक् ध्येयाकरता)। जिस व्यक्ति में अशुभ वासनाओं का समागम होता है, उसमें वही राग-सन्तति पतली (सूक्ष्म) हो जाती है। जो रागादि वृद्धि होती है अर्थात् सुख-दुःख से जनित, वह सुखरूप वेदना के होने पर रागानुशय सुदृढ़ होता है एवं दुःखान्तक वेदना के समय द्वेष-वासना पैदा होती है। सुखी व्यक्ति में उसी पूर्वतन असम्यक् मनस्कार का प्रबोध होता है। यदि द्वेषानुशय धूमिल हो जाता है, तब द्वेष क्योंकर उत्पन्न होगा ? इसका उत्तर यह है कि दुःखान्त व्यक्ति के लिए सब कुछ असह्य हो जाता है, अतः राग-त्यागात्मक द्वेष समुद्गत हो जाता है। रागानुशय से राग उत्पन्न होना चाहिए ऐसा कोई, नियम नहीं, क्योंकि सांख्यमतानुसार प्रसंख्यान (निवेकख्याति) से सम्पन्न तत्त्वज्ञ की दृष्टि में रागानुशय जन्य विषयगत राग का अभ्युदय न होकर त्रिगुणात्मकत्व हेतु के द्वारा दुःखरूपता का ही अनुमान हुआ करता है। उस दुःख के निवर्तक हेतु (विवेकज्ञानादि) में राग भी देखा जाता है।

शङ्का—इस प्रकार तो बुद्धि स्वरूप (चित्तात्मक) सुख-दुःख की उत्पत्ति शरीर से ही सिद्ध होती है, अतः शरीर से चित्तानुत्पत्तिरूप प्रकृत चर्चा का विरोध भी प्रसक्त होता है।

समाधान—शरीर से सुखादिरूप बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु धातु-साम्यरूप आन्तरिक पदार्थ की सन्निधि से सुखादि की उत्पत्ति मानी जाती है, शरीररूप आश्रय के द्वारा नहीं। आश्रयात्मक शरीर सुख-दुःख को जन्म नहीं देता अपितु सुखादिरूप अनुशय का विषयीभूत पदार्थ ही सुखादि का जनक माना जाता है। शरीर तो सुखादि का आश्रयमात्र होता है। बाह्य या आन्तरिक विषय ही सुखादि का उत्पादक होता है। यदि सुखादि के जनक पदार्थ को उसका आश्रय माना जाता है, तब घटादि रूप बाह्यादि विषय का भी उसका आश्रय मानना होगा किन्तु वैसा अभीष्ट नहीं, क्योंकि जब तक आन्तरिक धातु-साम्यादिरूप पदार्थ प्रियरूपेण अवगमित नहीं होता, तब तक वह सुखादि का जनक न होकर आश्रयमात्र ही रहता है। विषय न तो सुखादि का आश्रय होता है और न उसकी निवृत्ति से सुखादि की निवृत्ति मानी जा सकती है। जैसे आन्तरिक विषय में सुख होता है और उस विषय को छोड़कर बाह्य विषय में सुख

शरीर की पुष्टि से जो रागादि की वृद्धि होती है, वह भी नियमतः सर्वदा नहीं होती, अपितु कदाचित् ही होती है, क्योंकि स्वभावतः मन्द रागवाले अथवा विवेक-ज्ञान-सम्पन्न तत्त्वज्ञानी को पुष्ट या सुन्दर शरीर देखकर भी रागादि की अभिवृद्धि नहीं, प्रत्युत घृणा होती है। जो कदाचित् रागादि की वृद्धि होती भी है, वह सुखादि से जनित अर्थात् सुखाकार मानस वृत्ति से राग और दुःखाकार चित्त से द्वेष उत्पन्न होता है। फलतः चित्त-निरपेक्ष शरीर रागादि का हेतु नहीं होता। वे सुख और दुःख धातु-साम्यादि आन्तरिक अर्थ की सन्निधि से उत्पन्न होते है। सुख-ज्ञान और दुःख-ज्ञान भी उक्त विषय-विशिष्ट ज्ञान की देन हैं, केवल शरीर से समुद्भूत नहीं ॥ ७७ ॥

एतेन सन्निपातादेः स्मृतिभ्रंशादयो मताः ।
विकारयति धीरेव ह्यन्तरर्थविशेषजा ॥ ७८ ॥

जो वात, पित्त और कफ—इन तीनों के प्रकोप से जनित सन्निपात-ज्वर (शरीरगत विकार) स्मृति-भ्रंश (विस्मृति) आदि का जनक होता है, वह भी केवल शरीर से जनित नहीं, अपितु शरीर के आन्तरिक धातु वैषम्यादि अर्थों के सम्बन्ध से धी (चित्त) ही स्वगत विकारों की जनिका होती है, शरीर नहीं ॥ ७८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ततो बाह्यस्याप्याश्रयत्वप्रसङ्गो न चेष्यते । यथाहि आन्तरोऽपि धातुसाम्यादिरर्थविशेषो नालम्ब्यते प्रियदर्शनादिना तदा तदाश्रयत्वमेव सुखदुःखयोः । न च विषय आश्रयो न च तन्निवृत्या निवृत्तिः । यथान्तरविषये सुखम्भवति । तत्परित्यज्य वहिर्विषयसञ्चारवत् तथा शरीरान्तरेऽपि परलोकादौ ।

तत्रापि रसायनादेरन्तरर्थसन्निधौ सुखादिबुद्धिरुत्पत्तिमती ततः स्मृतिभ्रंशादयः । न तु देहविकारो यः सन्निपातकृतः । तत आश्रयभूतात् यथाऽनालम्व्यमानादपि चक्षुरादेस्तद्विज्ञानमुपजायते । तद्विकारेण च विकारः । न तथा रसायनादिविकृतदेहादविज्ञायमानस्य कारणत्वे सर्वकारणत्वप्रसङ्गः । चक्षुरादीनां त्वन्वव्यतिरेकाभ्यां तद्विकारविकाराच्चाश्रयिभावः । नैवं देहस्य । तदभावेऽपि बाह्यसन्निधानेऽपि सुखादिभावात् । स्मृति-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सञ्चरित होता है, वैसे ही एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तर में भी सुख होता है फलतः पर लोक की सिद्धि हो जाती है।

वहाँ भी रसायनादि प्रयुक्त धातुसाम्यरूप आन्तरिक पदार्थ की सन्निधि से सुखादि-बुद्धि उत्पन्न होती है, उससे कालान्तर में स्मृति और स्मृतिभ्रंश आदि होते रहते हैं। उसके सन्निधात से जो देहगत विकार उत्पन्न होता है, वह उससे उत्पन्न नहीं होता। ज्ञान की आश्रयीभूत चक्षुरादि इन्द्रियों को विषय न करके भी चाक्षुषादि विज्ञान उत्पन्न होता है और उस (चक्षुरादि) के विकार (सौष्ठवादि) से ज्ञान में सम्यक्त्वादि विकार उत्पन्न होते है। किन्तु रसायनादि के सेवन से जनित देहगत पुष्टयादि विकारों से ज्ञान में किसी प्रकार का विकार नहीं देखा जाता अन्यथा अज्ञात वस्तु को ज्ञान का कारण मानने पर सभी पदार्थों को कारण मानना होगा। चक्षुरादि में तो ज्ञान की आश्रयता अन्वय-व्यतिरेक एवं चक्षुरादिगत विकार से ज्ञान मे विकारोत्पत्ति के आधार पर सिद्ध होती है। इस प्रकार की ज्ञानाश्रयता शरीर में सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि जन्मान्तर में पूर्व शरीर के न होने पर भी बाह्य पदार्थों के सन्निधान से सुखादि उत्पन्न

शार्दूल शोणितादीनां सन्तानातिशये क्वचित् ।
मोहादय सम्भवन्ति श्रवणेक्षणतो यथा ॥ ७९ ॥

शार्दूल (बाघादि) का नाम सुन एवं शोणित (रुधिर) देखकर जो भय-कम्पादि विकार उत्पन्न होते हैं वे भी विषय-ज्ञान विकृत चित्त से ही जन्म लेते हैं, शार्दूल और शोणितादि विषय भयादि विकारों के उपादान नहीं, अपितु तदाकार चैतसिक वृत्ति ही भयादि को जन्म देती है, फलतः चित्त ही उनका उपादान, अतएव जनक होता है ॥ ७९ ॥

तस्माद् स्वस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्तते ।
तन्नान्तरीयकं चित्तमनश्चित्तसमाश्रितम् ॥ ८० ॥

चित्त स्वगत पूर्वोत्पन्न संस्कारों की अपेक्षा स्वगत विकारों को जन्म देता रहता है, क्योंकि कथित विकारों का नान्तरीयक (समनन्तर प्रत्यय) चित्त ही है, अतः वे विकार चित्त के ही आश्रित होते हैं ॥ ८० ॥

वार्तिकालङ्कारः

भ्रंशो हि बाह्यराक्षसादिरूपदर्शनेऽपि भावी । एतदेव दर्शयति—शर्दूलशोणितादीना मिति ।

शार्दूल इति श्रवणादपि कस्यचिन्मोहोऽन्यो वा भवति भावः तथा शोणितदर्शनात् । न चासावाश्रयस्तन्निवृत्तौ वा निवृत्तिर्बुद्धेः । एवमान्तरस्यार्थस्यालम्बनस्य सन्निधेरुत्पादात्सन्निपाताद्यवस्थायां स्मृतिभ्रंशादिभाव इति न देहाश्रया बुद्धिः । आलम्बनमेव देहः सुखादीनां । ततस्तेऽपि तन्निवृत्या न निवर्त्तन्ते, आलम्बनान्तरे भावात् ।

चित्तस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्तते चित्तं न शरीरस्य । शरीरस्याश्रयत्वादृष्टेः । अन्यचेतस्कस्य तु नान्यत्र चित्तमुदेतीति चित्तमेवाश्रित चित्तम् । तथा हि—

संस्कारस्य बलीयस्त्वाद् व्याक्षेपस्य निवर्तनं । व्याक्षेपस्य बलीयस्त्वे संस्कारः स्यात्पराङ्मुखः ॥२०१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो जाते हैं। स्मृति-भ्रंश तो बाह्य राक्षसादि शरीरों के दर्शन से भी हो जाते हैं। यही वार्तिककार कहते हैं—"शार्दूलशोणितादि। अर्थात् शार्दूल (बाघ) का नाम सुनते या शोणित (रुधिर) के देखते ही बाघादि का जो भय मन में व्याप्त हो जाता है, उसका शार्दूल न तो आश्रय होता है और न उसकी निवृत्ति से भयादि की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार स्वप्नादि में आलम्बनीभूत आन्तरारोपित पदार्थ ही सुख-दुखादि एवं स्मृति-भ्रंशादि के जनक होते हैं, फलतः शरीर न तो ज्ञान-सुखादि का जनक होता है और न उसकी निवृत्ति से ज्ञानादि की निवृत्ति होती है। शरीर तो सुखादि का केवल आलम्बन (विषय) ही होता है, अतः सुखादि भी शरीर की निवृत्ति से निवृत्त नहीं होते, क्योंकि विषयान्तर में सुखादि की अनुभूति होती है।

उत्तर चित्त में पूर्व चित्त के ही संस्कार नियमतः अनुवृत्त होते हैं शरीरादि के नहीं, क्योंकि घटादि में जलादि की आश्रयता के समान शरीर में चित्त की आश्रयता देखी नहीं जाती। स्वाश्रयीभूत चित्त में ही चित्त का समुदय होता है, अन्यत्र नहीं। आशय यह है कि यदि वृत्ति-निरोधरूप संस्कार प्रबल हैं, तब विक्षेपक के होने पर भी चित्त में विक्षेप नहीं होता और विक्षेप-संस्कारों के प्रबल होने पर पूर्ण प्रयत्न करने पर भी एकाग्रता प्राप्त नहीं होती ॥२०१॥ प्रबल संस्कारों के रहने पर विरुद्ध वृत्तियों का समुदय नहीं होता। चित्त की एकाग्रता और विक्षिप्तता परस्पर विरोधी वृत्तियाँ

वार्तिकालङ्कारः

यदा बलीयानत्यन्तं भवति संस्कारस्तदा व्याक्षेपेऽपि न व्याकुलता चेतसो यदा तु बलीयान् भवति व्याकुलभावस्तदा विद्यमानोऽपि संस्कारो न स्वकार्यमनुरूपं संवेदनं जनयति। तस्मात्पूर्वविज्ञाननान्तरीयकमेव चित्तमतश्चित्तनिवृत्तावेव चित्तस्य निवृत्तिरिति युक्तम्।

नन्विन्द्रियादुत्पत्तिर्मद्विज्ञानम्। ततोऽपि मनोविज्ञानम्। अतः पारंपर्येण मनोविज्ञानं देहादेव भवतीति कथमनाश्रयो देहः। न हि पारम्पर्येणापि कारणं धूमान्तरजनितस्य धूमस्याग्निरनिवर्तकः। न चापरापराग्नेरसौ न भवत्यपूर्वः। एव विज्ञानमपि देहादुत्पद्यमानं धूमवदुच्छेदधर्मकं स्यात्। न, इन्द्रियज्ञानमन्तरेणापि मनोविज्ञानमनादिवासनात इति प्रतिपादनात्।

धूमश्चाग्नेर्यथाभूतो न धूमादपि तद्विधः। अभ्यासात्तु मनोर्यादृक् तादृगेवादिसम्भवम् ॥५०२॥

धूमस्य हि वह्निजन्यस्य धुमजन्यस्य च नैकलक्षणत्वम् प्रज्ञादीनान्तु बुद्धिविशेषाणामभ्यासान्तरं प्राक् समानमेव रूपमात्मग्रहादीनां च सर्वव्यापिनान्ततो न धूमादिदृष्टान्तः। धूलस्य चाग्निविशेषादेव प्रबन्धः किञ्चित्कालस्थायी। प्रज्ञादयस्तु प्रज्ञादिविशेषादेव पूर्वकान्न देहकृता स्थितिस्तेषम्। अपि च—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हैं। इनमें जिसके संस्कार प्रबल हैं, वही उत्पन्न होती हैं, दूसरी नहीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्व विज्ञान (चित्त) का उत्तर चित्त अनुवर्तन करता है। अन्य का नहीं। पूर्व चित्त की निवृत्ति होने पर ही उत्तर चित्त की निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

शङ्का—इन्द्रियों से चित्त की उत्पत्ति मानी जा सकती है, क्योंकि इन्द्रियों से मनोविज्ञान उत्पन्न होता देखा जाता है। इस प्रकार परम्परया मनोविज्ञान की आश्रयता देह में सिद्ध होती है, देह चित्त का अनाश्रय कैसे ? अवयवीरूप धूम का जनक धूमावयव और उनकी जनक अग्नि है, फलतः परम्परया कारणभूत अग्नि की निवृत्ति से धूम की निवृत्ति देखी जाती है, तब परम्परया कारणीभूत शरीर की निवृत्ति से चित्त की निवृत्ति अवश्य होगी, अतः परलोक की सिद्धि क्योंकर होगी ? अपर-अपर अग्नि से समुत्पन्न धूम अपूर्व क्यों नहीं ? धूम के ही समान विज्ञान (चित्त) भी उच्छिद्यमान है।

समाधान—इन्द्रिय-ज्ञान के बिना भी मनोविज्ञान अपनी अनादि वासनाओं के आधार पर उत्पन्न होता रहता है—ऐसा प्रतिपादित किया जा चुका है। अग्नि-जन्य धूम जैसा होता है, धून-जन्य धूम वैसा नहीं होता किन्तु अद्यतन विज्ञानाभ्यास-जनित विज्ञान अनादि काल से वैसा ही उपलब्ध होता है ॥ ५०२ ॥ वह्नि-जन्य धूम और धूम-जन्य धूम में एकरूपता नहीं पायी जाती किन्तु प्रज्ञा, मेधादिरूप विशेष बुद्धियाँ सदा एकरूप की अनुभूत होती है। अहम्—इस प्रकार एवं आत्मग्रह बुद्धि की सभी इन्द्रियों और सभी देशों में एकरूपता स्थिर की गई है अतः धूमादि का दृष्टान्त प्रकृतोपयोगी नहीं। धूम सदैव एकविध अग्नि से उत्पन्न नहीं होता, अपितु विभिन्न अग्नि-व्यक्तियों से विविध धूमसन्ततियाँ समुद्भूत होती हैं, अतएव धम किञ्चित्कालस्थायी होता है, किन्तु प्रज्ञा मेधादिस्वरूप चित्त अपने पूर्वभावी प्रज्ञादिरूप चित्त से ही उत्पन्न होता है।

वार्तिकालङ्कारः

विज्ञानमिन्द्रियादेव यदि जायेत कस्यचित्। पूर्वविज्ञानरहिताद् धूमदृष्टान्तसम्भवः ॥५०३॥

इन्द्रियादपि विज्ञानं जायमानं न पूर्वसंस्कारनिरपेक्षात्। पूर्वविज्ञानव्याकुलत्वे सत्यपि विषयेन्द्रियसन्निधानेऽनुत्पत्तेः। ततः पूर्वविज्ञानसहकारिण एव इन्द्रियादुत्पत्तिर्न केवलात्। उत्पन्नमेव तदिन्द्रियविज्ञानम्। तत्तु निश्चयाभावादनुत्पन्नमिति व्यवह्रियते। तदसत्।

उत्पन्नमपि विज्ञानं यदि नास्तीति मीयते। निश्चयाभावतः सर्वोऽभावस्तस्येति गम्यताम् ॥५०४॥

यदि निश्चयाभावादभावप्रत्ययो न संवेदनाभावान्न तर्हि संवेदनाभावो नाम क्वचिदस्ति, सर्वत्र निश्चयाभावस्य हेतुत्वात्। अथ तत्र संवेदनकारणमस्ति। ततः संवेदनं समर्थकारणसद्भावादनुमीयते। निश्चयस्यापि तर्हि संवेदनं कारणमस्तीति तस्यापि भावोऽनुमीयताम्। अथ व्याकुलतया तदुपहतम् संवेदनस्यापि कारणं किमेवं नेष्यते।

अथानुपहतस्येन्द्रियस्य विषयस्य चाव्यवहितस्य कथं न विज्ञानजनकत्वम्। पूर्वविज्ञानस्य जनकत्वस्याभावात्। पूर्वविज्ञानसहितस्यैवेन्द्रियस्य जनकत्वात्। कुत एतदिति चेत्। सुखादीन्द्रियविज्ञानतो यतः। प्रतिपादयिष्यते पश्चादेतच्चावसरागतम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि यदि किसी का विज्ञान पूर्व विज्ञान-रहित केवल इन्द्रिय से ही उत्पन्न हो जाता है, तब धूम की दृष्टान्तता संगत हो सकती थी ॥५०३॥ इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान भी केवल इन्द्रिय से उत्पन्न न होकर पूर्वसंस्कार-सापेक्ष इन्द्रिय से समुद्भूत होता है, क्योंकि यदि पूर्व विज्ञान व्याकुल (अव्यवस्थित) है, तब इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इससे यह निश्चित होता है कि पूर्व विज्ञान की सहायिका इन्द्रिय से ही ज्ञान उत्पन्न होता है, केवल इन्द्रिय से नहीं।

शङ्का—केवल इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान तब तक अनुत्पन्न ही माना जाता है, जब तक विषय का निश्चय न हो।

समाधान—उत्पन्न ज्ञान भी यदि 'नास्ति'—ऐसा माना जाता है, तब निश्चयाभाव के कारण सर्वाभाव समझना होगा ॥५०४॥ यदि निश्चयाभाव होने के कारण अभाव-प्रत्यय होता है, संवेदनाभाव से नहीं, तब संवेदनाभाव नाम की वस्तु ही सिद्ध न होगी, क्योंकि सर्वत्र विषयाभाव का साधक निश्चयाभाव ही होगा, संवेदनाभाव की क्या आवश्यकता? यदि संवेदन को वहाँ कारण माना जाता है, तब समर्थ कारण-सद्भाव के द्वारा संवेदन का अनुमान किया जा सकता है। निश्चय का भी संवेदन कारण है, अतः अनुमित संवेदन के द्वारा निश्चय का भी अनुमान किया जा सकता है। यदि चित्त की व्याकुलता (विक्षेप) को बाधित होने के कारण निश्चय का अनुमान नहीं किया जा सकता, तब संवेदन का कारणीभूत विषय वहाँ क्यों नहीं माना जा सकता? इसका उत्तर यह है कि उत्तर विज्ञान का जनकीभूत (समनन्तर प्रत्यय) न होने से कार्यभूत विज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता। केवल इन्द्रिय विज्ञान का जनक न होकर पूर्व विज्ञान सहित इन्द्रिय ही उत्तर विज्ञान का जनक माना जाता है। ऐसा क्यों? क्योंकि इन्द्रिय और विज्ञान से ही सुखादि की उत्पत्ति अनुभव-सिद्ध है। इस विषय का प्रतिपादन पश्चात् यथावसर किया जायगा। सुख-दुःख और तदनुमेय विज्ञान भी ऐन्द्रियक ही होता है और वह पूर्वाभ्यास के बल पर उत्पन्न होता है—यह

वार्तिकालङ्कारः

अथ सुखदुःखतदनुभयविज्ञानमैन्द्रियकमेव पूर्वाभ्यासबलादुत्पत्तिमदिति पश्चात् प्रतिपादयिष्यते। तेनेन्द्रियं पूर्वसंस्कारसापेक्षमेवोत्पादयतीन्द्रियविज्ञानम्। ततो नाद्यमपि संवेदनमिन्द्रियादुत्पत्तिमत्। तस्मात्सकलं चित्तं चित्तनान्तरीयकमेवेति स्थितम्। किञ्च—

भावनाबलतः सर्वमिन्द्रियज्ञानमागतम्। इन्द्रियज्ञानरूपत्वात्स्वप्नविज्ञानरूपवत् ॥ ५०५ ॥

यदीन्द्रियं कारणमिन्द्रियाभावे पुरोवर्त्तिस्पष्टाकारतावद्विज्ञानं न भवेत्। भवति च तस्मात्तदभावेऽपि भावान्न तत्कारणमिति। अथ भ्रान्तं तदभ्रान्तं त्विन्द्रियादेवोत्पद्यते नैतदस्ति।

विनैव सकलं ज्ञानमिन्द्रियादुपजायते। अर्थस्य भावाभावाभ्यां भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्थितिः ॥५०६॥

तदाकारं हि सकलमिन्द्रियं विज्ञानमन्तरेणैव स्वप्नविज्ञानवत्। अथ यदिन्द्रियमन्तरेण तद् भ्रान्तमन्यदन्यथेति विशेषः। तदसत्। तदाकारता हि तावत्स्वरूपं विज्ञानस्य साचेन्द्रियमन्तरेणैवोपलभ्यते। तदा तस्यास्तत्कारणन्न भवति। संवादस्तु पुनरर्थस्य भावाद्भवतीत्यर्थकृत एव स नेन्द्रियकृतः। न चान्यकार्येऽन्यस्य सामर्थ्यम्।

अथ स्वप्नेऽप्यस्त्येवेन्द्रियं तेन पुरोवर्त्तिस्पष्टाकारता तत्रापीन्द्रियकृतैव तेन न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी पश्चात् कहा जायगा। अतः इन्द्रिय पूर्व संस्कार-सापेक्ष होकर ही इन्द्रियज विज्ञान को उत्पन्न करता है। फलतः अनादि विज्ञान भी इन्द्रिय से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह स्थिर हो जाता है कि सकल चित्त अपने पूर्व चित्त के बिना नहीं हो सकता, अपितु चित्तपूर्वक ही उत्तर चित्त उत्पन्न होता है, इससे यह अनुमान फलित होता है—'सर्वमिन्द्रियजनितज्ञानम्, इन्द्रियज्ञानपूर्वकम्, इन्द्रियज्ञानरूपत्वात्, स्वप्नविज्ञानवत्' ॥५०५॥ यदि इन्द्रिय कारण है, तब इन्द्रिय का अभाव होने पर पूर्ववर्ति स्पष्टाकारता के समान विज्ञान नहीं होगा, किन्तु होता है, अतः स्वप्नादि में इन्द्रिय के बिना समुत्पन्न विज्ञान इन्द्रियकारणक नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि स्वप्न में इन्द्रिय के न होने पर भी जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भ्रमात्मक ज्ञान होता है, हाँ, अभ्रान्त ज्ञान इन्द्रिय से ही उत्पन्न होता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सकल ज्ञान इन्द्रिय के अभाव में ही उत्पन्न होता है, अतः इन्द्रिय के भावाभाव पर ज्ञान का प्रमात्व और भ्रमत्व निर्भर नहीं, अपितु विषय के भावाभाव पर प्रमात्वाप्रमात्व आधृत होता है ॥ ५०६ ॥ अर्थात् यह जो कहा जाता है कि स्वप्न में सकल विषयाकार विज्ञान इन्द्रिय के बिना ही उत्पन्न होता है किन्तु इतनी विशेषता अवश्य रहती है कि जो ज्ञान इन्द्रिय के बिना होता है, वह भ्रमात्मक और अन्य ज्ञान प्रमा। वह कहना असत् है, क्योंकि विज्ञान का स्वरूप है—तदाकारता। वह विषयाकारता इन्द्रिय के बिना ही उपलब्ध होती है। विषयाकारता का कारण इन्द्रिय नहीं। संवाद (प्रवृत्ति की सफलता) तो विषय के सद्भाव से ही होता है। फलतः अविसंवादि या प्रमा ज्ञान का विषय विद्यमान और अप्रमा ज्ञान का विषय असत् या बाधित होता है जैसे—शुक्ति में रजतज्ञान। इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान का प्रमात्वाप्रमात्व विषय-कृत है, इन्द्रिय-कृत नहीं। विषय के कार्यभूत प्रमात्व में विषय से अन्य इन्द्रिय का सामर्थ्य नहीं माना जा सकता।

यह जो कहा जाता है कि स्वप्न में भी इन्द्रियों का सद्भाव है, अतएव पुरोवर्ती विषय की स्पष्टाकारता प्रतीत होती है, क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान ही स्फुटाकार होता

वार्तिकालङ्कारः

व्यभिचारः। तदपि न युक्तिमत्। यस्माद्—

अभ्यासादिन्द्रियं जाग्रदिन्द्रियत्वात्तदन्यवत्। कार्यस्वभावाभेदे हि कारणानामभिन्नता ॥ ५०७ ॥

कार्याविशेषेण कारणाविशेषोनुमीयते। न च स्वप्नावस्थायामन्यत्र चेन्द्रियस्य विशेषः। तेनेन्द्रियमेव सजातीयाभ्यासमन्तरेण न भवतीति नाद्यविज्ञानमिन्द्रियादेवोत्पत्तिमदिति पूर्वकमेव विज्ञानं विज्ञानस्याश्रयः।

अथापि स्याद्भवतु चित्तं चित्तस्याश्रयस्तथापि नेष्टसिद्धिः। अपारलौकिकचित्ताश्रयत्वे सिद्धसाधनं मातापितृचित्ताऽऽश्रयत्वस्येष्टेः। पारलौकिकचित्ताश्रयणेऽनैकान्तिकता। मातापितृस्वभावस्याप्यनुवर्तनात्।

अत्रोच्यते "तस्माद्यस्यैव संस्कार"मित्यादि। न मातापितृस्वभावानुवर्तनं नियमेन। तदविकारेऽपि विकारदर्शनात्। विकारेऽपि चाविकारदृष्टेः। यदि च तस्य संस्कारो भवेत् पाण्डित्यादयोऽपि स्युः। यथा वटवृक्षादिस्वभावाद्वटवृक्षस्वभावता तत्प्रसवस्य। अथ यथा पितुर्मातुर्वा संस्काराधायिपाठकादिसहकारिणी तत्स्वभावता तथापत्यस्यापि स्यात्। तन्न संस्कारेऽपि कदाचिदभावात्। इतरथापि भावात्। स्वसन्तानवर्त्तिपूर्वकविज्ञानसंस्कारा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है, जैस कि प्रत्यक्ष का लक्षण जैन-दर्शन में किया गया है—"विशदः प्रत्यक्षम्" (प्र० मी० १। १। १६)। अतः स्वाप्न ज्ञान भी इन्द्रिय-व्यभिचरित नहीं।

वह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि 'इन्द्रियं जाग्रद्, इन्द्रियत्वाद्'—इस अनुमान के द्वारा ऐन्द्रियक ज्ञान में स्वाप्न-भिन्नत्व ही सिद्ध होता है ॥ ५०७ ॥ एक प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन जब इन्द्रिय है, तब दूसरे प्रत्यक्ष मानों की भी साधना इन्द्रिय में ही सिद्ध होती है, कार्य की समानता से कारण की समानता सिद्ध होती है। स्वाप्न ज्ञान ऐन्द्रियक ज्ञान का सजातीय नहीं, अतः स्वप्न में इन्द्रिय का सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता। फलतः आद्य ज्ञान भी इन्द्रिय-जन्य नहीं। ज्ञानपूर्वक ज्ञान की अनादि सन्तति अक्षुण्ण चली आ रही है।

शङ्का—चित्त को ही चित्त का आश्रय मान लेने पर भी इष्ट सिद्धि नहीं होती, क्योंकि अपारलौकिक चित्त में तो चित्ताश्रयत्व माना ही जाता है, अतः सिद्ध-साधनता है, क्योंकि माता-पिता से जनित पुत्र में स्वकीय चित्ताश्रयत्व न होने पर भी मातृ-पितृ चित्त की आश्रयता पुत्र चित्त में मानी ही जाती है किन्तु स्वकीय पारलौकिक चित्त की आश्रयता व्यभिचरित है। पुत्र में माता-पिता के स्वभाव का अनुवर्तन भी यही (माता-पितृ चित्तपूर्वकत्व ही) सिद्ध करता है।

समाधान—उक्त शङ्का का ही समाधान करते हुए वार्तिककार ने कहा है—"तस्मात् स्वस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्तते" (माता-पिता के स्वभाव का पुत्र में अनुवर्तन है। वह नियमतः नहीं, अपितु क्वाचित्क है, अतः उसका माता-पितृ-चित्तपूर्वकत्व नियामक नहीं हो सकता। कादाचित्क दर्शन तो वस्तु के विकार में अविकाररूपता एवं अविकार में तद्विकाररूपता का अनुवर्तन देखा जाता है। यदि माता-पिता का स्वभावानुगमन माना जाय, तब माता-पिता के पाण्डित्यादि का भी पुत्र में वैसे ही अनुवर्तन होना चाहिए, जैसे वट-बीज में वटाङ्कुर-जनकता। पुत्रादि में माता-पिता के पाण्डित्य का अनुवर्तन वहाँ ही होता है जहाँ पाठक (अध्यापक के संस्कार सहकारी हों—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अध्यापक के संस्कारों की सहायता होने पर

वार्तिकालङ्कारः

नुवर्तनस्य (दृष्टत्वात्सन्तानान्तरानुवर्तनस्य) चादृष्टेरुपाध्यायसंस्कारानुवर्तनमुपलभ्यत इति चेत् । न । स्वसन्तानपूर्वविज्ञानस्यैवाभिरुचिविशेषात्तदभावेऽन्यत्राद्दृष्टेरसावपि स्वसन्तानादेव पारंपर्यादुत्पन्नः । अभिरुचिसहायादुत्पत्तिरिति चेत् । अस्तु तथापि स्वसंवेदनं विना न परसंस्कारानुवर्तनं तेन—

परलोकं विना न स्यात् संस्कारानुवर्तनम् । पितृस्वभावानुगमोऽविरोधी परलोकिनः ।। ५०८ ।।

स्यादेतद्—यदि स्वसन्तानवर्तिचित्तसंस्कारानुवर्तनमेव नियमतः। कथंपितृस्वभावानुवर्तनम्? तत्र परिहारः—सर्वस्य पितृस्वभावानुवर्तनप्रसङ्गात्। परलोकवादिमतेऽपि तर्हि सर्वस्याननुवर्तनप्रसङ्गः । न, तत्स्वभावस्य तेन परलोकेऽभ्यस्तत्वादुपाध्यायस्वभावानुवर्तनवत् । अथ यथैकस्माद् वृक्षादनेकवृक्षसम्भवस्तथैकविज्ञानादनेकविज्ञानसम्भवः। एवमेकस्मादेव पारंपर्येण सकलं जगदुत्पन्नमिति प्राप्तम् । उक्तमत्र मात्रादिस्वभावानुवर्तनप्रसङ्गात् । परलोकवादिनोऽपि तर्हि सकलपूर्वस्वभावानुवर्तनं स्यात् । न व्याकुलत्वेन कस्यचिद् भ्रष्टत्वाद् गर्भावस्थानदुःखेन वा । कस्याचित्तु संस्कारानुवर्तनमस्त्येव । जातिस्मरणस्य च दृष्टेः । अपूर्वोत्पन्नस्य तु न दुःखं सैव तस्यावस्था नान्येति । स एव चेदुपा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी पुत्र में पाण्डित्य नहीं देखा जाता और संस्कार की सहकारिता न होने पर भी कदाचित् पाण्डित्य देखा जाता है। लोक में स्वकीय सन्तानगत संस्कारानुवर्तन कहीं नहीं देखा जाता किन्तु उपाध्याय (अध्यापक) के संस्कारों का अनुगमन देखा जाता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि स्वकीय सन्तानगत पूर्व चित्त के संस्कारों से परम्परया प्रसूत अध्यापकादि के संस्कारों का अनुवर्तन उत्तर चित्त में होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक अपनी सन्तति में पूर्वभावी चित्त की ही विज्ञान में अभिरुचि रखता है, अतः उसी के संस्कारों का अनुवर्तन होगा, परकीय (अध्यापकादि के) चित्त के संस्कारों का नहीं। यद्यपि परकीय पाण्डित्यादि की अभिरुचि से पर-चित्तगत संस्कारों का भी अनुवर्तन हो सकता है, तथापि स्वकीय पूर्व संवेदन के बिना परकीय संस्कारानुवर्तन सम्भव नहीं, फलतः परलोक के बिना संस्कारानुवर्तन सम्भव नहीं। पितृचित्त के स्वभाव का पुत्र-चित्त में अनुगमन देखा जाता है, वह परलोकवाद में विरुद्ध नहीं ।। ५०८ ।।

शङ्का—यदि स्वकीय पूर्व चित्त के ही संस्कारों का अनुवर्तन ही नियमतः उत्तर चित्त में होता है, तब पुत्र में पिता के स्वभाव का अनुवर्तन क्यों देखा जाता है ? इस प्रश्न का परलोकवादी उत्तर देता है कि यदि पुत्र में पिता के स्वभाव का अनुवर्तन माना जाय, तब नियमतः सभी पुत्रों में अपने पिता के स्वभाव का अनुवर्तन होना चाहिए किन्तु होता नहीं, अतः स्वकीय चित्त के संस्कारों का ही नियमतः अनुवर्तन होता है। इस पर परलोकवादी से भी पूछा जा सकता है कि यदि ऐसा है, तब किसी पुत्र में भी पिता के स्वभाव का अनुवर्तन नहीं होना चाहिए।

समाधान—जिस पुत्र ने पूर्व जन्म में अपने पिता के स्वभाव का अभ्यास किया था, उसमें पिता के स्वभाव का अनुवर्तन होगा और जिसने अपने अध्यापक के स्वभाव का अभ्यास किया, उसमें अध्यापक के स्वभाव का अनुवर्तन होगा।

शङ्का—जैसे एक वृक्ष से अनेक वृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे एक विज्ञान (चित्त) से अनेक विज्ञानों का सम्भव (उत्पाद) होता है। वैसे ही एक बीज से परम्परया सकल

वार्तिकालङ्कारः

दानकारणत्वेन जनकः। तच्छरीर इव शरीरान्तरेऽपि पुत्रसम्बन्धिनि स्मरणप्रसङ्गः। दुःखाच्चेदस्मरणन्तदसत्।

तदैव तत्रोत्पन्नस्य न दुःखं विषकीटवत्। परलोकिनस्तु तद् दुःखमनाद्यभ्याससेवनात्॥ ५०६॥

किञ्च पित्रोर्दुःखसंवेदनप्रसङ्गः। यथा सुप्तस्य शरीरान्तरगतस्य स्वप्नशरीरे दुःखवेदनम्। जन्यवृक्षदाहे जनयितृवृक्षाम्लानिवदसंवेदनमिति चेत्। न उत्तरवृक्षसंस्कारस्य पूर्ववृक्षे भावात्। इह तु स्वप्नशरीरस्य पूर्वशरीरे दृष्टेः। ततः स्मरणमेव पूर्वकृतस्य स्यात्। संस्वेदजे च न बुद्धिः स्यात्। मात्रादेरभावात्। तस्मादात्मग्रहादिबुद्धिर्मात्रादिबुद्ध्यभावेऽपि दृष्टा संवेदजेषु प्राणिषु ततस्तदभावेऽपि भावान्न मात्रादिबुद्धिर्हेतुः। ततः स्वसन्तानभाविपूर्वबोधजनितमेव मनोविज्ञानमपरञ्च कायादीनां चापलम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जगत् की उत्पत्ति प्रसक्त होती है। इसका परिहार यह कहकर किया जा चुका है कि तब तो माता-पिता के स्वभाव का सभी पुत्रों में अनुवर्तन होना चाहिए।

समाधान—पुत्र के द्वारा किया जानेवाला पितृ-स्वभाव का अभ्यास किसी प्रकार की व्याकुलता या गर्भावस्थ दुःखों के कारण भ्रष्ट हो गया। किसी-किसी का संस्कारानुवर्तन देखा भी जाता है, जैसे जातिस्मर व्यक्तियों को अपनी पूर्व जातियों का स्मरण हो जाता है। जिस व्यक्ति ने पूर्वावस्था में सुखानुभव नहीं किया, वह व्यक्ति उस अवस्था को दुःखरूप अनुभव नहीं करता, जैसे मल-मूत्र का कृमि उस अवस्था में दुःखी नहीं होता। वही दुःखात्मक चित्त ही उसका उपादान कारण और आश्रय होता है। यदि वही चित्त उसका उपादान कारण होने के कारण जनक है, तब उस शरीर के समान ही पुत्र-सम्बन्धी शरीरान्तर में स्मरण होना चाहिए। दुःख के कारण स्मरण नहीं होता—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसी शरीर में चित्त की च्युति और उपपत्ति होने पर दुःख की अनुभूति नहीं होती, जैसे विष-कीट (संखियादि विष-पिण्ड में रहने वाला कीड़ा)। परलोकी सत्त्व को वह दुःखरूप ही प्रतीत होता है, क्योंकि अनादिकाल से वह उस दुःख-भावना का ही आभ्यास करता आया है॥ ५०६॥

दूसरी बात यह भी है कि माता-पिता के दुःखों का भी स्मरण पुत्र को होना चाहिए यदि माता-पिता के चित्त को पुत्र के चित्त का आश्रय माना जाता है। जैसे स्वप्नावस्था में पुरुष अपने शरीर से भिन्न शरीर को धारण कर उसमें अपने शरीर के दुःखों का स्मरण करता है, वैसे ही "पिता वै जायते पुत्रः" इस सिद्धान्त के अनुरूप माता-पिता के दुःखों का स्मरण पुत्र को अवश्य होना चाहिए, जन्य वृक्ष का दाह हो जाने पर जनक वृक्ष में जैसे मुरझाहट नहीं आती, वैसे माता-पिता के दुःखों का स्मरण पुत्र में क्यों होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जनक वृक्ष पूर्व और जन्य वृक्ष पश्चाद्भावी है किन्तु माता पिता पूर्वभावी और पुत्र उत्तरभावी है। पूर्वभावी पदार्थ में पश्चाद्भावी पदार्थ के संस्कारों का अनुवर्तन सम्भव नहीं किन्तु माता-पिता के स्वभाव का अनुवर्तन पुत्र में क्यों न होगा?

स्वेदज मच्छर आदि में तो बुद्धि ही नहीं मानी जा सकेगी क्योंकि उनके माता-पिता भी नहीं होते। पिता-माता आदि के न होने पर भी स्वेदज प्राणियों में आत्मग्रह (अहम् इस प्रकार की बुद्धि) अनुभव-सिद्ध है। मातादि की बुद्धि के अभाव में उत्पन्न स्वेदज प्राणियों में आत्मग्रहरूप चित्त का कारण माता-पिता का चित्त कदापि नहीं हो सकता।

यथा श्रुतादिसंस्कारः कृतश्चेतसि चेतसि।
कालेन व्यज्यतेऽभेदात्स्याद् देहेऽपि ततो गुणः ॥ ८१ ॥

जैसे श्रुताध्ययनादि से जनित संस्कार चित्त में रहते हैं और समय पर उनकी अभिव्यक्ति होती है वैसे ही शरीर और चित्त का अभेद होने के कारण शरीरगत कृशतादि विकारों के समान चैतसिक विकारों का दर्शन होना चाहिए किन्तु होता नहीं, अतः चित्त देह से भिन्न तत्त्व है। देह के नष्ट होने पर भी उसका नाश नहीं होता॥ ८१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ननु स्वसन्तानो मात्रादिशरीरमेव शरीरान्वयस्य दृष्टत्वात्। तदव्यतिरेकि च विज्ञानं चापलादयश्च। ततस्तदन्वयसाधने सिद्धसाधनमेव।

अथ शरीरस्य पित्रादिसम्बन्धिनो भिन्नता परलोकिकायस्यापि तथेति तदन्वयितापि न स्यात्। बालाद्यवस्थायाश्च पित्रादेः स एव चपलतादिस्वभाव इति तत्सन्तानता।

तदप्ययुक्तम्। चेतसा शरीरेण च मात्रादिस्वभावस्यानुवर्तनस्यादृष्टेः। स तस्य पिता न भवतीति चेत्। न दृष्टत्वात्। न चाभ्यासमात्मीयमन्तरेण तद्विशेषो दृष्टः। तस्मात्स्वाभ्यास एवानुमीयते। अभेदेऽपि चेतसो महाभूतविकारत्वेऽपि पूर्वपरलोकमहाभूतानुमानमेव। न चाभेदो युक्तः। यस्माद्—यथा श्रुतादि-संस्कार इति।

श्रुतादिसंस्कारो हि स्वसंविदिताभ्यासपूर्वको नाभिव्यक्तः स्वापावस्थायां, काले

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

परिशेषतः स्वकीय सन्तान में पूर्वभावी चित्त ही उत्तर चित्त का हेतु और आश्रय रहेगा, अतः परलोक-सिद्धि अनिवार्य है। पूर्व चित्त के स्वकीय विकारों के साथ तत्प्रयुक्त शरीरगत चपलतादि विकार भी पुत्र में उपपन्न हो जाते हैं।

शङ्का—पुत्र तो स्वकीय सन्तान या माता-पिता का शरीर ही है, क्योंकि पुत्र के शरीर में माता-पिता के शरीर का अन्वय दृष्टचर है। शरीर से भिन्न चित्त नहीं, अपितु चित्त शरीर से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) है। अतएव शरीरगत चपलत्वादि धर्म भी चित्त के ही हो जाते हैं, अतः चपलत्वादि का अन्वय पुत्रादि के शरीर में सिद्ध करने पर सिद्ध-साधन दोष है। यदि पित्रादि-शरीरों में चित्त से भिन्नता मानी जाती है तब परलोकी शरीर भी भिन्न मानना होगा, फलतः उसके चापलत्वादि का भी पुत्र के शरीर में अन्वय न हो सकेगा। पित्रादि की बालादि के अवस्थागत शरीर में वही चपलत्वादि स्वभाव होता है, अतः स्वसन्तानतादि घट जाती है।

समाधान—चित्त और शरीर के द्वारा माता-पिता के स्वभाव का पुत्र में अनुवर्तन नियमतः नहीं देखा जाता। जिसके स्वभाव का अनुवर्तन नहीं, वह उसका पिता ही नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा दृष्ट है। स्वकीय अभ्यास के बिना कोई विशेषता देखी नहीं जाती, अतः दृष्ट विशेषता के द्वारा उसके अभ्यास का अनुमान किया जाता है। चित्त का शरीर से अभेद मानने पर भी महाभूत के विकार से पूर्वतन महाभूतों का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु अभेद-पक्ष युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जैसे श्रुताधीत-जन्य संस्कार मन में रहते हैं, वैसे शरीर में मानने पर शरीर के समान ही दृष्टता प्राप्त होती है। अर्थात् श्रुतादि पदार्थों के संस्कार स्वकीय अभ्यास से जनित होते हैं, भले ही स्वाप अवस्था में अभिव्यक्ति न हो, समय पाकर जागने पर अभिव्यक्त हो ही जाते हैं। वैसे ही देह में अभिव्यक्त संस्कार चित्त में प्रतीत होते हैं,

वार्तिकालङ्कारः

प्रबोधावस्थयाभिव्यज्यते । तथा देहेऽप्यभिव्यक्तश्चेतसीव प्रतीयते अभेदतः । यथा देहे गुणाः कार्श्यादय उपलभ्यन्ते परेण च । तथा चेतोगुणस्य शिल्पादेरप्युपलम्भः किन्न भवति ? नहि यदुपलभ्यते रूपान्तर्गतन्तदन्यथा भवति । अन्तःस्प्रष्टव्यविशेषरूपत्वात्परोपलब्धिर्न भवतीति चेत् । न बहिःस्प्रष्टव्यस्यापि व्रणादेरनुपलम्भात् । न हि व्रणेन खरस्पर्शो वायुरुपलभ्योऽन्येनोपलभ्यते । व्रणस्यैव सा शक्तिरिति चेत् । किमुपलम्भकविशेषादुपलभ्योऽन्यथोपलभ्यते । तथा सति भ्रान्तत्वप्रसङ्गः । व्रणस्यैव संस्पर्शविशेष इति चेद्वायोरुपलम्भकत्वप्रसङ्गः । तथा च व्रणिनो वेदना न स्यात् । अथ वायुना परिघट्टमानस्य व्रणस्य तेनैवोपलभ्यते संस्पर्शः । अन्यस्यापि व्रणस्पर्शतः स्यात् । न स्पृश्यमानस्य परेण उपलम्भ इति न युक्तं यतः—

स्पृश्यमानस्य यद्रूपं तच्चेत्स्पृष्टं न वेद्यते । तदन्यरूपवित्तौ स्यात्तदेव विदितं कथम् ।। ५१० ।।

न खलु तस्य रूपमनुपहतेन्द्रियेणाविदितं युक्तम् । तथा च स्वसंवेदनमेव । असंवेदनस्य तद्विलक्षणत्वात् । स्वसंवेदनमेव दुःखं सुखं वा रागादयश्च स्युरिति महाभूतादन्यद्विज्ञानम् ततः स्वसंवेदनस्य देहेन सहाधाराधेयभावो न युक्तः । कथन्तर्हि पादे मे वेदना हस्ते मे वेदनेति । हस्तविकारकाले तस्याभावादेवं भवति नान्यथा । हस्तादिविकारसहचरितत्वाद्वा तथा व्यपदेशः । तथाहि—

स्वसंविद्रूपता मात्रान्नाधाराधेयतास्थितिः । स्वरूपे हि निमग्नस्य नाधारादिविकल्पनम् ।। ५११ ।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि देह और चित्त का अभेद है। जैसे देह में कृशतादि धर्म अन्य व्यक्ति को भी देखने में आते हैं, वैसे ही चित्त के शिल्पादि कौशलरूप गुणों का उपलम्भ क्यों नहीं होगा ? रूपान्तर्गत जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वह वैसी न होकर अन्यथा होती है—ऐसा नहीं कह सकते । अन्तःस्प्रष्टव्य शीतादि गुणों का अन्य व्यक्ति को उपलम्भ नहीं होता—ऐसा नहीं सह सकते, क्योंकि बहिःस्प्रष्टव्य व्रणादि का काठिन्य भी अन्य के द्वारा उपलब्ध नहीं होता । व्रण के द्वारा उपलम्भनीय खर-स्पर्श वाली वायु अन्य के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं की जाती । व्रण की ही वह शक्ति है कि खर-स्पर्श का उपलम्भक है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि क्या उपलम्भक विशेष के द्वारा उपलभ्य वस्तु अन्यथा उपलब्ध होती है ? अथवा व्रण की ही वह शक्ति है ? प्रथम पक्ष में भ्रान्तत्वापत्ति और द्वितीय पक्ष में उपलम्भक वायु को व्रण-व्यथा होनी चाहिए व्रणी (घाववाले) व्यक्ति को नहीं । यदि वायु की रगड़ खाकर व्रण का स्पर्श व्रण के द्वारा ही उपलब्ध होता है, तब अन्य को भी व्रण स्पर्श से खर-स्पर्श की उपलब्धि होनी चाहिए । स्पृश्यमान पदार्थ का अन्य के द्वारा उपलम्भ नहीं होता—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्पृश्यमान वस्तु का स्वरूप यदि स्पर्श से अवगत नहीं होता, तब अन्यरूप के ज्ञान में उसका भान क्योंकर होगा ।। ५१० ।। स्पृश्यमान पदार्थ का स्वरूप पटु एवं सक्षम इन्द्रिय के द्वारा विदित नहीं हो सकता, अन्यथा स्वसंवेदनता प्राप्त होती है । स्वसंवेदन से असंवेदन भिन्न होता है । सुख, दुःख, रागादि पदार्थों का स्वसंवेदन प्रसिद्ध है । स्वसंवेदन महाभूत से अन्य है, अतः देह के साथ उसका आधाराधेयभाव नहीं हो सकता । तब 'पादे मे वेदना', 'हस्ते मे वेदना'—ऐसी अनुभूति क्योंकर होगी ? हस्त-विकार के समय होने के कारण वैसी अनुभूति होती है—क्योंकि वह हस्त-विकार-सहचरित है । अर्थात् स्वरूपात्मक वस्तु के साथ आधाराधेयभाव नहीं हो सकता, स्वरूप

अनन्यसत्त्वनेयस्य हीनस्थानपरिग्रहः ।
आत्मस्नेहवतो दुःखसुखत्यागाप्तिवाञ्छया ॥ ८२ ॥

ईश्वरादि अन्य सत्त्वों के द्वारा अप्रेरित जीव का गर्भ-वास ही जन्म परिग्रह कहलाता है। जीव को पूर्णतया आत्मस्नेह है, अतएव दुःख का परित्याग एवं सुख-प्राप्ति की प्रबल अभिवाञ्छा है किन्तु मोह-वश गर्भ जैसे हीन अपवित्र स्थान को पवित्र और सुखस्वरूप समझ रखा है ॥ ८२ ॥

दुःखे विपर्यासमतिः तृष्णा चाबन्धकारणम् ।
जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति ॥ ८३ ॥

यहाँ दुःखरूप गर्भादि स्थानों में सुख-बुद्धि एक विपरीत ख्याति है। जीव की सहज-सिद्ध तृष्णा [जिसका स्वरूप बताया जाता है—मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते] विशेषतः आबन्ध की कारण है। [भव-चक्र के द्वादश अरों में उपादान नाम से परिगणित प्रधान अर है—यही तृष्णा]। जिस जीव में विपर्यास और तृष्णा नहीं होती, वह जन्मग्रहण नहीं करता, मुक्त हो जाता है ॥ ८३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्वरूपमात्रवेदने हि कथमाधाराधेयकल्पनासम्भवः। द्वयप्रतिपत्तौ हि तथा भवेत्। न च तत्रापि तथा द्वयप्रतिसत्तौ हि द्वयमेव तदिति भवेत्।

अथ वासनानियमात्तथाविकल्पः। न तर्हि विकल्पो न महाभूताव्यतिरिक्तः स्वरूपमात्रपर्यवसानात्। वासनाबलोत्पन्नमहाभूतत्वेऽपि न दोषः।

(२०) पुनर्जन्मपरिग्रहः—

तस्माद् देहातिरिक्ता बुद्धिस्ततो न मातापितृजा। स्वसन्तानपूर्वभाविन्येव यदि तर्हि न महाभूतमात्रादुत्पत्तिः प्राणिनो जन्मान्तरादागमनं गर्भादिस्थाने। ततोऽशुचिदेशगमनमयुक्तम्। न हि प्रेक्षावानेवं भवितुं युक्तः। न चेश्वरप्रेरणमिष्यते। तत्रोच्यते—अनन्यसत्त्वनेयस्येति।

उक्तमेतद्यदि प्रेक्षावान् भवति। स्वरूपस्य स्वतो गर्तिनं प्राप्यस्य ततः केनचिन्न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में जो वस्तु समा गई, उसके साथ आधाराधेयभाव की कल्पना नहीं हो सकती ॥ ५११ ॥ किसी एक पदार्थ के स्वरूपमात्र का ज्ञान होने पर आधाराधेयभाव का ज्ञान (कल्पना) नहीं हो सकता, क्योंकि घट और भूतल के समान दो पदार्थों की प्रतिपत्ति होने पर ही सम्भव होगा। उसमें भी केवल दो पदार्थों का ज्ञान होने पर भी केवल "द्वयमेतत्"—इतना ही ज्ञान होगा, "शरीरे बुद्धि"—ऐसा ज्ञान नहीं। वासनामात्र के आधार पर दो पदार्थों की प्रतिपत्ति होने पर आधाराधेय का ज्ञान हो जायगा। ऐसा मान लेने पर इतना और मानना होगा कि कल्पित चित्त शरीररूप महाभूत से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) नहीं, भिन्न ही मानना होगा। नहीं तो स्वरूपात्मकता में पर्यवसान हो जायगा। महाभूतों की उत्पत्ति वासना बल से मानने पर कोई दोष नहीं।

(२०) पुनर्जन्मपरिग्रह—

फलतः देह से बुद्धि (चित्त) भिन्न है। वह माता-पिता से जनित नहीं, अपितु स्वकीय सन्तानगत अन्तिम चित्तक्षण से उत्पन्न है। यदि ऐसा है, तब प्राणियों की

वार्तिकालङ्कारः

क्वचिद् ग्रामादौ प्रवर्त्तितव्यम् अत आदिशान्तत्वात्संसार एव न भवेत्। अथ ग्रामादिगमनं यथा कथञ्चिद् भवत्यप्रेक्षावत्तया तथा सति गर्भादिदेशगमनमपि। आत्मस्नेहप्रेर्यमाणस्य हि हीनमपि विपर्यासादुपादेयं भवतिः। कर्मशक्तिरेव सा तादृशी येनान्यसत्त्वनेयस्य परतन्त्रस्येव तथा गतिः। हीनस्थानपरिग्रहोऽपि सुखदुःखाप्तित्यागवाञ्छया श्रोत्रियस्य दासीवेश्मप्रवेशवत्।

अथेश्वरप्रेरितत्वं कस्मादस्य नास्ति, भ्रान्तस्य स्वयमेव सम्भवान्नेश्वरकल्पना साध्वी। न चेश्वरप्रेरणमुपलभ्यते। यथा च नैश्वरकल्पना तथा प्रतिपादितम्। आत्मस्नेह एवेश्वरस्तस्य प्रेरकत्वप्रतीतेः। अथ यथाऽन्येन भृत्यादिः प्रेर्यते तथा परलोकेऽपीति चेत्। न, नियमाभावात्। आत्मतृष्णावानेव प्रेर्यते न सर्वः। सोऽपि सतृष्णो नैवापरेण न वीतरागादिना। तदाराधनेन गतिप्राप्तेः स प्रेरक इति चेत्। सर्वतीर्थंकराणामीश्वरत्वप्रसङ्गः। तस्माद्विपर्यस्तमतिरेव प्रवर्तते गर्भस्थानेऽन्यत्र वा दुःखेऽपि सुखसंज्ञया। ततो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

महाभूतमात्र से उत्पत्ति नहीं अपितु पूर्वजन्म से गर्भावस्था में उत्पन्न होते हैं किन्तु ऐसे अशुचि (अपवित्र) स्थान में जाना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति अपने-आप ऐसा नहीं कर सकता और न ईश्वर की प्रेरणा ऐसी मानी जा सकती है। यह पहले छठे पद्य में कहा जा चुका है कि—"स्वरूपस्य स्वतो गतिः" अर्थात् जीव की स्वतः (अपनी इच्छा से) गति होती है, दूसरा गमयिता सम्भव नहीं, क्योंकि जिस प्रेक्षा या बुद्धि से जीव को वस्तु का ज्ञान होता है, वह शुद्ध पदार्थ का ही ज्ञान है, प्राप्य पदार्थ का नहीं। यदि कहा जाय कि जैसे यथाकथञ्चित् ग्रामादि देशों में प्रेक्षा के बिना भी गति देखी जाती है, वैसे ही गर्भादि देशों में गमन हो जाता है। आत्मस्नेह से प्रेरित पुरुष विपर्यास के कारण हीन (अनुपादेय) देश को उपादेय मान लेता है। कर्म की शक्ति ही वैसी है, अन्य-प्रेरित परवश व्यक्ति के समान वैसी गति हो जाती है। हीन-स्थान का परिग्रह तो दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए होता है, बड़े-बड़े श्रोत्रिय विद्वान् भी दासी के घर में घुसते देखे गये हैं।

यह जो यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जीव के गर्भ-प्रवेश में ईश्वर की प्रेरणा क्यों नहीं मानी जाती ? इसका सीधा उत्तर है कि जो व्यक्ति किसी क्रिया में अपने-आप प्रवृत्त नहीं होता, उसे अन्य की प्रेरणा चाहिए। भ्रान्त पुरुष की तो अपने-आप विपर्यय के कारण गर्भादि के ग्रहण में प्रवृत्ति हो जाती है, अतः ईश्वर की कल्पना ही व्यर्थ है। ईश्वर की प्रेरणा उपलब्ध भी नहीं होती—यह पहले (विगत पृ० ७४ पर) कहा जा चुका है। यहाँ आत्मस्नेह ही ईश्वर है, उसमें ही प्रेरकत्व पाया जाता है। जैसे—भृत्य (नौकर) आदि मालिक से प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही परलोक में भी क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि अन्य की प्रेरणा से ही सर्वत्र प्रवृत्ति होती है—ऐसा कोई नियम नहीं। आत्मीय तृष्णावान् पुरुष ही प्रेर्यमाण होता है, सभी नहीं। वह प्रेरक पुरुष भी सतृष्ण होगा, क्योंकि वीतराग (तृष्णा-रहित) व्यक्ति किसी का प्रवर्तक ही नहीं होता। यद्यपि ईश्वर वीतराग है, वस्तुतः प्रेरक नहीं, तथापि उसकी आराधना से गति प्राप्त होती है, अतः वह प्रेरक माना जाता है—ऐसा मानने पर सभी तीर्थंकार (आचार्यों) को ईश्वर मानना पड़ेगा। निष्कर्ष यही है कि विपर्यय ज्ञान वाला व्यक्ति ही गर्भस्थान या अन्यत्र दुःखात्मक पदार्थों में सुख बुद्धया प्रवृत्त होता है।

गत्यागती न दृष्टे चेदिन्द्रियाणामपाटवात् ।
अदृष्टिर्मन्दनेत्रस्य तनुधूमागतिर्यथा ॥ ८४ ॥

यदि जीव जन्मान्तर ग्रहण करता है, तब गति (पूर्व शरीर से उसका निकलना) और आगति (शरीरान्तर में प्रवेश) का दर्शन क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है—इन्द्रियों का असामर्थ्य । धधकते अंगारों में सूक्ष्म धूम नहीं दिखता । वह क्यों ? इन्द्रियों का असामर्थ्य ॥ ८४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

विपर्यस्तमतितृष्णाभ्यां जन्म यस्य तु ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति । न तस्येश्वरो जन्मदानसमर्थः । न हीश्वरवादिनामप्ययमभ्युपगमः ।

ननु यस्यारोग्यसाधकं कर्म नास्ति, तस्य भिषगकिञ्चित्करः । यस्य तु कर्मानुपहतमारोग्यसाधकं तत्रापि व्यर्थता भिषजामशक्यसमर्थाभ्यामिति प्राप्तम् , नायं दोषः ।

व्यर्थता भिषजः क्वापि न च शक्तिस्तथैव किम् । ईश्वरस्यापि सैवेष्टा तथा चेन्न स ईश्वरः । ५१२॥

न खलु कश्चित्संसारी प्रेर्यते ईश्वरेण कश्चिन्नेत्यभ्युपगम ईश्वरवादिनामथ तदाराधनमपि गतिप्राप्तावुपयुज्यते । तथा सति दायकाराधनमपि । एतच्च सर्वतीर्थकराणामपि क ईश्वरानीश्वरयोर्विशेषः । तस्मादविद्यातृष्णयोरेव जन्मनि सामर्थ्यं नेश्वरस्य ।

(२१) अन्तराभवदेहः—

यदि तर्हि गमनमागमनञ्च जन्मान्तरापेक्षया तत उपलब्धिस्तयोः प्राप्ता तथा च नोपलब्धिरित्यभाव एव तयोरित्याह—गत्यागती न दृष्ट इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

फलतः विपरीत बुद्धि और तृष्णा के द्वारा ही जन्म ग्रहण होता है । जिस पुरुष धौरेय के ये दोनों नहीं, वह जन्म ग्रहण नहीं करता । उसको जन्म देने में ईश्वर भी समर्थ नहीं । ईश्वरवादी दार्शनिक भी वैसा नहीं मानते ।

शङ्का—जिस रुग्ण व्यक्ति के आरोग्य-साधक कर्म नहीं, उसको वैद्यपुंगव भी कुछ नहीं कर सकता और जिसके कर्म ही रोग-निवारण-सक्षम हैं, उसके लिए भी वैद्य व्यर्थ है ।

समाधान—उक्त दोष कोई दोष नहीं, क्योंकि वैद्य की व्यर्थता कहीं भी नहीं, क्योंकि सक्षम कर्मों के सामर्थ्य से ही वैद्य प्राप्त होता, अक्षम कर्मवाले के पास वैद्य जा ही नहीं सकता । ईश्वर में भी वही प्रक्रिया मानी जाती है, वैसा यदि प्रेरक नहीं, तब वह ईश्वर भी नहीं ॥ ५१२ ॥ अर्थात् ईश्वर के द्वारा कोई संसारी व्यक्ति प्रेरित होता है और कोई नहीं—ऐसी मान्यता ईश्वरवादियों की नहीं । जन्म देने वाले ईश्वर का आराधन यदि उपयोगी है, तब धनादि देने वाले मालिक की आराधना भी होनी चाहिए । इस प्रकार की आराधना तो सभी तीर्थंकारों (आचार्यों) की होती है, ईश्वर और अनीश्वर में क्या विशेषता ? अतः जीव की अपनी अविद्या और तृष्णा में ही जन्म देने का सामर्थ्य होता है, ईश्वर में नहीं ।

(२१) अन्तराभव देह—

यदि सत्त्व विज्ञान या जीव एक शरीर से निकल कर किसी गर्भ में प्रवेश करता है, तो अन्तराल देश में उसका गमनागमन उपलब्ध क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"इन्द्रियाणामपाटवात्" ।

यद्यपि गति और आगति दृष्ट नहीं । तथापि उन गमनागमन का अभाव नहीं,

तनुत्वान्मूर्तमपि तु किञ्चित् क्वचिदशक्तिमत् ।
जलवत् सूतवद्धेम्नि नादृष्टेनासदेव वा ॥ ८५ ॥

यद्यपि शरीर मूर्त द्रव्य है और पाषाणादि मूर्त द्रव्य किसी दूसरे मूर्त द्रव्य में प्रवेश नहीं कर सकता, तथापि तनु (सूक्ष्म) द्रव्यों का द्रव्यान्तर में प्रवेश देखा जाता है, जैसे जल पृथिवी आदि में और सूत (पारद) सोने में समा जाता है। वैसे सूक्ष्म शरीरान्तर में प्रवेश करता है। अन्तराभव शरीर भी सूक्ष्म है, अदृश्य है, असत् नहीं ॥ ८५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यद्यपि गत्यागती न दृष्टे तथापि तयोर्नाभावः। इन्द्रियाणामपाटवाददृष्टिर्न स्वभावादेव । न ह्यविद्यमानस्यैवादर्शनं मन्दनेत्रस्य न तनुधूमो गतिविषयस्तथाप्यस्त्येव । अन्तराभवदेहो हि स्वच्छत्वान्नोपलभ्यते । निष्क्रामन् प्रविशन् वापि नाभावोनीक्षणादपि ॥५१३॥

अन्तराभवदेहो हि स्वच्छतया कर्मसामर्थ्यादुत्पन्नो योगिमात्रगम्यः । स्वप्नशरीर-वन्नोपलभ्यते । न तावता तस्याभावः । मिथ्यास्वप्नशरीरमिति चेन्नार्थक्रियाकारित्वा-दिति प्रतिपादनात् । अत एव—तनुत्वान्मूर्तमपीति ।

स्वप्नशरीरवदेवाशक्तिमद् मूर्त्तत्वान्मूर्त्तमपि तु किञ्चित्क्वचिदशक्तिमज्जलवद् घटादौ प्रभावत् स्फटिकादौ हेम्नि सूतवत् । अथवा जलवत् सूतवद् हेम्नि न विद्यमान-मेव नोपलभ्यते । अपि त्वदृष्टेरसदेव वान्तराभवशरीरम् । तथा हि—

"व्रीहिसन्तानसाधर्म्याद‌विच्छिन्नभवोद्भवः" परिकल्पितः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अपितु उनके ग्रहण में इन्द्रियों का सामर्थ्य नहीं। अविद्यमान की ही अनुपलब्धि होती— ऐसा नहीं, अपितु उपलब्धि के कारण की अशक्ति या प्रतिबन्धक के आ जाने से भी विद्यमान पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती, जैसे कि मन्दनेत्रवाला व्यक्ति सूक्ष्म धूम या जीव की गर्भावक्रान्ति को नहीं देख पाता। तथापि उसकी सत्ता प्रामाणिक है। जीव की गति और आगति जिस शरीर से होती है, उसे अन्तराभव देह कहते हैं, वह नितान्त सूक्ष्म और स्वच्छ है। अतएव पूर्व शरीर से वह निकलता और उत्तर शरीर में प्रविष्ट होता दिखाई नहीं देता, क्षणमात्र से अभाव सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ५१३ ॥ प्राणी के प्रारब्ध कर्मों के द्वारा अन्तराभव शरीर अत्यन्त स्वच्छ और पारदर्शी है, केवल योगिजन उसे देख सकते हैं। साधारण व्यक्तियों के लिए वह स्वाप्न शरीर के समान ही अदृश्य है, किन्तु उसका अभाव नहीं। स्वाप्न शरीर तो मिथ्या (असत्) है, अतः उसकी अनुपलब्धि न्याय-संगत है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्त्व का लक्षण किया गया है—अर्थक्रिया-कारित्व, स्वाप्न शरीर भी अर्थ-क्रियाकारी होने से सत् ही है, असत् नहीं—यह कहा जा चुका है। पृथिवी, जलादि मूर्त पदार्थों का स्वभाव है कि इनका एक दूसरे में प्रवेश नहीं होता। अन्तराभव शरीर मूर्त है, अतः गर्भ में उसका प्रवेश कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे जलरूप मूर्त पदार्थ घटरूप मूर्त में, सूत (पारद) सुवर्ण में प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही अन्तराभव शरीर भी गर्भ में प्रविष्ट हो जायगा अथवा घड़े में जल और सुवर्ण में सूत (पारद) के समान विद्यमान पदार्थ की ही अनुपलब्धि नहीं होती, अपितु अनुपलब्ध होने के कारण अन्तराभव देह असत् ही है, जैसा कि आचार्य वसुबन्धु ने कहा है—

मृत्यूपपत्तिभवयोरन्तरा भवतीह यः ।
गम्यदेशानुपेतत्वान्नोपपन्नोऽन्तराभवः ॥

वार्तिकालङ्कारः

"मृत्यूपपत्तिभवयोरन्तरा भवतीह यः" ।

न चात्र तथा । व्यवहितस्य कालदेशाभ्यामुत्पत्तेः । तथा हि कश्चिदविच्छिन्नं कान्यकुब्जादिगमनं ग्रामगमनादिनोपलभते । कश्चिदिहस्थ एकदैव देशान्तरस्थमात्मानमुपलभते स्वप्ने । तद्वद् गतिदेशेपीति न विशेषः । न च स्वप्नस्यासत्त्यतेति अस्यापि साध्यस्यासत्यतया भवितव्यम् । न दृष्टान्तस्य सर्वसाम्यं दृष्टम् । वासनादार्ढ्यात्सत्यता भविष्यति जन्मान्तरस्य न तु स्वप्नस्य, तदभावात् ।

प्रतिभासान्तरप्राप्तेः स्वप्नस्यासत्यता यदि । जन्मान्तरस्यापि ततोऽसत्यतेति मतं ननु ॥५१४॥

यदि प्रतिभासान्तरं जाग्रत्प्रत्ययलक्षणं भवतीति स्वप्नस्यासत्यता जाग्रत्प्रत्ययस्यापि सत्यताविपर्ययः । स्वप्नप्रत्ययस्य प्रतिभासान्तरलक्षणस्य भावात् । न हि विपः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्रीहिसन्तानसाधर्म्यादविच्छिन्नभवोद्भवः ।
प्रतिबिम्बमसिद्धत्वादसाम्याच्चानिदर्शनम् ॥ (अभि०को० ३।१०, ११)

[अर्थात् परलोकवादियों के मतानुसार मृत्यु का अर्थ है—जीव का एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होना । जिस शरीर से निकलते हैं, उसे पूर्वलोक या पूर्वभव एवं जिस शरीर में प्रविष्ट होते हैं, उसे परलोक या परभव कहते हैं । इन दोनों शरीर की दूरी या अन्तर कहीं-कहीं बहुत अधिक और कहीं बहुत कम होतो है । अतः एक शरीर से दूसरे शरीर में पहुँचाने के लिए एक तीसरे शरीर की आवश्यकता होती है, उसे आतिवाहिक शरीर या अन्तराभव कहते हैं, क्योंकि वह अन्तरा (मध्य में) होता है । वह अन्तराभव अण्डजादि से भिन्न मानस या औपपातिक होता है। अत एव उसकी बाल्य, यौवन और स्थाविरादि अवस्थाएँ भी नहीं होती । हाँ, क्षणभंगवाद वहाँ भी लागू रहता है, जैसे व्रीहि आदि पदार्थ चाहे खेत में हों चाहे कुसूल में क्षण-परिवर्तन अनिवार्य है । अन्तराभव भी सन्तान-प्रवाह से अछूता नहीं । व्रीहि-सन्तान से अन्तराभव-सन्तान में इतना अन्तर अवश्य होता है कि व्रीहि-सन्तति विच्छिन्न (व्यवहित) देश में न होकर अविच्छिन्न देश में होती है।] वैसा अन्तराभव सन्तति नहीं, अपितु कोई सत्त्व पाटलिपुत्र में मरकर कान्यकुब्ज (कन्नौज) के समान सुदूर प्रान्त में पैदा होता है और कोई उसस भी दूर लोकान्तरों में । कोई-कोई तो इसी स्थान में स्थित होता हुआ दूर-दूर देशों में अपनी स्थिति का अनुभव करता है, जैसे स्वप्न में । यदि कहा जाय कि स्वप्न असत्य है, अतः उसके समान ही प्रतीयमान भवान्तर प्राप्ति मिथ्या है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि दृष्टान्त के समस्त धर्म दार्ष्टान्त में अभिमत नहीं होते । प्रकृत में केवल गति-क्रम विवक्षित है । स्वप्न-जनक संस्कारों की अदृढ़ता से स्वप्न में असत्यता और जाग्रत्-जनक वासनाओं (संस्कारों) की दृढ़ता से जाग्रत् संसरण में सत्यता है ।

शङ्का—स्वप्नानुभूतियों का प्रतिभासान्तर (विपरीत प्रत्यय) उपलब्ध होता है, अतः स्वप्न मिथ्यात्व के समान जाग्रत् प्रत्यय भी प्रत्ययान्तर (स्वाप्न प्रत्यय) से बाधित होने के कारण मिथ्या क्यों नहीं ? ॥ ५१४ ॥ यद्यपि स्वाप्न-प्रत्यय विपर्ययरूप है, तथापि उसकी प्रतिभासान्तरता में कोई अन्तर नहीं । यदि कहा जाय कि स्वप्न में घटादि पदार्थ अपनी कपालादिरूप निश्चित सामग्री के बिना ही अकस्मात् उपलब्ध होते हैं, अतः मिथ्या हैं, किन्तु जाग्रत्पदार्थ अपनी निश्चित सामग्री से उत्पन्न होते हैं,

वार्तिकालङ्कारः

यंयत्वे विशेषः। अथ स्वप्ने घटादिकमकस्मादेवोपलभ्यते। तत्कारणमन्तरेणैव। ततो विशेष इति चेत्।

अकस्मादुपलभ्यन्ते जाग्रतापि घटादयः। सामग्रीसम्भवे दृष्टाः स्वप्नेऽपि शकटादयः ॥५१५॥

जाग्रदवस्थायामपि योगिनिर्मिता पर्वतादयोऽकस्मादेवोपलब्धिगोचराः। विद्यमाना एव ते प्रागुपलभ्यन्त इति चेद् भ्रमणविशेष एव च सामग्री तत्रेति। तदसत्यम्—

स्वप्नेऽपि विद्यमानत्वं प्राक्केन विनिवार्यते। अन्यस्यानुपलब्ध्या चेत् पर्वतादिषु सा समा ॥५१६॥

यदि विद्यमाना एव प्राक्पर्वतादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते जाग्रता। स्वप्नव्यवस्थितेनापि तथेति किन्नाभ्युपगम्यते। अन्येन जाग्रता तेषामनुपलब्धेरविद्यमानतेति चेत्। जाग्रदुपलब्धानामपि स्वप्नगतेनाप्यनुपलम्भः। यथा च भ्रमणसामग्रीतस्तेषामुपलम्भस्तथावस्थान्तरस्य स्वप्नस्य सम्भवादकस्माद्घटादीनाम्। कथञ्च जाग्रदवस्थेति मतिः जाग्रत्प्रत्ययस्योत्पत्तिरिति चेत्।

ननु स्वप्नेऽपि किन्नास्ति प्रबुद्धत्वमतिः क्वचित्। उन्मेषादिक्रियाः सर्वास्तत्रापीति समानता ॥५१७॥

तथा हि जागर्मि प्रबुद्धोऽहमिति स्वप्नेऽपि विद्यते प्रत्ययः। गमनादयश्च। ततः कथं सोऽपि स्वप्नः। असत्यत्वादिति चेत्। जाग्रदभिमतावस्थायामपि तथात्वप्रसङ्गः। परस्परानुपलम्भो द्वयोरपि समान इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतः सत्य हैं। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि जाग्रत् काल में भी घटादि पदार्थ अपनी जैसी ज्ञायमान सामग्री से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही स्वाप्न घटादि भी अपनी प्रतीयमान शकटादि सामग्री से बनते प्रतीत होते हैं ॥ ५१५ ॥

जाग्रत्काल में भी योगिजनों के द्वारा किसी प्रकार की सामग्री के बिना ही पर्वतादि पदार्थ अकस्मात् ही बनाकर दिखाये जाते हैं। पर्वतादि में यदि विद्यमानता की प्रतीति होती है तो स्वाप्न पदार्थों की भी स्वप्नकाल में विद्यमानता का अपलाप नहीं किया जा सकता। स्वाप्न पदार्थ यदि स्वप्नद्रष्टा से भिन्न व्यक्ति को नहीं दिखाई देते तो जाग्रत् के पर्वतादि पदार्थ भी योग या जादू से अप्रभावित व्यक्ति को नहीं दिखाई देते ॥ ५१६ ॥ अर्थात् स्वाप्न पदार्थों के समान ही जाग्रत्पदार्थ क्वचित् विद्यमान ही प्रतीत होते हैं और स्वाप्न पदार्थ यदि जाग्रत्पुरुष को नहीं दिखते, तब जाग्रत्पदार्थ भी स्वप्न-द्रष्टा को नहीं दिखते। जैसे जाग्रत्काल में चक्र-भ्रमणादि सामग्री से घटादि का आत्मलाभ होता है, वैसे ही इस सामग्री से भिन्न स्वप्नावस्था को भी एक सामग्री माना जा सकता है, अतः स्वाप्न घटादि भी अकस्मात् नहीं।

यह भी एक प्रश्न यहाँ उठता है कि जाग्रत् अवस्था किसको कहते हैं ? यदि कहें कि जहाँ 'जागर्मि'—इस प्रकार की अनुभूति हो। तब तो स्वप्न को भी जाग्रत् मानना होगा, क्योंकि वहाँ भी वैसी प्रतीति हो सकती है। इतना ही नहीं निमेष-उन्मेषादि क्रिया भी स्वप्न में होती है, अतः जाग्रत् और स्वप्न की समानता ही सिद्ध होती है ॥ ५१७ ॥ अर्थात् 'जागर्मि' (मैं जाग रहा हूँ) इस प्रकार की प्रतीति तो स्वप्न में भी होती है। गमनागमनादि व्यापार भी वहाँ प्रतीत होते हैं। तब स्वप्न को भी स्वप्न क्योंकर कहेंगे ? असत्य होने के कारण वह स्वप्न है—ऐसा मानने पर जाग्रत् को भी स्वप्न कहना होगा, क्योंकि वहाँ भी शुक्ति-रजत के समान कदाचित् असत्य पदार्थ का दर्शन होता है। स्वप्न का जाग्रत् और जाग्रत् का स्वप्न में अदर्शन भी समान ही है।

वार्तिकालङ्कारः

अथासत्यमेतदिति प्रतीतेः स्वप्नस्यासत्यता। जाग्रत्प्रत्ययस्यापि तत्समानत्वादसत्यतास्तु। न हि तत्प्रत्ययादेव तत्त्वम्। तल्लक्षणेनापि तत्त्वस्य भावात्। अपि च, असत्यमित्यपि प्रत्ययः किमालम्बते।

सत्यादन्योऽथवा सत्यो नायमेतन्निषेधनम्। तद्रूपस्योपलब्धत्वात् द्वयमप्यतिदुर्घटम् ॥५१८॥

न खलु तद्रूपतयोपलभ्यमान एव ततोऽन्य इति युक्तः। नापि स न भवतीति। तदन्यता हि तदन्यरूपतयैवान्यथा सोऽपि तदन्यो भवेत्। न चोपलभ्यमान एव नास्ति सर्वस्य तथात्वप्रसङ्गात्। अथायमुत्पद्यते प्रत्ययः। उत्पद्यतामस्यालम्बनं नास्तीति व्यर्थतयैव नास्मात् पदार्थव्यवस्थितिः।

ननु नास्त्येव स्वप्नोपलब्धो घटादिरिति दृढोऽविसंवादी चायं प्रत्ययस्तत्कथं व्यर्थतास्य। तथा हि—

स्नानमात्रप्रबुद्धस्य झटित्यस्नानभासनम्। ततस्तथैव संवादादविसंवादिता मतेः ॥५१९॥

तदसत्। यतः—

रागावस्था झटित्येव स्वप्नदृष्टी निवर्तते। न च तत्र विसंवादः पुनः स्वप्नेऽस्य वेदनात् ॥५२०॥

स्वप्नेतरव्यवस्थेयं न चाद्यापि प्रसिध्यति। साध्यादेव विसंवादात्सिद्धावन्योऽन्यसंश्रयः ॥५२१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि 'असत्यमेतत्'—इस प्रकार की प्रतीति के आधार पर स्वप्न को स्वप्न कहा जाय, तब यह भी जाग्रत् में समान ही है। केवल प्रतीति के द्वारा ही वस्तु का निश्चय नहीं होता, अपितु लक्षण के द्वारा भी वस्तुतत्त्व का ज्ञान होता है।

यह भी एक प्रश्न यहाँ उठता है कि 'असत्यमेतत्'—ऐसी प्रतीति का आलम्बन (विषय) क्या है? सत्य है? अथवा असत्य? असत्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'सत्यो न' इस प्रकार का निषेध वहाँ उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि सत्यरूपेण उपलब्ध होता है, अतः दोनों कल्प अघटित हैं। ॥ ५१८ ॥ अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में उपलब्ध होता है, वह, न तो उससे भिन्न हो सकता है और न उसका निषेध हो सकता है, अन्यथा सर्वत्र वैसी अव्यवस्था हो जायगी। यदि कहा जाय कि वैसी प्रतीति उत्पन्न होती है। तब यह कहा जा सकता है कि बिना आलम्बन के वैसी प्रतीति किसी वस्तुतत्त्व की व्यवस्थापिका नहीं हो सकती।

शङ्का—स्वप्नोपलब्ध घटादि पदार्थ हैं ही नहीं—ऐसा क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर यह है कि वैसे दृढ अविसंवादी प्रत्यय को व्यर्थ (अर्थ व्यभिचारी) नहीं मान सकते। किसी व्यक्ति ने स्वप्न में स्नान किया और तुरन्त जाग गया। उसे स्नान करने का सुदृढ भान हो रहा है, अतः वैसी प्रतीति को अविसंवादिनी या प्रमाणरूप ही कहना होगा ॥ ५१९ ॥

समाधान—उक्त शङ्का असत् या अनुचित है, क्योंकि स्वप्न-सुलभ रागावस्था स्वभावतः चिरस्थायी नहीं होती, झटपट निवृत्त हो जाती है। फिर भी उसे विसंवादी नहीं कह सकते, क्योंकि पुनः स्वप्न आजाने पर वैसी ही प्रतीति होने लगती है ॥५२०॥ वस्तुतः स्वप्न और इतर (जागरण) की परिभाषा अभी तक सिद्ध नहीं हो पाई, 'विसंवादिनी अवस्था स्वप्न और अविसंवादिनी प्रतीति जाग्रत्'—ऐसा करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि विसंवाद स्वयं साधनीय है। स्वप्नरूपता से विसंवादता और विसंवादता के द्वारा विसंवाद सिद्ध करने पर अन्योऽन्याश्रयता

वार्तिकालङ्कारः

किञ्च—

नास्त्येतदिति नान्येन प्रत्ययेन प्रतीयते । प्रतीतिमात्रमेवैतदसाधारणलक्षणम् ।। ५२२ ।।

एवम्भूतानादिवासनासम्भवादेते प्रत्यया व्यवहारिणामुपजायन्ते केन विशेषेण तदव्यवहितेन जाग्रदात्माभिमानिनोपलम्भाभावेन । जाग्रदभिमानोऽपि वासनाबलादेव पतितशरीरत्यागतः, इदमपि व्यवहारमात्रकं न परमार्थतः । जाग्रता नाम स्वप्नेऽपि तथा प्रत्ययात् । अथ स्वप्नगतानां जाग्रदुपलम्भेषु नास्तीति न प्रत्ययस्तदेतद् बन्धत्वम् ।

अनुष्ठानेन नास्तित्वं तैरेषां प्रतिपादितम् । गमनादेरविघ्नस्य तेषां तेष्वस्ति सम्भवः ।।५२३।।

गमनादेरविघ्नस्य सम्भवादेव क्रिययैव नास्तित्वं प्रतिपन्नमेव मुख्यं किमपरेण विकल्पप्रतिपाद्येन । विकल्पो हि सत्येऽप्यसत्यतां प्रतिवादयति । अन्यथा परस्परविरोधीति विकल्पो न भवेत् । तस्माज्झटिति विघटनादसत्यताभिमानः स्वप्नदृष्टेषु जाग्रदवस्थानुबन्धानाभावाच्च । न च तावता तदप्यसत्यता । तस्मात्स्वप्नविषये गत्यागती न दृष्टे अन्येन तथापि ते एव इत्यनैकान्तिकता तददर्शनस्य । तस्मान्न गत्यागत्योरभा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो जाती है ।। ५२१ ।।

दूसरी बात यह भी है कि 'नास्ति एतत्'—इस प्रकार बाधित प्रतीति स्वप्न का लक्षण नहीं अपितु 'प्रतीतिमात्रता' इतना ही असाधारण लक्षण माना जाता है । वह तो स्वप्न में अबाधित है ।। ५२२ ।। व्यावहारिक व्यक्तियों को सभी स्वाप्न अनुभूतियाँ स्वोचित अनादि वासनाओं के बल पर उत्पन्न होनी मानी जाती हैं । उनमें स्वाप्नरूपता की भावना केवल इस विशेषता पर निर्भर है कि स्वाव्यवहितोत्तर जायमान जाग्रत् अवस्था में उनका उपलम्भ नहीं होता । जाग्रदाभिमान भी वासना के बल से प्राप्त होता है केवल पतित (सुप्त) शरीर के त्याग कर देने से वह (पतित-शरीर-त्यागादि) भी व्यवहारमात्र है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि स्वप्न में भी जाग्रत् पुरुष को वैसी प्रतीति होती है । यदि कहा जाय कि स्वाप्न प्रत्ययों का जाग्रत् में 'नासत्ति'—इस प्रकार बाध उपलब्ध होता है, अतः स्वाप्न प्रत्यय ही प्रत्यय नहीं । तो यह बाधक मात्र का निर्देश होगा, क्योंकि स्वप्न का दृष्टान्त दिया गया है, केवल स्वप्न द्रष्टा की गति-आगति या गमन-क्रिया का निर्देश करने के लिए वह तो अपने स्थान पर है ही । स्वाप्न पदार्थों का क्रियानुष्ठान तो बाधित माना ही जाता है, अतः जाग्रत् में स्वाप्न पदार्थों का नास्तित्व दिखाना बाधमात्र का प्रदर्शन है । गमनादि तो सम्भव है ही ।। ५२३ ।। अर्थात् स्वप्न में गमनादि तो सम्भव हैं ही । नास्तित्व (विषय-बाधा) तो उसी गमन-क्रिया से सिद्ध हो जाता है, नास्तित्वरूप विकल्पान्तर का प्रदर्शन व्यर्थ है, क्योंकि विकल्प तो सत्य में भी असत्यता का प्रतिपादन कर देता है, अन्यथा एक ही वस्तु में सत्यत्व और असत्यत्व परस्पर विरोधी हैं—इसी प्रकार का विकल्प प्रत्यय क्योंकर उत्पन्न होगा ? फलतः झटपट विघटित हो जाने के कारण स्वप्न दृष्ट पदार्थों में असत्यत्वाभिमान उत्पन्न हो जाता है । एवं स्वाप्न पदार्थों की जाग्रदनुबाधता भी समाप्त हो जाती है । स्वाप्न पदार्थों की असत्यता भी असत्य है—ऐसा नहीं कहा जा सकता । निष्कर्ष यह है कि जैसे स्वाप्न गति और आगति की अन्य पुरुष के द्वारा दृष्ट न होने पर भी सिद्धि है, वैसे ही सत्व का एक शरीर से निकल कर

वार्तिकालङ्कारः

वोऽथवा भाव एवेति प्रतिपादितम् ।

(२२) अवयविनिरासः—

अपि च । यदि शरीरादभिन्नं संवेदनं शरीरञ्च परमाणुसंघातमात्रं तदा प्रत्येकं सकलपरमाणुसंवेदनप्रसङ्गः । अथावयवी स्थूल एक एव तथोपलभ्यते । तथापि परमाणुषु तस्य स्थानात् परमाणुसंस्पर्शात् परमाणूपलम्भः । अथ तेभ्य उत्पद्यते संवेदनं न तु तेषु व्यवस्थितम् । तथा सति तेभ्य इति कुतो गतिः । न स्वसंवेदनं परसंवेदनम् । अथ पर-संवेदनमेव न स्वसंवेदनं कथन्तर्हि सुखं संवेद्यते । परभूतस्यैव तस्य वेदनात् तदसत् ।

परभूतस्य वित्तिश्चेत्किमन्यद्वेदनं भवेत् । तदेव वेदनं यत्र वेदनेति व्यवस्थितिः ॥५२४॥

सुखादिनीलादिनोः परभूतयोरेव वेदने किमन्यदस्ति यद् वेदकम् । शरीरमेवेति न चेत् ।

सुखादि नीलादि विना शरीरमपि किं मतम् । उपलभ्यतया तस्य नोपलम्भकता यतः ॥५२५॥

चक्षुरादेस्तथात्वं चेत् खरशृङ्गं तथा न किम् । शक्तिरूपन्तदिति चेदगती सा कथं तथा ॥५२६॥

न खलु चक्षुरादयोनुपलभ्यमानाः खरशृंगवदुपलम्भकः । शक्तिरूपाश्चक्षुरादय-स्ततो नाभावरूपाः । शक्तिरप्यनुपलभ्यमानास्तीति कुतः । कार्यद्वारेण तस्या उपलब्धि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरे में प्रवेश अन्य व्यक्ति के द्वारा दृष्ट न होने पर भी अनुपपन्न नहीं, जन्मान्तर सिद्ध हो जाता है । गति और आगति का न तो अत्यन्त अभाव है और न अत्यन्त भाव, अपितु जन्मान्तर ग्रहण अनादि सान्त है । अर्हत्व-प्राप्ति होने पर जन्मान्तर-ग्रहण नहीं होता ।

(२२) अवयवी का निरास--

यदि संवेदन (ज्ञान) शरीर से अभिन्न है और शरीर परमाणुओं का संघातमात्र है, तब संघात के घटकीभूत सकल परमाणुओं में संवेदन प्रसक्त होता है । यदि अवयवी स्थूल और एक ही उपलब्ध होता है । तथापि परमाणुओं में उसका अवस्थान है, अतः परमाणु के संस्पर्श से परमाणु की उपलब्धि माननी होगी । यदि कहा जाय कि परमा-णुओं से संवेदन उत्पन्न होता है, उनमें अवस्थित नहीं होता कि उनमें उपलब्ध हो । तब तो परमाणुओं से उस संवेदन या सत्त्व का निःसरण क्योंकर होगा ? स्वसंवेदन कभी परसंवेदन नहीं हो सकता । यदि परसंवेदन ही वह माना जाय, स्वसंवेदन नहीं, तब स्वकीय सुख का संवेदन कैसे होगा ? पर-संवेदन से ही वह सुख-संवेदन होता है— ऐसा कहना असत् है, क्योंकि परसंवेदन हैं, तब उससे भिन्न वेदक कौन होगा ? क्योंकि वेदक वही कहलाता है, जहाँ सुखादि वेदना हो ॥५२४॥ अर्थात् वेदन से भिन्न सुखादिरूप आन्तरिक और नीलादिरूप बाह्य विषय ही यदि वेदन है, तब उनसे भिन्न और कौन है, जो वेदक कहलायेगा ? शरीर वेदक होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुखादि और नीलादि विषयों से भिन्न शरीर भी क्या होगा ? शरीर तो स्वय उपलभ्य (विषय) है, वह उपलम्भक क्योंकर होगा ? ॥५२५॥ चक्षुरादि इन्द्रियों को यदि उपलम्भक माना जाता है, तब खर-विषाण के समान अत्यन्त असत् पदार्थ को वेदक क्यों नहीं कह सकते ? यदि चक्षुरादि को अभावरूप न मानकर शक्तिरूप माना जाता है, तब शक्ति में कोई गति (गमक प्रमाण) न होने पर उसमें वेदकत्व कैसे सिद्ध होगा ॥५२६॥ अर्थात् अनुपलभ्यमान (अप्रामाणिक) हैं, खरशृङ्ग के समान असत् हैं, अतः उन्हें उपलम्भक नहीं कह सकते । चक्षुरादि शक्तिस्वरूप हैं, अभावभूत नहीं—

वार्तिकालङ्कारः

रिति चेत् । किङ्कार्यंतेषाम् । सुखादिरूपा ह्युपलब्धिः ।

ननु सापि शक्तित्वान्नोपलभ्यत एव । पारिशेष्याद् रूपादय एव ते । ते च न विज्ञानशक्तेः कार्याश्चक्षुरादिकार्यत्वे पूर्वमभावप्रसङ्गः । उपलभ्यावस्था कार्यमिति चेत् । प्रतिपरमाणूपलम्भप्रसङ्गः । न च विशेषाभावेऽवस्थाभेदः । विशेषे स्वसंवेदनप्रसङ्गः । शक्तिसहितोत्पत्तिरेव विशेष इति चेत् नैतद् युक्तम् । यतः—

साहित्येऽनुमितिः शक्तेरनुमानाच्च तन्मतम् । अन्योऽन्याश्रयदोषोऽयं विनिवार्यः कथम्भवेत् ॥५२७॥

रूपादीनां हि विशेष उपलभ्यमानता । सा चेदुपलब्धिशक्तिसहितत्वं कथं शक्तिसिद्धिमन्तरेण सहितत्वसिद्धिः । तदसिद्धौ कथं शक्तेरनुमानम् । तस्माद्रूपादिसुखादिमात्रकस्वसंवेदनमेव विज्ञानं विज्ञानं सुखादिकमिति सामानाधिकरण्येन प्रत्ययस्योत्पत्तेः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि उनकी सत्ता में प्रमाण क्या ? यदि दाह-पाकादिरूप कार्य ही अग्नि-शक्ति में प्रमाण माना जाता है, तब चक्षुरादि का कार्य क्या ? सुखादिरूप उपलब्धि ही चक्षुरादि का कार्य है । अर्थात् चक्षुरादि स्वयं अनुपलभ्यमान (अतीन्द्रिय) होकर खर-शृङ्ग के समान किसी पदार्थ के उपलम्भक नहीं हो सकते । यदि चक्षुरादि को एक अतीन्द्रिय शक्ति के रूप में माना जाता है, तब वे यद्यपि खर-शृङ्ग के समान अभावात्मक तो नहीं होते, तथापि उनकी सत्ता में क्या प्रमाण ? जैसे अङ्कुरादि कार्यों के द्वारा बीजगत विशेष शक्ति का ज्ञान होता है, वैसे ही कार्यविशेष के द्वारा चक्षुरादिरूप शक्ति का अनुमान हो सकता है। चक्षुरादि का कार्य क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है—'चाक्षुषादिरूप उपलब्धि (ज्ञान)। उसे ही सुखादि संवेदना कहलाती है ।

शङ्का—चाक्षुषादिरूप उपलब्धि भी अतीन्द्रिय शक्तिस्वरूप ही है, अतः वह भी ज्ञान की ग्राहक नहीं, परिशेषतः रूपादि विषय ही वेदन के ग्राहक या वेदक सिद्ध होते हैं, वे विज्ञानरूप शक्ति के कार्य नहीं, क्योंकि विज्ञान का कार्य मानने पर विज्ञान से पहले उनका अभाव मानना होगा, किन्तु रूपादि विषय ज्ञान का जनक होता है, अतः ज्ञान के पहले विषय की सत्ता अनिवार्य है । रूपादि की उपलभ्य अवस्था (भाट्टसम्मत ज्ञातता) विज्ञान का कार्य है—ऐसा कहने पर रूपादि के प्रत्येक परमाणु का उपलम्भ प्रसक्त होता है । रूपादि की उपलभ्य अवस्था तभी उपपन्न हो सकती है, जब कि शरीरगत अवस्थान्तर-साधक परिवर्तन के समान रूपादि में कोई विशेषता मानी जाय । यदि कहा जाय कि क्षणिकवाद में ज्ञानरूप शक्ति से विशिष्ट (ज्ञात) रूपादि की उत्पत्ति ही उपलम्भावस्था है । तब अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है, क्योंकि शक्ति (ज्ञान) का रूपादि के साथ साहित्य या वैशिष्ट्य होने पर ज्ञानरूप शक्ति की अनुमिति होगी और अनुमिति हो जाने पर शक्ति की सत्ता सिद्ध होगी । इस अन्योऽन्याश्रय दोष का निवारण कैसे होगा ? ॥५२७॥ अर्थात् रूपादि की यहाँ अभीष्ट विशेषता है—उपलभ्यमानता । वह यदि उपलब्धिरूप शक्ति की सहितता (विशिष्टता) है, तब जिज्ञासा होती है कि शक्ति की सिद्धि के बिना शक्ति-विशिष्टता क्योंकर उपपन्न होगी ? विशिष्ट-ज्ञान में विशेषण-ज्ञान की कारणता अनिवार्य है । शक्ति-सिद्धि के बिना शक्ति-सहितत्व की सिद्धि होगी ? उसकी सिद्धि न होने पर शक्ति का अनुमान कैसे होगा ? फलतः बाह्य विषय रूपादि और आन्तरिक सुखादि मात्र का संवेदन ही

वार्तिकालङ्कारः

सामानाधिकरण्यञ्च मुख्यामुख्यप्रभेदतः । नापरं पुरुषो दण्डश्चेतनः पुरुषस्तथा ॥५२८॥

यद्यमुख्यं मञ्चाः क्रोशन्ति, पुरुषो दण्ड इति यथा । तदत्राप्रसिद्धमेव । रूपादिष्व-रूपव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्योपलम्भासम्भवात् । अनेनैव दृष्टान्तेनानुमीयत इति चेत् । न अनुमानासम्भवात् । सांख्यानां चेतनः पुरुष इति मुख्यस्य सामानाधिकरण्यस्योपगमात् । तस्माद्यथा यस्य संवेदनं तथैवासावभ्युपगन्तव्यः ।

अभ्यासाच्च तथाभूता रूपादौ वेदनस्थितिः । अपरापररूपादिसंक्रान्तत्वेन विद्यते ॥ ५२९ ॥

न खलु विज्ञानमालम्बनव्यतिरेकेणापरेण मिश्रीभवति । ततः सुखादिमिश्रीकृतं रूपादिना मिश्रीभवति । रूपादिना मिश्रीभूतं परसुखादिना मिश्रीभवति । अभ्यासात्स-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विज्ञान है, क्योंकि "विज्ञानं सुखादिकम्"—इस प्रकार की सामानाधिकरण्य-प्रतीति उत्पन्न होती है ।

सामानाधिकरण्य दो प्रकार का होता है—(१) मुख्य सामानाधिकरण्य तथा (२) अमुख्य या गौण सामानाधिकरण्य । (१) 'पुरुषः चेतनः'—यह मुख्य सामानाधि-करण्य तथा (२) 'पुरुषो दण्डः'—यह गौण सामानाधिकरण्य है ॥५२८॥ "विज्ञानं सुखादिकम्"—यह सामानाधिकरण्य यदि वैसा ही गौण है जैसा कि "मञ्चाः क्रोशन्ति या पुरुषो दण्डः" इत्यादि स्थलों पर [मुख्य सामानाधिकरण्य वहाँ होता है, जहाँ दो समानविभक्तिक पदों का वाच्यार्थ एक या अभिन्न हो, जैसे सांख्यमतानुसार "पुरुषः चेतनः" । सांख्य-दर्शन में जो पुरुषतत्त्व है, वह चेतन है और जो चेतन है, वही पुरुष है । इसके विपरीत गौण सामानाधिकरण्य में दोनों पदों का वाच्यार्थ भिन्न होता है, जैसे "मञ्चाः क्रोशन्ति"—यहाँ 'मञ्च' शब्द का अर्थ खाट या चौकी है, वह क्रोशन (हल्ला-गुल्ला या रोना-पीटना करनेवाली नहीं, अपितु उससे भिन्न मञ्च में बैठे मनुष्य हल्ला मचाते हैं । वैसे ही "पुरुषो दण्डः"—यहाँ पर पुरुष दण्ड नहीं, अपितु दण्ड से भिन्न दण्डी या दण्ड का आधार है) तब सुखादि पदार्थों से विज्ञान का भेद विस्प-ष्टरूप से प्रतिभासित होना चाहिए, किन्तु होता नहीं, अतः यहाँ गौण सामानाधिकरण्य अप्रसिद्ध ही है । इसी ("विज्ञानं सुखादिकम्") दृष्टान्त के द्वारा भेद का अनुमान क्यों न कर लिया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ अभीष्ट अनुमान सम्भव नहीं । उसका कारण यह है कि जहाँ मुख्य सामानाधिकरण्य न बन सके, वहाँ ही गौण सामा-नाधिकरण्य माना जाता है किन्तु "चेतनः पुरुषः"—इत्यादि स्थलों पर सांख्यगण मुख्य सामानाधिकरण्य ही मानते हैं । अजिस पदार्थ की जैसी प्रतीति होती है, वह वैसा ही मानना होगा । अनादि व्यवहाराभ्यास के आधार पर रूपादि विषयों में वेदन (विज्ञान) की स्थिति मानी जाती है । पूर्व-पूर्व रूप के धर्मों की संक्रान्ति उत्तरोत्तर रूप में होती रहती है ॥ ५२९ ॥

विज्ञान अपने आलम्बन को छोड़कर अन्य किसी के साथ मिश्रित (तादात्म्या-पन्न) नहीं हो सकता [विषय और विषयी का यह तादात्म्याध्यास शाङ्करवेदान्त के समान ही प्रतीत होता है] । फलतः सुखादि विषयों से मिश्रित विज्ञान रूपादि बाह्य विषयों से विच्छुरित एवं रूपादि से मिश्रित विज्ञान सुखादि से मिश्रित होता है । यदि स्वकीय संवित से सभी सुखादि तादात्म्यापन्न हैं, तब परकीय सुखादि और रूपादि भी परकीयत्व का भान नहीं हो सकता-ऐसा कहना संगत नहीं, क्योंकि यद्यपि अनु-

वार्तिकालङ्कारः

वर्णाकारलिङ्गपरिग्रहेण सकलतदाकारप्रतिपत्तौ कथन्तर्हि परसुखादिरूपादयस्तदवस्थतः यावलम्ब्यन्ते । तदसत् ।

स्वरूपेण हि संवित्तौ न तटस्थातटस्थते । व्यवहारमात्रमेवैतदाश्रयापेक्षया परम् ॥ ५३० ॥

रूपादिसुखादीनां हि न स्वरूपाकारसंवेदनमपहायापरः प्रकारः संवेदनस्य । तत इदं तटस्थमन्यथा वेति कुतो विभागः । केवलं शरीराश्रयापेक्षया तटस्थमिदमन्यथा वेति व्यावहारिको विभागः ।

नन्वपेक्षा विना नास्ति तद्रूपस्य प्रवेदनम् । तद्रूपस्य च संवित्तेः परापेक्षा न विद्यते ॥५३१॥

सत्यमेतदत एव विभागः पारमार्थिकतया न समस्ति ।

सांवृतेस्तु परमेष विभागः संवृतेर्नहि विचारसहत्वम् ॥ ५३२ ॥

इयमेव खलु संवृतिरुच्यते येयं विचार्यमाणा विशीर्यतेऽन्यथा परमार्थ एव भवेत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भविता व्यक्ति की संवित से तादात्म्यापन्न सभी सुखादि स्वकीय ही हैं विज्ञान से भिन्न या परकीय नहीं, तथापि अनुभविता के शरीर से भिन्न अन्य शरीर से व्यावहारिक सम्बन्ध रखने के कारण सुखादि में परकीयत्व का व्यवहारमात्र होता है । अर्थात् स्वरूपतः संवित्ति (विज्ञान) में स्वकीयत्व या परकीयत्व कुछ भी नहीं, तथापि केवल व्यावहारिक दृष्टि से आश्रय (शरीर) की अपेक्षा स्वकीयत्व और परत्व का लोक-व्यवहार माना जाता है ॥ ५३० ॥ आशय यह है कि रूपादि बाह्य विषयों और सुखादिरूप आभ्यन्तर विषयों के माध्यम से ही ज्ञान का निरूपण होता है—'रूप-ज्ञानम्', सुख-ज्ञानम्'—इत्यादि । इन माध्यमों को छोड़ कर स्वरूपतः ज्ञान का निरूपण सम्भव नहीं—'ज्ञानम्' 'ज्ञानम्' [जैसा कि न्याय-भाष्यकार कहते हैं—"रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम्, तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम्—'रूपमिति जानीते, रस इति जानीते" (न्या. सू. १।१।४) । 'विषय' शब्द का निर्वचन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"एते हि चिदात्मनं विसिन्वन्ति स्वेन रूपेण विरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्" (भामती पृ० ७)] । तब यह ज्ञान तटस्थ (विषय-निरपेक्ष) है और यह अन्यथा (विषय-सापेक्ष) है—ऐसा विभाग क्योंकर होगा ? केवल व्यवहर्त्ता पुरुष अपने शरीर की अपेक्षा उसी चित्ततत्त्व को अहम् और शरीरान्तर की अपेक्षा उसी को 'त्वम्' कहता है । यह लौकिक व्यवहारमात्र है, वस्तुस्थिति नहीं [ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शङ्कर का कहना भी ऐसा ही है—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" (शां. भा. पृ. १५) ।

शङ्का—रूपादि की अपेक्षा के बिना विज्ञान का संवेदन नहीं होता—ऐसा कहना संगत नहीं, क्योंकि विज्ञान स्वप्रकाश है, उसके प्रकाश में अन्य की अपेक्षा नहीं होती ॥ ५३१ ॥

समाधान—यह सत्य है कि विज्ञान स्वप्रकाश है, उसे अपने निरूपण या प्रकाशन के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं अतएव अद्वैतवाद में विषय-विषयी का विभाग वास्तविक नहीं माना जाता, अपितु सांवृतिक है । जैसा कि आर्य नागार्जुन ने कहा है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं सत्यं च परमार्थतः ॥ (माध्य. २४।१८)

संवृत्ति (अविद्या या माया) कोई विचार-सह या वस्तुसत् पदार्थ नहीं ॥५३२॥

वार्तिकालङ्कारः

तस्माद्यथारूपादि परशरीरादौ संक्रान्तिमद्विज्ञानं तादात्म्येन तथा परशुक्रशोणितशरीरेऽपि ततो न शक्तिर्नामान्या विज्ञानरूपा यतः सक्रियता विज्ञानाश्रयस्य केवलन्तदेवन्तदेव तथाभूतं स्वसंवेदनं विज्ञानं कथन्तर्हि तादात्म्येन संक्रान्ते विज्ञानात्मनि स्तम्भादेरचलनं स्वशरीरस्येव तस्यापि चलनप्रसङ्गः । तदप्यसत् ।

तादात्म्योत्पत्तिमात्रेण चलनस्य न सम्भवः । विशिष्टस्पर्शज्ञानस्वरूपोत्पत्तितस्तु तत् ॥५३३॥

यदा खलु स्पर्शविज्ञानं प्रयत्नविज्ञानस्वभावमुपजायते तदा चलनं कायादेरुपजायते नान्यथा । तस्माद्विज्ञानं रूपादिस्वभावमेव । ततः प्रतिपरमाणु वेदनप्रसङ्गः ।

भवतोऽपि कस्मादेवं न भवति । तदाकारस्यापरस्य विज्ञानस्य जातेः । ममाप्य-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यही तो संवृत्ति है, जो आपाततः प्रतीतमात्र हो और विचार करने पर शीर्ण-विशीर्ण हो जाय । [स्वयं वार्तिककार ने आगे चल कर कहा है—

"इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।। (प्र. वा. २।२०)]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसे दूसरे के शरीर में रहनेवाले रूपादि विषय ज्ञानात्मक विषयी से तादात्म्यापन्न होने के कारण ज्ञान से भिन्न नहीं, वैसे ही स्त्री-शरीर में प्रविष्ट पुरुष-शरीर का शुक्र भी ज्ञानात्मक है और ज्ञानात्मक शोणित के साथ तादात्म्यापन्न होकर जो जन्मान्तर ग्रहण करता है, वह भी ज्ञान से भिन्न नहीं। इस प्रकार जो विज्ञानरूप शक्ति का आश्रय शरीर माना जाता है, वह भी ज्ञान स्वरूप ही है, अतः ज्ञान का आश्रय माना जाने वाला शरीर सक्रिय नहीं हो सकता ।

शङ्का—जब कि विज्ञान समस्त विषयों के साथ समानरूप से तादात्म्येन संक्रान्त है, तब विज्ञानाध्यस्त स्तम्भ और पाषाणादि में चलन (परिस्पन्दन) क्रिया नहीं होती और अपने शरीर में चलन क्रिया उपलब्ध होती है—ऐसा अन्तर क्यों ?

समाधान—केवल तादात्म्येन विज्ञान की उत्पत्ति हो जाने मात्र से चलन सम्भव नहीं होता, अपितु स्पर्शसंज्ञक विशेष ज्ञान के उत्पन्न होने से शरीर में प्रयत्न और उससे चलन उत्पन्न हो जाता है ।। ५३३ ।। अर्थात् विषय, इन्द्रिय और विज्ञान इन तीनों पदार्थों के सम्बन्ध से स्पर्श नाम का ज्ञान उत्पन्न होता है [जैसा कि आचार्य वसुबन्धु ने कहा है—"त्रिकसंगमात् स्पर्शः (अभि-कोश. ३।२२)] उससे शरीर में चलनक्रिया उत्पन्न होती है । स्तम्भादि में स्पर्श विज्ञान न होने से क्रिया उत्पन्न नहीं होती ।

यदि नैयायिक आक्षेप करता है कि—जैसे विज्ञान-तादात्म्यापत्ति शरीर के साथ है, वैसे शरीरगत प्रत्येक परमाणु के साथ है, अतः प्रत्येक परमाणु में क्रिया क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में बौद्ध यदि नैयायिक से यह प्रश्न करता है कि "भवतोऽपि कस्मादेवं न भवति" ? अर्थात् आप नैयायिकों के मतानुसार प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग प्रत्येक परमाणु के साथ है, अतः शरीरगत प्रत्येक परमाणु में क्रिया क्यों नहीं होती ? नैयायिक उत्तर देता है कि हम तो अवयवों में समवेत शरीररूप अवयवी एक मानते हैं, अतः उसमें ही क्रिया होती है, प्रत्येक परमाणु में नहीं, क्योंकि प्रत्येक परमाणु अवयवी नहीं । तब बौद्ध भी कह सकता है कि हमारे मत में भी शरीररूप अवयवी ही विज्ञानस्वरूप (विज्ञान-तादात्म्यापन्न) है, शरीर का प्रत्येक परमाणु नहीं । बौद्धों का ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उनके मतानुसार कुछ परमाणुओं का संघात

पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः।
एकत्र कर्मणोऽयोगात्स्यात्पृथक्सिद्धिरन्यथा ॥ ८६ ॥

[वैशेषिक अवयव और अवयवी का समवाय सम्बन्ध मानते हैं और समवाय का लक्षण करते हैं—"अयुतसिद्धानाम्'''इह प्रत्ययहेतु" (प्र० भा० पृ० १७१)। यहाँ अवयव और अवयवी की अयुतसिद्धि (अपृथक् सिद्धि) का परीक्षण किया जाता है]। हस्तपादादि अवयवों से शरीररूप अवयवी को भिन्न ही मानना होगा, अतएव किसी एक अवयव में कम्पनादि क्रिया होने पर अन्य अवयव में वह क्रिया नहीं होती। अन्यथा अवयव और अवयवी की अयुतसिद्धि (अपृथक्सिद्धि) न होकर युतसिद्धि (पृथक्सिद्धि) माननी होगी ॥ ८६ ॥

एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृत्तिः स्यादनावृतौ।
दृश्येत रक्तो नैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः ॥ ८७ ॥

यदि अवयवों से अवयवी का भेद नहीं माना जाता, तब हस्तादि से शरीर के एक अवयव को आवृत कर (ढक) लेने पर पूरा अवयवी आवृत हो जाना चाहिए। इसी प्रकार वस्त्रादि के अवयवभूत किसी एक तन्तु को रंग देने पर पूरा वस्त्र रंग जाना चाहिए, किन्तु पूरा नहीं रंगा जाता अरक्त अवयव भी देखा जाता है अतः अवयव से अवयवी को भिन्न मानना आवश्यक है ॥ ८७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वयवी विज्ञानरूपो न परमाणवः। तदप्यसत्। परमाणूनामपि तद्रूपताप्राप्तेः परमाणवः पृथग्भूता एवेति चेत्। न, सन्त्येव तर्हीति प्राप्तम्। तथा हि—

शरीरस्य स्वभावेन परमाणुव्यवस्थितिः। परमाणुस्वभावेन शरीरस्य व्यवस्थितिः ॥५३४॥

अथ न विज्ञानस्वभावाः शरीरपरमाणवः तथा सति न शरीरस्वभावाः परमाणवः। असंवेद्यत्वे च न विषयस्वभावा इति न सत्त्वं परमाणूनाम्। ततः केवलोऽवयवी। तस्य च—पाण्यादिकम्पे सर्वस्येति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(समूह या पुञ्ज) ही शरीर है, तब प्रत्येक परमाणु के साथ विज्ञान की तादात्म्यापत्ति होनी चाहिए। विज्ञान की तादात्म्यापत्ति बचाने के लिए यदि कहा जाता है कि परमाणु शरीररूप नहीं, अपितु उससे पृथग्भूत हैं। तब विज्ञान परमाणु की सत्ता ही नहीं सिद्ध होती। वस्तुस्थिति यह है कि शरीर का स्वरूप परमाणु व्यवस्थिति और परमाणुओं का स्वरूप शरीर-व्यवस्थिति पर निर्भर है ॥ ५३४ ॥

यदि शरीर के परमाणु विज्ञान-तादात्म्यापन्न नहीं, तब ज्ञायमान शरीर परमाणस्वरूप है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। अज्ञात (विज्ञान में अनध्यस्त) परमाणुओं की सत्ता ही सिद्ध नहीं, [क्योंकि आचार्य वसुबन्धु ने नितान्त स्पष्ट शब्दों में कहा है—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रदृश्यते" (विज्ञप्ति० त्रि० १)]।

यदि शरीर के परमाणु विज्ञानस्वरूप नहीं, तब वे परमाणु शरीरस्वरूप भी न हो सकेंगे, शरीर स्वरूप न होने से संविदित भी नहीं होंगे, विज्ञान की विषयता न होने से उनकी सत्ता सिद्ध न हो सकेगी। अवयव-निरपेक्ष केवल अवयवी में द्रव्यता, अवयव-समवेतत्व क्रियावत्त्व, गुणवत्त्वादि धर्म नहीं बन सकते। शरीररूप अवयवी में क्रिया है, तब शरीर क्रिया का समवायिकारण होने से पूरे शरीर में चलन उपलब्ध होना चाहिए

वार्तिकालङ्कारः

द्रव्यं हि नामावयविरूपं क्रियावद्गुणवत्संयोगादिकारणं समवायिकारणम्। तस्य यदि क्रिया नास्ति। तदा तत्समवायिकारणत्वात् सर्वमेव चलतीति प्राप्तम्। चलिताचलितश्चित्रोऽवयवी चेत्। देवदत्तयज्ञदत्तादिरूप एक एव चलितादिरूपोऽवयवीति प्राप्तम्। अथ दृश्यत एकत्वं चलिताचलितत्वं चेति को विरोधः। किमिदमेकत्वं नाम। यदि प्रतिभासाभेदः स नास्ति। अथैककार्यता सा यदि नामैकं कार्यं कारणमप्येकमिति कुत आवरणेऽवयविनः सर्वस्यावरणं संयोगाविशेषात्। अवयवस्यावरणेऽवयविनो न प्राप्नोतीति सर्वं दृश्येत। अवयवद्वारेणावरणे न किञ्चिद् दृश्येत सकलं वा। एकत्वेऽपि सर्वस्यापि द्रष्टुमशक्यत्वादिति चेत्। दृष्टादृष्टयोः कथमेकत्वम्। रागयोगेऽप्ययमेव प्रसङ्गः।

यद्यनेकः कायः। अनेकत्वेऽपि पूर्ववद् दोषः। प्रतिपरमाणु स्वसंवेदनप्रसङ्गः। अविशेषान्न गतिश्चेत्। नैतदस्ति। अविशेष एव न सिध्यति। संवेदनावस्थायामुपलभ्यत्वात्ततो नानुपलभ्यमानाविशेषः। अत एव स्वसंवेदनावस्थायामणुत्वमपि न विबन्धकारीति सतोऽपि असदविशेषादनणुः। तत्रापि कथं विशेषोपलम्भ इति चेत्। न।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किन्तु केवल हाथ में क्रिया होने से पूरे शरीर में क्रिया प्रतीत नहीं होती। यदि शरीररूप अवयवी को चलित (सक्रिय) और अचलित (निष्क्रिय) उभयस्वरूप चित्र विज्ञान के समान माना जाता है, तब एक ही देवदत्तादिरूप अवयवी में सक्रियत्व-निष्क्रियत्वरूप विरुद्ध धर्मों की उपलब्धि समकाल में होनी चाहिए। यदि कहा जाय कि एक ही वृक्षादि अवयवी में चलितत्व (सकर्म्यत्व) और निष्कर्म्यत्वरूप विरुद्ध धर्म देखे ही जाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि ऐसे अवयवी में एकत्व क्या है? यदि प्रतीति-विषय का अभेद एकत्व माना जाता है, तब वह प्रकृत में सम्भव नहीं, क्योंकि वृक्षादिगत सचल और अचल भागों का अभेद सम्भव नहीं। यदि एककार्यकारित्व को एकत्व माना जाता है, तब एक कार्य का कारण भी एक ही मानना होगा। एक बड़े वस्त्र के कुछ भाग को हस्त से आवृतकर (ढक) देने पर पूरा पट ही आवृत हो जाना चाहिए। यदि कहा जाय कि अवयव के आवृत होने पर भी अवयवी आवृत नहीं होता, तब समग्र अवयवी (पटादि) दिखना चाहिए। यदि अवयव के आवृत होने पर अवयवी आवृत होता है, तब पटादि का कोई भाग भी नहीं दिखना चाहिए। यद्यपि आवृत और अनावृत की एकता है, तथापि उसे देखा नहीं जा सकता, तब प्रश्न होता है कि फिर दृष्ट और अदृष्ट पदार्थों की एकता कैसे होगी? वस्त्र पर नीलादि रंग चढ़ाने में भी वैसा ही प्रसंग उपस्थित होगा।

परमाणुरूप अवयवों में एक शरीर न मानकर नाना शरीर माने जाते हैं, तब भी पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होते हैं कि प्रत्येक परमाणु का स्वसंवेदन ज्ञान होना चाहिए। 'विषयगत विज्ञानाकारत्वरूप विशेषता के कारण संवेद्यमानता आती है किन्तु परमाणुओं में वैसी विशेषता न होने के कारण स्वसंवेदनानुभूति नहीं होती'— ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप (नैयायिकादि) के मतानुसार विषयों में ज्ञान की प्रवृत्ति तदाकारता-प्रयुक्त नहीं होती, जैसा कि उदयनाचार्य ने कहा है—"न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः" (आत्मन० वि० पृ० २३०) विषयगत अनणुत्व भी विषयता का निबन्धक (नियामक) नहीं, क्योंकि अणुत्व सत् (विद्यमान) होने पर भी असत् के

नास्त्येकसमुदायोऽस्मादनेकत्वेऽपि पूर्ववत् ।
अविशेषादणुत्वाच्च न गतिश्चेन्न सिध्यति ॥ ८८ ॥
अविशेषः, विशिष्टानामिन्द्रियत्वयतोऽनणुः ।
एतेनावरणादीनामभावश्च निराकृतः ॥ ८९ ॥

अस्मात् (इन्हीं कम्पाकम्पादि विरोधों के कारण) बौद्ध-सम्मत घटादि के परमाणु-समूहतापक्ष में भी समूहगत एकता उपपन्न नहीं हो सकती । समूह में अनेकत्व (भेद) मानने पर पूर्ववत् दोष प्रसक्त होता है अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान सम्भव नहीं। परमाणुओं की पूर्वावस्था से समुदायावस्था में कोई विशेषता न होने के कारण समुदायरूप शरीर में क्रिया सिद्ध नहीं होती—ऐसा यदि कहा जाय, तो वह उचित न होगा, क्योंकि पूर्वावस्था से समुदायावस्था में विशेषता असिद्ध नहीं, अतः विशिष्ट समुदायरूप शरीर में इन्द्रिय-ग्राह्यत्व, अतएव अणुत्वाभाव (स्थूलत्व) उपपन्न हो जाता है ।

इसी (समुदाय में विशिष्टता-सिद्धि होने) से शरीरादि में आवरणाभाव का निराकरण और आवरकत्व-सिद्धि की उपपत्ति हो जाती है ॥ ८८-८९ ॥

कथं वा सूतहेमादिमिश्रं तप्तोपलादि वा ।
दृश्यं पृथगशक्तानामक्षादीनां गतिः कथम् ॥ ९० ॥

सूत (पारद) और सुवर्ण के समान विजातीय अवयवों से अवयवी नहीं बनता, अतः पारे को सोने के साथ रगड़ देने पर पारा समा जाता है, पृथक् नहीं दिखता, किन्तु पारद-मिश्रित सुवर्ण-पिण्ड दृश्य है, किन्तु उसके अवयव पृथक् दृश्य नहीं । उसी प्रकार तप्त उपल (तपा हुआ पत्थर) ताप और पाषाण के ऐसे अवयवों का समूह है, जो स्वयं दृश्य है किन्तु उसके अवयव पृथक् दृश्य नहीं, अतः असंगृहीत अवयवों की अपेक्षा संगृहीत अवयवों की कुछ विशेषता अवश्य माननी होगी ।

वार्तिकालङ्कारः

स्वसंवेदनरूपतया विषयोपलम्भोऽपि तु तदाकारविज्ञानोपलम्भ एव । विषयोपलम्भः कथं न परमाण्वाकारतेति चेदेतदुत्तरत्राभिधास्यते ।

(२३) परमाणूनां आवरणाद्यभावो न—

ननु परमाणुमात्रकस्य कथमावरणप्रतिघातादयः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समान होने से अनणुत्व ही माना जाता है । बौद्ध मतानुसार विषयगत ज्ञान-प्रवृत्ति की क्या विशेषता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तदाकारता" । जैसा कि ज्ञानश्री ने कहा है—"नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः" (ज्ञानश्री पृ० ३८६) । यह आगे चलकर कहा जायगा कि परमाणु से ज्ञानाकारता क्यों नहीं होती ?

(२३) परमाणुओं में आवरणादि का अभाव—

निरवयव परमाणुओं का परस्पर संयोग न होने के कारण उनसे कोई वस्तु आवृत नहीं होती, अपितु अवयवी द्रव्य पटादि ही आवरक होते हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'यद् यद् अवयविद्रव्यम्, तत् तद् आवरकम्'—ऐसी कोई व्याप्ति उपलब्ध नहीं होती कि जिससे परमाणुओं में अवयवित्व न होने से आवरकत्व न बनता । इसी प्रकार प्रतिघातादि भी अनुपपन्न होते ।

इसी प्रकार विषय और अक्ष (इन्द्रियों) की प्रत्येक इकाई से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता किन्तु उनके सन्निकर्ष जन्य समूह से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। समूह में विशेषता माने बिना वह कैसे होगा ? ॥ ९० ॥

संयोगाच्चेत् समानोऽत्र प्रसङ्गो हेमसूतयोः।
दृश्यः संयोग इति चेत् कुतोऽदृश्याश्रये गतिः ॥ ९१ ॥

यदि विषय और इन्द्रिय—इन दोनों को ज्ञान का जनक न मानकर उनको संयोग के ज्ञान का हेतु माना जाता है, तब भी समान रूप से वह प्रसङ्ग (दोषप्रसङ्ग) बना रहता है कि जब इन्द्रियादि में से प्रत्येक संयोग के जनक नहीं, तब मिलकर भी संयोग के जनक क्योंकर होंगे ? सुवर्ण और पारद का संयोग दृश्य क्योंकर होगा जब उस आश्रय का द्रव्य दृश्य नहीं ? अर्थात् सुवर्ण और पारद के परमाणु ही संयोग के आश्रय हैं। उनमें रहने वाला संयोग कभी दृश्य नहीं हो सकता ॥ ९१ ॥

रसरूपादिसंयोगश्च संयोग उपचारतः।
दृष्टश्चेत् बुद्धिभेदोऽस्तु पंक्तिर्दीर्घेति वा कथम् ॥ ९२ ॥

नमक, मिर्च, जीरा डालकर पानक (आम्र का पन्ना) बनाया गया। रसरूपादि गुणों का मिश्रण (संयोग) औपचारिक ही मानना होगा, क्योंकि वैशेषिकगण गुण में गुण नहीं मानते। दुग्ध और जल का संयोग वास्तविक है, अतः उक्त दोनों व्यवहारों बुद्धि-भेद (प्रतीति-वैलक्षण्य) होना चाहिए। 'पंक्ति दीर्घा'—इत्यादि व्यवहार भी क्योंकर होंगे, क्योंकि पंक्ति-संयोग परम्परा हैं, गुणात्मक है, उसमें दीर्घत्व गुण नहीं रह सकता ॥ ९२ ॥

संख्यासंयोगकर्मादेरपि तद्वत् स्वरूपतः।
अभिलाषाच्च भेदेन रूपं बुद्धौ न भासते ॥ ९३ ॥

यद्यपि संख्या, संयोग और कर्मादि पदार्थ द्रव्य से भिन्न नहीं, तथापि भेदेन उपचारमात्र होता है ॥ ९३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

आवरणं हि परमाणूनामसंसर्गात् कथमिति न युक्तम्। न ह्यवयविप्रतिबद्धमावरणं क्वाप्युपलब्धम्। येन तत्त्वाभावे परमाणुषु न स्यात्तथा प्रतिघातादिः। अथैवमुच्यते—

छिद्रत्वात्परमाणूनां संहतेः स्यात्पटादिकम्। कथमावरणं वा स्यादातपस्य जलस्य च ॥५३५॥

अवयविसंयोगमन्तरेण परमाणव एव केवला अव्याहतपरस्परान्तरनुप्रवेशाः कथमावरणभाजः। अत्रोच्यते—अशक्तैः संयोगोऽपि पदार्थैः कथं जन्यते। संसृष्टाः कथमवय-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जब कि परमाणु विरल हैं अर्थात् परमाणुओं के मध्य में अवकाश (दूरी) है, तब उनका संयोग और पटादि का आरम्भ कैसे होगा ? विरलता के कारण परमाणु मिलकर भी किसी पदार्थ को आवृत क्योंकर कर सकेंगे ? ॥५३५॥ ऐसी शंका नहीं कर सकते 'यद् यद् अवयवी, तदेव आवृणोति'—ऐसी कोई व्याप्ति उपलब्ध नहीं होती कि परमाणुरूप अवयवों में आवरण अनुपपन्न हो। उसी प्रकार प्रतिघातादि (अवरोधादि)।

शङ्का—जब कि परमाणु पृथक्-पृथक् विरल हैं, तब उनका संघात कैसे ? पटादि का आरम्भ उनसे क्योंकर और उनसे धूप और वर्षा से त्राण कैसे होगा ?

समाधान—यदि परमाणु अपने कार्यजनन में अशक्त हैं, तब उनके द्वारा संयोग-

वार्तिकालङ्कारः

विनं जनयन्ति। संसर्गश्च नैकदेशेन तदभावात्। न सर्वात्मनाणुमात्रपिण्डप्रसङ्गात्। संयोगस्य पदार्थान्तरस्य जनने न चेत्। तमेव संयोगं सान्तराः कथं जनयन्तीति समानः प्रसङ्गः। संसर्गश्चेत् किं संयोगेनापरेण - तथावयविना। अथ सान्तरा एव संयोगमवयविनं च जनयन्ति। तथा सत्यावरणादिकार्यमपि किं न जनयन्ति।

विनापि परमाणूनां संसर्गात् संहतिः परा। आघातेऽपि पृथग्भावो यस्या नव समस्ति सः ॥५३६॥

यथा विरलदेशस्थिता अपि केशमशकमक्षिकादयः एकघनाकारं प्रत्ययमुपजनयन्ति। तथा कार्यान्तरमपि किन्न जनयन्ति। तत्र बाधकस्योपलब्धेस्तथेति चेत्। अत्राप्यतीन्द्रियदर्शियोगिप्रत्ययो भवति बाधको यदि योगी भवेत्। यथा चाच्छिद्रचषके न जलश्च्युतिरुपरि पिधाने। तथा परमाणुसंहतावपि। अथवा सूतहेमसंयोगः कथमवयविनं विनावरणप्रतिघातादिसमर्थः। तप्तोपलादिकं वा विसरणादिकञ्च नामापरं कार्यम्। तत्कारणविशेषादुपजायते विशिष्टसंहतिलक्षणात्। कार्यकारणभावश्चाचिन्त्यः। तथाहि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रूप पदार्थ भी कैसे उत्पादित होगा ? इसी प्रकार संसृष्ट कैसे होंगे ? अवयवी को उत्पन्न कैसे कर सकेंगे ? संसर्ग (संयोग) भी परमाणुओं का एकदेशेन (अवयवशः) नहीं हो सकता, क्योंकि परमाणु निरवयव हैं। एक परमाणु का संयोग दूसरे परमाणु से पूर्णतया (समग्र) संयोग मानने पर परिमाण में वृद्धि नहीं होती, क्योंकि परमाणु में परमाणु वैसे ही समा जाता है, जैसे बिन्दु पर रखा बिन्दु। यदि परमाणु अपने से भिन्न संयोगरूप पदार्थान्तर को जन्म देते हैं, तब यद्यपि कथंचित् परिमाण-वृद्धि हो सकती है किन्तु सान्तर (सावकाश) या दूरस्थ परमाणु संयोग को जन्म क्योंकर दे सकेंगे ? यदि संसृष्ट होकर (परस्पर सटकर) संयोग को जन्म देते हैं, तब इस संसर्ग से भिन्न संयोग मानने की क्या आवश्यकता ? इसी प्रकार अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति की भी क्या आवश्यकता ? यदि परमाणु सान्तर (परस्पर दूर-दूर) रह कर ही संयोग और अवयवी को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं, तब आवरणादि कार्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं कर डालते ? वस्तुस्थिति यह है कि परमाणु के पारस्परिक संसर्ग के बिना परासंहति (अन्तिम संयोग) नहीं होती। आघातादि कार्यों में जिसका पृथग्भाव (व्यभिचार) नहीं, वह संयोग होता ही नहीं ॥ ५३६ ॥

जैसे विरल (दूर-दूर) देशों में अवस्थित होने पर भी केश (बाल) और मशक (मच्छरों) के समान सूक्ष्म पदार्थों के झुण्ड दूर से ऐसे दिखाई देते हैं कि वे सब परस्पर जुड़े-मिले एक समूह में आबद्ध घनाकार (निरन्तर संयुक्त) हैं---ऐसी प्रतीति होती है। वैसे ही परमाणु-समूह प्रावरणादि कार्य भी क्यों न कर सकेंगे ? यदि कहा जाय कि आवरणादि कार्यों के करने में बाधक उपलब्ध होते हैं। तब कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों के द्रष्टा योगियों की सत्ता मानी जाय, तब उनकी सूक्ष्म अनुभूति उसकी बाधक हो सकती है। जैसे अच्छिद्र कुल्हड़ [यहाँ 'अच्छिद्र' शब्द का 'अनुदरा कन्या' के समान सूक्ष्म छिद्रवाले प्याले या हाँडी के लिए प्रयुक्त है] में रखा जल बाहर नहीं चूता। वैसे ही परमाणु-समूहरूप घटादि जलादि के अवरोधक हैं, अतः उनका पानी बाहर नहीं निकलता।

अथवा पारद और सुवर्ण का संयोग किसी अवयवी का आरम्भ (उत्पादन) न करके ही प्रकाशादि का आवरक एवं जलादि का अवरोधक कैसे होता है ? इसी प्रकार

वार्तिकालङ्कारः

पृथगशक्ता रूपादयो विज्ञानं जनयितुं तथापि संहताऽवस्था जनयन्ति। संयोगादिति चेत्। ननु संयोगोऽपि कार्यमेव तमेव कथं जनयन्ति। न च संयोगस्य दृश्यता अदृष्टाश्रयस्य गत्यभावात्। यद्यदृष्टाश्रयस्यापि गतिः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षं जायत इति समयः। सन्निकर्षश्च संयोग एव तदस्य संयोगकारणत्वासंयोगविभागेष्वकारणं गुण इति गुणलक्षणं हीयते। अथ संयुक्तसमवेतत्वाद् गम्यते। एवं तर्हि परमाणुसंयोगसद्भावे परमाणुगतिः स्यादिति व्यर्थमवयविकल्पनम्। सर्वसंयोगानां वा गतिः स्यात्। ततो न दूरादग्रहणं भवेत्। इन्द्रियसंयोग एव तत्र नास्तीति चेत्। न, स्थूलानामपि न गतिः स्यात्। अथ संयोगजोऽपि संयोग इष्यते संयोगविभागेष्वकारणमिति तु समवायिकारणत्वप्रतिषेधः। न, तत्रेहनिबन्धनत्वात्समवायस्य। संयोगस्य च प्रतीयमानत्वे नियमेनेह

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तप्त उपल (तपा हुआ पत्थर) जलादि का विसरण (शोषण) क्योंकर करने लग जाता है? अतः यह मानना होगा कि सूतहेमादि के संयोग में अपने विशिष्ट कारण से कोई ऐसी विशेषता उत्पन्न हो जाती, जिससे उसमें अपने सभी कार्यों के सम्पादन की क्षमता आ जाती है। पदार्थों का कार्य-कारणभाव अत्यन्त विलक्षण कलाप के घटकीभूत और अचिन्त्य होता है। जैसे—रूपादि विषय एवं इन्द्रियादि कारण-पदार्थ पृथक्-पृथक् जिस कार्य को नहीं कर सकते किन्तु मिलकर प्रत्यक्ष-ज्ञानादि कार्यों को जन्म दे डालते हैं। यदि कहा जाय कि उनके संयोग की वह विशेषता है। तब प्रश्न उठता है कि वह संयोग भी तो कार्यान्तर है, उसको वे क्योंकर करते हैं? संयोग सर्वत्र दृश्य ही है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि चक्षुरादि अदृश्य पदार्थों के आश्रित सयोग कभी दृश्य नहीं होता। न्यायसूत्रकार का अपना संकेत है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" (न्या. सू. १।१।४) 'सन्निकर्ष' शब्द का अर्थ संयोग ही है। वही यदि संयोग का कारण है, तब उसमें वैशेषिकोक्त गुण का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि वह लक्षण है—"संयोगविभागेष्वकारणं गुणः" (वै. सू. १।१६) अर्थात् जो संयोग और विभाग का कारण न हो, वह गुण कहलाता है। प्रक्रान्त सन्निकर्षाभिध संयोग यदि अन्य संयोग का कारण होता है तब इसमें गुण पदार्थ का लक्षण क्योंकर घटेगा? यदि कहा जाय कि इन्द्रिय-संयुक्त परमाणुओं में अवयवी समवेत है, अतः संयुक्त-समवेतत्व सम्बन्ध से अवयवी का प्रत्यक्ष हो जायगा। तब तो परमाणुओं के साथ संयोग सम्बन्ध होने के कारण परमाणु की अवगति हो जाती है, व्यर्थ है अवयवी की कल्पना। सभी संयोगों की भी अवगति हो जायगी फिर तो दूर से भी अग्रहण नहीं, परमाणु का ग्रहण ही हो जायगी। यदि कहा जाय कि शस्त्र-परमाणु के साथ इन्द्रिय-संयोग ही नहीं होता, तब दूरस्थ स्थूल पदार्थों का भी ग्रहण नहीं होना चाहिए। यदि दूरस्थ स्थूल पदार्थ के साथ संयोग न होने पर संयोगज संयोग माना जाता है। संयोग में "सयोगविभागेष्वकारणं" कहा गया है, वह समवायिकारणता का प्रतिषेध है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संयोग में संयोग की कारणता मानने पर समवायिकारणता भी माननी होगी--समवायि का लक्षण करते हुए कहा गया है—"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः सह समवायः" (वै. सू. ७।२।२६)। अर्थात् 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादि व्यवहारों का नियामक सम्बन्ध होता है, वह समवाय है। संयोग में संयोग मानने पर 'इह संयोगः'—ऐसी बुद्धि भी समवाय-गमिका माननी होगी, तब समवायिकारणता अनिवार्य है।

वार्तिकालङ्कारः

बुद्धिरुपजायते। ततः समवायिकारणमपि प्राप्तम्। किञ्च—

संयुक्तसमवायश्चेद्यदि ग्रहणकारणम्। परमाणुषु संयोगे द्रव्यस्य ग्रहणं भवेत्॥ ५३७॥

यदि संयुक्तसमवायोऽपि ग्रहणहेतुस्तदा कार्यद्रव्यसंयोगो व्यर्थः स्यात्परमाणुसंयोगेनैव कार्यद्रव्यदृष्टेः। अत्र कार्यद्रव्यसद्भावे परमाणुसंयोगो न कल्प्यते। परमाणुसंयोगादेव दर्शनं घटादेरिति व्यर्थमवयविकल्पनमिति स एव दोषः। अथावयविनोऽभावे परमाणुसंयोगकल्पना नान्यथा। विपर्ययेऽपि तुल्यम्। न चावयविसंयोगे परमाणुसंयोगः। समानदेशकालत्वेन विभागाभावात्। अथवा प्रतीयमानस्यावयविनोऽपि संयोग इति दृश्यस्यासंयोगस्यापि संयोगः स्यात्। किञ्च। दृश्यता संयुक्तसमवायादिति रसरूपादियोगः पानकादौ दृश्यमाने न स्यात्। न गुणस्य गुण इति। न हि तत्रावयवानां तद्रूपं रसो वा। उपचारतस्तथा व्यपदेश इति चेत्। बुद्धिभेदः प्रसक्तः। यदेव हि रूपं रसो वावयवानां दध्यादीनां तदेवैकार्थसमवायादुपचर्यते। न तु रूपरसान्तरोपलम्भः।

संयोगिनां हि यद्रूपं संयोगस्यापि तद् भवेत्। उपचारात्कुतस्तु स्यात्तत्र रूपरसान्तरम्॥५३८॥

अथ तावेव संसर्गाद्रूपरसौ तथा प्रतिभासेते। अत्यन्तसंसर्गो हि तदेकत्वप्रतिपत्त-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि यदि संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष भी ग्रहण का कारण माना जाता है, तब इन्द्रियों के साथ होने पर परमाणु-समवेत अवयवी (द्रव्य) का ग्रहण प्रसक्त होता है॥ ५३७॥ अर्थात् यदि संयुक्त-समवाय भी ग्रहण का हेतु है, तब अवयवी रूप द्रव्य के साथ संयोग सम्बन्ध की क्या आवश्यकता? क्योंकि उसके बिना ही संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष से अवयवी का दर्शन हो जाता है। यदि अवयवी (द्रव्य) के रहने पर संयुक्त परमाणुओं का संयोग कार्यकारी नहीं माना जाता, तब परमाणुओं के संयोग से ही घटादि का ग्रहण हो जाता है, अवयवी को कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। यदि अवयवी का अभाव होने पर परमाणु-संयोग की कल्पना होती है, तब इसके विपरीत भी कहा जा सकता है कि परमाणु-संयोग का अभाव होने पर ही अवयवी की कल्पना होती है। अवयवी के साथ संयोग होने पर ही परमाणु-संयोग होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश-काल की समानता होने पर विभाग ही नहीं होता कि संयोग की उत्पत्ति मानी जाय। अथवा प्रतीयमान अवयवी के साथ भी संयोग हो जाता है, अतः अदृश्य और असंयुक्त वस्तु के साथ भी संयोग हो जायगा।

यह भी यहाँ दोष प्रसक्त होता है कि संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष से दृश्यता मानने पर दृश्यमान पानक (आम के पन्ने) में रसादि के साथ संयोग नहीं होगा, क्योंकि गुण (रसादि) में गुण (संयोग) नहीं माना जाता। वहाँ अवयवों (परमाणुओं) के रूप-रसादि प्रत्यक्ष नहीं हो सकते, यदि औपचारिक व्यावहारिक व्यवहार मानने पर ज्ञान-भेद प्रसक्त होता है। अर्थात् जो रूप या रस दध्यादि अवयवों का उपलब्ध होता है, वही एकार्थ-समवाय सम्बन्ध से अवयवी का माना जाता है, अन्य (अवयवी के) रूपादि नहीं॥ ५३८॥

शङ्का—यद्यपि अवयव के रूप-रस भिन्न हैं और अवयवी के रूप-रस भिन्न, तथापि अवयव और अवयवी का अत्यन्त संसर्ग (तादात्म्य सम्बन्ध) होने के कारण रूपादि की एकता प्रतिभासित होती है। इस प्रकार यह वस्तुस्थिति फलित होती है कि अवयवगत रूपादि की अपेक्षा अवयवी के रूपादि भिन्न हैं।

वार्तिकालङ्कारः

हेतुरिति रसान्तरत्वरूपान्तरत्वगतिः । एवं तर्हि नावयविनापरेण किञ्चित्परमाणुप्रतिभासनमेव तथा स्थूलादिव्यवहारयोगि । किञ्च यदि न परमाणूनामेव स्थूलता प्रतिपत्तिस्तदा दीर्घा पंक्तिरिति न स्यात् । न हि पंक्तिर्नाम किञ्चित् । तथा हि—

असंयोगान्न संयोगो न द्रव्यं तत एव तत् । जात्यादेर्न च दीर्घत्वं न जात्यादि सम्मता ॥ ५३९ ॥

सन्निवेशविशेषेण यथा दीर्घादिबुद्धयः । ततस्ताः परमाणूनामित्युक्तविषयस्तथा ॥ ५४० ॥

सन्निवेशमात्रस्यैव दीर्घादिता यथा मालादौ । तथा च विवादास्पदोऽवयविविषयाभिमत इति नावयवी । यच्चोक्तम् संयोगादिन्द्रियादयो जनयन्ति धियमवयविनमन्यं वेत्यादि । तत्रोच्यते—न संयोगादीनां रूपमुपलभ्यते । संयोगिन एव रूपादयः केवला न तत्र परः संयोग उपलब्धिगोचरः । संयुक्त इति बुद्ध्या गृह्यमाणः कथं न तथेति चेत् । संयुक्त इति संयोगिन एव प्रतीतिः संयुक्तशब्दस्य च नापरमत्रालम्बनम् ।

प्रत्यासन्नतयोत्पन्नास्तत्र संयोगिनः परम् । संयुक्तप्रत्ययालम्ब्या न संयोगस्ततः परः ॥ ५४१ ॥

पुरः स्थिता यथा तेऽर्थाः किं संयोगस्तथा स्थितः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां संयोगादिति कल्पना ॥ ५४२ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—यदि ऐसा है, तब अवयवों से भिन्न अवयवी नाम का पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता ? परमाणु ही अवयवी एवं उसको स्थूलतादि के भासक हो जाते हैं—एकोऽयं स्थूलो घटः । परमाणु नितान्त सूक्ष्म हैं, उनमें स्थूलता का भान क्योंकर होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि "दीर्घेयं पंक्तिः"—यह व्यवहार कैसे ? पंक्ति तो एक संयोग-माला है, गुण है । उसमें दीर्घत्व गुण कैसे ? पंक्ति नाम की कोई पृथक् वस्तु ही नहीं तब दीर्घत्व कहाँ रहेगा ? अर्थात् परमाणु रूप निरवयव है, अतएव असंयोगी पदार्थों का संयोग संभव नहीं, फिर उस संयोग से अवयवी नाम का द्रव्य कैसे उत्पन्न होगा ? "दीर्घेयं जातिः" इत्यादि व्यवहार कैसे, जबकि जाति पदार्थ में दीर्घत्वादि गुण नहीं रहते ॥५३९॥ सन्निवेश-विशेष आकारगत प्रलम्बता के कारण जैसे दीर्घत्वादि का भान हो जाता है, वैसे ही परमाणुओं में स्थूलता का ॥५४०॥ जैसे माला, रज्जु आदि पदार्थों के आकारों में दीर्घता प्रतिभासित होती है। वैसे ही विवादास्पदीभूत अवयविविषयक बुद्धि (ज्ञान) में सभी अभिमत व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं। अवयवी नाम की वस्तु है ही नहीं । यह जो कहा जाता है कि जैसे इन्द्रिय और घटादि अर्थों के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे ही अवयवों के संयोग से अवयवी उत्पन्न होता है । वहाँ पर हमारा कहना यह है कि संयोगादि का कोई पृथक् स्वरूप उपलब्ध नहीं होता । रूपादि जो प्रतीत होते हैं, वे सब संयोगी पदार्थों के ही होते हैं । रूपादि से भिन्न कोई संयोग पदार्थ उपलब्ध नहीं होता । 'संयुक्ताः तन्तवः'–इस प्रकार की बुद्धि से गृह्यमाण तन्तु संयोग के साधक क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि 'संयुक्ताः' इस शब्द के द्वारा संयोगी तन्तुओं का ही बोध होता है, किसी अन्य पदार्थ का नहीं । वहाँ तन्तु ही प्रत्यासन्नतया उपलब्ध होते हैं। उनसे भिन्न कोई आलम्बन संयुक्त प्रतीति का नहीं ॥ ५४१ ॥ जैसे तन्त्वादि पदार्थ पुरतः (सामने) स्थित हैं, क्या उनसे भिन्न कोई संयोग पदार्थ भी स्थित है ? 'संयोग' शब्द से अन्वयव्यतिरेक के द्वारा कोई संयोग नाम का पदार्थ अवगत होता है—यह तो एक कल्पनामात्र है ॥ ५४२ ॥

'संयोग' नाम का कोई संयोगी द्रव्यों से भिन्न प्रतिभासित नहीं होता । केवल

शब्दज्ञाने विकल्पेन वस्तुभेदानुसारिणा।
गुणादिष्विव कल्प्यार्थे नष्टाजातेषु वा यथा ॥ ९४ ॥

अधिकतर वस्तु-भेद (इतर-व्यावृत्ति-परक) विकल्प (आरोप) के द्वारा शब्द और ज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् 'एको घटः', 'संयुक्तः', 'महान्', 'पतति' इत्यादि व्यवहारों के प्रवर्तक संख्या, संयोगदि गुण और पतनादि कर्मों के विकल्प ही होते हैं। वस्तुतः गुणादि की सत्ता यदि मानी जाती है, तब 'एको नष्टः' 'एको भविष्यति'— इत्यादि व्यवहारों के साधक एकत्वादि संख्याएँ नष्ट और अज्ञान घटादि में क्योंकर उत्पन्न होंगी ? नष्ट और अज्ञान धर्मों में तो स्वयं ही नहीं, तब संख्यादि धर्म उसमें कैसे उत्पन्न और अवस्थित होंगे ? ॥ ९४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खलु संयोगो परः प्रतिभासते संयोगिव्यतिरिक्तः केवलमसंयुक्तयोः सावस्था नोपलभ्यते। तौ पुनरुपलभ्येते। ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां कल्पनामात्रमेव एतदिति निर्णयः। प्रत्यक्षेण तु तथाभूतं सदेवंभूतं जातमिति प्रतीतिः। ततः सैवावस्था पृथग्भावेन ज्ञाप्यते संयोग इति। अत एव—शब्दज्ञाने विकल्पेनेति।

न शब्दज्ञानवैलक्षण्यमात्रादेव पदार्थभेदोऽपि तु प्रत्यक्षलक्षणज्ञानभेदात्। विकल्पिका हि बुद्धिरनादिरनादिवासनासामर्थ्यादुपजायमाना तथा तथा प्लवते। ततो नार्थतत्त्वं प्रतिष्ठां लभते। तत्रान्वयव्यतिरेकेण परिकल्पितं भेदमाश्रित्य संयोगादिबुद्धयः ततः परिकल्पितस्यैव भेदो नार्थतत्त्वस्य। विकल्पिताभेदस्तु तीर्थान्तरदर्शनादप्युपजायते। ततोऽप्यर्थतत्त्वव्यवस्थापनायामनवस्था। तथाभ्युपगमेन परस्परापवादः स्यात्। ततो भिन्नः शब्दो ज्ञानञ्च विकल्पिते वस्तुनि वासनाया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवर्तते। किम्भेतोऽसौ विकल्पः। वस्तुभेदानुसारी वस्तुनाभेदो व्यावृत्तिरततथाभूतात्। न च व्यावृत्तादन्या व्यावृत्तिस्ततः स एव सन्तानापेक्षया अवान्तरभेदो भेदेनैव प्रतिभाति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

असंयुक्त पदार्थों की पूर्वावस्था उपलब्ध नहीं होती। दोनों संयोगी पदार्थ उपलब्ध होते हैं। इससे यही निर्णय होता है कि संयोग कल्पनामात्र है। प्रत्यक्ष के द्वारा यही प्रतीति होती है कि "तथाभूतं सदेवंभूतं जातम्"। फलतः 'संयोग' शब्द के द्वारा संयोगियों की वही अवस्था ज्ञापित होती है। अतएव "इमे तन्तवः" "इमे संयुक्ताः"—इस प्रकार केवल शब्द की विलक्षणता मात्र से कोई भिन्न पदार्थ सिद्ध नहीं होता, अपितु प्रत्यक्ष-रूप निर्विकल्प ज्ञान के भेद से वस्तु-भेद सिद्ध होता है। सविकल्प ज्ञान तो वस्तु-भेद पर अवलम्बित न होकर अनादि संस्कारों के सामर्थ्य से उपजनित होता है, अतएव वह प्रायः विलुप्त (अर्थ-व्यभिचारी ही होता है। उसके द्वारा कोई अर्थतत्त्व प्रतिष्ठित नहीं होता। फलतः अन्वय-व्यतिरेक से यही सिद्ध होता है कि संयोग और अवयवी आदि को विषय करने वाले ज्ञान परिकल्पित सयोगादि को ही सिद्ध कर सकते हैं, किसी वस्तुतत्त्व को नहीं। परिकल्पित पदार्थ-विशेष तो अन्य दार्शनिकों के दर्शन से भी कल्पित हो जाते हैं। उससे अर्थतत्त्व की व्यवस्थापना में अनवस्था होती है। वैसा मान लेने पर दार्शनिकों में परस्पर मत-भेद होता है। इससे यह सुदृढ हो जाता है कि भिन्न और ज्ञान विकल्पित पदार्थ में अनादि वासना के आधार पर प्रवृत्त होते हैं। वह विकल्प कैसा होता है ? वस्तु भेदानुसारी अर्थात् वस्तु का जो भेद या अतथाभूत

मतो यद्युपचारोऽत्र स दृष्टो यन्निबन्धनः ।
स एव सर्वभावेषु हेतुः किं नेष्यते तयोः ॥ ९५ ॥

यदि 'एकरूपम्' के समान गुणादि में संख्यादि का उपचार (आरोप या गौण व्यवहार) माना जाता है, तब इस उपचार का जो हेतु है, वही सर्वत्र तयोः (शब्द और ज्ञान) की प्रवृत्ति में क्यों नहीं मान लिया जाता ? ॥ ९५ ॥

उपचारो न सर्वत्र यदि भिन्नविशेषणम् ।
मुख्यमित्येव च कुतोऽभिन्ने भिन्नार्थतेति चेत् ॥ ९६ ॥

यदि उपचार सर्वत्र नहीं हो सकता, क्योंकि कहीं मुख्य (वास्तविक) सिंहादि विशेषणों के होने पर ही अन्यत्र उपचार होता है। 'सिंहो माणवकः' आदि व्यवहारों में सिंह रूप विशेषण पृथक् नहीं, अतः सिंह का उपचार है किन्तु सिंहो गर्जति आदि व्यवहार मुख्य है, क्योंकि वहाँ सिंह की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता है ॥ ९६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

किंवस्तुभेदमन्तरेण कल्पनाः प्रवर्तन्ते भिन्नाः । प्रवर्तन्त एव दृष्टमेतत् । यथा गुणादिषु एको गुण एकः समवायश्चतुर्विंशतिर्गुणाः । न च तत्र संख्या द्रव्याश्रितत्वात् संख्याया न चाश्रयसंख्योपचार आश्रयभेदेऽप्येकमेव सामान्यादिकम् नष्टाजातेषु च कथमेकत्वादिकम् ।

यदि नष्टाजातेषूपचारादेकत्वादेस्तथा व्यपदेशो बुद्धिश्च स एवोपचारोऽनयोः कस्मात्सर्वत्र निबन्धनं नेष्यते । अनादिकल्पनाध्यारोप एव निबन्धनमस्तु । न वस्तुपरिकल्पनावसरः ।

ननूपचारो हि नाम मुख्यनिबन्धनः स कथमसति मुख्ये भवेत् मुख्यश्च भिन्न-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(विजातीय) से व्यावृत्ति है, उसका अनुशरण करता है। व्यावृत्ति पदार्थ भी व्यावृत्त पदार्थ से भिन्न नहीं, कल्पितमात्र है। व्यावृत्त पदार्थ का ही सन्तान-भेद या अवस्था-भेद ही व्यावृत्ति के रूप में प्रतिभासित होता है। घट की सन्तति में पिरोये हुए घटरूप सन्तानियों का अवान्तर भेद ही भेदत्वेन प्रतीत होता है। क्या वस्तु-भेद के बिना ही भिन्नार्थ की कल्पनाएँ प्रवृत्त हो जाती हैं ? हाँ, प्रवृत्त हो जाती हैं—यह दृष्टचर है। जैसे कि गुण में गुण नहीं रहता, तथापि 'एको गुणः, एकः समवायः, चतुर्विंशतिगुणाः'। गुणों में एकत्वादि संख्या नहीं रहती, द्रव्य में ही संख्या मानी जाती है। आश्रयीभूत द्रव्यगत संख्या का गुणों में उपचार होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनेक घटों में 'एकं सामान्यम्' (एका घटत्वजातिः) इस प्रकार के व्यवहार में आश्रयगत एकत्व सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'एको नष्टः', 'एको जायते'—इत्यादि व्यवहारों के अनुसार नष्ट या अनुत्पन्न घटादि में एकत्व क्योंकर रह सकेगा ?

यदि नष्ट और अजात पदार्थों में एकत्व का औपचारिक व्यपदेश और ज्ञान है, तब शब्द-प्रयोग और ज्ञान में सर्वत्र उसी उपचार को प्रयोजक क्यों नहीं माना जाता ? एक ही अनादि कल्पनाध्यारोप को ही सर्वत्र नियामक मान लेना ही उचित है। वस्तु की परिकल्पना को कोई अवसर नहीं।

शङ्का—'सिंहो माणवकः'—इस प्रकार का उचार (गौण प्रयोग) तभी सम्भव है, जब जंगल में रहनेवाला मुख्य सिंह हो। प्रकृत में संयोग, संख्यादि पदार्थ मुख्य

अनर्थान्तरहेतुत्वेऽप्यपर्यायः सितादिषु ।
संयोगादियोगिनः शब्दास्तत्राप्यर्थान्तरं यदि ॥ ९७ ॥
गुणद्रव्याविशेषः स्याद् भिन्नो व्यावृत्तिभेदतः ।
स्यादनर्थान्तरार्थत्वेऽप्यकर्माद्रव्यशब्दवत् ॥ ९८ ॥

अधिकतर अर्थान्तर (भिन्नाभिन्न अर्थों) के बोधक शब्दों का पर्याय शब्द कहा जाता है जैसे भटः, पटः आदि । जो अनर्थान्तर (भिन्नार्थ के वाचक न होकर एक ही अर्थ) के वाचक हैं, उन्हें पर्याय शब्द कहते हैं, उनका सह-प्रयोग नहीं होता, जैसे 'हस्तः करः' इत्यादि किन्तु कहीं-कहीं भिन्न अर्थ की बोधकता न होने पर भी अपर्यायता ही मानी जाती है, जैसे —"संयुक्ताः तन्तवः" [यहाँ जो संयुक्त हैं, वे ही तन्तु हैं, अतः भिन्नार्थ-बोधकता नहीं, पर्यायता प्राप्त होती है, पर्याय शब्दों का सह-प्रयोग नहीं होना चाहिए किन्तु होता है—'संयुक्ता तन्तवः' । अतः सिद्धान्तवादी ने यहाँ भी अपर्यायता मानी है] अपर्यायता का प्रयोजक यहाँ भिन्नार्थ-बोधकता नहीं, अपितु विभिन्न अर्थों की व्यावर्तकता है, जिसका उल्लेख बयानवे श्लोक के द्वितीय चरण में किया गया है—"व्यावृत्तिभेदतः" । 'एकं सितं रूपम्' इत्यादि वाक्यों में भी सित (श्वेत) रूप गुण है, उसमें एकत्व संख्या नहीं मानी जा सकती, अन्यथा गुण और द्रव्य का कोई अन्तर नहीं रह जाता कि गुण भी एकत्वादि का आधार है और गुण भी । वैसे ही 'अकर्म द्रव्यम्'—यहाँ भी भिन्नार्थ-बोधकता नहीं । हाँ, 'अकर्म' शब्द कर्म की व्यावृत्ति अवश्य कर देता है । इसी प्रकार 'अद्रव्यं कर्म'—यहाँ पर 'अद्रव्यं' शब्द द्रव्य का व्यावर्तकमात्र है, भिन्नार्थ का ज्ञापक नहीं ॥ ("विशेषतः" वाद-विवाद के द्रष्टव्य—न्यायामृताद्वैताद्वैतसिद्धी पृ० ५६२) ॥ ९७-९८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

विशेषणं दण्ड्यादिवत् । अभिन्नविशेषणत्वे गौणी व्यवस्थितिः । भवतस्तु पुनः पूर्वपूर्वकल्पनाकृतविशेषणयोगादभिन्नविशेषणत्वेन मुख्यत्वं क्वचिदिति नोपचारसम्भवः । तदसत् । भिन्नविशेषणं मुख्यमित्येव च कुतः । अभिन्नविशेषणमपि कल्पनाकृतभिन्नविशेषणमत्यन्ताभ्यासाद् रूढिमुपगतं मुख्यमेव । अस्खलद्गतिप्रत्ययविषयो हि मुख्यस्तदपरस्तु गौण इति किं न पर्याप्तम् । किञ्च, यदि भिन्नविशेषणं मुख्यमन्यथोपचरितम् । अमुख्यमेव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(वास्तविक) पदार्थ हैं ही नहीं, तब उपचार क्योंकर होगा ? मुख्य तो सदैव विशेष्य से भिन्न उसका विशेषण होता है, जैसे —'दण्डी पुरुषः' किन्तु विशेषण के अभिन्न होने पर गौणी वृत्ति होती है । आप (बौद्धों) के मातानुसार पूर्व-पूर्व अभ्यास के आधार पर ही उत्तरोत्तर कल्पना आधृत होती है। मुख्यार्थ तो कहीं नहीं होता, तब उपचार सम्भव क्योंकर होगा ?

समाधान—मुख्य पदार्थ भिन्न विशेषणक होता है—ऐसा क्यों ? अभिन्न विशेषण भी कल्पना-कृत भिन्न विशेषण अत्यन्ताभ्यास के कारण रूढ होकर मुख्यार्थ ही हो जाता है । ज्ञान की विषयता जहाँ संवलित (बाधित) नहीं होती, वही मुख्य है और उससे भिन्न गौण, ऐसा मान लेना क्या पर्याप्त नहीं ?

दूसरी बात यह भी है कि यदि भिन्न विशेणरूप मख्य अन्यथा उपचरित है, तब समस्त विश्व अमुख्य ही रहेगा, क्योंकि वहाँ भिन्न विशेषण सम्भव ही नहीं । नष्ट

वार्तिकालङ्कारः

सर्वमेवं विधं भवतु भिन्नस्य विशेषणस्याभावात्। नष्टाजातेषु तु विशेष्यमप्युपचरित-मिति विशेषः। यदि विशेषणमप्यपरं नास्ति विशेष्यमेव तर्हि सर्वत्र वाच्यमित्यभिन्नार्थता पर्यायतारूपा भवेन्न सामान्याधिकरण्यं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे हि तद् भवति। तदप्यवच-नीयम्। यतः—

भेदवृत्तिनिमित्तस्य तद्रूपप्रतिभासने। सामानाधिकरण्यस्य कथं शब्दार्थभाविता॥ ५४३॥

इदं सामानाधिकरण्यं शब्दयोरर्थयोर्वा भवेत्। न तावच्छब्दयोः प्रतिनियतार्थाभि-धानात्। लक्षितलक्षणेन सामानाधिकरण्यमिति चेत्—

एकेनैव हि सम्बन्धे सर्वं लक्षितमेव तत्। द्वितीयस्य ध्वनेर्नास्ति प्रयोग इति नास्ति तत्॥५४४॥

समानाधारतार्थानामनेनैव निराकृता। विद्यमानोऽपि सम्बन्धः कथं कस्माच्च मीयताम्॥५४५॥

समवायबलादर्थो यद्यभेदेन मीयते। एकस्मादेव तद्बोधाच्छब्दोऽन्यो व्यर्थको भवेत्॥ ५४६॥

अपरेण स एवार्थो यदि ज्ञाप्य इतीष्यते। सैव पर्यायता प्राप्ता भवतोऽभिमतेन किम्॥ ५४७॥

अथ नीलार्थसम्बन्धिमात्रमेकध्वनेर्गतम्। समवायिप्रतीतौ न परस्यास्त्यप्रतीतता॥ ५४८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

और अजात स्थलों पर घटादिरूप विशेष्य पदार्थ भी मुख्य नहीं, उपचरित मात्र है। यदि वहाँ भिन्न विशेषण नहीं तब विशेष्य पदार्थ ही विशेषण के रूप में उपचरित है। वहाँ 'संयुक्ताः तन्तवः' के समान विशेष और विशेषण में पर्यायता ही है सामानाधिक-रण्य वहीं होता है, जहाँ विशेष्य एवं विशेषण शब्दों का प्रवृत्ति-निमित भिन्न हो। उस (सामानाधिकरण्य) का भी निर्वचन सम्भव नहीं, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्'—इत्यादि व्यवहारों में नीलत्व और उत्पलत्व जो सामानाधिकरण्य माना जाता है। वहाँ यदि नील-भिन्न उत्पल का नीलत्वेन भान होता है, तब पर्यायता ही होती है, दो भिन्न धर्मों की सामानाधिकरणता नहीं॥ ५४३॥

अर्थात् यह सामानाधिकरण्य दो शब्दों का है? या दो अर्थों का? दो शब्दों का सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने-अपने भिन्न अर्थ का अभिधायक है, एक अर्थ का नहीं। लक्षित-लक्षणा के द्वारा सामाधिनाकरण्य होगा- ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि 'नीलम्' और 'उत्पलम्'—इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध है, तब यद्यपि एक ही अर्थरूप अधिकरण में दोनों शब्द लक्ष्यता सम्बन्ध से वर्तमान, एकाधिकरण वृत्तित्वरूप सामाधिकरण्य बन जाता है। तथापि लक्षित-लक्षणा न होकर लक्षितत्वमात्र रह जाता है। एवं एक ही शब्द से जिस अर्थ का बोध हो जाता है, उसके लिए द्वितीय ध्वनि (शब्द) का प्रयोग नहीं किया जाता, तब सामानाधिकरण्य किस का होगा?॥५४४॥ शब्दों की इस समानाधारता के समान ही अर्थों की समानाधारता (समानाधिकरणता) का निराकरण हो जाता है। दोनों अर्थों का सम्बन्ध शब्द के साथ होने पर भी किस सम्बन्ध से प्रतीत होगा?॥ ५४५॥ यदि समवाय सम्बन्ध के बल पर अर्थ अभेदेन अवगत होता है, तब एक ही शब्द का प्रयोग पर्याप्त है, द्वितीय शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है॥ ५४६॥ यदि कहा जाय कि 'नील' शब्द उत्पल अर्थ का वाचक और 'उत्पल' शब्द उसी अर्थ का ज्ञापक है, तब दोनों शब्दों में एकार्थ-बोधकतारूप पर्यायता आपके मतानुसार भी प्रसक्त होती है॥ ५४७॥ द्वितीय शब्द की सार्थकता के लिए यदि कहा जाता है कि 'नील' शब्द का अर्थ नीलमात्र है, अतः नील शब्द के द्वारा नील-सम्बन्धी अर्थ का ही बोध होगा, उत्पल-सम्बन्धी उत्पलरूप अर्थ का बोध कराने

वार्तिकालङ्कारः

यथा प्रत्यक्षेण नीलस्य गतावुत्पलगम्यता । तथा शब्दादपि गतिस्तस्यैवान्यध्वनिर्वृथा ॥ ५४९ ॥
ध्वनेर्नियत एवार्थ इति नापरगम्यता । विशेषरहितो नार्थः कश्चिदस्ति वचोवृथा ॥ ५५० ॥
इन्द्रनीलोत्पलादीनां नीलत्वं न तु केवलम् । प्रत्यक्षेण तथादृष्टेर्ध्वनेर्वृत्तिः किमन्यथा ॥ ५५१ ॥
उत्पले यदि नीलत्वमुत्पलत्ववचो वृथा । अन्यत्र यदि नीलत्वं वृथोत्पलवचस्तया ॥ ५५२ ॥

तस्माद् बुद्धय एव स्ववासनानुरोधादुपजायमाना भेदाभेदसामानाधिकरण्यादिव्यवहारमुपरचयन्ति । न पर्यायताप्रसङ्गः । तथा हि—

"अनर्थान्तरहेतुत्वेऽपि सितादिषु दृश्यन्तेऽपर्याया" इत्युक्तम् । तत्राप्यर्थान्तरत्वमिति चेत् । एवं सति गुणद्रव्ययोर्न विशेषः । तथा हि—"क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणञ्च द्रव्यम् ।" समवायिकारणत्वं गुणयोगे भवेत् । गुरुत्वस्य भावादधोगतिः पानकादीनामिति क्रियावत्त्वम् । ततो गुणोऽपि संयोगो द्रव्यलक्षणयोगे द्रव्यमिति गुणद्रव्या-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के लिए 'उत्पल' शब्द सार्थक है । तब वहाँ यह कहा जाता है कि उत्पल द्रव्य नील का समवायी है, वही दोनों शब्दों का अर्थ है । एक शब्द से जब उसका बोध हो जाता है, तब उस अर्थ की अप्रतीतता क्या ? ॥ ५४८ ॥ जैसे प्रत्यक्ष के द्वारा नीलार्थ का ज्ञान होने पर उत्पल पदार्थ अवगत ही हो जाता है । वैसे ही 'नीलादि' शब्दों द्वारा उसी एक ही अर्थ की अवगति होती है । उसके लिए एक ही शब्द पर्याप्त है, दूसरा व्यर्थ ॥५४९॥ ध्वनि (शब्द) का अपना अर्थ नियत होता है, वह अन्य शब्द के द्वारा अवगमित नहीं किया जा सकता, किन्तु 'दण्डी' शब्द से कुण्डलरूप विशेषता से युक्त पुरुष का अभिधान नहीं होता । उसके लिए कुण्डली शब्द की सार्थकता है । वैसी यहाँ कोई विशेषता अपेक्षित नहीं, जिसके लिए द्वितीय शब्द की सार्थकता हो ॥ ५५० ॥ 'इन्द्रनीलोत्पल' आदि प्रयोगों में नीलत्व विशेषण केवल (निरपेक्ष) नहीं, अपितु जो 'इन्द्रनील' शब्द नीलकान्त मणि का वाचक है, वह उत्पल के साथ जोड़ा गया है । प्रत्यक्षतः उत्पल में नीलत्व देख कर ही 'नीलोत्पलम्'—ऐसा शब्द प्रयोग होता है, वह अन्यथा नहीं ॥ ५५१ ॥ उत्पल में यदि नीलत्व (नील गुण) समवेत है, तब केवल 'नील' शब्द से ही उसका बोध हो जाता है, 'उत्पल' शब्द व्यर्थ है । उसी प्रकार यदि नीलत्व उत्पल में न होकर अन्यत्र है, तब भी 'उत्पल' शब्द व्यर्थ है ॥ ५५२ ॥ निष्कर्ष यह है कि विज्ञान सन्तति ही स्वकीय वासना संस्कारों के आधार पर उत्पन्न होकर भेद, अभेद और सामानाधिकरण्यादि-व्यवहारों की रचना किया करती है, अतः 'नीलोत्पलम्' आदि शब्दों में पर्यायता प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि वार्तिककार ने स्पष्ट कहा है—

"अनर्थान्तरहेतुत्वेऽप्यपर्यायः सितादिषु" (प्र० वा० १।९७)

अर्थात् 'सितोत्पलम्' इत्यादि स्थलों पर यद्यपि 'सित' शब्द उत्पल से भिन्न अर्थ का बोधक नहीं और 'उत्पल' शब्द सितार्थ से भिन्न अर्थ का अभिधायक है, तथापि दोनों शब्दों में पर्यायता नहीं, क्योंकि 'सित' शब्द नीलादि और 'उत्पल' शब्द घटादि का व्यावर्तक है [ब्रह्मवादियों ने भी "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) में पर्यायता दोष से बचने के लिए कहा है—"सत्यादीनाममृतादिनिवृत्तिपरत्वात्" । उसकी व्याख्या में वार्तिककार ने भी कहा है—"अनृतादिनिषेधेन सत्यादीनामुपक्षयात्"] । 'सितोत्पलम्'—इत्यादि स्थलों पर भिन्नार्थकता मानी जाती है, तब गुण और द्रव्य में कोई

व्यतिरेकीव यच्चापि सूच्यते भाववाचिभिः।
संख्यादितद्वतः शब्दैस्तद्धर्मान्तरभेदकम् ॥ ९९ ॥

'घटः' इत्यादि भाव (द्रव्य) के वाचक शब्दों के द्वारा जो संख्या और तद्वान् (संख्येय) के भेद की अवगति-सी कराते हुए घटादि का एकत्व सूचित किया जाता है, वह शुक्लत्वादि धर्मान्तर का भेदक है। अर्थात् एकत्वादि संख्या और संयोगादि गुणों का न तो परस्पर भेद है और न घट से। तथापि उनका भेद अनुवृत्ति-व्यावृत्ति के द्वारा कल्पित है ॥ ९९ ॥

श्रुतिस्तन्मात्रजिज्ञासोरनाक्षिप्ताखिलापरा।
भिन्नं धर्ममिवाचष्टे योगोऽङ्गुल्या इति कश्चित् ॥ १०० ॥

कथित संख्यादि धर्मों में से जब कोई एक ही धर्म जिज्ञासित होता है, तब भेदेन निर्दिष्ट एकत्वादि धर्म की प्रतिपादिका श्रुति (शब्द) धर्मान्तर की आक्षेपक नहीं होती और किसी एक भिन्न धर्म को वैसे ही कहती है जैसे किसी एक वस्तु पर टिकी अँगुली उसी एक वस्तु को इंगित करती है ॥ १०० ॥

युक्ताङ्गुलीति सर्वेषामाक्षेपाद् धर्मिवाचिनी।
ख्यातैकार्थाभिधानेऽपि तथा विहितसंस्थितिः ॥ १०१ ॥

जब कि वही एक धर्म अन्य धर्मों से युक्त होकर जिज्ञासित होता है, तब 'युक्ता-

---

वार्तिकालङ्कारः

विशेषः। तस्माद् भिन्नो व्यावृत्तिभेदपरिकल्पिताऽभिधेयभेदाद् भिन्नः शब्दः प्रत्ययश्च। तद्यथाऽकर्मद्रव्यमद्रव्यं कर्मेति न चार्थान्तरमत्रार्थः। तथाप्यपर्यायत्वमकर्मद्रव्यशब्दादीनाम्। तत्र व्यावृत्तिभेद एव निबन्धनं नापरः प्रवृत्तिनिमित्तभेदः। कथन्तर्हि सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यप्रभेदः। गौः शुक्लो गोः शुक्लत्वमिति। तदाह—व्यतिरेकीवेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अन्तर नहीं रहेगा। अर्थात् "क्रियावद्गुणवत् समवायिकारणं च द्रव्यम्" (वै० सू० १।१।१५)। यह द्रव्य का लक्षण किया गया है। यहाँ क्रियावत्व का अर्थ क्रिया, गुणवत्त्व का अर्थ गुण। इस प्रकार 'क्रियागुणसमवायिकारणं द्रव्यम्' - ऐसा वाक्य पर्यवसित होता है। क्रियादि विशेषणों को यदि इतर-व्यावर्तक नहीं माना जाता, तब क्रिया, गुण और द्रव्य का कोई भेद नहीं रह जाता। फलतः 'संयुक्ताः तन्तवः'—यहाँ 'संयुक्त' पद असंयुक्तता का एवं 'तन्तु' पद घटादि का व्यावर्तक है। व्यावृत्ति-भेद के द्वारा दोनों शब्दों का अभिधेय-भेद कल्पित हो जाता है, अतः दोनों (विशेष्य और विशेषण शब्दों और उनसे जनित प्रत्ययों (ज्ञानों) का भेद सिद्ध हो जाता है। जैसे 'अकर्म द्रव्यम्', 'अद्रव्यं कर्म' (यह निश्चित है कि यहाँ प्रत्येक पद दूसरे पद के अर्थ से भिन्न अर्थ को नहीं कहता। तथापि 'अकर्म' और 'द्रव्य' शब्दों में पर्यायता नहीं, अत एव सह प्रयोग होता है—'अकर्म द्रव्यम्' अन्यथा 'हस्तः करः' के समान सहप्रयोग ही नहीं होता। अपर्यायता का यही निबन्धन (प्रयोजक) है, 'घटत्व-पटत्व' के समान यहाँ अन्य कोई प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) नहीं। यदि 'शुक्लो गौः'—यहाँ दोनों शब्दों का प्रवृत्ति-निमित भिन्न नहीं, तब 'गोत्वं शुक्लत्वम्'—ऐसा प्रयोग होना चाहिए 'गौः शुक्लः', 'गोः शुक्लत्वम्'—ऐसा सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य क्यों ?

ऽङ्गुली'—ऐसा शब्द सभी अन्य धर्मों का आक्षेप करके सभी धर्मों का बोधक होता है। एक ही व्यावृत्तिरूप धर्म के अभिधान में भी यही विभाग युक्त है, क्योंकि उस शब्द की व्यवस्था ही वैसी की गई होती है ॥ १०१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यथा पर्यायता कल्पितवाच्यभेदान्नेति प्रतिपादितम्। तथाऽभेदेऽपि वाच्यस्य व्यतिरेकविभक्तिः कल्पितव्यतिरेकभावाद्यथा शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिरः तथा गोः शुक्लत्वमिति। गौरिति तदेकाकारपरामर्शयोगी सकल एव पदार्थ उच्यते। शुक्ल इति तु तदेकदेशः परामर्शान्तरयोगिनि च विद्यमानः। व्यतिरेकश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामपोद्धृतः। ततस्तस्य गोः शुक्लो गुण इति व्यतिरेकविभक्तिः। यदा च गवाकारावग्रहो नास्ति शुक्लत्वमेव केवलमुपलभ्यते सम्बन्धिविशेषरहितम्। तदा प्रश्नयति कस्येदं शुक्लत्वमिति तदा पूर्वदर्शनादवधृतगोस्वभावो निर्दिशति गौरिति। तादात्म्यसम्बन्ध एवास्य विवक्षितः। व्यतिरेकस्तु केवलस्य प्रथमन्निश्चयात्। यदा तु न केवलेनानेन भवितव्यं यदि नाम विशेषोपलक्षणमन्दता मन्दलोचनानां तथापि शुक्लेन गवान्येन वा भवितव्यमिति प्रश्नयति कोऽयं शुक्लो गौरन्यो वेति। तदा प्रतिवचनं गौरिति समानाधिकरणतया। तदन्तर्भाविनेनैव प्रश्नभावात्। तदनुरूपमेव च प्रतिवचनं युक्तमयञ्च तत्त्वार्थ इति।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यतिरेकविनिश्चये। विशेषलक्षणाभावे कुतश्चित्कारणादपि ॥५५३॥
अयं शुक्लो गुणोऽश्वस्य प्रतिवाच्यं विपश्चिताम्। प्रश्नस्य व्यतिरेकित्वात्तथैवेतच्च निर्णयः ॥५५४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उक्त प्रश्न का उत्तर कल्पनाओं की परिधि में ही है कि जैसे कल्पित वाच्य-भेद के द्वारा पर्यायता का निवारण किया गया। वैसे ही कल्पित भेद ही सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य की व्यवस्था कर देता है—'शिलापुत्रकस्य शरीरम्', 'राहोः शिरः'—इत्यादि व्यवहारों के अनुरूप ही 'गोः शुक्लत्वम्'। अर्थात् 'गो' पद के द्वारा शुक्ल-नीलादि सभी प्रकार के गो-पदार्थ का एवं 'शुक्ल' पद उसके केवल एक भाग का परामर्श करता है। अन्वय-व्यतिरेक के समूह में से व्यतिरेक प्रणाली निकाल ली गई—'गोः शुक्लो गुणः'। जब गवाकारता धूमिल रहती है, तब प्रश्न उठता है—'कस्येदं शुक्लत्वम् ?' यह उत्तर वह व्यक्ति दे रहा है, जिसने पहले गौ का स्वरूप निश्चय कर रखा है—'गौः'। यहाँ गौ और शुक्लिमा का तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित है। जब कोई व्यक्ति प्रकाश या नेत्र-ज्योति की मन्दता के कारण किसी श्वेत वस्तु में गोत्वादि का निश्चय नहीं कर पाता, तब प्रश्न करता है—'कोऽयं शुक्लः, गौरन्यो वा ?' तब विशेषज्ञ उत्तर देता है—'गौः' समानाधिकरणतया उत्तर दिया क्योंकि प्रश्न भी समानाधिकरण वस्तु के विषय में था—कोऽयम् ? अतः उत्तर उसी के अनुरूप होना चाहिए था कि यह तत्त्वार्थ है ?

['अयं शुक्लः' यह अन्वय या समानाधिकरण प्रकार है एवं 'अस्य शुक्लत्वम्'—यह व्यतिरेक या व्यधिकरण प्रकार। जब व्यतिरेक का निश्चय और अन्वय का अनिश्चय होगा, तब प्रश्न होगा—"कोऽयम् ?"। उसका उत्तर होगा—'अयमश्वः"। जब किसी प्रकाश की मन्दादिकारण से 'शुक्लत्व' धर्म के विशेष धर्मी का सन्देह होता है, तब प्रश्न होगा—"कस्येदं शुक्लत्वम् ?" और उसका उत्तर होगा—'अश्वस्येदं शुक्लत्वम्", क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति सदैव प्रश्न के अनुरूप ही प्रतिवचन (उत्तर) दिया

रूपादिशक्तिभेदानामनाक्षेपेण वर्तते ।
तत्समानफलाऽहेतुव्यवच्छेदे घटश्रुतिः ॥ १०२ ॥

रूपादि प्रत्येक में रहनेवाली रूप-ज्ञान-जनकत्व रस-ज्ञान-जनकत्वादि शक्तियों का आक्षेप न करते हुए रूपादिगत घट-ज्ञान-जनकत्वरूप समुदाय शक्ति से रहित अश्वादि का व्यवच्छेद (व्यावर्तक) 'घट' शब्द है ॥ १०२ ॥

अतो न रूपं घट इत्येकाधिकरणता श्रुतिः ।
भेदोऽयमीदृशो जातिसमुदायाभिधायिनोः ॥ १०३ ॥

'रूप' शब्द गुण-वाची और 'घट' शब्द समुदायवाचक है, अतः 'रूपं घटः'—इस

वार्तिकालङ्कारः

यदा त्वव्यतिरेकेण विशेषान्तर्गमे सति । प्रमाणवृत्तमालोच्य प्रश्नः प्रश्नयितुर्भवेत् ॥५५५॥
तदा विदितसद्भाव उत्तरं तादृगेव सः । दातान्यप्रक्रमस्यात्र नैवावसरसम्भवः ॥५५६॥
प्रत्यक्षवृत्तमालोच्य न भेदस्य विनिश्चयः । तन्मूलमनुमानं वा भेदस्यासम्भवो मतः ॥५५७॥
अन्वयव्यतिरेकौ तु यदानादौ व्यवस्थितौ । तदाभेदस्य सद्भावाद् व्यवहारस्तथैव सः ॥५५८॥
अनादिव्यवहारोऽयमेवमेव जगद्गतः । वस्तुचिन्ता तु लोकस्य नेति भेदो न बाध्यते ॥५५९॥

तस्मादवयवा एव नावयवी विद्यते। यदि तर्हि नावयवी रसादय एव तदा न घटस्य रूपादय इति भवेत् । न हि भवति रूपादीनां रूपम् । नापि घटस्य वा घट इति पर्यालोचनं परस्याशङ्क्याह—रूपादिशक्तिभेदानामिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

करते हैं ॥ ५५३-५५४ ॥ जब कि शुक्लत्वादि का धर्मी के साथ अव्यतिरेक (अभेद) निश्चित होता है । हाँ, अश्व से भिन्न गवादि भी शुक्ल दृष्टचर होते देखे जाते हैं, तब प्रश्न-कर्त्ता का प्रश्न होता है—'कोऽयं शुक्लः ?' तब तात्त्विकता का जानकार व्यक्ति उत्तर देता है—'शुक्लोऽयमश्वः' । इससे अन्य प्रकार के उत्तर का अवसर ही सम्भव नहीं ॥ ५५५-५५६ ॥ न तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अवयव और अवयवी भेद निश्चित होता है और न तन्मूलक (प्रत्यमूलक) अनुमान से, फलतः अवयव और अवयवी का भेद सम्भव नहीं ॥ ५५७ ॥ जब कि अभेद-साधक अनादि अन्वय-व्यतिरेक व्यवस्थित हैं, तब तन्तु और पटादि का अभेद स्थिर है, लोक-व्यवहार भी वैसा ही है ॥ ५५८ ॥ 'गोः शुक्लत्वम्', 'अश्वस्य शुक्लत्वम्' ऐसा भी व्यवहार जगत्प्रसिद्ध है। वास्तविकता क्या है—ऐसी व्यर्थ की चिन्ता में लोग नहीं फँसते, अतः अवयवावयवी का भेद भी बाधित नहीं होगा ॥ ५५९ ॥ निष्कर्ष यह है कि अवयवों से अतिरिक्त अवयवी नाम की कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती ।

शङ्का- यदि अवयवों से अतिरिक्त अवयवी नहीं, गुणों से अतिरिक्त द्रव्य नहीं, तब 'पटस्येमे तन्तवः' । 'घटस्यामी रूपादयः'—इत्यादि लोक-व्यवहार क्योंकर होगा ? राजा और पुरुष का भेद है, अतः सम्बन्ध-षष्ठी का प्रयोग हो जाता है—'राज्ञः पुरुषः'। रूपादि गुण और घटादि द्रव्य का जब भेद ही नहीं, तब 'घटस्य रूपादयः'—इत्यादि प्रयोग क्योंकर होगा ? अभिन्न पदार्थों में भेद-व्यवहार यदि होगा, तब 'घटस्य घटः', 'शरीरस्य शरीरम्' — इत्यादि प्रयोग भी प्रसक्त होंगे ।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए वार्तिककार ने कहा है—"रूपादिशक्तिभेदेत्यादि" । यद्यपि घट परमाणुओं का समुदाय है, तथापि जल धारण-

प्रकार का सामानाधिकरण्य-व्यवहार नहीं होता। यहाँ 'रूप' शब्द धर्म का और 'घट' शब्द समुदायरूप धर्मी का वाचक है। तब इन दोनों शब्दों में एकार्थ-वाचकत्वरूप सामानाधिकरण्य क्योंकर बनेगा ? ।। १०३ ।।

वार्तिकालङ्कारः

रूपादीनां प्रतिनियतशक्तिभेदमनाक्षिप्य तेषु समानोदकधारणशक्त्याक्षेपेण घटश्रुतिः प्रवर्तते। ततो न रूपादयो घट इति समानाधिकरणता। अत एव समुदायशक्तिविवक्षायामयं समुदायशब्दः। जातिशब्दस्तु प्रत्येकं एकफलत्वे यथा वनं यथा वृक्ष इति। कथन्तर्हि रूपादयो घटस्येति व्यपदेशः। उदकाहरणसाधारणकार्या रूपादिप्रत्ययजननसमर्थाः प्रत्येकमित्यर्थः। अथ यथा वृक्षाणां वनं वृक्षा वनम्। रूपादयो घटा रूपादीनां घट इति कस्मान्न भवति। भवत्येव यदि शास्त्रान्तरसंस्कारो न भवति। लोकस्तु प्रायशस्तत्संस्कारानुसारी ततो न भवति। यस्तु सम्यगवबोधयुक्तस्तस्य भवत्येव संप्रत्ययो रूपादय एव केचिद् घटाः कार्यविशेषसमर्थाः। उदकाद्याहरणञ्च कार्यविशेषः। सन्निवेशविशेषेण वा व्यवस्थिताः। यतः सन्निवेशविशेषादुदकधारणविशेषः। रूपं घट इति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

करना समुदाय की शक्ति का सामर्थ्य है, अतः समुदायशक्ति की अपेक्षा 'अयं घटः' प्रयोग होता है, प्रत्येक परमाणु को घट नहीं कह सकते। इसी प्रकार रूपादि को घट नहीं कहा जाता। समुदाय-शक्ति और समुदायि-शक्ति के अपेक्षा शब्द-प्रयोग भी दो प्रकार का है—'अयं घटः'। 'इमें रूपादयः'। इसी प्रकार 'इदं वनम्'। 'इमे वृक्षाः'। तब 'रूपादयो घटस्य'—ऐसा भेद-व्यवहार कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रूपादि के समुदाय को घट इसलिए कहा जाता है कि वह जलादि के धारण में सक्षम (शक्त) है, प्रत्येक रूपादि में वह शक्ति नहीं, अतः उसमें घट-व्यवहार भी नहीं होता। घट-व्यवहार जिस समुदाय में होता है, रूपादि उस समुदाय के घटक या सम्बन्धी हैं, अतः "घटस्य रूपादयः"—ऐसा व्यवहार होने लगा जो कि अनुचित नहीं। [वाचस्पति मिश्र ने भी ऐसा ही कहा है—"नाप्यर्थक्रियाव्यवस्था वस्तुभेदे हेतुः, तेषामेषः समस्तव्यस्तानामर्थक्रियाव्यवस्थादर्शनाद् ....यथा तन्तवः प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपि मिलिता आविर्भूतपटभावाः प्रावरिष्यति।" (सां० त० कौ० ९)।

यह जो प्रश्न उठाया जाता है कि जैसे 'वृक्षाणां वनम्', 'वृक्षा वनम्'— ऐसा व्यवहार होता है, वैसे 'रूपादीनां घटः', 'रूपादयो घटः'— ऐसा व्यवहार क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसा व्यवहार बौद्ध और सांख्य दर्शन के अनुसार अवश्य होता है कि वैशेषिकादि दर्शनों के विपरीत संस्कार प्रतिबन्धक हैं। जहाँ वे कुसंस्कार नहीं, वहाँ वैसा व्यवहार क्यों न होगा ? हाँ, प्रश्नकर्त्ता का परिवार उसी प्रकार का है, अतः वैसा व्यवहार नहीं होता। जो सम्यक् अवबोध का धनी है, उसको अवश्य यह सम्प्रत्यय होता है कि कतिपय रूपादि ही घट के जलाहरणरूप कार्य में सक्षम होकर घट कहलाते हैं। अथवा घट के कम्बुग्रीवादिरूप संस्थान (आकार) को धारण करने के कारण रूपादि घट कहे जाते हैं, क्योंकि सन्निवेश की विशेषता से ही जलधारण की योग्यता आती है, [वाचस्पति मिश्र ने भी यही संकेत किया है—"तन्तव एव तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटाः" (सां० का० ९)। 'रूपं घटः"—ऐसा सामानाधिकरण्य-व्यपदेश नहीं होता, क्योंकि अवयव और अवयवी का भेद होने के कारण परस्पर व्याप्ति नहीं है।

वार्तिकालङ्कारः

तु न भवति सामानाधिकरण्यं अवयवावयविभेदेन परस्परव्याप्त्यभावात्।

ननु वृक्षशिङ्शपात्वयोरपि न परस्परव्याप्यव्यापकभाव इति कथं समानाधिकरण्यम्। नैतदस्ति यतः—

वृक्षबुद्धिः पृथग् व्यक्तावेकत्रापि प्रवर्तते। घटबुद्धिस्तु रूपादौ प्रत्येकं नानुवर्तते ॥५६०॥

न खलु घटबुद्धिः प्रत्येकं रूपादौ प्रवर्तते वृक्षबुद्धिवच्छिङ्शपादौ। न च स शक्तिभेदो घटशब्देनाक्षिप्यते। वृद्धव्यवहारनिरूढेः शक्तिप्रतिनियमात्। वृक्षशब्दस्तु विशिष्टशक्तियोगमप्याक्षिपतीति न दोषः। अत्रापि व्यवहारनिरूढिः शक्तिभेदो वा निबन्धनमिति सर्वं सुस्थम्। ननु विङ्शतिर्गावः, गवां विंशतिरिति न भेदोऽत्र कश्चित्।

न हि विंशतिशब्देनापरा शक्तिरिहोच्यते। केवला वाहदोहादिशक्तिरेवात्र गम्यते ॥५६१॥

संहतेः ख्यातिरत्रास्ति बहुत्वेन परिस्फुटा।

तदाहानया दिशा अन्येऽपि व्यपदेशा वक्तव्याः। संहतिविशेषोऽत्र विवक्षितो दशद्वयरूपः। न च तेन वाहदोहशक्तिराक्षिप्ता। नापि तया संहतिविशेष इति सर्वं सुस्थम्। अथवा —

अनादिव्यवहारेण वासनासंस्कृतात्मनाम्। अनादिर्व्यवहारोऽयं कल्पनाशब्दसम्भवी ॥ ५६२ ॥

ततो न कस्यचिच्चोद्यं केनचित् क्रियते न च।

एवंभूतेऽपि शब्दार्थे न किञ्चित् क्षीयते यदि ॥ ५६३ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—जिन पदार्थों का परस्पर व्याप्यव्यापकभाव होता है, उन्हीं का सामानाधिकरण्य होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि वृक्षत्व और शिशपात्व का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव न होने पर भी उनका 'शिशपा वृक्षः' ऐसा सामानाधिकरण्य कैसे ?

समाधान—'वृक्ष.'—ऐसी बुद्धि तो प्रत्येक शिशपा में ही है किन्तु घट-वुद्धि प्रत्येक में नहीं होती ॥ ५६० ॥ 'घटः'—ऐसी अनुभूति प्रत्येक रूपादि में नहीं होती, किन्तु 'वृक्षः'—ऐसी अनुभूति तो प्रत्येक शिशपा में होती है। 'घट' शब्द तो समुदाय-शक्ति को लेकर प्रयुक्त होता है, वैसा 'वृक्ष' शब्द नहीं। वृद्ध-परम्परा की निरूढि वस्तु में समुदायशक्ति की साधिका होती है। 'वृक्ष' शब्द तो विशिष्ट-शक्ति-योग का आक्षेपक है। यहाँ ('घट' शब्द के प्रयोग में) भी व्यवहार की निरूढि शक्ति-विशेष का परिचायक है।

जैसे विंशतिर्गावः' और 'गवां विंशतिः' में कोई भेद नहीं, वैसे ही 'रूपादयो घटः,' घटस्य रूपादयः'—यहाँ भी नहीं होना चाहिए ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'विंशति' शब्द के द्वारा कोई अन्य शक्ति का अभिधान नहीं किया जाता, अपितु हल खींचना और दूध देना आदि ही 'गो' शब्द की शक्ति है ॥ ५६१ ॥ प्रकृत में संहति (अवयव-संयोगों) में बहुत्व परिस्फुट है।

इसी प्रकार गुण-क्रियादि पदार्थ विवध व्यवहारों के प्रयोजक माने जाते हैं। 'विंशतिः गावः' आदि में भी दशद्वयरूप (विंशप्तिस्वरूप) संहति (समुदाय) विवक्षित है, उसके द्वारा न तो वाह-दोहा-स्वरूप क्रियाएँ आक्षिप्त हैं और न संहति-विशेष। अथवा अनादि वासना और सेवासित पुरुषों के अनादि व्यवहार हैं। ये सब काल्पनिक शब्दों पर आश्रित हैं ॥ ५६२ ॥ यही कारण है कि इस व्यवहार पर न तो कोई आपत्ति करता है और न असंगति का उद्भावन। ऐसी शब्दार्थ-परम्परा से यदि कोई क्षति नहीं, तब किस अनौचिती का उद्भावन होगा ? समस्त लौकिक व्यवहार का सामञ्जस्य देखा

रूपादयो घटस्येति तत्सामान्योपसर्जनाः
तच्छक्तिभेदाः ख्याप्यन्ते वाच्योऽन्योऽपि दिशानया ॥ १०४ ॥

'घटस्य रूपादयः'—ऐसा भेद-गर्भित सम्बन्धी का निर्देश इसलिए बन जाता है कि 'घट' शब्द जिस रूपादि-समुदाय का वाचक है, उस समुदाय की घटकीभूत कतिपय रूपादि (रञ्जनादि इकाइयों) का वाचक 'रूपादि' शब्द है। इन दोनों सामान्य और विशेष के बोधक शब्दों में भेद-निर्देश सम्भव हो जाता है—'घटस्य रूपादयः सन्ति' ॥ १०४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

किमयुक्तमदत्रेक्ष्यं येन तत्परिचोद्यते। प्राकृते शब्दसंस्कारे दृश्यते न समञ्जसम् ॥५६४॥
लिङ्गस्य वचनस्यार्थे भेदस्तत्रेक्ष्यते स्फुटः। न च तत्रास्त्ययुक्तत्वं संस्कृते चेदिदं भवेत् ॥५६५॥
लक्षणेन हि संस्कारः प्राकृते संस्कृते मते। संस्कृतासंस्कृतत्वं हि न प्रमाणेन गम्यते ॥५६६॥
व्यवस्थामात्रमेवैतद्बालक्रीडाप्रवृत्तये। यथा कथञ्चिदेवायं बालिशैर्व्यवहारिभिः ॥५६७॥
शास्त्रीकृतो निरर्थोऽपि तथान्यैरनुवर्तितः। बालिशैरेव तेनैषां न विद्मः किमिहोच्यताम् ॥५६८॥
अदृष्टार्थप्रवादस्तु भण्डशास्त्रेऽपि दृश्यते। न च संप्रत्ययस्तत्र तेनैषान्धपरम्परा ॥५६९॥

(२५) विज्ञानं कारणम्—

यदि शरीरस्य महाभूतादुत्पत्तिस्तदावयवानां समस्तानामेव हेतुत्वं विज्ञान-जन्मनि। यथाङ्कुरे भूम्यादीनां प्रत्येकं वा यथा ज्वालादिषु दाह्यानां तृणानान्तत्र।

यत्र खलु कार्ये परस्परसहकारितया बहूनां व्यापारस्तत्रैकाभावेऽपि न कार्य-सम्भवः। तदभावेऽपि कार्यभावे हेतुरेवासौ न भवेत्।

अथ परस्परनिरपेक्षा एव जनयन्त्यवयवास्ततः कर्णनासादिच्छेदेऽपि भवत्येव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी नहीं जाता ॥ ५६३-५६४ ॥ अयुक्तता का साधक न तो कोई लिङ्ग है और न शब्दार्थ-भेद। संस्कृत शब्दों की युक्तता और असंस्कृत की अयुक्तता जिन लक्षणों पर आश्रित है, उन लक्षणों की प्रामाणिकता किस प्रमाण से अवगत होगी ? ॥ ५६५ ॥ व्यवहार संचालन तो बाल-क्रीडा के समान एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके सूत्रधार अबोध बालक ही रहे हैं ॥ ५६७ ॥ शास्त्र के द्वारा अयुक्त निरर्थक कहे जाने वाले व्यवहारों को विश्व बहुमत से अपना रहा है, तब यहाँ क्या कहा जाय ? ॥ ५६८ ॥ अदृष्ट और अश्रुत अर्थों की परम्परा तो भाँडो की पोथियों में भी भरी पड़ी है। उस पर किसको विश्वास है। अतः यह सब अन्ध-परम्परा है, ऐसे ही चलती आई है और आगे चलेगी ॥ ५६९ ॥

(२५) विज्ञान कारण है—

यदि इस शरीर की महाभूतों से उत्पत्ति हुई है, तब समस्त अवयव मिलकर ही विज्ञान को वैसे ही जन्म दे सकेंगे, जैसे बीज, क्षेत्र, जलादि अंकुर को अथवा अग्नि को घास-फूस का ढेर।

जिस कार्य को सम्पन्न करने में बहुत से पदार्थों के मिलित-स्वरूप सक्षम माना जाता है, वहाँ किसी एक का भी अभाव होने पर कार्य सम्भव नहीं होता। यदि उसका अभाव होवे पर भी कार्य सम्पन्न हो जाता है, तब वह उस कार्य का कारण ही नहीं माना जा सकता।

हेतुत्वे च समस्तानामेकाङ्गविकलेऽपि न।
प्रत्येकमपि सामर्थ्ये युगपद् बहुसम्भवः ॥ १०५ ॥

यदि देह के समस्त परमाणुओं को ज्ञान का हेतु माना जाता है, तब किसी एक अवयव का छेदन हो जाने पर ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी। शरीर के प्रत्येक अवयव का सामर्थ्य यदि ज्ञान के उत्पादन में माना जाता है, तब एककाल में बहुत ज्ञानों की उत्पत्ति होने लगेगी ॥ १०५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तेभ्यो मनोविज्ञानम्। एवन्तर्हि प्रत्येकं सामर्थ्यमिति प्राप्तम्। ततो बहुविज्ञानसम्भवः। हि प्रत्येकं समर्थं बहुबीजभावेनानेकाङ्कुरानुदयः।

अथ प्राणापानयोर्जनकत्वं यः कश्चिदेकोऽवयवस्तस्य सहकारी। न च सहकारिभेदाद् भिद्यते कार्यम्। अपरापरकुविन्दाभावेऽपि न पटादिभेदः।

अत्रोच्यते प्राणापानयोरप्येकत्वात्स एव प्रसङ्गः। एकावयववैकल्येऽपि न स्याद् बहुसम्भवो वा। न हि प्राणापानयोरप्येकत्वं शरीरवदेव सिद्धम्। अथैकत्वमेवेष्यते, तथापि ब्रूमः—एकत्वेऽपीति।

एकत्वेऽपि प्राणापानादीनामनेकव्यक्तिरेव ततोऽनेकरागादिमनःप्रसङ्गः। तद्धेतोर्नित्यमेव सन्निधानात्। सन्निहिते च हेतावनुत्पन्नस्तद्धेतुक इत्ययुक्तम्। अथानेकस्य हेतुर्न भवत्येव प्रतिनियमत्वात् कार्यकारणतायाः। न खलु कार्यकारणभावनियमः पर्यनु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि परस्पर निरपेक्ष होकर अवयव कार्य के सम्पादक माने जाते हैं, तब कान और नाक के कट जाने पर भी हस्तादि से मनोविज्ञान होना चाहिए। यदि होता है, तब तो प्रत्येक अवयव का सामर्थ्य मानना होगा, फिर तो प्रत्येक अवयव एक-एक विज्ञान को जन्म देगा। एक काल में बहुत-से विज्ञान उत्पन्न होने लग जाँयगे, जब कि प्रत्येक बीज एक अंकुर को उत्पन्न कर सकता है, तब अनेक बीजों से अनेक अंकुरों का अनुदय क्यों होगा ?

शंका—मानस ज्ञान की जनकता प्राण और अपान में है। शरीर का प्रत्येक अवयव उसका सहकारीमात्र है। सहकारी कारण के भेद से कार्य-भेद नहीं होता। जहाँ एक पट को बुनने में पूर्व-पूर्व कुबिन्द का अभाव और उत्तरोत्तर अनेक जुलाहों का सहयोग हुआ, वहाँ क्या अनेक पट तैयार होते हैं ? कभी नहीं।

समाधान—ज्ञान के जनकीभूत प्राण और अपान भी एक नहीं, अनेक हैं, अतः पुनः वही अनेक-कार्यता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। यदि सभी अवयव मिलकर कार्य करते हैं, तब एक अवयव के अभाव में शेष अनेक अवयवों से कार्य नहीं होगा। अथवा यदि प्रत्येक अवयव इतर-निरपेक्ष कार्यकारी है, तब अनेक-कार्य-सम्भवापत्ति होती है। शरीर के समान ही प्राणापान की भी एकता सिद्ध नहीं। यदि एकत्व ही माना जाता है, तब भी हमारा कहना यह है कि प्राणापानादि अनेक व्यक्ति हैं, अतः अनेक ज्ञान और रागादि मानस कार्यों की प्रसक्ति होती है, क्योंकि ज्ञानादि की हेतुभूत प्राणादि की धारा सदैव सन्निहित विद्यमान है। हेतु के सन्निहित होने पर तद्धेतुक कार्य अनुत्पन्न हो—ऐसा कभी सम्भव नहीं।

शंका—यदि कहा जाता है कि प्राणापान अनेक कार्यों के हेतु नहीं, क्योंकि कार्य-

नानेकत्वस्य तुल्यत्वात् प्राणापानौ नियामिकौ ।
एकत्वेऽपि बहुव्यक्तिस्तद्धेतोर्नित्यसन्निधेः ॥ १०६ ॥

यद्यपि शरीर ऐसे अवयवों का समूह है, जिसका प्रत्येक अवयव ज्ञान-जनन सामर्थ्य रखता है, तथापि एक समय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति को रोकने के लिए प्राणापान को नियामक माना जाता है, तब नाना ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग क्यों होगा ? इस प्रश्न का निराकरण किया गया—न । उक्त प्रसङ्ग जैसे-का-तैसा इसलिए बना रहता है कि प्राणापान में अनेकत्व शरीरावयवों के समान ही माना जाता है। प्राणापान में एकता मान लेनें पर भी युगपत् अनेक ज्ञानों की प्रसक्ति बनी रहती है, क्योंकि प्राणापान नित्य ही सन्निहित हैं ॥ १०६ ॥

न नेकहेतुरिति चेन्नाविशेषात् क्रमादपि ।
नैकप्राणेऽप्यनेकार्थग्रहणान्नियमस्ततः ॥ १०७ ॥

प्राण अनेक ज्ञानों का हेतु नहीं—ऐसा माननें पर क्रमशः भी अनेक ज्ञान जनकत्व नहीं रहेगा । एक प्राण-काल में भी अनेक अर्थों का ग्रहण देखा जाता है, अतः 'एक प्राण एक ही की अभिव्यक्ति करता है'—ऐसा नियम भी नहीं बनता ॥ १०७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

योगयोग्यः । अग्नेर्हि धूम एक एवोदयमासादयति । न विशेषाभावात् । अग्नेर्हि न तत एव स्वभावादपरापरधूमोपलब्धिः । अत्र तु पुनस्तत एव प्राणादिस्वरूपादपरप्रबोधकप्रत्ययान्वयादपरापररागादिचित्तभावः । न च प्रबोधकप्रत्ययस्यापि नियमः पूर्वसंस्कारबलाबलस्य हेतुत्वात् । ततो यद्यसौ प्राणादिस्तस्य चेतसो न हेतुः । परतोऽपि तदविशेषान्न स्यादिति क्रमेणाप्यनेकहेतुता न स्यात्पूर्वसंस्कारस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गः । अभ्युपगम्य च प्राणादेरेकत्वमुक्तं न तु युक्तम् । तथा हि—नैकप्राणेऽप्यनेकार्थेति ।

एक प्राणकालेऽपि दीर्घनिश्वसितादौ अनेकबुद्धिसद्भावान्नेह प्राणादेर्नियमः । कुत-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कारणभाव प्रतिनियत होता है । उस यह पर ऐसा पर्यनुयोग (प्रश्न) नहीं किया जा सकता कि वह अनेक कार्यों को जन्म क्यों नहीं देता ? अग्नि से एक धूम ही उत्पन्न होता ।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं, क्योंकि जब अनेक बीजों से अनेक अंकुर उत्पन्न होते देखे जाते हैं, तब अनेक प्राणादि से एक ही कार्य क्यों ? इसमें वैसी कौन सी विशेषता है ? अग्नि और धूम व्यक्तियों का भी एक कार्य-कारणभाव नहीं, अपितु जिस अग्नि व्यक्ति से जो धूम व्यक्ति उत्पन्न होता हैं, वह अन्य अग्नि व्यक्ति से नहीं हो सकता । उद्बोधक के बल पर भी अनेक प्राणादि व्यक्तियाँ एक ही ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकतीं, क्योंकि हेतुगत सामर्थ्य के उद्बोधक के बल पर अन्यथाभाव सम्भव नहीं । यदि प्राणादि स्वयं एक कार्य को जन्म नहीं दे सकते, तब परतः (उद्बोधक के बल पर) भी वैसा नहीं कर सकते । एक ही प्राणादि व्यक्ति में क्रमशः भी अनेक कार्य की हेतुता नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकार तो उद्बोधक पूर्व संस्कारों में हेतुता पर्यवसित होती है ।

प्राणादि में एकत्व मानकर जो व्यवस्था की जाती है, वह वस्तुतः युक्तियुक्त नहीं क्योंकि एक प्राण के समय भी अनेक पदार्थों का ग्रहण देखा जाता है । अर्थात् दीर्घ

एकयानेकविज्ञाने बुद्ध्याऽस्तु सकृदेव तत्।
अविरोधात्, क्रमेणापि मा भूत् तदविशेषतः ॥ १०८ ॥

एक ही बुद्धि के द्वारा अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति मानने पर एक काल में अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति प्राप्त होती है, क्योंकि उसका कोई विरोध करने वाला या प्रतिबन्धक नहीं है। यदि एक काल में अनेक विज्ञान नहीं होते, तब क्रमशः भी अनेक विज्ञान क्योंकर होंगे ? अर्थात् जब कि एक बुद्धि में अनेक ज्ञानों के उत्पादन का सामर्थ्य है। कोई प्रतिबन्धक नहीं और न क्रमिक ज्ञानों के उत्पादन की नियामिका कोई विशेषता, तब युगपत् अनेक ज्ञानों की प्रसक्ति क्यों न होगी ? ॥ १०८ ॥

बहवः क्षणिकाः प्राणा अस्वजातीयकालिकाः।
तादृशामेव चित्तानां कल्प्यते यदि कारणम् ॥ १०९ ॥
क्रमवन्तः कथं ते स्युः क्रमवद्धेतुना विना।
पूर्वस्वजातिहेतुत्वे न स्यादाद्यस्य सम्भवः ॥ ११० ॥

यदि अस्वजातीय (असहभावी) अनेक क्षणिक प्राण अनेक ज्ञानों के उत्पादक माने जाते हैं, तब किसी क्रम-बद्ध हेतु के विना उन प्राणों का क्रम क्योंकर स्थिर हो

वार्तिकालङ्कारः

स्तर्हि नियमस्तत एव ग्रहणात्। ग्रहणमेव पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्य चेतसो नियमहेतुः। अर्थं कमेव मनोविज्ञानं क्रमेणानेकार्थग्रहणरूपम्। ततो नानेका बुद्धिरित्युच्यते। तदपि नास्ति। न रूपाद्याकारव्यतिरेकेणापरमस्ति मनः। स्वच्छदर्पणसंस्थानीयमेकमेव व्यापकं मनस्तस्य पुनरर्थप्रतिबिम्बसङ्क्रमः। अत्रोच्यते–यद्युदासीनमेव विज्ञानं प्राप्यार्थबिम्बोत्पत्तिः प्रत्यासत्तितारतम्याभावादर्थानां युगपदर्थग्रहणप्रसङ्गः। अथ भावनाविशेषतारतम्यान्नैवं सैव तर्हि कारणमर्थाकारताया न प्राणापानादयः। अवस्थितस्य तु विज्ञानस्य दर्पणवत्को विरोधो येन न युगपदर्थग्रहः। अथ सामर्थ्यं नास्ति तदानीं क्रमेणापि तदर्थग्रहणं मा भूदविशेषात्। अथापि स्यात्क्षणभेदस्तत्राप्यस्त्येव ततः क्षणभेदात्क्रमादनेकार्थग्रहणम्। नैतदप्युत्तरं यतः—बहवः क्षणिकाः इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निःश्वासरूप एक प्राण के काल में ही अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः प्राण को नियामक या व्यवस्थापक नहीं माना जा सकता। यदि एक ही ज्ञान को क्रमशः अनेकार्थ-ग्राहक माना जाता है, तब अनेक ज्ञानों की क्या आवश्यकता ? यह प्रश्न भी उचित नहीं, क्योंकि रूपाकार रसाकार पदार्थ ही तो चित्त, ज्ञान या मन कहलाता है, विषय के भेद से विषयाकारता भी वैसे ही भिन्न होती जाती है, जैसे एक दर्पण में अनेक विषयों का प्रतिबिम्ब। यहाँ हमारा कहना यह है कि यदि उदासीन (असम्बद्ध) ज्ञान को प्राप्त होकर विषय प्रतिबिम्बित होते हैं, तब प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) के तरतमभाव की अपेक्षा न कर समीप और दूर के सभी विषय ज्ञान में युगपत् प्रतिबिम्बित होंगे। यदि भावना (संस्कारों) के तारतम्य को व्यवस्थापक माना जाता है, तब उसी को ही अर्थाकारता का नियामक मान लेना चाहिए, प्राणापान को नहीं। अवस्थित विज्ञान का दर्पण के समान विषयों से क्या विरोध कि युगपत् अनेक विषयों का युगपत् ग्रहण नहीं होता ? यदि विज्ञान में विषयाकारता का सामर्थ्य ही नहीं, तब क्रमशः भी अनेकार्थ ग्रहण नहीं होगा।

सकेगा ? प्राणों का हेतु है—शरीर। वह क्रम-रहित है। यदि प्राणों का हेतु पूर्वतन स्वसजातीय प्राण माना जाता है, तब आद्य प्राण के पूर्व कोई प्राण न होने से आद्य प्राण की उत्पत्ति क्योंकर होती ? ।। १०९-११० ।।

तद्धेतुस्तादृशो नास्ति सति वाऽनेकता ध्रुवम् ।
प्राणानां भिन्नदेशत्वात् सकृज्जन्म धियां भवेत् ॥ १११ ॥

मरणावस्थ शरीर के अन्तिम प्राण शरीरान्तरगत आद्य प्राण का जनक नहीं माना जा सकता, क्योंकि भिन्न देशगत कारण भिन्न देश में कार्यारम्भक नहीं होता प्राणों की अनेकता भी प्रसक्त होती है। भिन्न देशस्थ प्राणों को ज्ञानों का जनक मानने पर एक काल में अनेक ज्ञानों का जन्म होना चाहिए।। १११ ।।

वार्तिकालङ्कारः

यतः—तद्धेतुस्तादृश इति ।

बहवः क्षणिकाः प्राणाः इति सिद्धमेव नः। भवतस्तु न सिद्धमेतत्। अथ प्रमाणदृष्टेः सिद्धमेतत्। क्रमभावी हि नैकः प्रदार्थो युक्तस्ततः कारणक्रमात्कार्यस्यापि क्रम इति क्रमवद् विज्ञानम्। त एव खलु क्रमवत्कारणविरहात् प्राणाः कथं क्रमवन्तः। पूर्वपूर्वं प्राणादिहेतुक्रमादिति चेत्। न पूर्वस्वजातीयहेतुत्वे हि नाद्यस्य सम्भवः प्राणादेस्तादृशस्य पूर्वमभावात्। परलोकाङ्गीकरणे हि जन्मादि प्राणस्य हेतुः स्यात्। मातापितृप्राण एव हेतुरिति चेत्। न तथाभूतस्य सर्वदा भावप्रसङ्गात्। एवं च सति बुद्धिरपि मातापितृजैव इति पूर्वप्रसङ्गः।

अभ्युपगम्योच्यते—अनेकता प्राणानां भिन्नदेशसंसर्गात् । अनेकदेशसंसर्गो हि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

"क्रमेणापि तदर्थग्रहणं मा भूत्"—इसका उत्तर यदि यह दिया जाता है कि ज्ञान की सहायक सामग्री में प्राणादि पदार्थ हमारे मत में क्षणिक हैं और अनेक, उनके क्रम से अनेक पदार्थों का क्रमशः ग्रहण बन जाता है। किन्तु आप नैयायिकादि के मत में वैसा सिद्ध नहीं।

यदि कहा जाय कि प्रमाण और युक्ति के आधार पर वैसा मान लिया जाता है कि कोई एक पदार्थ क्रमभावी नहीं हो सकता, अतः बहुत कारण मानने होंगे, तब कारण क्रम से ज्ञानों का भी क्रम सम्पन्न हो जायगा। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप (नैयायिकादि) के मत में ही न प्राणादि बहुत माने जाते हैं और न उनका कोई क्रम माना जाता है, तब ज्ञान-क्रम का निर्वाह क्योंकर होगा ? यदि उत्तरोत्तर प्राणप्रवाह का सजातीय पूर्व-पूर्व कारण (समनन्तर प्रत्यय) मानकर क्रम का सम्पादन किया जाता है, तब आद्य प्राण का वैसा कारण सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि बौद्ध-मत के समान मतान्तर में अनादि सन्तान-धारा नहीं मानी जाती। परलोक को अङ्गीकार करने पर जन्मादि को प्राण का हेतु माना जा सकता है। यदि माता-पिता के प्राणों को पुत्र के प्राण का हेतु माना जाता है. तब तो पुत्र के प्राणों में सदा भाव प्रसक्त होता है। इसी प्रकार बुद्धि भी माता-पिता से जनित कही जा सकती है, तब भी वह सदा भाव का प्रसंग बना रहता है।

प्राणों की अनेकता मानकर भी कहा जा सकता है कि प्राणों का विभिन्न देशों के साथ संसर्ग है। विरुद्ध धर्मों का संसर्ग एकता का बाधक और अनेकता का गमक

यद्येककालिकोऽनेकोऽप्येकचैतन्यकारणम् ।
एकस्यापि न वैकल्ये स्यान्मन्दश्वसितादिषु ॥ ११२ ॥

यदि एक काल के समग्र प्राणों को ही एक चैतन्य (ज्ञान) का कारण माना जाता है, तब मन्दश्वसितादि अवस्था में एक प्राण का अभाव होने पर चैतन्य का जन्म न हो सकेगा, क्योंकि प्राणों में समग्रता नहीं रही ॥ ११२ ॥

अथ हेतुर्यथाभावं ज्ञानेऽपि स्याद् विशिष्टता ।
न हि तत् तस्य कार्यं यद् यस्य भेदान्न भिद्यते ॥ ११३ ॥

यदि समग्रता के स्थान पर यथासम्भव प्राणों के समूह को एक ज्ञान का कारण माना जाता है, तब ज्ञान में प्राणों की उस उपचयापचयतारूप विशेषता का भान होना चाहिए अन्यथा वह उसका कार्य ही न हो सकेगा, क्योंकि वह कार्य उस कारण का नहीं माना जाता जिसके भेद होने पर भिन्न (विशिष्ट) न हो ॥ ११३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

विरुद्धधर्माध्यासोऽनेकस्य साधकः । अनेकत्वात्प्राणस्यानिकमनोविज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः । समानजातीयस्य च मनसः क्रमेणोत्पत्तिः । न हि क्षणभेदादेव कार्यभेदः । यथा समानजातीयमनेकं कारणं तथा कार्यमपि । नन्वनेकस्मादेकमेवोत्पद्यते सामग्री जनिका । नैतदुत्तरम्—यद्येककालिके इति ।

अनेकस्यैककार्यजनने द्वैतं सामग्रीरूपेणान्यथा वा सामग्रीरूपेण जनने मन्दश्वसितादिषु अश्वसिते च न स्यात् सामग्र्यभावात् । एष हि सामग्रीजन्मनः कार्यस्य धर्मो यत्समग्रव्यग्रवैकल्येऽभवनम् । न हि तदभावेऽपि भवतस्तत्कार्यता ।

अथापि स्याद्यथा संनिहितमेव कारणं न समग्रमेव । एवं तर्हि सन्निहितमेव न कारणमसन्निहितमपीति वक्तव्यम् । न चैवमन्वयव्यतिरेकभावित्वात् कार्यकारणतायाः । तस्मात्समग्रात्समग्रमेव कार्यं व्यग्राद् व्यग्रम् । अविद्यमानादविद्यमानम् । अन्यथाभूतादन्य-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

माना जाता है । फलतः प्राण अनेक हैं, अतः अनेक मनोविज्ञानों की उत्पत्ति प्रसक्त होती है । समानजातीय मन की उत्पत्ति क्रमशः होगी । क्षण-भेद से ही कार्य-भेद नहीं होता । जैसे समानजातिक अनेक कारण होते हैं, वैसे ही कार्य भी ।

शङ्का—अनेक कारणों से एक कार्य की उत्पत्ति माननी न्यायोचित है, क्योंकि सामग्री (कारणों की समग्रता) को ही कार्य का जनक माना जाता है ।

समाधान—अनेक कारणों को कार्य का जनक दो प्रकार से माना जा सकता है—(१) समग्रतया (अशेषतया) अथवा (२) यथासम्भव सञ्चिततया । प्रथम हेतु वहाँ व्यभिचरित है, जहाँ किसी व्यक्ति की श्वास-प्रक्रिया मन्द पड़ गई है, पूरे श्वास-प्रश्वास नहीं आते । कारणों की समग्रता बाधित है, फिर भी ज्ञानरूप कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है । सामग्री से जन्म लेनेवाले कार्य का यह धर्म (स्वभाव) है कि समग्र कारणों के न होने पर वह उत्पन्न नहीं होता । सामग्री के अभाव में उत्पन्न होनेवाले कार्य को सामग्री का कार्य नहीं कहा जाता । द्वितीय यथासम्भव-पक्ष मानने पर यह मानना होगा कि 'सन्निहितमेव कारणम् , नासन्निहितम्' किन्तु वैसा मानना सम्भव नहीं, क्योंकि कार्यकारणभाव अन्वय-व्यतिरेक पर निर्भर होता है । फलतः समग्र कारण से कार्य समग्र और व्यग्र (अधूरे कारण) से अधूरा मानना होगा । इसी प्रकार अविद्य-

वार्तिकालङ्कारः

थाभूतमेवेति नियमः । नैव हि तस्य कार्यं यद्यस्य विशेषादविशेषवत् । तद्भावभावित्वमेव निबन्धनमिति चेत् । न तद्विकारविकारित्वेनैव तद् भावभाविता गम्यते ।

तद्भावभाविता मात्रात्कार्यकारणता यदि । अकारणो विकारः स्यात्तथा सर्वमहेतुकम् ।। ५७० ।।

यदि तद्भावभावित्वमेव केवलमुपगम्यते कार्यकारणनिबन्धनविकारोऽहेतुक एव प्रसक्तः । अत्र सोऽपि विकारस्तन्मात्रकादेव प्रथमसेव कस्मान्नोत्पन्नः । अविकृत एव हि तस्मिन्नुत्पद्यमानः प्रथममेव स्यात् । न हि तस्य तत्कार्यं यदविशेषेऽपि विशिष्यत इत्युक्तम् । ततो यथाऽहेतुको विशेषस्तथा स भावोऽपि ततस्तद्भावभावितापि कथं गम्यते ।

एतेन परिणामः प्रत्युक्तः । यदुच्यते—क्रमभाविपरिणतिविशेषसापेक्षाद् देहादेव क्रमवद् विज्ञानमुपजायते । तदसत्—

परिणामक्रमोऽप्येष देहमात्रादसम्भवी । देहाविशेषात्तस्यापि विशेषः कुत आगतः ।। ५७१ ।।

यथैव परिणतिविशेषाभावादविशेषो विज्ञानस्य तथा देहविशेषाभावतः परिण-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मान कारण से अविद्यमान और अन्यथाभूत कारण से अन्यथाभूत कार्य का नियम सिद्ध होता है। वह कार्य उस कारण का नहीं माना जा सकता, जिसमें उस कारण की विशेषता से कोई विशेषता न आती हो।

यदि कहा जाय कि कार्य में केवल तद्भाव-भावित्व (कारण के होने पर कार्य का होना) ही निश्चित होता है। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि तद्विकार-विकारिता को देखकर तत्कार्यता या तद्भाव-भाविता स्थिर होती है । अर्थात् यदि केवल तद्भाव-भाविता मात्र के आधार पर कार्य-कारणभाव की सिद्धि मानने पर घटादिरूप विकार को अहेतुक ही मानना होगा। फलतः कार्यमात्रा अहेतुक हो जायगा ।।५७०।। कारण के आविकृत होने पर ही कार्य उत्पन्न हो जाता है, तब पहले ही हो जाना चाहिये, क्योंकि जिस कार्यकारणगत विशेषता के विना ही विशेषता आती है, वह उसका कार्य नहीं, यह कहा जा चुका है। इस प्रकार जैसे कार्यगत विशेषता अहे- तुक है वैसे ही कार्य भी, अतः तद्भाव-भाविता का भी ज्ञान क्योंकर होगा ? इसी प्रकार परिणामवाद का भी निराकरण हो जाता है।

यह जो कहा गया कि परिणाम-विशेष से युक्त शरीर ही क्रमिक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उचित नहीं, क्योंकि वह परिणाम-क्रम भी देहमात्र से सम्भव नहीं। देहगत किसी विशेषता के विना ही वह परिणाम-क्रम क्योंकर उत्पन्न होगा ? ।।५७१।। जैसे परिणाम-विशेष के अभाव में विज्ञानगत विशेषता नहीं आती, वैसे ही देहगत विशेषता के विना ही परिणामगत विशेषता भी ।

शंका—दुग्धादिगत विशेषता के विना ही दधिरूप परिणाम देखा जाता है, केवल कुछ काल का परिवास अपेक्षित होता है, वैसे ही शरीर का परिणाम-क्रम भी होगा ।

समाधान—उक्त कथन नितान्त निःसार है, क्योंकि क्षीरादि का दध्यादिरूप परिणाम समान क्षीर से सम्भूत होता है किन्तु शरीर का परिणाम कभी शरीर के समान और कभी असमान होता है ।।५७२।। आशय यह है कि समान मात्रा के क्षीरादि का समुचित ऊष्मादि के सम्बन्ध से समान दध्यादि रूप परिणाम होता देखा जाता है किन्तु शरीर के परिणाम में शरीर की समानता और असमानता दोनों धर्म देखे जाते

विज्ञानं शक्तिनियमादेकमेकस्य कारणम्।
अन्यार्थासक्तिविगुणे ज्ञाने नार्थान्तरग्रहात् ॥ ११४ ॥

पूर्व विज्ञान से उत्तर विज्ञान का जन्म मानने पर हमारे बौद्ध सिद्धान्त में कारणगत शक्ति का अकाट्य नियम है कि एक कारण से एक ही कार्य का जन्म होता है अर्थात् विषयान्तर से आसक्त (जुड़ा हुआ) चित्त विषयान्तर के ज्ञानोत्पादन में विगुण (प्रतिबन्धक या अयोग्य) होता है। निष्कर्ष यह निकला कि विज्ञान (पूर्व चित्त) से ही उत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है, प्राणादि से नहीं ॥ ११४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तेरपि। ननु क्षीरादिपरिणतिविशेषस्तदविशेषेऽपि दृश्यते। कालपरिवासमात्रादेव तथा शरीरस्यापि। नैतत्सारम् यतः—

क्षीरादिपरिणामो हि समानक्षीरसम्भवी। समान एव शारीरः परिणामो विशिष्यते ॥ ५७२ ॥

समानक्षीरादिसमवधाने समानोष्मादिसम्भवे च समान एव दध्यादिपरिणामः। शरीरस्य तु समानतासमानते। अनुरूपाभ्यासवासनाविकल्पकादिविज्ञानभेदाभेदयोर्निबन्धनम्। ततो न परिणतिक्रमात्क्रमो विज्ञानानामिति गम्यते। तस्मात्समुदायकार्यत्वे विशेषसम्भवोऽन्यथानेकत्वमिति स्थितमेतत्। न चैवं दृश्यते।

ननु यस्यापि विज्ञानादेव विज्ञानं तस्यापि कस्मादनेकं नोत्पत्तिमद् विज्ञानम्। अत्रोत्तरम्—विज्ञानं शक्तिनियमादिति।

विज्ञानं समनन्तरप्रत्ययरूपं एकमेकस्य कारणं शक्तिनियमः वासनानुरूपः संस्कारः। आसक्तिविशेषो वा। दृढवासनं हि व्यवहितमपि विज्ञानं समनन्तरप्रत्ययस्य सामर्थ्यविशेषाधानेन किञ्चिदेव विज्ञानं जनयति केवलं वा समनन्तरप्रत्ययानुरूपप्रबोधतो वा। तथा हि—

वासनादार्ढ्यमासाद्य विनापि समनन्तरात्। पूर्वकादेव विज्ञानात्(स्याद)विकल्पस्य सम्भवः ॥५७३॥
समनन्तरविज्ञानात्प्रत्यासत्या तु कस्यचित्। विकल्पस्योदयो दृष्टः परस्य व्यवधेर्न्न तु ॥५७४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हैं। किसी व्यवहार के अभ्यास से तदनुरूप वासनाएँ और विचित्र विकल्प विज्ञानों का समुत्पाद होता है। अतः शरीर के परिणाम-क्रम से ज्ञानों का क्रम नहीं देखा जाता। फलतः कारण-समूह के कार्यों में विशेषता की प्रतीति, अन्यथा कार्य में एकता न होकर अनेकता माननी होगी किन्तु प्रकृत में वैसा नहीं देखा जाता।

जिस (बौद्ध) के मत में विज्ञान से ही विज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है, उसके मत में अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति युगपत् क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि समनन्तर प्रत्ययरूप एक विज्ञान से एक ही विज्ञान उत्पन्न होता है—ऐसा नियम कारणगत शक्ति की देन है। प्रत्येक वस्तु अपने व्यवहारलब्ध संस्कारों के परिवेश में नियन्त्रित होती है। दृढवासना-वासित विज्ञान व्यवहित होने पर भी समनन्तर प्रत्यय में सामर्थ्य-विशेष का आधान कर किसी एक ही विज्ञान का जनक होता है। अथवा दृढवासना-युक्त विज्ञान अकेला विज्ञान समनन्तर प्रत्यय से निरपेक्ष एवं तदनुरूप वासना-प्रबोध के द्वारा एक ही विज्ञान का उत्पादन करता है। अर्थात् विना भी समनन्तर प्रत्यय के केवल पूर्व विज्ञान से ही एक विकल्प विज्ञान उत्पन्न होता है ॥५७३॥ अथवा समनन्तर प्रत्यय की आसत्ति (सन्निधि) से किसी एक ही विकल्प विज्ञान का

(२६) कर्म-सिद्धि—

शरीरात् सकृदुत्पन्ना धीः स्वजात्या नियम्यते ।
परतश्चेत् समर्थस्य देहस्य विरतिः कुतः ॥ ११५ ॥

यदि शरीर से उत्पन्न होकर प्रथम बुद्धि अपनी कारणभूत बुद्धि से नियन्त्रित होती है कि एक बुद्धि से एक ही बुद्धि जन्म लेती है। तब प्रथम बुद्धि के उत्पादन में समर्थ शरीर आगे चल कर बुद्धि-जनन से विरत क्यों हो जाता है ? ॥ ११५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खलु व्यवहितविज्ञानवासनाविकल्पानामन्येनावान्तरोपनिपातिना शक्तिविषयविषयेणोदयो दृश्यते । ततो विज्ञानादेककं वा विज्ञानमिति युक्ता व्यवस्था ।

(२६) कर्मसिद्धिः—

ननु शरीरादनेकविज्ञानोदयेऽपि नियमस्तत एव विज्ञानात् । यथानेकेन्द्रियविज्ञानसम्भवेऽपि कदाचिदेकमेव विज्ञानमासक्तिविषये तत एवासक्तिविशेषात् । तत्रोच्यते—शरीरात्सकृदुत्पन्नेति ।

यदि शरीरादुदीय विज्ञानं ततः पुनः पुनरपि तावदेव । तथैव देहस्य सामर्थ्यसम्भवात् । यदि नाम विज्ञानं स्वशक्तिनियमादेकं विज्ञानं जनयति । देहस्तु तथैवास्तीत्यपरापरविज्ञानजननम् । अथ तेन विज्ञानेन शरीरस्यापरविज्ञानजनने व्याघातकरणान्न शरीरादपरविज्ञानोदयः । तदप्यसत्—

नायमर्थः प्रमाणेन केनचिद् गोचरीकृतः । विज्ञानादेव विज्ञानं जायते माननिश्चयात् ॥ ५७५ ॥

न हि विज्ञानरहिताद्देहादेवानेकविज्ञानोत्पत्तिः । पुनर्विज्ञानादेवानेकविज्ञानजननशक्तिव्याघातः । न हि धूमादेव वह्नेर्धूमजननशक्तेरुपघातः । ततो यदि देहादुत्पत्तिर्विज्ञानादेकैकविज्ञानजननेऽपि न देहस्य सामर्थ्यव्याघात इत्यपरापरानेकविज्ञानजननम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उदय होता है ॥५७४॥ अर्थात् विज्ञान-सन्तति के व्यवहरित पूर्व विज्ञान क्षणों के द्वारा अनेक विज्ञानों का उत्पाद नहीं देखा जाता, अतः एक विज्ञान से एक ही विज्ञान का उत्पाद होता है—यह व्यवस्था ही युक्तियुक्त है ।

(२६) कर्म-सिद्धि—

शंका—शरीर से अनेक विज्ञानों का उदय होने पर भी नियम है कि उसी विज्ञान से । जैसे अनेक इन्द्रिय-विज्ञानों का सम्भव होने पर भी कदाचित् एक ही विज्ञान अपने सम्बन्धित विषय में होता है ।

समाधान—जैसे शरीर से उत्पन्न होकर विज्ञान पुनः पुनः उतना ही रहता है, क्योंकि देह का सामर्थ्य ही वैसा होता है । यदि विज्ञान स्वकीय शक्ति से नियन्त्रित होकर किसी एक ही विज्ञान को जन्म देता है । तब देह तो सदैव वैसा ही है, अतः अनेक विज्ञानों का जनक क्यों नहीं ? यदि शरीर-जनित एक विज्ञान के द्वारा द्वितीयादि विज्ञानों की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध किया जाता है, अतः ज्ञानान्तर का उदय क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शरीर से विज्ञान की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं और विज्ञान से विज्ञान की उत्पत्ति प्रमाण-सिद्ध है ॥ ५७५ ॥ ज्ञान-रहित केवल देह से अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती और विज्ञान से अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति इसलिए नहीं होती कि विज्ञानोत्पन्न प्रथम ज्ञान से ज्ञानान्तर-जनन शक्ति कुण्ठित (प्रति-

वार्तिकालङ्कारः

न हि कारणानां काचित्प्रेक्षावत्ता येनेदानीं विज्ञानादेव विज्ञानमुपजायते किमस्मदपरविज्ञानोत्पत्त्येति न देह उत्पादयेत् । अथैवमपि कदाचिद् भवेत् । यदुत कार्यादेव कारणस्य स्वकार्यजनने व्याघात इति ।

देहादनेकविज्ञानसम्भवे तदनन्तरम् । विघाते ज्ञानतो दृष्टेः स्यादाशङ्का क्वचित्पुनः ।।५७६।।

पक्षपातकृतासक्तिरभ्यासादस्य सम्भवः । नियामकत्वमस्यासद्विज्ञानस्योपजायते ।।५७७।।

ततस्तज्जातीयं विज्ञानं तज्जातीयादेव कार्यकारणभावसिद्धौ विज्ञानादेव विज्ञानमिति न देहादस्योदयः ।

ननूक्तमनेकेन्द्रियविज्ञानसम्भवस्तत एकविज्ञानादेकैकविज्ञानमिति । सत्यमुक्तम् । नोक्तमात्रादेव परिहारोऽपि तु युक्त्योक्तितः । न च तद् युक्तम् । न हि विज्ञानमनासक्तस्वभावन्तदपरविज्ञानानुत्पत्तये व्याप्रियते । न चासक्तिः पूर्वाभ्यासमन्तरेण । ततो यज्जातीये विज्ञाने पूर्वाभ्यासस्तत्सदृश एव पुनरासक्तिरतः पूर्वाभ्यासादेव विज्ञानान्तरानुदयः । यस्य तु—

न लोकोऽस्ति परस्तस्य न पूर्वाभ्याससम्भवः । पूर्वाभ्यासं विना नास्ति विज्ञानान्तरवारणम् ।।५७८।।

तेन देहादुदयिनां विज्ञानानां पुनः पुनः । तद्देहसम्भवे प्राप्तं वृन्दन्तच्च न दृश्यते ।।५७९।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वन्धित) हो जाती है । उसी ज्ञान से उसी ज्ञान के उत्पादन की शक्ति वैसे ही व्याहत नहीं होती, जैसे उसी धूम से वह्निगत धूम-जनन-शक्ति बाधित नहीं होती । देह से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा देहगत शक्ति नष्ट नहीं होती. अतः देह से सकृत् अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति प्रसक्त होती है देह को ज्ञान का उत्पादक मानने पर । देह कोई प्रेक्षापूर्वक कारण भी नहीं कि यह सोच सके—मैंने एक ज्ञान उत्पन्न कर दिया है, उसी से अपरापर ज्ञान-सन्तति प्रवाहित हो जायगी हम ज्ञानान्तर को क्यों जन्म दें ।

यदि ऐसा भी कदाचित् सम्भव हो जाय कि उसी कार्य के द्वारा स्व-जनन-शक्ति का व्याघात होता है, तब देह से अनेक विज्ञानों के सम्भव हो जाने के अनन्तर उक्त शक्ति का व्याघात होता है । तब ज्ञान से ज्ञान का उत्पाद होने लगता है । ऐसा क्यों ? इस सन्देह के उत्तर में कहा जा सकता है कि अभ्यासरूप पक्षपात ही उस असंविज्ञान का नियामक है ।। ५७६-५७७ ।। अतः तज्जातीय विज्ञान से ही तज्जातीय विज्ञान की उत्पत्ति होती है, देह से विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती ।

शंका—अनेक इन्द्रियों से ज्ञानों की उत्पत्ति मानी जाती है और उन ज्ञानों में से एक ज्ञान के द्वारा एक सजातीय ज्ञान की धारा (सन्तान) का प्रवाह प्रवाहित होता है ।

समाधान—उक्त प्रक्रियामात्र से कथित आक्षेपों का परिहार नहीं होता । अनासक्तस्वभावक विज्ञान विज्ञानान्तर की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक नहीं होता । विषयविशेष की आसक्ति अभ्यास के बिना नहीं होती । तज्जातीय ज्ञान का पूर्वाभ्यास होता है, उसके सदृश विज्ञान में आसक्ति होती है, अतः पूर्वाभ्यास के आधार पर ही विज्ञानान्तर का अनुदय होता है । जिस वादी के मत में परलोक नहीं, उसके मत में पूर्वाभ्यास (पूर्व जन्म में विहित अभ्यास) सम्भव नहीं होता. पूर्वाभ्यास के बिना विज्ञानान्तर का निवारण नहीं होता, अतः देह से पुनः-पुन उत्पन्न होनेवाले विज्ञानों का एक बृहत् पुञ्ज हो जाना चाहिए, वह दिखाई नहीं देता ।।५७८-५७९।। यदि शरीर का प्रथम क्षण ही ज्ञान का उत्पादक माना जाता है, तब उससे भिन्न देह के

वार्तिकालङ्कारः

अथ प्रथम एवास्य क्षणो देहस्य संविदः। जनकः परभूतस्य वैलक्षण्यादहेतुता ॥५८०॥

परभूतस्य हि कलशात्तद्विलक्षणस्या जनकता विज्ञानेषु। न हि जनकविलक्षणोऽपि जनकः। तदप्यसत्—

यदि प्रथमतो देहक्षणादेवोदयो विदाम्। अनाश्रयस्ततो देहः केवला स्याद्विदेव तु ॥ ५८१ ॥

नानुपकार्योपकारकभावे आश्रयाश्रयिभावः तथा सति केवलस्य विज्ञानस्य सम्भवः। अथ देहसहकारिविज्ञानं विज्ञानं जनयति। ततो न केवलावस्थानम्। तथा सति विज्ञानादेव विज्ञानं देहस्तु सहकारीत्यस्मत्पक्ष एव समर्थितः स्यात्। अथ देह उपादानकारणं प्रथमम्। यथा शालूकस्य गोमयपदार्थः। पश्चाच्छालूकादेव शालूकोदयः। एवं तर्हि गोमयमन्तरेणापि पश्चाच्छालूकादेव शालूकसम्भवस्तथा विज्ञानादेव विज्ञानमिति केवलावस्थानप्रसङ्गः।

अथ देहस्यापि कारणत्वमुपलभ्यते। सत्यम्। नोपादानकारणत्वेन किन्तु सहकारित्वेनेत्युक्तम्। अथ पूर्वमुपादानं पश्चात्सहकारी चेत्। नोपादानं पश्चात्सहकारि भवति।

यदि देह उपादानं सहकारी कथम्पुनः। दृष्टत्वादेवमेतच्चेन्न दर्शनमिहेष्यते ॥५८२॥

न च शालूकस्य तथाभूतस्य गोमयाच्छालूकाद्वा समुद्भवस्तयोर्महतो भेदस्य भावादिति प्रतिपादितम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्वितीयादि क्षणों में ज्ञान की अजनकता प्राप्त होती है ॥५८०॥ कलशादि से भिन्न पटादि में घट-ज्ञान की जनकता नहीं देखी जाती। यदि प्रथमतः देह क्षण से ही ज्ञानों का उदय माना जाता है, तब देह को ज्ञान का आश्रय नहीं मान सकते, ज्ञान अनाश्रितरूपेण स्वाधीन ही रहेगा ॥५८१॥ जिन पदार्थों में उपकार्योपकारकभाव नहीं होता, उनमें आश्रयाश्रयिभाव कभी हो ही नहीं सकता।

यदि देह-सहकृत विज्ञान को विज्ञान का उत्पादक माना जाता है, अतः विज्ञान में केवल (अनाश्रित) अवस्थान नहीं होता। तब तो हमारा (बौद्धों का) ही सिद्धान्त समर्थित हो जाता है कि विज्ञान ही विज्ञान का उत्पादक है और देह सहायकमात्र।

शंका—विज्ञान का प्रथम उपादान कारण देह वैसे ही होता है, जैसे शालूक (बिच्छू) का प्रथम उपादान गोमय (गोबर) होता है और पश्चात् शालूक से शालूकोत्पत्ति का कम चालू हो जाता है।

समाधान—जैसे गोमय के बिना भी शालूक से शालूकोत्पत्ति होती है, वैसे ही विज्ञान से विज्ञान की उत्पत्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं। हाँ, विज्ञान शरीर-निरपेक्ष केवल अवस्थान-प्रसंग न हो, अतः शरीर को भी कारण माना जाता है, वह भी शरीर को उपादानकारणत्वेन नहीं, अपितु सहकारित्वेन स्वीकृत किया जाता है। यदि कहा जाय कि देह को पहले उपादान और पश्चात् सहकारी मान लिया जाय। तो वैसा कहना उचित न होगा, क्योंकि उपादानकारण पश्चात् सहकारी कभी नहीं होता। यदि देह उपादान कारण है, तब सहकारी कारण कैसे होगा ? लोक में वैसा कोई दृष्टान्त नहीं देखा जाता ॥५८२॥ शालूक का जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ यह तथ्य नितान्त स्फुट है कि गोमय से समुद्भूत और शालूक-जन्य शालूक व्यक्तियों का महान् अन्तर देखा जाता है। उसका प्रतिपादन किया जा चुका है।

अनाश्रयान्निवृत्ते स्याच्छरीरे चेतसः स्थितिः ।
केवलस्य चेच्चित्तसन्तानस्थितिकारणम् ॥ ११६ ॥
तद्धेतुवृत्तिलाभाय नाङ्गतां यदि गच्छति ।
हेतुर्देहान्तरोत्पत्तौ पञ्चायतनमैहिकम् ॥ ११७ ॥

शरीर के निवृत्त हो जाने पर चित्त की निराधार स्थिति प्राप्त होगी—ऐसा तब कहा जा सकता है, जब कि चित्त-सन्तति का सहकारी कारण पूर्व कर्म और कर्मार्जित शरीर, पंचायन (चक्षुरादि पाँचों इन्द्रिय) सहायक न माने जाते हों। सहायक सामग्री के रहने पर विज्ञान की निराधार स्थिति प्रसक्त नहीं होती ॥११६-११७॥

वार्तिकालङ्कारः

पाटवादिन्द्रियज्ञानादुदितादीक्ष्यते क्वचित् । तदेव प्रथमं दृष्टं विज्ञानान्तरसाधनम् ॥ ५८३ ॥

तस्मान्न देहाद्विज्ञानम्। अथापि स्याद् । भवतोऽपि यदि न देह आश्रयो विज्ञानस्य तदा निवृत्तेऽपि देहे केवलस्य विज्ञानस्यावस्थानप्रसङ्गः । न हि निर्निबन्धनः सहावस्थाननियमः । अत्र परमाशङ्क्य परिहारः । तदेतत्—अनाश्रयान्निवृत्त इति ।

तदा केवलस्यावस्थानं भवेत्येवेति वाक्यशेषः। यदा तु—हेतुर्देहान्तरोत्पत्ताविति । तदा कुतः केवलस्यावस्थानमिति । तथा हि चित्तसन्तानस्य स्थितिकारणं तद्धेतुवृत्तिदेहहेतोः । कललादिसंज्ञितस्य वृत्तिर्देहोत्पादनं प्रत्याभिमुख्यं तस्य लाभः केवलस्य देहहेतोर्नास्ति । किन्तु चित्तसन्तानस्थितिकारणम् । पूर्वकं चित्तं कर्मसंज्ञितन्तस्य यदाङ्गता सहकारिकारणत्वम् । तस्य चाङ्गता देहसतृष्णतायां तन्नाङ्गतां यदि गच्छति । तदा केवलस्यावस्थानमिष्टमेव । देहान्तरोत्पत्तौ च पंचायतनमैहिकम् । तदेव संस्कारकत्वेनारूप्यधातुच्युतानां देहोत्पत्तौ कारणमिति । तस्याङ्गभाव उपलभ्यते मरणादूर्ध्वं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कहीं-कहीं पटु इन्द्रिय से जनित विज्ञान के द्वारा विज्ञानान्तर का समुत्पाद विस्पष्ट देखा जाता है ॥५८३॥ अतः देह से विज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती ।

शंका—यदि आप (बौद्धगण) भी देह को विज्ञान का आश्रय नहीं मानते, तब देह के न रहने पर विज्ञान का अवस्थान स्वतन्त्र (निराधार) होना चाहिए ।

समाधान - देह के निवृत्त हो जाने पर चित्त का अवस्थान रहता है, वही विज्ञान का आश्रय होगा । चित्त ही विज्ञान है, अतः केवल विज्ञान का अवस्थान अभीष्ट ही है । किन्तु जब भावी देहान्तर की उत्पत्ति का ऐहिक देह में संचित कर्मराशि विद्यमान है, तब विज्ञान निराधार क्यों रहेगा ? अर्थात् भावी जन्म में चित्त-सन्तान की स्थिति के कारणभूत शरीर की उपादान गर्भगत कलल, बुद्बुदादि अवस्थाएँ मानी जाती हैं। वे देहोत्पादन के उन्मुख होकर जिस देह का उत्पादन करती हैं, वही विज्ञान-सन्तान की स्थिति कारण हो जाता है । पूर्वतन चित्त (विज्ञान) जिसका नामान्तर कर्म है, सहकारी कारण माना जाता है । वह वस्तुतः देह की तृष्णा (आसक्ति या उपादान) का अङ्ग होती है । वह जब अंग नहीं बन पाता, तब केवल चित्त का अवस्थान माना ही जाता है । देहान्तर की उत्पत्ति में ऐहिक पञ्चायतन (चक्षुरादि पाँच इन्द्रियगण) कारण है । वही आरूप्य धातु (लोक) से प्रच्युत सत्त्वों की देहोत्पत्ति का कारण माना जाता है । देहान्तर की उत्पत्ति में ऐहिक पंचायतन कारण है । वही संस्कारक होने के कारण आरूप्य लोक से च्युत होनेवाले जीवों की देहोत्पत्ति का कारण माना जाता

तदङ्गभावहेतुत्वनिषेधेऽनुपलम्भनम् ।

अनिश्चयकरं प्रोक्तमिन्द्रियाद्यपि शेषवत् ॥ ११८ ॥

विज्ञान के कर्मरूप सहकारी कारण और पंचायतनरूप उपादान कारण का निषेध करने के वादिगण उनका अनुपलम्भन प्रस्तुत करते हैं, वह अनिश्चयकारक (अनैकान्तिक) है, क्योंकि अदृश्यविषयक है। एवं जो यह शेषवदनुमान किया जाता है—"शरीरान्त-सम्बन्धीन्द्रियादिप्रतिसन्धातृ न भवति इन्द्रियत्वात् ।" वह भी अनैकान्तिक है। एवं प्राणापानत्व ज्ञानत्वादि हेतु भी अनैकान्तिक माने जाते हैं ॥ ११८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

देहोत्पत्तेरदर्शनात् । आरूप्यधातोस्त्वत्यन्तादृष्टेः । अत्राह—तदङ्गभावहेतुत्वेति ।

यद्यपि नाम नोपलभ्यते पंचायतनस्यैहिकस्य जन्मान्तरदेहजननेऽङ्गभावस्तथापि चित्तसन्तानहेतोः कर्मसंज्ञितस्य नासाविति नानुपलब्धिमात्रकादेव तदभावनिश्चय इति अनिश्चयकरणमनुपलम्भनमिति प्रागेव प्रत्यपादीदमिति कैवात्र विमतिः ।

अथाप्युच्यते—नानुपलम्भनमात्रकमत्रोच्यतेऽपि तु व्याप्तिपूर्वकमनुमानम् । तद्यथा—यदिन्द्रियन्तदिन्द्रियान्तरं न प्रतिसन्धत्ते । तद्यथा देवदत्तचक्षुरादिकं न यज्ञदत्त-चक्षुरादिकम् । इन्द्रियं चेह जन्मशरीरसम्बद्धमिति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः ।

नैतदस्ति । शेषवत्त्वादस्य उच्यते एतद्यथार्थास्ति न हि शेषवतो गतिः । जन्मा-न्तरेन्द्रियाप्रतिसन्धानं हि केवलमदर्शनमात्रगम्यं न चादर्शनमात्रकाद्विपक्षव्यावृत्ति-निश्चयः । अथैहिकशरीरभावीन्द्रियप्रतिसन्धानोपलब्धेरपरत्रापि तत्प्रतिसन्धानमेवानु-मीयते । तत्रापि सिद्धसाध्यता तस्यापि तदैहिकत्वात् । पारावारवत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है। ऐहिक पंचायतन में देहोत्पत्ति की अंगता उपलब्ध भी होती है, क्योंकि मरने के पश्चात् पंचायतन न रहने के कारण देहोत्पत्ति नहीं देखी जाती। आरोप्य लोक में तो पञ्चायतन का अत्यन्ताभाव है। फलतः "शरीरान्तर-सम्बन्धीन्द्रियादिप्रतिसन्धातृ न भवति, इन्द्रियत्वात्"—यह शेषवत् अनुमान अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। अर्थात् यद्यपि जन्मान्तरीय देह की उत्पत्ति के लिए ऐहिक पञ्चायतन में अंगता उपलब्ध नहीं होती, तथापि कर्म में चित्त-सन्तान की हेतुता के अभाव का निश्चय उसकी अनुपलब्धि-मात्र से नहीं हो सकता, अतः अनुपलम्भनमात्र से उसके अभाव का निश्चय—यह पहले ही कहा जा चुका है फिर विवाद किस बात का ?

शंका—यहाँ केवल अनुपलम्भ ही प्रस्तुत नहीं किया जाता, अपितु व्याप्तिपूर्वक अनुमान का उपन्यास किया जाता है—"यद् इन्द्रियम् , तद् इन्द्रियान्तरं न प्रति-सन्धत्ते। यथा देवदत्तचक्षुरादिकं न यज्ञदत्तचक्षुरादिकम् , इन्द्रियं चेह अन्यशरीरसम्ब-द्धम् ।" अर्थात् पूर्व जन्म में इन्द्रियों का जिस शरीर से सम्बन्ध था, इस जन्म में उसी शरीर से सम्बन्ध न होकर अन्य शरीर के साथ सम्बन्ध है, अतः इन्द्रियाँ अपनी पूर्वतन अनुभूतियों का प्रतिसन्धान (स्मरण) नहीं कर सकतीं।

समाधान—शेषवत् अनुमान के बल पर ही यह कहा जाता है, किन्तु शेषवत् अनुमान से यथार्थविगति नहीं होती, क्योंकि जन्मान्तर में ऐन्द्रियक प्रतिसन्धान का अभाव केवल अदर्शनमात्र से अवगमित होता है, अदर्शनमात्र से विपक्ष-व्यावृत्ति का निश्चय नहीं होता। यदि ऐहिक शरीर भावी इन्द्रिय के द्वारा प्रतिसन्धान देखकर

दृष्टा च शक्तिः पूर्वेषामिन्द्रियाणां स्वजातिषु ।
विकारदर्शनात् सिद्धमपरापरजन्म च ॥ ११९ ॥

उक्त अनुमान केवल अनैकान्तिक ही नहीं, विरुद्ध भी है, क्योंकि पूर्वतन इन्द्रियों में स्वसमानजातीय इन्द्रियों का ही प्रतिसन्धान देखा जाता है, जैसे कि जिसकी रसना ने नींबू का रस चख लिया है, उसके सामने नींबू आते ही रसना में विकार (पानी) आ जाता है। फलतः सजातीय इन्द्रियों में ही प्रतिसन्धातृत्व होता है, समस्त इन्द्रियों में नहीं। इससे पूर्व-पूर्व जन्मों की सिद्धि हो जाती है ॥ ११९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथ शुक्रशोणितान्तरभवेन्द्रियमिति विशेष्यते। तदप्यसत्। अत्रापि न विपक्षाभावोऽनुपलम्भमात्रकमन्तरेण गम्यते। न च शुक्रशोणितान्तरत्वेन विशेषणं देशविशेषणवत्परित्राणम्। घटशब्दविशेषणवच्च। तथा हि—दृष्टा च शक्तिरिति।

न हि व्यक्तिविशेषणात्पक्ष एव प्रतिबन्धः प्रतीयतेऽन्यथा न केनचित् क्वचिद् व्यवहर्तव्यम्। शक्तिनिश्चयपूर्वकत्वाद् व्यवहारस्य। सामान्यविषयश्च व्यवहारस्तो न व्यक्तिपरता सम्बन्धस्य। तथा च चापल्यादिसमन्वयिनश्चक्षुरादेरभ्यासभावनातस्तथाभूतोत्पत्तौ तथाभूतदर्शनादपरत्र तथाभूतमेवानुमीयते। न च जन्मादौ तथाभूतमिन्द्रियं कारणमुपलभ्यते। ततो जन्मान्तरेन्द्रियजमिति नैहिकत्वमन्यद्वा विशेषणं युक्तम्। अथैकमेव तदिन्द्रियं ततो नोत्तरेन्द्रियस्य पूर्वेण जननसिद्धिः। यद्यप्येवन्तथापि—

अभ्यासपूर्वकत्वस्य चापलादिषु दर्शनात्। तथाभूतानुमानस्य सिद्धत्वादपरं वृथा ।।५८४।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जन्मान्तर में भी प्रतिसन्धान का अनुमान कर लिया जाता है, तब सिद्ध-साध्यता की प्रसक्ति होती है, क्योंकि एक ही शरीर के पूर्वापरकालिक इन्द्रिय वैसे ही हैं, जैसे एक ही नदी के दो (पार और अवार) तट। यदि एक शरीर-सम्बन्धी इन्द्रियों की व्यावृत्ति के लिए भिन्न शुक्र और शोणित से जनित इन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है, तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि वहाँ भी विपक्ष का अभाव अनुपलम्भमात्र से निश्चित नहीं हो सकता। शुक्रशोणितान्तर-जन्यत्व विशेषण दे देने मात्र से वैसे ही त्राण (दोषोद्धार) नहीं हो सकता, जैसे देशविशेषावस्थित्व विशेषण से दोषोद्धार नहीं होता। पूर्वतन घटविषयक अनुभूति से उत्तरत्र घटविषयक स्मरण नहीं होता—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि किसी व्यक्ति को विशेषण बना देने पर पक्ष में ही व्याप्ति का निश्चय नहीं हो जाता, दृष्टान्त या सपक्ष परम आवश्यक है। अन्यथा शब्दादि-व्यवहार प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दों का शक्ति-ग्रह व्यवहार का कारण है। सामान्यविषयक व्यवहार से शब्दों में व्यक्तिपरता का निश्चय नहीं हो सकता। फलतः चक्षुरादि इन्द्रियों में चपलता (हाव-भाव-कटाक्षादि) अभ्यास-साध्य हैं। वह अभ्यास यदि इस जन्म में नहीं हुआ, तब जन्मान्तरीय अभ्यास का अनुमान किया जाता है। जन्म के आरम्भ में चापलादि-विशिष्ट चक्षु उपलब्ध नहीं होता, अतः चापलादि-युक्त पूर्वतन चक्षुरादि से उत्तरत्र वैसी ही इन्द्रिय की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

यदि पूर्वजन्म की इन्द्रियाँ ही इस जन्म में मानी जाती हैं, तब यद्यपि उनमें जन्यजनकभाव सिद्ध नहीं होता। तथापि इन्द्रियगत चापलादि में अभ्यासपूर्वकत्व देखकर जन्मादिकालिक इन्द्रियों में अभ्यासपूर्वक चापलादि सिद्ध हो जाता है। तद्वत्

शरीराद् यदि तज्जन्मप्रसङ्गः पूर्ववद्भवेत् ।
चित्ताच्चेत् तत एवास्तु जन्म देहान्तरस्य च ॥ १२० ॥

यदि शरीर से ही इन्द्रियादि का जन्म माना जाता है, तब पूर्ववत् प्रसङ्ग उपस्थित होता है, (अर्थात् "हेतुत्वे समस्तानाम्" (प्र० वा० पृ० ४२) इस पद्य में कथित युगपत् अनेक देहादिरूप कार्योत्पत्ति प्रसक्त होती है ॥ १२० ॥

वार्तिकालङ्कारः

एकत्वानेकत्वादि की अवधारणा व्यर्थ है ॥५८४॥

एकन्तन्नेति नेदमुपयोगि सर्वथा तज्जातीयकार्यदर्शनात्कारणं तथाभूतमित्यनुमानम् । दृश्यन्ते चाभ्यासिका गुणाः स्वप्नशरीरान्तर इति प्रतिपादितम् ।

किञ्च विकारस्यापरापरस्य दर्शनादपरापरजन्यसिद्धमेवात इति । इन्द्रियान्तरमिन्द्रियान्तरं जनयति मध्यावस्थायामिति कथं न जन्मान्तरेन्द्रियजननं स्वभावभूतविकारे हि भेद एव नैकता पृथिव्यादिवत् ।

अथापि स्यादेकसन्तानप्रज्ञप्तिरेवात्रेति नात्यन्तं भेदः । जन्मान्तरेऽपि समानमेतत् । जन्मान्तरमपि सुप्तप्रबुद्धवदेकसन्तानान्तर्गतमेव स्मृतिव्यवधानेन तु दूरमिव तत्प्रतीयते ।

अथापि स्यान्नेन्द्रियादेवोत्पत्तिरिन्द्रियाणामपि तु प्रथमं शरीरादुत्पत्तिः परत इन्द्रियादेव शक्तिनियमात् । अत्रोच्यते—शरीराद्यदीति ।

यदि देहात्प्रथमोत्पत्तिस्तदा सेन्द्रियादनिन्द्रियाद्वा । सेन्द्रियादुत्पत्तावि न्द्रियादेवोत्पत्तिरिति प्रथमस्यापीन्द्रियादुत्पत्तौ परलोकप्रसिद्धिः । अनिन्द्रियादुत्पत्तौ केशनखाग्रा-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दोनों जन्मों की इन्द्रियों में एकत्व नहीं—ऐसा सिद्ध करना कोई प्रकृतोपयोगी भी नहीं, क्योंकि यहाँ इन्द्रियगत चापलत्वादिजातीय कार्य के दर्शन से उसके कारण का अनुमानमात्र किया जाता है। स्वप्नावस्था में अभ्यास-साध्य गुणों का चमत्कार प्रतिदिन देखा जाता है—यह पहले कहा जा चुका है।

दूसरी बात यह भी है कि नींबू देखते ही रसास्वादी व्यक्ति के मुँह में पानी आता देखकर पूर्व-पूर्व जन्म सिद्ध होता है, अतः पूर्व-पूर्व इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर इन्द्रियों को जन्म देती हैं। फलतः पृथिव्यादि के समान ही इन्द्रियों मे भी अनेकता और कार्य-कारण-परम्परा सिद्ध होती है।

यदि पूर्वोत्तर इन्द्रियों की एकसन्तान-प्रज्ञप्ति मानी जाती है, तब भी अनेकव्यक्तिता से कोई विशेष भेद नहीं सिद्ध होता। पूर्वोत्तर जन्मों में सुप्त-प्रबुद्ध-न्याय का पूर्ण साम्राज्य परिलक्षित होता है। हाँ, अनन्त स्मृतियों का व्यवधान पूर्वोत्तर जन्मों की दूरी अवश्य बढ़ा देता है।

शंका—इन्द्रिय से ही इन्द्रियान्तर की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु पहले-पहल शरीर से इन्द्रियों की उत्पत्ति और पश्चात् इन्द्रिय में ही इन्द्रियान्तर की उत्पत्ति-शक्ति नियन्त्रित क्यों न मानी जाय ?

समाधान—यदि इंद्रियों की प्रथम उत्पत्ति मानी जाती है, तब प्रश्न उठता है कि सेन्द्रिय शरीर से या अनिन्द्रिय शरीर से ? सेन्द्रिय शरीर को कारण मानने पर इन्द्रिय को भी इन्द्रियान्तर का कारण मानना होगा, फलतः परलोक (पूर्वजन्म) की सिद्धि हो

तस्मान्न हेतुवैकल्यात् सर्वेषामन्त्यचेतसाम् ।
असन्धिर्दृष्टी तेन शेषवत् साधनं मतम् ॥ १२१ ॥

पूर्व चित्त ही उत्तर चित्त का एवं वही तृष्णा कर्म से सहकृत होकर पंचायतन का हेतु है, अतः सभी अन्त्य चित्तों की असन्धि (अप्रतिसन्धि नहीं) होती है, फलतः अन्त्यचित्तत्वादि रूप शेषवदनुमान अनैकान्तिक सिद्ध होता है ॥ १२१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

देमूं तदेहाच्चोत्पत्तिः । अनेकत्वे चानेकेन्द्रियोत्पत्तिप्रसङ्गः । तथा चापरिमाणताप्रसङ्गः । तथा समर्थस्य देहस्य विरतिः कुतः । अथ देहपरिणतिविशेष एवेन्द्रियाणि तदापि स एवाविनाशप्रसङ्गः स्यादक्षाणां देहसम्भव इत्यादिकः प्रसङ्गः । अथ चित्ताभावान्मृतः शरीरे नेन्द्रियसम्भवः । यदि तर्हि चित्तादुत्पत्तिः । तत एव चित्ताज्जन्म देहान्तरस्य चित्तस्य च जन्मान्तरभाविनः । किं पूर्वेन्द्रियकारणत्वपरिकल्पनानिर्बन्धेन । ततो न शरीरं विज्ञानस्य हेतुरतो न हेतोः शरीरस्य वैकल्याज्जन्मान्तरासम्भवादप्रतिसन्धिरित्याह –तस्मान्न हेत्विति ।

इत्युपसंहारः । हेतुर्हि जन्मान्तरासङ्गतस्य सतृष्णकर्माभिसंस्कृतं चित्तम् । तस्य च न वैकल्यम् । यदि तु शरीरं हेतुः स्यात्ततस्तद्वैकल्यतो हेतुवैकल्यादसन्धिः । न चैवं । ततो न हेतुवैकल्यमिति नासिद्धो हेतुः । मरणचित्तत्वादित्येव परिशिष्यते । तच्च शेषवत् । अदर्शनमात्रकेण व्यतिरेकोपदर्शनात् । यदप्युक्तम्—इहलोकचित्तं चित्तान्तरं न प्रतिसन्धत्ते । भिन्नदेहवृत्तित्वाद्देवदत्तचित्तवत् । तदप्ययुक्तम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाती है । अनिन्द्रिय (इन्द्रिय-रहित) शरीर से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानने पर केश-नखाग्रादि एवं मृत देह से इन्द्रियों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? केशादि अनेक हैं, अतः उनसे अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति भी प्रसक्त होती है, फिर तो इन्द्रियों की अपरिमित संख्या हो जायगी । एवं देह का सामर्थ्य इन्द्रिय-माला की उत्पत्ति से विरत क्योंकर होगा ? यदि देह का परिणाम-विशेष ही इन्द्रियाँ हैं, तब इन्द्रियों का पूर्वचर्चित अनाश-प्रसङ्ग उपस्थित होता है । यदि चित्ताभाव के कारण मृत शरीर से इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, तब चित्त से इन्द्रियों की उत्पत्ति माननी होगी । अतएव जन्मान्तरवादियों का कहना है कि चित्त से ही उत्तर चित्त और शरीर का जन्म होता है । अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति में पूर्व इन्द्रियों से मानने की क्या आवश्यकता ? निष्कर्ष यह कि शरीर विज्ञान (चित्त) का हेतु नहीं, अतः शरीर का अभाव होने से न तो जन्मान्तर का अभाव होता है, न पूर्व संस्कार-स्मरणादि का अभाव और न प्रतिसन्धि (गर्भावक्रान्ति) की अनुपपत्ति ।

यह एक तथ्य है कि जन्मान्तर का हेतु तृष्णा और कर्म से संस्कृत चित्त । शरीर के अभाव से उसका अभाव नहीं होता । यदि शरीर जन्मान्तर का हेतु होता, तब उसका अभाव होने से प्रतिसन्धि (गर्भावक्रान्ति) नहीं हो सकती थी किन्तु ऐसा नहीं, अतः हेतु का वैकल्य या असिद्धि नहीं । चित्तरूप हेतु से ही चित्त-सन्तति प्रवाहित हो जाती है । उसके अभाव में चित्तोत्पाद का व्यतिरेक देखा जाता है ।

यह जो कहा गया कि इहलोक का चित्त भिन्न देह में अवस्थित है, अतः भिन्न देह में स्थित पूर्वजन्म के अन्तिम चित्तक्षण से प्रतिसंहित क्योंकर होगा ?

वार्तिकालङ्कारः

वृत्तेः पूर्वनिषेधोक्तेराश्रयस्य निषेधतः । आलम्बनत्वे विज्ञानं क्षणादालम्बते परम् ॥५८५॥

यदि तत्र वर्तमानमन्यवृत्तिनो विज्ञानस्य न जनकमिति प्रमाणार्थस्तदाश्रयाश्रयिभावो निषिद्धोऽदेशस्थश्च विज्ञानम् । न चालम्ब्यमानो देह आश्रयो विज्ञानस्यान्तरस्पर्शविशेषत्वेन सुखादिविज्ञानालम्ब्यत्वात् । आलम्बनश्च स्वशरीरम् । परशरीरालम्बनविज्ञानं जनयतीति तेनानेकान्तः । न च देहान्तरत्वमेकसन्तानप्रज्ञप्तितः । भेदस्तु परमार्थत एकजन्मशरीरस्यापि बालाद्यवस्थाविशेषतः । तस्मात्सन्तानस्योपकारो मनसो देहादुत्पत्तिस्तु चित्तादेव व्रीहिसन्तानवदिति । ततो नादिनिधने चित्तसन्ताने सन्ति जन्ममरणप्रबन्धसिद्धेरभ्यासप्रसिद्धिरित्याभ्यासिका गुणाः सर्व एवावकाशमासादयन्तीति सर्वज्ञतान्यो वा गुणः सम्भवति ।

(२७) करुणाभ्यासः—

ननु भवत्वभ्यासः स तु कथमत्यन्तप्रकर्षनिष्ठः । किञ्चिन्मात्रस्य विशेषस्य दर्शनात् । लंघनवदुदकतापवच्च । अत्रोत्तरम्—अभ्यासेनेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वह कहना भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि [यद्यपि देवदत्त के शरीर में विद्यमान चित्त के प्रतिसन्धान यज्ञदत्त-शरीरस्थ चित्त से सम्भव नहीं, तथापि एक ही शरीर-सन्तति की बाल्यादि अवस्थाओं के चित्तक्षणों का प्रतिसन्धान उसी सन्तति के विभिन्न देह-सन्तति के भिन्न देहक्षणों में अवस्थित चित्तक्षणों से होता है अर्थात् पूर्वजन्म के अन्तिम देह से अतिवाहिक देह और उससे इस जन्म के शरीर से सन्तानैकता बनी रहती है, फलतः पूर्वोत्तर चित्तक्षणों की अबाधित सन्तति प्रवाहित रहती है] । पहले यह कहा जा चुका है कि विज्ञान या चित्त के आश्रयीभूत शरीर के न रहने पर चित्त अनाश्रित रहता है और देहान्तररूप आलम्बन के सुलभ होते ही चित्त-सन्तति उसको अपना आश्रय बना लेती है ॥ ५८५ ॥

यदि पूर्वजन्म का विज्ञानक्षण अन्य शरीर में स्थित होने के कारण इस जन्म के चित्तक्षण का जनक नहीं, तब विज्ञान और शरीर का आश्रयाश्रयिभाव निषिद्ध हो जाता है और विज्ञान या चित्त को अदेशस्थ (अनाश्रित या स्वतन्त्र) मानना होगा। अथवा आन्तर स्पर्शादि विशेषरूपेण सुखादि विज्ञान के द्वारा आलम्बनीय है। आलम्बन स्वकीय शरीर है। वह परकीय शरीरालम्बनक विज्ञान को जन्म देता है, अतः "परशरीरस्थं चित्तं परशरीरस्थं चित्तं न जनयति, अन्यशरीरस्थात्"—इस अनुमान का हेतु अनैकान्तिक है। एकसन्तान दो देहों का भेद नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एक जन्म के बाल्य और स्थविर शरीरों का भी भेद होता है। फलतः एक सन्तान तो केवल उपकारक होता है, मन (चित्त) की उत्पत्ति वैसे ही चित्त से ही होती है, जैसे व्रीहि से व्रीहि-सन्तान। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि चित्त-सन्तान अनादि और अनन्त है। जीवों के जन्म-मरण का प्रवाह अविरल है। अभ्यास (पुनः पुनः किसी गुण या क्रिया के अवलम्बन) से करुणादि का चरम प्रकर्ष एवं सर्वज्ञतादि की प्राप्ति सम्भव है।

(२७) करुणाभ्यास—

प्रश्न—मान लेते हैं कि अभ्यास सम्भव है किन्तु उसकी प्रकर्ष-गति क्योंकर होगी जब कि अभ्यास से केवल एक सीमित विशेषता ही आती है ।

अभ्यासेन विशेषोऽपि लङ्घनोदकतापवत् ।
स्वभावातिक्रमो मा भूदिति चेदाहितः स चेत् ॥ १२२ ॥
पुनर्यत्नमपेक्षेत यदि स्याच्चास्थिताश्रयः ।
विशेषो नैव वर्धेत स्वभावश्च न तादृशः ॥ १२३ ॥

अतः चित्त सन्तान की देह से उत्पत्ति न होने के कारण देह की निवृत्ति हो जाने पर भी जन्म-परम्परा सम्भव है, फलतः विगत २१ वीं कारिका में कथित करुणाभ्यास समर्थित हो जाता है किन्तु कोई व्यक्ति लङ्घन (लांघने या कूदने) का अभ्यास करता है, तब पहले से कुछ विशेषता तो अवश्य आती है किन्तु इतनी नहीं कि एक-दो योजन लांघ जाय। उदक (पानी) को खूब गरम करते हैं किन्तु इतना गरम नहीं होता कि आग बन जाय। वैसे ही करुणा का अभ्यास करने पर वह अपनी सीमा को पार कर मृतक को जीवित कर दे।

अभ्यास से यदि कुछ विशेषता आ भी गई तो वह तुरन्त वैसे ही दूर हो जाती है, जैसे जल की गरमी। उसका पुनरुद्भव करने के लिए पूर्ववत् प्रयत्न करना पड़ता है। वह विशेषता स्वरसवाही (स्वाभाविक) कभी नहीं बनती। उदक बार-बार उबालने पर क्षीण भी हो जाता है। आगन्तुक विशेषता कभी बढ़ती नहीं। वह विशेषता

वार्तिकालङ्कारः

कुत एतदिति चेदाह—तत्रोपयुक्तशक्तीनामिति ।

न खलु विशेष इत्येव व्यवस्थितोत्कर्षभागी न हि लंघनोदकतापविशेषः। स्वसत्तामात्रभावेनैव तथापि तु पुनर्यत्नापेक्षणादाहितस्यापि लंघनस्य न हि लंघनम्। पूर्वप्रयत्नलभ्यं पुनः प्रयत्नान्तरनिरपेक्षमपि तु प्रायश एव पुनर्यत्नमपेक्षते। उदकतापस्त्वस्थिराश्रयः। पुनर्यत्नापेक्षी च। न ह्यसौ सङ्गताग्निसम्पर्कोऽप्यास्ते। यतोऽव्यवस्थितोत्कर्षता। ततो व्यवस्थितोत्कर्षता पुनर्यत्नापेक्षणेनास्थिराश्रयत्वेन च व्याप्ता तदभावाद्विपर्ययसद्भावाच्च कृपादीनां मनोगुणानां न व्यवस्थितोत्कर्षता। यश्च पुनर्यत्नापेक्षी स स्वभाव एव न भवति। अयन्तु सविशेषणो हेतुर्यः स्थिराश्रयः स्वभावश्च। न स व्यवस्थितोत्कर्षस्तद्यथा—श्रोत्रिय-कापालिकघृणा। यस्तु पुनर्यत्नापेक्षी तस्य—विशेष-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उत्तर—उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि लङ्घन (लम्बी कूद) के अभ्यास से कुछ विशेषता अवश्य आती है किन्तु इतनी नहीं कि दो-चार योजन लाँघ जाय। जल को तपाने पर उसमें ताप अवश्य आता है किन्तु इतना नहीं कि जल अग्नि बन जाय। कुछ ही देर में जल शीतल हो जाता है और उसे गरम करने का पुनः प्रयत्न करना पड़ता है। एक बार जो प्रयत्न प्रयुक्त होता है, दुबारा वह काम नहीं करता, क्योंकि प्रथम बार में ही उसकी शक्ति क्षीण हो चुकी होती है। व्यवस्थित (सीमित) उत्कर्षता ही पुनर्यत्नापेक्षित्व और अस्थिराश्रयता से व्याप्त होती है—यह कहा जा चुका है। जो गुण या धर्म पुनः-पुनः यत्नापेक्षी होता है, वह वस्तु का स्वभाव नहीं बन सकता।

तथापि करुणादि मानस गुणों में व्यवस्थित उत्कर्षता नहीं, क्योंकि उसमें एक बार चरमोत्कर्षता आ जाने पर पुनः यत्न की अपेक्षा नहीं रहती, वह योगी या बोधिसत्त्व का स्वभाव ही बन जाता है, जैसे श्रोत्रिय (वैदिक) और कापालिकों से घृणा।

कभी वस्तु का स्वभाव नहीं बन सकती ॥ १२२-१२३ ॥

तत्रोपयुक्तशक्तीनां विशेषानुत्तरान् प्रति ।
साधनानामसामर्थ्यान्नित्यं चानाश्रयस्थितेः ॥ १२४ ॥
विशेषस्यास्वभावत्वाद् वृद्धावप्याहितो यदा ।
नापेक्षेत पुनर्यत्नं यत्नोऽन्यः स्याद् विशेषकृत् ॥ १२५ ॥

पूर्वोपार्जित विशेषता के अर्जन में जिन प्रयत्नादि साधनों की शक्ति क्षीण हो चुकी है, उनका सामर्थ्य उत्तरभावी विशेषता के उत्पादन में रहता भी नहीं। उस विशेषता का आश्रय सदैव वैसा नहीं रहता। विशेषता की वृद्धि हो जाने पर भी व्यवस्थित ही उत्कर्ष रहेगा, क्योंकि पुनर्यत्नापेक्षित्व और अस्थिराश्रयत्व के द्वारा व्यवस्थिताश्रयता व्याप्त होती है। जब आहित विशेषता पुनः यत्न की अपेक्षा न कर स्वरसवाही हो जाती है, तब क्रियमाण अन्य यत्न उत्तरोत्तर विशेषाधायक होता है ॥ १२४-१२५ ॥

काष्ठपारदहेमादेरग्न्यादेरिव चेतसः ।
अभ्यासजाः प्रवर्तन्ते स्वरसेन कृपादयः ॥ १२६ ॥

जैसे अग्नि के योग से काष्ठ अङ्गार के रूप में परिणत हो जाता है, पारद (पारा) भस्म के रूप में परिणत होकर ताँबे को सुवर्ण बना देता है और मैला सोना पिघलकर दमकने लग जाता है, वैसे ही अभ्यास से चित्त करुणा-पारमिता का आधार बन जाता है और करुणा स्वरसवाहिनी हो जाती है ॥ १२६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्यास्वभावत्वादिति।

यः खलु पुनर्यत्नसापेक्षः स यद्यप्यतिवृद्धिमाप्नोति। तथापि तस्य न स्वभावता। न हि हेतुसन्निधानतापेक्षो स्वभावो युक्तः। स्वरसवाहिनस्तथा व्यपदेशात् ततो वृद्धावपि तस्य नात्यन्तं वृद्धिः। लंघनोदकतापवत्। न चैवं मनोगुणाः कृपादयोऽन्ये च बाह्यगुणाः केचनेत्याह—काष्ठपारदहेमादेरिति।

काष्ठस्य हि वह्न्याहितो विशेषोदरदाहादिलक्षणः स पुनर्यत्नापेक्षणात्स्वरसवाही पारदेऽपि चारणजारणादिलक्षणः। हेम्नि च पुटपाकादिकृतः। तद्वदेव चेतसि कृपादयः पुनः पुनस्तदनुवर्तनाहितविशेषादव्यावृत्तिभाजस्तदा कृपादिविशेष आहितो यदा नापेक्षेत यत्नं पुनस्ततोऽन्यः पूर्वत्रानुपयुक्तशक्तिरुत्तरोत्तरविशेषकृदेवेति परप्रकर्षनिष्ठा।

ननु लंघनमपि यत्नसापेक्षं कृपादयोऽपि तत एकः स्वरसंवाही अपरो नेति कुतः ?

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जैसे अग्नि के सम्बन्ध से काष्ठ में स्वाभाविक दाह, पारद में चारण-जारणादि क्रिया से ताम्रादि के सुवर्णीकरण का सामर्थ्य एवं सुवर्णपिण्ड में पुटपाक (सुवर्ण चूर्ण को ही मिट्टी के प्यालों में रख कपड़मिट्टी करके अग्नि देने से एक ऐसी भस्म बनती है, जो मृतक को कुछ समय के लिए जीवित कर देती है। वैसे ही अभ्यास के द्वारा करुणादि मानस गुणों में समुद्भूत उत्कर्ष साधक का स्वभाव बन जाता है। पुनः प्रयत्नान्तर की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न—लङ्घन (लांघना या कूदना) भी यत्नसापेक्ष है और करुणादि भी, किन्तु-

तस्मात् स तेषामुत्पन्नः स्वभावो जायते गुणः।
तदुत्तरोत्तरो यत्नो विशेषस्य विधायकः[1]॥ १२७॥

स्वरसवाही होने के कारण अभ्यासशील व्यक्तियों में उत्पन्न करुणादि गुण उनके चित्त का स्वभाव हो जाता है। उसके पश्चात् उत्तरोत्तर क्रियमाण प्रयत्नाभ्यास करुणादि में उत्कर्ष का आधायक होता है॥ १२७॥

यस्माच्च तुल्यजातीयपूर्वबीजप्रवृद्धयः।
कृपादिबुद्धयस्तासां सत्यभ्यासे कुतः स्थितिः॥ १२८॥

वासना-गर्भित पूर्वतन तुल्यजातीय रूप कारण (समनन्तरप्रत्यय) से कृपादि बुद्धियों की प्रवृद्धि (उत्कर्षता) होती है, अतः ऐसी करुणादि बुद्धियों की स्थिति (व्यवस्थितोत्कर्षता) क्यों होगी ?॥ १२८॥

न चैवं लंघनादेव लंघनं बलयत्नयोः।
तद्धेत्वोः स्थितशक्तित्वाल्लङ्घनस्य स्थितात्मता॥ १२९॥

वार्तिकालङ्कारः

उक्तमत्र—न स्वरसंवाही पुनर्यत्ननिरपेक्ष उदकतापादिः कृपादयस्तु काष्ठ इवाग्निकृता विशेषाः स्वरसंवाहिनः। तस्मात्स तेषामुत्पन्नः इति।

व्यवस्थितोत्कर्षता पूर्वसजातीयकृपादिबुद्धिप्रभवा एव कृपादयो न विषयादि-सन्निधानादिसापेक्षाः। तथा हि—

स्मरणश्रवणेनापि कृपादीनां प्रवर्तनम्। न च प्रत्युपकारादिसव्यपेक्षाः कृपादयः॥५८६॥

तत्क्षेत्रीकृतसन्तानानां प्रत्यग्रसततापकारप्रवर्तमानेष्वपि न कृपादयः शिथिलतां भजन्ते। ततस्तेषामभ्याससमागममहोत्सवसमये कुतो विकाशेतरता मन्दता।

अथापि स्याल्लङ्घनस्यापि सोऽभ्यासः समस्त्येवाभिवृद्धेरनवधिकाया हेतुः। अतस्तस्यापि स धर्मप्राप्तो न चैवमतो विपर्यय इत्याह—न चैवं लंघनादेवेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उनमें एक (करुणादि) स्वरसवाही (स्वाभाविक) और दूसरा (लङ्घनादि) वैसा नहीं—ऐसा क्यों ?

उत्तर—उक्त प्रश्न का उचित उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि उदक-तापादि (जलगत उष्णतादि) न तो स्वाभाविक है और न पुनर्यत्न-निरपेक्ष किन्तु करुणादि गुण वैसे ही स्वरसवाही होते हैं, जैसे अग्नि के योग से काष्ठ, पारद और सुवर्ण में उत्पन्न दाह, सुवर्णकिरण-सामर्थ्य और पुनरुज्जीवनादि गुण स्वरसवाही हो जाते हैं। किसी गुण का समुत्कर्ष अपने करुणादि ज्ञानरूप समनन्तर प्रत्यय से उत्पन्न होता है। उसे अपने दुःखी आदि रूप विषय के सन्निधान की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि उसके स्मरण या श्रवणादि से भी करुणा प्रवृत्त हो जाती है और करुणादि को प्रत्युपकारादि की भी अपेक्षा नहीं होती॥ ५८६॥ कृपापात्रों का सतत अपकार करने पर भी कृपादि गुणों में शिथिलता कभी नहीं आती, तब उसके अभ्यासकाल में उत्तरोत्तर विकास को छोड़ कर मन्दता क्यों आयेगी ?

लाँघने-कूदने की अभ्यास-प्रक्रिया में ऐसा कभी नहीं होता कि पूर्व-पूर्व कुदान से ही उत्तरोत्तर कुदान-प्रकर्ष उत्पन्न होता जाय, प्रत्युत उत्तरोत्तर कुदानों में अधिकाधिक

जैसे कृपादि से कृपादि की उत्पत्ति होती है, वैसे लङ्घनमात्र से लङ्घन की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उनके हेतुभूत बल और यत्न से लंघन की उत्पत्ति होती है, अतः उन हेतुओं से नियन्त्रित होने के कारण लंघन में स्थितात्मता (व्यवस्थितोत्कर्षता) ही रहती है ॥ १२९ ॥

तस्यादौ देहवैगुण्यात् पश्चाद्दविलंघनम् ।
शनैर्यत्नेन वैगुण्ये निरस्ते स्वबले स्थितिः ॥ १३० ॥

उस (लङ्घयिता) के अभ्यास से पूर्व देह-वैगुण्य (श्लेष्मादि-कृत गुरुता) के कारण अविलङ्घन होता है। पश्चात् शनैः-शनैः व्यायामादि से वैगुण्य की निवृत्ति हो जाने पर शरीर की अपनी पूर्वावस्था में स्थिति हो जाती है ॥ १३० ॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि कृपादेरेव समानजातीयात्कृपादिवल्लंघनादेव लंघनमपि तु बलयत्नाभ्यां स्वाभ्यस्तलंघनोऽपि बलव्यपगमे यत्नस्य च न लंघयितुं समर्थः। बलस्य च व्यवस्थितात्मता स्वहेतुसामर्थ्यात्प्रयत्नस्य च। ततो लंघनमपि स्थितात्मैव नान्यथा।

अथापि स्याद्। अभ्यासादेव लंघनविषयाल्लंघनम्। अन्यथा बलस्य प्रागपि भावाल्लघनप्रसङ्गः। अथ बलमेव प्राग् नासीदभ्यासेनैव तस्य निर्वृत्तेः। तथा सति समानजातीयलंघनजत्वेऽपि लंघनमनवधिकं नेति कृपादीनामपि स एव प्रसङ्गः। अत्रोच्यते—तस्यादौ देहवैगुण्यादिति।

नाभ्यासाद्बलमपि तु सदेव बलमुपहतं श्लेष्मादिभिरसमर्थं लंघने। ततो लंघनाभ्यासादनयोर्वैगुण्यस्य। तत आहारादेस्तदेव पूर्वकं बलं स्वयमस्यास्ते। तेन पश्चाल्लंघनं न प्राक्। अथ रसायनोपयोगाद्बलम्। तदपि रसायनशक्तिनियमाद् व्यवस्थितम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रयत्न की आवश्यकता होती है। वार्तिककार ने यही कहा है–न चैत्रमित्यादि। अर्थात् करुणादि में जैसे समानजातीय पूर्वतन करुणादि से जैसे उत्तरोत्तर उत्कर्ष आता जाता है, वैसा लाँघने की क्रिया में नहीं, अपितु उत्तरोत्तर प्रयत्न और पौरुष की आवश्यकता होती है। बल और प्रयत्न में स्वकीय हेतु-प्रत्यय सामग्री से उत्कर्ष आता है। फलतः लंघनादि प्रक्रिया में अभ्यास के द्वारा व्यवस्थित (सीमित) उत्कर्ष ही आता है, करुणादि के समान अपार और अद्भुत सामर्थ्य नहीं।

शंका—अभ्यास लङ्घनविषयक से ही लङ्घन की उत्पत्ति माननी होगी, अन्यथा शरीर में बल तो पहले था, उससे लङ्घन क्यों नहीं हो गया? यदि कहा जाय बल पहले था ही नहीं, अभ्यास से उसकी उत्पत्ति हुई। तब तो समानजातीय लङ्घन से जन्य होने के कारण अपनी सीमित कक्षा को पार नहीं कर सकता, फलतः अभ्यास के द्वारा करुणादि में कुछ ही विशेषता हो सकती है, अपार नहीं—ऐसा पूर्व प्रसङ्ग ही उपस्थित होता है।

सामधान—अभ्यास से बल उत्पन्न नहीं होता अपितु पहले भी बल था किन्तु वह श्लेष्मादि से उपहत होने के कारण लङ्घन-समर्थ नहीं था, अतएव लंघनाभ्यास से सफलता नहीं मिली, समुचित अहारादि-लेने पर खोया हुआ पूर्व बल स्वयं प्राप्त हो गया। यही कारण है कि पश्चात् लाँघने में सफलता पहले नहीं। रसायनादि सेवन के द्वारा जो बल प्राप्त किया जाता है, वह भी रसायन की व्यवस्थित शक्ति के अनुरूप व्यवस्थित ही रहता है। लङ्घनाभ्यास के समान होने पर

कृपा स्वबीजप्रभवा स्वबीजप्रभवैर्न चेत् ।
विपक्षैर्बाध्यते चित्ते प्रयात्यत्यन्तसात्मताम् ॥ १३१ ॥

स्वसजातीय बीज (समनन्तर प्रत्यय) से जनित कृपा यदि अपनें समनन्तर प्रत्यय से जनित द्वेषादि विपक्षों से बाधित न हो, तब वह कृपा चित्त का स्वभाव ही बन जाती है ॥ १३१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

समानेऽपि लंघनाभ्यासे पुरुषगरुडशावकयोर्न लंघनसमानता । तथा हि—

गरुत्मच्छाखामृगयोर्लङ्घनाभ्याससङ्गमे । समानेऽपि समानत्वं लंघनस्य न विद्यते ।।५८७।।

तस्मादभ्यासेऽपि योनिजातिबलापेक्षमेव लंघनं न लंघनमात्रापेक्षम् । कृपादीनां तु पुनरन्यानपेक्षत्वमेव । नन्वभ्यासाद्बलं बलाल्लंघनमिति तदेवाभ्यासपूर्वकत्वं कृपादिवत् । न । अत्यन्ताभ्यासाद् बलस्य हानिरपीत्यदोषः । यदि तर्हि सजातीयबीजमात्रापेक्षाः कृपादयस्तदानादित्वादत्यन्तं तत्स्वभावतैव स्यात् । न चास्ति तत्स्वबीजप्रभवा नेति गम्यते । अत्रोच्यते —कृपा स्वबीजप्रभवेति ।

यद्यपि कृपा स्वबीजप्रभवानादिश्च कालस्तथापि न सात्मीभावः । स्वबीजप्रभवैरेव द्वेषादिभिर्बाधनात् । यदि नैरन्तर्यमाप्यते तदा सात्मीभावः स्थिराश्रयत्वेऽपि तत्र महता प्रयत्नेन विपक्षविद्वेषादिनिवारणे कृपात्मकत्वम् । अवश्यञ्चेदमभ्युपगन्तव्यम्—तथा हि मूलमभ्यासः इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी पुरुष और गरुड़ के बच्चों में लङ्घन शक्ति समान नहीं देखी जाती । गरुड़-शावक एक ही उड़ान में पहाड़ पार कर जाते हैं किन्तु मानव बालक एक-दो हाथ भी नहीं कूद सकते—यद्यपि गरुड़-पोत और शाखामृग (वानर-शावक) उछलने-कूदने का अभ्यास समानरूप से करते रहते हैं, तथापि उनके लाँघने के आयाम में समानता नहीं, प्रत्युत महान् अन्तर रहता है ।। ५८७ ।। अतः अभ्यास करने पर भी प्राणियों की जाति और बल की अपेक्षा विशेष लङ्घन उत्पन्न होता है, लङ्घन मात्र से नहीं किन्तु करुणादि का समुत्कर्ष अन्य (जात्यादि) की अपेक्षा नहीं रखता, वह केवल अभ्यास-साध्य सार्वभौम चित्त का धर्म है ।

यदि कहा जाय कि अभ्यास से बल और बल से लङ्घन माना जाता है, तब लङ्घन में वही बलपूर्वकत्व कृपादि के समान ही सिद्ध होता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अत्यन्ताभ्यास से बल की हानि भी होती है ।

यदि करुणादि गुण अपने सजातीय बीज (समनन्तर प्रत्यय) मात्र से उत्पन्न हुए होते, तब अनादि काल से लेकर अब तक के अभ्यास से स्वाभाविक हो जाते. किन्तु कृपा आदि सजातीय बीज-सञ्जनित नहीं हैं—इसका समाधान वार्तिककार ने किया है—"कृपा स्वबीजप्रभवा ।" यद्यपि कृपा स्वसजातीय बीज से प्रसूत और अनादि है, तथापि वह स्वभावसिद्ध नहीं हुई, क्योंकि स्वजातीय बीज से उत्पन्न द्वेषादि से बाधित हो जाने से उसके प्रवाह में निरन्तरता नहीं रहती । यदि खोई हुई निरन्तरता प्राप्त हो जाती है, तब सात्मीभाव अवश्य हो जाता है । हाँ, आश्रय के स्थिर हो जाने पर भी द्वेषादि के झञ्झावात को शान्त करने के लिए महान् प्रयत्न अपेक्षित होता है । फलतः यह मानना नितान्त आवश्यक है कि कृपा (करुणा) का पूर्व-अभ्यास उत्तरोत्तर

तथा हि मूलमभ्यासः पूर्वः पूर्वः परस्य तु ।
कृपावैराग्यबोधादेश्चित्तधर्मस्य पाटवे ॥ १३२ ॥

करुणा, वैराग्य और ज्ञानादिरूप चित्त-धर्मों का अभ्यासरूप मूल कारण का पूर्व-पूर्व अभ्यास उत्तरोत्तर करुणादि की पाटवाभिवृद्धि ही करता है, उत्पत्ति नहीं, क्योंकि वह पहले ही हो जा चुकी होती है ॥ १३२ ॥

कृपात्मकत्वमभ्यासाद् घृणावैराग्यरागवत् ।
निष्पन्नकरुणोत्कर्षः परदुःखक्षये रतः ॥ १३३ ॥

जैसे अभ्यास के द्वारा घृणा-वैराग्यादि चित्तदोष अभ्यास से उत्कर्ष-परिधि को पार कर जाते हैं, वैसे ही अभ्यास-लब्ध करुणोत्कर्ष । करुणोत्कर्ष-प्राप्त पुरुष परदुःख-प्रक्षय में निरत हो जाता है ॥ १३३ ॥

(२८) शास्तृत्वाद् भगवान् प्रमाणम्—

दयावान् दुःखहानार्थमुपायेष्वभियुज्यते ।
परोक्षोपेयतद्धेतोस्तदाख्यानं हि दुष्करम् ॥ १३४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अभ्यासो हि कृपादीनां पूर्वः पूर्वं उत्तरोत्तरस्य चित्तधर्मस्य पाटवेन पुनरुत्पत्तौ उत्पन्नस्य हि स्वबीजात्पाटवमेव केवलं विधातव्यमभ्यासेन विद्यमानत्वादुत्पत्तेः । ततः—

स्वार्थे निरुच्छकत्वेन परार्थे सस्पृहात्मनः ।

अभ्यासो ह्यनन्यकर्मणा क्रियमाणः कृपात्मकत्वं विदधाति । यथा घृणा वैराग्यं रागश्च । यथा हि विपक्षैरबाध्यमाना घृणा सात्मीभवति । यत्सद्भावादुपादेयमेव किञ्चिन्नावभासते । तथा वैराग्यं रागितापि द्रष्टव्या ।

(२८) शास्तृत्वाद् भगवान् प्रमाणम्—

एवं कारुणिकः परदुःखनिराचिकीर्षया परदुःखहानार्थमुपायाभियोगी भवतीत्याह—निष्पन्नकरुणोत्कर्ष इति ।

दयावतो हि स्वदुःखहानाय यत्नः सम्भवी । स्वदुःखक्षयमन्तरेण परदुःखनिराकरणेऽसामर्थ्यम् । ततः स्वदुःखक्षयसाक्षात्करणे सर्वभावसाक्षात्करणे चाभियुज्यते । यतः—परोक्षोपेयतद्धेतोरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कृपादिरूप चित्त धर्मों के पाटव (उत्कर्ष) में ही कारण होता है, उसके उत्पादन में नहीं क्योंकि उत्पत्ति तो पहले ही हो चुकी होती है । अतः परकीय दुःखों की प्रहाणेच्छा करुणों में परिवर्तित होकर अभ्यास के द्वारा उत्कर्ष-गति-क्रम से सात्मीभाव को प्राप्त कर लेती है ।

चित्त की किसी भी वृत्ति के प्रवाह में विजातीय वृत्ति को न आने देना अभ्यास कहलाता है जैसे विषयों में घृणा का अभ्यास रागादिरूप विरोधी वृत्तियों से बाधित न होकर वैराग्य कारण बनता है, वैसे ही करुणाभ्यास परकीय दुःखों के नाश का कारण ।

(२८) भगवान् प्रमाण हैं, शास्ता होने के कारण—

भगवान् में परदुःख-प्रहाण की प्रबल कामना पल्लवित और पुष्पित-फलित होकर दुःख-प्रतीकार के उपायान्वेषण में प्रवृत्त कर देती है । आशय यह है कि दयावान्

दयावान् बोधिसत्त्व अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए उसके उपायानुष्ठान में तल्लीन हो जाता है। दुःख-हानरूप उपेय और उसके हेतुभूत अष्टाङ्गिक मार्ग का केवल परोक्ष ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति दुःख हान और उसके उपाय का यथावत् आख्यान (उपदेश) नहीं कर सकता ॥ १३४ ॥

युक्त्यागमाभ्यां विमृशन् दुःखहेतुं परीक्षते ।
तस्यानित्यादिरूपं च दुःखस्यैव विशेषणैः ॥ १३५ ॥

सर्व-प्रथम मुमुक्षु युक्ति (अनुमान) आगम के द्वारा विचारपूर्वक जन्मरूप दुःख के हेतु की परीक्षा करता है कि दुःख का हेतु नित्य है, या अनित्य ? दुःख कादाचित्क है, या नित्य ? कादाचित्कत्वादि धर्म दुःख के विशेषण हैं ॥ १३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यस्य खलु स्वर्गापवर्गहेतुफलसाक्षात्क्रिया नास्ति तस्य परेभ्यस्तदाख्यानं दुष्करम्। न हि तस्य तत्र सामर्थ्यम्। यद्यपि नाम चतुरार्यसत्यदेशनासम्भवत्यनुमानपरिनिश्चितत्वे सत्यानाम्। तथापि न सर्वदा। स्वार्थसमीहावेलायामसंभवात्। नरकादिसम्भवे च प्रतिनियतकर्मफलमावीच्यादिलोकधातुवृत्तान्तकथनं न सम्भवत्येव। ततः सर्वमेव साक्षात्कर्तव्यम्। तत्र साक्षात्कारणे हेतुः परीक्षणम्। तदेवाह—युक्त्यागमाभ्यामिति।

युक्तिरनुमानम्। अनुमानागोचरे चागमः, अतीन्द्रियार्थप्रत्यायनहेतुः। अथवा। आगमः प्रथमं प्रबोधको भवति। ततो युक्तिरर्थप्रत्यायनफला प्रवर्तते। न त्वागमादेवार्थनिश्चयः। विवक्षामात्रात्प्रवृत्तेः। अर्थप्रतिबन्धाभावात्। एतच्च सर्वं विमर्शाभिमुखस्य नान्यथा। ततः प्रथमं विमर्शः पुनरागमे तस्यार्थस्य दर्शनम्। परार्थानुमानरूपे नाज्ञामात्रके। न हि प्रामाणिकेऽर्थे आज्ञामात्रदायी प्रेक्षावान् वक्ताऽमूढो वा। ततो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पुरुष की ही समस्त दुःखों की निवृत्ति में प्रवृत्ति होती देखी जाती है। स्वकीय दुःख-क्षय के बिना परदुःख-नाश का सामर्थ्य नहीं आता, अतः दुःख-क्षय एवं सर्वभावों के साक्षात्कार में साधक जुट जाता है।

जिस व्यक्ति को वर्ग और अपवर्ग के हेतु-फलभाव का साक्षात्कार नहीं, उसके लिए दूसरों को उसका उपदेश करना दुष्कर है क्योंकि उसमें वैसा सामर्थ्य ही नहीं होता। यद्यपि चार आर्यसत्यों का उपदेश सम्भव है, क्योंकि अनुमान के द्वारा चार आर्यसत्यों का निश्चय हो जाता है। तथापि सर्वदा नहीं, स्वार्थ-समीहा के समय वह सम्भव क्योंकर होगा ? नरकादि की सम्भावना होने पर भी प्रतिनियत कर्म-फलभाव एवं अवीची आदि नरक लोकों का वृत्तान्त-कथन कदापि सम्भव नहीं, अतः सभी का साक्षात्कार करना होगा। साक्षात्कारण में हेतु की परीक्षा की जाती है—युक्त्यागमाभ्यामित्यादि। यहाँ युक्ति का अर्थ है—अनुमान। अनुमानागोचर विषय में आगम है, क्योंकि अतीन्द्रियार्थ के प्रत्यापन का हेतु आगम ही है अथवा आगम प्रथमतः प्रबोधक होता है, उसके पश्चात् युक्ति प्रवृत्त होती है अर्थावगति के लिए केवल आगम से अर्थ-निश्चय नहीं होता, क्योंकि आगम तो विविक्षामात्र से प्रवृत्त होता है। अर्थ के साथ शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह सब-कुछ विमर्शाभिमुख होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं। फलतः पहले विमर्श (संशय) होता है, पश्चात् आगम के द्वारा वस्तु-बोध होता

यतस्तथा स्थिते हेतौ निवृत्तिर्नेति पश्यति ।
फलस्य हेतोर्हानार्थं तद्विपक्षं परीक्षते ॥ १३६ ॥

यदि दुःखरूप फल का हेतु नित्य है, तब दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती—ऐसा साधक जान लेता है। अतः दुःख के हेतु का परिहाण करने के लिए दुःख के विपक्ष (विरुद्ध हेतु) की उद्भावना करता है कि उसके अभ्यास से दुःख-हेतु विनष्ट हो जाता है ॥ १३६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

युक्त्या तस्यार्थस्य स्थिरीकृत्य भावयतः साक्षात्करणमित्यनुक्रमः। तत्र तावत्प्रथमं दुःखहेतुमेव परीक्षते, हेतुनिवर्तनद्वारेण दुःखनिवर्तनार्थम् । दुःखहेतौ च निरूपिते तस्य पुनरनित्यतादिरूपन्तत्परीक्षणेन निवर्तनयोग्यतानिरूपणार्थम् । अनिरूपिते हि निवर्तन-योग्यत्वे निवर्तनायोत्साह एव न स्यात् । न ह्यहेतुकत्वे नित्यहेतुकत्वे वा निवर्तनाय व्यापारः सफलः । यतः—

अहेतोर्नित्यतैवास्ति नित्यहेतोः क्षयः कुतः । हेतुवैकल्यमप्राप्य कथं भावो निवर्तते ॥५८८॥
यस्य हेतुकृतो भावस्तदभावान्न तद्भवेत् । तदभावेऽपि भावश्चेदभावोऽस्य कुतो भवेत् ॥५८९॥
अनित्यहेतुको भावो हेत्वभावे निवर्तते । नित्यहेतोरभावोऽस्ति न हेतोर्न निवर्तते ॥५९०॥

तस्माद्विशेषणैरनित्यतादिभिर्दुःखस्य । तस्य हेतोरनित्यतां परीक्षते—यतस्तथा-स्थित इति ।

यदीश्वरादिको नित्य एव कश्चिद् दुःखस्य हेतु स्यात् । ततस्तस्यावैकल्यान्नि-वृत्तिर्न भवति दुःखस्येति मतिमान् भवेत् । ततो निवर्तनाय न प्रवर्तते फलस्य । न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है, क्योंकि आगम परार्थानुमानरूप प्रमाण है, आज्ञामात्र नहीं, क्योंकि प्रमासापेक्ष व्यव-हार में कोई बुद्धिमान् या अमूढ व्यक्ति आज्ञामात्र से न तो स्वयं प्रवृत्त होता है और न दूसरों को प्रवृत्त करता है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति किसी प्रमाण से वस्तुतत्त्व का ज्ञान करता है, युक्ति के द्वारा स्थिरीकरण और भावनोत्कर्ष से साक्षात्कार करता है—ऐसी ही आनुपूर्वी लोक-प्रचलित है। जन्मादिरूप दुःखों के विषय में पहले दुःख के हेतु की परीक्षा की जाती है कि वह नित्य है या अनित्य ? क्योंकि हेतु-निवर्तन के द्वारा ही दुःखों की निवृत्ति की जाती हैं। बिना परीक्षा के निवर्तन-योग्य पदार्थ में भी निवर्तन का उत्साह ही नहीं होता। जो दुःख अहेतुक या नित्यहेतुक है, उसका निवर्तन-व्यापार सफल नहीं होता, क्योंकि अहेतुक पदार्थ या तो नित्य सत् होगा या असत्। उसका प्रक्षय क्योंकर होगा ? जब तक कि किसी भाव-पदार्थ का हेतु निवृत्त न हो, तब तक वह निवृत्त नहीं होता ॥ ५८८ ॥ जिस पदार्थ का भाव और अभाव अपने हेतु के भाव और अभाव पर निर्भर है, उसका तो अभाव हेतु के अभाव से हो जाता है, किन्तु जो पदार्थ वैसा नहीं, अपितु हेतु के न रहने पर भी रहता है, उसका अभाव क्योंकर होगा ? ॥ ५८९ ॥ अनित्य-हेतुक भाव-पदार्थ अपने हेतु के अभाव में निवृत्त होता है किन्तु नित्यहेतुक भाव का न तो हेतु निवृत्त होता है और न वह भाव ॥ ५९० ॥ अतः अनित्यत्वादि विशेषणों के द्वारा दुःख और उसके हेतु की परीक्षा अनिवार्य है।

यदि ईश्वरादि रूप कोई नित्य पदार्थ ही दुःख का हेतु होगा, तब हेतु तत्त्व की निवृत्ति न हो सकने के कारण दुःख को निवत्ति नहीं होगी—समझनेवाला व्यक्ति दुःख-

साध्यते तद्विपक्षोऽपि हेतो रूपावबोधतः।
आत्मात्मीयग्रहकृतः स्नेहः संस्कारगोचरः ॥ १३७ ॥

हेतु के स्वरूप का अवबोध हो जाने पर ही उसके विरोधी की उद्भावना होती है। आत्मा (मैं हूँ) और आत्मीय (मेरा है) इस प्रकार का स्नेह ही बन्धन का विशेष कारण है ॥ १३७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ह्यशक्ये कश्चित् प्रवर्तते। प्रवर्तमानो वा न विघातभाक्। फलस्य च यो हेतुस्तद्विपक्षं परीक्षते। हेतोर्हानार्थम्। न हि भवतोऽपि विपक्षसङ्गमन्तरेण निवृत्तिः। न च हेतोरभावो विपक्षाभावे। हेत्वभावादेव निवृत्तिरिति चेत्। कर्मक्षयादेव निवृत्तिरिति परमतम्। अविद्यातः कर्मापरापरमिति न कर्मक्षयः। अविद्या च हेतुः कर्मण इति प्रतिपादयिष्यते दुःखस्य चेति न दोषः।

ननु दुःखस्य न हेतुर्नियतरूपः प्रियविप्रयोगाद्यनेकरूपत्वात्। ततो निवर्तनमशक्यम्। अत्रोच्यते—आत्मात्मीयग्रहकृत इति।

आत्मात्मीययोरभिनिवेशकृतः स्नेहो दुःखस्य हेतुः। स्नेहनिवृत्तौ च नात्मीये विहन्यमाने दुःखम्। ननु यद्यपि नात्मीये विहन्यमानेऽपि न मानसं दुःखं स्नेहनिवृत्तौ कायिकन्त्वात्मनि कथं न दुःखम्। अत्रोच्यते—

परदुःखेन दुःखी यस्तस्य नात्मसुखोदयः। आत्मीयाभिनिवेशे हि स्वस्नेहस्य निवर्तनम् ॥५६१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रूप फल की निवृत्ति के लिए कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि जो कार्य अपनी शक्ति के बाहर है, उसमें कोई व्यक्ति प्रवृत्त ही नहीं होता। यदि प्रलोभन-वश प्रवृत्त भी हो जाता है, तब सफल नहीं होता, ठोकरें ही खानी पड़ती हैं। दुःखरूप फल का जो हेतु (कारण) है, उसकी परीक्षा की जाती है कि वह नित्य है? या अनित्य? अनित्य कारण की भी निवृत्ति विपक्ष-लाभ के बिना नहीं होती, जैसा कि पातञ्जल योग के भाष्यकार ने कहा है—"प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति" प्रतिपक्षभावनानो निवृत्ताः।" (यो० भा० पृ० १४७) क्लेश के कारणों का अभाव प्रतिपक्ष भावना के बिना नहीं होता। विपक्ष-भावना की क्या आवश्यकता कारण का अभाव होने से ही दुःख-कारण की निवृत्ति हो जाती है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि दुःखादि-जनक कर्मों का क्षय ही दुःखादि का निवर्तक माना जाता है। अविद्या के रहते-रहते कर्म-क्षय नहीं हो सकता क्योंकि अविद्या ही कर्म और तज्जन्य कर्म का कारण है—यह आगे कहा जायगा, अविद्या से उत्तरोत्तर कर्म की उत्पत्ति होती रहती है।

शंका—दुःख का कोई एक कारण नियत नहीं, अनेक और अनियत कारणों की निवृत्ति सम्भव नहीं, अतः दुःख की निवृत्ति क्योंकर होगी?

समाधान—आत्मा और आत्मीय (यह मैं हूँ और यह मेरा है—इस प्रकार) का अभिनिवेश (राग या स्नेह) ही दुःख का कारण माना जाता है। आत्मीय पुत्रादि में स्नेह की निवृत्ति हो जाने पर कायिक दुःख आत्मा में क्योंकर होगा?

शंका—आत्मीय पदार्थों में स्नेह के न रहने पर उन पर आयी आपत्ति के द्वारा पुरुष को मानस दुःख भले ही न हो, कायिक दुःख क्यों न होगा?

समाधान—परकीय दुःख से जो दुःखी रहता है, उसको आत्मसुख कभी होगा ही

हेतुर्विरोधि नैरात्म्यदर्शनं तस्य बाधकम् ।
बहुशो बहुधोपायं कालेन बहुनास्य च ॥ १३८ ॥
गच्छन्त्यभ्यस्यतस्तत्र गुणदोषाः प्रकाशताम् ।
बुद्धेश्च पाटवाद्धेतोर्वासनातः प्रहीयते ॥ १३९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खलु सुतस्वैहतिरस्क्रियमाणात्मस्नेहाः कायिकमपि शस्त्रादिसंपर्कजनितमवलम्बन्ते दुःखम् । आत्मीयस्नेहश्च सत्कायदृष्टेरतः सत्कायदृष्टिर्दुःखस्य हेतुस्ततो नैरात्म्यदर्शनम्बाधकं विरोधित्वात् । तदाकारविरोधी हि धर्मस्तस्य बाधकः । पवनस्येव स्निग्धतौष्ण्यादयः । ततो नैरात्म्यसात्मीभावे तद्विपर्ययाकरस्य सत्कायदर्शनस्यानित्यस्य सतो निवृत्तिः । तत आत्मात्मीयग्रहनिवृत्तौ सकलकायिकमानसदुःखनिवृत्तिः । ननु देहच्छेददाहादौ च कथं मरणादिदुःखाभावः । नैतदस्ति । यतः—

मरणन्तेन देहेन वियोगादपरं न हि । देहान्तरस्योत्पत्तिश्च जननं दुःखितात्र का ॥५९२॥

यदा देहेनैकेन वियुज्यते परेण च तस्य युक्तिः स्मरणञ्च पूर्वापरावस्थयोरभ्यासजनितस्मृतिपाटवस्य तदा बालवृद्धावस्थापरित्यागोपादानवत् परिधानोपादानत्यागवच्च तस्य का पीडा । न च पीडानुसन्धानाऽग्रहमन्तरेण यत्रैवाभ्यासस्तदेवाभिरतिकारणम् । औदासीन्याभ्यासे च न सुखदुःखे स्तः ।

अत्यन्तमौदासीन्यस्य सम्भवे देहभोग्ययोः । न पीडास्त्यपकारेऽपि सत्त्वदृष्टिनिवर्त्तने ॥५९३॥

तदाह—बहुशो बहुधोपायमिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं क्योंकि परकीय अभिनिवेश के द्वारा आत्मस्नेह समाप्त-सा हो जाता है ॥५९१॥ अर्थात् पुत्रादि आत्मीय पदार्थों के स्नेह से जिनका आत्मस्नेह नितान्त क्षीण हो जाता है, उन्हें शस्त्र-प्रहारादि से जनित कायिक दुःख भी नहीं होता । आत्मीय-स्नेह तो सत्काय दृष्टि (शरीर में आत्मसत्ता के निश्चय) से होता हैं। सत्काय दृष्टि सब दुःखों की मूल है, अतः नैरात्म्य दर्शन (शरीर में आत्मसत्ता के अभाव का निश्चय) उसका विरोधी है, क्योंकि तदाकारता (आत्मसत्ता) का विरोधी धर्म (नैरात्म्य दर्शन) ही उसका वैसे ही बाधक होता हैं जैसे कि पवनगत शीतल जल की फुहार से पृथ्वी की उमस और ग्रीष्म-प्रकोप । नैरात्म्य-भावना के स्वरसवाही हो जाने पर सत्काय-दृष्टि निवृत्त हो जाती है, उससे आत्मात्मीयाभिनिवेश निवृत्त होकर सकल कायिक दुःखों का निवर्तक हो जाता है ।

प्रश्न—देह-मोह-निवृत्तिमात्र से मरणादि दुःखों का अभाव क्योंकर होगा ?

उत्तर—देह-तृष्णा की निवृत्ति से देह के वियोग से भिन्न मरण और कुछ भी नहीं । देहान्तर की उत्पत्ति ही जनन या जन्म पदार्थ है । उसमें दुःखमया ॥५९२॥ जब कि एक देह से वियुक्त होकर सत्त्व देहान्तर से युक्त होता है, पूर्वजन्मार्जित वासनाओं से इस जन्म में स्मरण होते रहते हैं, तब बाल्यावस्था के त्याग और वार्द्धक्योपादान या जीर्ण वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र धारण कर लेने मात्र से क्या दुःख ? किसी प्रकार के आघात से जनित पीड़ा की स्मृति के बिना द्वेष या दुःख नहीं होता । पीड़ानुग्रह में औदासीन्याभ्यास से सुख-दुःख नहीं होते ।

शरीरों में सात्मता का निश्चय होने पर अपने शरीर में जो आत्मत्वग्रह और पुत्रादि बाह्य स्कन्धों में आत्मीयत्व-ग्रह हो जाता है, वही समस्त दुःख-राशि का हेतु है। आत्मस्नेह में आबद्ध सत्त्व जन्म ग्रहण करता है, यही मौलिक दुःख है। आत्मात्मीय-ग्रह का नैरात्म्यदर्शन (शरीरों में आत्मा के अभाव की अवधारणा) दुःख का बाधक है, क्योंकि दुःख के हेतुभूत सात्मदर्शन का नैरात्म्य-दर्शन विरोधी है। इस प्रकार दुःख के कारण और उसके विपक्ष (विरोधी) दर्शन को आगम से सुन, अनुमान से निश्चित कर अनेकशः एवं विविध उपायों से दीर्घ काल तक अभ्यासरत बोधिसत्त्व की बुद्धि में दुःख-हेतुगत गुण और विषयगत दोष प्रकाशित होते हैं। अतः अभ्यास और बुद्धि की पटुता के द्वार क्लेश हेतुभूत तृष्णा वासनाएँ प्रहीण हो जाती हैं ॥ १३८-१३९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नैरात्म्यदर्शनेन सकलपर्याकुलताहेतुरागादिव्यपगमे प्रबोधविकासे चानेकप्रकारापरापरोपायाभ्यासगुणदोषाणां प्रकाशनम्। शास्त्राभ्यासे सत्यनेकप्रकारशास्त्रगुणदोषप्रकाशनवत्। गुणदोषप्रकाशनं हि बुद्धेः पाटवम्। बुद्धेश्च पाटवाद्धेतोरिति।

यदा च पटुबोधोपनीतगुणदोषविवेकस्तदा सकलमनुभूतगुणमध्यवर्त्ति क्षणिकमपि दोषजातं जानाति। ततो वाग्वैगुण्यादिकपि निवर्तयितुं प्रयततेऽतो वासना प्रहीयते।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

देह एवं बाह्य भोग्य पदार्थों में औदासीन्यभाव (अनासक्तता) हो जाने पर उनके वैकल्य से दुःख नहीं होता, क्योंकि देह, पुत्रादि एवं धन-सम्पत्ति का अध्यास ही दुःख का कारण है। उसकी निवृत्ति हो जाने पर दुःख क्यों होगा ? ॥५९३॥ ऐसा ही वार्तिककार ने कहा है—"बहुशो बहुधोपायम्"। अर्थात् सकल पर्याकुलता का मूल कारण है—सत्कार्य दृष्टि (शरीर में आत्मसत्ता-ग्रह)। सत्कार्य दृष्टि का बाधक है—नैरात्म्यदर्शन। सत्कायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि (मिच्छादिट्ठि) है। इससे सम्यग्बोध बुझ-सा जाता है और नैरात्म्य-दर्शन से प्रज्वलित हो उठता है। फलतः दुःख के रागादि कारणों में दोष और दुःख-निरोध के उपायों (अष्टाङ्गिक मार्ग) में रुचि या श्रद्धा समुद्भूत हो जाती है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र कहता है—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" (तत्त्वार्थ० १।२)। श्रद्धालु बोधिसत्त्व दीर्घकाल आदर-नैरन्तर्यपूर्वक अपने मार्गाभ्यास में वैसे ही लगा रहता है (यो० द० १।१४), जैसे कोई शास्त्रव्यसनी शास्त्राभ्यास में।

समीहितार्थ-सिद्धि के उपायों में गुणावधारणा और अपायों में दोषाविष्करण ही बुद्धि का पाटव और गुण-दोषों का विश्लेषण उसका व्यापार, इसके द्वारा आपातरमणीय गुण-राशि में छिपा हुआ नन्हा-सा दोष-कण भी प्रकट हो जाता है। अपने वाग्वैगुण्यादि दोषों की निवृत्ति में प्रयत्नशील पुरुषपुङ्गव की आत्मग्रहादि एवं तृष्णादि से समुद्गत समस्त वासनाएँ प्रहीण हो जाती हैं। प्रत्येक बुद्ध, आर्यश्रावक और तीर्थं पदवी के ज्ञानी जनों से स्वयं सम्बुद्ध भगवान् सुगत की यह महनीय विशेषता है। [अर्हत्पुरुषों के शक्ति-तारतम्य को ध्यान में रखकर छः कोटियाँ की गई हैं, उनमें भगवान् बुद्ध की कक्षा सर्वोपरि है—"इमं हि पुब्बेनिवासं छ जना अनुस्सरन्ति—(१) तित्थिया, (२) पकतिसावका, (३) महासावका, (४) अग्गसावका, (५) पच्चेकबुद्धा, (६) बुद्धा ति। तत्थ तित्थिया चत्तासं येव कप्पे अनुस्सरन्ति''''बुद्धानं पन परिच्छेदो नाम नत्थि" (विशुद्धि. १३।१५)]।

वार्तिकालङ्कारः

अयमेव प्रत्येकबुद्धार्यश्रावकतीर्थेभ्यो विशेषो भगवतः सुगतस्य । अथवा यदि नाम दुःखप्रहाणं तथापि न सर्वज्ञत्वं भवत्यन्यथा वीतरागः सकल एव सर्ववेदी भवेत् । अत्रोच्यते- बहुशो बहुधोपायमित्यादि । बहुप्रकारो हि खलूपायप्रपञ्चः । तदभ्यासे च सकलसांसारिकगुणदोषप्रकाशनं महता कालेन ।

स्मृतिपाटवसद्भावे पूर्वजातिस्मृतिर्यथा । तदा तदनुसारेण तत्सर्वाधिगतिः पुनः ॥५९४॥

यथा ग्रामान्तरायातस्तत्संस्कारानुवृत्तिमान् । ज्ञायते तद्विदा तद्वदागतो जन्मनोऽन्यतः ॥५९५॥

यथा खलु ग्रामान्तरागतस्तत्संपर्कोपजनितविशेषदर्शने तद्विदा तत आगतत्वेन ज्ञायते । ततो ग्रामान्तरस्यापि तद्विशेषणत्वेन गतिस्तद्वदेव जन्मान्तरस्यापि तज्जनितः संस्कारकारणत्वेनानुमानम् ।

(२९) परोक्षोऽर्थो जन्मान्तरसम्भवी—

किमनेन प्रकारेण दानादिर्नानुमीयते । ततश्च कर्मफलयोर्नियमप्रतिवेदनम् ॥५९६॥

अनेककर्मणानेन देशेनास्य समागमः । प्रागासीदेवमाकारस्वभावस्य समागमात् ॥५९७॥

वार्तिकालङ्कार व्याख्या

"बहुशो बहुधापायम्"—इस वार्तिक का अवतरणान्तर प्रस्तुत किया जाता है— "अथवा"। यद्यपि नैरात्म्यदर्शन-प्रयुक्त रागादि की निवृत्ति से दुःखों की निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु सर्वज्ञत्व नहीं होता, अन्यथा सभी वीतराग पुरुष सर्वज्ञ हो जायँगे। इस अनुपपत्ति का परिहार किया गया है—बहुशो बहुधोपायम्। अर्थात् रागादि का नाश दुःख-निवृत्ति का ही कारण है, सर्वज्ञत्वादि की प्राप्ति का नहीं। उपायों (साधनों) की क्षमता पृथक्-पृथक् होती है। [मोक्ष के साधनीभूत तत्त्वज्ञान से सिद्धि-ऋद्धि की भी प्राप्ति होती है—ऐसी अवधारणा का प्रतिवाद करते हुए विद्यारण्य स्वामी ने कहा है—

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद् यदि ।
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥
व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ।
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥ (पं० द० ९।६।८-९)

उपाय-प्रपञ्च का दीर्घ समय तक अभ्यास करने पर गुण-दोष प्रकाश में आते हैं, साध्य-साधनभाव उजागर हो जाता है। जैसे स्मृति-पाटव का अभ्यास करने पर पूर्व के अनेक जन्मों की स्मृति होने लगती है, स्मृति-पटल के सर्व संस्कार प्रस्फुटित होकर सर्वाधिगति में परिणत हो जाते हैं ॥५९४॥ जैसे कोई ग्रामान्तर में घूमकर अपने घर आता है। बैठे-बैठे ग्रामान्तर के सभी गली-कूचों के संस्कारों से उनका स्मरण करता है, वैसे ही पुरुष अपने पूर्वजन्मार्जित संस्कारों की पोटली इस जन्म में खोलकर सब कुछ जान लेता है ॥५९५॥ वह उसकी जानकारी में निश्चित रूप से संस्कार-जनितत्वेन परोक्षरूपता का अनुमान किया जाता है—"जन्मान्तरीय ज्ञानम्, परोक्षरूपम्, संस्कारजनितत्वात्, स्मरणवत्।"

(२९) जन्मान्तर-सम्भवी पदार्थ की परीक्षरूपता—

जन्मान्तरीय ज्ञान के समान दानादि एवं तत्सम्बन्धी देश-कालादि का क्या अनुमान नहीं किया जा सकता ? यदि किया जा सकता है, तब दानादिरूप कर्म और उनके फलों का कार्य-कारणभाव भी विदित हो जाता है ॥५९६॥ अर्थात् अमुक कर्म, अमुक देश में किया गया था, क्योंकि तद्देश-सम्बन्धी फल का जनक है ॥५९७॥ प्रति-

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिनियतं देशादिसंसर्गतत्कार्यस्वभावयोरवान्तरस्वभावनिरूपणे सकलकारणस्वभावतत्कार्यस्वभावभेदसम्बन्धवेदनमिति प्रतिनियतस्वभावसाकल्यवेदनमिति सर्वकर्मफलादिसम्बन्धपरिज्ञानम्।

स्वर्गापवर्गमार्गस्य यथावद्वेदने सति। पुरुषार्थज्ञतामात्रात्सम्पूर्णं शासनं मतम् ॥५९८॥

न च कार्यकारणमतिवृत्य परस्परं सकलं जगज्जायते। ततोऽनेकप्रकारकार्यकारणभावभावनानुबन्धेन सकलस्य जगतो भवति वेदनमनवद्यं ततः सर्वज्ञता। अथानुमानेन वेदने कथमस्य साक्षाद्दर्शित्वं साक्षाद्द्रष्टा च भगवानिष्यते। तदपि यत्किञ्चिदेव।

सर्वाकारानुमानं यदध्यक्षात्तन्न भिद्यते। नेन्द्रियेणापि संयोगस्ततोऽधिकविशेषकृत् ॥५९९॥

यत्खलु सर्वाकारपदार्थस्वरूपवेदनं तदेवाध्यक्षम्। साक्षात्करणार्थो हि प्रत्यक्षार्थः। नन्वक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्। नाध्यक्षलक्षणमेतत्। अपि तु साक्षात्सद्भूतपदार्थवेदनम्। अक्षन्तूपलक्षणमात्रम्। किञ्च। यद्यक्षयोगेऽपि साक्षाद्दर्शनाभावः किन्तदध्यक्षम्। अक्षमेव तन्न भवत्युपहतत्वादिति चेत्। उच्यते—

असाक्षात्कृतिहेतुत्वादनक्षं यदि तन्मतम्। साक्षात्करणहेतुत्वादक्षमित्यवधार्यताम् ॥६००॥

न हि संस्थानादिमात्रकादेवाक्षता युक्ता। उपहतस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात्। साक्षात्करणहेतुत्वे त्वक्षतायां मनसोऽपि तथात्वाविरोधः। अन्यच्च—

मनसः पाटवादेव स्पष्टमाकारदर्शनम्। मनसि व्याकुले ह्यक्षप्रतीतेः स्पष्टता कुतः ॥६०१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नियत देश-काल में अनुष्ठित कर्म और उसके फल का स्वभाव जाँचने पर सकल कार्यकारणस्वभाव एवं उसके सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। फलतः सर्व कर्म और उनके फलों का सम्बन्ध सुविदित हो जाता है। स्वर्ग और अपवर्ग के मार्ग का ज्ञान हो जाने पर पुरुषार्थज्ञतामात्र से सम्पूर्ण शासन (शास्त्र)—प्रतिपादित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है ॥५९८॥ यह सकल, जगत् कार्य-कारणभाव की मर्यादा का अतिक्रमण करके कभी उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः अनेक प्रकार के कार्यकारणभाव की भावना से वासित सत्त्व को समस्त अनवद्य वेदन या सर्वज्ञता का लाभ हो जाता है।

प्रश्न—अनुमान के द्वारा सर्व-ज्ञान करनेवाला व्यक्ति साक्षाद्दर्शी क्योंकर कहलाएगा? भगवान् को सर्वद्रष्टा कहा जाता है, वह भी अनुपपन्न होगा।

उत्तर—वस्तु का सर्वाकारतावगाही जो अनुमान है वह प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं होता। प्रत्यक्ष कहलानेवाला इन्द्रिय-संयोग-जनित ज्ञान भी उक्त अनुमान से कुछ बढ़कर नहीं ॥५९९॥ जो सर्वाकारावगाही वस्तु-स्वरूप का वेदन है, वही अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) कहलाता है। 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ हैं—साक्षात्करण। यह जो कहा जाता है—'अक्षम् अक्षं प्रति वर्तते, तत् प्रत्यक्षम्'। वह प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं, अपितु 'साक्षाद्भूतपदार्थ का वेदन प्रत्यक्ष है। अक्ष तो केवल उपलक्षण है। उपहत चक्षु भी चक्षु कहलाता है, उसके संयोग से कोई ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता, तब प्रत्यक्ष ज्ञान किसे कहेंगे? यदि कहा जाय कि उपहत चक्षु चक्षु ही नहीं कहलाता, तब साक्षात्कार का हेतु न होने के कारण यदि वह 'अक्ष' नहीं कहा जाता, तब साक्षात्कार का हेतु होने के कारण कथित अनुमान को अक्ष मानना चाहिए ॥६००॥ संस्थान-विशेष (विशेष आकार) को धारणमात्र कर लेने से कोई अक्ष नहीं कहलाता, क्योंकि उपहत चक्षु का भी वही आकार है, फिर भी वह अक्ष नहीं माना जाता। साक्षात्करण के हेतु को अक्ष

वार्तिकालङ्कारः

मनस एव समाधानप्रसङ्गतादक्षविज्ञानमपि साक्षात्कारि। अतोऽव्यक्षजन्यत्वमकारणमेव। तस्मादनुमानमपि सर्वाकारसाक्षात्करणप्रवृत्तं प्रत्यक्षमेव।

नन्वतीतादौ परोक्षेऽर्थे प्रवर्तमानं कथं प्रत्यक्षम्। नैतदपि युक्तम्।

साक्षात्करणसद्भावे कथमस्य परोक्षता। साक्षात्कृतः परोक्षश्चेदपरोक्षो न विद्यते ॥६०२॥

अथाक्षव्यापारादपरोक्षता। स एवाक्षव्यापारः साक्षात्करणमन्तरेण कथमवगम्यते। साक्षात्करणेनावगतौ सर्वाकारानुमानेऽप्यक्षव्यापारः स्यात्। अनुमानावतारस्य सर्वत्र भावात्। चक्षुरादिव्यापारोऽप्यनुमानादवगम्यते। अपि च—

सर्वाकारानुमानं हि प्राग् दृष्टस्य भवेद्यदा। तदात्मचक्षुरादीनां व्यापारोऽपि प्रतीयते ॥६०३॥

क्वचिद्भावी क्वचिद् भूतः सोऽनुमानेन गम्यते। अक्षव्यापार इत्येषा तत्राक्षव्यापृतिर्न किम् ॥६०४॥

यदा तदैवोत्पन्नो भावी वा पदार्थोऽनुमीयते। तदा भावी तत्राक्षव्यापारः प्रतीयतेऽनुमानेन। यदा भूतस्तदा भूत एव। स चासर्वाकारेणानुमानतः प्रतीयमानः समस्त्येव कथमभावोऽक्षव्यापारस्य। ननु भावी भूतो वा कथमस्ति। नैतदस्ति।

साक्षात्करणमेवास्य भावस्यास्तित्वमुच्यते। सर्वत्र साक्षात्करणात्सत्त्वं भावस्य गम्यते ॥६०५॥

वर्तमानाभिमतस्यापि पदार्थात्मनि स्तम्भादौ साक्षात्करणादेव गम्यते तदस्तित्वं नान्यतः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मानने पर मन को भी अक्ष मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि मन की पटुता के कारण वस्तु का आकार स्पष्ट दिखाई देता है। यदि मन किसी कारण व्याकुल हो, तो चक्षुरादि से भी स्पष्ट प्रतीतियाँ नहीं होतीं ॥६०१॥ स्वस्थ मन की सहायता से ही ऐन्द्रियक विज्ञान साक्षात्कारी होता है, अतः ज्ञानगत साक्षात्कारिता का प्रयोजक अक्षजन्य नहीं। फलतः अनुमान ज्ञान भी सर्वाकारताग्रहण में सक्षम प्रत्यक्ष ही है।

प्रश्न—अतीतादि परोक्षार्थ के ग्रहण में प्रवृत्त अनुमान प्रत्यक्ष क्योंकर होगा?

उत्तर—अनुमान जब पदार्थों के साक्षात्करण में सक्षम है, तब वह परोक्ष क्यों होगा? यदि साक्षात्कृत पदार्थ भी परोक्ष है, तब अपरोक्ष क्या होगा? ॥६०२॥ यदि अक्ष-व्यापार से अपरोक्षता मानी जाती है, तब साक्षात्करण के बिना अक्ष-व्यापार का ज्ञान क्योंकर होगा? साक्षात्करणता के द्वारा अक्ष-व्यापार की अवगति मानी जाती है, तब सर्वाकारावगाही अनुमान में भी अक्ष-व्यापार मानना होगा। अनुमान की गति अबाधित है। चक्षुरादि-व्यापार भी अनुमान से अवगमित हो जायगा। अपि च पूर्व दृष्ट पदार्थ का सर्वाकारानुमान जब होता है, तब अपने चक्षुरादि का व्यापार प्रतीत होगा ॥६०३॥ जो अक्ष-व्यापार कहीं भावी और कहीं अतीत होता है, वह अनुमान का विषय है, अतः अनुमान-स्थल पर अक्ष-व्यापार क्यों नहीं होगा? ॥६०४॥ जब कि उसी समय में उत्पन्न अथवा भावी पदार्थ का अनुमान किया जाता है। वहाँ भावी अक्ष-व्यापार अनुमान से प्रतीत होता है, तब अनुमान के परिसर में अक्ष-व्यापार का अभाव क्योंकर होगा?

प्रश्न—भावी (अनागत) या भूत (अतीत) पदार्थ वर्तमान काल में कैसे रहेगा?

उत्तर—भावपदार्थ का साक्षात्करण ही अस्तित्व (वर्तमान) कहलाता है। भावपदार्थ की साक्षात्करणरूपता सर्वत्र प्रतीत होती है ॥६०५॥ स्तम्भादि भाव पदार्थों के साक्षात्करण से ही उसका अस्तित्व ज्ञात होता है, अन्य रीति से नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

नन्वसाक्षात्कृतेऽपि वह्न्यादावनुमानगम्यमस्तित्वम्। न तत्रापि तथाभूतस्यैवा-नुमानं साक्षात्कृतं क्रियमाणं करिष्यमाणञ्चानुमीयतेऽन्यथानुमानाप्रवृत्तेः। दर्शनानुसार्यनुमानं दृश्यतामेवानुमापयति। अन्यथाऽयोगात्। यदि तु न केनचिद् दृष्टं दृश्यते द्रक्ष्यते वा तदा च सविषाणायमानमसदेव। सर्वसामर्थ्योपाख्याविरह एवानुपाख्या।

ननु वर्तमानकालसम्बन्धोऽस्तित्वं न साक्षात्करणम्। तथा च योगिनामतीताना-गतपदार्थसाक्षात्करणं भवद्भिरिष्यते। वर्तमानतामात्रदर्शने तु नासावतीतादिदर्शी। ततः सर्वजनसमानता कथमस्य शास्तृत्वं योगित्वं वेति परे उक्तवन्तः। तत्रेदमुच्यते—

न प्रमाणेन केनापि गतिः कालस्य विद्यते। रूपादिमात्रस्य गतिः प्रत्यक्षादनुमानतः ॥६०६॥

प्रत्यक्षमतिवृत्त्यापि वृत्तिमभ्युपलभ्यते।

प्रत्यक्षेण रूपादीनां स्वभाव एव केवलमुपलभ्यते न कालादियोगः। तदाकारमात्रसमागमनादध्यक्षस्य। न हि पुरोवर्त्याकारपरिग्रहमन्तरेण प्रत्यक्षमीक्षते। अन्यथा सर्वः सर्वदर्शी भवेत्। न च पुरोवर्त्याकारतया कालः स्तम्भादिवदुपलभ्यते। नापि प्रत्यक्षमन्तरेणानुमानम्। अथ क्षिप्रचिरादिप्रत्ययग्राह्योऽनुमेयो वा। तदपि न सम्यक्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—साक्षात्करण से ही अस्तित्व का ज्ञान क्यों? अनुमानादि से भी वह्न्यादि पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

समाधान—यह कहना उचित नहीं कि अस्तित्व अनुमान-गम्य भी होता है, क्योंकि वहाँ भी तथाभूत (साक्षात्क्रियमाणाकार) वस्तु का ही अनुमान होता है अर्थात् "साक्षत्कृतम्" या 'क्षाक्षात्क्रिमाणम्' या 'साक्षात्करिष्यमाणम्'—ऐसा ही अनुमान होता है, अन्यथा अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती। दर्शनानुसारी अनुमान वस्तु की दृश्यता का ही साधक होता है अन्यथा नहीं। जो पदार्थ किसी के द्वारा दृष्ट, दृश्यमान या द्रक्ष्यमाण नहीं, वह शश-शृङ्ग के समान असत् है, सर्वसामर्थ्य-रहित निरुपाख्य-मात्र है।

शंका—वर्तमानकाल का सम्बन्ध ही वस्तु की सत्ता है, साक्षात्करण नहीं। अतएव आप (नैयायिकादि) अतीत और अनागत पदार्थों का भी योगियों के द्वारा साक्षात्करण मानते हैं। वर्तमानमात्र का साक्षात्करण मानने पर योगिपुरुषों को अतीतानगत का साक्षात्कार न हो सकेगा। फलतः योगिजन भी जनसाधारण की श्रेणी में रह जाते हैं, उनमें शास्तृत्व और योगित्व नाम की विशेषताएँ क्योंकर उपपन्न होंगी?

समाधान—किसी भी प्रमाण के द्वारा काल की सत्ता सिद्ध नहीं होती। रूपादिस्कन्धों की केवल सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती है। प्रत्यक्षीय क्षेत्र को सीमा पार करके अनुमान की प्रवृत्ति मानी जाती है ॥६०६॥ आशय यह है कि प्रत्यक्ष तो केवल रूपादि (घटादि) के स्वरूपमात्र का ग्राहक होता है, कालादि के सम्बन्धों का नहीं। विषयवस्तु के आकारमात्र को लेकर प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु का साधक होता है। पुरोवर्ती आकार का परिग्रह किये बिना प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं देखी जाती, अन्यथा सभी सर्व-प्रत्यक्षदर्शी हो जायेंगे। जैसे स्तम्भादि का आकार पुरःस्थित उपलब्ध होता है, वैसा काल का कोई आकार-प्रकार नहीं। प्रत्यक्ष की सहायता के बिना अनुमान भी काल को प्रमाणित नहीं कर सकता।

वार्तिकालङ्कारः

चिरमित्यादिबुद्धीनां न पुरोवर्त्तिकालता । नैवमाकारविरहे बुद्धेः प्रत्यक्षतेष्यते ।।६०७।।

चिरंकृतमित्यादौ घटादिकमेवावभासते । न तु तत्रापरः कालः । अथापि स्याद् । यदि घटादय एव कार्यताभाजोऽवभासन्ते । कस्तर्हि चिराद्यर्थः । अत्रोच्यते—

घटाद्यवयवादीनां समाप्तिर्मन्दताक्रमात् । चिरार्थः कालविरहे कारणानामसन्निधेः ।।६०८।।

मन्दक्रमेण या घटाद्यवयवानां परिनिष्पत्तिः समाप्तिश्चिरार्थः स ।

ननु कालमन्तरेण सैव मन्दताक्रमश्च न युक्तः । न । साधनासन्निधानमात्रेण तदुपपत्तेः । साधनासन्निधानञ्च सन्निधानकारणाभावात् । सन्निधानकारणाभावोऽपि सत्कारणाभावत इत्यनादिरेव हेतुप्रक्रमः । ततो न कालो नाम कश्चित् ।

अथ कालबलान्मान्द्यं क्षिप्रता वा प्रवर्तते । कार्याणां हेतुना तत्र किं कृत्यमिति चिन्त्यताम् ।।६०९।।

कालः कार्याणां प्रवर्तकः किमत्र कारणानां व्यापारस्य फलम् । कारणमन्तरेण न कालः समर्थ इति चेत् । कारणभावाभावाभ्यामेव तर्हि कार्याणामुत्पादः कालस्तु न समर्थः । यदि तु कालाभावे कारणानामसामर्थ्यम् । युक्तः कालस्य कारणभावः । न चाभावः कालस्य व्यापिनित्यत्वात् । अथापरापरकालसमवधानापेक्षकारणादुत्पत्तिस्त-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—"इदं क्षिप्राद्", "इदं चिरात् कृतम्"—इत्यादि व्यवहारों के द्वारा विलम्बाविलम्बसंज्ञक काल की सिद्धि क्यों न होगी ?

समाधान—"चिरं कृतोऽयं घटः"—इत्यादि प्रतीतियों में 'पुरोवर्ती आकारतया' काल का भान नहीं होता । आकार-रहित पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता ।।६०७।। 'चिरं कृतम्'—इत्यादि प्रतीतियों में केवल घटादिरूप कार्यों का ही भान होता है, न कि काल नाम के किसी अन्य पदार्थ का ।

शंका—यदि उक्त प्रतीतियों में कार्यता के आश्रयीभूत घटादि पदार्थों का ही भान होता है, तब चिरादि शब्दों का क्या अर्थ ?

समाधान—घटादि के अवयवभूत कपालादि पदार्थ युगपत् जुट नहीं पाये, अपितु क्रमशः प्राप्त हुए, ऐसे अवयवों से निर्मित घट के लिए कह दिया—'चिरात् कृतोऽयम्' । उसका मूल कारण है—कारण-सामग्री का सन्निधानाभाव ।।६०८।। अर्थात् घटादि की अवयवादि सामग्री का मन्दक्रम से जुट पाना ही 'चिर' शब्द का अर्थ है ।

शंका—काल के बिना मन्दता-क्रम नहीं बन सकता ।

समाधान—उक्त क्रम तो साधनों के असन्निधानमात्र से उपपन्न हो जाता है। साधनों का असन्निधान अपने कारण के अभाव पर निर्भर है। सन्निधान के कारणों का अभाव भी अपने कारणों के अभाव से—इस प्रकार अनादि कारणाभाव-परम्परा में पर्यवसान हो जाता है । फलतः कालनाम का कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता ।

यदि काल के बल पर मन्दता या क्षिप्रता की उपपत्ति की जाती है, तब घटादि कार्यों के कारणों से क्या किया जाता है ? ।।६०९।। काल ही यदि घटादि कार्यों का प्रवर्तक है, तब कारण-व्यापार का क्या फल ? कारण-कलाप के बिना यदि काल कर्म-प्रवर्तन में समर्थ नहीं, तब कारण के भावाभाव पर ही कार्यो का भावाभाव सिद्ध होता है । यदि काल का अभाव होने पर कारणकलाप कार्योत्पादन में समर्थ न हो, तब अवश्य ही काल में कारणभाव (कारणता) मानना होगा, किन्तु काल का न तो दैशिक अभाव हो सकता है और न कालिक, क्योंकि काल व्यापक एवं नित्य माना जाता है ।

वार्तिकालङ्कारः

देवापरापरकालसमवधानं कुतः। कारणान्तरादिति चेत्। तत एव तर्हि कार्यक्रमः किं कालेन। क्रम एव काल इति चेत्। न। सहितासहितभावस्य क्रमत्वात्। स च पदार्थरूप एवेति नापरः कालः। अथादित्यादिगतिरेव कालः। न। आदित्यादिस्वरूपव्यतिरेकेण गत्यभावात्। तच्च स्वरूपं प्रत्यक्षगम्यमेव।

दृष्टतातीतकालत्वं दृश्यता वर्तमानता। भाविता द्रक्ष्यमाणत्वमिति कालव्यवस्थितिः ॥६१०॥

कथन्तर्हि व्यतिरेकप्रत्ययोऽयं कालोऽस्य भावस्येति।

कायः शिलासुतस्यायं व्यतिरेकगतिर्यथा। कालस्य व्यतिरेकित्वं तथा प्रमितिसङ्गतम् ॥६११॥

तथा चाह लोकः—

कः कालो भवतो जातः सुस्थितत्वादि किन्तव। तत्स्वरूपविशेषस्य प्रश्ने युक्तमिदं वचः ॥६१२॥

तत इदानीमदृश्यमानमतीतमनागतमित्यर्थतत्त्वम्। एवमतीतादिदर्शनं योगिनामिति अदृश्यमानदर्शनमिति प्राप्तम्। तत्र यदि स्वयमदृश्यमानं पश्यतीत्युच्यते। तदा माता च वन्ध्या चेति प्राप्तम्। तस्मादतीतादि पश्यतीति कोऽर्थः। अन्येनादृश्यमानं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि अपरापर काल-समवधान-सापेक्ष काल से कार्यों की उत्पत्ति मानी जाती है, तब प्रश्न उठता है कि अपरापर काल का समवधान किससे होगा? यदि कहा जाय कि कारणान्तर से, तब उसी से कार्यक्रम बन जाता है, काल की क्या आवश्यकता? यदि कहा जाय कि क्रम ही काल है—तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कारणकलाप का सहित (युगपत्) प्राप्त होना अक्रम और असहित (युगपत् प्राप्त न होना) क्रम कहलाता है, वह तो कारण पदार्थों का स्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं।

आदित्यादि की गति को भी काल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आदित्यादि के स्वरूप से व्यतिरिक्त गति नाम की कोई वस्तु नहीं। आदित्य का स्वरूप तो प्रत्यक्ष ही है।

पदार्थों की दृष्टता है—अतीतकालता, दृश्यता है—वर्तमानकालता और द्रक्ष्यमानता है—भविष्यत्कालता—इस प्रकार तीनों कालों की व्यवस्था की गई है ॥६१०॥ इसके अनुसार पदार्थों की विशेष अवस्था से काल कुछ भी नहीं। पदार्थों की अवस्था पदार्थों से भिन्न नहीं।

शंका—जब काल पदार्थों से नहीं तब व्यतिरेक-प्रत्यय (भेद-व्यवहार) क्यों होता है—"अस्य पदार्थस्यायं कालः"?

समाधान - यह व्यवहार मुख्य नहीं, अपितु वैसा ही गौण व्यवहार है, जैसा कि '-शिलापुत्रकस्यायं कायः"। यद्यपि शिला को हो मूर्ति का रूप दिया गया, मूर्ति से शिला भिन्न नहीं, तथापि लोक-व्यवहार में शिला को मूर्ति से भिन्न मानकर कहा जाता —यह शिला मूर्ति का शरीर है। ठीक उसी प्रकार काल का भेद-व्यवहार होता है—'अस्य कार्यस्यायं कालः' ॥६११॥ लोक-व्यवहार वैसा ही देखा जाता है—यज्ञदत्त की प्रतीक्षा में देवदत्त खड़ा रहा। यज्ञदत्त आया, देवदत्त से पूछता है कि आपको खड़े खड़े कितना समय हुआ? क्या काम है? यज्ञदत्त की स्थिति-अवस्था को वह जानता है, उससे भिन्न यद्यपि काल नहीं, फिर भी उसका प्रश्न भिन्नकाल-विषयक है ॥६१२॥

इस समय अदृश्यमान अनागत और अतीतकाल है वह तो पदार्थ का स्वरूप-विशेष है। इस प्रकार योगियों के अतीतादकाल-दर्शन का अर्थ—अदृश्यमान वस्तु का

वार्तिकालङ्कारः

पश्यति तद् दृश्यमानतया वर्तमानमेव तावता तदिति न दोषः। अन्यापेक्षया तस्यातीतादित्वम्। तस्माद्यत्साक्षात्कृतं तदेवास्तीति नातीतादक्षव्यापारस्तस्य साक्षात्कृतत्वेनास्थितत्वात्।

किञ्च तत्कालयोगेन तस्य साक्षात्क्रिया यदा। तदेदानीमसत्त्वेऽपि तस्यास्तित्वमदुर्घटम् ॥६१३॥

यद्यपीदानीन्तनकालसम्बन्धो नास्ति। तदातनकालवर्तमानतासम्बन्धस्तु साक्षात्कृतोऽस्त्येव। ततो वर्तमानार्थग्रहणादतीतादिज्ञानस्यास्त्येव सर्वाकारपरिच्छेदवतोऽध्यक्षता। कथन्तर्हि तस्यातीतता। द्रष्टुर्वर्तमानकालसम्बन्धितया ग्रहणात्। अन्यैस्तत्कालसम्बन्धितया वा ग्रहणात्। योगिना च समाधानादुत्थितेनातीतया व्यवहारात्। अद्यैव योगिना दृष्टं कथमतीतमिति चेत्। नैतदस्ति यतः—

इदानीन्तनकालत्वं द्रष्टुरेवेति गम्यते। अन्यकालः कथं युक्तो नामान्यस्य विशेषकः ॥६१४॥

यो हि कर्त्तुः कालः स कथमन्यस्य प्रमेयस्य भवेत्। न खलु कर्कताश्वस्य गोर्युक्ता। अथ तदा प्रतीयमान कथमन्यकालः। अन्यकालत्वेन प्रतीतेः। तथा हि—

यस्य यद्रूपसंवित्तिस्तदा तस्यान्यदापि वा। तद्रूपमेव तद्वस्तु कर्त्तृकालो न तस्य तु ॥६१५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दर्शनमात्र है। वहाँ प्रश्न उठता है कि वह क्या अपने अदृश्य का दर्शन है? अथवा परकीय अदृश्य का दर्शन है? प्रथम पक्ष परस्पर-व्याहत है कि अदृश्य का दर्शन कहना वैसा ही विरुद्ध है जैसे 'मेरी माता वन्ध्या' कहना। इसी प्रकार योगी अतीत और अनागत को देखता है—इसका क्या अर्थ? यदि अन्य द्रष्टा के द्वारा अदृश्यमान अर्थ को देखता है, तब तो वह अपने द्वारा दृश्यमान या वर्तमान का ही दर्शन करता है, कोई दोष नहीं। अन्य पुरुष की अपेक्षा अतीतत्व और अनागतत्व है, फलतः जो पदार्थ साक्षात्कृत है, उसी का अस्तित्व है। अतीत से अक्ष-व्यापार नहीं होता, क्योंकि वह साक्षात्कृतस्वरूप में स्थित नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि अतीतादि पदार्थों का जब तत्काल (अतीतादिकाल) के सम्बन्ध से साक्षात्करण है, तब इदानींतन अस्तित्व न होने पर भी उन पदार्थों का अस्तित्व दुर्घट नहीं ॥६१३॥ अर्थात् यद्यपि इदानींतन काल का सम्बन्ध अतीतादि पदार्थों के साथ नहीं, तथापि तदानींतन काल की वर्तमानता के सम्बन्ध से साक्षात्कृतता है ही। तब उनमें अतीतता नहीं रह सकेगी, क्योंकि द्रष्टा पुरुष ने वर्तमानकाल-सम्बन्धित्वेन उसका ग्रहण किया है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य पुरुषों के द्वारा तत्काल-सम्बन्धितया (अतीतकाल-सम्बन्धितया) गृहीत होने के कारण अतीतता बन जायगी। एवं समाधि से उठे योगी पुरुष के द्वारा अतीतता का व्यवहार होता है। योगी ने जिस वस्तु को आज ही देखा, उसमें आज ही अतीतता क्योंकर होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इदानींतनकाल-सम्बन्धित्व तो केवल द्रष्टा पुरुष की अपेक्षया है। अन्य वस्तु का काल अन्य वस्तु का विशेषण वैसे ही नहीं बन सकता, जैसे कर्क (श्वेत अश्व) का श्वेतत्व गौ की विशेषता नहीं बन सकता। उसी समय प्रतीयमान काल अन्य काल कैसे? इसका उत्तर है—"अन्यकालत्वेन प्रतीतेः"। अर्थात् जो वस्तु जिस पुरुष को यद्रूपेण प्रतीत होती है, वह वस्तु अन्य काल में भी तद्रूप ही रहती है। काल तो कर्त्ता से सम्बन्ध रखता है वस्तु से नहीं ॥६१५॥ जब काल कर्त्ता का विशेषक है, तब अन्यकालविशेषणत्वेन प्रतीयमान कर्त्ता का अन्यकाल विशेषण क्योंकर होगा?"

वार्तिकालङ्कारः

कालो हि कर्त्तुर्नार्थस्य कालान्तरविशेषणत्वेन प्रतीयमानं कथं कर्त्तुरन्यकालत्वमनुरुध्यते। कर्त्ता हि पश्चादन्यकालतां प्रतिपद्यते आत्मनः प्रतीयमानन्तु कालान्तरसम्बन्धितया प्रत्येति कथं तस्यान्यथा व्यवस्थापनम्। किञ्च कर्त्तुरपि तदा तत्कालतैव प्रतीयते। पश्चादन्यकालतान्यैव तस्य कर्त्तुस्तत्कालतेत्युक्तम्। तस्मात्तत्कालतया प्रतीयते तदिति तथास्तित्वम्। मया तु पुनरद्य प्रतिपन्नं तदिति स्मरणव्यवहारमात्रकमेव न परमार्थः। प्रत्यक्षस्यावृत्तेः। तस्मात्सर्वाकारेण प्रतीयमानं प्रत्यक्षमेव।

अथापि स्याद् यदि तत्प्रत्यक्षं कथमन्येनागतिः। यस्य हि भावी सुतस्तदनुभूयमानतया दृष्टस्तेनाप्रतीयमानतायां कथमभ्रान्तता। इदानीं योगिनः प्रतिपत्तिर्न सुतवतः। तदप्यसत्।

यथा स दृष्टः शरीरादिकालयुक्तस्तथा तस्य न बाधितत्वम्।
तत्कालयोगस्तु न तेन दृष्टस्तया प्रतीतावपि नास्ति दोषः॥६१६॥

भाविशरीरादिकालसम्बन्धी हि तेनासौ तस्य पुत्रो दृष्टः। स तथा प्रतीतावपि न बाध्यते। तदापि यद्यप्रतीतिस्ततो बाधनम्।

अथ यथा तेनाद्य तद् दृश्यते तथान्येनापि योगीतरेण, कस्माददृष्टिस्तस्येति तदप्रतीत्या बाधनम्। तदप्यसारम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कर्त्ता पुरुष क्रिया करने के पश्चात् अपने को अन्यकाल-सम्बन्धी अनुभव करता है। पश्चादनुभूयमान अन्यकालिकता उस तत्कालता से भिन्न ही है, जो उस काल में अनुभूयमान तत्कालता है। फलतः द्रष्टा पुरुष को जो यह अतीता का भान होता है कि "मया तु अद्यैव प्रतिपन्नम्।' वह औपचारिक व्यवहार मात्र है, परमार्थ नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान क्षणान्तर में नहीं रहता। अतः सर्वाकारेण प्रतीयमान वस्तु को प्रत्यक्ष ही मानना होगा।

शंका—यदि वह वस्तु प्रत्यक्ष है, तब अन्य पुरुषों को भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए, अगति (अप्रतीति) क्यों ? जिस पुरुष को अपने भावी पुत्र को अनुभूयमानत्वेन देखा है। उसका वह देखना भ्रममात्र ही कहा जायगा, क्योंकि अन्य पुरुषों को वह पुत्र नहीं दिखाई देता। योगी को वह भावी सुत दिखाई देता है, स्वयं सुत वाले पुरुष को नहीं। यह कैसा दर्शन ?

समाधान—योगी ने भावी कालिक शरीर-सम्बन्धित्वेन पुत्र का दर्शन किया है। उस रूप में उसका बाध नहीं होता। योगी ने यत्काल-सम्बन्धित्वेन पुत्र को नहीं देखा, उस रूप में उसका बाध होने पर भी कोई दोष सयुक्त नहीं होता॥ ६१६॥ योगी ने तो भावी या अतीतकाल से सम्बन्ध रखनेवाले शरीर से युक्त पुत्र देखा है। वह अन्य व्यक्ति के द्वारा प्रतीत न होने पर भी बाधित नहीं होता, क्योंकि अयोगी व्यक्ति में वह सामर्थ्य ही नहीं। हाँ, योगी को भावीकाल में यदि उसकी अप्रतीति हो, तब बाध होगा। योगी को अप्रतीति होती नहीं।

शंका—योगी को जैसे आज भावी शरीर-सम्बन्धितया पुत्र प्रतीत होता है, वैसे अयोगी व्यक्ति को भी प्रतीत होना चाहिए, किन्तु नहीं होता, अतः उसका बाध क्यों न होगा ?

समाधान—एक व्यक्ति को बहुत दूर की वस्तु दिखाई देती है, तब क्या अन्य

वार्तिकालङ्कारः

अन्येन दृश्यते दूरे यथान्येनापि किं तथा । अश्वादिकस्य सत्तायामपि सर्वैर्न दर्शनम् ॥६१७॥

शक्तिरेकस्य यत्रास्ति न परस्यापि तत्र सा । अयोगिनामदृश्यत्वादनागतमिति स्थितिः ॥६१८॥

अथापि स्याद् । यद्यनेन दृश्यते । तथापि तत्स्वरूपेण प्रतीयमानं तदा कथमनागतम् ।

उपलब्धिर्यतः सत्तानुपलब्धेरभावता । उपलब्धेप्यसत्तायां सत्ता नास्त्येव कस्यचित् ॥६१९॥

नोपलभ्यमानमेवासदित्यतिप्रसङ्गात् । अथ यत्कालं यदुपलभ्यते तदैव तत्सदिति । तदप्ययुक्तम् ।

पदार्थव्यतिरेकेण न कालः कश्चिदीक्षितः । ग्रीष्मादयः पदार्थास्तु विषया एव केचन ॥६२०॥

न खलु कालः कश्चित् विषयविशेषव्यतिरेकेण उपलभ्यते । शीतादीनामादित्यगतिविशेषाणाञ्च ग्रीष्मादिकालत्वात् । तेषाञ्च उपलभ्यत्वे वर्तमानतैव कथमतीतभाविता ।

ग्रीष्मादीनामतीतादिविवेको गम्यते कथम् । अन्याऽनुपलब्धा चेद् द्वयोर्नास्ति विवेकिता ॥६२१॥

यद्यपि तदानीमनुपलब्धिस्तथाप्यवर्तमानता तदद्यावर्तमानं किमतीतमथानागतमिति कुतो विवेकः । अत्रोच्यते—

अनुमानं यथावृत्तं तथा तदिति गृह्यताम् । प्रत्यक्षमपि तद्वस्तु तथैवेत्यवगच्छति ॥६२२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यक्तियों को भी वैसा ही होगा ? दूर देश में अश्व की सत्ता है किन्तु सब को वह दिखाई नहीं देता ॥ ६१७ ॥ एक व्यक्ति की जैसी शक्ति होती है, वैसी सबको नहीं होती । अतः अयोगी जनों को अनागत पदार्थ का दर्शन नहीं होता, इससे वस्तु का बाध क्यों होगा ? ॥६१८॥

शंका—यदि योगी पुरुष को जो वस्तु प्रतीत होती है, वह उस समय अनागत कैसे ? अर्थात् वस्तु की उपलब्धि से उसकी सत्ता निश्चित होती है और अनुपलब्धि से असत्ता । वस्तु के उपलब्ध होने पर भी यदि उस काल में सत्ता निश्चित नहीं होती, तब किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध ही नहीं होगी ॥ ६१९ ॥ उपलभ्यमान वस्तु अभी नहीं, भविष्य में होगी । तब वर्तमान किसको कहेंगे ? सामान्य नियम तो यही है कि जो वस्तु जिस काल में उपलब्ध होती है, वह उस समय सत् होती है ।

समाधान—पदार्थों से भिन्न काल का दर्शन किसी को नहीं होता । ग्रीष्मादि शब्दों के द्वारा कतिपय पदार्थों का ही अभिधान होता है ॥ ६२० ॥ वर्तमानता और अतीततादि घटादि पदार्थों की विशेषताएँ हैं, उनसे अतिरिक्त कोई काल-पदार्थ उपलब्ध नहीं होता । शीतादि पदार्थ तो आदित्यादि की गति-विशेष हैं । उनकी वर्तमानता ही उपलब्ध होती है, अतीतता या भाविता नहीं ।

प्रश्न—ग्रीष्मादि कालों का अतीतादि से विवेक क्योंकर होगा ? वर्तमान काल से जो उपलब्ध न हो, वह अतीतता और अनागतता है—ऐसा कहने पर भी अतीता और अनागतता—इन दोनों का परस्पर विवेक नहीं होता । क्योंकि वर्तमान में अनुपलब्ध दोनों हैं ॥ ६२१ ॥

उत्तर—अनुमान जिस पदार्थ का जिस रूप में ग्रहण करता है, वह पदार्थ वैसा ही मानना होगा । प्रत्यक्ष भी उस पदार्थ को वैसा ही प्रकाशित करता है ॥ ६२२ ॥ अर्थात् जैसे अनुमान पदार्थों को अतीतत्वेन या अनागतत्वेन ग्रहण करता है, वैसे ही

वार्तिकालङ्कारः

यथा तदनुमानमतीतानागतादित्वेन प्रत्येति तथा प्रत्यक्षमपि तेनानुमानेन समुत्थापितम्। न हि तदनुमानोत्थापितं प्रत्यक्षमन्यथा प्रत्येति। तस्माद्यथा यत्प्रतीयते तथा तदस्तीत्यवगम्यताम्।

नन्वनुमानोत्थापितय प्रत्यक्षस्य क्रमेण प्रतिपत्त्या भाव्यं तथा चानाद्यनन्तवस्तुप्रबन्धप्रतिपत्तेरपरिसमाप्तिरिति कथं सर्वज्ञता। नैतदस्ति।

अत्यन्ताभ्यासतस्तस्य झटित्येव तदर्थवित्। अकस्माद्धूमतो वह्निप्रतीतिरिव देहिनाम् ॥६२३॥

न ह्यभ्याससङ्गतसन्तानानां धूमादग्निप्रतीतिः क्रमव्यपेक्षायोगिनी। ततो न क्रमः प्रतीतिरिति न दोषः।

नन्वनादिवस्तुनः कथं प्रतीतिपरिसमाप्तिः परिसमाप्तौ वा कथमनादिता। नैतदस्ति।

वेदोऽपि यद्यनादिः स्यात् कथमस्मात्प्रतीतयः। अनादौ प्रतिपत्तीनां समाप्तिर्विद्यते न हि ॥६२४॥

यदि वेदोऽनाद्यनन्तः कथमतः प्रतीतिः। अनाद्यनन्ततया चेन्न समाप्तिरिति न किञ्चित् कर्त्तव्यम् यदि हि वेदादन्यदा न प्रतीतिरासीद्भविष्यति वा न वेदः प्रमाणम्।

नन्वद्य तावत् प्रतीतिरस्ति। नियोक्ता ममायं वेद इति प्रतीतेः। अन्यदा भवतु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुमान-समुत्थापित प्रत्यक्ष भी पदार्थों को वैसा ही ग्रहण करता है, अन्यथा नहीं। फलतः जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वह है—ऐसा समझना चाहिए।

शंका—जैसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य प्रत्यक्ष युगपत् पदार्थ-ग्राहक होता है, वैसा अनुमान नहीं, क्योंकि वह पक्षधर्मता और व्याप्त्यादि-ज्ञानों के क्रम साध्य वस्तु का ग्राहक होता है। वैसे ही अनुमान से समुत्थापित प्रत्यक्ष भी क्रमशः प्रतीतियाँ उत्पन्न करेगा। फलतः अनादि और अनन्त विश्व का प्रत्यक्ष के द्वारा क्रमिक ज्ञान कल्प—कल्पान्तर से नहीं हो सकता और अनुमान-जन्य प्रत्यक्ष से युगपत् सब पदार्थों का ज्ञान होता नहीं, तब कोई योगी सर्वज्ञ कैसे होगा ?

समाधान—अनुमान-व्युत्थित प्रत्यक्ष क्रमशः पदार्थों का ग्रहण करता है—ऐसा कोई नियम नहीं, अभ्यास-पाटव के आधार पर प्रत्यक्ष के द्वारा सर्व पदार्थों का युगपत् झटिति वैसे ही बार-बार धूम दर्शन-जन्य वह्नि-ज्ञान सहसा होने लग जाता है ॥६२३॥ अर्थात् अभ्यास दृढभूमि में पहुँच कर सद्यः और पूर्ण भास्वर हो जाता है, उसे क्रम की अपेक्षा नहीं रहती।

वेद प्रामाण्य-परीक्षा—[लोक में वर्णरूप शब्द सादि और सान्त माने जाते हैं। अतः किसी पद के घटकीभूत वर्णों को उत्पन्न करना पड़ता है। क्रम-विशेष से उच्चरित वर्णों से पद बनता है। पद की वाच्यार्थ-शक्ति का ज्ञान उच्चारणाभ्यास से होता है, किन्तु] अनादि और अनन्त वैदिक शब्दों से अर्थ-प्रतीति क्योंकर होगी ? शब्द न तो उत्पन्न किये जा सकते हैं और न नष्ट, अन्यथा अनादिता और अनन्तता सुरक्षित नहीं रह सकती ॥ ६२४ ॥ अर्थात् वेद यदि अनादि काल से अपने धर्मरूप अर्थ का बोध कराता आ रहा है, तब उसमें हम लोगों का कर्तव्य कुछ भी नहीं रह जाता। यदि वेद से अतीत में कभी भी अर्थ-प्रतीति नहीं हुई, और भविष्य में सम्भावित भी नहीं, तब वह प्रमाण नहीं माना जा सकता।

शंका—वर्तमान काल में तो वेद से प्रतीति हो रही है, क्योंकि "नियोक्ता मामयं

वार्तिकालङ्कारः

मा वा भूत् । तथाप्यसौ प्रवर्तकत्वात्प्रमाणमेव प्रवर्तकाभिधानात् । नैतदस्ति । यद्ययमर्थोऽन्यदास्य न स्यात् इदानीं कुतः । यदि वेदोऽन्यदा नैतदर्थ इत्याशंका । इदानीमपि प्रमाणमिति न स्यात् पूर्ववत् । अथ पूर्वमप्येवमेव । ततः परमपि । ततोऽपि परमिति न परिसमाप्तिः । तत एकदा सन्देहे परत्राप्यनाश्वास इति न प्रमाणता । अथ पूर्वं सामान्यमेकदैव प्रतीयते । तथा सत्यनुमानमेतत् । ततः सर्वाकारानुमाने प्रत्यक्षताप्यव्यवहृतैवेति । ततो नाद्यनन्तस्य प्रत्यक्षेणापि वेदनम् । तस्मात् च—

स्वसन्तानपरिच्छेदे तत्संसर्गि प्रतीयते । तत्संसर्गिप्रतीतौ च परस्यापि प्रतीतितः ।
अनन्तवस्तुविज्ञानमेवं सति न दुर्घटम् ।।६२५।।

तस्मादपरिमितकार्यकारणभावभेदाभ्यासे सकलकार्यभेदभासनं तत्-प्रभावाच्च कारणभेदस्यापीति । अयमुपायाभ्यास उपायः सर्वपरिच्छेदस्य । अतो दयावान् अवश्यमुपायाभियोगी । वेदस्तु परिज्ञानतोऽपि स्वर्गापवर्गमात्रवेदने नोपाय इति प्रागेव प्रतिपादितम् ।

ननु यदि नामोपायाभ्यासात् समीहितं सर्ववेदनम् । रागप्रहाणञ्च सम्भवति । तथापि वासनावैगुण्यादन्यथापि अपदिशेदसमाहितावस्थायाम् । क्षुदादियोगस्तु व्याघातकारी परार्थस्येति न वेदादस्य विशेषः । नैतदस्ति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वेदः"—ऐसी प्रतीति सर्व-सम्मत है । हाँ, अन्यदा (भविष्य में) प्रतीति हो या नहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता, नियोग रूप प्रवर्तक पदार्थ का अभिधान करता, अतः वेद प्रमाण अवश्य है ।

समाधान—यदि वेद से अन्य काल में प्रतीति नहीं हुई, तब इस समय भी कैसे होगी ? यदि वेद अन्यदा एतदर्थक है ? या नहीं ? ऐसी शंका है, तब इस (वर्तमान) समय में भी पूर्ववत् प्रमाण न हो सकेगा । यदि पूर्व काल में भी शंका ही थी, तब उत्तरोत्तर शंका ही व्याप्त होती जायगी, उसकी कभी समाप्ति न होगी । एकत्र सन्देह होने से परकाल में विश्वास न रहने के कारण प्रमाणता कभी निश्चित नहीं हो सकेगी । यदि पहले सामान्यार्थ की प्रतीति एक-काल में ही मान ली जाती है, तब वेद अनुमान प्रमाण ही हो जाता है, फलतः सर्वाकारानुमान हो जाने पर सर्वज्ञता निष्पन्न हो जाती हैं एवं अनादि और अनन्त पदार्थ की प्रत्यक्षतः प्रतीति सिद्ध हो जाती है । कार्य-कारण-सन्तति में एक कार्य के ज्ञान से उसके कारण का ज्ञान, उससे उसके कारण का ज्ञान—इस प्रकार अनादि और अनन्त वस्तुतत्त्व का ज्ञान सम्पन्न हो जाता है ।। ६२५ ।।
अपरिमित (अनन्त) कार्य कारणभाव का अभ्यास हो जाने पर सकल कार्यों और उनकी कारण-सन्तति का अवभास यगपत् हो जाता है । यह उपायाभ्यास सर्वज्ञता का एकमात्र उपाय (साधन) है । अतः दयावान् पुरुष अवश्य ही उपायान्वेषी और परोद्धार का उपायभूत होता है किन्तु वेद स्वर्गापवर्ग का बोधक होने पर भी किसी के दुःख-प्रहाण का उपाय नहीं होता—यह पहले ही कहा जा चुका है ।

शंका —यद्यपि उपायाभ्यास के द्वारा अभीष्ट समस्त पदार्थों का ज्ञान और राग का प्रहाण हो जाता है, तथापि योगी अपनी वासनाओं की विगुणता के आधार पर असमाहित अवस्था में अन्यथा का व्यवहार भी कर सकता है । क्षुधादि को परार्थ का घातक ही माना जाता है, फलतः जैसे वेद अनिश्चायक होने से प्रमाण नहीं, वैसे ही

वार्तिकालङ्कारः

वेदस्य मूलाभावान्न प्रामाण्यं परमार्थतः । नार्थेन सङ्गतिस्तस्य व्यवहारोऽप्यमूलकः ।।६२६।।

न खल्वनादित्वे वेदस्य प्रथममर्थसम्बन्धपरिग्रहः । व्यवहारस्तु याज्ञिकानाममूलक एव ततोऽन्धपरम्परैव परम् । विकल्पार्थप्रतिभासनमपि संकेतबलात् न च तावतार्थप्राप्तिरन्यत्रापि दर्शनादिति प्रतिपादितम् । अथ त्वनुमानमूलता । ततो वासनायामपि न दोषः । किञ्च—

बुद्धेश्च पाटवाद्धेतोर्वासनातः प्रहीयते । परार्थवृत्तेः खड्गादेर्विशेषोऽयं महामुनेः ।।६२७।।

पटुप्रबोधस्य सकलमेव सूक्ष्ममपि गुणदोषजातमाभाति । सत्त्वार्थरक्तस्य यदपि इष्टत्वं पीडाकरं ततस्तदभ्यासेन तिरस्करोति । क्षुदादयोऽपि विपरीतभावनावतामेव भवन्ति नान्यथा । तथा हि—

यदा जातिस्मरत्वेन पूर्वाविष्टम्भसङ्गतिः । तदा देवादिभावेन क्षुद्दैन्यादेरसम्भवः ।।६२८।।

किञ्च—

त्रिर्भोक्ताभ्यासतः सार्थं द्विर्भुक्तेऽप्यधिगच्छति । द्विर्भोक्तासकृदेवेति ततः क्षुत्सर्वथाऽसती ।।६२९।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बौद्ध-सम्मत योगी पुरुष भी । दोनों में कोई अन्तर नहीं ।

समाधान—वेद निर्मूल है, प्रमाण ही नहीं हो सकता । वैदिक शब्दों की संगति किसी भी अर्थ के साथ नहीं, तब वेद किस अर्थ का बोधक होकर प्रमाण होगा ? परिशेषतः वेद निर्मूल सिद्ध होता है ।। ६२६ ।। वायु-तत्त्व को गतिशील देख कर गत्यर्थक 'वा' धातु से वायु-वाचक 'वायु' शब्द की रचना सम्भव है किन्तु वैदिक शब्द अनादि हैं, आज तक किसी अर्थ के साथ सम्बन्ध हुआ ही नहीं, तब शब्दार्थता का निर्णय क्योंकर होगा ? ['तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'' (जै. सू. २।१।३२) इस सूत्र में जो अभियुक्त या याज्ञिक लोगों को शब्दार्थता का निर्णायक माना है—"अभियुक्ता उपदिशन्ति।" याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।" वह भी उचित नहीं, क्योंकि] याज्ञिक लोगों का व्यवहार भी निर्मूल ही है, परिशेषतः वेद और वैदिक व्यवहार एक अन्धपरम्परामात्र है । किसी संकेत के आधार पर विकल्पित अर्थों का प्रतिभासन भी उचित नहीं ठहराया जा सकता । यदि वैदिक शब्दों के द्वारा किसी अर्थ का अनुमान किया जाता है, तब बौद्ध-मत में किसी योगी पुरुष का स्वकीय वासना के अनुरूप धर्माधर्मव्यवस्थापन भी असंगत नहीं ठहराया जा सकता । उपायाभ्यास के द्वारा भगवान् की समस्त वासनाएं समाप्त हो जाती हैं । वासना-नाश हो बुद्ध की वह खड्ग (असि) है, जिसको पाकर श्रावक और प्रत्येक बुद्ध की अपेक्षा भगवान् का महान् वैशिष्टय सिद्ध होता है—यह पहले कहा जा चुका है ।। ६२७ ।। पटु-प्रबोध-प्रकाश में सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुण-दोष भी विभात हो जाता है । सत्त्व (जीव) की आसक्ति का जनकीभूत रागादि उपायाभ्यास के द्वारा प्रहीण हो जाता है । क्षुधादि भाव भी विपरीत भावना वाले अज्ञानी जनों को ही पीडित करते हैं । अर्थात् जब बोधि-सम्पन्न महापुरुष जातिस्मरता (पूर्वजन्मों का स्मरण) प्राप्त कर लेता है । पूर्वजन्म में देवता था—ऐसा ज्ञान होने पर क्षुधा और दीनता-हीनता आदि की सम्भावना नहीं रहती ।। ६२८ ।। दूसरी बात यह भी है कि दिन में तीन बार खाने का अभ्यास करलेने पर भोक्ता को दो बार खाने पर क्षुधा-सी लगी रहती है । इसी प्रकार दो बार खाने का अभ्यास हो जाने पर एक बार खाने से क्षुधा ही लगी रहती है । इसी प्रकार अभ्यास के आधार

परार्थवृत्तेः खड्गादेर्विशेषोऽयं महामुनेः ।
उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम् ॥ १४० ॥

भगवान् बुद्ध में समस्त रागादि वासनाओं का जो क्षय है, वह एक ऐसी खड्ग (तलवार) है, जिससे परार्थ-साधन (परकीय दुःखों का नाश) किया जाता है। यह एक ऐसा उपायाभ्यास है, जो प्रत्येक बुद्धादि की कक्षा से महाबुद्ध को ऊपर उठाकर अभूत-पूर्व शासन (उपदेशक्षमत्व) प्रदान करता है। शासन की क्षमता प्रदान कराने के कारण इसे भी शासन ही माना जाता है। आरम्भ (पृ. ३) में ही उपदेश या शासन को परार्थसम्पत् कहा जा चुका है॥ १४० ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि तु वस्तुवृत्तमेवैतत्। अभ्याससाधितं न भवेत्। तस्माद्—

अभ्यासमूलकाः सर्वे गुणदोषाश्च देहिनाम्। आत्मायत्तः स चाभ्यासो गुणेष्वेव वरं कृतः ॥६३०॥

अत एव चाभ्यासपाटवसङ्गमादेव प्रत्येकबुद्धश्रावकेभ्यो भगवान् विशिष्यते सुगतः। नन्वाचार्येण शासनमुपायत्वेन दुःखप्रशमस्य निर्दिष्टम्। तथा चोक्तं—प्रयोगो जगच्छासनाच्छास्तृत्वम्। ततः कथमुपायाभ्यासः स्यात्। सत्यमेतत्। किन्तूपायाभ्यास एव शासनं नापरमित्याह—उपायाभ्यास इति।

न खलु मुख्यं शासनमभिमतं किन्तूपायाभ्यास एव। कथं तादर्थ्यात्। भवति हि तदर्थे तच्छब्दः। तद्यथेन्द्रार्था स्थूणेन्द्रशब्दवाच्या। तदर्थत्वं कुतस्ततोऽभावात्। उपायाभ्यासबुद्धिपाटवाभ्यां शासनं निवर्तते। कुत एतज्ज्ञायते। तदाह—"हेतुरुक्तमिदं द्वयम्"। तत्र हेतुराशयप्रयोगसम्पत्। आशयो जगद्धितैषिताप्रयोगो जगच्छाशनाच्छास्तृत्वम्। हेतुरुक्तमेतदित्यपि कुतः। प्रथममुक्तेरेव न हि मुख्यस्य सुगतत्वे हेतुत्वम्। तस्मादुपायाभ्यास एव शासनं नान्यदित्यवगन्तव्यम्। एवमुपायाभ्यासात्सुगतो भवति भगवान्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर क्षुधा घटती-बढ़ती रहती है। यदि क्षुधा की वस्तु सत्ता हो, तो आभ्यास से अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि क्षुधा नाम की वस्तु कोई है ही नहीं ॥ ६२९ ॥ फलतः प्राणियों के सभी गुण और दोष अभ्यासमूलक होते हैं। अभ्यास मनुष्य के अपने अधीन है, तब गुणों के बढ़ाने का ही अभ्यास करना चाहिए ॥ ६३० ॥ अतः अभ्यास-पाटव के आधार पर, भगवान् सुगत अन्य सभी बुद्धों से श्रेष्ठ हैं।

प्रश्न—यहाँ आचार्य ने प्रशास्तृत्व को दुःख-निरोध का उपाय बताया है—"प्रयोगो जगच्छास्तृत्वम्" (विगत पृ० २) तब उपायाभ्यायास कैसे होगा?

उत्तर—शासन भी एक उपायाभ्यास ही है। यही कहा गया है "उपायाभ्यास एवायम्" इत्यादि। यहाँ मुख्य शासन अभिप्रेत नहीं, अपितु उपायाभ्यास मात्र। अर्थात् शासनार्थक होने के कारण उपायाभ्यास को शासन कह दिया गया है। कारण में कार्योपचार बहुधा देखा जाता है? जैसे इन्द्रार्थक स्थूणा को इन्द्र या आयुवर्धक घृत को 'आयुर्वै घृतम्' कह दिया जाता है। यह कैसे जाना जाय कि उपायाभ्यास ही शासनार्थक है? क्योंकि उपायाभ्यास के अभाव में शासन नहीं होता। उपायाभ्यास और बुद्धिपाटव के द्वारा ही शासन सम्पन्न होता है। यही कहा है—"हेतुरुक्तमिदं द्वयम्"। यह आरम्भ में ही (पृ. ३ पर) कहा जा चुका है—"हेतुराशयप्रयोगसम्पत्।"

निष्पत्तेः प्रथमं भावाद् हेतुरुक्तमिदं द्वयम् ।
हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वमनिःश्रयात् ॥ १४१ ॥

सुगतत्वरूप फल की निष्पत्ति के पूर्व रहने के कारण हितैषिता और शास्तृत्व—ये दोनों सुगतत्व के कारण माने जाते हैं। सुगतत्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है—"हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वम्।" अर्थात् दुःख के अविद्यादि कारणों का निरोध (नाश) सुगतत्व है। वह निरोध त्रिगुण है—(१) सुरूप के समान प्रशस्त, (२) सुनष्ट ज्वर के समान अपुनरावृत्तप्रतियोगिक या अत्यन्त नाश तथा (३) सुपूर्ण घट के समान निःशेष। पुनः दुःख की अनाश्रयता का कारण है—'नैरात्म्यदृष्टि' ॥१४१॥

दुःखस्य शस्तं नैरात्म्यदृष्टेश्च युक्तितोऽपि वा ।
पुनरावृत्तिरित्युक्तौ जन्मदोषसमुद्भवौ ॥ १४२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

(३०) सुगतत्वात् भगवान् प्रमाणम्—

किन्तत्सुगतत्वमित्याह—हेतोः प्रहाणमिति।

"आत्मात्मीयग्रहकृतः स्नेहः संस्कारगोचरो" हेतुः। तस्य हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं प्रशस्तत्वात् अपुनरावृत्तेः निःशेषप्रहाणञ्चेति। प्रहाणमभाव आत्मात्मीयग्रहादेः। तस्याभावस्य दुःखनिःश्रयाभावात् प्रशस्तत्वम्। आत्मात्मीयग्रहे तु तीर्थ्यानां दुःखस्य प्रहाणम्। हेतोर्दुःखसङ्गतम्। आत्मात्मीयग्रहे हि निःसन्दिग्धं दुःखमास्ते। तदेव प्रहाणम्। कुतो नैरात्म्यदर्शनादेव। दर्शनहेयक्लेशप्रहाणं दर्शनादेव। युक्तितो वा। युक्तिरभ्यासो भावना भावनाहेयस्य क्लेशराशेः। अथवा युक्तिर्योगः। परस्परसङ्गताद्वैतम्। अद्वैतदृष्टितोऽपि वा। एकदा पुद्गलनैरात्म्यादथवा धर्मनैरात्म्यात्। सर्वथानैरात्म्यदर्शनान्न दुःखाश्रयणमिति। एवं तावत्प्रशस्तता गुण एकः। अपुनरावृत्तिगुणस्तु द्वितीयः। कासावपुनरावृत्तिरित्याह—पुनरावृत्तिरित्युक्ताविति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आशय का अर्थ जगद्धितैषिता और प्रयोग का अर्थ है—जगच्छास्तृत्व। उपायाभ्यास ही शासन है, अन्य नहीं। फलतः उपायाभ्यास से सुगतत्व का लाभ होता है।

(३०) सुगत होने के कारण भगवान् प्रमाण हैं—

सुगतत्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है—"हेतोः प्रहाणमित्यादि।" अर्थात् आत्मा और आत्मीय (मैं और मेरा) ऐसा व्यवहार रागादि संस्कारों से जनित होता है। आत्मात्मीय-राग (सत्कारदृष्टि) रूप आसक्ति के कारण का नाश अनात्मदर्शन से होता है। वह नैरात्म्यदर्शन त्रिगुण है—(१) प्रशस्त, (२) अपुनरावृत्त और (३) निःशेष है, प्रहाण का अर्थ है—अभाव। किसका? आत्मात्मीय-ग्रह" (सत्काय दृष्टि) का। 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा' है—इस प्रकार की मिथ्या दृष्टि ही दुःखों का मूल कारण है। नैयायिकादि तैर्थिकगण आत्मात्मीय-ग्रह (आत्मवाद) ही दुःख का एकमात्र हेतु है। इसी हेतु से जन्म-मरणादि दुःख प्राप्त होते हैं। इस सत्काय दृष्टि से ही निःसन्देह दुःख उत्पन्न होता है। उसके हेतुभूत आत्मात्मीय-ग्रह का प्रहाण किससे होता? नैरात्म्यदर्शन से। दर्शन-हेय क्लेशों का प्रहाण दर्शन (नैरात्म्य-दर्शन) से ही होता है। अथवा युक्ति से होता है। युक्ति नाम है—अभ्यास या भावना का। क्लेशराशि भावना-हेय है। अथवा 'युक्ति' शब्द का अर्थ योग या परस्पर-संगत अद्वैत

नैरात्म्य-दर्शन दुःख-निवृत्ति का प्रशस्त उपाय है। युक्ति से भी यही सुदृढ़ होता है [श्री शान्तिदेव ने युक्तिप्रदर्शन करते हुए कहा है—

"यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्राहमिति शश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्णातितृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्तु संसारः॥

अर्थात् सत्कायदृष्टि [शरीर में आत्म-सत्ता का अभिवेश सकल दुःखों का मूल है, फलतः नैरात्म्यदृष्टि सभी दुःखों का नाशक है।] जन्म एवं अविद्यादि दोषों की पुनरावृत्ति (पुनः समुदय) को पुनरावृत्ति कहते हैं॥ १४२॥

वार्तिकालङ्कारः

जन्मनः सम्भवो दोषाणां च पुनरावृत्तिः। निर्दोषावस्था रागाद्यभावात्। पुनरनुत्पत्तिश्च जन्माभावः। मोक्षनगरगमनम्। दोषभावे जन्मनश्च पुनरावृत्त इत्युच्यते। ते च दोषा आत्मदर्शनाभावान्न पुनरुत्पद्यन्ते। आत्मदर्शनबीजोद्धरणात्। जन्म च क्लेशाभावात् न सम्भवति। ततो पुनरागमः। "क्लेशकर्मोद्भवं जन्मेति" पश्चात्प्रतिपादयिष्यते। आत्मदर्शनाभावाच्च कुतः क्लेश इत्याह—

आत्मोपकारस्मरणादुपकारिणिरागिता। अपकारस्मृतौ द्वेषो मोह आत्मादिदर्शनम्॥६३१॥

आत्मनि उपकारिण्यपकारिणि च रागद्वेषौ तावात्माभावान्न स्तः। आत्मदर्शनन्तु मोहः। स नैरात्म्यभावात्साक्षादेव निवर्तते। अद्वैतदर्शने तु सुतरामेव रागनिवृत्तिविषयाभावात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(विज्ञप्तिमात्रता) है। पुद्गल-नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य के दर्शन से दुःख की निवृत्ति होती है। [आचार्य वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता में आत्मा और समस्त पदार्थों को एक ही विज्ञान में अध्यस्त माना है—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिमाणोऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥" (त्रिंशिका० १)

अर्थात् आत्मा (जीव, और धर्म (समस्त पदार्थों का अध्यास एकमात्र विज्ञान में किया जाता है। वस्तुतः एकमात्र विज्ञान की ही विश्व में सत्ता है]। सर्वथा नैरात्म्य-दर्शन दुःखों का निवर्तक है। सुगतत्व में तीन गुण होते हैं—एक सर्व-प्रशस्तता, दूसरा अपुनरावृत्तिता और तीसरा निःशेषता है। अपुनरावृत्ति क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर है—'पुनरावृत्तिरित्यादि'। पुनर्जन्म एवं जन्म देनेवाले अविद्यादि दोषों का पुनरुद्भव पुनरावृत्ति है। रागादि दोषों का अभाव निर्दोषावस्था है और पुनरनुत्पत्ति है-- जन्माभाव। इसे ही मोक्षनगर-गमन भी कहते हैं। अविद्यादि दोषों से युक्त सत्त्व पुनरावृत्त कहलाता है। आत्म-दर्शनाभाव (नैरात्म्यदर्शन) हो जाने पर अविद्यादि दोष पुनः उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि नैरात्म्य-दर्शन से आत्मदर्शनरूप (सत्काय दृष्टि) बीज समाप्त हो जाता है। क्लेशों का अभाव हो जाने पर जन्म सम्भव नहीं होता। जन्मग्रहण ही पुनरागमन है। यही पश्चात् भी कहा जायगा—"क्लेशकर्मोद्भवं जन्म"। आत्मदर्शनाभाव (सत्कायदृष्टि) का अभाव होने पर क्लेश क्योंकर होंगे ? यह कहा जाता है—आत्मा में उपकारकत्व के स्मरण से राग और अपकारकत्व के स्मरण से द्वेष होता है। आत्मदर्शन (सत्काय दृष्टि) ही मोह है॥६३१॥ उपकारी आत्मा में राग

आत्मदर्शनबीजस्य　　हानादपुनरागमः ।
तद्भूतभिन्नात्मतया शेषस्य क्लेशनिवर्तनम् ॥ १४३ ॥

जन्म-मरण-प्रवाह के कारण कारणीभूत आत्मदर्शन (सत्काय-दृष्टि) का हान (नाश) हो जाने से संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। उस आत्मदर्शन (सत्कायदृष्टिरूप) बीज का नाश भूत (सत्यभूत) नैरात्म्यदर्शन से होता है ॥ १४३ ॥

कायवाग्बुद्धिवैगुण्यं मार्गोक्तस्यापटुतापि वा ।
अशेषहानमभ्यासादुक्त्यादेर्दोषसंक्षय ॥ १४४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ननु नैरात्म्यदर्शनं फलं निवर्तकमात्मदर्शनस्य विपरीतत्वादिति चेत्। परस्परं समानं विपरीतत्वम्। ततो निर्वर्तितं नैरात्म्यदर्शनेनात्मदर्शनं निवर्तकमपीति नापुनरावृत्तिस्ततोऽशेषनिवृत्तिरपि नास्त्येव। न चान्यः शेषः पुनरावृत्तेः।

अत्रेदमुच्यते—तद्भूतभिन्नात्मतयेति।

तस्य नैरात्म्यदर्शनस्य सद्भूतत्वात्। विपरीतत्वाच्च। तद्विपरीतत्वादात्मदर्शनस्य। भूतमभूतस्य निवर्तकं वैपरीत्येन वैपरीत्यमात्रम्। भिन्नात्मकञ्च। न चात्मदर्शनं भिन्नात्मकम्। आत्माभावात् परमार्थतः अभूतत्वादात्मनः। शेषः तर्हि कः पुनः। पुनरावृत्त्यभावात् अपरः। अत्रोच्यते—कायवाग्बुद्धिवैगुण्यम्।

ननु क्लेशकृतस्य क्लेशाभावे कुतः सम्भवः। नाक्लेशनिर्जरमपि वासनामात्रसङ्गमात् वृषलीवादवत्। मार्गस्यानेकप्रकारनिरुक्त्यपाटवम् तस्य तर्हि शेषस्य हानं कुतः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

और अपकारी में द्वेष होते हैं। बौद्ध-दर्शन के अनुसार जब आत्मा की सत्ता ही स्वीकृत नहीं, तब राग-द्वेष क्यों होंगे? आत्मा की सत्ता मानना ही मोह है। नैरात्म्यदर्शन उसका साक्षात् निवर्तक है। रागादि का विषय एकमात्र आत्मा है, जब आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं, तब राग किसमें होगा?

शंका—नैरात्म्य-दर्शन और आत्मदर्शन (सत्कायदृष्टि) दोनों परस्पर-विरोधी हैं, अतः उनमें परस्पर निवर्त्य-निवर्तक भाव है। कोई एक निवर्तक ही है, निवर्तित नहीं—ऐसा नहीं कह सकते। यदि नैरात्म्य-दर्शन आत्मदर्शन का निवर्तक है, तब उससे निवर्तित भी होगा। यदि नैरात्म्यदर्शन निवर्तित हो जाता है, तब आत्मा का निराकरण कैसे? और आत्मा के सद्भाव में रागादि की निवृत्ति क्योंकर होगी?

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए ही कहा गया है—"तद्भूतेत्यादि"। अर्थात् नैरात्म्य-दर्शन सद्भूत (पारमार्थिक) है। वह अपने से विपरीत आत्मदर्शन का निवर्तक ही होता है, उससे निवर्तित नहीं। नैरात्म्य-दर्शन भिन्नात्मक (विवेकात्मक) है किन्तु आत्मदर्शन भिन्नात्मक नहीं, इसलिए भी नैरात्म्य-दर्शन आत्मदर्शन का निवर्तक ही है उससे वह निवर्तित नहीं हो सकता, क्योंकि पारमार्थिक पदार्थ कभी भी सांवृतिक से बाधित नहीं होता। फलतः नैरात्म्य-दर्शन से अशेष क्लेश-निवृत्ति और अपुनरावृत्ति या मोक्ष का लाभ होता है।

प्रश्न—आत्मदर्शन का मौलिक हेतु है अविद्यादिक्लेश, क्लेशों का नाश हो जाने पर यदि अविद्यादि के संस्कारों को आत्मदर्शन का जनक माना जाता है तब उन

'सु' शब्द को निःशेषार्थक मानकर कहा गया है—"निःशेषं वा गमनात् सुगतत्वम्"। वहाँ प्रश्न उठता है कि वह शेष पदार्थ क्या है, जिसके रह जाने से प्रत्येक बुद्धादि सुगत नहीं कहे जा सके ? इस प्रश्न का उत्तर है—(१) काय-वैगुण्य (शरीर की चपलता), (२) वाग्वैगुण्य (असंयत वाणी) और (३) बुद्धि-वैगुण्य (असमाहितचित्तता) को शेष कहते हैं। ये तीनों ऐसी न्यूनताएँ हैं, जिनके रह जाने से प्रत्येक बुद्धादि को सुगत नहीं कहा जा सकता। अथवा नैरात्म्य मार्ग का अपाटव शेष पदार्थ है जिसके कारण आत्मदर्शन (सत्कायदृष्टि) का पूर्णतया उच्छेद नहीं हो पाता। इसका अशेष हान अभ्यास के द्वारा होता है। अथवा "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" (गी० २।५४) इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित असंयत दूरी या पथ शेष एवं उसका परिहान पूर्णता है, सुगत भगवान् में इसकी पराकाष्ठा पायी जाती है ॥ १४४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नैरात्म्यादपरिहीणस्य नापरः परिहाणिहेतुः। न च यावद्बुद्धिस्तावद्दोषहानम्। उक्तेर्वितर्कविचारपुरःसरत्वात् भ्रान्त एव सर्ववित् प्राप्तः। अत्राह—अशेषहानमभ्यासादिति।

अभ्यासो हि बुद्धिपाटवकृतस्ततो वासना परिहीयत इत्युक्तम्। न चोक्तिमात्रेणेष्टः रागादिसाधनोक्तेर्व्यतिरेकस्य विपक्षाभावलक्षणस्य। सन्देहादतोऽस्य सन्दिग्धव्यतिरेकित्वादगमकत्वम्। विकल्पे वा साध्ये वचनम्। व्यभिचार्यत्यन्ताभ्यासाद्वितर्कमन्तरेणापि वचनवृत्तेः। आवेधसामर्थ्यात् वचनं प्रवर्तत एव। उक्तं च—

सर्वासवविकल्पस्य नास्त्यध्यक्षाद् विवेकिता। न चास्पष्टावभासित्वादेव शब्दः प्रवर्तते ॥६३२॥

प्रत्यक्षदृष्टेस्तम्भादावपि शब्दप्रवर्तनात्। अयं स्तम्भ इति प्राप्तमन्यथाल्याप्रवर्तनम्॥६३२।

न चास्पष्टावभासित्वमत्र ज्ञानस्य लक्ष्यते। तथान्यत्रापि शब्दानां प्रवृत्तिर्न निवार्यते ॥६३४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संस्कारों का नाश कैसे होगा ? दोष की निवृत्ति न होने पर सर्वज्ञ पुरुष भ्रान्त क्यों न होगा ?

उत्तर—अशेष संसारादिका स्थान अभ्यास के आधार पर होता है, अर्थात् नैरात्म्य दर्शनाभ्यासजनित संस्कार आत्मदर्शनजनित संस्कारों के निवर्तक माने जाते हैं।

मीमांसकों का कहना है कि सुगत-गत समस्त दोषों का संशय उनके धर्मोपदेशित्व के द्वारा अन्वित होता है—"बुद्धः समस्तरागादिदोषरहितः उपदेष्टित्वात्" वह हेतु संदिग्ध-व्यभिचारी है, जैसे कुमारिल भट्ट ने कहा है—

'लिङ्गस्य व्यभिचारो वा बालवाक्येऽपि दर्शनात्'। अर्थात् एक बालक या मूढ व्यक्ति भी किसी धर्म का उपदेष्टा हो सकता है, उसमें रागादि दोषों का विनाश न होने पर भी उपदेष्टित्व स्पष्ट व्यभिचारी है। क्योंकि पूर्वाभ्यास या आवेश के आधार पर वचन-प्रवृत्ति देखी जाती है वचन-प्रवृत्ति के लिए विवेकिता आवश्यक नहीं—सर्प और जलादि का विविक्तावभास न होने पर भी 'अयं सर्पः' 'इदं जलम्' इत्यादि विभिन्न व्यवहार देखा जाता है। किन्तु ऐसा व्यवहार बाधित हो जाता है जब तक कि स्तम्भादि का विविक्तावबोधन हो—'अयं स्तम्भः' ऐसा शब्द व्यवहार नहीं देखा जाता है। शब्दों का स्वभाव है कि वे ज्ञान के समान अस्पष्ट अवभासी नहीं होते। परिशेषतः बुद्ध का उपदेश उनमें रागादि दोषों का संशय सिद्ध करता है ॥ ६३२–६३४ ॥

नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धो व्यभिचार्यतः ।

अक्षयित्वं च दोषाणां नित्यत्वादनुपायतः ॥ १४५ ॥

उपायस्यापरिज्ञानादपि वा परिकल्पयेत् ।

हेतुमत्त्वाद् विरुद्धस्य हेतोरभ्यासतः क्षयात् ॥ १४६ ॥

[रागादि दोषों से सर्वथा रहित सर्वज्ञ पुरुष का खण्डन करते हुए जैमिनि मतानुयायी जो कहते हैं—

रागादिरहिते चास्मिन् निर्व्यापारे व्यवस्थिते ।
देशनाऽन्यप्रणीतैव स्याद्दते प्रत्यवेक्षणात् ॥
यद्वानुमानमेवेदमुपदेशित्वमुच्यते ।
लिङ्गस्य व्यभिचारो वा बालवाक्येऽपि दर्शनात् ।। (श्लो०वा०पृ० ८३)

अर्थात् "बुद्धो भगवान् सर्वथा रागादिरहितः, उपदेष्टृत्वात्" यह हेतु रथापुरुष मूढादि में व्यभिचरित है, क्योंकि उनमें भी वचनकर्तृत्व है किन्तु रागादि-रहितत्व या सर्वज्ञत्व नहीं ।] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि रागादि दोषों का सर्वथा नाश न हो सकने में तीन कारण हो सकते हैं—(१) रागादि की नित्यता । (२) नाश के उपायों का अभाव । (३) अथवा नाशक उपायों का अपरिज्ञान । प्रथम कल्प सम्भव नहीं, क्योंकि "रागादिदोषा नश्वरा हेतुमत्त्वाद् पटादिवत्"—इस अनुमान के द्वारा रागादि में नश्वरत्व सिद्ध है । फलतः रागादि के हेतु-भूत आत्मदर्शन का जो नैरात्म्यदर्शनरूप विरुद्ध धर्म है, उसके अभ्यास से रागादि का नाश निश्चित है। रागादि के निवर्तक नैरात्म्य दर्शनरूप उपाय का एवं उसका परिज्ञान भी निश्चित है ।।१४५-१४६।।

वार्तिकालङ्कारः

तस्माद्वचनेऽपि न दोषवानिति सिद्धम् । नन्वन्यतः क्षयाभावो दोषाणामिति कथं दोषाभावः । न हि दोषक्षयाभावहेतुर्न दृष्ट इति । न हि दोषक्षयाभावहेतुर्नास्ति वा । अत्रोच्यते—अदृष्ट कथमिव परिकल्प्यते । तथा हि—अक्षयित्वञ्चेति ।

न नाम परिकल्पना यथा कथञ्चिदवतरन्ति । अपि तु निबन्धनालोचनसोपान-पद्धतिसम्भवात् । यद्येते दोषा नित्याः स्युः स्यादक्षयः प्रयत्नेऽपि । न हि प्रयत्नक्षतेनापि नित्यं क्षयमुपनेतुं पार्यते । अथोपायः क्षये नास्ति नोपलभ्यते । तथाप्यक्षयः । न चैतत् त्रयमपि । तदेवम्—हेतुमत्त्वाद्विरुद्धस्येति ।

हेतुमतो हि प्रागभावात् न नित्यत्वम् । हेतोर्विपक्षस्य यदाभ्यासस्तदा क्षय इति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—रागादिदोषों का संशय किसी अन्य साधन से नहीं देखा जाता, इस समय संसार में कोई भी ऐसा प्राणी उपलब्ध नहीं होता जिसमें अज्ञानादि दोषों का सद्भाव न हो । कुमारिलभट्ट ने कहा है—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥

समाधान—अज्ञान और रागादिदोषों का नाशन क्षय क्यों नहीं हो सकता । (१) क्या वे नित्य हैं ? अथवा दोषों के नाश का उपाय ही नहीं है ? अथवा उस उपाय का परिज्ञान नहीं है । हेतुमत्वधर्म के कारण नित्यता का निराश और जन्यत्व की सिद्धि की जाती है—"रागादयः जन्याः उत्पत्तिमत्वात्" । रागादि के नाश का हेतु भी

हेतुस्वभावज्ञानेन तज्ज्ञानमपि साध्यते ।
तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः वैफल्याद्वक्ति नानृतम् ॥ १४७ ॥
दयालुत्वात् परार्थं च सर्वारम्भाभियोगतः ।
ततः प्रमाणं तायो वा चतुःसत्यप्रकाशनम् ॥ १४८ ॥

आत्मदर्शन या सत्कायदृष्टि का स्वभाव है कि वह आत्मा और आत्मीय पदार्थों के साथ रागादि बन्धनों को सुदृढ़ करता है ।

(३०) भगवान् तायी होने के कारण प्रमाण हैं—

भगवान् ने जिन दुःख-निवर्तक धर्मों का साक्षात्कार किया है, उनके प्रकाशन की क्षमता का नाम है—'तायः' । उसका आश्रय होने से भगवान् 'तायी' कहे जाते हैं । दुःख-निगम हेतुओं का मिथ्या उपदेश भगवान् नहीं कर सकते, क्योंकि वह विफल है ।

वार्तिकालङ्कारः

नानुपायता । हेतुविपक्षस्य दोषक्षयोपायत्वात् । नापि तस्यापरिज्ञानम् । हेतुस्वभावस्य आत्मात्मीयाकारत्वस्य ज्ञानात्तद्विपरीतविपक्षज्ञानमिति । यो हि यद्विपरीतः स तद्विपक्षस्तद्यथा वायोस्तैलम् । स्निग्धोष्णत्वात् शीतरूक्षस्य । प्रभावादिविशेषाद्बाह्यम् । बाह्यस्याविपक्षेऽपि । नैरात्म्यदर्शनन्तु आत्मदर्शनविरुद्धमित्यविप्रतिपत्तिरेव ।

(३१) तायित्वाद् भगवान् प्रमाणम्—

यद्यपि सुगतत्वं भगवतस्तथापि स्वार्थसम्पत्तिमात्रकादसौ कथं परेषां प्रमाणम् । अविपरीतार्थप्रकाशनेन हि प्रमाणम् । न विपरीतस्य । नाप्यप्रकाशनेन । नैतदस्ति । करुणावशादुपायाभ्यासाच्च तायिता भगवतः । कस्ताय इत्याह—तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है—नैरात्म्यदर्शन, क्योंकि आत्मदर्शन ही समस्त रागादि का मूल कारण है और उसके नाश का उपाय है नैरात्म्यदर्शन । नैरात्म्यदर्शन का उपदेश बुद्ध ने 'सब्बं अनत्तामत्ता' कहकर ध्वनित किया है । उनके उस उपदेश से रागादि के नाशक हेतु का ज्ञान सुलभ है । हेतुमान पदार्थ कभी नित्य नहीं होता उसके विपरीत हेतु का अभ्यास उसका नाशक है, उसका अज्ञान है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसके स्वरूप की पर्यालोचना समस्त रागादि दोषों की उद्‌भावना में पर्यवसित है । जो जिसके विपरीत स्वभाव का होता है वह उसका विपक्षी माना जाता है, जैसे—अन्धकार और प्रकाश । नैरात्म्यदर्शन आत्मदर्शन का विरोधी है, यह एक सर्वाभ्युपगम सिद्धान्त माना जाता है ।

(३१) तायी होने के कारण सुगत प्रमाण—

प्रश्न—यद्यपि बुद्ध को बोधिरूप स्वार्थसम्पत् के आधार पर सुगतत्व माना जाता है, किन्तु केवल उसके आधार पर परोपकार रूप प्रमाणतः क्योंकर सिद्ध होगा । यदि किसी प्रकार उपदेष्टृत्व को सत्ता मानी जाती है तब भी उसके मूल में मिथ्याभिसन्धि या अनृतत्व का सन्देह बना रहता है । फलतः बुद्ध की प्रमाणता सभी की दृष्टि में सिद्ध कैसे होगी ?

उत्तर—जिस सुगत ने परकीय दुःखों से करुणार्द्र होकर गृह-त्याग किया, घोर तप का अनुष्ठान किया, मार्गदर्शन की खोज की वह महाकारुणिक है उसके करुणा-

जिस महापुरुष ने घोर तप आदि के आधार पर दुःख-नाश के साधनों का साक्षात्कार किया है। महान् दयालु है, वह किसी वस्तु का अन्यथा उपदेश क्योंकर कर सकता है ?

अथवा चार आर्यसत्यों का उपदेश ही वह ताय पदार्थ है, जिसका यथावत् प्रकाश करने के कारण भगवान् को तायी कहा जाता है।

स्वयं अपने मुख से भगवान् ने कहा है—"इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं आर्य्य-सच्चं सङ्खित्तेन पञ्चु पादानक्खन्धा पि दुक्खा। इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं—या यं तण्हा पोनोभविका नन्दिरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनो, सेय्यथीदं, कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा, "इदं खो पन भिक्खवे, दुःखनिरोधं अरियसच्चं"" "इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं—अयमेव अरियो अट्ठङ्किको मग्गो" ॥ १४७-१४८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वेदे हि न केनचिद् दृष्टं येन तायसम्भवः। प्रतिभासमात्रकमूलकम्। यस्य च सुगतत्वं तस्य नाभिलषणीयमस्ति किञ्चित्। ततो वैफल्यान्नानृतं वक्ति। दयावत्त्वा-दुपायाभ्यासः परार्थमेव कृतः। ततो न वितथाभिधाने हेतुरस्ति। ततः कारणाभावात् प्रयोजनाभावाच्च न वितथाभिधानम्। करुणायोगादाक्षेपाद् अभ्यासेनोत्कर्षस्य नानः भिधानमिति। ततस्तायी सुगत इति प्रमाणम्। स्वदृष्टस्य मोक्षमार्गस्याप्रकाशनासम्भ-वात्। ननु स्वदृष्टमार्गोक्तिरिति न तावता तायः। अन्यथा सर्वे तीर्थंकराः प्रमाणम् स्वदृष्टमार्गोक्तेरथ तेषां मार्गकथनमेव, तन्न भवति। तस्यामार्गत्वात्। अत्रापि तर्हि कथं समाश्वासः। उक्तमत्र नैरात्म्यदृष्टेस्तद्युक्तितोऽपि वा। युक्तिपरिदृष्टोऽयं मार्ग इति। तेषान्तु न नैरात्म्यदृष्टिर्नापि युक्तिरिति। न ते प्रमाणम् न च तेषां स्वदृष्टता परस्परविरोधादुपदेशस्य।

भगवांस्तु—ततः प्रमाणमिति।

अथवा चतुःसत्यप्रकाशनं तायो नापरम्। यद्यपि वेदान्ते शून्यताप्रकाशनमस्ति। ततोऽप्यात्मनः सद्भावात् अमार्ग एवासाविति चतुरार्थसत्यदर्शनमेव ताय इत्यसाधार-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भ्यास की कहानी जातकों के रूप में विश्वप्रसिद्ध है। वह अपने द्वारा दृष्टमार्ग का मिथ्या उपदेश क्यों करेगा। दयालु-हृदय परकीय दुःख का उद्धार करने के लिए उतावला हो उठता है और परदुःख को ध्यान में रखता हुआ सत्यमार्ग का उपदेश करता है।

वेद में किसी ऐसे सत्यद्रष्टा तत्त्व की चर्चा नहीं है, अतः बुद्ध के वितथाविधान का कोई हेतु सिद्ध नहीं होता। फलतः सत्यदर्शन, करुणाभ्यास उनमें तायित्व सिद्ध करते हैं। फलतः बुद्ध तायी हैं और समस्त संसार के लिए प्रमाण हैं। यह सम्भव नहीं स्वदृष्टमोक्ष मार्ग का उपदेश, औरों को नहीं करते या मिथ्या करते, तब उन्हें सुगत या प्रमाण कभी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि अन्यान्य तीर्थङ्करों के द्वारा स्वदृष्टमार्गों का उपदेश किया गया किन्तु वह निर्वाण का सन्मार्ग नहीं है, तब बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर ही समाश्वासन क्यों होगा—इस प्रश्न का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि नैरात्म्यदर्शन एवं उसकी युक्तता निर्वाणमार्ग की सत्यता प्रमाणित करती है। विभिन्न तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट मार्ग परस्पर विरोधी होने के कारण प्रमाण नहीं माने जा सकते।

दुःखं संसारिणः स्कन्धा रागादेः पाटवेक्षणात् ।
अभ्यासान्न यदृच्छातोऽहेतोर्जन्मविरोधतः ॥ १४९ ॥

(१) रूपस्कन्ध, (२) वेदनास्कन्ध, (३) संस्कारस्कन्ध, (४) विज्ञानस्कन्ध, तथा (५) सञ्ज्ञास्कन्ध ये पाँच स्कन्ध संसरणशील सत्व के दुःख हैं। सत्कायदृष्टि के कारण रागादि का अध्यास रागादि को जन्म देता रहता है। अविद्यादि हेतुओं के बिना जन्म नहीं होता ॥ १४९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

णार्थवचनता भगवत एव । ततः सत्यताभावादयमेव तायी । युक्तिरहितोऽपि एष मार्गो मातृसंस्कारवदुपशमहेतुरिति नापरानिर्दिष्टो मार्गः । कतमानि तान्यार्यसत्यानि । दुःखं समुदयो निरोधो मार्ग इति । एतन्नाम्नापि भवत्युद्वेगः । यथा मूत्रमार्ग इति न तु वराङ्गमिति । तन्न ।

[चत्वारि आर्यसत्यानि]

(३२) दुःखसत्यम्—

(३३) संस्कारिणः स्कन्धा दुःखम्—

ननु रागोऽभिमतवराङ्गनालिङ्गनाङ्गतया सुखहेतुत्वात्सुखमेव । द्वेषोऽपि वैरिनिराकरणकारणं सुखस्य । मोहस्तु सत्कायदृष्टिलक्षणोऽहंकारमानसमदर्पहेतुः सुखस्य कारणमिति सुखमेव । रागद्वेषाद्याधारभूताः शरीरादयोऽपि तथैवेति न दुःखं नामास्ति । यदपि क्षुधादि दुःखं तदपि तृप्तिसुखस्य महतो हेतुः । ततो न दुःखसत्यं नामास्ति इति व्यर्थिकैव भगवतो देशनेति न तायिता । न सम्यगेतत् । यतस्ते—

संसारवर्त्मसंसर्गपरिश्रान्त्या सुखक्षताः । स्कन्धा एव महादुःखमविद्यात्वन्यथेक्षते ॥६३५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(३२) चार आर्यसत्य—

'ताय" पदार्थ की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने चार आर्यसत्य के प्रकाशन को भी 'ताय पदार्थ माना है और उसके द्वारा बुद्ध को 'तायी' कहा है। यद्यपि वेदान्त में शून्यता का प्रकाश किया गया है—तथापि आत्मा का सद्भाव सिद्ध होने के कारण नैरात्म्यदर्शन प्रमाणित नहीं होता। दुःख-समुदय, दुःखनिरोध और उसका मार्ग—इसका उपदेश भी कतिपय आचार्यों के उद्वेग का कारण माना जाता है। किन्तु वह उचित नहीं।

(३३) दुःखरूप आर्यसत्य—

समस्त रूपादिस्कन्ध दुःखरूप हैं। इस पर कोई लोकासक्त प्राणी आपत्ति कर सकता है कि राग भी दुःख की कक्षा में न आकर सुख का हेतु माना जा सकता है। क्योंकि उसके आधार पर 'वराङ्गनालिङ्गन' जैसा सुख अनुभूत होता है। द्वेष भी शत्रु वध का कारण होने के कारण सुखरूप है। लोभ विविध धन, पुत्रपौत्रादि का संग्राह होने के कारण सुखस्वरूप है। शरीर-इन्द्रिय आदि में सुख-साधनता लोकप्रसिद्ध है। क्षुधादि भी तृप्तिरूप सुख के हेतु माने जाते हैं। फलतः दुःख नाम की वस्तु लोक में कोई भी सिद्ध ही नहीं होती।

समाधान—जन्म-मरण प्रवाह जिस राग की देन है उसे सुखरूप मानना बहुत बड़ी भूल है। रूपादि पञ्चस्कन्धों में अन्यथा दर्शन समस्त दुःखों का कारण माना

वार्तिकालङ्कारः

यदुक्तं रागादयः सुखहेतव इति। तत्रोच्यते—

अभ्यासहेतुको रागः सुखञ्च तदनन्तरम्। न तु स्वभावतोऽभ्यासभावाभावानुवृत्तितः ॥६३६॥

यदि खलु रागादयो यदृच्छयोत्पद्येरन्। नित्या वा भवेयुः सुखं वा तदायुक्तम्। यदात्वभ्यासादेव ते तत एव पाटवादिदर्शनात् ततोऽभूतपरिकल्पनमात्रम्। ततोऽभ्यास परित्याग एव ज्यायान्। बालक्रीडाभ्यासवत्। ततो न परमार्थतः सुखम्। चित्ताभिरतिलक्षणञ्च सुखम् अभ्यासात्संसारधर्मनिवृत्त्या वा वरं तत्त्वाभ्यास एव कुतः। सुखमप्यभ्यासादेवेष्टम्। वरमौदासीन्यमेव। एवञ्च सति सकलमेवेदं दुःखपीडितस्य सुखमाभाति। तद्वरं रागादिपीडानुदयो न पुना रागादिसद्भावोऽङ्गनालिङ्गनम्।

विधाय न व्रणं कश्चित् तत्पीडोपशमात् सुखम्। पुनर्वाञ्छति सद्बुद्धिरबुद्धिस्तु तथा सति ॥६३७॥

तत्त्वेऽभिरमते बुद्धिर्यदि सा न विकारिणी। ततः सुखमसंक्लिष्टं नित्यमेव प्रवर्तते ॥६३८॥

अतत्त्वेऽभिरतौ चेत् स्यात् निवृत्तौ तत्सुखं कुतः। तत्त्वस्याव्यतिवृत्तौ तु सुखमप्यनिवर्तकम् ॥६३९॥

तस्माद्यत्किञ्चित्संसारसुखं तत्सर्वं परमार्थतो दुःखमेव। तथा हि—

यथा रागादिदुःखस्य सुखहेतुत्वमीक्ष्यते। सुखस्यापि तथा दुःखहेतुत्वमिति गम्यताम् ॥६४०॥

यथा खलु क्षुदादिदुःखं तृप्तिसुखस्य हेतुस्तथा सुखमपि व्यपगमेऽत्यन्तदुःखस्य हेतुः। तेन सुखं दुःखहेतुत्वात्सुखमेव तन्न भवति। एवञ्च सति सिद्धमेतत्। "दुःखं संसारिणः स्कन्धा" रागादिपाटवं त्वभ्यासादिति यतश्चाभ्यासादतः। पूर्वपूर्वसजातीयतथाभूतकारणहेतुकमिति संसारित्वमति सिद्धम्।

ननु नाभ्यासाद्रागोदयोऽपि तु यथाकथंचिदेवान्यतो वा हेतोस्ततः पारमार्थिका एवामी सुखादयः। ततो न दुःखं संसारिणः स्कन्धाः। यथा वा सुखादयोऽभ्यासात् तथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है ॥६३५॥ रागादि अभ्यास से उत्पन्न होते हैं स्वतः नहीं, अभ्यास के साथ उनका भावाभाव अवधारित है ॥६३६॥ यदि रागादिहेतु यदृच्छा से उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें नित्य या सुखादिरूप माना जा सकता था, किन्तु अभ्यास-पाटव के आधार पर उनकी उत्पत्ति मानी जाती है। अतः अभूत परिकल्पना मात्र पर आधृत रागादि सुख के हेतु कैसे हो सकते हैं। चित्त-अभिरतिजनित जो सुख रागादिरूप मिथ्या पदार्थों पर टिका हुआ है वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता। इससे रागादि का उदय होना ही अनन्त जन्मों से जिस रागादि के आधार पर यह दुःख-समुदय आया है उससे आहत प्राणी के व्रण उसे सुख की नींद नहीं आने देता। तब रागादि सुखबुद्धि कैसे कर सकता है। वह बुद्धि तत्त्वाभिरत मानी जा सकती है जो विकारी न हो, अतत्त्वनिष्ठ न हो, किन्तु औपचारिक आध्यासित या आरोपित बुद्धि सदैव दुःख का निदान मानी जाती है ॥ ६३९ ॥

निष्कर्ष—यही निकलता है कि संसार में जो कुछ भी सुख प्रतीत होता है वह वस्तुतः दुःख ही है—जैसे रागादि दुःखों में सुख की हेतुता अवभासित होती है उस सुख-हेतुता को शास्त्रों में दुःख-हेतुता सिद्ध की गई है ॥६४०॥ जैसे क्षुधादि दुःख तृप्तिरूप सुख का हेतु माना जाता है, वैसे ही सुख भी अपनी व्यपगम अवस्था में अत्यन्त दुःख हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संसारी स्कन्ध अपने पूर्वपूर्व संस्कारों पर आधृत दुःखमय माने जाते हैं।

शंका—रागादि की उत्पत्ति अभ्यास से नहीं होती, अपितु यथाकथञ्चित् या

वार्तिकालङ्कारः

दुःखादयोऽपि न परमार्थत इति सुखमेव संसारिणः स्कन्धा इति। नैतदपि साधीयो नयदृष्टचाऽतोऽहेतोर्न जन्म युक्तमाकाशादेरिव। न चान्यहेतुकाः सुखादयोऽभ्यासात्पाटवयोगात्। न चापि दुःखं कश्चिदभ्यस्यति येन दुःखमाभ्यासिकं भवेत्। अपि तु—

सुखादयो यदाभ्यासाद् प्रवृत्तोपचयात्मकाः। तदभावे भवेद् दुःखं दुःखाभ्यासस्तु न क्वचित् ॥६४१॥

न खलु दुःखं ममास्त्विति कश्चिदभ्यस्यति। सुखार्थितया सकलस्य सकल एव प्रवृत्तेः। ततः सुखं प्रयत्नसाध्यम्। दुःखं तु तदभावात् प्रकृत्यैव न तु विपर्ययः। ततो दुःखमपि सुखाभ्यासेनैव कृतं ततः सुखमेव निवर्तयितव्यम्। परमार्थतस्तु। दुःखमपि नास्त्येव। तदपि तत्रोत्त्रासभावनात एव। ततस्तत्रोत्त्रासभावनातो दुःखम्। ततस्तदभावात् तत्रैव दुःखेऽदुःखा सुखे वा सुखबुद्धिः, न तु परमार्थतः। तस्मात्सुखं भावनानीतं दुःखहेतुरेव। यदि तन्न स्यात् दुःखमपि न भवेदेव। सुताभिष्वङ्गिणः पुत्रमरणे दुःखसम्भवः। सुतजन्मनि तस्यैव सुखम्। न परमार्थतः।

प्रार्थनीययोः वियोगस्तु कस्यचित् नास्ति शाश्वतः।
सुखं संसारिभिः सर्वं दुःखायैव विवर्द्धते ॥५४२॥

दुःखं सम्बद्धयं सम्बर्द्धय सुखप्राप्तिर्न युक्तिभाक्। प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥६४३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किसी अन्य हेतु से मानी जाती है। रागादि धर्मों से पारमार्थिक सुखादि उत्पन्न होते हैं, अतः सांसारिक रूपादि स्कन्धों को दुःखरूप नहीं माना जा सकता। अथवा जैसे सुखादि अभ्यास से उत्पन्न होते हैं; वैसे ही दुःखादि भी, किन्तु वे पारमार्थिक नहीं होते हैं। इस प्रकार सांसारिक स्कन्ध सुखस्वरूप ही सिद्ध होते हैं।

समाधान—उक्त शंका न्याय-सम्मत नहीं, क्योंकि अहेतुक पदार्थ की उत्पत्ति वैसे ही नहीं हो सकती, जैसे आकाश की। अन्य हेतु (रागादि) से उत्पन्न होनेवाले सुखादि अभ्यास-पाटव के क्योंकर होंगे ? दुःख का अभ्यास कोई नहीं करता, तब दुःख आभ्यासिक (अभ्यास-जन्य) क्योंकर होगा ? अभ्यास के आधार पर सुख उपचित होता है, अभ्यास के अभाव में दुःख होता है। दुःख का अभ्यास कहीं नहीं होता ॥६३१॥ 'मुझे दुःख हो'—ऐसा कोई अभ्यास नहीं करता, प्रत्युत सकल प्राणी सुख की कामना से सवत्र प्रवृत्त होते हैं। फलतःसुख प्रयत्न-साध्य होता है और दुःख स्वभावतः अयत्न-साध्य है, यत्न साध्य नहीं। यदि सुखाभ्यास से दुःख की उत्पत्ति मानी जाती है, तब उससे सुख की निवृत्ति भी माननी होगी। परमार्थतः दुःख भी है ही नहीं। केवल उल्लास-भावना से उसकी प्रतीति होती है। उल्लास-भावना के अभाव में अदुःख या सुख बुद्धि होती है परमार्थतः सुख और दुःख कुछ भी नहीं। भावना-कल्पित सुख दुःख का हेतु ही है। भावना के न होने पर दुःख भी नहीं होता। जिस व्यक्ति का अपने पुत्र पर स्नेह है, उसको पुत्र के मरने पर दुःख होता है। एवं पुत्र के उत्पन्न होने पर सुख होता है। सुख जो उत्पन्न होता है, वह भी अपने वियोग में दुःख ही देता है। इस प्रकार सुखस्वरूप माने जाने वाले सांसारिक स्कन्ध वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं ॥६४२॥ पहले दुःख की वृद्धि करके उसका नाश करने से अच्छा है कि उसकी वृद्धि ही न की जाय, जैसे कि कहावत है—"प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" ॥२४३॥ यदि दुःख से अतिरिक्त सुख नहीं, तब नरकादि का परिहार

व्यभिचारान्न वातादिधर्मः प्रकृतिसंकरात् ।
अदोषश्च तदन्योऽपि धर्मः किं तस्य नेक्ष्यते ॥ १५० ॥

यह जो कहा गया है कि वातप्रकृतिवाला व्यक्ति मोहवान्, पित्तप्रकृतिवाला द्वेषवान् और कफप्रकृतिवाला रागवान् होता है। वह उचित नहीं, क्योंकि कभी-कभी व्यभिचार देखा जाता है—वातप्रकृतिवाला व्यक्ति मोहबहुल 'नहीं पाया जाता। इसी प्रकार पित्तप्रकृतिवाले में द्वेष का प्राधान्य और कफप्रकृति के पुरुष में राग का प्राचुर्य नहीं होता। फलतः वातादि मोहादि के कारण नहीं। यदि कहा जाय कि प्रायः पुरुष संकीर्णप्रकृति होते हैं अर्थात् वात, पित्त और कफ—ये तीनों ही सब में होते हैं अतः व्यभिचार क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रागादि के हेतुभूत कफादि सर्वत्र हैं, तब कफादि के रागादि से भिन्न खरादि धर्म क्यों नहीं पाये जाते ?॥१५०॥

वार्तिकालङ्कारः

अथैवमेव सकलं सुखमन्यन्न विद्यते। नरकादिदशादुःखपरिहारः कथं मतः ॥६४४॥
नारकादपि किं दुःखाद्विद्यते न सुखोदयः। महतोऽपि यतो दुःखादन्यदुःखेऽपि सत्सुखम् ॥६४५॥

अथवा दुःखमिह संस्कारदुःखतालक्षणं सुखमपि तद्विपर्ययादात्मादिलक्षणम्। तन्न। परमार्थतोऽपि त्वभ्यासात् तथा तथात्मादिव्यवस्थापनात्। तन्मूलकाश्च रागादयः। तत एवाभ्यासान्नान्यथा। परमार्थस्य हेतोरभावादभ्यासोऽपि यदि न हेतुरहेतुता न चाहेतोर्जन्यतेति युक्तम्।

(३४) रागादीनां वातादिदोषजत्वनिरासः—

अथापि स्यात्। नाभ्यासजा रागादयः किन्तु वातादिजाः। तथा हि वातप्रकृतेर्मोहः। पित्तप्रकृतेर्द्वेषः। कफप्रकृते राग इति। मूलदोषवदपरोऽपि दोषो वातादिज एवेर्ष्यादिकः। वातादयश्च परमार्थतः एव सन्ति ततः करणादुत्पत्तेः पारमार्थिका रागादयः। तदप्यसत् -व्यभिचारान्नेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्यों किया जाता है ? ॥६४४॥ नारकीय दुःख से भी सुख का उदय क्यों नहीं होता ? क्योंकि महान् दुःख से सुख भिन्न नहीं ॥ ६४५ ॥

अथवा 'दुःख' शब्द से यहाँ संस्कार-दुःखता विवक्षित है। [दुःखों का वर्गीकरण करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (यो॰ सू॰ २।१५)। संस्कार दो प्रकार के होते हैं—(१) स्मृति-जनक संस्कार और (२) कर्मजन्य धर्माधर्मरूप संस्कार। दोनों प्रकार के संस्कार जीव को जन्म-जरा-मृत्युरूप दुःखप्रवाह में प्रवाहित करते हैं, यह संस्कार-दुःखता है]। इससे विपरीत प्रतीत होनेवाला आत्मादिरूप सुख भी अभ्यास-जनित होता है। वह परमार्थ नहीं सुख-दुःखमूलक रागादि भी अभ्यास से जनित होते हैं। उनका कोई हेतु नहीं, अहेतुक पदार्थ का जन्म नहीं होता—यह कहा जा चुका है।

(३) रागादि दोष वातादि से जनित नहीं—

शंका—रागादि दोष अभ्यास से उत्पन्न नहीं होते, अपितु वात-पित्तादि से जनित होते हैं। अर्थात् वात-प्रकृति से मोह, पित्त-प्रकृति से द्वेष और कफ-प्रकृति से राग उत्पन्न होता है। रागादि के समान ही रागादि-जनित ईर्ष्यादि दोष भी पारमार्थिक होते हैं, अतः इन दोषों से जनित रागादि भी पारमार्थिक ही हैं।

वार्तिकालङ्कारः

यो हि यस्य हेतुः स तन्न व्यभिचरति । धूम इवाग्निम् । यदि महामोहादयो वातादिधर्माः ततस्तद्व्यभिचारिणो न स्युः । न चैवम् । अतो विपर्ययः । अथ वातप्रकृतेरन्यापि रागजनिका प्रकृतिरस्ति । द्वेषजनिका च । ततो रागद्वेषौ । तेन प्रकृतिसंकरान्न व्यभिचारः । तदप्यसत् ।

धर्मस्तस्य तदन्योऽपि नास्ति किं हेतुसम्भवे । कार्यं तस्य न चेदस्ति हेतोर्भावगतिः कुतः ।।६४६।।

तदेव यदि तत्कार्यमन्यत् कार्यं कुतो भवेत् । तत एवेति चेदन्यत् कस्मात् तद्भावतो न तत् ।
अन्यतो यदि तत्कार्यं सैवेयं व्यभिचारिता ।।६४७।।

तस्माद् यदि वातादिधर्माव्यभिचारो न स्यात् । अन्यप्रकृतेरपि तत्प्रकृतिकल्पनायां कार्यमपि कल्पनीयम् । कार्यमदृष्टं न कल्प्यत इति प्रकृत्यन्तरमपि न कल्पनीयम् । यथा कार्यतः कारणपरिकल्पना तथाऽप्रतिबद्धसामर्थ्यात् कारणतः कार्यस्यापि । अथाऽप्रतिबद्धसामान्यकारणं नास्ति । दृष्टमपि कारणाभावेन कार्यं स्यात् । तस्य तत् कारणमेव वा मा भूत् । किंच—

कारणं दृष्टमुत्सृज्य यद्यदृष्टस्य कल्पना । कफस्य रागहेतुत्वं न स्यादन्यः प्रकल्प्यताम् ।।६४८।।

अथापि स्यात् । यो य एव दृश्यते स स एव रागादेर्हेतुः । ननु सर्वतो दृश्यते रागादिस्तत् किं सर्वो हेतुः । एवमेतदेवमेव दृष्टत्वादिति चेत् । असदेतद् यतः—न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—उक्त कार्य-कारणभाव न्याय-संगत नहीं, क्योंकि हेतुपदार्थ कभी अपने कार्य का व्यभिचारी नहीं होता, जैसे—अग्निरूप कारण अपने धूमरूप कार्य का व्यभिचारी नहीं । यदि महामोहादि वातादि के कार्य हैं, तब वातादि मोहादि से व्यभिचरित नहीं होंगे किन्तु ऐसा नहीं, उसके विपरीत व्यभिचारी है । यदि वात-प्रकृति से भिन्न कोई अन्य प्रकृति भी राग-जनक और द्वेष-जनक है तब प्रकृति-संकर होने के कारण व्यभिचार क्यों होगा ? यह प्रश्न भी उचित नहीं, क्योंकि यदि कोई कार्य यदि कारणान्तर से भी होता है, तब क्या वह प्रथम कारण का कार्य नहीं रहा ? यदि वह प्रथम कारण का कार्य नहीं, तब उससे उसकी उत्पत्ति क्यों मानी गई ? ।।६४६।। यदि वही कार्य प्रथम कारण का है, तब वह अन्य किस कार्य का कारण होगा ? यदि वही कार्य अन्य कारण से होता है, तब प्रथम कारण व्यभिचारी क्यों नहीं ? ।।६४७।। अतः यदि वातादि के धर्मों से व्यभिचरित न होता, तब अन्य-प्रकृति को भी उसका कारण मानने पर प्रथम कारण के कार्य की भी कल्पना करनी होगी । अदृष्ट कार्य की कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसे ही कारणान्तर या प्रकृत्यन्तर की कल्पना भी नहीं हो सकती । जैसे कार्य से कारण की कल्पना होती है, वैसे ही अप्रतिबद्धसामर्थ्यक कारण से भी कार्य की कल्पना की जाती है । यदि कारण अप्रतिबद्धसामर्थ्यक नहीं, तब दृष्ट कार्य भी कारण के अभाव में न होता अथवा वह कारण ही उस कार्य का नहीं होगा । दूसरी बात यह भी है कि दृष्ट कारण को छोड़कर अदृष्ट कारण की कल्पना की जाती है, तब कफ धातु में राग की हेतुता न हो सकेगी, फलतः अन्य हेतु की कल्पना करनी होगी ।। ६४८ ।।

शंका—जो-जो दिखाई देता है, वह सब रागादि का हेतु है, तब क्या समस्त पदार्थ रागादि के हेतु हैं ?

समाधान—सभी वातादि पदार्थ रागादि के कारण हैं—ऐसा नहीं कह सकते,

न सर्वधर्मः सर्वेषां समरागप्रसङ्गतः ।
रूपादिवददोषश्चेत् तुल्यं तत्रापि चोदनम् ॥ १५१ ॥

यदि प्रत्येक वातादि में रागादि सभी धर्म माने जाते हैं, तब रागादि के कारणों की समानता होने से समान रागादि की उपलब्धि होनी चाहिए, वैषम्य क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में यदि कहा जाय कि रूपादि पदार्थ भूतमात्र के होने पर भी समान नहीं, अपितु उत्कृष्टापकृष्ट होते हैं, वैसे ही रागादि भी हैं। तब रूपादि में भी समत्वापत्ति का आक्षेप किया जा सकता है ॥ १५१ ॥

आधिपत्यं विशिष्टानां यदि तत्र न कर्मणाम् ।

वार्तिकालङ्कारः

सर्वधर्मः सर्वेषामिति ।

सर्वधर्मत्वे हि रागादीनां सर्वस्य प्राणिनः केनचिद् भवितव्यम् । ततो य एव कश्चित् कफादिषु सम्भवी स एव रागाद्याश्रय इति समरागादिप्रसङ्गः । इत्याह—

सर्वप्रकृतिधर्मत्वे रागादीनां समीहिते । अशक्ताप्रकृतिर्नास्ति कुतः कार्यासमानता ॥६४९॥

यदा हि रागादयः सकलप्रकृतिभाविन इष्यते । तदा कफादिप्रकृतिस्तदुत्कर्षापकर्षेऽपि रागादिहेतुरिति समरागादिता निवारयितुमशक्या ।

अथ सर्वप्रकृतित्वेऽपि विशेषान्तरस्य भावात् न समरागता । तदा तर्हि सविशेषः सर्वहेतुर्न भवतीति न सर्वधर्मः । अथापि सकलकफादिप्रकृतिहेतुत्वात् । सर्वधर्मा रागादयः । तेषामेवावान्तरपरिणतिविशेषात् न समरागादिता । तदपि यत्किञ्चित् । यतः—

यथा यः परिणामस्य विशेष उपलभ्यते । तस्यापि व्यभिचारित्वमिति सम्यग्विदर्शितम् ॥६५०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि यदि रागादि सभी वातादि पदार्थों के धर्म (कार्य) हैं, तब सभी प्राणियों में रागादि मानने होंगे। फलतः कफादि में जो भी कहीं सम्भव होगा, वही समानरूप से रागादि का हेतु होगा—यदि सभी वातादि का रागादि को प्रकृति माना जाता है, तब कोई भी न तो रागादि के उत्पादन में अशक्त होगा और न अप्रकृति। फिर रागादि कार्यों में असमानता या तरतमभाव देखा जाता है, वह क्योंकर बनेगा? ॥६४९॥ जब कि रागादि दोष सभी प्रकृतियों से सम्भावित हैं, तब कफादि प्रकृति को अपनी उत्कर्षापकर्ष अवस्था में समान रूप से रागादि का हेतु मानना होगा, तब सभी प्राणियों में समान रागादि मानने होंगे।

शंका—यद्यपि रागादि सर्वप्रकृतिक हैं, तथापि रागादि की तरतमता का नियामक विशेषान्तर माना जाता है, अतः समरागता प्रसक्त नहीं होती। तब प्रश्न उठता है कि वह तरतमभाव का नियामक विशेषान्तर सभी का हेतु नहीं, अतः सबका धर्म नहीं। यदि सकल कफादिरूप प्रकृति से जनित होने के कारण रागादि सभी के धर्म माने जाते हैं। कफादि के अवान्तर परिणामों की विशेषता के कारण समरागादिमता नहीं होती।

समाधान—उक्त आशंका भी उचित नहीं, क्योंकि जो कफादि के अवान्तर परिणामों में विशेषता पाई जाती है, वह भी व्यभिचारी है, अतः रागादि की तरतमता की हेतुता क्यों होगी? ॥६५०॥ अर्थात् जो परिणामविशेष माना जाता है, जिससे रागादि

विशेषेऽपि च दोषाणामविशेषादसिद्धता ॥ १५२ ॥
न विकाराद् विकारेण सर्वेषां न च सर्वजाः ।
कारणे वर्धमाने च कार्यहानिर्न युज्यते ॥ १५३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यो हि परिणतिविशेषो यतो हेतो रागादिहेतुरुपलब्धः । स एव यदा द्वेषादिहेतुरपीतिव्यभिचारस्तदा सर्वधर्मप्रतिपादने सकलविशेषहेतुतापि प्रतिपादिता । सकलः रागादिविशेषाणामिति समरागादिता परिस्फुटैव । ततः परिणतिविशेषादित्ययुक्तो हेतुः । तस्यापि सकलरागादिविशेषहेतुत्वात् ।

अथ कार्यविशेष उन्नीयमानः परिणतिविशेषो दृष्ट एव रागाद्यसंकरहेतुः । तदप्ययुक्तम् । यतः—

अदृष्टवह्निर्धूमो यः स न स्यादग्निहेतुकः । प्रदेशस्यैव कश्चित् स विशेषो धूमकारणम् ॥६५१॥

वह्निप्रदेशे धूमश्चेत् न विशेषोऽपरस्य च । ततो विशेषरहितान्न धूमोऽन्यत्र च सम्भवी ॥६५२॥

यद्यदृष्टेरपि सर्वदा विशेषः कार्यदर्शनमात्रकात् परिकल्प्यते । सर्वत्र तर्हि प्रतिनियतकार्यकारणभावो विशीर्यते । अथ तत्र विशेषपरिकल्पना न क्रियते । दृष्टस्य वह्नेः परिकल्पनेन बाधनात् । अत्रापि तर्हि दृष्टोऽभ्यासः परिकल्प्यताम् । न परिणतिविशेषपरिकल्पना युक्ता ।

ननु भूतहेतुका रूपादयः इष्यन्ते । अथ भूतविशेषे विशिष्यन्ते एतदपि भवत एव चोद्यं नास्माकम् । कर्माधिपत्यस्य विशेषहेतुत्वात् । अन्यथा तेषामपि पक्षीकरणात् । न तैरनेकान्तः । तथा हि—विशेषेऽपि चेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के कारण की उपलब्धि मानी जाती है । वही यदि द्वेषादि का भी हेतु है, अतः व्यभिचार स्पष्ट है । यदि व्यभिचार की निवृत्ति के लिए सकल विशेषहेतुता भी अभीष्ट है, तब समरागता परिस्फुट ही है । फलतः "परिणतिविशेषान्न समरागता"—यह युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि वह भी तो सकल हेतु-साधारण ही है ।

शंका—वातादि का परिणामविशेष रागादि के असांकर्य का हेतु देखा ही गया है ।

समाधान—यह भी उचित नहीं, क्योंकि जो धूम वह्नि का धर्म नहीं देखा गया, वह अग्निहेतुक नहीं हो सकता, अतः व्यक्तिगत कोई विशेषान्तर ही धूम का हेतु माना जायगा । वह्नि के आधार में यदि धूम देखा गया है, तब विशेषान्तर की क्या आवश्यकता ? अतः विशेषान्तर-रहित प्रदेश में धूम सम्भवी नहीं हो सकता ॥६५१–६५२॥ यदि अदृष्ट विशेष धर्म कार्य-दर्शनमात्र से परिकल्पित होता है, तब सर्वत्र प्रतिनियत कार्यकारणभाव विशीर्ण हो जायगा । यदि वहाँ विशेषान्तर की कल्पना नहीं की जाती, तब दृष्ट वह्नि की कल्पना ही उचित है, परिणतिविशेष की कल्पना उचित नहीं ।

शंका—रूपादि पदार्थ भूतहेतुक माने जाते हैं । वे भी भूतगत विशेषताओं के कारण विशिष्ट-विशिष्ट होते हैं—यह भी आप (नैयायिकों) का ही कहना है । वस्तुतः प्रारब्ध कर्म का वैचित्र्य ही भोग-वैविध्य का नियामक होता है । केवल भौतिक विशेषताओं को रागादि का नियामक नहीं माना जा सकता, अन्यथा उनको भी पक्ष बनाकर रागादि की अहेतुता का अनुमान किया जा सकता है ।

तापादिष्विव रागादेर्विकारोऽपि सुखादिजः।
वैषम्यजेन दुःखेन रागस्यानुद्भवो यदि ॥ १५४ ॥
वाच्यं केनोद्भवः साम्यान्मदवृद्धिः स्मरस्ततः।
रागी विषमदोषोऽपि दृष्टः साम्येऽपि नापरः ॥ १५५ ॥

यदि रूपादि की विशेषता में कर्मों (धर्माधर्मादि) का वैशिष्टच नियामक नहीं माना जाता, तब समत्वापत्ति का प्रसङ्ग बना रहता है।

यदि कहा जाय कि केवल वातादि दोषों से रागादि उत्पन्न नहीं होते, अपितु वातादि के परिणाम-विशेष से वैसे ही समुद्भूत होते हैं, जैसे ज्वरादि व्याधियाँ। इस पर कहा गया है—"विशेषेऽपि"। अर्थात् वातादि के परिणाम-विशेष से रागादि की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि दोषों की विशेषता के रहने पर भी रागादि में कोई विशेषता नहीं देखी जाती ॥ १५२ ॥

कफादि का उत्कर्ष होने पर भी रागादि में किसी प्रकार का उत्कर्ष नहीं होता—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सभी कफादि के उत्कर्ष से द्वेष होता है, रागादि नहीं। कफादि सभी से रागादि की उत्पत्ति मानने पर समरागतापत्ति होती है—ऐसा कहा जा चुका है।

दूसरी बात यह भी है कि सन्निपातावस्था में कफादिरूप कारण की वृद्धि होने पर रागादि कार्य की हानि वैसे हो युक्ति-युक्त नहीं, जैसे पित्तादि की वृद्धि होने पर तापादि की।

शंका—कफादि दोषों की समानता होने पर रागादि होते हैं और विषमता (न्यूनाधिकभाव) के होने पर द्वेषादि। अतः पित्तादि की विशेषता होने पर भी रागादि में विशेषता नहीं आती—ऐसा मानना नितान्त असंगत है।

समाधान—कथित आशङ्का समुचित नहीं, क्योंकि दोषों की साम्यावस्था में रागादि का जो वृद्धिरूप विकार होता है, वह सुखादि से जनित है अर्थात् आन्तरिक धातु-साम्य के स्पर्श से जनित सुखादि के द्वारा रागादि विवर्धित होते हैं। इसी प्रकार वैषम्य-जनित दुःख के द्वारा द्वेष का उत्पाद होता है। द्वेष-विरुद्ध राग का यदि अनुद्भव होता है, तब रागादि का उद्भव किस हेतु से होता है ? दोषों की समानता से मद की वृद्धि होती है और स्मर (काम) की भी। इस पर इष्टापत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि रागादि की विषमावस्था में भी रागादि देखे जाते हैं, साम्यावस्था में भी रागादि की मन्दता नहीं देखी जाती ॥ १५३-१५५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदुक्तं अन्यहेतुसद्भावेऽपि यदन्यकार्यदर्शनं तस्य विशेषसद्भावात् अदृष्टविशेषकल्पनापि। अत्रोच्यते—भवतु नाम कार्यान्तरं विशेषोऽन्यस्तत्रेति। यदा तु पुनः फलोत्कर्षस्तदा हेतूत्कर्षात् कार्यस्योत्कर्षः कथं निवार्यः। तत्रापि तदन्यस्य विशेषस्य भावा-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यह जो कहा गया है कि अन्य हेतुओं के सद्भाव में भी जो अन्य कार्य देखा जाता है, उससे अन्य कारण की अदृष्ट-कल्पना की जाती है। वहाँ पर हमारा कहना है कि कार्यान्तर को देखकर सामग्री विशेष की कल्पना आवश्यक है किन्तु विशेष में

वार्तिकालङ्कारः

दिति चेत्। एवं तर्हि स विशेषः कारणं न भवतीति कार्यकारणग्रहणं कुतः। न च दृश्यस्यादृष्टविशेषता युक्ता। तस्मात्—

तद्विशेषाद् विशेषस्य ग्रहणे कार्यताग्रहः। ततश्चेन्न विशेषोऽस्ति कुतः कार्यादिताग्रहः ॥६५३॥

ननु विशेषादित्यसिद्धो हेतुः। पित्तोत्कर्षे तद्दुःखपीडितस्य द्वेषोत्कर्षात् नास्त्यसिद्धता। सर्वेषामेव कफादीनामुत्कर्षपीडया द्वेषसम्भवात्। न भवत्यपि प्रकृत्यामन्दद्वेषस्येति चेत्। पित्तोद्रेकेऽपि समानमेतदित्यवाच्यम्। अथ सर्वजत्वं तदपि न युक्तम्। न च सर्वजा इत्युक्तत्वात्।

किञ्च यदि नामापरो विशेषो नास्ति। तथापि सर्व स्यैवाहेतु तद्विशेषकृतविशेषो माभूत्कार्यस्य तु हानिः कुतः। यतः, कारणवृद्धौ कार्यस्य वृद्धिरेव युक्ता न हानिः। अन्यथा तस्य न कारणत्वमित्युक्तं यथा तापादयः पित्तादिवृद्धौ वृद्धिमन्तः।

ननु रागस्य वृद्धिर्वृद्धचद्रव्योपयोगे कफसद्भावादुपलभ्यत एव। नैतदस्ति। द्वेषस्यैव व्याधिपीडया भावात्। सुखादिजो हि रागादिर्न कफादिभावी। सुखञ्च कस्यचित् कथञ्चिदुपलब्धमान्तरवासनाप्रबोधात्। ततो न रागादयो दोषेभ्य इति युक्तम्।

ननु यद्यपि श्लेष्मोत्कर्षे न रागः। तथापि न तावता हेतुरसौ वैषम्यजदुःखप्रतिबद्धशक्तिकत्वात्। न च योऽन्यप्रतिबन्धेन न जनयति। स न हेतुः। सर्वस्यैवाहेतुत्व-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विशेषान्तर माने बिना प्रथम विशेष में अन्य कार्य-जनकस्वरूप विशेष धर्म की कल्पना क्योंकर हो सकेगी? दृश्य कार्य को अदृष्ट-कल्पना युक्त नहीं, अतः जिस विशेष के द्वारा विशेष कार्य माना जाता है, उस विशेष में अन्य विशेष धर्म के बिना विशेष कार्य-जनकता क्योंकर बनेगी? ॥ ६५३ ॥

शंका—'कार्यविशेषः करणविशेषात्'—यह हेतु असिद्ध है, क्योंकि पित्त द्रव्य का उत्कर्ष होने पर तज्जनित दुःख से पीड़ित व्यक्ति में द्वेष के उत्कर्ष से द्वेष नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सभी कफादि के उत्कर्ष-जनित पीड़ा से द्वेष की उत्पत्ति हो जाती है। स्वाभाविक मन्द द्वेष से द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती—ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि पित्त की वृद्धि होने पर भी वही प्रसङ्ग उपस्थित होता है। वातादि सभी धातुओं से सभी रागादि की उत्पत्ति का निराकरण किया जा चुका है।

कार्यविशेषार्थ कल्पित विशेष में यदि विशेषान्तर नहीं, तब यह कहा जा सकता है कि विशेषार्थ में अन्य विशेष भले हो न हो किन्तु कार्य की हानि क्यों होती है? कारण की वृद्धि से कार्य की वृद्धि ही प्राप्त होती है, हानि नहीं, अन्यथा कारण में कारणत्व ही न रहेगा किन्तु पित्तादि की वृद्धि में तापादि की वृद्धि ही देखी जाती है।

कफ के सद्भाव में राग की वृद्धि देखी जाती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कफजनित व्याधि की पीड़ा से द्वेष ही होता है। सुखादि से ही जनित रागादि हैं, कफादि से नहीं। सुख तो किसी की आन्तरिक वासनाओं के उद्बोध से होता है, अतः वातादि दोषों से रागादि नहीं होते—ऐसा मानना ही युक्तियुक्त है।

शंका—यद्यपि कफ के उत्कर्ष से राग नहीं होता, तथापि कफ को राग का अहेतु नहीं कह सकते, हाँ, कहीं पर वैषम्य-जनित दुःख से शक्ति का प्रतिबन्ध हो जाने से राग नहीं हो सका, यह अन्य बात है, जो किसी प्रतिबन्धक के कारण अपने कार्य को उत्पन्न नहीं कर सका, तो क्या वह उस कार्य का कारण ही नहीं रहा—ऐसा नहीं कह

क्षयादसृक्स्रुतोऽप्यन्ये नैकस्त्रीनियतो मदः ।
ते नैकस्यां न तीव्रः स्यादङ्गरूपाद्यपीति चेत् ॥ १५६ ॥
न सर्वेषामनेकान्तान्न चाप्यनियतो भवेत् ।
अगुणग्राहिणोऽपि स्यादङ्गं सोऽपि गुणग्रहः ॥ १५७ ॥
यदि सर्वो गुणग्राही स्याद्धेतोरविशेषतः ।
यदवस्थो मतो रागी न द्वेषी स्याच्च तादृशः ॥ १५८ ॥
तयोरसमरूपत्वात् नियमश्चात्र नेक्ष्यते ।

शुक्रधातु का अत्यन्त क्षय हो जाने पर कुछ लोग असृक् (रुधिर) का (स्रुतः) क्षरण करनेवाले रागी देखे जाते हैं, अतः शुक्र धातु भी राग-जनक नहीं ।

दूसरी बात यह भी है कि शुक्र धातु किसी एक स्त्री के उद्देश्य से बना नहीं, अपितु समस्त स्त्री-जाति के साथ शुक्र का सम्बन्ध है, अतः क्षुक्र-जनित राग तो सभी स्त्रियों में समान होना चाहिए न कि किसी में तीव्र और किसी में मन्द । मुखादि अङ्गों एवं रूप योवनादि सम्पत्ति को भी रागोत्पत्ति में कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अत्यन्त कुरूप अङ्ग-विकल स्त्रियों में किसी-किसी का राग देखा जाता है। अङ्गों में गुण-ग्राह (गुण-बुद्धि) को भी राग का हेतु नहीं कह सकते, अन्यथा रूपादि में अशुभ-भावना करनेवाले साधकों को रागादि नहीं होना चाहिए। जिसमें जिसका राग है, उसमें द्वेष कभी नहीं होना चाहिए। राग और द्वेष—इन दोनों के लिए भी कोई नियम नहीं देखा जाता कि कफावस्था में राग ही रहेगा, द्वेष नहीं ॥ ५५८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रसङ्गात् । अत्राप्युच्यते—वैषम्यजेन दुःखेनेति ।

यदि कफादिसाम्याद्विरुद्धव्याध्यसम्भवे मदस्य शुक्रापरनाम्नोऽभिवृद्धिस्ततः स्मरोरागापरव्यपदेशभागी । एवं सति विषमदोषः सुरतक्षतजोऽत्यन्तस्त्रीसेवापरो रागी न स्यात् शुक्रक्षयतः । शुक्रस्य सर्वस्त्रीषु साधारणत्वात् नैकस्त्रीनियता रागिता भवेत् । तेन समानमदभावात् एकस्यां तीव्रता रागस्य न स्यात् ।

अथ विषयस्यापि कारणत्वं स्त्रियः । तद्रूपादिविशेषाविशेषो यतो रूपाद्यपि कारणमेव । तथा हि—

रूपातिशयपाशेन विवशीकृतमानसाः । स्वां योषितं तिरस्कृत्य कामिनो योषिदन्तरे ॥६५४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकते, अन्यथा कोई किसी का कारण ही नहीं रहेगा ।

समाधान—यदि कफादि की साम्यावस्था में विरुद्ध व्याधि आदि उत्पन्न न हो और मद, शुक्रादि शब्दों से प्रसिद्ध वीर्यधातु की अभिवृद्धि हो जाय, तब स्मर (राग) की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शुक्र-क्षय होने पर तुरत क्रीडादिपरक रागासक्ति नहीं रहेगी । शुक्र सर्व-स्त्री-साधारण है, अतः शुक्र-जनित राग किसी स्त्री में कम किसी में अधिक क्यों होगा ?

शंका—स्त्री के रूपादि विषय भी राग के कारण होते हैं, क्योंकि रूपादि के विशेषाविशेष पर रागादि का विशेषाविशेषभाव निर्भर होता है—काफी लोग अपनी स्त्री को छोड़कर रूपयौवन-सम्पन्न पराई स्त्री पर मरते देखे जाते हैं ॥६५४॥ रागिता

वार्तिकालङ्कारः

कदाचिदुपचारस्य हेतुना रागितां प्रति । न मदः केवलो रागकारणं नियमस्ततः ॥६५५॥

तस्मादेकस्यां तीव्रतासहकारिसद्भावादपरत्र न तथेति न दोषः। नैतदपि साधीयो यतः—

सर्वत्र व्यभिचारस्य दर्शनान्नैव हेतुना । रूपादिकस्य रूपेण हीनायामपि रागतः ॥६५६॥

उपचारस्य भावाच्चेत् रूपं तर्हि न कारणम् । उपचारविहीनायामपि रूपस्य सम्भवात् ॥६५७॥

रागस्तदुपचारोऽपि रागहेतुर्न युज्यते । द्वयेनापि वियुक्तायां क्वचिद्रागस्य दर्शनात् ॥६५८॥

न सर्वहेतुः सर्वेषां समरागप्रसङ्गतः ।

अथानियतहेतुतैवेष्यते । तदप्ययुक्तम् । न चाप्यनियतस्ततो भवतीति युक्तम् । एकस्यां नियतो रागो रूपग्रहणलालसस्य अतर्कितोपनतायां विरूपायां रागपीडितस्य न प्रवर्तकः स्यात् । किञ्च । मदस्य रागहेतुत्वेऽगुणग्राहिणोऽपि रागो भवेत् । अथ गुणग्रहणमपि अङ्गम् । तथा सति सर्वो गुणग्राही प्रसंगः । सर्वस्य गुणहेतोर्भावात् । अथ गुणभावमात्रान्न गुणग्रहणम् । कुतस्तर्हि गुणग्रहणम् । यदि निर्विषयं गुणग्रहणम् अनादिवासनात इत्यभ्यासादेव रागादय इति प्राप्तम् । अपि च यस्यामवस्थायामवस्थितस्य रागस्तदवस्थस्य द्वेषो न स्यात् । रागद्वेषयोरसमत्वेन विरुद्धप्रकृतित्वात् । न च तद्विरुद्धप्रकृती व्यवस्थितस्य तद् भवति । अथ न भवत्येव तदप्ययुक्तम् । नियमश्चात्र नेक्ष्यते।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के प्रति केवल मद कारण नहीं, अपितु रूपादि सम्पत्ति एवं अनुकूल उपचार (सेवा-सुश्रूषादि) राग के कारण हैं, इनको विशेषता से राग में विशेषता होती है ॥ ६५५ ॥ फलतः किसी स्त्री में तीव्र और किसी में मन्द राग उपपन्न हो जाता है।

समाधान—यह शंका भी उचित नहीं, क्योंकि व्यभिचरित होने के कारण रूपादि भी राग के कारण नहीं माने जा सकते। अपनी रूपवान् स्त्री को छोड़कर भी कुछ लोग कुरूप स्त्री से प्रेम करते देखे जाते हैं ॥६५६॥ सेवा-सुश्रूषादि विशेषता को राग का हेतु मानने पर रूपादि में कारणता नहीं रह जाती, क्योंकि रूपादि से हीन स्त्री में भी अनुकूल आचार देखा जाता है ॥६५७॥ रूपादि एवं उपचार—इन दोनों को भी राग का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन दोनों से रहित स्त्रों में भी राग देखा जाता है ॥६५८॥ कफादि सभी कारणों को सर्वत्र राग का कारण नहीं माना जा सकता, अन्यथा समान राग का प्रसंग प्राप्त होता है।

अनियत-हेतुता भी युक्ति-संगत नहीं, अन्यथा जो व्यक्ति रूप-ग्रहण-लोलुप है, उसका अकस्मात् प्राप्त रूपादि से रहित स्त्री में राग-प्रेरित प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी।

दूसरी बात यह भी है कि मद (शुक्र) को राग का हेतु मानने पर अगुण-ग्राही व्यक्ति की भी राग-प्रवृत्ति होनी चाहिए। गुण-ग्रहण को भी अङ्ग मानने पर सभी रागियों में गुण-ग्रहण होना चाहिए, क्योंकि सभी गुणरूप हेतुओं का सद्भाव होता है। यदि गुणमात्र से गुण-ग्रहण नहीं होता। तब किससे गुण-ग्रहण होता है? यदि गुण-ग्रहण निर्विषयक है, तब अनादि वासनाओं के आधार पर अभ्यास से ही रागादि की निष्पत्ति माननी होगी। अपि च रागावस्था में द्वेष नहीं होगा, क्योंकि राग और द्वेष परस्पर-विरुद्ध होने से एक अवस्था में नहीं रह सकते। विरुद्ध प्रकृतिवाले पुरुष में इसी समय विरुद्ध धर्म का उदय नहीं होता। वहाँ द्वेष नहीं ही होता है—ऐसा भी

सजातिवासनाभेदप्रतिबद्धप्रसूतयः ॥ १५९ ॥

यस्य रागादयस्तस्य नैते दोषाः प्रसङ्गिनः ।

एतेन भूतधर्मत्वं निषिद्धं निःश्रयस्य च ॥ १६० ॥

जिस (बौद्ध) के मतानुसार रागादि की उत्पत्ति आत्मात्मीय-ग्रह (सत्काय-दृष्टि) से जनित पूर्व-पूर्व सजातीय वासनाओं (संस्कारों) के द्वारा होती है, उनके मन में नैरात्म्य-दृष्टि से सत्काय-दृष्टि के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त समरागतादि दोषों की प्रसक्ति नहीं होती ॥१५९॥

वार्तिकालङ्कारः

अथवा । यदि द्वयोरपि सा प्रकृतिस्तदा द्वयोरपि समानताप्रसङ्गः । एवमेवेति चेत् । न । एतन्नियमस्यादृष्टेः । न ह्यत्र समानकालतानियमेक्षणम् । अथ यथा पित्तप्रकृत्यवस्थितस्य स्वेदादयः कदाचित् न सर्वदा । तथा रागादयोऽपीति । तदसत्—

तेजः संसर्गजः स्वेदः तदभावे भवेन्न सः ॥६५९॥

रागादीनान्तु रूपादिकारणादपरं न तत् । तद्भावे हेतुसाकल्याद्रागादेर्नास्ति नास्तिता ॥६६०॥

अथान्तरोपकारकृतवासनासभागमतो नियमविपर्ययस्तथा सति वासनैव रागादिकारणम् । रागस्याप्युपकारभावनाभावात् । अथापि स्यात् । यस्यापि वासनाभेदादुत्पद्यन्ते रागादयः । तस्यापि कथमयं न दोष इत्याह—सजातिवासनाभेदेति ।

रागादयो हि यदा वासनाबलाद् भवन्ति तदा यस्य यत्र जन्मान्तरसङ्गता वासना तत्रैव तस्य प्रबोधः कथञ्चित् कदाचित् केनचित् हेतुनेति । वासनानियमे रूपादीनां रूपाद्यपेक्षिता नास्तीति न प्राक्तनदोषावकाशः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं कह सकते, क्योंकि कोई नियम नहीं माना जाता। अथवा यदि राग और द्वेष दोनों ही वह प्रकृति है, तब उन दोनों में समानता प्रसक्त होती है। इस प्रसंग में इष्टापत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं देखा जाता कि राग और द्वेष की समकालता सिद्ध हो।

शंका—पित्तप्रकृति की अवस्था में जैसे स्वेद (पसीना) कदाचित् होता है, सर्वदा नहीं, वैसे ही रागादि भी कभी ही होते हैं, सदा नहीं।

समाधान—स्वेद तेज या ऊष्मा के संसर्ग से होता है, उसके अभाव में नहीं ॥६५९॥ रागादि का तो रूपादि से अतिरिक्त और कोई कारण नहीं होता। रूपादि कारण-साकल्य के होने पर रागादि का नास्तित्व (अभाव) नहीं होता ॥६६०॥ इस नियम का विपर्यय यदि आन्तरिक व्यवहारजनित वासना के उद्बोधन से होता है। वासना में रागादि कारणता पर्यवसित होती है। उत्तर-राग की उत्पत्ति में पूर्व-राग भी अपेक्षित नहीं। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जिस (बौद्ध) के मत में वासना विशेष से रागादि उत्पन्न होते हैं, उसके मत में समरागता-प्रसङ्ग आदि पूर्वोक्त दोष क्यों नहीं होते? इसके उत्तर में कहा जाता है—स्वजातिवासनेत्यादि। अर्थात् रागादि जब वासना से उत्पन्न होते हैं, तब जिस व्यक्ति की जिसमें जन्मान्तरासक्त वासना होती है, वहीं वासना का प्रबोध होता है, प्रबोध का निमित्त सदा सर्वत्र नहीं होता, अतः समरागतादि दोष प्रसक्त नहीं होते।

इस (रागादि में वातादि की धर्मता के निषेध) से ही रागादि में भूत-धर्मता का भी निषेध हो जाता है ॥ १६० ॥

निषेधान्न पृथिव्यादिनिःश्रिता धवलादयः ।
तदुपादायशब्दश्च हेत्वर्थः स्वाश्रयेण च ॥ १६१ ॥
अविनिर्भागवृत्तित्वाद् रूपादेराश्रयोऽपि वा ।

वार्तिकालङ्कारः

(३६) रागादीनां भूतधर्मत्वनिरासः—

मा भूवन् वातादिधर्मा रागादयो भूतधर्मा भविष्यन्तीत्याह—एतेन भूतधर्मत्वमिति ।

य आह भूतानां पृथिव्यादीनां एते धर्मास्तथा हि । पृथिव्यम्बुभूयस्त्वे रागोऽनलवाय्वोर्द्वेषः । अवाय्वोर्मोह इति । तदपि निषिद्धम् । सर्वत्रानैकान्तात् । तथा चोक्तम्—यदवस्थो मतो रागीत्यादि । आश्रयाश्रयिभावश्च निषिद्धः । अनाश्रयात्सदसतोरित्यादिना ।

ननु यथा धवलादयो महाभूतनिश्रिताः तथा रागादयोऽपि । तदाह—न पृथिव्यादिनिश्रिताः धवलादयः । यदि पृथिव्यादिनिश्रिताः स्युः । तदा भूतेभ्यो रूपादिव्यतिरेकाभ्युपगमो भूतमात्राभ्युपगमं बाधते । न हि भूतमात्राभ्युपगमे आश्रयाश्रयिभावः । यदि भूताश्रियं ज्ञानं तदा तत्त्वबहुत्वप्रसङ्गः । अव्यतिरेके भूतानामेकतैव विज्ञानाव्यतिरेकात् ।

ननु भूतान्युपादाय रूपादय इत्युपगमे आश्रयप्रतिषेधविरोधः । नाश्रयार्थ उपादानार्थोऽपि तु हेत्वर्थः । तदाह—तदुपादाय शब्दश्चेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(३६) रागादि में भूत-धर्मता का निरास—

शंका—रागादि यदि वातादि के धर्म नहीं, तब न सही, किन्तु पृथिवी आदि भूतों की धर्मता अवश्य है, क्योंकि जिसकी प्रकृति में पृथिवी और जल की प्रधानता होने पर राग, अग्नि और वायु का प्राधान्य होने पर द्वेष, जल और वायु का प्राचुर्य होने पर मोह होता है ।

समाधान—यह कार्य-कारणभाव भी अनैकान्त-दोष से दूषित है, जैसा कि वार्तिककार कह चुके हैं—"यदवस्थो मतो रागीत्यादि" (प्र० वा० १।१५८) । आश्रयाश्रयिभाव का भी निरास किया गया है—"अनाश्रयात् सदसतोः" (प्र० वा० १।६५) ।

जैसे शुक्लादि गुण महाभूतों के आश्रित हैं, वैसे ही रागादि भूताश्रित क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"न पृथिव्यादिनिःश्रिता धवलादयः" । अर्थात् यदि धवलादिरूप पृथिव्यादि के आश्रित होंगे, तब बौद्ध-सिद्धान्त बाधित हो जायगा । रूपादि से भिन्न पृथिवी नहीं, अपितु रूपादि गुणों का समूह पृथिवी है—यह बौद्ध-सिद्धान्त है गुण और पृथिव्यादि का आश्रयाश्रयिभाव मानने पर वह भङ्ग हो जाता है । यदि ज्ञान को भूतों के आश्रित माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि ज्ञान के आश्रयीभूत चारों भूतों से ज्ञान का भेद है ? अथवा अभेद ? प्रथम पक्ष में अनेक तत्त्व मानने पड़ते हैं, विज्ञानाद्वैतवाद निरस्त हो जाता है और द्वितीय (अभेद) पक्ष में विज्ञान से अव्यतिरिक्त होने के कारण सभी भूतों में एकता प्रसक्त होती है ।

मदादिशक्तेरिव चेद् विनिर्भागो न वस्तुनः ॥ १६२ ॥
शक्तिरर्थान्तरं वस्तु नश्येन्नाश्रितमाश्रये ।

यह जो शंका की जाती है कि जैसे श्वेतादि रूप पृथिव्यादि के आश्रित होते हैं, वैसे ही रागादि धर्म भी पृथिव्यादिभूतों में क्यों नहीं रह सकते ? उसका उत्तर दिया गया है—"निःश्रेयस्य निषेधात्" । अर्थात् "अनाश्रयात् सदसतोः" (प्र० वा० १।६५) इस वार्तिक के द्वारा श्वेतादि गुणों में पृथिव्यादि की निःश्रयता (धर्मता) का निराकरण कर दिया गया है । [बौद्ध-सिद्धान्त में शुक्लादि गुण पृथिव्यादि के आश्रित नहीं माने जाते अपितु शुक्लादि गुणो के समूह महाभूत हैं, गुणों से अतिरिक्त नहीं] । अतः

वार्तिकालङ्कारः

नाश्रयार्थ उपादायार्थः । अपि तु हेत्वर्थस्तथा हि—

हेतोः समानकालत्वं न कार्येणावगम्यते । समानकालयोर्नास्ति कार्यतादिविनिश्चयः ॥६६१॥

ततो वाधाराधेयभावः । भवतु वा समानकालयोरेवाश्रयाश्रयिभावः कार्यकारणभावो वा । तथापि स्वाश्रयेणाविनिर्भागवर्तनात् । तथा हि—

आश्रयाश्रयिभावेन रूपादेर्नियमो यदि । अविनिर्भागवर्त्तित्वमेतेषामिति गृह्यताम् ॥६६२॥

यदि तयोराधाराधेयभावस्तदाधेयाभावे तदाधारस्य विनाशोऽविनाशे वा पश्चादिव पूर्वमपि नाधारता । ततोऽविनिर्भागवर्त्ती रागादिरपि प्राप्तः । न च रूपादिव्यतिरेकेण महाभूतरूपं नामास्तीति पराभ्युपगमेनैव इदमुच्यते । न च रागादीनामविनिर्भागवृत्तिः कस्यचित्कदाचिद् भावात् । एवं हि—मदादिशक्तेरिव चेदिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—"भूतानि उपादाय रूपादयो भवन्ति"—ऐसा मानने पर रूपादि और भूतों का आश्रयाश्रयीभाव प्रसक्त होता है ।

समाधान—'उपादाय' शब्द का आश्रित्य अर्थ नहीं, अपितु हेतूकृत्य अर्थ है । यही वार्तिककार कह रहे हैं—"तदुपादायेत्यादि । यहाँ 'उपादाय' शब्द आश्रयार्थक नहीं, अपितु हेत्वर्थक है, क्योंकि हेतु प्रत्यय के साथ कार्य की एक-कालीनता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि समानकालीन पदार्थों में कार्य-कारणभाव नहीं होता ॥६६१॥ फलतः रूपादि और भूतपदार्थों का आधाराधेयभाव नहीं होता । अथवा समानकालीन पदार्थों का आश्रयाश्रयिभाव एवं कार्यकारणभाव भी माना जा सकता है, तथापि रूपादि पदार्थों की अपने आश्रय के साथ अविनिर्भागवृत्तित्व (अयुतसिद्धि या सहभाव) मानना होगा । अर्थात् यदि रूपादि का महाभूतों के साथ आश्रयाश्रयिभाव नियमतः माना जाता है, तब रूपादि में महाभूतों की अविनिर्भागवृत्तिता स्थिर रहेगी ॥६६२॥ आशय यह है कि यदि महाभूत रूपादि के आधार माने जाते हैं, तब रूपादि का अभाव होने पर महाभूतों में उनकी आधारता नहीं रह सकती चाहे महाभूत विनष्ट हो जायें या बने रहें । इसी प्रकार महाभूतों में रागादि की भी अविनिर्भागवृत्तिता प्रसक्त होती है, जो कि सम्भव नहीं, क्योंकि रूपादि-समुदाय से भिन्न महाभूतों की कोई सत्ता नहीं मानी जाती । केवल न्यायादि मतों को मानकर आश्रयाश्रयिभाव कह दिया गया है । रागादि की महाभूतों के साथ अविनिर्भागवृत्तिता भी नहीं, क्योंकि कोई कभी होता है और कोई कभी, तब उनमें (अविनिर्भागवृत्तित्व सहभाव या एककाल-वृत्तित्व) क्योंकर रहेगा ?

रागादि भी पृथिव्यादि के आश्रित क्योंकर माने जा सकेंगे ? यदि रूपादि महाभूतों के आश्रित नहीं, तब बौद्धाचार्यों ने "भूतानि उपादाय (आश्रित्य) रूपमुत्पद्यते"—ऐसा क्यों कहा है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—"तदुपादायशब्दश्च हेत्वर्थः" अर्थात् "भूतानि उपादाय" का अर्थ 'भूतानि आश्रित्य' नहीं, अपितु भूतानि हेतुकृत्य है। अथवा रूपादि की अपने आश्रयीभूत चारों महाभूतों के साथ अविनिर्भागवृत्तिता होने के कारण आश्रयाश्रयिभाव भी हो सकता है किन्तु रागादि में वैसा नहीं, क्योंकि वे विनिर्भागवृत्ति हैं, एक काल में नहीं होते, कोई कभी और कोई कभी होता है।

यदि कहा जाय कि सुरादि (मदिरादि) के आश्रित रहनेवाली मदशक्ति का जैसे विनिर्भाग होता है, वैसे ही रागादि का भी क्यों न मान लिया जाय ? इसका उत्तर है—"न वस्तुनः शक्तिरर्थान्तरम्" अर्थात् सुरा आदि वस्तुओं की शक्ति उससे भिन्न नहीं होती, अतः उनकी आश्रयता सुरादि में क्योंकर होगी ? ॥ १६२ ॥

तिष्ठत्यविकले याति तत्तुल्यं चेन्न भेदतः ॥ १६३ ॥
भूतचेतनयोर्भिन्नप्रतिभासावबोधतः ।

यदि शक्ति अपने शक्त पदार्थ से भिन्न नहीं, तब महाभूत और चैतन्य (ज्ञान) का भी अभेदया तादात्म्य क्यों नहीं ? इसका निरास करते हुए कहा गया है—"भेदतः भूतचेतनयोः"। अर्थात् महाभूतों से चैतन्य का भेद नितान्त स्फुट है, क्योंकि भिन्नाकारवाले ज्ञानों का विषय एक नहीं होता।

वार्तिकालङ्कारः

सुरासवादेर्द्रव्यस्याश्रिता मदशक्तिर्विनिर्भागेन वर्तते। स्थिते द्रव्ये निवृत्ते पश्चाच्च भावात्। तथा हि—कषायमधुरद्रव्यसम्भवे प्रागभाविनी शक्तिराविर्भवत्येव। पुनरप्यपगच्छति।

न चानाश्रितरूपासौ तथात्वेन प्रतीतितः। रागादयोऽपि तद्वत्स्युर्देहमेव समाश्रिताः ॥ ६६३ ॥

तदप्ययुक्तम्। शक्तेरर्थान्तरत्वाभावान्न हि शक्तिरर्थान्तरभूता भूताद् द्रव्यस्य शक्तिरिति व्यतिरेकव्यपदेशो व्यपदेशिवद्भावाच्छिलापुत्रकशरीरमित्यादिवत्। यथा प्रतिपादयिष्यते।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—जैसे सुरा (मदिरा) और आसव (धूप में पकाया उठाया हुआ द्राक्षादि का रस) आदि में रहनेवाली मादक शक्ति मदिरा से विनिर्भागेन (पृथक्) रहती है, अतएव मदिरादि के रहने और न रहने पर भी मद्यपायी में पाई जाती है। जौ और गुड़ आदि मधुर एवं कसैले द्रव्यों में मदशक्ति पहले से ही विद्यमान होती है, उनके सड़ाये, गलाये जाने पर वह आविर्भूत होती है और उन्हीं द्रव्यों में वह विलीन हो जाती है। वह शक्ति सुरादि द्रव्य के आश्रित नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तदाश्रितत्वेन उसकी प्रतीति होती है। उसी प्रकार रागादि भी शरीर के आश्रित ही सिद्ध होते हैं ॥ ६६३ ॥

समाधान—सुरादि की शक्ति सुरादि द्रव्यों से भिन्न नहीं, 'द्रव्यस्य शक्तिः'—ऐसा भेद-व्यवहार व्यपदेशिवत् (मुख्य व्यवहार के समान) गौण व्यवहार है, जैसे—'राहोः शिरः' या 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्'। इस विषय का विशदीकरण आगे किया जायगा।

वार्तिकालङ्कारः

ननु पावकादीनां यदि नास्ति शक्तिरन्या तदा मन्त्रतन्त्रादीनां कस्य प्रतिबन्धो न तावत्पुरुषस्यान्यत्र दाहात् । शक्तिप्रतिषेधे तु तस्याप्रतिषेध इत्यन्यस्य दाहः । तदसत् ।

शक्तेरपि निषेधेऽयं विभागः कथमाप्यते । न हि सापि क्वचिन्नास्ति क्वचिदस्तीति शक्यते ॥ ६६४ ॥

बहुत्वे ननु शक्तीनां विभागः किमसम्भवी । शक्तिस्तद्दाहिका नास्ति तदन्या तु न वार्यते ॥ ६६५ ॥

दाह्यस्यैवाथवान्यत्वं क्रियतेऽतो न दह्यते । अन्येन दह्यतेऽन्यत्र शक्तेरप्रतिवेधतः ।। ६६६ ॥

न सदेतत् ।

तावत्यः शक्तयस्तस्य भावस्य कुत आगताः । ताभिः किंवास्य कर्त्तव्यं येन तासामपेक्षणम् ॥ ६६७ ॥

नासावपेक्षते भावः कारणादेव तास्तथा । कार्याणि च विभागेन न स्युस्तश्चेन्न शक्तयः ॥ ६६८ ॥

न हि शक्त्या वहुत्वेन कार्यं नानात्वसम्भवः । दहनादिविभागेन दहनादेर्यदीक्षते ॥ ६६९ ॥

तत्र स्यादेकरूपस्य वह्न्यादेः सम्भवो न वा । सम्भवे सर्वदाह्यत्वं तदभावे न कस्यचित् ॥ ६७० ॥

एकस्य भावाभावौ च संस्तो न युगपत् क्वचित् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—यदि अग्नि आदि की शक्ति अग्नि से भिन्न नहीं, तब मन्त्र-तन्त्रादि से प्रतिबन्ध किसका होगा ? यदि कहा जाय कि जलने वाले पुरुष का प्रतिबन्ध किया जाता है, अतः वह जलता नहीं । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह पुरुष अन्य (अप्रतिबन्धशक्तिक) अग्नि से जल जाता है । यदि शक्ति का प्रतिवन्धन माना जाता है, तब जिस अग्नि को शक्ति का प्रतिबन्धन नहीं किया गया उसका दाह होना उचित ही है । फलतः अग्नि की शक्ति अग्नि से भिन्न सिद्ध होती है, वैसे ही मद-शक्ति भी मदिरा से भिन्न सिद्ध होती है ।

समाधान—मन्त्र-तन्त्रादि के द्वारा अग्नि की दाह-शक्ति का प्रतिबन्ध मानने पर भी यह विभाग कैसे किया जा सकेगा कि किसी अग्नि से दाह होता है और किसी से नहीं ? वह शक्ति किसी अग्नि में है, किसी में नहीं—ऐसा नहीं कह सकते ॥६६४॥

शंका—सभी अग्नियों में दाह-शक्ति एक नहीं, अपितु नाना शक्तियाँ हैं, तब दाह-अदाह का विभाग असम्भव क्यों होगा ? जिसको दाह-शक्ति नहीं रही, उससे दाह नहीं सही । अन्य अग्नि से दाह का निवारण क्यों होगा ? ॥ ६६५ ॥ अथवा किसी एक दाह्य पदार्थ को ही ऐसा अग्नि से सुरक्षित कर दिया कि वह दग्ध नहीं होता, दूसरे पदार्थ जलते रहते हैं, क्योंकि उनके लिए दाह-शक्ति अप्रतिरुद्ध नहीं ।

समाधान अग्नि में एक दाह-शक्ति के स्थान पर नाना शक्तियाँ कैसे आ गईं । उन नाना शक्तियों से क्या काम लेना है कि उनकी इतनी अपेक्षा की जाती है ॥६६७॥

शंका—यह अग्निरूप भाव पदार्थ अपने कारण मात्र से ऐसा नहीं उत्पन्न हुआ कि कोई दाहक हो और कोई नहीं । यदि उसमें शक्तियाँ नहीं मानी जातीं, तब दाह की व्यवस्था नहीं की जा सकती ॥ ६६८ ॥ जब तक बहुत शक्तियाँ न मानी जायें तब तक उन नाना कार्यों का सम्पादन नहीं किया जा सकता, जो कि अग्नि-व्यक्तियों में दाहादाहरूप विविध कार्य देखे जाते हैं ॥ ६६९ ॥ एक-रूप (एकशक्ति-सम्पन्न) अग्नि से तो दाह होगा, तब सभी का या किसी का भी नहीं होगा । दाहादाहरूप विरुद्ध कार्य एक ही अग्नि से क्योंकर होंगे, परिशेषतः अनेक शक्तियों के द्वारा ही भावाभावरूप कार्य युगपत् सम्पन्न हो सकते हैं ॥ ६७० ॥

वार्तिकालङ्कारः

तदपि न परिहर्तव्यम् । यतः—

यथैककारणादेव नानाशक्तिर्भवत्यसौ । नानाकार्योऽपि किं नेष्टः किमदृष्टं प्रकल्प्यते ॥ ६७१ ॥

कार्यनानात्वदृष्टेश्च नानाशक्तिप्रकल्पना । यदि तान्येव सन्त्वत्र स्वभावनियमोऽस्य सः ॥ ६७२ ॥

जातः स्वकरणादीदृग् येन मन्त्रादिसंयुतः । विभागात् कार्यकरणे समर्थः शक्तयो वृथा ॥ ६७३ ॥

वंचकः सर्वदहनो विनामन्त्रेण कारणात् । स एव कस्यचिद्दाहसमर्थो मन्त्रसंयुतः ॥ ६७४ ॥

दाह्यद्रव्यस्य तद्रूपं येन तेन न दह्यते । अन्येन दह्यते तस्य स्वहेतोरेव सम्भवात् ॥ ६७५ ॥

इति शक्तिनिषेधेन नाश्रयाश्रयिसम्भवः । ततः स दृष्टो दृष्टान्तः प्रकृतस्य न साधकः ॥ ६७५ ॥

अतो वस्त्वेव तन् नश्यति । न त्वाश्रितं तिष्ठत्यविकल एवाश्रयेऽपगच्छति । स्यथापि स्याद् अत्रापि भूतचेतनयोरेवमेव भवेत् । अत्र परिहारः । भूतचेतनयोर्भेदात् । न खलु चेतनानां शक्तिवद्भूताव्यतिरेकः । एतदेव कुत इति चेत् । भिन्नप्रतिभासावबोधात् ।

प्रतिभासभेदः सर्वत्र वस्तुभेदस्य साधकः । भेदसिद्धेरुपायो हि न कश्चित् पर ईक्ष्यते ॥६७७ ।

भिन्नेन्द्रियभिन्नप्रतिपत्तृग्राह्यत्वेऽपि यद्यभेदावभासिता । तदा तत् कथमेवं प्रति·

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—उक्त शङ्का का परिहार करना आवश्यक है, क्योंकि जैसे मृत्तिकादि एकविध कारण से घट-शराव आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, तब एकविध अग्नि व्यक्ति से दाहादाहरूप नाना कार्य क्यों न हो सकेंगे ? अदृष्ट-शक्ति की कल्पना क्यों की जाती है ॥ ६७१ ॥ नाना कार्यों को देखकर कारण में यदि नाना शक्तियों की कल्पना की जाती है, तब उन अनेक कार्यों को वस्तु के कैसे ही स्वभाव का नियामक क्यों नहीं मान लिया जाता ? ॥ ६७२ ॥ अर्थात् अग्निरूप कार्य अपने कारणों से नियन्त्रित होकर ऐसा ही उत्पन्न होता है जिससे मन्त्र-तन्त्र का योग हो जाने पर वह अकेला ही विविध कार्यों के सम्पादन में समर्थ हो जाता है । शक्ति-कल्पना व्यर्थ है । ॥ ६७३ ॥ यद्यपि अग्नि-पदार्थ अपने कारणों के द्वारा ऐसा उत्पन्न किया गया है कि मन्त्र-तन्त्रादि प्रयोगों के बिना स्वभावतः सर्वदाहक है, तथापि वह मन्त्र-तन्त्रादि के सम्बन्ध से किसी वस्तु का दाहक होता है, किसी का नहीं ॥ ६७४ ॥ दाह्यपदार्थ का रूप भी अपने कारणों से ऐसा ही बना है, जो किसी अग्नि से नहीं जलता और किसी से जल जाता ॥ ६७५ ॥ इस प्रकार शक्ति-तत्त्व का निषेध हो जाने पर उसका सुरादि के साथ आश्रयाश्रयिभाव सिद्ध नहीं होता, अतः सुरा-शक्ति का दृष्टान्त रागादि एवं महाभूतों के आश्रयाश्रयिभाव का साधक नहीं हो सकता ॥ ६७६ ॥ अतः आश्रित वस्तु आश्रय का नाश होने पर नष्ट हो जाती है, आश्रय में विलीन नहीं होती ।

शंका—महाभूत और चैतन्य (ज्ञान) में भी वैसा ही होना चाहिए । अर्थात् जैसे शक्तितत्त्व सुरादि द्रव्य से भिन्न नहीं, वैसे ही चैतन्य का महाभूतों से अभेद मान लेना चाहिए ।

समाधान—महाभूत और चैतन्य (ज्ञान) का भेद है, शक्ति के समान अव्यतिरेक (अभेद) नहीं, ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनका भेद अनुभूत है । प्रतिभास भेद ही सर्वत्र वस्तु-भेद का साधक होता है । प्रतिभास भेद को छोड़कर और कोई वस्तुभेद का साधक नहीं होता ॥ ६७७ ॥

भिन्न प्रतिपत्ताओं (प्रमाताओं) के द्वारा भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से नहीं होने पर

वार्तिकालङ्कारः

पत्तिर्हि भेदिका प्रतिभासरूपा न प्रतिपत्तिकारणभेदः। अथ कारणभेदात् प्रतिपत्तेरपि भेदः। स एव तर्हि प्रतिपत्तिभेदो भेदको व्यर्थकमपरम्। तत्र च भिन्नः प्रतिभासो-ऽन्तःसातादिरूपेण संवेदनं विज्ञानस्य नोष्णादिरूपेण ग्राह्यतयाऽर्थस्य। अथान्तः-स्प्रष्टव्यविशेषरूपा एव सुखादयः तेनान्तःसंवेदनरूपा।

यो हि यत्र स्थितो भावः स तथैवानुभूयते। दूरादूरादिभेदेन यथा वृक्षादिवेदनम्॥ ६७८॥

अन्तःस्प्रष्टव्यविशेषो हि न दूरं भाति। तेनासावात्मैकदेशतयान्तःशरीरस्य स्थितेर्न बाह्यवृक्षवदनुभूयते। न न्याय एष। यतो हि—

यदि स्प्रष्टव्य एवासौ तस्य केन प्रवेदनम्। अन्येन वेदने भिन्नवेदनत्वं प्रसक्तिमत्॥ ६७९॥

अथ स्ववेदनं तस्य न महाभूतरूपता। स्वविद्रूपं किमन्येन तथैव न विभाव्यते॥ ६८०॥

उदरान्तर्गततत्त्वाच्चेत् अन्तःस्पर्शोऽस्तु वेदनम्।

यो ह्यन्तरवयवस्पर्शी तस्य वेदनप्रसङ्गः। बहिरालिङ्गनस्पर्शोऽपि सुखरूप एव।

द्वयोरन्योऽन्यसंस्पर्शे द्वयोरप्यस्तु वेदनम्। पररूपं परो वेत्ति नात्मरूपं कथं परः॥ ६८१॥

अथ परैः स्पृश्यमानं तदेवात्मरूपं सुखीभवति। तथा सति परेण तथा प्रतिपत्ति-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी यदि ज्ञान में अभेदावभासिता है, तब प्रतिभासरूप प्रतिपत्ति विषय-भेदिका नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रतिपत्ति के कारण का भेद न होने से कार्य का भेद क्योंकर होगा? यदि कहा जाय कि कारण के भेद से प्रतिपत्ति का भी भेद है। तब वही प्रतिपत्तिभेद ही भेदक है, अन्य सब व्यर्थ है। महाभूतों की प्रतिपत्ति 'खरा पृथिवी,' 'शीतं जलम्,' 'उष्णोऽग्निः'—इत्यादि आकार की होती है और वेदना-विज्ञानादि की सुखाद्याकारा अनुभूति होती है, अतः महाभूतों से विज्ञानादि का भेद सिद्ध होता है। सुखादि पदार्थ अन्तःस्प्रष्टव्यादिरूपेण प्रतिभासित होते हैं किन्तु महाभूत बाह्याकारतया प्रतीत होते हैं। सारांश यह है कि जो पदार्थ जहाँ स्थित है, वह वैसा ही अनुभूत होता है, जैसे दूरस्थ वृक्ष दूर और समीपस्थ वृक्ष समीप प्रतीत होता है, वैसे ही सुखादि आन्तरिकत्वेन और महाभूत बाह्यत्वेन यथावत् प्रथित हैं॥ ६७८॥ अन्तःस्प्रष्टव्य सुखादि पदार्थ न तो दूर प्रतीत होते हैं और न वृक्षादि दूरस्थ पदार्थ आभ्यन्तरत्वेन प्रतिभासित होते हैं।

यह न्यायोचित नहीं कि जो स्प्रष्टव्य पदार्थ है, उसका प्रतिभास काय (त्वक्) इन्द्रिय से न होकर अन्य (चक्षुरादि) इन्द्रिय के द्वारा हो, अन्यथा भिन्नेन्द्रिय-वेद्यता प्रसक्त होगी॥ ६७९॥ यदि केवल स्वकीय (त्वक्) इन्द्रिय के द्वारा स्प्रष्टव्य पदार्थ का ग्रहण होता है, तब महाभूतरूपता उसमें न बन सकेगी, क्योंकि महाभूत विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होते हैं, किसी एक इन्द्रिय के द्वारा नहीं॥ ६८०॥ उदरान्तर्गत विज्ञान तत्त्व से जनित विज्ञान केवल मन से गृहीत होगा, फलतः विज्ञानादि की उत्पत्ति महाभूतों से नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार सुखादि पदार्थ भी भूतों के धर्म नहीं, अन्यथा आन्तरानुभवनीय सुखादि का भी महाभूतों के समान ही बाह्य इन्द्रियों के द्वारा वेदन होना चाहिए, क्योंकि बाहर स्त्री-पुरुष का आलिङ्गन स्पर्श भी सुखरूप ही है। उन दोनों के अन्योऽन्य संस्पर्श का संवेदन दोनों को होना चाहिए किन्तु आत्मीय सुख को अन्य व्यक्ति क्योंकर जान सकता है?॥ ६८१॥

पुरुष के द्वारा स्पृश्यमान स्त्री-शरीर ही तो उसका अपना सुख है। तब तो

वार्तिकालङ्कारः

प्रसङ्गः। परस्य सर्वाकारप्रतिपत्तेरिति चेत्। यद्येकोऽसावर्थः कथं न सर्वाकारप्रतिपत्तिः। अथानेकः प्रतिपरमाणु भिद्यते। तथा सति सुखपरमाणुभेदे सुखवद् दुःखे कस्यचित्प्रतिपत्तिः सुखादेः स्यात्। न परसुखस्य लेशोऽपि विद्यते। स्वयं च प्रतिसंविदितानामेकस्यैव प्रतिपत्तिरिति समानानुभवौ स्त्रीपुंसौ स्याताम्। सर्वप्रवेदनेऽनेकपरमाणुप्रवेदनप्रसङ्गः।

अथ परस्परसंसर्गो विभागाभावात्। न, तद्व्यतिरेकेण संसर्गाभावात्। भावे वा विवेकप्रतिपत्तिरनिवारिता स्यात्। संसर्गाद्विवेकाप्रतिपत्तिरिति चेत्। न हि तर्हि तेषां स्वरूपप्रतिपत्तिरिति भिन्नाभूतेभ्यश्चेतनाभेदेन भासनात्। अथैक एवावयवी तथा सति परस्यापि तथा प्रतिपत्तिः। अथ परः सर्वात्मना प्रतिपत्तुमशक्तः। न तर्हि तस्य रूपं प्रतीयते। भ्रान्तिरेवैषा भ्रान्तिरप्यन्तःस्प्रष्टव्यविशेषरूपैव। ततः परेण तथा प्रतीयेत। एकं स्प्रष्टव्यमपरं यदि तत्र सुखादिकम्। परेणैकप्रतीतिश्चेत् सुखाद्यन्यतस्तथा सति। तस्माद्—

भूतचेतनयोर्भिन्नप्रतिभासावबोधतः। विरुद्धधर्माध्यासेन स्वभावस्यास्ति भिन्नता ॥ ६८२ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

परकीय सुख का वेदन पर-व्यक्ति को होना चाहिए। यदि कहा जाय कि पर-व्यक्ति को आलिङ्गित शरीरों की सर्वाकार प्रतिपत्ति नहीं होती। तब प्रश्न उठता है कि स्पृश्यमान शरीर परमाणु-पुञ्जात्मक एक है? या अनेक? यदि एक। तब पर-व्यक्ति को सर्वाकार प्रतिपत्ति क्यों नहीं? यदि वह अनेकात्मक परमाणु-भेद से भिन्न है। तब एक सुखरूप परमाणु से भिन्न दूसरा परमाणु असुखात्कक है अतः असुख या दुःख में भी कदाचित् पुरुष की प्रवृत्ति होनी चाहिए क्योंकि वह परकीय सुख से भिन्न है, उसमें परकीय सुख का लेशमात्र भी नहीं। स्वयं एक व्यक्ति को परमाणु-पुञ्ज में से एक की ही प्रतिपत्ति है, अतः स्त्री और पुरुष दोनों को समान अनुभव होना चाहिए। उनको सभी का ज्ञान मानने पर अनेक परमाणुओं का संवेद प्रसक्त होता है।

यदि कहा जाय कि अनेक परमाणु संसृष्ट हैं, विभक्त नहीं, तब प्रत्येक परमाणु का पृथक् ज्ञान क्यों प्रसक्त होगा? इस प्रश्न का उत्तर है—"तद्व्यतिरेकेण संसर्गाभावात्"। अर्थात् परमाणुओं का संसर्ग परमाणुओं से भिन्न नहीं। यदि संसर्ग को संसृष्ट पदार्थों से भिन्न माना जाता है, तब परमाणु विविक्त रह जाते हैं, अतः अनेक परमाणुओं का ज्ञान पूर्ववत् प्रसक्त होता है। अतः यह मानना आवश्यक है कि आश्लिष्ट स्त्री-पुरुष का शरीर सुखादि स्वरूप नहीं, अपितु महाभूतों से ज्ञान-सुखादि का महाभूतों से भेद है, क्योंकि दोनों भेदेन प्रतिभासित होते हैं।

यदि अनेक परमाणुओं के आश्रित शरीरादि एक अवयवी है। तब उसकी प्रतीति अन्य को भी होगी। यदि कहा जाय कि अन्य पुरुष उसका ग्रहण करने में सक्षम नहीं, तब यह मानना होगा कि वह अवयवी सुखरूप नहीं, अपितु उसमें सुखरूपता की प्रतीति भ्रमात्मक हैं, उस अवयवी तत्त्व की अन्य व्यक्ति तभी प्रतीति कर सकता है, जब कि वह सुखरूप न होकर महाभूतात्मक हो। यदि अन्य व्यक्ति को अवयवी में एकता की प्रतीति होती है, तब निश्चित रूप से सुखादि की महाभूतों से उत्पत्ति न होकर अन्य पदार्थ से ही माननी होगी। अतः महाभूत और ज्ञान-सुखादि में भिन्नाकार प्रतीति-विषयता के कारण भेद सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, आन्तरत्व

वार्तिकालङ्कारः

परेण स्पृश्यमानस्य सुखभावो यदीष्यते । वस्तुत्वेनैव किन्तस्य स्पृश्यमानस्य सा स्थितिः ॥६८३॥
कान्तत्वेन स हेतुश्चेत् कान्तत्वं किमिदं मतम् । स्वभागधेयतः कश्चित् कस्यचित् कान्ततः परः ॥६८४॥
कर्मैव भाग्यशब्देन व्यवहारपथस्थितम् । उपकारविशेषस्तु नेह जन्मनि दृश्यते ॥ ६८५ ॥
एवमव्यतिरेकेऽपि चेतनाया व्यवस्थितः । परलोकः परेणात्र बहुना जल्पितेन किम् ॥६८६॥
यदि वा कान्तता तस्य करणादुपजायते । परेणापि प्रतीयेत न चेत् विज्ञानमेव तत् ॥ ६८७ ॥
प्रतिपत्तृशरीरान्तर्गता साथ प्रकल्प्यते । बहिःप्रतीयमानासौ शरीरान्तर्गता कथम् ॥ ६८८ ॥
रूपावभसनस्यापि परेणाप्रतिपत्तितः । स्वसंवेदनरूपस्य भूतेभ्यः स्याद् विभिन्नता ॥ ६८९ ॥

सविकल्पकेऽन्यत्र वा परेण न प्रतीयते । ततः स्वसंवेदनज्ञानमेव तत् । अथ पर शरीरान्तर्गतमिति न वेद्यते । परशरीरस्याप्यवेदनप्रसङ्गः ।

शरीरान्तर्गतत्वे च केवलस्य कथं गतिः । अन्धकारस्थितस्यान्यविषयस्य विकल्पने ॥ ६९० ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

एवं बाह्यत्वादि विरुद्ध धर्मों की प्रतीति भी सुखादि का महाभूतों से भेद सिद्ध कर रही है ॥३८२॥ एक व्यक्ति के सुख की प्रतीति अन्य व्यक्ति को नहीं होती। यदि अन्य व्यक्ति के द्वारा स्पृश्यमान शरीरादि में सुख-रूपता मानी जाती है, तब सुख का लक्षण करना होगा—'वस्तुत्वं सुखत्वम्' किन्तु ऐसा सम्भव नहीं ॥६८३॥ यदि कान्तत्व (काम्यमानत्व) को सुख-लक्षण किया जाता है, तब स्वकीय भाग्यधेयता को-लेकर कान्तत्व सर्वत्र अतिव्याप्त हो जाता है ॥६८४॥ 'भाग्यधेय' शब्द के द्वारा पूर्वो-पार्जित कर्म ही कहा जाता है। जन्म लेते ही बालक को जो सुख प्राप्त होता है, वह पूर्वजन्म के शुभ कर्मों का ही फल कहना होगा, क्योंकि इस जन्म में ऐसा कोई उपकार का काम हुआ नहीं, जिसका फल प्राप्त सुख कहा जा सके ॥६८५॥ इस प्रकार सुख की प्राप्ति से पूर्वजन्मरूप परलोक सिद्ध हो जाता है, चेतना भले ही चित्त से अभिन्न हो, इस विषय में बहुत-कुछ कहने की आवश्यकता नहीं ॥६८६॥ अथवा सुखादि में काम्य-मानता महाभूतरूप कारण-कलाप से उत्पन्न है और शरीर-सौष्ठवादि के रूप में पर-वेद्यता भी मानी जा सकती है, अन्यथा, सुख भी विज्ञानस्वरूप ही है ॥ ६८७ ॥ प्रतिपत्ता (सुखादि के अनुभविता) पुरुष के शरीर में अवस्थित काम्यमानता को यदि सुखादि का आकार माना जाता है, तब शरीरगत काम्यमानता बाह्य धर्म है, उसकी आन्तरिक सुखादि धर्मता क्योंकर हो सकेगी ? ॥६८८॥ महाभूतों के रूपादि धर्मों का भान भी सर्वसाधारण है किन्तु सुख अनन्यसाधारण है, अतः महाभूतों और उनके धर्मों से सुख की भिन्नता सिद्ध होती है ॥ ६८९ ॥

सविकल्पक (विकल्पना-प्रसूत रजतादि) पदार्थ सभी को दिखाई नहीं देते, अपितु रजत-भ्रमवाले पुरुष को ही दिखाई देते हैं। अतः वह स्वसंवेदनात्मक चित्त-वृत्ति मात्र ही रजतादि पदार्थ हैं। सुखादि पदार्थ भी एक विज्ञान के आकार होने के कारण अन्य पुरुष को प्रतीत नहीं हो सकते। यदि कहा जाय कि सुखादि पदार्थ भी शरीर के ही धर्म हैं, किन्तु पर-शरीर में अवस्थित होने के कारण पर-पुरुष को उनका वेदन नहीं होता। तब तो पर-शरीर का भी अन्य को वेदन नहीं होना चाहिए। सुखादि पदार्थों को शरीर का धर्म मानने पर भी केवल सुख का भान नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ अन्धकारस्थ किसी वस्तु में अनेक-विध कल्पनाएँ होती हैं, वहाँ एकाकार प्रतीति नहीं होती, अपितु स्थाणुर्वा पुरुषो वा ? इस प्रकार का भान होता है ॥६९०॥ शरीर रागा-

आविकारं च कायस्य तुल्यरूपं भवेन्मनः ॥ १६४ ॥
रूपादिवद् विकल्पस्य कैवार्थपरतन्त्रता ।

यदि काम (देह) और चित्त की एकता मानी जाती है तब जब तक देह विकृत नहीं होता, तब तक देहगत रूपादि के समान मन को भी एकाकार ही रहना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः शरीर से चित्त या मन को पृथक् मानना होगा। चित्त या ज्ञान शरीर से अभिन्न होने पर भी एकाकार इसलिए नहीं रहता कि ज्ञान से घट पट आदि विषय नाना हैं, उनके भेद से भिन्नाकार का ज्ञान हो जाता है-- इस युक्ति का निरास करने के लिए कहा गया है—"विकल्पस्य कैवार्थपरतन्त्रता ?" अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान अपनी जनकीभूत वासनाओं पर निर्भर रहता है, अर्थ (विषय) पर नहीं, अतः वासना भेद से ज्ञान का भेद होता है, बाह्य पदार्थों के भेद नहीं । विज्ञानवाद बाह्य विषयों की सत्ता ही नहीं मानता ।

वार्तिकालङ्कारः

विकल्पेन विना वेत्ति शरीरं चेतनं विना । सहोपलम्भनियमो नात एकत्वसाधकः ।। ६६१ ।।

अथापि स्यात् । भवतु भिन्नं तत् । अथापि देह एव तस्य कारणमतः सुखादयो न वासनाप्रतिबद्धजन्मानः ततः पारमार्थिकाः । देहोऽपि शुक्रादेरतो न परलोकः । इहलोकपरम्परयैव परिसमाप्तेरतो न संसारित्वमित्याह—आविकारश्च कायस्येति ।

यदा हि कायः कारणं स्वभावो रागादीनां तदा देहविकारात् प्राक् तुल्यरूपमेव नो भवेत् । कारणस्य स्वभावस्य चाश्रयस्य तुल्यत्वात् । अन्यथाश्रयाश्रयिभावस्य ार्यकारणभावस्य चायोगात् । अन्वयव्यतिरेकाननुविधानात् । न हि शरीरगता रूपादयो देहसमानतायामसमानाः । अथापरापरविषयसमवधानाभिधीयमानविशेषतायामदोषः । तदपि न युक्तम् । मनोविज्ञानस्य सुखादेश्च कैवाथपरतन्त्रता । वासनाप्रबोध-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दि विकल्पों से रहित एवं अचेतन है—ऐसा ज्ञान होने के कारण ज्ञान और शरीर का सहोपलम्भ भी उनका अभेद सिद्ध नहीं कर सकता ।। ६६१ ।।

शंका—यह मान लेते हैं कि शरीर रागादि से भिन्न है, तथापि शरीर ही सुखादि का कारण है, अतः सुखादि वासना-जनित न होने से काल्पनिक न होकर पारमार्थिक हैं। देह भी शुक्रादि से उत्पन्न पारमार्थिक है, अतः परलोक सिद्ध नहीं होता, अपितु इहलोक में ही जीवन-यात्रा समाप्त हो जाती है, जीव में संसारित्व सिद्ध नहीं होता।

समाधान—यदि शरीर को ही रागादि का कारण और आश्रय माना जाता है, तब शरीर को अविकृत अवस्था में रागादि की भी समानरूपता प्रसक्त होती है क्योंकि उनका कारण और आश्रय समान है, अन्यथा शरीर और रागादि कार्य-कारणभाव और आश्रयाश्रयिभाव सम्भव न हो सकेगा।

वस्तुतः रागादि में देह-समानतादि का वैसा अन्वय-व्यतिरेकानुविधान नहीं पाया जाता, जैसा कि देहगत रूपादि का पाया जाता है अर्थात् शरीरगत रूपादि देह की समानावस्था में कभी भी असमान नहीं होती। यह जो कहा जाता है कि यद्यपि ज्ञानादि शरीर के ही धर्म हैं तथापि देह की समानावस्था में भी अपने एतत् विषयवस्तु की अपेक्षा विषम हो जाते हैं। वह भी उचित नहीं क्योंकि मनोविज्ञान और सुखादि कभी भी विषयाधीन नहीं होते, उनकी उत्पत्ति केवल पूर्वतन वासनाओं पर निर्भर रहती है।

अनपेक्ष्य यदा कायं वासनाबोधकारणम् ॥ १६५ ॥
ज्ञानं स्यात् कस्यचित् किञ्चित्कुतश्चित्तेन किञ्चन ।

शरीररूप कारण की अपेक्षा न करके वासनाओं (संस्कारों) के उद्‌बोधक किसी ज्ञान के द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य से नहीं।

अविज्ञानस्य विज्ञानादुपादानाच्च सिध्यति ॥ १६६ ॥
विज्ञानशक्तिसम्बन्धादिष्टं चेत् सर्ववस्तुनः ।
एतत् सांख्यपशोः कोऽन्यः सलज्जो वक्तुमीहते ॥ १६७ ॥
अदृष्टपूर्वमस्तीति तृणाग्रे कारिणां शतम् ।
यद्रूपं दृश्यतां यातं तद्रूपं प्राङ् न दृश्यते ॥ १६८ ॥
शतधा विप्रकीर्णेऽपि हेतौ तद् विद्यते कथम् ।

विज्ञानोपादान-रहित देह से विज्ञान नहीं होता, अपितु पूर्व-पूर्व विज्ञान से ही उत्तरोत्तर विज्ञान होता है, अतः परलोक सिद्ध हो जाता है। अर्थात् पूर्वतन भौतिक

वार्तिकालङ्कारः

मात्रत उत्पत्तेरित्युक्तम्—अनपेक्ष्य यदा कायमिति।

कायकारणत्वे हि पूर्वको दोषः। यदा तु पुनः कायकारणमनपेक्ष्य वासनाबोधःकारणं किञ्चिदपेक्ष्य ज्ञानं कस्यचित् मनोविज्ञानमभ्युपगम्यते जन्मवत्। तदा तेन कारणेन किञ्चन ज्ञानं स्यादविकृतेऽपि देहे न तु देहकारणत्वे। तस्माद्विज्ञानादेव विज्ञानं न देहादिति संसारित्वम्। हेत्वन्तरमप्याह—अविज्ञानस्य विज्ञानेति।

विज्ञानवैगुण्यावैगुण्याभ्यामुत्तरविज्ञानवैगुण्येतरदर्शनान्नियमेन तद्विकारानुवर्तनात्। विज्ञानोपादानरहिताद्देहान्न विज्ञानमिति सिद्धयति परलोकः। रागादीनाञ्च युगपदुत्पादप्रसङ्गाच्च ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थात् शरीर को उनका कारण मानने पर पूर्वोक्ति दोष प्रसक्त होता है और जब शरीर-कारणता की अपेक्षा न करके केवल वासनोद्बोधन के द्वारा ज्ञानादि की उत्पत्ति मानी जाती है, तब देह के अविकृत होने पर भी ज्ञान विचित्र हो सकता है। किन्तु देह को ज्ञानादि का कारण मान लेने पर नहीं। फलतः विज्ञान से ही विज्ञान की उत्पत्ति न्याय-संगत है, देह से नहीं, अतः जीव में संसारित्व सिद्ध होता है।

विज्ञान में संसारित्व (लोकान्तरागतत्व) की सिद्धि करने के लिए अन्य हेतु का प्रदर्शन किया जाता है—अविज्ञानस्येत्यादि।

पूर्वविज्ञान के वैगुण्यावैगुण्य पर उत्तर-विज्ञान का वैगुण्यावैगुण्य निर्भर है। सारांश यह है कि नियमतः पूर्व-विज्ञान का अनुवर्तन (अनुकरण) उत्तर-विज्ञान में पाया जाता है, अतः विज्ञानोपादानता-रहित देह से विज्ञान उत्पन्न होकर विज्ञान से ही विज्ञान-सन्तान प्रवाहित होता है, फलतः इस शरीर में विज्ञान-सन्तति पूर्व-शरीरस्थ विज्ञान से उत्पन्न होकर परलोक सिद्ध करती है। शरीर से रागादि की उत्पत्ति मानने पर युगपत् उत्पत्ति भी प्रसक्त होती है।

शरीर के छूट जाने पर उसमें प्रवाहित विज्ञान-सन्तति दूसरे शरीर में प्रवाहित होने लगती है। उसमें सभी प्रकार के संस्कार संचित रहते हैं, जिससे जीवनयात्रा निर्वाण पर्यन्त चलती रहती है ॥ १६६ ॥

सांख्याचार्यों का कहना है कि यह आवश्यक नहीं कि विज्ञान से ही विज्ञान उत्पन्न हो, अपितु प्रत्येक पदार्थ अपनी बीज-शक्ति से उत्पन्न होता है। सत्त्वगुण को ज्ञान-शक्ति कहा जाता है, वह वस्तुमात्र में है, क्योंकि त्रिगुणात्मक जगत् में सत्त्वगुण का रहना स्वभाव-सिद्ध है। अतः गर्भस्थ शरीर से ही विज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, पूर्वतन शरीरस्थ विज्ञान-सन्तति से नूतन शरीरस्थ विज्ञान की उत्पत्ति माननी व्यर्थ है।

उक्त सांख्याचार्य-वचन की आलोचना में वार्तिककार कहते हैं—"एतत् सांख्य-पशोः कोऽन्यः सलज्जो वक्तुमीहते"। अर्थात् यह कथन उतना ही असत्य और असंगत है, जितना कि "तृणाग्रे करिणां शतम्"—ऐसा कहना। एक तिनके की नोक पर यदि सैकड़ों हाथी खड़े नहीं हो सकते, तब सभी वस्तुओं में विज्ञान-शक्ति भी व्याप्त नहीं हो सकती। वह विज्ञान-शक्ति यदि विज्ञान से भिन्न है, तब उसमें अज्ञानत्व सिद्ध होता है। यदि वह शक्ति ज्ञानात्मक ही है, तब ज्ञान के शतधा विकीर्ण कारणों में ज्ञानरूप शक्ति का दर्शन उतना ही असम्भव है, जितना तिनके की नोक पर सैकड़ों हाथियों का झुण्ड देखना।

वार्तिकालङ्कारः

अथापि स्यात्। यद्यपि विज्ञानादेव विज्ञानं तथापि न परलोकः सिध्यति। सर्वस्य वस्तुनो विज्ञानशक्तियोगात्। न च तथाभूताऽनारब्धकार्या शक्तिः परलोकः। नन्वेतत्सांख्यमतं कुतो भवतः सकलतार्किकचूडारत्नाभिमानिनः सांख्यपशुरेव एवं वक्तुं समीहते, आगमैकशरणोऽनपत्रपः। सलज्जस्तु, नैवं अदृष्टपूर्वं हि तृणाग्रे करिणां शतम्। न सांख्यादन्यस्य वचनगोचरः सत्त्वेन। तथा हि—

दध्यादीनां हि यद्रूपं प्राक् तद्दृष्टं न पार्यते। शतधाविप्रकीर्यापि हेतुं तत्रास्ति तत्कथम् ॥६९२॥
रूपान्तरेण यदि तत्तदेवास्तीति मा रटीः। विज्ञानादन्यरूपस्य भावे तद्विद्यते कथम् ॥ ६९३ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—यद्यपि विज्ञान से ही विज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि परलोक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सभी पदार्थ विज्ञान-शक्ति से युक्त होते हैं। महाभूतगत कथित शक्ति भी अनारब्धकार्यक नहीं, अतः उसी से ही विज्ञान की उत्पत्ति सम्भव हो जाती है, विज्ञान से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा कोई नियम नहीं, तब परलोक की सिद्धि क्योंकर हो सकेगी? ऐसा प्रश्न एक सांख्याचार्य को छोड़कर और कोई नहीं कर सकता। वह वैसी ही असम्भव बात करता है, जैसे कोई कहे कि 'तृणाग्रेऽद्य करिणां शतं मया दृष्टम्।" क्या कभी ऐसा सम्भव है कि लोष्ठ-पाषाणादि में भी ज्ञान-जनन-शक्ति हो? सांख्याचार्यों का कहना है कि दूध में भावी दधि की शक्ति विद्यमान है किन्तु वह भी देखी नहीं जा सकती,, कितना ही दूध को बिखेर कर कण-कण कर दिया जाय वह शक्ति खोजी नहीं जा सकती ॥६९२॥ यदि वह शक्ति रूपान्तर (दुग्ध के रूप) में रहती मानी जाती है, तब वह शक्ति ही दधिरूप में परिणत होती है—ऐसा मत कहो। विज्ञान की शक्ति विज्ञान से अन्य रूप में यदि है, तब वह विज्ञान की शक्ति कैसे? ॥६९३॥ माता-पिता रूप विज्ञान से पुत्र विज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है, मातादि

रागाद्यनियमोऽपूर्वप्रादुर्भावे प्रसज्यते ॥ १६९ ॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि चित्त-सन्तति परलोक से नहीं, आती, तब नूतन चित्त-सन्तान (सत्त्व) का प्रादुर्भाव मानना होगा, तब तो बालक की पूर्वराग-जनित स्तनपानादि में नियमतः प्रवृत्ति वैसे ही नहीं हो सकेगी, जैसे पूर्व शरीर के श्यामतादि रूप का समन्वय। रागादि का तरतमभाव भी उपपन्न न हो सकेगा ॥१६७-१६९॥

भूतात्मतानतिक्रान्ता सर्वो रागादिमान् यदि ।
सर्वः समानरागः स्याद् भूतातिशयतो न चेत् ॥ १७० ॥
भूतानां प्राणिताभेदेऽप्ययं भेदो यदाश्रयः ।
तन्निर्ह्रासातिशयवत् तद्भावात्तानि ह्रापयेत् ॥ १७१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि मात्रादिविज्ञानादुपादानात्तदिष्यते । तस्य संस्कारसादृगुण्यमनुवर्त्येत सर्वथा ॥ ६६४ ॥
अथापि पुत्रे पित्रादेः संस्कारो यदीष्यते । नानन्तरस्य सर्वत्र संस्कारस्यानुवर्तनम् ॥ ६६५ ॥

तस्माद्विज्ञानात् स्वसन्तानवर्त्तिनो विज्ञानमिति सिद्धः परलोकः। किञ्च- रागाद्यनियमोऽपूर्वप्रादुर्भाव इति ।

यदि परलोको न स्यात् तदापूर्वसत्त्वप्रादुर्भावः तथा सति रागादीनां न नियमः स्यात् वीतरागोऽपि कश्चित् स्यात्, यदा तु जन्मान्तरादागतिस्तदा तृष्णैव कारणं मतः प्राणिनो जन्मनः। ततो न जन्मी वीतरागः। रागादिकमन्तरेण जन्माभावात्—भूतात्मतानतिक्रान्तेरिति ।

अथापि स्यात्। भूतात्मता रागादिहेतुः सा च नापैति ततः कारणवैकल्याभावात् न रागादिवैकल्यम्। यद्येवमत एव हेतोः—सर्वः समानरागः स्यादिति ।

तथा हि भवेत्सर्वः समानरागो यदि परस्परं भूतानामतिशयो न स्यात्। अस्ति च ततो न सकलः समानरागः। यद्येवं—भूतानां प्राणिताभेद इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के संस्कारों का अनुवर्तन पुत्र में हो जायगा—ऐसा मानने पर पूर्व-शरीरगत विज्ञान के संस्कारों का अनुवर्तन क्योंकर होगा? ॥६६४-६६५॥ परिशेषतः स्वकीय विज्ञान-सन्तान से ही उत्तर-विज्ञान की उत्पत्ति माननी होगी, अतः परलोक सिद्ध हो जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि यदि परलोक नहीं होगा, तब जन्म के समय शरीर में अपूर्व (नूतन) जीव की उत्पत्ति माननी होगी, तब रागादि की नियमतः सत्ता सिद्ध न हो सकेगी, फलतः कोई पुरुष वीतराग भी हो सकता है। जब जन्मान्तर से विज्ञान की आगति मानी जाती है, तब तृष्णा को जन्म-ग्रहण का कारण मानना होगा, तब कोई भी जन्मी वीतराग न हो सकेगा, क्योंकि रागादि के बिना जन्म सम्भव नहीं।

शंका—भूतात्मत्व ही रागादि का हेतु है, क्योंकि रागादिमान् पुरुष में महाभूत रूपता का व्यभिचार नहीं पाया जाता।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि भूतों को ही यदि रागादि का हेतु माना जाता है, तब सभी प्राणियों में समान रागादिमत्ता की प्रसक्ति होती है, क्योंकि भूतों में किसी प्रकार की विशेषता नहीं, तब इन कार्यरूप रागादि मे तरतमभाव क्यों होगा?

सभी पुरुष यदि भूतरूप होने के कारण रागादिमान होते हैं, तब सब पुरुषों में समान राग होना चाहिए, क्योंकि सब में भूतात्मता समान है। यदि महाभूतों की अवान्तर विशेषता को लेकर सभी पुरुषों में भूतात्मता समान नहीं मानी जाती, तब भूतों से प्राणिरूपता का अभेद मानने पर भी भूतगत जिन विशेषताओं के आश्रित रागादि में तारतम्य आता है, उसी पर पूर्णतया आधृत होकर रागादि पदार्थ भूतात्मता का परिहायण (परित्याग) भी कर सकते हैं, फलतः कोई पुरुष नीराग भी हो सकता है ।। १७०-१७१ ।।

न चेद् भेदेऽपि रागादिहेतुतुल्यात्मताक्षयः ।

सर्वत्र रागः सदृशः स्याद्धेतोः सदृशात्मनः ।। १७२ ।।

महाभूतगत अवान्तर विशेषताओं का परस्पर भेद होने पर भी रागादि-हेतुत्वेन जो तुल्यात्मता है, उसका क्षय यदि नहीं होता, तब सभी पुरुषों में रागादि की समानता प्रसक्त होती है ।। १७२ ।।

वार्तिकालङ्कारः

यदुक्तं रागाद्यनियम इत्यत्र परेण भवत्येव वीतरागः पृथिव्यादिसंघातः। अथ प्राणिनो वीतरागता भवेत् कस्यचित् न। प्राणिनो यथाऽप्राणिता न भवेत् तथा वीतरागतापीति चोद्यं यद्येवम्। यथा प्राणिता न विशिष्यते, तथा रागितापीति सर्वः समानरागो भवेत्। प्राणितावत्। यदि वा कश्चित्प्राणी कश्चिदन्यथा। तथा रागीतरो वा स्यात्। अथ प्राणिताऽभिन्ना रागादयो भिन्नास्तदा यतः कारणाद् भूतातिशयत्वाद्भेदः तथा निर्ह्रासातिशयमन्तरेऽत्यन्तापचयोऽपीति वीतरागः स्यात्।

अथापि स्यात्। यद्यपि तदतिशयनिर्ह्रासवत् कारणम्। तथापि रागादिहेतोः तुल्यात्मता न क्षीयते। अत्रोच्यते—न चेद्भेदेऽपीति।

यदि हि रागादिहेतोर्या समानता सा न हीयते। ततो रागस्य सामान्यमेव हेतुः। सामान्यहेत्वर्थे च रागकार्यस्य समानता सदृशात्मनो हेतोः। कार्यमपि सदृशार्थकमिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यह जो कहा जाता है कि उत्तरोत्तर रागादि का होना कोई नियत नहीं, अतः किसी पुरुष में वीतरागता भी हो सकती है और किसी में रागादिमत्ता। जैसे प्राणियों में अप्राणिता नहीं होती, वैसे ही वीतरागता भी क्यों होगी ऐसा आक्षेप यदि किया जाता है, तब उसके परिहार में यह कहा जा सकता है कि जैसे प्राणिता में किसी प्रकार का तरतमभाव नहीं देखा जाता, वैसे ही रागादिमत्ता में भी नहीं होना चाहिए, फलतः सबमें समान रागादिमत्ता वैसे ही होनी चाहिए, जैसे प्राणिता। अथवा जैसे कोई प्राणी और कोई कैसा होता है, वैसे ही कोई रागी और कोई विरागी। यदि प्राणिता समान और रागादिमत्ता असमान है, तब जिस भूतगत अतिशय (विशेषता) रूप कारण के द्वारा रागादि में भेद या तरतमभाव आता है, उसी से रागादिगत निर्ह्रासरूप अतिशय के विना ही वीतरागता हो जायगी।

शंका—यद्यपि महाभूतरूप कारणों में उपचय-अपचय होता है, तथापि रागादि के कारणीभूत तत्त्वों में समानता क्षीण नहीं होती अतः रागादि में भेद नहीं होता।

समाधान—यदि रागादि के हेतुतत्त्व में विद्यमान समानता क्षीण नहीं होती, तब कार्यात्मक रागादि में भी समानता ही रहेगी। यदि हेतु की समानावस्था में भी कार्य

न हि गोप्रत्ययस्यास्ति समानात्मसुधा क्वचित् ।
तारतम्यं पृथिव्यादौ प्राणितादेरिहापि वा ॥ १७३ ॥

सभी शावलेयादि व्यक्तियों को गो-प्रतीति समान ही होती है, क्योंकि वह गोत्वरूप समान कारण से जनित है। चार्वाक-मतानुसार सभी शरीरों में प्राणिता (चेतनता) समान ही मानी जाती है, क्योंकि वह पृथिव्यादिरूप समान कारणों से उत्पन्न होती है॥ १७३ ॥

औष्ण्यस्य तारतम्येऽपि नानुष्णोऽग्निः कदाचन ।
तथेहापीति चेन्नाग्नेरौष्ण्याद् भेदनिषेधतः ॥ १७४ ॥

जैसे अग्नि से प्रज्वलित खदिर (खैर) आदि की लकड़ियों में उष्णता (ताप) का तारतम्य होने पर भी अग्नि अनुष्ण कभी नहीं होती। वैसे ही रागादि का तारतम्य होने पर भी कोई वीतराग कभी नहीं होता—ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि

वार्तिकालङ्कारः

युक्तम्। यदि तु हेतुसमानत्वे कार्यसमानं तारतम्ययोगात्। तदा तस्य तत्कार्यमेव न भवेत्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानभावात्। तस्माद्यत्र तारतम्यं तत्रात्यन्तमभावोऽपि अपकर्षतारतम्यभावात् धवलादिगुणवत् समानत्वाद्वा न प्रच्यवेत। किं कारणम्—न हि गोप्रत्ययस्यास्तीति।

गोप्रत्ययो हि समानात्मनः सम्भवति। अथ प्राणितां प्रति न विशेषः। भूतानां रागादीनपि। विशेषे कश्चिद् ‥ ……। तद्रूपव्यावृत्तेरन्यतोऽपि वा न चासौ तारतम्ययोगी भवति, गौर्गोतरो गोतम इति लोकायत दर्शनापेक्षया पृथिव्यादौ प्राणी प्राणीतरः प्राणितम इति। तस्मात्समानहेतोः समानत्वमपकर्षे त्वत्यन्तमुच्छेदोऽपि। तथा हि—औष्ण्यस्य तारतम्येऽपीति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समान नहीं रहता, अपितु तरतमभाव के योग से असम होता है, तब उस कार्य को उस कारण का कार्य ही नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि वहाँ 'कारणस्य समानत्वे कार्यसमानत्वम्, असमानत्वेऽसमानत्वम्'—इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक ही नहीं पाया जाता।' अतः जहाँ हेतुगत तारतम्य (असमानता) है, वहाँ कार्य में भी समानता का अत्यन्ताभाव भी है, जहाँ हेतुगत तारतम्य नहीं होता, वहाँ कार्य समानता के स्तर से नहीं गिरता समान ही रहता है, जैसे पृथिवी की समान अवस्था में तद्गत धवलता भी समान ही रहती है। इसका क्या कारण ? कारणस्य समानत्वात्।

गो व्यक्तियों में भेद रहने पर भी सर्वत्र 'अयं गौः' ऐसी प्रतीति समान होती है। इसका कारण यह है कि उक्त प्रतीति की जनक है—गोत्व जाति। वह सर्वत्र एक है। यदि भूतों में प्राणिता के प्रति कोई विशेषता नहीं, सभी प्राणियों में प्राणिता समान है, तब रागादि के प्रति भी विशेषता न होने से समानरागता प्रसक्त होती है। यदि महाभूतों में कोई विशेषता है तो उसका नियामक कौन ? 'गोत्व' जाति का न स्वतः भेद है और न परतः, क्योंकि उसमें कोई धर्मान्तर नहीं माना जाता। 'अयं गौः', अयं गोतरः', 'अयं गोतमः'—ऐसी असंगत प्रतीतियाँ चार्वाक दर्शन की अपेक्षा वैसे ही कही जाती हैं, जैसे—पृथिव्यादि में 'प्राणी,' 'प्राणितर,' 'प्राणितम'। फलतः महाभूतों से

अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं किन्तु रागादि महाभूतों से भिन्न हैं, अतः महाभूतों के न रहने पर भी रागादि बने रहते हैं ।। १७४ ।।

तारतम्यानुभविनो यस्यान्यस्य सतो गुणः ।
ते क्वचित् प्रतिहन्यन्ते तद्भेदे धवलादिवत् ।। १७५ ।।

जो गुणीरूप धर्मी अपने गुणों से भिन्न होता है, उसके तरतम-भावापन्न गुण किसी धर्मी में प्रतिहत (समाप्त) हो जाते हैं, जैसे भूतगत धवलादि गण ।। १७५ ।।

वार्तिकालङ्कारः

अस्त्येवेहाग्नेरौष्ण्यस्य तारतम्यं न च सर्वात्मनौष्ण्यमसम्भवि तथापि न रागादीनां तद्वदेवं सर्वथा सम्भवाभावो न रागादीनां कायाद् व्यतिरेकात् । नात्रौष्ण्यादग्नेर्भेदः । औष्ण्यस्यैवाग्निव्यपदेशात् । यद्यौष्ण्यं न स्यादग्निरेवासौ न भवेत् । न तु रागाद्यभावे भूतमेव तन्न भवति । यदि तु भूतसंघातोऽन्यो धर्मी तस्य धर्म औष्ण्यं परिकल्प्यते । तदा तस्य उष्मावस्थायामुच्छेद एवौष्ण्यस्य । अथ ज्वालायाधर्मित्वं परिकल्प्यते । औष्ण्यं धर्मः स च तत्र न विच्छिद्यते तारतम्येऽपीति, परस्य परिहारः । सोप्ययुक्तः,

मन्त्रतन्त्रादिसामर्थ्यात् ज्वालौष्ण्येन विना भवेत् । मणेर्ज्वाला विनैवौष्ण्यं दृश्यते तत् न युक्तिमत् ।।६६६।।
ज्वालाया न च धर्मित्वमौष्ण्य प्रत्ययविमुक्तितः । ज्वालादिवर्णसंस्थानं तद्धि नौष्ण्यस्य सम्भवात् ।।६६७।।
न तस्या धर्मिता युक्ता तेन नैतन्निदर्शनम् ।

ज्वाला नौष्ण्यं विना नौष्ण्यं ज्वाला विना भवति । तेन न सा धर्मितया युक्ता । न चात्यन्तमवियोगे ज्वालातदौष्ण्ययोर्द्धर्मधर्मिभावः । तेन सविशेषणो हेतुः । अन्यच्च—तारतम्यानुभविन इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रागादि की निष्पत्ति मानने पर सर्वत्र समानरागता होनी चाहिए । और भूतरूपता का अपकर्ष माननें पर रागादि का अत्यन्त उच्छेद हो जायगा ।

आशंका—यह जो कहा गया कि अपकर्ष मानने पर अत्यन्त उच्छेद प्रसक्त होता है । वह संगत नहीं, क्योंकि विविध अग्नियों में औष्ण्य का तारतम्य या अपकर्ष होने पर भी उसका अत्यन्त उच्छेद नहीं देखा जाता है ।

समाधान—उष्णता और रागादि की समानता नहीं, क्योंकि उष्णता महाभूतों से भिन्न नहीं किन्तु रागादि पदार्थ शरीर से भिन्न सिद्ध किये जा चुके हैं किन्तु औष्ण्य और अग्नि का भेद नहीं, क्योंकि जिसमें औष्ण्य नहीं, वह अग्नि ही नहीं । किन्तु रागादि के अभाव में भूतरूपता समाप्त नहीं होती । यदि महाभूतों से भिन्न भूत-संघात-रूप धर्मों में औष्ण्य-धर्म माना जाता है, तब उसकी ऊष्मावस्था में ही औष्ण्य का उच्छेद हो जाना चाहिए । यदि ज्वाला (अग्नि) को औष्ण्य का धर्मी माना जाता है । औष्ण्य का न्यूनाधिक भाव होने पर भी वह उच्छिन्न नहीं होता—ऐसा परवादी का परिहार है । तो वह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि मन्त्र-तन्त्रादि के बल पर अग्नि को अनुष्ण कर दिया जाता है । इसी प्रकार मणि की प्रभा औष्ण्य-रहित होती है, अतः अग्नि की उष्णता नष्ट हो जाती है—ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जो औष्ण्य अग्नि का त्याग कर देता है, उस धर्म का धर्मी अग्नि नहीं हो सकती । ज्वाला के रूप में आकार दिखाई देता है, वह औष्ण्य का सम्भव नहीं, फलतः वह अग्नि न तो उष्णता

रूपादिवन्न नियमस्तेषां भूतविभागतः ।
तत्तुल्यं चेन्न रागादेः सद्योत्पत्तिप्रसङ्गतः ॥ १७६ ॥

जैसे महाभूतों के रूपादि धर्म उत्पत्ति-विनाशवान् है, वैसे ही रागादि क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रूपादि धर्म महाभूतों से भिन्न नहीं किन्तु रागादि धर्म महाभूतों से भिन्न हैं, अतः महाभूतों से उत्पन्न नहीं हो सकते । रागादि भी महाभूतों से भिन्न नहीं—ऐसा मानने पर महाभूतों के साथ ही रागादि की उत्पत्ति प्रसक्त होती है किन्तु शरीर के साथ रागादि की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु अनुरूप विषय के दर्शन से उद्बोधित संस्कारों के द्वारा रागादि उत्पन्न होते हैं ॥ १७६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यस्यान्यस्य गुणाः सन्तस्तारतम्यमनुभवन्तः न ते क्वचित् प्रतिघातवन्तः । यथा घटादिषु धवलादयः । ननु धवलादिरूपव्यतिरेकेण क इवापरः पटादिः । येन तस्यान्यस्य सतो धवलादीनानुच्छेदः । सत्यमेतत् । तथापि स्पृश्यरूपा घटादयो न वर्णविशेषरूपाः । तदभावे पटस्य भावात् । तेनान्यस्यैत्ययमर्थः । यस्य सन्तानेनानुवर्तमानस्य य उच्छेदधर्माण उदयधर्माणश्च ते अत्यन्तमुच्छेदधर्माणोऽपि यथा धवलादय इति वाक्यार्थः ।

अथवानग्नित्वेऽनुवर्तमाने औष्ण्यस्योदयव्ययोः तारतम्येऽपि । न चैवं रागादीनामुच्छेदसद्भावात् शक्तेरनुच्छेद इति चेत् । न । शक्तेरर्थान्तरत्वात् । न । रागादय एव शक्तिः । शक्तेरपि क्वचिदुच्छेददृष्टेः । अत एवाह—रूपादिवत् नेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का आश्रय है और न शरीररूप धर्मी की रागादिरूप धर्मों की रहितता में दृष्टान्त ॥६९७॥ वस्तु-स्थिति यह है कि न तो अग्नि औष्ण्य के बिना और न औष्ण्य अग्नि के बिना रह सकता है । ज्वाला और औष्ण्य का अत्यन्त अवियोग मानने पर उनमें धर्म-धर्मिभाव नहीं हो सकता, अतः व्याप्य का एक विशेषण दिया जाता है—"येऽन्यस्य गुणाः सन्तः तारतम्यं भजन्ते, ते क्वचित् विनश्यन्ति, यथा घटादिषु धवलादयः ।" अर्थात् गुणों से अन्य (द्रव्य) के जो गुण तारतम्य-युक्त हैं, वे किसी-न-किसी धर्मी में समाप्त हो जाते हैं, जैसे पटादि में धवलादि ।

शंका—धवलादि रूप गुणों का समूह ही तो पटादि द्रव्य है, उससे व्यतिरिक्त नहीं, तब धवलादि को गुणों से व्यतिरिक्त द्रव्य का गुण क्योंकर कह सकते हैं ?

समाधान—स्पृश्यरूप पटादि केवल वर्णरूप (दृश्यमात्र) नहीं, क्योंकि वर्णविशेष के न रहने पर भी पट की सत्ता मानी जाती है, अतः पटादि को गुण से अन्य कहा गया है । उक्त व्याप्ति-वाक्य का तात्पर्य यह है कि सन्तानरूपेण वर्तमान पटादि के जो उत्पाद-विनाशयुक्त धर्म हैं, वे अवश्य ही कहीं अत्यन्त उच्छिन्न हो जाते हैं ।'

अथवा अनग्नित्वेन ('औष्ण्यम् अग्नि-भिन्नम्'—ऐसी) प्रतीति के साथ-साथ औष्ण्य का तारतम्य होने पर भी औष्ण्य का उदय (उत्पत्ति) और व्यय (नाश) होता है किन्तु रागादि के विषय में वैसी प्रतीति नहीं, केवल उनकी उत्पत्ति और नाश होते हैं । उनकी शक्ति का उच्छेद न होने पर रागादि का उच्छेद क्योंकर होगा ? ऐसे प्रश्न का उत्तर है—शक्ति भिन्न पदार्थ है और रागादि भिन्न, अतः शक्ति का अनुच्छेद होने पर भी रागादि का उच्छेद हो सकता है । शक्ति का भी कहीं-कहीं उच्छेद देखा

विकल्पविषयत्वाच्च विषया न नियामकाः ।
सभागहेतुविरहाद् रागादेर्नियमो न वा ॥ १७७ ॥
सर्वदा सर्वबुद्धीनां जन्म वा हेतुसन्निधेः ।

रूपादि विषय कल्पित एवं अग्राह्य होने के कारण रागादि के नियामक नहीं हो सकते। सभाग (सदृश) हेतु (समनन्तर प्रत्यय) ही कार्य का हेतु होता है किन्तु रूपादि रागादि के सभाग न होने के कारण उनके जनक नहीं हो सकते। महाभूतों को रागादि का हेतु मानने पर सभी बुद्धियों एवं सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-राग-करुणादि की सदा उत्पत्ति प्रसक्त होती है, क्योंकि महाभूतरूप हेतु सदा सन्निहित है ॥ १७७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खलु रूपरसादिवदविभागिनो भूतेभ्यो रागादयः तदभावेऽपि भूतानां भावात्, न तु रूपाद्यभावे। अथ तत्राप्येवमेव। तदप्यसत्। रागादीनां शरीरेण सहोत्पत्तिप्रसङ्गात्। भूतेभ्यो न विशिष्टता। रूपावभासनमपि न च रागादीनां देहसहभाविता सर्वदा। न च महाभूतत्वमात्रवादिनो रूपादीनां भूतेभ्योऽन्यत्वम्। तत्त्वबहुत्वप्रसङ्गात्। ततोऽविनिर्भागभागी सहोत्पादः। विषयहेतुकत्वात्।

विषयासन्निधाने कदाचिदभावोऽपीति चेत्। तन्न। यतो हि— विकल्प्यविषयत्वाच्चेति।

न खलु विषयान्वयव्यतिरेकानुविधानप्रसक्ततत्सन्ताना रागादयः। तदभावेऽपि भवनानुभवात्। सभागहेतुश्च नेष्यते। ततो न रागादीनां तदभावात् कदाचिदनुत्पत्तिः। ततोऽनियमेनैकैकरागादिसहभावी देहः स्यात्। अथवा सर्व एव रागादयो देहसहभाविनो भवेयुः। सर्वेषां हेतोर्देहस्य सन्निधेः। अथ देहस्य परिणतिविशेष एव तादृशो येन न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है। अतएव कहा गया है—रूपादिवदित्यादि। अर्थात् जैसे रूपरसादि पदार्थ महाभूतों से अभिन्न हैं, वैसे रागादि नहीं, क्योंकि रागादि के बिना भी भूतों का सद्भाव माना जाता है किन्तु रूपादि के अभाव में महाभूतों की सत्ता नहीं मानी जाती। रागादि के अभाव में भी महाभूतों का अभाव होता है—ऐसा कहना नितान्त असत् है, क्योंकि फिर तो शरीर के साथ साथ रागादि की उत्पत्ति प्रसक्त होगी। भूतों के साथ रागादि की विशिष्टता भी नहीं पायी जाती। रागादि में देह-सहभाविता भी नियमतः नहीं पायी जाती। महाभूतमात्र तत्त्ववादी चार्वाकों के मत में रूपादि को भूतों से भिन्न नहीं माना जाता अन्यथा तत्त्व-बहुत्व प्रसक्त होता है। फलतः रूपादि और महाभूत अविनिर्भाग-वृत्ति हैं, उनका सहोत्पाद संगत है किन्तु रागादि का हेतु उनका विषय होता है। सभी आदि विषय का सन्निधान होने पर भी कभी-कभी रागादि का अभाव भी होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि रागादि नियमतः अपने विषय के साथ अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान नहीं करते, क्योंकि विषय के अभाव में भी कदाचित् उनके भाव का अनुभव होता है। अरूपी स्कन्धों का ही सभाग (सदृश पदार्थ) हेतु (समनन्तर-प्रत्यय) माना जाता है, रागादि का नहीं, अतः सभाग हेतु के अभाव में रागादि की अनुत्पत्ति नहीं मानी जाती, अतः अनियमतः एकैक रागादि का सहभावी शरीर नहीं होगा। अथवा महाभूतों को रागादि का हेतु मानने पर रागादि में देह-सहभाविता प्रसक्त होती है, क्योंकि सभी रागादि का हेतुभूत शरीर सदैव सन्निहित है—यह कहा जा चुका है।

वार्तिकालङ्कारः

रागादि सहभावः । यद्येवं—

कुतः परिणतिस्तस्य तादृशी येन तु तथा । यतः कुतश्चिदिति चेन्न भवेदपि सर्वदा ॥ ६९८ ॥

अदर्शनेन नैवं चेत् न स्यात् कश्चित् सहेतुकः । अनग्नेरपि धूमः स्यात् सर्वतः किन्न सम्भवः ॥ ६९९ ॥

तस्य काचित्परिणतिरिति वक्तुं हि शक्यते । अहेतोरपि भावस्य देशादिनियमो भवेत् ॥ ७०० ॥

दृश्यते नियमो नेति वक्तुं तत्रापि शक्यते । दृष्टमात्रपरिष्वङ्गः क्रियते यदि सर्वथा ॥ ७०१ ॥

दृष्टमद्वैतमेवात्र व्यवहारो विशीर्यते । व्यवहारः परित्यक्तुमशक्यः कल्प्यते यदि ॥ ७०२ ॥

परलोकादिकेऽप्येष व्यवहारोऽन्यथा कथम् । व्यवहारोऽनुमानेन सकलः क्रियते यथा ॥ ७०३ ॥

परलोकादिकेऽप्येवमेव त्यज्यते कथम् । न ज्ञानार्थतया भेदो नापि नीलादिताकृतिः ॥ ७०४ ॥

न पूर्वापरभावेन प्रत्यक्षेण प्रसिध्यति । ततोऽनुमानतो भेदः सकलो व्यवहारवत् ॥ ७०५ ॥

तेनानुमानमुत्सृज्य न कश्चिज्जीवितुं क्षमः ।

तत इदं प्रत्युक्तम्—

दृष्टमर्थं विधूयान्यददृष्टं कल्पयन्ति ये ॥ ७०६ ॥

मूढाः पिण्डं परित्यज्य ते निहन्ति करं वृथा । हेयोपादेयविषयो न विवेकोऽक्षवृत्तितः ॥ ७०७ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—रागादि शरीर के ऐसे परिणाम-विशेष हैं जो कि शरीर के सहभावी नहीं।

समाधान—परिणाम सदैव सभाग और सहभूत होते हैं किन्तु शरीर का उक्त परिणाम-विशेष किस निमित्त से हुआ ? यदि यतः कुतश्चित् निमित्त से माना जाता है, तब तो सदैव ही वैसा होना चाहिए, क्योंकि यः कश्चिद् निमित्त तो सर्वत्र सुलभ है ॥ ६९८ ॥ यतः कुतश्चित् कारण से वैसा परिणाम नहीं देखा जाता, अतः वैसा नहीं कह सकते, तब कोई पदार्थ सहेतुक न हो सकेगा, अपितु स्वाभाविक ही होगा। धूम भी अग्नि-भिन्न कारण से भी हो जायगा। फलतः सबसे सब की उत्पत्ति माननी होगी॥ ६९९ ॥ किसी पदार्थ की कुछ भी परिणति कही जा सकेगी। बिना कारण के ही देशादि का नियम कहा जा सकेगा अर्थात् केसर कश्मीर में ही क्यों ? सूत्र का उत्तर होगा—स्वभावतः ॥ ७०० ॥ यदि प्रश्न किया जाय कि केसर कुरुक्षेत्र में क्यों नहीं होता ? इसके उत्तर में भी वही कहा जा सकता है—"अदर्शनेन नैवम्"। दृष्टमात्र पर यदि पूर्ण विश्वास किया जाता है, तब तो विज्ञानाद्वैतमात्र है, तब तो विज्ञानेतर समस्त व्यवहार विशीर्ण (समाप्त) हो जाता है। यदि व्यवहार का परित्याग नहीं किया जा सकता, तब परलोकादि-व्यवहार का अपलाप क्योंकर होगा ? यदि अनुमान के द्वारा सकल ऐहिक व्यवहार सम्पन्न किया जाता है, तब परलोकादि-व्यवहार भी क्योंकर त्यागा जा सकता है ? ज्ञानरूपेण किसी प्रकार का भेद नहीं और नीलादि आकार विज्ञान से अतिरिक्त नहीं। प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्वापरादि-विकल्प सिद्ध नहीं हो सकते। परिशेषतः व्यवहार के समान ही सकल भेद अनुमान से सिद्ध होगा। अतः अनुमान का त्याग करके कोई जी नहीं सकता ॥ ७०५ ॥

इस बौद्धसम्मत व्यवस्था के द्वारा निम्नाङ्कित उस आक्षेप का प्रतिक्षेप हो जाता है, जो कि बौद्धों पर किया गया है—

दृष्ट जगत् का अपलाप करके जो लोग (बौद्ध) विज्ञानाद्वैत के समान अदृष्ट और अननुभूत पदार्थ की कल्पना किया करते हैं, वे "पिण्डं त्यक्त्वा करं लेढि"—इस कहावत का अनुसरण किया करते हैं—अर्थात् हाथ पर रखा मधु-पिण्ड फेंककर खाली

वार्तिकालङ्कारः

हेयमेतन्न भवति कुतः प्रत्यक्षमात्रतः । उपादेयत्वभावाद्वा हेयत्वस्य निषेधतः ।। ७०८ ।।
उपादेयव्यवस्थानं हेयत्वस्य विपर्ययात् । अर्थक्रियार्थिनामर्थक्रियोपादेयता सदा ।। ७०९ ।।
प्रत्यक्षेण न दृष्टा सा ततो वृत्ति विधित्सताम् । प्रत्यक्षत उपादेयभावस्यातो न वेदनम् ।। ७१० ।।
न भाव्यर्थक्रियां वेत्ति प्रत्यक्षं नाप्यप्रतीतिकाम् । हेयत्वस्य निषेधोऽपि ह्यथा क्षादत्ययः कुतः ।। ७११ ।।
तदत्र वस्तु नास्तीति प्रतीतिर्नेयमक्षतः । द्वयोरध्यक्षयोर्नास्ति हेयोपादेयतागतिः ।। ७१२ ।।
अत्रापि पूर्वको न्यायः प्रत्यावृत्य प्रवर्तते । अत्यन्ताभ्यासताऽध्यक्षाद्यदि सर्वं प्रतीयते ।। ७१३ ।।
अप्रतीतेऽस्ति नाभ्यासः ततोऽन्योऽन्यसमाश्रयः । अभ्यासाद् यावदध्यक्षं नास्ति नास्तिप्रतीतता ।। ७१४ ।।
यावत् प्रतीतता नास्ति नाभ्यासेऽध्यक्षतोदयः ।
अध्यक्षमात्रं यदि मानमस्मिन्नहेयतत्त्वेतरयोर्विवेकः ।
स्वरूपमात्रप्रतिवेदनं तदद्वैततत्त्वेऽस्य ततः प्रसक्तिः ।। ७१५ ।।
अनुमानं समाश्रित्य हेयादिप्रविभागिता । व्यवहारं प्रतीतं तत्र परं परिमृग्यते ।। ७१६ ।।
अथाद्वैतं समाश्रित्य परलोकनिराक्रिया । अस्यापि क्रियतान्नेदमियत्येवावतिष्ठते ।। ७१७ ।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हाथ चाटते रहना । प्रत्यक्ष के द्वारा हेय और उपादेय का विवेक नहीं होता क्योंकि बौद्ध-सम्मत प्रत्यक्ष केवल निर्विकल्प वस्तु को छोड़कर किसी प्रकार के विवेक या भेद का ग्राहक होता ही नहीं ।। ७०७ ।। प्रत्यक्षमात्र के द्वारा हेयता का न तो विधान होता है और न उपादेयत्व-ज्ञान से हेयत्व की निषेध्यता सिद्ध होती है ।। ७०८ ।। उपादेयत्व की व्यवस्था हेयत्व के विपर्यय से होती है। "अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्"—यह सत्त्व का लक्षण अव्याप्त है, क्योंकि 'अर्थक्रिया में सत्त्व स्वीकृत होने पर भी अर्थक्रिया, कारित्व नहीं माना जाता, अन्यथा अनवस्था प्रसक्त होती है ।। ७०९ ।। उपादेयत्व की यागादि में वृत्तिता प्रत्यक्षतः गृहीत नहीं, तब स्वर्गादि फलों के उद्देश्य से यागादि-गत उपादेयत्व का विधान क्योंकर होगा ? ।। ७१० ।। अध्ययन-काल में यागादि-जन्य स्वर्गादिरूप अर्थक्रिया भावी होने से प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं हो सकती, तब अप्रतीत या अज्ञात पदार्थ का विधान कैसे होगा ।। ७११ ।। 'अत्र वस्तु नास्ति'—इस प्रकार अभावावबोध प्रत्यक्षतः नहीं हो सकता, फलतः हेयता और उपादेयता—दोनों की प्रत्यक्षतः अवगति कैसे होगी ? ।। ७१२ ।। इस विषय में भी पूर्वोक्त (पिण्डं त्यक्त्वा करं लेढि) न्याय प्रवृत्त होता है, क्योंकि उपादेयत्वादि की सविकल्पकात्मक प्रत्यक्ष-वेधता का अपलाप करके उपादेयता का अनुमान करना वैसा ही है। यदि कहा जाय कि अत्यन्त अभ्यास हो जाने पर प्रत्यक्ष से भेदादि सभी पदार्थ प्रतीत हो जाते हैं किन्तु पूर्व प्रतीति के विना अभ्यास नहीं होता, अतः अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है। अर्थात् अभ्यास के द्वारा उपादेयत्वादि का प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षतः प्रतीति होने पर अभ्यास होगा ।।७१३-७१४।। जब तक प्रतीति नहीं होती, तब तक न तो अभ्यास होता है और न अभ्यास के द्वारा प्रत्यक्ष-प्रतीतता । अहेयत्व और तत्वेतर (उपादेयत्व) का विवेक (भेद) नहीं होता, तब तक निर्विकल्पक ज्ञानाद्वैतमात्रता की प्रसक्ति होती है ।। ७१५ ।। अनुमान का आश्रयण कर यदि हेयत्व और उपादेयत्व का व्यवहार सम्पन्न किया जाता है, तब व्यवहार के प्रति व्यवहर्त्तव्यज्ञान अपेक्षित है, अतः उसके लिए अपर अनुमान की अपेक्षा से आत्माश्रयतादि दोष प्राप्त होते हैं ।। ७१६ ।। यदि विज्ञप्तिमात्रता मान कर परलोक का निराकरण किया जाता है, तब इस लोक का भी निराकरण कर

वार्तिकालङ्कारः

इह लोकोऽपि नैवास्ति नास्ति नास्तिकता ततः । चेतः सर्वोपसंहारात् युक्तमेव तथा सति ॥ ७१८ ॥
अथ व्यामोह एवायमिह लोके य आदरः । अस्यापि क्षयमिच्छन् को व्यामोहान्तरमिच्छति ॥ ७१९ ॥
व्यामोहः कुत एवायं यद्यनादिरनन्तकः । प्रसिद्धः स परो लोकः किमन्यद् भाषितं वृथा ॥ ७२० ॥
अथाहेतुक एवायं सर्वमेवास्त्वहेतुकम् । तथा सति वृथा प्राप्तं नास्तिकेनोदितं त्वया ॥ ७२१ ॥
उदितं नोपयोगीदं यदि क्वापि किमर्थिता ।
अथार्थः कश्चिदस्यास्ति तत्रैवास्यास्तु हेतुता ॥ ७२२ ॥
परपर्यनुयोगोऽथ यद्येवं क्रियते परैः । कोऽर्थस्तेन कृतेनापि यदि हेतुर्न कस्यचित् ॥ ७२३ ॥
अविद्याकृत एवायमिति कस्यापराधिता । यदि नोच्छिद्यतेऽविद्या वृथैव परभाषितम् ॥ ७२४ ॥
अथाप्युच्छिद्यतेऽविद्या परोदितमनर्थकम् । अविद्याहेतुकत्वे वाऽनाद्यविद्यागतिर्भवेत् ॥ ७२५ ॥
तथा च सति संसारः सिद्ध एवाविवादतः । विकल्पान्नापराऽविद्या सोऽपि पूर्वविकल्पतः ॥ ७२६ ॥
भात्यनादिप्रबन्धोऽयं विकल्पस्य प्रसिध्यति ।

तस्मादनादिवासनापरिपाकोपनीता एवं सुखादयो न परमार्थतः ततो दुःखमेव परमार्थतः सकलमिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

डालिए, क्योंकि इह लोक मात्र है—ऐसी व्यवस्था में कोई नियामक नहीं ॥ ७१७ ॥ "इह लोकोऽपि नास्ति"—ऐसा मानने पर नास्तिकता भी प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि चित्त (आलय विज्ञान) में सभी कुछ संस्काररूपेण उपसंह्रित माना जाता है ॥७१८ ॥ इस लोक की सत्ता में जो आदर है, वह निरा व्यामोह (भ्रम) है। एक तो जगत् की सत्ता ही भ्रमात्मक और उसकी क्षण-क्षयिता—यह दूसरा भ्रम -ऐसा बौद्धों को छोड़कर और कौन चाहेगा ? ॥ ७१९ ॥ दूसरा एक प्रश्न यह उठता है कि इस संसार-भ्रम का निमित्त क्या ? यदि अनादि और अनन्त परलोक माना जाता है, तब इसके निरास का व्यर्थ परिश्रम क्यों किया जाता है ? ॥७२०॥ यदि यह सब कुछ (क्षणिकत्वादि) अहेतुक माना जाता है, तब आप (बौद्ध नास्तिक) के द्वारा जो कहा गया है—"सब्बे धम्मा हेतुप्पभवा: ।" वह सब व्यर्थ सिद्ध होता है॥ ७२१ ॥ आप (बौद्ध) के द्वारा प्रतिपादित प्रमेयवर्ग कहीं उपयोगी (सार्थक) है ? या नहीं ? यदि उपयोगी नहीं, तब ऐसा निरर्थक पदार्थ क्यों माना गया ? यदि सार्थक है, तब उसी पदार्थ में अर्थक्रिया—हेतुता स्थिर होती है, समस्त जगत् अहेतुक कैसे ? ॥ ७२२ ॥ अहेतुक जगत् मानने पर अन्य वादियों के द्वारा यह जो अनुयोग (आक्षेप) किया जाता है कि—ऐसे पदार्थ को मानने से क्या लाभ जो किसी कार्य का हेतु ही नहीं ?॥ ७२३ ॥ प्रपञ्च अविद्या-जनित है। वह अविद्या यदि उच्छिन्न नहीं होती, तब उसका अपराधी कौन ? यदि अविद्या उच्छिन्न नहीं, तब अविद्या का नाश करने के लिए बुद्ध-द्वारा किया गया उपदेश व्यर्थ हो जाता है ॥ ७२४ ॥ यदि अविद्या अपने-आप उच्छिन्न हो जाती है, तब शास्ता का उपदेश अनर्थक है । जगत् को अविद्या हेतुक मानने पर अनादि अविद्या की कल्पना करनी होगी। तब निर्विवाद रूप से संसार सिद्ध हो जाता है। अविद्या विकल्प (कल्पना) से भिन्न कुछ भी नहीं। वह कल्पना भी पूर्वतन विकल्प से उद्भूत है। इस प्रकार यह कल्पना का एक अनादि प्रबन्ध (सन्तान) प्रसिद्ध होता है ॥ ७२५-७२६ ॥ निष्कर्ष यह है कि यह सुखादि प्रपञ्च अनादि अविद्या की एक कल्पना मात्र है, पारमार्थिक नहीं, अतः समस्त जगत् दुःखरूप है ।

(३७) दुःखसत्य की चतुराकारता—

कदाचिदुपलम्भात् तदध्रुवं दोषनिश्रयात् ॥ १७८ ॥
दुःखं हेतुवशत्वाच्च न चात्मा नाप्यधिष्ठितम् ।
नाकारणमधिष्ठाता नित्यं वा कारणं कथम् ॥ १७९ ॥
तस्मादनेकमेकस्माद् भिन्नकालं न जायते ।

दुःखसत्य में चार प्रकार की भावना की जाती है—(१) अनित्यरूपता, (२) दुःखरूपता, (३) शून्यरूपता और (४) अनात्मरूपता । इन्हीं का उपपादन किया जाता है—दुःख सदैव उपलब्ध न होकर कदाचित् ही उपलब्ध होने के कारण अनित्य है। दुःख सहेतुक या हेतु के वश में होने से दुःखरूप है, जैसा कि लोकप्रसिद्धि है—"सर्वं परवशं दुःखम्" । दुःख अनात्मरूप है। दुःख का कोई अधिष्ठाता या साक्षी नहीं, अतः शून्य है । कारण तत्त्व ही अधिष्ठाता होता है, आत्मा नित्य होने से कारण ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह न तो क्रमशः अपने कार्यों को जन्म दे सकता है और न क्रमशः । फलतः अनेक एवं विभिन्न कालों में दृश्यमान सुख-दुःखादि किसी एक कारण से नहीं हो सकता ॥ १७८-१७९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

(३७) चतुराकारं दुःख-सत्यम्—

तत्र दुःखम्—कदाचिदुपलम्भादिति ।

अनित्यतो दुःखतः शून्यतोऽनात्मतश्चेति चतुराकारं दुःखसत्यम् । तत्कदाचिदुपलभ्यमानतयाऽनित्यम् । न हि नित्यस्य नित्यमेवोपलभ्यमानतयाऽनित्यम् । न हि नित्यस्य नित्यमुपलभ्यमानस्य कदाचिदुपलभ्यो युक्तः । उपलभ्येतरस्वभावयोः परस्परपरिहारस्थितत्वेन विरोधात् । उपलभ्यतयैव स इति प्रतिपादनात् । न च सर्वदा सर्वमुपलब्धुं शक्यम्, क्रमोपलभ्यस्य नित्यत्वात् । न च क्रम एकत्वे सम्भवति । क्रमवत एकत्वेनाप्रतिभासनात् । प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः । अनुमानस्य तदभावेऽभावात् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् । अनु-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(३७) दुःखसत्य के चार आकार—

चार आर्यसत्यों में प्रथम दुःखसत्य की चार प्रकार से भावना की जाती है—(१) अनित्यतः, (२) दुःखतः, (३) शून्यतः, और (४) अनात्मतः । दुःख कदाचित्क होने के कारण अनित्य है । नित्य वस्तु कभी अनित्य नहीं होती, क्योंकि वह सदैव उपलभ्यमान है । नित्य उपलभ्यमान पदार्थ की कादाचित्क उपलब्धि नहीं होती। उपलभ्यमान स्वभाव एवं अनुपलभ्यमान स्वभाव वाले पदार्थ परस्पर ऐसे विरोधी होते हैं कि कहीं एक के रहने पर वहाँ दूसरा रह नहीं सकता । उपलभ्यमानत्वेन ही पदार्थों को सत् कहा जाता है । सभी पदार्थ सदा उपलब्ध नहीं हो सकते । क्रमशः (सन्तानरूपेण) उपलभ्यमान वस्तु नित्य होती है । एक कूटस्थ नित्य पदार्थ में क्रम बन नहीं सकता, क्योंकि क्रमवाले पदार्थों में एकता की प्रतीति नहीं होती । क्रमः ग्रहण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती और प्रत्यक्ष का अभाव होने पर अनुमान का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि अनुमान का स्वरूप-लाभ प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है । अनुमान का आत्मलाभ अनुमानपूर्वक मानने पर अनवस्था या अन्ध-परम्परा प्रसक्त होती है । फलतः सभी संसारी स्कन्ध अध्रुव या अनित्य सिद्ध होते हैं । उनमें दुःखरूपता रागादि

कार्यानुत्पादतोऽन्येषु सङ्गतेष्वपि हेतुषु ॥ १८० ॥
हेत्वन्तरानुमानं स्यान्नैतत् नित्येषु विद्यते ।

उद्भूतरूप, आलोक सन्निकर्ष आदि अनेक कारणों के रहने पर भी यदि चाक्षुष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब चक्षुरिन्द्रियरूप कारणान्तर का कल्पक होता है, किन्तु नित्य पदार्थों में वैसा अनुमान नहीं हो सकता ॥ १८० ॥

वार्तिकालङ्कारः

मानपूर्वकत्वेऽन्धपरम्पराप्रसङ्गात् । तस्मादध्रुवता संसारिस्कन्धानाम् । दुःखता च रागादीनां दोषाणां निःश्रयात् । हेतुवशत्वाच्च । हेतुप्रतिबन्धाच्च दुःखम् । "सर्वं परवशं दुःखमिति" न्यायात् । चकारादभ्यासमात्रनिश्रयात् इत्यवगन्तव्यम् । नात्मरूपं नाप्यनात्माधिष्ठितम् । अकारणस्याधिष्ठातृत्वाभावात् । अवश्यमधिष्ठात्रा सोपयोगेन भवितव्यम् । उपयोगहेतोर्हेतुत्वात् । यदि चात्मरूपत्वं स्कन्धानां नित्यता भवेत् । न च नित्यं जनकमजनकस्य भावस्तत्वमुपलब्धुमशक्यत्वात् । अनेकञ्च भिन्नकालं ज्ञानमेकस्माश्रित्यतया नोत्पत्तिमत् । न चाप्यात्माधिष्ठायकतया प्रतीयते यच्च प्रतीयते स्कन्धानां रूपं तदध्रुवम् । अथानधिष्ठितानि कारणानि कथं स्वकार्ये प्रवर्तन्ते । तेनाधिष्ठातानुमीयते । न । अनित्यचेतनाधिष्ठानमात्रात्समाप्तत्वात् । चेतना चानादिरिति ततः—कार्यानुत्पादतोऽन्येष्विति ।

यद्यन्ये हेतवः समुदिता अपि कार्यस्याजनकाः तदा हेत्वन्तरमपि विद्यते यदभावात्कार्यमजातम् । न चैवम् । समनन्तरप्रत्ययोग्यताविशेषमात्रेण सिद्धेः । न च नित्यव्यापिनां कदाचित् क्वचिद्वाऽभावः, येन तदभावात् अभावः प्रतीयते । अन्वयमात्रेण

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के सम्बन्ध से आती है एवं सहेतुकत्व या कारण-वशता के होने से भी दुःखता आती है, क्योंकि कहावत है–'सर्वं परवशं दुःखम् ।'' वार्तिकस्थ 'हेतुवशाच्च'–इस शब्द में चकार के द्वारा अभ्यास के द्वारा दुःखता-बोध का समुच्चय किया जाता है। सभी स्कन्धों में अनात्मरूपता इसलिए मानी जाती है कि वे न तो आत्मरूप हैं और न आत्मा के द्वारा अधिष्ठित । नित्य आत्मा कारण नहीं होता और अकारण में अधिष्ठातृत्व नहीं बनता । कुलाल आदि पुरुष दण्डादि का अधिष्ठाता तभी बनता है, जब कि अपनी क्रिया से दण्डादि का सञ्चालन करता है किन्तु नित्य आत्मा में क्रिया नहीं हो सकती, अतएव नित्य पदार्थ अनित्य का जनक नहीं होता, क्योंकि वह एक है किन्तु अभूतभवन रूप उत्पत्ति की उपलब्धि नहीं कर सकता । भिन्न काल में होनेवाले अनेक ज्ञान किसी एक एवं कूटस्थ नित्य के द्वारा नहीं हो सकता। आत्मा की अधिष्ठायकत्वेन प्रतीति भी नहीं होती । जो स्कन्धों का रूप प्रतीत होता है, वह अध्रुव (अनित्य) है।

शंका—जडीभूत दण्डादि कारण बिना किसी अधिष्ठाता के अपने कार्य करने में प्रवृत्त क्योंकर होंगे ? अतः अधिष्ठाता का अनुमान किया जाता है।

समाधान—अनित्य चेतना की अधिष्ठानता से पूर्ण कार्य सम्पन्न हो जाता है, चेतना अनादि मानस व्यापार है—यह कहा जा चुका है। यदि नित्य आत्मा से अतिरिक्त समस्त कारण-कलाप के सन्निहित होने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता, तभी अधिष्ठातृरूप कारणान्तर का अनुमान किया जा सकता है। प्रकृत में वसा नहीं, समनन्तर प्रत्ययादि की योग्यता मात्र से कार्य सिद्ध हो जाता है, कारणान्तर का

(३८) समुदयसत्यम्—

कादाचित्कतया सिद्धा दुःखस्यास्य सहेतुता ॥ १८१ ॥
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षया ।

दुःख के कादाचित्क होने से दुःख का समुदय (कारण) भी कादाचित्क होने से अनित्य है। जो पदार्थ अपने आत्मलाभ के लिए किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं करता, वह या तो नित्य सत् होता है, जैसे आकाश। अथवा नित्य असत् होता है, जैसे शश-विषाण। इस साकार दुःख-समुदय (दुःख-कारण) भी 'अनित्यतः, दुःखतः, शून्यतः, अनात्मतः' चार चतुराकार होता है ॥ १८१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

जनने सर्व एव आकाशादयोऽधिष्ठातारो भवेयुः। तेष्वपि सत्सु कारणानां निजकार्येषु प्रवृत्तेः तेषामपि, व्यापिनित्यतया समानत्वात् तेषामनधिष्ठातृत्वादिति चेत्। तदेव व्यापिनित्यतया न सिध्यति।

अव्यापिनोऽपि नित्यस्य भवेत्सर्वत्र हेतुता। सामर्थ्यादेव नो हेतुर्हेतुर्दूरेऽपि दृश्यते ॥ ७२७ ॥
दूरदेशोऽपि शब्दादिः स्वकार्यस्य विधायकः। तस्मादन्वयमात्रेण कारणं सकलं भवेत् ॥ ७२८ ॥

(३८) चतुराकारः समुदयः—कादाचित्कतया सिद्धेति।

समुदयसत्यमपि चतुर्विधमेव हेतुतः समुदयतः प्रभवतः प्रत्ययतश्चेति। तत्र हेतुरहेतुपरिहारेण समुदय एककारणपरिहारेण। अप्रभवः असामर्थ्यपरिहारेण प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः। प्रत्ययः प्राधान्यपरिहारेण। तत्र दुःखस्य हेतुरस्तीति प्रतिपाद्यते। न।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुमान क्योंकर होगा? दूसरी बात यह भी है कि आत्मादि नित्य और व्यापक पदार्थ का कभी और कहीं भी अभाव नहीं होता, अतः कारण-व्यतिरेक से कार्य-व्यतिरेक स्थिर न होने से नित्य में कारणता का ग्रह भी नहीं हो सकता। अन्वयमात्र के आधार पर अधिष्ठाता का अनुमान करने पर सभी आकाशादि पदार्थ अधिष्ठाता हो जायेंगे, क्योंकि उनके भी रहने पर ही कारण-वर्ग अपने कार्य-साधन में प्रवृत्त होता है। यदि आकाशादि व्यापक और अनित्य होने से कारण नहीं होते, तब आत्मा भी वैसा ही कारण क्योंकर होगा? नित्य पदार्थ भी जो अव्यापक हो, ऐसा परमाणु आदि कारण हो सकता है ॥ ७२७ ॥ दूरदेश में होनेवाले शब्दादि अपने कार्य के सम्पादक होते हैं। अतः अन्वयमात्र के द्वारा कारणता मानने पर सकल पदार्थ कारण हो जायेगा ॥ ७२८ ॥

(३८) समुदय सत्य—

चतुर्विध समुदय सत्य—

समुदय सत्य भी चार प्रकार का ही होता है—(१) हेतुतः, (२) समुदयतः, (३) प्रभवतः और (४) प्रत्ययतः। इनमें अहेतु-परिहार के द्वारा प्रथम (हेतुतः) प्रकार, एक कारण-परिहार के द्वारा द्वितीय (समुदयतः) प्रकार, असामर्थ्यपरिहार के द्वारा तृतीय (प्रभवतः) प्रकार तथा प्राधान्यपरिहार के द्वारा चतुर्थ (प्रत्ययतः) प्रकार का प्रतिपादन किया जाता है। (समुदेति कार्यं यस्मात्—इस व्युत्पत्ति के द्वारा समुदय शब्द कारण का वाचक है। दुःख का कारण है—तृष्णा, स्वयं भगवान् बुद्ध ने

वार्तिकालङ्कारः

काादाचित्कतयान्यस्य हेतुयोगो हि दृश्यते । अहेतोर्हि पदार्थस्य सत्त्वमेवान्यथाऽथवा ॥ ७२९ ॥
यथा यथा हि हेतूनामभावो नित्यता तथा । तिमिरज्ञानकेशादेर्विषयेण विनोदयात् ॥ ७३० ॥
स्वसंवेदनगम्यस्य धर्मधातोरहेतुकः । दृश्यते नित्यसद्भावोऽकादाचित्कत्वलक्षणः ॥ ७३१ ॥
वन्ध्या सुताद्यसन्नित्यमभावात् कारणात्मनः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कहा है—"तत्र कतमः समुदय आर्यसत्यम् ? पौनर्भविकी नन्दी रागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी यदुत कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णा च (दी० नि० २।२२)। अर्थात् दुःख का कारण है—तृष्णा । वह तीन प्रकार की होती है—कामतृष्णा (सुख-प्राप्ति की इच्छा), भवतृष्णा (पुनर्जन्म की इच्छा) और विभवतृष्णा (दुःख-निवृत्ति की इच्छा)]। तृष्णा की ही इतर-व्यावर्तकत्वेन चार संज्ञाएँ हैं—(क) हेतु, (ख) समुदय, (ग) प्रभव और (घ) प्रत्यय। हेतु शब्द अहेतुता का, 'समुदय' शब्द एककारणता का, 'प्रभव' शब्द अप्रभवत्व (असामर्थ्य) का और 'प्रत्यय' शब्द अप्रत्ययत्व (यौगता या अप्रधानता) का वैसे ही व्यावर्तक है—जैसे अद्वैत वेदान्त-सम्मत ब्रह्म-वाचक 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' शब्द-क्रमशः असद्रूपता, जडरूपता और दुःखरूपता के व्यावर्तक माने जाते हैं।
(क) समुदय में हेतुता—

लोक में घटादि पदार्थ कादाचित्क होने के कारण सहेतुक देखे जाते हैं, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अहेतु पदार्थ या तो असत् होगा या नित्य। असद्विषयक ज्ञान क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—आँख में तिमिर (तिरमिरा) रोगवाले व्यक्ति को आकाश में विषय के बिना ही बालों के गुँजड़ दिखाई देते हैं ॥७२९-७३०॥ अहेतुक पदार्थों का दूसरा प्रकार है—नित्य सत्, जैसे—धर्मधातु अकादाचित्क (अहेतुक) होने से नित्य सत् है। वन्ध्या-सुतादि पदार्थों के कारण का अभाव होने से वे नित्य असत् हैं ॥७३१॥ [धर्मधातु का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए श्री शान्तिदेव ने कहा है—"एकानेकस्वभावविविक्तम् अनुत्पन्नानिरुद्धम्, अनुच्छेदम्, अशाश्वतम्, सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्तम्, आकाशप्रतिसमम्, धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिताशून्यतातथताभूतकोटिधर्मधात्वादिशब्देन संवृतिमुपादाय अभिधीयते" (बोधिचर्या. पृ. २००)। बौद्ध-दर्शन में दार्शनिक विकास के साथ पारमार्थिक पदार्थों की संख्या कम होती गई है ?

(क) सर्व-प्रथम अनुरुद्धाचार्य चार तत्त्व मानते थे—(१) चित्त (२) चेतसिक (३) रूप और (४) निर्वाण—

तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो।
चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा ॥ (अभिध. पृ. १)

(ख) पाँच के पश्चात् चार सत्य प्रकाश में आये—(१) दुःख (२) समुदय, (३) दुःख-निरोध और (४) दुःख-निरोध का मार्ग।

(ग) उन चारों में दुःख-निरोध पारमार्थिक सत्य और शेष संवृत्तिसत्य।

(घ) एक मात्र निरोध ही शून्यता या तथादि नामों से ध्वनित होकर एक मात्र पारमार्थिक तत्त्व के रूप में आविर्भूत महायान का परिचय-ध्वज बन गया—'शून्यत्व, धर्मधातु'।]

(३९) स्वभाववाद का आक्षेप और उसका खंडन—

तैक्ष्ण्यादीनां यथा नास्ति कारणं कण्टकादिषु ॥ १८२ ॥
तथाऽकारणमेतत्स्याद् इति केचित्प्रचक्षते ।

स्वभाववादियों का जो कहना है कि जैसे काँटों की तीक्ष्णता (नुकीलापन) विना किसी कारण के होता है, वैसे ही दुःख भी अकारण ही होता है। [न्यायसूत्रकार के समय में भी स्वभाववादियों ने यही आक्षेप किया था—"अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्" (न्या० सू० ४।१।२२)। उसका निराकरण भी कण्टक-तीक्ष्णता से कम नहीं—"अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः" (न्या० सू० ४।१।२३)। अर्थात् कण्टकतैक्ष्ण्य यदि अनिमित्तत्व है, तब अनिमित्तत्व ही उसका निमित्त बन गया वह अनिमित्तक कैसे ?]।

सत्येव यस्मिन् यज्जन्म विकारे वापि विक्रिया ॥ १८३ ॥
तत् तस्य कारणं प्राहुस्तत् तेषामपि विद्यते ।

यह अकाट्य नियम है कि जिस वस्तु के रहने पर जिस पदार्थ का जन्म होता है, वह वस्तु उस पदार्थ की कारण (जनक) होती है अथवा जिस वस्तु का विकार होने पर जो पदार्थ विकारी होता है, वह वस्तु उस विकारी पदार्थ की कारण होती है। यह कण्टक तैक्ष्ण्यादि में भी लागू है, अतः वह भी सकारण ही है, अकारण या स्वाभाविक नहीं, तब उसे स्वभाववाद में दृष्टान्त क्योंकर बनाया जा सकेगा ?

वार्तिकालङ्कारः

(३९) अत्र चोद्यं अहेतुकवादिनः—तैक्ष्ण्यादीनां यथा नास्तीति ।

स्वभावेन महाभूतरूपं न क्रियते। विशेषा एव देशकालावस्था विशेषयोगितया क्रियन्ते। तत्र विशेषाणामहेतुकत्वमुपलभ्यते। तोमरसूचीशूलतूलिकादीनां हि न लोहादिरूपता क्रियते लोहकारादिभिः तीक्ष्णतैव क्रियते। लोहादीनामप्यपरैर्न पृथिवीत्वादिकं क्रियते। लोहतादिरूपतायाः कारणात्। लोहकाराद्यभावेऽपि तु कण्टकादीनां तैक्ष्ण्यस्य तदभावेऽपि भावात्। नायमेव चानियतहेतुकताऽहेतुकता। तथान्येऽपि जगतो वैचित्र्यकारिणो विशेषाऽहेतुकता एव भवेयुः। क एवात्र विरोधः तदप्यसत्। तथा हि—सत्येव यस्मिन् यज्जन्मेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(३९) स्वभाववादियों का आक्षेप और समाधान—

हेतुओं के द्वारा घटादि में भूतरूपता उत्पन्न नहीं की जाती, अपितु घटादि-विशेष पदार्थ ही देश-काल-अवस्थादि विशेषताओं से युक्त किये जाते हैं, विशेष पदार्थों में भी अहेतुकत्व या स्वाभाविकत्व ही उपलब्ध होता है। तोमर (भाला), सूची (सुई), शूल (त्रिशूल) और तूलिका (बरमा) आदि की लोहरूपता लोहार के द्वारा नहीं बनाई जाती, अपितु तीक्ष्णता ही की जाती है। इसी प्रकार अन्य कारणों के द्वारा लोहादि में पृथिवीत्वादि भी नहीं किये जाते—केवल लोहरूपता ही की जाती है। लोहाकारादि के अभाव में भी कण्टकादि में तीक्ष्णता यह अनितहेतुकता या अहेतुकता कण्टक-तैक्ष्णादि में ही क्यों ? जगत् और उसकी समस्त विचित्रताएँ यदि अहेतुक या स्वाभाविक मान ली जाती हैं तो क्या विरोध ?

वार्तिकालङ्कारः

अत्राभिप्राय: । यदि विशेषा एव जन्यास्तेषां नाकारणत्वम् । न खलु बदरीकण्टकानां वक्रत्वतीक्ष्णत्वे बदरीकण्टकमन्तरेण स्तः । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् तत्कार्यतेति नाहेतुकता । अथ लोहकारेणापि क्रियते ततो व्यभिचारादेवमुच्यते । तदपि न यथावत् । यतो हि—

बुद्धिपूर्वंक्रियादृष्टेर्बुद्धिमत्कारणं भवेत् । स्यात्तथेश्वरकर्तृत्वं नास्त्यहेतुकता ततः ॥ ७३२ ॥
बदरीकण्टकादीनां तत एव निदर्शनाद् । विशेषकल्पना सो चेद्विशेषोऽस्तु सहेतुकः ॥ ७३३ ॥
बदरीबीजतः किञ्चित् लोहकारादितः परम् । विशेषो लक्ष्यते नो चेद्विशेषो नैव विद्यते ॥७३४॥
न हि दर्शनमात्रेण विशेषः परिगृह्यते । तदेवाद्वैतमायातं तदेवाहेतुकं भवेद् ॥ ७३५ ॥
तस्माद्यतो विशेषास्ते तत एवं सहेतुकाः । न हि हेतुविहीनस्य विशेषत्वं प्रसिध्यति ॥ ७३६ ॥

तस्माद्यदि भेदा यदि बाह्यार्थता सर्वथा सहेतुकत्वमन्यथा विपर्ययः ।

ननु सत्येव यस्मिन् यज्जन्म तस्य हेतुत्वे स्पर्शस्य दर्शनहेतुता प्रसक्ता स्पर्शाभावेऽस्वभावात् । तदसत् । यतः—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आक्षेप-निरास—स्वभाववाद अत्यन्त असत् है, क्योंकि यदि विशेष-स्वरूप-जन्य माना जाता है, तब कार्यमात्र अकारणक या स्वाभाविक कैसे ? बेरी के काण्टों में तीक्ष्णता और वक्रतारूप धर्म धर्मिरूप काँटों के बिना कभी सम्भव नहीं । धर्मी के अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान धर्म का अन्वय और व्यतिरेक किया करता है— "कण्टकसत्त्वे तीक्ष्णतादिसत्त्वम्, तदभावे तदभावः" । अतः धर्ममात्र में धर्मिकारणकत्व सिद्ध हो जाता है । यदि कहा जाय कि जहाँ लोहकार एकसाथ ही काँटे और उनकी तीक्ष्णता बनाता है, वहाँ तीक्ष्णता की उत्पत्ति से पूर्व काँटे नहीं, अतः व्यभिचरित होने से काँटे कारण क्यों सिद्ध होंगे ? यह प्रश्न भी उचित नहीं, क्योंकि प्रत्येक कार्य बुद्धिपूर्वक किया हुआ देखा जाता है, अतः प्रत्येक कार्य का कर्त्ता कोई बुद्धिमान् व्यक्ति होता है । इस प्रकार समूचा प्रपञ्च ईश्वर-कर्तृक सिद्ध होता है, [जैसे अविद्धकर्णाचार्य ने अनुमान किया है—'द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमत्याधिकारणभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम्, स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वाद् घटादिवत्" (तत्त्वसं० पं० पृ० ५२)। फलतः किसी पदार्थ में अहेतुकता सिद्ध हो सकेगी ॥ ७३२ ॥ उसी सहेतुक घटादि निदर्शन (दृष्टान्त) के आधार पर बेरी के काँटों की विशेषता भी सहेतुक ही सिद्ध होती है । अहेतुवाद में कथित विशेषता सिद्ध नहीं होती ॥ ७३३ ॥ यदि कहा जाय कि बेरी के बीजों से अतिरिक्त लोहकारादि के समान वहाँ कोई विशेष हेतु उपलब्ध ही नहीं होता, अतः उक्त सहेतुक अनुमान अनुपलब्धि-बाधित क्यों नहीं? इस प्रश्न का उतर यह है कि दर्शनमात्र से विशेषता परिगृहीत नहीं होती, अन्यथा वही अद्वैतवाद (विज्ञानमात्रता) प्रसक्त होता है और वह अहेतुक है ॥ ७३४-७३५ ॥ फलतः कार्यों में विशेषता जिस वस्तु के द्वारा आती है, उसी के द्वारा सहेतुकता भी सिद्ध होती है ॥ ७३६ ॥ अतः यदि घटादि पदार्थों में विज्ञानभेद है, तब उनमें सहेतुकता और बाह्यार्थता भी माननी होगी, अन्यथा उनका विपर्यय (अभाव) ही मानना पड़ेगा ।

शंका—जिस वस्तु के रहने पर जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उस पदार्थ में उस वस्तु को हेतु मानने पर स्पर्शगुण में भी दर्शन की हेतुता प्रसक्त होगी, क्योंकि स्पर्श का अभाव होने पर दर्शन का भी अभाव हो जाता है ।

शंका—उक्त नियम स्पर्श में व्यभिचरित है, क्योंकि स्पर्श के रहने पर ही रूप-दर्शन होता है किन्तु स्पर्श में रूप-दर्शन की हेतुता नहीं मानी जाती।

समाधान—

स्पर्शस्य रूपहेतुत्वाद् दर्शनेऽस्ति निमित्तता ॥ १८४ ॥

स्पर्श रूपगुण का कारण है। अतः स्पर्श के न होने पर रूप ही उत्पन्न नहीं होता, दर्शन किसका होगा ? अतः स्पर्श में भी रूपोत्पादकत्वेन रूप-दर्शन की हेतुता मानी जाती है, उसमें उक्त नियम का व्यभिचार क्यों होगा ? ॥ १८४ ॥

(ख) समुदयाकारता—

नित्यानां प्रतिषेधेन नेश्वरादेश्च सम्भवः।
असामर्थ्यादतो हेतुर्भववाञ्छा परिग्रहः ॥ १८५ ॥
यस्माद् देशविशेषस्य तत्प्राप्त्याशाकृतो नृणाम्।

वार्तिकालङ्कारः

एकसामग्र्यधीनत्वादवियोगः परस्परम्। रूपस्पर्शतयोस्तेन तदभावे न दर्शनम् ॥ ७३७ ॥

तत्र हि स्पर्शमन्तरेण रूपमेव न भवति। यदि तु रूपं भवेत् भवेदेव दर्शनम्। न चैवंविधात् व्यतिरेकात् कारणत्वमपि तु रूपमुपदर्श्य। यदि स्पर्शाभावेऽभावमुपदर्शयेत् दर्शनस्य। अथवा—स्पर्शस्य रूपहेतुत्वादिति।

परस्परवियोगेन समानकालयोरपि हेतुत्वात् "उपादाय रूपस्य रूपस्य स्पर्शरूपाणि भूतानि" हेतुस्ततः पारंपर्येण दर्शने स्पर्शस्यास्त्येव हेतुतेति न विपक्षवृत्तिताहेतोरित्यव्यभिचार एव। एवं तावदहेतुकत्वं प्रतिषिद्धमिति हेतुत इत्येकाकारो व्यवस्थितः।

समुदय इति द्वितीयमाकारमाह—नित्यानां प्रतिषेधेनेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—स्पर्श और रूप—दोनों गुण एक ही सामग्री से उत्पन्न होते हैं, अतः स्पर्श का अभाव होने से उसकी सामग्री का अभाव और उस सामग्री के अभाव में रूपगुण उत्पन्न ही नहीं होता, दर्शन किसका होगा ? ॥ ७३७ ॥ यदि वहाँ रूप उत्पन्न होता, तब अवश्य उसका दर्शन होता। स्पर्श में रूप-दर्शन की साक्षात् कारणता नहीं, अपितु रूपोत्पत्ति के द्वारा, अतः उक्त व्यतिरेक के द्वारा अन्वय-व्यतिरेकावसित कार्य-कारण भाव का निरास करके स्वभाववाद सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अथवा स्पर्श जब अपनी सामग्री के द्वारा रूप का हेतु है, तब रूप-दर्शन में भी हेतु माना जा सकता है। समानकालीन पदार्थों में भी अपनी अवियुक्तता या सहभाविता के माध्यम से परस्पर-कारणता मानी जाती है। फलतः स्पर्श गुण भी रूप-दर्शन में हेतु सिद्ध होता है, अतः "स्पर्शो रूपदर्शने हेतुः, तत्पूर्वभावित्वात्"—इस अनुमान का हेतु स्पर्श में व्यभिचरित नहीं, क्योंकि वहाँ भी हेतुत्वरूप साध्य का भाव ही है, अभाव नहीं। इस प्रकार दुःखसत्य मे सहेतुता और तृष्णा में दुःख-हेतुता या दुःखसमुदयरूपता पर्यवसित हो जाती है ?

(ख) समुदयगत द्वितीय आकार (समुदयरूपता)—

दुःख सहेतुक है किन्तु उसका कोई एक नित्य पदार्थ (ईश्वर या प्रधान) कारण

दुःख का ईश्वरादि के समान कोई एक कारण नहीं हो सकता, अतः समुदय-रूपेण भव-तृष्णा ही दुःख-जनक है। नित्य पदार्थों में क्रमशः या युगपत् समस्तकार्य-जनकता सम्भव नहीं, अतः नित्य ईश्वरादि में सामान्य कारणता का ही निषेध किया जा चुका है। गर्भादि विशेष देशों का परिग्रह (प्राप्ति) भी तृष्णा से ही होता है।१८५॥

वार्तिकालङ्कारः

सहेतुकत्वेऽपि दुःखस्य ततो नित्यैककारणनिषेधेन समुदयाकारतानिर्णयः। यदि कारणमेकं नित्यमेव भवेत्। अनपेक्षणान्नित्यस्यानाधायविशेषत्वात्। तेषाञ्च नित्यानां प्रधानादीनां प्रागेव निषेधः। कुत एतदिति चेत्। असामर्थ्यात् क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ-क्रियाशक्तिवैकल्यात् न प्रभवत्वम्। तृतीय आकारस्तृष्णाया एव स आकारः। एतदे-वाह—असामर्थ्यादत इति।

अन्यस्य कारणस्य कर्मणोऽन्यस्य वा न प्रभवत्वम्। न खलु कर्मशरीरमविद्या वा प्रभवः। समर्थकारणापरनाम्ना। तृष्णाऽभावेऽभावात् जन्मनः। दृश्यते च तृष्णायाः प्रभ-वनम्। यतः परिग्रह आग्रहापरव्यपदेशः तत्प्राप्तितृष्णाकृतः परिग्रहश्चायं जन्मसमा-गमः। तस्मादस्य तृष्णाप्रभवः। भववाञ्छानागतजन्मप्रार्थनाकारा।

ननु न देशविशेषादिप्रार्थना समुदयसत्यम्। उक्तं हि भगवता—"तत्र कतमत्स-मुदय आर्यसत्यम्। येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दी रागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी। यदुत "कायतृष्णा। भवतृष्णा। विभवतृष्णा चे"ति। नायं विरोधः। यस्मात्—सा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं। यदि कोई एक नित्य पदार्थ को कारण माना जाता है, तब युगपत् अनेक दुःखों की उत्पत्ति प्रसक्त होती है, क्योंकि उक्त नित्य हेतु को न तो अन्य कारण की अपेक्षा है और न क्रमिक कार्योत्पत्ति की नियामक विशेषता का उसमें आधान किया जा सकता है। इसी लिए ईश्वर और प्रधानादि नित्य पदार्थों में सामान्य कारणता का ही निषेध किया जा चुका है, क्योंकि उनमें क्रमशः या युगपत् कार्योत्पादन का सामार्थ्य ही नहीं होता, अतः द्वितीय आकार (दुःखसमुदयरूपत्व) तृष्णा में ही माना जाता है।

(ग) समुदयगत तृतीय आकार (प्रभवत्व)—

प्रभवत्वरूप तृतीय आकार तृष्णा में ही है—यही कहा जाता है—असामर्थ्यादि-त्यादि। तृष्णा को छोड़ कर अन्य किसी कर्म या शरीर से जन्मादि का प्रभव नहीं हो सकता, क्योंकि समर्थ कारणसंज्ञक तृष्णा का अभाव होने पर जन्मादि का अभाव होता है। तृष्णा से ही जन्मादि का प्रभव देखा जाता है, क्योंकि जन्म-परिग्रह—यहाँ परिग्रह का अर्थ है—आग्रह या प्राप्ति, वह तृष्णा से ही होती है। परिग्रह है—जन्म-समागम। फलतः जन्मादि दुःखों का तृष्णा से ही प्रभव होता है। भव-वाञ्छा का अर्थ अनागत (भावी) जन्म की प्रार्थना (अभिलाषा)। [महर्षि पतञ्जलि ने अनागत जन्मादि को हेयकोटि में रखा है—"हेयं दुःखमनागतम्" (योगसू० २।१५)।

शंका—समुदय सत्य के सत्य के रूप में भगवान् ने केवल तृष्णा का निर्देश किया है—"कतमत् समुदयसत्यसत्यम्? येयं तृष्णा' (दी० नि० २।२२)। अतः गर्भादि देश एवं अनागतादि कालरूप विशेषणों से विशिष्ट तृष्णा को समुदय सत्य कहना आगमः विरुद्ध है।

समाधान—किसी प्रकार का विरोध नहीं, क्योंकि उक्त आगम-वाक्य का अर्थ यह

सा भवेच्छाप्त्यनाप्तीच्छोः प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ १८६ ॥
यतोऽपि प्राणिनः कामविभवेच्छे च ते मते ।

वह भव-इच्छा ही सुख के लिप्सु और दुःख के जिहासु प्राणियों की कर्मों में प्रवर्तिका मानी जाती है। वह एक ही इच्छा भव (जन्म), काम (सुख-प्राप्ति) और विभव (दुःख-निवृत्ति) को विषय करने के कारण भव-तृष्णा, काम-तृष्णा और विभव-तृष्णा कहलाती है, जैसा कि स्वयं भगवान् ने कहा है—"कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभव-तृष्णा च" (दी० नि० ३।२२) ॥१८६॥

सर्वत्र चात्मस्नेहस्य हेतुत्वात् सम्प्रवर्तते ॥ १८७ ॥
असुखे सुखसंज्ञस्य तस्मात् तृष्णा भवाश्रयः ।

वार्तिकालङ्कारः

भवेच्छाप्त्यनाप्तीच्छोरिति ।

येयं स्थानोपकरणादितृष्णा सा भवेच्छा संसारतृष्णा नन्दी रागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सा सर्वैव कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णा। या स्थानादितृष्णा सा भवतृष्णा सा भवेच्छा। या स्वर्गप्रार्थनाकारा सा कामतृष्णा। या दुःखवियोगेच्छा सा विभवतृष्णा। तस्मादविरोध एव समुदयसत्यनिर्देशः। नागमविरोधः कश्चिदिति। तथा हि—सर्वत्र चात्मस्नेहस्येति ।

अहङ्कारसन्निश्रयात् एकत्वेनारोपितता चित्तमाला तत्र यः स्नेहः सर्वत्र संप्रवर्तने स्थानोपकरणादौ असुखे सुखादिरूपरहितत्वेन परमार्थतः। चित्तविपर्ययोपहतस्य प्रवर्तनात् हेतुत्वमतः तृष्णाप्रभवाश्रयः। न ह्यदृष्टः क्वचिदपि प्रवर्तनसम्बन्धितः करुणायोगतोऽन्यत्र न संसारकारणम्। अत एव प्रवर्तनं प्रति तृष्णायाः सहकारित्वात्। प्रत्यय-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है कि जो यह तत्तद् विषयों के राग की जनिका स्थानादि (देश-कालादि) विशेषणों से युक्त तृष्णा है, वही भवेच्छा (जन्म या संसरण की तृष्णा नन्दी (रागसहगत) कहलाती है, वही काम-तृष्णा (स्वर्गादि की अभिलाषा) एवं विभव (दुःख-वियोग) की इच्छा है। फलतः एक ही तृष्णा के अपेक्षा-भेद से वैसे ही चार आकार हैं जैसे एक ही स्त्री पुत्री, पौत्री, प्रपौत्री और भगिनी मानी जाती है। इस प्रकार देखने पर आगम-विरोध नहीं रह जाता।

(घ) समुदयग चतुर्थ आकार (प्रत्ययत्व)—

'आत्मस्नेह'—यहाँ 'आत्मा' शब्द के द्वारा उस चित्त-सन्तान का ग्रहण किया जाता है, जो एकत्वेन आरोपित अहन्ता का आश्रय है। उस आत्मा में स्नेह या राग है, वही सर्वत्र प्रवर्तक दुःखादि में सुख-बुद्ध्या प्रवर्तक होता है। पूर्वोक्त चतुर्विध विपर्ययों से उपहत चित्त विविध कार्यों में प्रवृत्त होता है, अतः तृष्णा सभी प्रवृत्तियों की हेतु एवं प्रभव का आश्रय है। अदृष्ट विषय में कभी प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु दृष्ट, स्मृत एवं तृषित विषय में ही प्रवृत्ति देखी जाती है। दुःखी व्यक्ति को देखकर ही करुणा जागती है और कारुणिक महापुरुष उसके दुःख दूर करने में प्रवृत्त हो जाता है, अतः करुणा संसार का कारण नहीं। अतएव तृष्णा ही संसरण या जन्मग्रहण की सहकारी कारण या प्रत्यय तृष्णा ही है। उसमें प्रत्ययमात्रता ही मानी जाती है, उपादान-कारणता नहीं। उपादान-कारण चित्तस्कन्ध ही है। प्रवृत्ति का प्रत्यय तृष्णा और

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखख्यातिः" (यो० द० २।८) इस सूत्र के अनुसार अनित्य में नित्यता-बुद्धि, अपवित्र में पवित्रता-बुद्धि, असुख में सुख-बुद्धि एवं अनात्मा में आत्मत्व-बुद्धिरूप चतुर्विध विपर्यय के द्वारा आत्मा का स्नेह, राग या तृष्णा उत्पन्न होती है, जिससे जन्मादि का लाभ होता है, फलतः तृष्णा ही भव (पुनर्जन्मादि) की आश्रय सिद्ध होती है। इससे हेतुत्वरूप तृतीय आकार ध्वनित होता है।

विरक्तजन्मादृष्टेरित्याचार्याः सम्प्रचक्षते ॥ १८८ ॥

अदेहरागादृष्टेश्च देहाद्रागसमुद्भवः ।

निमित्तोपगमादिष्टमुपादानं तु वार्यते ॥ १८९ ॥

शंका—"वीतरागजन्मादर्शनात्" (न्या० सू० ३।१।६५) इस सूत्र में महर्षि गौतम ने कहा है कि रागादि से रहित सत्त्व का जन्म (देह-योग) नहीं होता—इससे अर्थात् यह सिद्ध होता है कि देहवान् व्यक्ति वीतराग नहीं होता, तब तथागत वीतराग कैसे ?

वार्तिकालङ्कारः

मात्रता नोपादानत्वम्। तत्र चित्तमेवोपादानम्। तस्य प्रत्ययस्तृष्णा कदाचित् करुणा। अनेन प्रत्ययत इति आकारः कथितः।

ननु प्रत्ययत्वेऽपि न तृष्णा प्रत्ययोऽपि तु देहस्ततो देहसङ्गतो न वीतरागः। एतदेव दर्शयति—विरक्तजन्मादृष्टेरिति।

यथैव हि वीतरागस्य जन्म न दृष्टमिति रागो जन्मनो हेतुरत एव युक्तो देहो रागादेर्हेतुरदेहस्य रागादृष्टिः। अत्रोच्यते—रागमन्तरेणापि जन्म भवति। करुणावशादभिरतिविषयत्वं तु तस्य तृष्णया ह्रियत इति विशेषमात्रहेतुत्वात् तृष्णाप्रत्ययमात्रम्। एवं यदि देहोऽपि प्रत्ययमात्रं रागादीनामयोनिशोमनसिकार एव तूपादानकारणं तदेष्टमेव संगृहीतमिति दर्शयति —निमित्तोपगमादिष्टमुपादानमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कदाचित् करुणा है। इस प्रकार समुदय सत्यरूप तृष्णा में चतुर्थ आकार प्रत्ययमात्रता कहा गया।

शंका—दुःखसत्य का कोई प्रत्यय होने पर भी तृष्णा प्रत्यय नहीं, अपितु देह को दुःख का प्रत्यय मानना चाहिए, अतः जब तक देह से युक्त पुरुष है, तब तक वीतरागता सम्भव नहीं—यही कहा जाता है—विरक्तजन्मेत्यादि। अर्थात् जैसे वीतराग पुरुष का जन्म नहीं होता, वैसे ही रागी पुरुष का देह से युक्त एवं देहवान् पुरुष का होना निश्चित है, क्योंकि देह-रहित पुरुष में राग नहीं देखा जाता।

समाधान—रागवान् पुरुष का ही जन्म होता, राग के बिना भी जन्म होता है—करुणा-वशात्। तृष्णा तो केवल सहायक कारण है, जन्म के असाधारण कारणों में करुणा भी है। रागादि का भी तृष्णा उपादान कारण नहीं, अपितु अयथावत् अवधारणा (सत्कायदृष्टि आदि) ही उपादानकारण है। इस प्रकार तृष्णा का जन्मकारणत्वेन संग्रह अनुचित नहीं—यही कहा जा रहा है—"निमित्तोपगमात्" इत्यादि। अर्थात् देह को भी अयोनिशो मनसिकार (मिथ्या धारणा) का अनुवर्तन करने के कारण रागादि का निमित्त माना जाता है। वह (शरीर) कदाचित् वासना (संस्कार) का उद्बोधक वैसे ही होता है, जैसे—विषय। यह युक्ति तो देह में राग की हेतुता भी सम्पादित करती है। फलतः अन्योऽन्याश्रयता के कारण अनादि सामग्रीजन्य होता है। इस प्रकार

समाधान—देह में निमित्तकारणता मानी जाती है, उपादानकारणता नहीं, उपादानकारण पूर्वराग ही होता है। राग जन्म का हेतु नहीं होता, क्योंकि वीतराग पुरुष का भी करुणा के द्वारा देह-ग्रहण देखा जाता है। रागी पुरुष का भी तृष्णा के द्वारा ही जन्म-ग्रहण होता है। इस प्रकार प्रत्ययतारूप चतुर्थ आकार दिखाया गया ॥ १८८–१८९ ॥

इमां तु युक्तिमन्विच्छन् बाधते स्वमतं स्वयम् ।
जन्मना सहभावश्चेत् जातानां रागदर्शनात् ॥ १९० ॥
सभागजातेः प्राक् सिद्धिः कारणत्वेऽपि नोदितम् ।

"वीतरागजन्मादृष्टेः"—इस युक्ति का अवलम्बन कर यदि चार्वाक जन्मान्तर का निषेध करता हैं कि इस देह से ही राग उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए पूर्वजन्म के राग की अपेक्षा नहीं, तब चार्वाक स्वयं अपने का ही निराकरण कर डालता है कि देह से राग और राग से देह—इसका प्रसक्त अन्योऽन्याश्रय तभी दूर हो सकता है कि बीज-वृक्ष के समान ही देह और राग का अनादि प्रवाह माना जाय। तब तो जन्मान्तर सिद्ध हो जाता है। जन्म से लेकर देह और राग का सहभाव देखने में आता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नवजात बछड़े आदि में राग एवं रागमूलक प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, अतः राग की उत्पत्ति शरीर से न मानकर सभाग (सजातीय) पूर्वरागात्मक हेतु से ही माननी होगी, उसके लिए जन्मान्तर मानना आवश्यक है।

अज्ञानम्, उक्ता तृष्णैव सन्तानप्रेरणाद् भवे ॥ १९१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

देहोऽपि रागस्यायोनिशोमनस्कारमनुवर्तमानो हेतुरिष्यत इव। स कदाचिद्वासनाप्रबोधस्य हेतुर्विषयवत्। एषा तु युक्ती रागहेतुत्वमपि देहस्य सम्पादयति। ततोऽन्योऽन्यहेतुत्वात् तथाभूतानादिसामग्रीप्रभवं जन्मेति, जन्मान्तरप्रसिद्धिरिति चर्चितं चार्वाकचर्चितमर्चिष्मता।

ननु सगुणं द्रव्यमेवोच्यते ततोऽनयोरन्योऽन्यमहेतुता। एवं हि—जन्मना सहभावश्चेदिति।

तृष्णाकर्मणी जन्मसमुदयः—

यदि हि जन्मना सहभावो रागादीनामिति न रागादयो देहस्य हेतुः तदा देहोऽपि न रागादीनाम्। न चाहेतुकता ततः। समानजातीयकारणजनिता रागादय इति सिद्धमभिमतम्।

वार्तिकालङ्का-व्यखाया

जन्मान्तर की सिद्धि चार्वाक-मत की चर्चा में की गई है।

शंका—रागादि गण हैं और देह द्रव्य। द्रव्य के गुण की उत्पत्ति मानी जाती है और गुण से द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर अन्योऽन्याश्रयता क्यों नहीं?

समाधान—"अज्ञानं कारणत्वेऽपि नोक्तम्"। यदि जन्म से लेकर ही देह और रागादि का सहभाव देखा जाता है, तब न तो रागादि को देह का हेतु माना जा सकता है और न देह को रागादि का, क्योंकि सहभूत पदार्थों में कार्यकारणभाव होता ही नहीं। ये दोनों अहेतुक हैं—यह भी नहीं कह सकते, अतः रादादि अपने-अपने

वार्तिकालङ्कारः

ननु न तृष्णा कारणमेकैव। अविद्या तृष्णा कर्म चेति त्रयस्य कारणत्वात्। तृष्णैव तत्र तत्राभिनन्दिनीति समुदयसत्यनिर्देशः कथम्।

नैतदस्ति। कारणत्वेऽपि नानन्तरकारणत्वम्। तृष्णैवानन्तर्येण कारणं संसारे सन्तानस्य प्रेरणात्। न हि मोहकर्मणोः सतोरपि तृष्णामन्तरेण कश्चित् प्रेरयिता। न हि विपर्यस्तोऽपि सङ्गतृष्णामन्तरेण प्रवर्त्तते। अत एवाह—आनन्तर्यात् न कर्मापीति।

कर्मोपात्तमपि राज्यादि परित्यजत्यतृष्णः।

ननु बुद्धिः कर्मानुसारिणीति परित्यागः कर्मैव तत्तादृशं येन उपनतमवधीरयति। अथ मुक्तात्मनां जन्मनोऽसम्भवः इत्युच्यते। तेषामपि कर्मक्षय एव मुक्तिरन्यथाऽभावात्। अत्रोच्यते—

तृष्णाविरहितस्यास्य यदि कर्म परिक्षयः। प्रधानं कारणं तृष्णेत्येदेवात्र युक्तिमत् ॥७३८॥
अथ तृष्णास्ति नैवास्ति कर्मणोऽस्य परिक्षयः। सतृष्णस्यास्य हि भवेत् पुनः कर्मापरापरम् ॥७३९॥

एवं तावत् चतुराकारमार्यसत्यं व्याख्यातं समुदयलक्षणम्। इदानीं तद्दुःखं निरोधसम्भवीति निरोधसत्यं चतुराकारमाह—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सजातीय कारण (समनन्तर प्रत्यय) से जनित हैं—यही सिद्धान्त-सम्मत है।

शंका—जन्मादि की कारण अकेली तृष्णा नहीं, अपितु अविद्या और कर्म को भी कारण माना जाता है, जैसा कि अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने भी कहा है—"अविद्याकायकर्मभूतसमुदायबीजांकुरो जगदात्माऽभिजायते" (मु० उ० भा० १।८)

समाधान—यद्यपि अविद्या, तृष्णा और कर्म—ये तीनों ही जगत् के कारण हैं, तथापि कार्य (जन्मादि) के अव्यवहित पूर्वकाल में तृष्णा ही रहती है, अतः तृष्णा को प्रधानता देने के लिए उसी का उल्लेख कर दिया गया है। मोह (अविद्या) और कर्म के रहने पर भी तृष्णा के बिना अन्य कोई प्रेरयिता नहीं होता। कोई विपर्यस्त-बुद्धि वाला प्राणी भी तृष्णा के बिना किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अतएव वार्तिककार ने कहा है—आनन्तर्यादित्यादि। अर्थात् तृष्णा जन्मादि के अव्यवहित पूर्वकाल में विद्यमान होने से असाधारण कारण है। तृष्णा के बिना कर्म भी जन्मादि-ग्रहण का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि कर्म के द्वारा प्राप्त राज्य का भी वितृष्ण पुरुष परित्याग कर देता है।

शंका—बुद्धि कर्मों के अनुसार होती है, अतः वितृष्ण पुरुष की बुद्धि ही वैसी हो जाती है, जिसके द्वारा राज्य का परित्याग हो जाता है, वितृष्णता के द्वारा वह नहीं। यदि कहा जाय कि मुक्त पुरुषों के कर्म होते ही नहीं कि उनका जन्म प्रसक्त हो। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि मुक्त पुरुषों के कर्मों का क्षय हो जाने पर ही मुक्ति का लाभ होता है, कर्मों के रहने पर मुक्ति का लाभ नहीं होता। इस प्रकार कर्म ही जन्मादि का प्रधान कारण होता है, तृष्णा नहीं।

समाधान—तृष्णा-रहित पुरुष के कर्मों का परिक्षय होता है, तब भी तृष्णा को ही जन्मादि का प्रधान कारण मानना ही युक्ति-युक्त है ।।७३८।। यदि किसी पुरुष की तृष्णा है, तब उसके कर्मों का अत्यन्त प्रक्षय नहीं हो सकता, क्योंकि सतृष्ण व्यक्ति के पुनः उत्तरोत्तर कर्म आरब्ध होते जाते हैं ।।७३९।। इस प्रकार आर्यसत्य की व्याख्या की गई एवं समुदय का लक्षण किया गया। अब दुःखों का निरोध सम्भव है—यह

आनन्तर्याच्च कर्मापि सति तस्मिन्नसम्भवात् ।
तदनात्यन्तिकं हेतोः प्रतिबन्धादिसम्भवात् ॥ १९२ ॥

पूर्वपद्यस्थ 'कारणत्वेऽपि नोक्तम्'—इसका अन्वय 'अज्ञानम्' के साथ अभीष्ट है। अर्थात् यद्यपि अज्ञान (अविद्या), काम (तृष्णा) और कर्म—ये तीनों ही संसरण (जन्मादि) के कारण माने जाते हैं, तथापि उन सबका कथन न करके एक मात्र तृष्णा का प्रदर्शन इसलिए किया गया है कि तृष्णा ही पंचस्कन्ध-सन्तान की प्रवर्तिका, अव्यवहित पूर्व-वृत्ति एवं तृष्णा के उच्छेद से दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद किया जा सकता है। इस प्रकार जो लोग दुःख निरोध को असम्भव मानते हैं उनके लिए निरोधताकार ध्वनित किया गया है ॥ १९१-१९२ ॥

(४०) चतुराकारं निरोधसत्यम्—

वार्तिकालङ्कारः

(४०) निरोधसत्यम्—
संसार्यभावे मुक्तिव्यवस्था—तदनात्यन्तिकं हेतोरिति ।

निरोधतः शान्ततः प्रणीततः निःशरणतश्चेति चत्वार आकाराः निरोध एव नास्तीति वादिनं प्रति निरोधता ह्युच्यते । मुक्तानामपि रागादिसम्भव इति परैरभ्युपगम्यते । तत्प्रतिषेधेन शान्ततः । अतः परोऽपि सम्भवति मोक्षतातिप्रतिक्षेपेण प्रणीतत इत्याकारः । मुक्तोऽपि पुनरमुक्तो भवतीति निरस्य एतत् निःसरणत इति चतुर्थ आकारः । तत् प्रथम आकारतात्यनात्यन्तिकं नात्यन्तं भवति निरुध्यतेऽपि । न च संसारित्वादसम्भवो मोक्षस्य दोषः । इष्टत्वात् । न हि कस्यचित् मोक्षोऽस्ति । यो हि बद्धो न हि तस्य मोक्षोऽस्ति । तत्स्वभावत्वात् न मुक्तस्यापि बन्धः । सदा तस्य मुक्तस्वभा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दिखाने के लिए चतुराकार निरोधसत्य का निरूपण किया जाता है—
(४०) निरोधसत्य—

[यह जो कहा गया कि "तदनात्यन्तिकम्" अर्थात् वह (दुःख) अनात्यन्तिक (अनित्य या समुच्छेदनीय) है, कि उसकी हेतुभूत तृष्णा का उच्छेद सम्भव है। इससे होगा क्या ? मोक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि ससारित्वरूप बन्धनवाला आत्मा है ही नहीं तब मोक्ष या बन्धन का नाश किसका होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पारमार्थिक आत्मा के न होने पर भी औपचारिक (क्षणिक विज्ञान स्कन्ध में एकत्वेन दुःखित्वेन और दुःखित्वेन) आरोपित आत्मा माना जाता है, जैसा कि आचार्य वसुबन्धु ने कहा है—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते" (विज्ञप्ति० त्रि०१)। उसके दुःखों की हेतु तृष्णा की जब तक निवृत्ति नहीं होती, तब तक वह स्वस्थ नहीं होता, रज्जु में आरोपित सर्प के समान अपने में दुःखित्व का आरोप करके सदा दुःखी और व्याकुल बना रहता है] ।

दुःख-निरोध के भी चार आकार होते हैं—(१) निरोधरूपता, (२) शान्तता, (३) प्रणीतता (यानि—प्रणीतता उत्तमता) और (४) निःसरणता (निर्मुक्तता)। (१) जो वादी कहता है कि निरोध नाम की वस्तु ही नहीं, उसके प्रति निरोधता आकार । (२) मुक्त सत्त्वों में भी रागादि सम्भव है—ऐसा जो वादी मानते हैं, उनके प्रति शान्तता । (३) निरोध से भी परे मुक्तता है—ऐसा मानने वालों के प्रति प्रणीतता (अनुत्तमता) । (४) मुक्त पुरुष भी बन्धनागार से निर्मुक्त नहीं होता—ऐसा माननेवाले

सांसारित्वादनिर्मोक्षो नेष्टत्वादप्रसिद्धितः।
यावच्चात्मनि न प्रेम्णो हानिः स परित्रस्यति ॥ १९३ ॥
तावद्दुःखितमारोप्य न च स्वस्थोऽवतिष्ठते।
मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि ॥ १९४ ॥

शंका—संसारित्व धर्म से किसी की मुक्ति नहीं हो सकती अर्थात् कोई संसारी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि संसारी आत्मा कोई प्रसिद्ध ही नहीं, तब किसकी मुक्ति होगी ? ऐसी परिस्थिति में दुःख-निरोध की सम्भावना ही नहीं रह जाती।

समाधान—संसारी पुरुष की मुक्ति कौन चाहता है ? बद्ध आत्मा की जब सत्ता ही सिद्ध नहीं होती तब वह मुक्ति का अधिकारी क्योंकर होगा ? केवल दुःख अपने हेतु के बल पर प्रवृत्त है और हेतु के अभाव में उसका निरोध सम्भावित है।

यदि कोई संसारी ही नहीं, तब कौन मुमुक्षु होगा और मोक्ष-लाभ के लिए प्रवृत्त होगा ? इस तथ्य को ध्यान में रखकर वार्तिककार ने कहा है—"यावच्चात्मनि"। अर्थात् एकत्व और आत्मत्व का अभिमान जिस स्कन्ध-समूह में है, उसमें जब तक प्रेम (आसक्ति) की निवृत्ति नहीं होती, तब तक दुःखी आत्मा का आरोप करके कथित दुःख-सन्तान दुःखी बना रहेगा। आशय यह है कि वस्तुतः कोई संसारी आत्मा न होने पर भी आरोपित दुःखी आत्मा बन्ध-मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, वही "अहमेव बद्धोऽहमेव मोक्ष्यामि"—ऐसा व्यवहार करता है। व्यवहार में वस्तु-सत्ता अपेक्षित नहीं, अपितु वैसा अवसाय (अवधारण) मात्र। वह है ही—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामोऽसौ" (विज्ञप्ति० त्रि० १)॥ १९३-१९४॥

वार्तिकालङ्कारः

त्वात्। केवलचित्तसन्तानस्यापरिशुद्धस्य ततः सामग्रीविशेषतः परो भागो विशुद्ध उत्पद्यते। तदपास्य परिशुद्धस्य संसारितैवासिद्धा। न च ससारी परमार्थतः कश्चिदस्ति क्षणानामसंसरणात्। सन्तानस्य च परमार्थतोऽभावात् ततः संसारित्वादित्यसिद्धो हेतुः। न चापि मोक्ताविद्यते यस्य मोक्षः।

ननु यदि बद्धो न मोक्ताऽन्यस्य बन्धोऽन्यस्य मोक्षः। अन्यस्य क्षुदन्यस्य तृप्तिः। अन्यः चिकित्सादुःखमनुभवति, अन्यो व्याधिरहितः। अन्यस्तु यः परिक्लेशवानपरः स्वर्गसुखमनुभवति। परः शास्त्राभ्यासायस्तोऽन्योऽधिगतशास्त्रः तदा किमिति हेतोरभियोगः प्रेक्षावतः। अत्र समाधिः। यस्मात्—यावदात्मनि न प्रेम्ण इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वादी के लिए निःसरणतारूप चतुर्थ आकार माना जाता है। इनमें प्रथम निरुद्धता अनात्यन्तिक है। अत्यन्त नहीं होती। संसारित्व धर्म को आत्यन्तिक निवृत्ति का न होना कोई दोष नहीं, क्योंकि वैसा हो देखा जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि कोई बद्धसत्त्व मुक्त हुआ ही नहीं। जो बद्ध होता है, वह मुक्त नहीं होता। जो मुक्त-स्वभाव का है उसका कभी बन्धन नहीं होता, क्योंकि वह सदा मुक्तस्वभाव है। केवल अपरिशुद्ध चित्त-सन्तान को बन्धन होता है, उसका परभाग विशेष सामग्री के द्वारा परिशुद्ध उत्पन्न होता है, उसमें संसारिता हो नहीं होती। परमार्थतः संसारिता किसी में भी नहीं होती, क्योंकि क्षणों का संसरण नहीं होता और सन्तान की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानी जाती। अतः संसारित्वादनिर्मोक्ष—यहाँ 'संसारित्वात्' यह हेतु असिद्ध है और कोई भोक्ता भी नहीं, जिसको मोक्ष-लाभ हो।

अवस्था वीतरागाणां दयया कर्मणापि वा ।
आक्षिप्तेऽविनिवृत्तीष्टेः सहकारिक्षयादलम् ॥ १९५ ॥
नाक्षेप्तुमपरं कर्म भवतृष्णाविलङ्घिनाम् ।

वीतराग पुरुषों की संसार में अवस्था (अवस्थिति) दो कारणों से होती है—(१) दया से (दूसरों के दुःखों की निवृत्ति के लिए)। (२) अथवा प्रारब्ध कर्म के आधार पर। प्रारब्धकर्माक्षिप्त स्थितिकाल में भावान्तर की स्थिति क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है---सहकारिक्षयात्। अर्थात् सहकारी सामग्री के अभाव में भावान्तर की अवस्थिति नहीं रहती। अतएव भवतृष्णावलङ्घिनाम् (पुनर्भव की तृष्णा से रहित महापुरुषों के) जन्मान्तर का लाभ नहीं होता ॥ १९५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मुक्तानां संसारे स्थितिः---अवस्थावीतरागाणामिति ।

अत्रायमभिप्रायः। यदि तावत् तत्त्वदर्शिनः प्रति एतदुच्यते। तदा सिद्धसाध्यतैव। न हि ते क्वचित्प्रवर्तन्ते यत्नं वा कुर्वन्ति। धर्मा एव प्रहातव्या इति वचनात्। अथास्मदादीनं तदा तस्यैकत्वाभिमानात् स एव बध्यते स एव मुक्तिमानित्येकाधिकरणतैव तयोः। न हि परमार्थतो वस्त्वस्तीत्येतावतैव तथा व्यवहारः। प्रतीत्यपेक्षत्वाद् व्यवहारस्य। तथा हि—न परमार्थतः सर्पः परिहारविषयः। अपि तु। सर्पतया विमोक्षविषयः।

अथ यदि नाम संवृत्या एकत्वम्। तथापि संवृत्या व्यवहारोऽस्तु। परमार्थैकत्वा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका---यदि बद्ध व्यक्ति मुक्त नहीं होता, तब अन्य बद्ध और अन्य मुक्त होगा। क्षुधा किसी अन्य में और तृप्ति किसी अन्य में। चिकित्सा किसी और की और रोगमुक्त कोई और। जप, तप, कर्मादि क्लेश झेले कोई और स्वर्गसुख की प्राप्ति किसी और को। शास्त्राभ्यास का परिश्रम करे कोई और ज्ञानवान् हो कोई और—यह कैसी विडम्बना ? ऐसी परिस्थिति में कोई प्रेक्षावान् किसी हेतु-सामग्री का संग्रह क्यों करेगा ?

समाधान—कथित आपत्तियों का ढेर क्या किसी तत्त्वदर्शी पुरुष के सामने किया जाता है ? अथवा अस्मदादि के सामने ? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता है, क्योंकि तत्त्वदर्शी पुरुष न तो किसी फल की लिप्सा करता है और न किसी की प्राप्ति का प्रयास, क्योंकि उसके लिए सभी कर्तव्यों का परिहाण ही विहित है। यदि अस्मदादि साधारण व्यक्तियों के लिए अन्य-बद्धता और अन्य-मुक्तता की आपत्ति दी जाती है तब वह उचित नहीं, क्योंकि हमलोग बद्ध और मुक्त की एकता मानते हैं। जो व्यक्ति बद्ध (बन्धन-युक्त) होता है, वही बन्धन-मुक्त होता है, इस प्रकार बन्धन और मोक्ष की समानाधिकरणता सिद्ध होती है। वस्तु परमार्थ हो, तभी उसका व्यवहार होता है—यह आवश्यक नहीं, अपितु व्यवहार में वस्तु की प्रतीति मात्र अपेक्षित होती है, वह (प्रतीति) रज्जु में कल्पित सर्ग की भी हो जाती है और पुरुष उससे डरकर भाग पड़ता है, उसे मार डालने के लिए तत्पर हो जाता है।

यदि बद्ध और मुक्त की केवल सांवृतिक एकता है, तब व्यवहार भी सांवृतिक ही होता है, पारमार्थिक नहीं। स्वप्न की तलवार यदि प्रातीतिक है, तब उससे शत्रु

वार्तिकालङ्कारः

भावात् कथं परमार्थिको व्यवहारः। तदसत्। तदेवम्—

संवृत्यास्य यथैकत्वं व्यवहारोऽपि स संवृतिः। न तत्त्वेन यथैकत्वं व्यवहारोऽप्यतात्त्विकः ॥७४०॥

यत्नोऽपि खलु नैवास्ति स्वरूपादपरः क्वचित्। कार्यकारणभावस्तु न चोद्यस्यावकशकृत् ॥७४१॥

कस्मादस्मादिदं कार्यमिति केयं विदग्धता। नैवं प्रेक्षावतः क्वापि प्रवर्तननिवर्तने ॥७४२॥

पौर्वापर्योपलम्भस्य प्रमाणेनाप्रवेदनात्। क्षणमात्रस्य च क्वापि न प्रवर्तनसम्भवः ॥७४३॥

ततो यत्नोऽपि नास्त्येव कस्यचित् विभ्रमस्ततः।

अभ्युपगम्याप्युच्यते—अवस्थेत्येवमादि।

पारमार्थिकबोधे हि यदि नैव प्रवर्तते। विरागाणां न चेष्टा स्यात् पूर्वोत्तरविभागभाक् ॥७४४॥

चेष्टाज्ञानावबोधेऽपि करुणातः प्रवर्तनम्। यथा प्रजाहितो राजा स्वसन्तानयत्नवान् ॥७४५॥

प्रणिधानप्रधानस्य कार्यं तत्प्रणिधानतः। कर्मसामर्थ्यतो जातं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम् ॥७४६॥

तस्मान्मिथ्याध्यारोपस्य एवंविधस्य प्रहाणाय यत्नः। अन्यथा मूढस्य न दुःखसंवेदनहानिः। यदि तर्हि कर्मणावस्थानं जन्मान्तरकर्माप्यस्तीति जन्मान्तरसङ्गतिः स्यात्। अथासमर्थं कर्म वीतरागस्यावस्थानं न भवेत्। अत्रोच्यते—आक्षिप्तेऽविनिवृत्तो-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का संहार भी प्रातीतिक ही है। बद्ध-मुक्त का पारमार्थिक एकत्व न होने के कारण पारमार्थिक व्यवहार क्योंकर होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब बद्ध और मुक्त व्यक्तियों की केवल सांवृतिक एकता है, तब व्यवहार भी अतात्त्विक ही माना जायगा ॥ ७४० ॥ मोक्ष या दुःख-प्रहाण के लिए कोई प्रयत्न भी उपलब्ध नहीं होता। सांवृतिक सत्ता और व्यवहार का कार्यकारणभाव भी आक्षेप का विषय नहीं होता, क्योंकि वह भी केवल सांवृतिक ही होता है ॥ ७४१ ॥ जब कोई काय-कारणभाव है ही नहीं, तब "अस्मात् कारणाद् इदं कार्यं भवति"—इस प्रकार व्यवहार कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना ही कहना होगा कि यह व्यवहार भी सांवृतिकमात्र है। इसी प्रकार प्रेक्षावान् (तत्त्ववेत्ता पुरुष) वस्तुतः न कहीं प्रवृत्त होता है और न कभी निवृत्त ॥७४२॥ कारण और कार्य की क्रमशः पूर्व और उत्तर काल में उपलब्धि भी प्रमाण-सिद्ध नहीं। क्षण-भंगवाद में कहीं प्रवृत्ति हो भी नहीं सकती ॥७४३॥ प्रवृत्ति के लिए प्रयत्न भी सम्भव नहीं, जो दिखता है, वह भ्रममात्र है।

इस सांवृत्तिकवाद को मानकर भी यही कहा जा सकता है कि यदि पारमार्थिक बोध हो जाने पर कहीं प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वीतराग पुरुषों की पूर्वोत्तर-विभाग-सापेक्ष कहीं प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥७४३॥ चेष्टा का ज्ञान होने पर भी कारुणिक पुरुष की प्रवृत्ति दया के कारण होती है, जैसे प्रजा का हितैषी राजा अपनी सन्तान की रक्षा में ही प्रवृत्त होता है ॥७४५॥ प्रणिधान-प्रधान योगी का कार्य प्रणिधान से होता है। कर्मों के सामर्थ्य से वह प्रणिधान में प्रवृत्त होता है, इस पर कोई किन्तु क्यों उठायेगा? ॥७४६॥ निष्कर्ष यह है कि आत्मविषयक मिथ्या आरोप की निवृत्ति के लिए ही कारुणिक पुरुष दुःख-प्रहाण में प्रवृत्त होता है, क्योंकि आत्मा की मिथ्या धारणावाले व्यक्तियों के दुःखों की कभी निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

शंका—यदि प्रारब्ध कर्म के आधार पर वीतराग पुरुष की संसार में अवस्थिति रहती है, तब जन्मान्तर-प्रद कर्म भी है, अतः वीतराग का जन्मान्तर भी होना चाहिए।

समाधान—कर्म के द्वारा प्रापणीय फल की प्राप्ति भी तभी होगी, जब उसके लिए

दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी ॥ १९६ ॥
वस्तुधर्मो दयोत्पत्तिर्न सा सत्त्वानुरोधिनी ।

"सर्वं दुःखम्"—ऐसा साक्षात्कार जिसे हो गया है, वह द्वेषादिरूप विरोध से रहित सर्वत्र समदर्शी हो जाता है, तथापि दुःखी व्यक्ति को देखकर पूर्व संस्कारों के आधार पर जो करुणा उत्पन्न होती है, वह आत्मसत्ता की अपेक्षा नहीं करती, वह (दया) एक वस्तु का धर्ममात्र है ॥ १९६ ॥

आत्मान्तरसमारोपाद् रागो धर्मेऽतदात्मके ॥ १९७ ॥
दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदयः ।

दया की उत्पत्ति तो दुःख-सन्तान के संस्पर्श (दर्शन मात्र) से होती है, उसको सत्त्व-दर्शन (आत्मदर्शन) की अपेक्षा नहीं । अतदात्मक (आत्मात्मीयरूप से रहित) स्कन्धरूप धर्मों में ही आत्मरूपता का आरोप हो जाने मात्र से राग या आसक्ति हो जाती है, अतः दुःखी प्राणी पर दया आ जाती है, सत्त्वग्रह (आत्मग्रह) की आवश्यकता नहीं होती ॥ १९७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ष्टेरिति ।

नाक्षिप्तो यत्नमन्तरेण निवर्तयितुं शक्यः । यत्नश्च वीतरागस्य प्रतिहन्यते । उपेक्षया न तस्य क्वचिदास्थेति । अत एवास्थाऽभावात् नापरजन्मोपार्जनम् । ततः सहकारिणः तृष्णालक्षणस्याभावात् । तदेव पूर्वतृष्णाजनितमिदं जन्म नापरमिति । ननु दया नामेयं सत्त्वे दुःखात् त्रातव्ये भवति नान्यत्र । न च सत्त्वः कश्चिदस्ति । नापि सत्त्वदर्शनं प्रहीणात्मदर्शिनानां ततो दयातो न प्रहीणात्मदर्शिनाः । अत्र परिहारः—दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्येति ।

यदा हि सकलमेव दुःखमिति साक्षात्कृतं त्रिदुःखतायोगि । तदास्य समुदयलक्षणा तृष्णाऽपैति प्रहीणसमुदयस्य न रागादय इति । समताऽविरोधिता । सकलेनैव तत्त्वसंघातेन । ततो दुःखितदर्शनात् वस्त्वाश्रयादयोत्पत्तिर्महताम् । न तस्यामवस्थायां सत्त्वग्रहा-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रयत्न किया जाय, किन्तु वीतराग पुरुष का प्रयत्न जन्मान्तर के लिए प्रतिहत हो चुका है । उपेक्षा के कारण उसकी किसी कर्म में आस्था ही नहीं रही, फिर पुनर्जन्म के उपार्जन में वह प्रवृत्त क्यों होगा ? पुनर्जन्म के लिए तृष्णारूप सहायक साधन का भी अभाव है । पूर्व-तृष्णा के द्वारा यह अन्तिम जन्म मिला, अपर-जन्म का लाभ क्यों होगा ?

शंका—वीतराग पुरुष की यह दया नाम की भावना दुःखी आत्मा के उद्धार के लिए ही होती है, किन्तु आत्मा या सत्त्व नाम की कोई वस्तु ही नहीं । वीतराग पुरुष की सत्काय-दृष्टि प्रहीण भी हो जाती है, अतः उसकी दया किस काम की ?

समाधान—वीतराग पुरुष जब "सर्वमेव दुःखम्"—ऐसा साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी दुःख-निदानभूत तृष्णा समाप्त हो जाती है । तृष्णा-रहित व्यक्ति के रागादि नहीं रहते । सर्वत्र समता या अविरोधिता का उदय हो जाता है । सकल सत्त्व-संधान पर करुणा और मैत्री व्याप्त हो जाती है । सभी जीवों की सत्त्वग्रह अवधारणा का निवर्तन करने की जो भावना उद्भूत होती है, उसे ही करुणा या दया कहा जाता है ।

वार्तिकालङ्कारः

नुरोधतः तथा भूतसत्त्वग्रहपरित्याजनाय य आशयः सा दया। सा च प्रहीणात्मदर्शनस्यैव। अप्रहीणात्मदर्शनो हि कथं तत्त्यागाय परेषां यतेत।

ननु रागस्य दयायाश्च को विशेषः। अयं विशेषः—आत्मान्तरसमारोपादिति।

दयाया रागस्य च महान् भेदः। हेतुभेदविषयभेदात्। तथा हि—राग आत्मनोऽनागतसुखासङ्गसन्धानपरवशीकरणमनागतसन्तमारोप्य तस्मात् प्रवर्त्तते। विषयेऽप्यतदात्मके तदात्मना दृश्यमाने। चतुर्विधविपर्यासवासितमानसस्य रागिता नान्यस्य। दया तु दुःखसन्ततिमात्रसाक्षात्करणादेव मिथ्याभिमानव्यपगमाय।

नन्वहमस्य दुःखनिवर्तनं विधास्य इति आशयमन्तरेण कथं भवेत्। अत्र परिहारः—

आत्मार्थे यदि वृत्तिः स्यादेवमेव प्रसज्यते। परार्थमात्रवृत्तीनां न हि कारकदर्शनम् ॥७४७॥

दर्शितो राजदृष्टान्तस्तस्तेतन्नासमंजसम्। पूर्वपूर्वाहिततीक्ष्णसंस्काराद्वा प्रवर्तनम् ॥७४८॥

न च पश्यति संतानं नापि कश्चित् प्रवर्तते। न तिष्ठति प्रभाऽभावात् केवलं भवतो भ्रमः ॥७४९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आत्मग्रह या सत्काय दृष्टि-रहित महापुरुष ही दूसरों की आत्मग्रह दृष्टि का त्याग कराने के लिए प्रवृत्त हो सकता है, अन्य नहीं।

प्रश्न—राग और दया का क्या अन्तर ?

उत्तर—दया और राग का महान् अन्तर है उनका केवल कारण-भेद ही नहीं, विषय-भेद भी है। अर्थात् राग उस भावना को कहते हैं जो व्यक्ति भविष्यत्सुखप्राप्ति के लिए अपनी आत्म-संतति का आरोप कर लेता है और दुःखात्मक विषयों में सुखरूपता का आरोप कर लेता है। विपर्यय चार प्रकार का होता है जैसा कि पातञ्जलसूत्रकार ने कहा है—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" अर्थात् अनित्य मे नित्यता बुद्धि, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुखरूपता बुद्धि, अनात्मा में आत्मबुद्धि। इस प्रकार विपरीत पदार्थों में राग उत्पन्न हुआ करता है और दया सत्कायदृष्टिसम्पन्न मिथ्या अभिमानी व्यक्तियों को देखकर उनकी सत्काय-दृष्टि का विगम करने के लिए जो भावना उत्पन्न होती है उसे दया कहा जाता है। राग का फल सुखप्राप्ति और दया का फल परकीय मिथ्या भावना की निवृत्ति होता है। फलतः राग और दया का महान् अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

शंका—लोक में दयाभावना दुःखी व्यक्तियों के दुःख की निवृत्ति करने के लिए राग का उदय ही माना जाता है। किन्तु वीतरागपुरुषों में रागात्मिका वृत्ति सम्भव नहीं, तब वह किसी पर दया भी कैसे कर सकेगा ?

समाधान—दया यदि अपने उद्धार की कामना के रूप में होती तब उसे रागवृत्ति कह सकते थे, किन्तु परार्थमात्रता या परोपकारिता को राग नहीं कहा जा सकता ॥७४६॥ इस विषय में राजा का दृष्टान्त दिया जाता है—जनक जैसे वीतराग महाराजा से पूछा गया कि आप राज-पाट करते हैं ? मित्रों का उपकार और शत्रुओं का अपकार करते हैं, फिर भी वीतराग हैं यह सम्भव कैसे होगा ? उसका उत्तर राजा की ओर से दिया गया कि मैं न कुछ करता हूँ न कराता हूँ, देखनेवाले लोग मुझमें सब आरोपित कर लेते हैं। उनके आरोप से मेरा कुछ बिगड़ता नहीं। वैसे ही वीतराग पुरुष भी वही उत्तर दे सकता है—"केवलं भवतो भ्रमः" ॥७४७-४८॥ इस प्रकार करुणा और राग का अन्तर स्फुटित हो जाता है।

मोहश्च मूलं दोषाणां स च सत्त्वग्रहः विना ॥ १९८ ॥

तेनाघहेतौ न द्वेषो न दोषोऽतः कृपा मता ।

जैसे दुःख-दर्शन से दया उत्पन्न होती है, वैसे ही अपकारी व्यक्ति में द्वेष उत्पन्न होता है। मोह ही राग-द्वेषादि दोषों का मूल माना गया है, जैसा कि योगसूत्रकार ने कहा है—"अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्' (यो० सू० २।४) अर्थात् अविद्या (मोह या अज्ञान) ही अस्मिता, राग और द्वेषादि का मूल कारण है। मोह का स्वरूप है—अनात्मा में आत्मग्रह ॥१९८॥ सत्त्वग्रह के बिना अपकारी व्यक्ति में द्वेष नहीं होता, अतः उत्पद्यमान कृपा को दोष नहीं कह सकते।

नामुक्तिः पूर्वसंस्कारक्षयेऽन्याप्रतिसन्धितः ॥ १९९ ॥

अक्षीणशक्तिः संस्कारो येषां तिष्ठन्ति तेऽनघाः ।

वार्तिकालङ्कारः

तदयं दयारागयोर्विशेषः इत्यलमतिविस्तरेण। ननु दया माभूत् रागरूपातत्त्वदर्शिनामुदयात्। द्वेषरूपा तु भवेदशुच्यादिदर्शनात्, वैमुख्याभावात्। नाशुभाभावनातो मुक्तिरपि तु अनित्यादिदर्शनात्। आत्मनि हि सति स स्वतन्त्रः। परदुःखविधायीति कोपः स्याद ? यदा तु पुनरसौ हेतुपराधीनः प्रवर्तते स्वरूपमात्रेण। न चापकारस्तस्य शक्यः कर्त्तुमपकारकाले तस्यैवाभावात् वृथा कोपपरिग्रहः। यतो हि—मोहश्च मूलं दोषाणामिति।

यद्यात्मानमपक्रियमाणं पश्येत् कोपो भवेत्। न चात्मा कश्चित्। अपि तु सत्त्वमन्तरेणापि सत्त्वग्रह एव केवलः कोपस्य कारणम्, विना च सत्त्वग्रहं न द्वेषः। मोहस्तु नास्ति स्वयमेव सत्त्वदर्शनस्य मोहस्याभावात्। अतः सर्वदोषविरहिता कृपा न दोषः।

ननु यदि वीतरागः सशरीर एवास्ते। तदाऽमुक्त एव भवेत्। न दोषरहितस्य चेतसो भावात्। किञ्च—नामुक्तिः पूर्वसंस्कारक्षय इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—मान लेते हैं दया रागात्मक वृत्ति है और वीतराग पुरुषों में उसका अभाव है फिर भी द्वेषवृत्ति वीतराग में भी रहेगी, उसके परकीय दुःखों के नाश की इच्छा क्योंकर होगी ? अशुचि आदि पदार्थों के दर्शन से वैमुख्य कैसे होगा ? मुक्ति का लाभ अशुभ भावना से नहीं होता, अपितु अनित्यानात्मतादि के दर्शन से होता है। आत्मसत्ता-ग्रह के रहने पर अपकारी पर कोप का होना स्वाभाविक है। नैरात्म्यदर्शन के कोप किस पर होगा ? प्रतीत्यसमुत्पादवाद में तो हेतुप्रत्ययाधीन चित्तस्कन्ध की प्रवृत्ति है, अपराधी कोई नहीं, किन्तु अपकारी सत्त्व को देखकर अवश्य कोप होगा। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं, अपितु आत्मा के न होने पर भी केवल आत्मारोप ही केवल कोप का कारण होता है। सत्त्वग्रह के बिना द्वेष भी नहीं होता। मोह भी नहीं होगा क्योंकि स्वयं आत्मग्रह ही मोह है। फलतः सर्वदोष-रहित कृपा कोई दोष नहीं।

वीतराग व्यक्ति यदि सशरीर है, जब वह अमुक्त पुरुष के समान साधारण (पृथक्जन) ही है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सशरीर होने पर भी उसका चित्त नितान्त दोष-रहित है। दूसरी बात यह भी है कि जन्मान्तर प्राप्ति के विरुद्ध जिसकी विरक्तता और मुमुक्षा-जैसी उदात्त भावना है, वह अमुक्त कैसे ? पूर्वजन्मार्जित

यदि पूर्वकर्म के आधार पर ज्ञान-काल में निर्वाण नहीं होता, तब सांसारिकता ही रहेगी—यह कहा जाता है—"नामुक्तिः"। अर्थात् उनकी अमुक्ति नहीं, मुक्ति ही हो जाती है। पूर्वकर्मों का क्षय हो जाने पर उनकी प्रतिसन्धि (जन्मान्तर-प्राप्ति) नहीं होती ॥१९९॥ जिनके कर्मों की शक्ति नष्ट नहीं होती, वे ही संसार में रहते हैं।

मन्दत्वात् करुणायाश्च न यत्नः स्थापने महान् ॥ २०० ॥
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा।

जिन महाकृपालु पुरुषों के प्रणिधान-वश कर्मशक्ति क्षीण नहीं होती, वे सम्यक् सम्बुद्ध आकाश-पर्यन्त स्थित रहते हैं। श्रावकों के कर्म मन्द होने एवं करुणा का यत्न महान् स्थापन में नहीं होता, अतः उनकी सदा स्थिति नहीं रहती जिन महाकारुणिक महापुरुषों की कर्मशक्ति क्षीण नहीं होती, संसार में पराधीन स्थिति रहती है।

वार्तिकालङ्कारः

जन्मान्तरप्रतिसन्धानविरुद्धे हि मनसि वर्तमानः कथममुक्तः। पूर्वसंस्कारस्य च तज्जन्मसम्भविनः क्षयादप्रतिसन्धानम्। येषान्तु पुनरप्रतिसन्धिकरणाय संस्कारक्षयेच्छा नास्ति तेऽक्षीणसंस्कारा अनघा एवावतिष्ठन्ते। यावत्संस्कारमनुवृत्तेः। तथा हि—मन्दत्वात् करुणायाश्चेति।

संस्कारहानेः करुणायाश्च मन्दत्वात् न स्थापने यत्नः। इति न सदा तिष्ठन्ति। महाकरुणायोगात्तु स्थानमेव। तत्रास्थासम्भवात्।

(४१) सत्कायदृष्टेर्विगमः—

यदि मार्गस्य सामर्थ्यं तदाद्य एव स्रोत आपन्नमार्ग एवाभवो भवेत्। सत्कायदृष्टे विगमात्। तथा हि सत्कायदृष्टेर्विचिकित्सायाः शीलव्रतपरामर्शस्य च प्रहाणात् स्रोत आपन्नो भवति।

",मोहश्च मूलं दोषाणां स च सत्त्वपरिग्रहः"। इति चोक्तम्। ततो मार्गान्तरं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संस्कारों का अपक्षय हो जाने से जन्मान्तर का अभाव निश्चित है किन्तु जिनकी करुणावश शरीर-स्थितिकारक संस्कारों के क्षय की इच्छा नहीं, ऐसे अर्हत महापुरुष (जीवन्मुक्त) प्रारब्ध कर्म-क्षय-पर्यन्त अनघनिःसङ्गभाव से संसार में अवस्थित रहते हैं। महाकरुणा के कारण संस्कारों की हानि में मन्थरता आ जाती है, संस्कारों की स्थापना में यत्नविशेष नहीं रहता, अतः वे सदा नहीं रहते। उनकी सदा अवस्थान में आस्था भी नहीं रहती।

(४१) सत्कायदृष्टि का विगम—

शंका—यदि अष्टाङ्गिक मार्ग दुःख-निरोध करने में सक्षम है, तब आद्य (प्रथम) मार्ग में ही स्रोतापन्न हो जाना चाहिए [क्योंकि सत्कायदृष्टि और शीलव्रत-परामर्श का प्रहाण हो जाने पर स्रोतापत्ति की प्रगति कही गई है—"एत्थ पन सोतापत्तिमग्गं भावेत्वा दिट्ठिविचिकिच्छापहानेन पहीनापायगमनो सत्तक्खत्तुपरमो सोतापन्नो नाम होती" (अभिधम्मत्थ. पृ-१७६)। अर्थात् सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श से रहित व्यक्ति स्रोतापन्न कहलाता है]। वार्तिककार भी कह चुके हैं—"मोहश्च मूलं दोषाणां स च सत्त्वपरिग्रहः" (विगत पृष्ठ ३३४)।

सत्कायदृष्टेर्विगमादाद्य एवाभवो भवेत् ॥ २०१ ॥
मार्गे चेत् सहजाहानेर्न हानौ वा भवः कुतः ।

यदि प्रथम दर्शन-मार्ग में ही सत्काय दृष्टि का अभाव हो जाता है, तब स्रोतापन्न हो जाने के कारण जन्मान्तर बन्ध समाप्त क्यों नहीं हो जाता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"सहजाहानेर्न"। अर्थात् स्कन्ध-भिन्न आत्माध्यवसायिनी या आभिसंस्कारिक सत्काय दृष्टि का नाश हो जाने पर भी सहजा सत्कायदृष्टि की हानि न होने के कारण जन्मान्तर-बन्ध निवृत्त नहीं होता। सहजा आत्मदृष्टि का विगम हो जाने पर पुनर्भव नहीं होता। सहजा आत्मदृष्टि का स्वरूप दिखाया जाता है—

सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवमिति तृष्यतः ॥ २०२ ॥
यैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनम् ।

वार्तिकालङ्कारः

व्यर्थकं भवेत्। अत्रोच्यते—सत्कायदृष्टेर्विगमादाद्येति।

न खलु सत्कायदर्शनप्रहाणमाभिसंस्कारिकस्यैव प्रहाणात्। सहजस्य प्रहाणाभावः सत्यदर्शनमात्रं हि स मार्गः। दर्शनेन चाभिसंस्कारिकस्यामूलक्लेशत्वादात्मग्रहस्य प्रहाणम्। तद्धयात्मदर्शनमौपदेशिकं दर्शनमात्रेणैव विपर्ययस्य प्रहीयते। सहजस्य तु सत्कायदर्शनस्य विरूढत्वादनाद्यभ्यासतः प्रतिपक्षेण भावनामार्गेणैव प्रहाणमतः सहजाहानेः।

यस्य तु मते न सहजस्यापि हानिः। तत्र मते न हानौ वापि भवः कुतो भवति। पटुप्रज्ञस्य हि प्रथममार्ग एव सकलसामर्थ्ययोगीति तस्य स एव सकलमार्गस्वभावः।

ननु सहजं सत्त्वर्शनम्। यद्यात्माकारं तदाऽत्माभावे तत्राभिसंस्कारादेव बुद्धिर्नान्यथा। वस्तुनो जनकस्याभावे यदि परमुपदेशः कारणम्। अत्राह—सुखी भवेयमित्यादि।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—अनात्म-दर्शन से सहज सत्काय दृष्टि का प्रहाण नहीं होता, अपितु आभिसंस्कारिक सत्काय दृष्टि का ही नाश होता है। प्रथम मार्ग अनात्म-दर्शन मात्र है। इससे केवल आभिसंस्कारिक सत्कायदृष्टि का ही प्रहाण होता है, जो कि मूल क्लेश नहीं। मूल क्लेश है—सहज सत्कायदर्शन। उसका स्वरूप वार्तिककार अग्रिम पद्य में ही कह रहे हैं—सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवम् [योगदर्शन में लगभग इसे ही अभिनिवेश कहा गया है—"सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति—मा न भूवं भूयासमिति"]। सहजसत्कायदर्शन तो अनादि एवं अत्यन्त निरूढ होने के कारण नैरात्म्य-दर्शनाभ्यास (भावना मार्ग) से ही प्रहीण होता है।

जिसके मत में सहज सत्कायदृष्टि की भी नैरात्म्य-दर्शन से हानि हो जाती है, उसके मत में प्रारब्ध कर्म एवं शरीरादि प्रपञ्च किसके आधार पर टिका रहेगा ? पटुप्रज्ञ पुरुष का तो प्रथम मार्ग ही पूर्णतया समर्थ है, अतः वही सकल मार्गस्वभाव है।

शंका—सहज सत्त्व-दर्शन (सत्काय-दर्शन) यदि आत्माकार है, तब वस्तुतः आत्मा के न होने पर केवल पूर्व संस्कारों के द्वारा ही आत्मभान मानना होगा। ऐसा आत्मदर्शन तो केवल औपदेशिक नैरात्म्यदर्शन से ही निवृत्त हो जायगा, इसके लिए भावनामार्ग की क्या आवश्यकता ?

न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन ॥ २०३ ॥

न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखकामोऽभिधावति ।

'सुखी भवेयम्' अथवा 'दुःखी मा भूवम्'—ऐसी कामनावाले व्यक्ति में जो 'अहम्'—इस प्रकार का आत्मदर्शन है, वही सहज सत्कायदृष्टि है। आत्मा में स्नेह के बिना उसको सुख देने के लिए उत्तरोत्तर गर्भावक्रान्ति नहीं कर सकता ॥ २०३ ॥

दुःखोत्पादस्य हेतुत्वं बन्धः नित्यस्य तत्कुतः ॥ २०४ ॥

अदुःखोत्पादहेतुत्वं मोक्षः नित्यस्य तत्कुतः ।

दुःखोत्पाद की जो आत्मा में हेतुता है, उसे ही बन्धन कहा जाता है किन्तु नित्य आत्मा के साथ दुःखोत्पाद का अन्वय-व्यतिरेक सम्भव न होने के कारण उसकी हेतुता सम्भव नहीं। इसी प्रकार अदुःखोत्पाद की आत्मा में जो हेतुता है, वही मोक्ष पदार्थ

वार्तिकालङ्कारः

अनादिवासनाबलात् उदयमासादयन्ती अहमिति बुद्धिः सहजमेतत् सत्त्वदर्शनं सुखी भवेयमहमित्येवमाकारा मा भूवमन्यथेति वा । तदप्रहाणान्नाभवः । अहमिति चापश्यन्नात्मनि स्निह्यति न तु पश्यन् । न च सुखकामस्याभिधावनं विनात्मस्नेहेन । यस्य तु सहजं सत्त्वदर्शनं, प्रवर्तितात्मस्नेहसंगतिः, तस्य कथं पुनर्जन्माभावः । ततः सहजसत्त्वदर्शनादाद्य एव मार्गे न संसाराभावः । सत्त्वदर्शनप्रहाणादवश्यमेवेति निश्चयः । अनेन शान्त इत्याकारः कथितः ।

(४२) बन्धमोक्षव्यवस्था —

ननु आत्मनि सति बन्धः तस्यैव मोक्षः । ततः परितोषविशेषादात्मनः । स प्रणीतो मोक्षः । आत्माभावे तु कस्य परितोषः ।

यदि भवेद् भ्रान्तिरेव सेति सदोषता नासौ मोक्षः । अत्र समाधानम्—दुःखोत्पादस्य हेतुत्वं बन्ध इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—"सुखी भवेयं, दुःखी या भूयासम्"—इस प्रकार की सहज सत्कायदृष्टि अनादि निविड वासनाओं के आधार पर समुत्पन्न अत्यन्त सुदृढ है, उसका प्रहाण केवल श्रुतमयी प्रज्ञा से नहीं हो सकता, अतः भवाभाव भी नहीं हो सकता। 'अहमस्मि'—इस प्रकार आत्मदर्शन का अभाव होने पर ही आत्म-स्नेह (राग) निवृत्त होता है, न कि आत्मदर्शन के रहते-रहते। आत्मस्नेह के बिना सुख की कामना से इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। जिस व्यक्ति में सहज सत्कायदृष्टि है, और उसके कारण आत्मस्नेह-संगति भी है, उस व्यक्ति को पुनर्जन्माभाव या मोक्ष का लाभ क्योंकर होगा ? फलतः सहसत्त्व-दर्शन (सत्काय-दर्शन) के शेष रहने से संसाराभाव नहीं होता। सत्त्व-दर्शन का नाश हो जाने पर संसार का अभाव निश्चित है। इस प्रकार दुःख-निरोध का द्वितीय शान्तताकार कहा गया।

(४२) बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था—

शंका—आत्मा की सत्ता मान लेने पर ही उसका बन्धन और मोक्ष बन सकते हैं, क्योंकि मोक्षलाभ से ही आत्मा को विशेष परितोष होता है किन्तु आत्मा के अभाव में परितोष किसको होगा ? फिर भी यदि परितुष्टि होती है, तब वह भ्रममात्र होगी, मोक्ष नहीं ।

है, वह भी नित्य आत्मा में सम्भव नहीं ॥ २०४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यद्यात्मा नित्यस्तथा व्यापी तदान्वयव्यतिरेकाभावात् नासौ स्वयमात्मनो दुःखमुत्पादयितुं शक्तः। आकाशवत्। यदि च स्वतन्त्रः शक्तश्च कथमात्मनो दुःखमुत्पादयेत्। न खलु स्ववधाय कृत्योत्थापनं प्रेक्षावतः युक्तम्। अथासौ मूढस्तदात्मानमजानानः कथमात्माऽनुपलम्भादसत्त्वमेवास्य स्यात्। अथ तत्स्वभाव एवासौ तदा न कदाचिदन्यथेति। न सा मुक्तिर्भाविनी। अथ जानानस्यापि तस्यार्था न स धर्मेणोत्पाद्यते दुःखं तथापि। नित्यस्य व्यापिनश्च न कस्यचित् दुःखोत्पादहेतुत्वम्। यद्यसौ तदा दुःखस्वभावः। तदा न दुःखस्य दुखं युक्तम्। तत्स्वभावत्वे च नाऽन्यथाभावः। ततो न मोक्षः। अन्यस्वभावभावे च न नित्यः इति नात्मा भवेत्। अथ व्यतिरिक्तं दुखं सुखं वा, तदात्मा न सुखी दुःखी वा। न ह्यन्येन सुखेनान्यः सुखी भवति। अथ तत्र समवायात्। ननु समवायोऽप्यन्य एव। अनन्यत्वे स एव दोषः। सुखासुखादिस्वभावत्वे च, अरापरस्वभावादनित्यत्वम्। अथ निर्विकारोऽसौ परमार्थतः भ्रान्तिरेव तु सुखित्वादिप्रतिपत्तिः। तदप्यसत्। यतो हि—

आत्मनो व्यतिरेकश्चेद् भ्रान्तेर्नात्मा अवित्तितः।
तत्स्वरूपस्य वित्तिश्चेत् कथं भ्रान्तिः स्ववेदने ॥ ७५० ॥
सुखित्वं यदि मोक्षेऽपि मुक्तेर्न स्यात्प्रणीतता।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—यदि आत्मा नित्य तथा व्यापक है, तब अन्वय-व्यतिरेक का अभाव हो जाने से आत्मा स्वयं अपने दुःख का उत्पाद नहीं कर सकता जैसे आकाश। यदि आत्मा स्वतन्त्र और कार्योत्पादन में समर्थ है, तब भी वह अपने दुःखों के उत्पाद का हेतु क्योंकर बनेगा ? किसी भी प्रेक्षावान् (बुद्धिमान्) व्यक्ति को अपना वध करने में प्रवृत्ति युक्ति-युक्त नहीं कही जा सकती। यदि वह व्यक्ति मूढ है, तब अपना उसको ज्ञान ही नहीं, वह अपने में दुःख-हेतुता क्यों मानेगा ? यदि उस मूढ़ व्यक्ति का बन्धन-हेतुता स्वभाव ही है, तब स्वभाव का अन्यथाभाव कभी नहीं हो सकता, उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। यदि वह व्यक्ति अपने को मानता है, तब उसके लिए कभी दुःख की उत्पत्ति नहीं कर सकता। लोक में कोई भी नित्य पदार्थ ऐसा नहीं देखा जाता जो दुःखोत्पाद का हेतु हो। यदि वह दुःखस्वभाव ही है, तब दुःख को दुःख देना युक्ति-संगत नहीं। दुःखस्वभाव का कभी अन्यथाभाव नहीं हो सकता यह कहा जा चुका है, फिर मोक्ष-लाभ कैसे होगा ? अन्यस्वभाव होने पर न वह नित्य होगा और न आत्मा यदि दुःखी और सुखी आत्मा व्यतिरिक्त है, तब आत्मा न दुःखी होगा, न सुखी, क्योंकि अन्य के सुख से अन्य सुखी नहीं हो सकता। यदि आत्मा में दुःख का समवाय सम्बन्ध माना जाता है, तब समवाय के विषय में भी वही अन्यत्व और अनन्यत्व का विकल्प किया जा सकता हैं। फलतः पूर्वोक्त दोष से छुटकारा नहीं मिलता। सुखासुखादि-स्वभाव मानने पर अपरापर स्वभाव की प्रसक्ति हो जाने से अनित्यता दोष आ जाता है। यदि कहा जाय कि आत्मा वस्तुतः निर्विकार है, उसमें सुखित्वादि की प्रतीति भ्रान्तिमात्र है। तो वैसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रान्ति यदि आत्मा से व्यतिरिक्त है, तब आत्मा का भान न होने से वह आत्मभ्रान्ति नहीं कही जा सकती और यदि वह्वैन आत्मस्वरूप ही है, तब वह भ्रान्ति नहीं कही जा सकती ॥ ७५० ॥

अनित्यत्वेन योऽवाच्यः स हेतुर्न हि कस्यचित् ॥ २०५ ॥
बन्धमोक्षावाच्येऽपि न विद्येते कथंचन ।

वैभाषिकगणों का सिद्धान्त है कि आत्मा या पुद्गल पदार्थ नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म से अनिर्वाच्य होता है उनका निरास करने के लिये कहा गया है कि जो पदार्थ नित्यत्व अनित्यत्व धर्मों से अवाच्य है उसे न तो बन्ध का हेतु माना जा सकता है न मोक्ष का। अतः पुद्गल सत्त्व या आत्मा में कर्तृत्व का निर्वाह नहीं होता क्योंकि जब स्वयं पुद्गल की सत्ता नहीं तब कर्तृत्व धर्म किसमें रहेगा ॥ २०५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मोहस्तत्रास्ति तस्येति तस्मादात्मा न मुक्तिभाक् ॥ ७५१ ॥
परितुष्टः क्षणो यस्य सम्भवत्यपरापरः । तस्य मोक्षः प्रणीतोऽसौ भ्रान्त्ययुक्ति विनार्थतः ॥७५२॥
नैकाधिकरणत्वं चेत् प्रसक्तं बन्धमोक्षयोः । सवृत्त्यैकाधिकरणभावो नैव निवार्यते ॥७५३॥
यो मुक्तस्य बन्धेन तदा किं वा प्रयोजनम् । पूर्वं ममासीदिति चेद् तदपि क्वोपयुज्यते ॥७५४॥
अपेक्षापूर्वकारी स्यात् प्रागेकत्वस्य निश्चयात् । अयुक्तञ्चैतदिति चेदे तदिष्यत एव हि ॥७५५॥
परार्थो वा प्रयोगोऽयमिति चावेदितं पुनः । प्रणीततास्य मोक्षस्य परस्य तु विपर्ययः ॥७५६॥

अथापि स्यात् न नित्य आत्मा पूर्वोक्तदोषान्नापि अनित्योऽप्रेक्षापूर्वक्रियाप्रसङ्गात् । अतो नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामवाच्यः । तदपि न युक्तम्—अनित्यत्वेन योऽवाच्य इति ।

अनित्यत्वेनावाच्य इति अनित्यत्वमस्य नास्ति तस्य न हेतुता । अनित्यतया

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मोक्ष अवस्था में सुखीत्व धर्म आत्मा में है अथवा नहीं यदि है तब मोक्ष की प्रणीतता (विशुद्धता) बनी रहती। एवं आत्मा और आत्मगत सुखदुःख मोह, वहाँ भी बना रहता है। सुख और रागादि की निवृत्ति न होने के कारण उस अवस्था को मोक्ष नहीं कह सकते ॥ ७५१ ॥

मोक्ष-क्षण के अनन्तर परितुष्टि का क्षण जिसमें माना जाता है उसमें मोक्षतत्त्व सर्वथा भ्रान्ति से रहित होने के कारण प्रणीत माना जाता है। बन्धक-क्षण और परितुष्टिक्षण यदि भिन्न है तब बन्ध और मोक्ष की एकाधिकरणता नहीं रहती। फिर भी क्षणवृत्तिक एकाधिकरणता का निवारण नहीं किया जा सकता ॥ ७५३ ॥

मोक्ष के अधिकरण में बन्ध का रहने का क्या प्रयोजन यदि कहा जाय "पूर्वं ममासीद् बन्धः" इस व्यवहार की उपपत्ति करने के लिए बन्धमोक्ष की एकाधिकरणता मानी जाती है। तब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के व्यवहार का क्या प्रयोजन, बन्ध-मोक्ष की एकाधिकरणता का निश्चय हो जाने पर अपेक्षा पूर्वकारी पुरुष मोक्षसाधन में प्रवृत्त हो जाता है। क्षणभङ्ग प्रक्रिया में सन्तारणगत एकत्व ही माना जाता है। पूर्वोक्त प्रयोग परोपकारसाधन के लिए यदि माना जाता है तब स्वकीय मोक्ष की प्रणीतता बन जाने पर भी दूसरे के लिए विपर्यय प्रसक्त होता है ॥ ७५६ ॥

शंका—आत्मा को नित्य भी मान सकते हैं क्योंकि इस विषय में पहले दोष दिखाया जा चुका है। अनित्य मानने पर प्रेक्षापूर्वकारिता सम्भव नहीं रहती। अतः नित्यत्व अनित्यत्व से अनिर्वाच्य आत्मा को मानना होगा।

समाधान—यदि आत्मा अनित्यत्वेन वाच्य नहीं तब अनित्यत्व में हेतुता नहीं आती। हेतुत्व अनित्यत्व धर्म से व्याप्त होता है यह पहले कहा जा चुका है। अतः

नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यः स्वभावो न नश्यति ॥ २०६ ॥
त्यक्त्वेमां ह्रेपणीं दृष्टिमतोऽनित्यः स उच्यताम् ।

विद्वान् लोग उस पदार्थ को ही नित्य माना करते हैं जिसका स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। इस प्रकार की नित्यता जिसमें नहीं उसे अनित्य ही मानना होगा। अतः इस 'ह्रेपणी' (लज्जावर्धिनी) दृष्टि का परित्याग करके बन्ध मोक्ष क अधिकारी कोई अनित्य पुद्गल ही मानना होगा। वह चित्तसन्तति को छोड़कर और कुछ भी नहीं। फलतः आत्मा को नित्य मानने वाले तैर्थिकों के पक्ष में बन्धमोक्ष की व्यवस्था कदापि नहीं बन सकती ॥ २०६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

हेतुत्वं व्याप्तमिति चान्यत्र निर्णयः। ततो व्यापकस्याभावात् हेतुताप्यस्यासम्भविनी। यस्य तु पुनर्नित्यताऽपि नास्ति। तस्यात्यन्तमभाव एव। अथ बन्धमोक्षयोरेकाधिकरणत्वादनित्यता। न। हेतुत्वात् नित्यता नेति समाधिः। स चायुक्तः तथा हि—

नित्यानित्यविनिर्मुक्तः स्वभावो नोपलभ्यते। व्यावृत्तानुगतत्वेन सर्वस्यैवोपलम्भनात्। ७५७॥

अथापि स्याद्। उभयरूपतास्तु यदि नान्यथा। तथापि न दोषः। यस्मात्— नित्यं तमाहुर्विद्वांसो य इति।

नाशो च नित्यश्चेति व्याहतम्। यस्मान्न नश्यति यः स नित्यः। नाशोऽभावोऽनुपलब्धिरित्येकार्थता प्रसाधयिष्यते। अनाशो नित्यतोपलब्धिरिति च। ततो नित्यानित्ययोरेकत्वमिति उपलभ्यानुपलभ्ययोरित्यर्थः। उपलभ्यानुपलभ्ययोश्च कथमेकत्वम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनित्यत्व रूप व्यापक की निवृत्ति से हेतुत्वरूप व्याप्य की निवृत्ति अवश्यम्भाविनी है।

जो वादी आत्मा में नित्यत्व भी नहीं मानता उसके मत में अत्यन्ताभाव प्रसक्त होता है। बन्ध और मोक्ष की समानाधिकरणता की उपपत्ति के लिए यदि अनित्यता मानी जाती है, तब हेतुत्व धर्म का निर्वाह करने के लिए नित्यता नहीं मान सकते, किन्तु वह युक्त नहीं। क्यों कि नित्यत्व और अनित्यत्व धर्मों से रहित कोई स्वभाव उपलब्ध नहीं होता। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर सभी स्वभावों की उपलब्धि होती है। ७५७ ॥

यदि प्रत्येक रूप नहीं बन सकता तब उभयरूपता मान लेनी चाहिए। ऐसा कहना भी सम्भव नहीं क्यों कि किसी वस्तु के लिए नश्वर और नित्य कहना अत्यन्त विरुद्ध है क्यों कि जिसका नाश नहीं होता वही नित्य कहा जाता है, और अनित्य पदार्थ को विनाशी माना जाता है। नाश शब्द का अर्थ होता है अभाव या अनुपलब्धि और अनाश शब्द का अर्थ होता है नित्यता। अतः नित्य अनित्य और एकत्व का अर्थ होता है उपलभ्य अनुपलभ्य की एकता। किन्तु उपलभ्यानुपलभ्य की एकता सम्भव नहीं। एकत्वेन जिसकी प्रतीति होती है वही एक कहलाता है, प्रतीत भी हो। और अप्रतीत भी ऐसा मानना अतिसाहस है। ७५८ ॥

यदि नित्य और अनित्य को एक माना जाता है तब प्रतिपन्न और अप्रतिपन्न एक मानना होगा जो कि अत्यन्त असम्बद्ध है। क्योंकि जो वस्तु एकत्वेन प्रतिपन्न है वह अन्यथा कभी प्रतिपन्न नहीं हो सकता।

वार्तिकालङ्कारः

एकत्वेन प्रतीतेर्यः स एवैक इति स्थितिः। अप्रतीतं प्रतीतञ्चेत् तदेतदतिसाहसम् ॥७५८॥

यदि नित्यमनित्यञ्चैकमेव। तदा प्रतिपन्नमप्रतिपन्नञ्चैकमिति प्रसक्तम्। तथा चासम्बद्धम्। प्रतीयमानमेकत्वेनान्यथा न शक्यं प्रतिपत्तुम्। नाप्रतीतमेव प्रतीतं शशविषाणमप्रतीतं केनचित् प्रतीतेन सहैकं शक्यं निश्चेतुम्। तत्रैकस्याप्रतीतेरिति चेत्। इहाप्यप्रतीतेऽन्यस्यमप्रतीतिः। 'यस्यैकत्वेन प्रतीतिर्न तस्य प्रतीतिरेव नश्यति। नोत्पद्यते वा। अथान्यप्रतीतिरप्रतीतिः, तेनान्यप्रतीतिरूपा नास्ति प्रतीतिर्नास्ति तदन्यरूपप्रतीतिरेव तस्याप्रतीतिः। एवं तर्हि यदन्यरूपं तत एव तस्याभावः इति प्राप्तम्। तच्चायुक्तम्। यतः—

अन्यतां प्रतिजानानः कथं ब्रूयादनन्यतां। अन्यता तस्य नेत्येवमनित्यत्वं न सिध्यति ॥७५९॥

अनित्यत्वेऽनुपलब्धिः स्यान्नोपलब्धावनित्यता। अनन्यत्वे चोपलब्धिरुपलब्धौ च नित्यता ॥७६०॥

केनचित्तस्य रूपेण नोपलब्धिः परान्यथा। अवित्तिर्येन रूपेण तदस्येति कथं मतम् ॥७६१॥

पूर्वत्वेनास्य वित्तिश्चेत् पूर्वमेव तथा भवेत्। इदानीन्तनतद्रूपमस्येति कथमेकता ॥७६२॥

एकः पूर्वापराभ्यां चेत् रूपाभ्यामवियोगतः। वियोगे दृश्यमानेऽपि वियोगो न कथं मतः ॥७६३॥

क्रमेणास्या वियोगश्चेत् वियोगोऽपि तथा भवेत्। अतः एवोभयात्मत्वमवियोगवियोगतः ॥७६४॥

यथैवास्याक्रमं सत्वं दृष्टिरस्य तथा भवेत्। अक्रमस्य च सत्त्वस्य न योगः क्रमभाविकः ॥७६५॥

न पूर्वापररूपस्याप्रतीतौ व्यापितागतिः। क्रमेण व्यापितायाञ्च तस्यैव व्यापिता नहि ॥७६६॥

न हि दृष्टमदृष्टं च तस्यैकस्योपपत्तिमत्। तदेव तस्य दृष्टत्वमदृष्टत्वं च दुर्घटम् ॥७६७॥

कालाभेदेन सकलं नासमञ्जसमीक्ष्यते। एकत्वादेकदैवास्य कालभेदः कथं भवेत् ॥७६८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उनमें यदि एक अप्रतीति है, तब दूसरे धर्म की भी अप्रतीति माननी होगी। जिसकी एकत्वेन अप्रतीति है, उसकी प्रतीति न तो नष्ट होती है और न उत्पन्न। यदि अन्य की प्रतीति ही अप्रतीति है, तब अन्य प्रतीतिरूप प्रतीति नहीं, अतः अन्यरूप प्रतीति ही उसकी अप्रतीति है। इस प्रकार तो यही सिद्ध होता है कि वस्तु अन्यरूप है, अतएव उसका अभाव है। वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जो व्यक्ति जिस पदार्थ की अन्यता (भेद) को जानता है वह उसकी अनन्यता (अभेद) क्योंकर कहेगा ? जिस पदार्थ से जिसकी अन्यता नहीं, अतएव उसका अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता ॥ ७५९ ॥ अनित्यत्व होने पर उसकी उपलब्धि नहीं होगी, न कि उपलब्ध होने पर अनित्यता। अनन्यता होने पर उपलब्धि और उपलब्ध होने पर नित्यता सिद्ध होती है ॥ ७६० ॥ यदि उसकी किसी भी रूप में उपलब्धि नहीं होती, तब जिस रूप में जिसकी उपलब्धि नहीं वही उसका रूप है—यह कैसे होगा ? ॥ ७६१ ॥ यदि पूर्वत्वेन जिसकी प्रतीति होती है, वह पूर्व ही होगा। इदानींतन रूप से उसका एकता क्योंकर होगी ? ॥७६२॥ पूर्वापर रूपों से भी अविमुक्त है, वह एक होगा। जिसका पूर्वापर रूपों से वियोग है, उसका वियोग क्यों नहीं ? ॥ ७६३ ॥ जिसका क्रम से अवियोग है, उसका क्रम से ही वियोग भी होगा। अतएव वियोगावियोग के द्वारा उभयात्मत्व माना जाता है ॥ ७६४ ॥ जिसका सत्त्व अक्रमिक है, उसकी दृष्टि भी वैसी ही होगी। अक्रमिक सत्त्व का योग कभी क्रमभावी नहीं होता ॥ ७६६ ॥ एक ही पदार्थ में युगपत् दृष्टता और अदृष्टता नहीं बनती। एककाल में दृष्टता और अदृष्टता

वार्तिकालङ्कारः

पुनः पुनः प्रतीतौ च गृहीतं ग्रहणं भवेत् । गृहीतमिति यद् ग्राह्यं स्मर्यमाणं हि तद् भवेत् ।७६९॥
स्मरणस्याप्रमाणत्वान्न क्रमग्रहसम्भवः । न चाप्रतीतं तद्रूपं येन प्रत्यक्षता भवेत् ॥७७०॥
इदानीन्तनमस्तित्वं चेन्न न पूर्वधियागतम् । भेदाभावात्कुतस्तस्य विभागोऽयं प्रमान्वितः ॥७७१॥
दृष्टत्वं तस्य नास्तीति सर्वदा वर्तमानता । यदि पूर्वापरीभावः केन तस्य प्रतीयताम् ॥७७२॥
प्राक्परप्रत्ययाभ्यां चेत् तयोर्भेदगतिः कुतः । स्वसंवेदनभावाच्चेत् न स्याद् द्वित्वगतिस्ततः ॥७७३॥
न चाप्यविद्यमानस्य परपूर्वस्य तद्गतिः । एकं संवेदनं तच्चेत् परपूर्वतयेष्यते ॥७७४॥
एकत्वे परपूर्वत्वं साक्षात्कृततया कथम् । न साक्षात्क्रियमाणस्य पूर्वता भाविताऽपि वा ॥७७५॥
न पूर्वत्वं यदि भवेत् कथं पूर्वतया गतिः । नास्त्येवास्य गतिः साक्षात्स्मरणं च न तद्गतिः ॥७७६॥
तस्य स्मरणमेतच्चेत् तस्येति कथमुच्यते । यदा तेन विनाप्येतत् स्मरणं भवदीक्ष्यते ॥७७७॥
कार्यकारणभावाच्चेत् न ग्रहस्तावता भवेत् । साक्षात्कारणतार्थस्य ग्राह्यता न विपर्ययात् ॥७७८॥
न चार्थस्मरणं साक्षात्संविदा व्यवधानतः । संवेदनम् न पूर्णन्तत् पूर्वत्वग्रहणक्षमम् ॥७७९॥
न परं तेन पूर्वत्वं स्मरणान्नैव साध्यते । अतीतसाक्षात्करणं पूर्वमित्यभिधीयते ॥७८०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नितान्त दुर्घट है ॥ ७६७ ॥ एक ही काल विरोधी भावों का सामञ्जस्य नहीं हो सकता । एकही पदार्थ में युगपत् काल भेद क्योंकर रहेगा ॥७६८॥ एक ही वस्तु की पुनः पुनः प्रतीति होने पर गृहीत पदार्थ का ही ग्रहण होगा । जो ग्राह्य गृहीत है, उसका ही स्मरण होता है ॥ ७६९ ॥ स्मरण ज्ञान प्रमाण नहीं कहलाता, अतः क्रमिक ग्रहण नहीं हो सकता । अप्रतीति की प्रतीति ही प्रत्यक्ष कहलाती है ॥ ७७० ॥ वस्तु का तदानींतन (अतीतकालीन) अस्तित्व पूर्वतन बुद्धि का यदि विषय नहीं, तब 'यह वस्तु पहले थी, यह नहीं'—इस प्रकार की भेदप्रमा क्योंकर सिद्ध होगी ? ॥ ७७१ ॥ दर्शन की अतीतता न होकर सदा वर्तमानता ही यदि बनी रहती है, तब उस वस्तु का पूर्वापरी भाव कैसे जाना जायगा ? ॥ ७७२ ॥ पूर्व प्रत्यय (वस्तु का ज्ञान) और पश्चात् प्रत्यय (पूर्व ज्ञान का स्वसंवेदन ज्ञान) इन दोनों ज्ञानों में भेद-ज्ञान नहीं, तब द्वित्व-ज्ञान कैसे होगा ? ॥ ७७३ ॥ यदि एकही संवेदन पर और पूर्वरूप में अवस्थित माना जाता है, तब अविद्यमान पूर्वरूप की उससे अवगति क्योंकर होगी ? ॥ ७७४ ॥ एक ही साक्षात्कारी ज्ञान में पररूपत्व और पूर्वरूपत्व क्योंकर बनेगा ? साक्षात्कारी ज्ञान वर्तमान-विषयक होने के कारण वर्तमान ही कहा जायगा, उसमें न तो पूर्वता बन सकती है और न भाविता (भविष्यत्ता) ॥ ७७५ ॥ यदि उसमें पूर्वता नहीं, तब वह पूर्वता का गमक क्योंकर होगा ? परिशेषतः यही कहना होगा कि पूर्वता का साक्षात्कार नहीं, अपितु स्मरण है और स्मरण को साक्षात्कारात्मक गति नहीं माना जाता ॥ ७७६ ॥ जब कि तत्पदार्थ का ग्रहण ही नहीं हुआ, तब तस्येदं स्मरणम्—ऐसा कहना क्योंकर होगा ? ॥ ७७७ ॥ पूर्वोत्तर का कार्य-कारणभाव होने के कारण वर्तमान से पूर्व का ग्रहण हो जायगा—ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि पदार्थ की साक्षात्करणता का नाम ग्राह्यता है, वह पूर्वोत्तर भी क्योंकर होगी, साक्षात्करणता वर्तमान की हो सकती है, पूर्वोत्तर का नहीं ॥ ७७८ ॥ पदार्थ—स्मरण को साक्षात्कार नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्व का व्यवधान होने के कारण साक्षात्करणता न होने से पूर्वत्व का ग्रहण क्योंकर होगा ? ॥ ७७९ ॥ स्मरण के द्वारा पूर्वत्व सिद्ध नहीं होता । अतीत का साक्षात्करण पूर्वता माना जाता है ॥ ७८० ॥ भावी साक्षात्कार

(४३) मार्गसत्यं चतुराकारम्—

उक्तो मार्गः तदभ्यासादाश्रयः परिवर्तते ॥ २०७ ॥
तादात्म्येऽपि दोषभावश्चेन्मार्गवन्नाविप्लुत्वतः ।

विगत पृ० २७२ पर नैरात्म्य-दर्शनरूप मार्ग की चर्चा की गई। उसके अभ्यास उसका आश्रयीभूत चित्त-सन्तान अथवा आलयविज्ञान सकल क्लेश-रहित विशुद्ध रूप में परिणत हो जाता है ॥२०७॥ इस मार्ग के चार आकार होते हैं—(१) मार्गरूपता, (२) शान्तरूपता, (३) प्रणीतता, (४) निःसरणता। यहाँ 'मार्गरूपता' प्रथम आकार दिखाया गया, क्योंकि क्लेश-निवृत्ति का मार्ग या उपाय है—नैरात्म्य-दर्शन।

वार्तिकालङ्कारः

भावी साक्षात्कृतौ भावे भावित्वस्य व्यवस्थितिः। अथोत्पादव्ययध्रौव्यं युक्तं यत्तत् सदिष्यते ॥७८१॥
एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावावियोगतः। यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते ॥७८२॥
पूर्वप्रतीते सत्त्वं तत्तदा तस्य व्ययः कथम्। ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्त्वं प्रतीयते ॥७८३॥
प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात्सत्त्वं कुतोऽन्यथा। तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः सम्भवः क्वचित् ॥७८४॥
अनित्यं नित्यमथवा वस्त्वेकान्तेन युक्तिमत् ।

(४३) मार्गसत्यम् चतुराकारम्—

इदानीं मार्गप्रसङ्गे निरोधस्यैव चतुर्थमाकारं दर्शयन्नाह—उक्तो मार्गस्तदाभ्यासादिति।

प्रागेव मार्ग उक्तः तस्याभ्यासादाश्रयस्य चित्तसन्तानस्यालयस्य या परिशुद्धत्वं भवति। आत्मात्मीयग्रहविपर्ययभूतस्य नैरात्म्यस्य सात्म्ये सकलदोषविश्लेषः।
सत्कायदृष्टिः—

ननु यथा दोषयोगे गुणयोगः तथा गुणयोगेऽपि दोषयोग इति न निःसरणं संसारतः। न दोषाणां गुणसम्भवेन बाधनात्। विपर्ययः कस्मान्न भवति। गुणानां

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में भावित्व व्यवस्थित होता है। उत्पाद और नाश की अवस्था में जो ध्रुव रहे, उसे सत् कहते हैं ॥ ७८१ ॥ जिन पदार्थों का सत्त्व नहीं, उनको सत् क्योंकर कहेंगे? जब पदार्थों का व्यय (नाश) हो जाता है, तब उन्हें सत् नहीं कहा जा सकता ॥ ७८२ ॥ पूर्व प्रतीत अर्थ में जब सत्त्व धर्म है, तब व्यय कैसे होगा? ध्रौव्य अवस्था में भी पदार्थ का ज्ञान नहीं, तब सत्त्व क्योंकर प्रतीत होगा? ॥ ७८३ ॥ प्रतीति ही तो पदार्थों की सत्ता है, अतः नित्यानित्य वस्तु का सम्भव कहीं भी नहीं ॥ ७८४ ॥

(४३) मार्गसत्य की चतुराकारता—

मार्ग-निरूपण के प्रसङ्ग में निरोध की चतुराकारता दिखाई जाती है—"उक्तो मार्ग" इत्यादि। अर्थात् मार्ग पहले ही कहा गया है। उसके अभ्यास से आश्रय (चित्त-सन्तान) अथवा आलयविज्ञान की परिशुद्धि होती है, आत्मात्मीय-ग्रह के विपर्ययरूप नैरात्म्य-दर्शन के सकल दोषों का विगम हो जाता है।

शंका - दोष-गुण मिश्रित हैं, अतः दोष के योग से गुणों का योग होता है, वैसे ही गुणों का योग होने पर दोषों का योग हो जाता है, अतः गुण-दोषात्मक संसार से निःसरण नहीं हो सकता।

समाधान—गुणों के द्वारा दोषों का बाध हो जाता है, अतः निःसरण सम्भव हो जाता है। विपर्यय अर्थात् दोषों के द्वारा गुणों का बाध क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का

मार्गाभ्यास-प्रकर्षता के कारण नैरात्म्य-दर्शन का चित्र के साथ सात्म्यीभाव हो जाने पर भी रागमोहादि दोषों का सद्भाव नहीं होता, क्योंकि दोषों के उत्पादन में चित्त वैसा विभु (समर्थ) नहीं रह जाता, जैसे मार्गावस्था में। इस प्रकार निरोध का द्वितीय शान्तताकार दिखाया गया, क्योंकि इससे दोष सर्वथा शान्त हो जाते हैं।

विषयग्रहणं धर्मो विज्ञानस्य यथास्ति सः ॥ २०८ ॥

गृह्यते सोऽस्य जनको विद्यमानात्मनेति च ।

सत्त्वदर्शन पुनः क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है—विषयग्रहणेत्यादि। अर्थात् विषय-ग्रहण (ग्राह्यग्राहकभाव) विज्ञान का धर्म है। वर्तमान विषय ही ज्ञान का जनक होता है। यथावस्थित वस्तु का ग्रहण करना ज्ञान का स्वभाव है, अतः अनात्मा में आत्मग्रहण या सत्त्वदर्शन नहीं होता।

एषा प्रकृतिरस्यास्तु निमित्तान्तरतः स्खलत् ॥ २०९ ॥

व्यावृत्तौ प्रत्ययापेक्षमदृढं सर्पबुद्धिवत् ।

ज्ञान की यथार्थग्रहणरूप प्रकृति (स्वभाव) है और विषय का स्वभाव है—स्वग्राही (यथार्थज्ञान) को जन्म देना। अविद्या और भयादि निमित्तान्तरों के द्वारा उन स्वभावों में स्खलन (अन्यथाभाव) आ जाता है, फलतः रज्जु सर्प-ज्ञान की जनक

वार्तिकालङ्कारः

वस्तुस्वभावत्वात्। कथमेतदिति चेदुच्यते—विषयग्रहणं धम इति।

विज्ञानं मार्गः प्रेरको जन्मिनां तस्य धर्मः स्वरूपं विषयग्रहणम्। येन तद्विज्ञानं भवति। न विज्ञानमसंवेदने भवति। असंवेदनानां तथाऽभावात्। यथा चास्ति तथा स गृह्यमाणो जनकः। आकारार्पणक्षमं हि कारणं विज्ञानस्य विषयः। तत् स्वरूपप्रतिपादनं विज्ञानस्य धर्मः। तथैव प्रतीयमानत्वं विषयस्य। ततोऽनित्यानात्मादिरूपो विषयो विज्ञानं तथाभूतग्राह्येव नान्यस्तत्स्वभाव इत्याह—एषा प्रकृतिरस्यास्त्विति।

यस्य यो धर्मोऽनात्मकत्वादिग्रहणस्वभावः। असौ प्रकृतिः। तस्याः स्खलन्त्या आगन्तुकप्रत्ययवशात् अमूलकात् स्खलितश्च। ततः स्खलनाद् व्यावृत्तौ प्रत्ययापेक्षमतोऽमूलकत्वात् अदृढं फणिबुद्धिवत्। ननु फणिबुद्धेः सादृश्यदूरदेशत्वादयो रज्वां कारणानि।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उत्तर यह है कि जैसे प्रकाश का स्वभाव अन्धकार-बाधात्मक होता है, वैसे ही गुणों का स्वभाव दोषबाधात्मक होता है। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर है—विषयग्रहणमित्यादि। अर्थात् विज्ञान निःसरण-मार्ग है, उसका स्वरूप है—विषय-ग्रहण। ज्ञान संवेदनात्मक है, असवेद से इसकी विलक्षणता यह है कि ज्ञान का विषय जनक होता है, क्योंकि वह गृह्यमाण है। ज्ञान का वही जनक होता है, जो विज्ञान में अपने आकार का समर्पण करने में सक्षम हो। सर्वत्र तथा प्रतीयमानत्व विषय का स्वरूप माना जाता है। अर्थात् ज्ञान सदैव यथार्थ वस्तु का ग्राहक और अर्थ सदैव यथार्थज्ञान का जनक होता है। अतः अनित्यत्व अनात्मत्व विषय विज्ञान का वास्तविक विषय है। इसे ही ज्ञान की प्रवृत्ति कहते हैं। इस स्वभाव का स्खलन हो जाने पर विषयान्तर का ग्रहण हो जाता है, फलतः ज्ञान वैसे ही भ्रम कहलाने लग जाता है, जैसे की रज्जु में फणी बुद्धिः।

शंका—रज्ज में सर्प-भान का कारण रज्जु का सादृश्य और दूरदेश का अवस्थान

हो जाती है। रज्जुविषयक प्रत्यय (यथार्थज्ञान) के द्वारा निर्वर्तित सर्प-बुद्धि पुनः कभी नहीं होती, उसी प्रकार नैरात्म्य-दर्शन से निर्वर्तित सत्त्वग्रह पुनः क्यों होगा ?

वार्तिकालङ्कारः

नित्यबुद्धेस्तु किं कारणम्। न प्रत्यक्षं नित्यतायां प्रवर्तते। नाप्यनुमानम्। नाशंका निःप्रमाणिकेति। प्रत्यक्षतश्च क्षणिकत्वं प्रतीयते इति साधयिष्यते। ततः कुतो नित्यत्वग्रहः। अत्राह—तां पुनरनित्यतां पश्यन्नपि मन्दबुद्धिर्नाध्यवस्यति सत्तोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशंकाविप्रलब्धः सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा अन्त्यक्षणदर्शिनां निश्चयात्।

एतदुक्तं भवति। यदा तावदुपलब्धे पदार्थात्मनि पुनरनुपलम्भस्तदा पश्यत्येवानित्यताम्। अतादवस्थ्यमनित्यतां ब्रूमः। किन्त्वनुपलब्धेऽपि मन्दबुद्धेराशंका न व्यपैति। ततः तद्भावं शङ्कत इति तद्भावशङ्कः। पूर्वं किमयमद्याप्यास्ते न वेति। ततः पुनर्दर्शनादर्थक्रियावाप्तेः। अविप्रलब्धः सन् किमयं न व्यवस्यति। विप्रलब्धो हि तदनवाप्तेर्व्यवस्येत् तत्र इव घटे। अर्थक्रियालक्षणसत्तोपलम्भे तु को विपर्ययविवेचनस्यावसरो व्यवहारिणः। प्रतिभासभेदेन तु तत्त्वचिन्तकोऽध्यवस्यत्येव। व्यवहारी तु पुनरर्थक्रियार्थी। तदवाप्तेः परितुष्टः परं न विवेचयति। कृतार्थत्वात्। सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा सदृशे हि तदेवेदमिति बुद्धिर्भ्रमजे। पूर्वत्र मायागोलकतदर्थक्रियायामर्थामात्रमेव विवक्षितम्। यतः परापरतृणादिकारणजालस्य वह्नेरेकताध्यवसायविषयता इन्धनमेव तत्रोपादानं न वह्निः न खलु वह्नेरेवोत्पद्यते वह्निः। आदावनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। उपलास्फालनेन प्राग् वह्नेरभावात्। अथवा तत एव वह्नेरुत्पत्तिः। एवं सर्वे पदार्थाः पूर्वसमानजातीयादुत्पद्यन्ते। न वा समानजातीयं कारणम्। कर्माधिपत्यादेवोत्पत्तेः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है किन्तु नित्य आत्मबुद्धि का कारण क्या प्रत्यक्ष प्रमाण नित्यता ग्रहण में प्रवृत्त नहीं होता और न ही अनुमान, जैसा कि वार्तिककार ने कहा "नाशङ्का निष्प्रमाणिका" प्रत्यक्षतः क्षणिकत्व की ही प्रतीति होती है यह आगे सिद्ध किया जायगा। अतः नित्यत्व ग्रहण यहाँ भ्रम कैसे हुआ ?

समाधान—अनित्यता का दर्शन करता हुआ भी मन्दप्रज्ञव्यक्ति यह निश्चय नहीं कर पाता कि सत्ता की उपलब्धि के द्वारा सार्वदिक तद्भाव की शङ्का एवं सन्तान में एकत्व का भ्रम नित्यत्व-विषयक भ्रम का जनक हो जाता है। सारांश यह है कि जब किसी उपलब्ध पदार्थ का अनुपलम्भ होता है तब उसकी अनित्यता अवधारित होती है। तदवस्था नित्यत्व और अतदवस्थ वस्तु को अनित्य माना जाता है। इस प्रकार नित्यता का उपलम्भ न होने पर भी मन्दप्रज्ञ-व्यक्ति को नित्यत्व का सन्देह हो जाता है। "पूर्वं किमयमद्याप्यास्ते न वा ?" तत् पश्चात् पूर्व दर्शनादर्शन क्रिया की अवाप्ति होने पर अविप्रलब्ध व्यक्ति नित्यता के ग्रहण पर विश्वास नहीं करता। अर्थक्रिया रूप सत्ता का उपलम्भ होने पर विपर्यय विवेचन का व्यावहारिक व्यक्ति को अवसर ही नहीं मिलता। किन्तु तत्त्वचिन्तक प्रतिभास भेद के द्वारा वास्तविकता का निश्चय कर लेता है किन्तु व्यावहारिक व्यक्ति अर्थक्रिया परायण उतने मात्र से परितुष्ट हो कर कृतार्थ हो जाता है। विवेचना की कसौटी पर उसे नहीं चलाता। पूर्वसादृश्य मात्र के आधार पर एकत्व और नित्यत्व निश्चय कर लेता है। माया-रचित गोलकादि पर विश्वास कर उसे ही चिरस्थायी मान लेता है। अग्नि की धारा या सन्तान ध्यान न देकर उसे एक मान लेता है। सभी पदार्थों का स्वभाव है कि अपने समानन्तर प्रत्यय

प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्याऽऽगन्तवो मलाः ॥ २१० ॥

तत्प्रागप्यसमर्थानां पश्चाच्छक्तिः क्व तन्मये ।

[नित्यत्वविरहितस्यैव तेन ग्रहणादागन्तवो मलाः] ।

असद्भूत वस्तु का समारोप वैसे ही नितान्त निर्मूल होता है, जैसे कोई तौत व्यक्ति (वञ्चक) झूठी मुख-मुद्रा बना लेता है। जैसे कि जगत् में कोई भी पदार्थ नित्य नहीं, किन्तु विचार-शून्य व्यक्तियों ने कुछ आगन्तुक मलों (दोषों) के आधार पर नित्य आत्मा की कल्पना कर ली है।

तत्प्रागप्यसमर्थानां पश्चात् शक्तिः क्व तन्मये ।

नालं प्ररोढुमत्यन्तं स्यन्दिन्यामग्निवद् शुचि ॥ २११ ॥

बाधकोपेतसामर्थ्यगर्भे शक्तोऽपि वस्तुनि ।

नैरात्म्यदर्शन के पूर्व भी अपने उत्पादन में असमर्थ मलों में मार्ग-साम्यावस्था होने पर शक्ति कहाँ से आयेगी ?। कथंचित् उत्पन्न हो जाने पर भी वैसे ही प्ररोहन

वार्तिकालङ्कारः

अत एतदपेक्षया विकल्पः। तच्च कर्मवादिमतेन पूर्वमुक्तम् । अन्यमतेन परमिति निर्णयः।

अथवा अतद्भावशङ्काविप्रलब्ध इति व्याख्यातव्यम्। न हि तद्भावे शङ्का काचिद्विद्यते। सर्वदा सत्तोपलब्धेः। अनुपलम्भे हि तद्भावे शङ्का भवेत्। यदा तु मध्ये अनुपलम्भस्तदा को वृत्तान्तः। अत्रापि सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो लूनपुनर्जातकेशनखादिवत्। मृतप्रत्यभिज्ञात एकत्वमिति चेत्। न। प्रत्यभिज्ञाया अप्रमाणत्वात्। प्रत्यक्षत्वानुमानत्वायोगात्। तथा च प्रतिपादयिष्यते। तस्मादान्तरादविद्योपप्लवादागन्तवो मलाः। अत एवाह—प्रभस्वरमिदं चित्तमिति।

नित्यत्वविरहितस्यैव तेन ग्रहणादागन्तवो मलाः। असद्भूतसमारोपस्यामूलकत्वेन तौतमुद्रामात्रकत्वात्। न परमार्थतो नित्यत्वं क्वचित् प्रतिभाति। ततो विचारशून्यत्वादागन्तवो मलाः। तथा हि—तत्प्रागप्यसमर्थानामिति।

प्रागप्यसमर्था एव श्रुतचिन्ताकाले यतः—नालं प्ररोढुमत्यन्तमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

से उनका जन्म होता है। कर्माधिपत्य के द्वारा उत्पत्ति-क्रम का विवेचन न हो सकने के कारण एकत्व की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है यह पहले कहा जा चुका है। अथवा अतद्भाव की शङ्का विप्रलम्भ का कारण बन जाती है। सदृश परापर की उपलब्धि एकता-भ्रम का वैसे ही कारण बन जाती है जैसे केश-नखादि के कट जाने पर भी वैसे ही दूसरे उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के द्वारा उनकी वास्तविक एकता क्यों न मान ली जाय इस शङ्का का समाधान आगे चलकर विशद रूप में किया जायगा कि प्रत्यभिज्ञा कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं, क्यों कि पूर्वापर की एकता न प्रत्यक्ष का विषय है न अनुमान का, केवल अविद्या दोष के कारण अविद्या दोष एवं चाकचिक्यादि आगन्तुक दोष भ्रमज्ञानों का जनक हो जाता है। असद्भूत वस्तु का समारोप तौत (प्रतारक) की बनावटी मुखमुद्रा से अधिक और कुछ भी नहीं। परमार्थतः नित्यत्व के न होने पर भी विचारशून्य पुरुष वैसा मान लेता है। जब रागद्वेषादि चित्त के साथ स्वात्मीभूत

नहीं हो सकता, जैसे स्यन्दिनी भूमि में अग्नि। नैरात्म्यदर्शनरूप बाध से युक्त चित्त में अत्यन्त सशक्त भी मनोमल उत्पन्न नहीं हो सकता ॥२११॥ नैरात्म्यदर्शी पुरुष में मलोत्पत्ति हेतु-साकल्य से नहीं हो सकती, क्योंकि सत्त्व-दर्शनरूप हेतु का अभाव हो जाता है। भावना के द्वारा भी सत्त्वदर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नैरात्म्य-दर्शन ही भावना को नहीं पनपने देगा।

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ॥ २१२ ॥

न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः।

बाध-रहित यथार्थस्वभाव का नैरात्म्य-दर्शनादि विपर्ययों से बाध नहीं हो सकता, क्योंकि सत्यार्थदर्शन में बुद्धि का पक्षपात स्वभावतः रहता है। यह निरोध का चतुर्थ आकार कहा गया—प्रणीततः।

वार्तिकालङ्कारः

नन्वहेतोरपि मृदुश्रद्धादिकस्यार्हत्वात् प्रहाणिर्भवत्येव। तत्कथमनुत्पत्तिर्दोषाणाम्। यद्यपि चोत्पत्तिर्दोषस्य तथाप्यन्तर्गतबाधकोत्पत्तिसामर्थ्ये शक्तोऽप्युत्पत्तुम्। नात्यन्तं प्ररोढुं समर्थो मलः। यथा स्यन्दिन्यां भुवि अग्निरुत्पन्नो न प्ररोहति। साम्ये तु स्थितस्य न दोषोत्पत्तिः। तथा हि—निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्येति।

न हि स्वभावो यत्नरहितेन निवर्त्तयितुं शक्यः। यत्नश्च दोषदर्शिनो गुणेषु वर्तते, दोषेषु च गुणदर्शिनः। न च सात्मीभूतनैरात्म्यदर्शनस्य। दोषेषु गुणदर्शनम्। न गुणेषु दोषदर्शनम्। अदर्शनं वा गुणेषु। नैरात्म्यदर्शनस्य निरुपद्रवत्वात्।

ततः स्वभावो भूतात्मा निरुपद्रव एव च। कथमस्य परित्यागः कर्त्तुं शक्यः सचेतसा ॥७८५॥
पक्षपातश्च चित्तस्य न दोषेषु प्रवर्तते। ततः तस्य न दोषाय यत्नः कश्चित्प्रवर्तते ॥७८६॥

निखिलपदार्थस्वभावपर्यालोचनसमर्थस्य यदि नाम दोषोत्पत्तिस्तथाप्यसौ सत्योऽर्थः। प्रहीण इव पथिकः संवेगसमागमात् मध्यस्थभावे वर्तमानो मार्ग एव यत्नमारभते गुणपक्षपातात्, न तु दोषेऽभिरमते।

वार्तिकालङ्का-व्याख्या

हो जाते हैं, तब भी दोषों की उत्पत्ति नहीं होती, क्यों कि यह कहा जा चुका है बुद्धि तत्त्व स्वभावतः तत्त्व-पक्षपाती होता है उसकी निवृत्ति महान् यत्न के द्वारा ही होती है। किन्तु प्रयत्न सदैव गुणों की उत्पत्ति में ही देखा जाता है दोषों में नहीं, दोषों में गुण-दर्शन कभी नहीं होता है सदैव गुणों में दोष-दर्शन या गुणों में अदर्शन होता है। नैरात्म्य-दर्शन स्वभावतः निरपवाद होता है। इससे यही तत्त्व स्थिर हो जाता है। पदार्थों एवं उनके ज्ञानों का जो यथार्थ स्वभाव होता है, उसका परित्याग कभी नहीं किया जा सकता ॥ ७८५ ॥

चित्त का पक्षपात दोषों में नहीं, अतः दोषों की उपेक्षा ही रहती है ॥ ७८६ ॥

निखिलपदार्थ के पर्यालोचन में समर्थ व्यक्ति यदि कभी अमार्गगामी हो जाता है तब अपने मार्ग के अन्वेषण में नितान्त व्यग्र हो उठता है, क्योंकि बुद्धि का गुणों में पक्षपात और दोषों से विरक्ति स्वभावसिद्ध है।

शंका—राग और द्वेष विवृताकार के होते हैं अतः दोनों में से किसी एक का बाध हो जाने पर दूसरे की उत्पत्ति देखी जाती है। किन्तु आत्मदर्शन और नैरात्म्य

आत्मग्रहैकयोनित्वात् कार्यकारणभावतः ॥ २१३ ॥

रागप्रतिघयोर्बाधा भेदेऽपि न परस्परम् ।

राग और प्रतिघ दोनों एक ही आत्मग्रह से उत्पन्न होते हैं, अतः उनका परस्पर भेद होने पर भी बाध्य-बाधक भाव नहीं होता । उनका कार्यकारणभाव होने के कारण भी बाध्य-बोधन भाव नहीं होता ।

मोहाविरोधान्मैत्र्यादेः नात्यन्तं दोषनिग्रहः ॥ २१४ ॥

तन्मूलाश्च मलाः सर्वे स च सत्कायदर्शनम् ।

मैत्री-करुणादि द्वेष के अविरोधी न होने के कारण मैत्र्यादि से द्वेषादि दोषों का निग्रह नहीं होता ॥ २१३-१४ ॥ सभी दोष मोहमूलक होते हैं और मोहसत्काय-दर्शनात्मक होता है ।

वार्तिकालङ्कारः

ननु च रागद्वेषयोर्विपरीताकारत्वेऽपि नैकस्यैव बाधा । बाधितस्य रागस्य द्वेषेण पुनर्बाधकत्वदृष्टेः । तथा द्वेषस्य । तथा नैरात्म्यात्मदर्शनयोरपि स्यात् । नैतदस्ति यस्मात्—आत्मग्रहैकयोनित्वादिति ।

द्वयोरप्यात्मग्रहकारणत्वात् सत्यात्मग्रहेनात्यन्तमेकस्याप्युच्छेदः । सत्यपि परस्परवैपरीत्ये अयुगपद्भावश्च स्यात् । किञ्च । कार्यकारणभावादपि यो हि यत्र विवक्षितो दुःखहेतौ स पीडितो नियमेन सुखहेत्वर्थमिच्छति तत्रान्यत्र वा । तेनानयोः कार्यकारणभावः सुखहेतौ अनुगृहीतो नियमेन तदुपघात इति प्रतिघवान् । अतः कार्यकारणभावात् न बाधा भेदेऽपि रागप्रतिघयोः । अत एव—मोहाविरोधान्मैत्र्यादेरिति ।

यद्यपि द्वेषस्य प्रतिपक्षो मैत्री । रागस्याशुभा । विहिंसाप्रतिपक्षः करुणा । ईर्ष्याप्रतिपक्षो मुदिता । सर्वस्य प्रतिपक्ष उपेक्षा । तथापि नात्यन्तं दोषनिग्रहः मोहाविरोधात् ।

ननु सत्यपि मोहेऽहङ्काराभावात् सकलदोषप्रहाणमेव । नैतत्साधीयः । स एव मोहः सत्कायदर्शनम् । क्लिष्टो हि मोहः सत्कायदर्शनमेव ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दर्शन में यह परिस्थिति कभी नहीं होती कि एकबार निरस्त आत्मदर्शन का प्ररोहण पुनः हो । आत्मग्रह के रहने पर एक का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता, कार्यकारणभाव की प्रकृति भी यही है कि दुःख-हेतु से पीडित व्यक्ति नियमतः सुखहेतु को प्राप्ति में प्रयत्नशील होता है । अतः नैरात्म्य-दर्शन के द्वारा आत्मदर्शन का परिहाण ही व्यवस्थित होता है । यद्यपि मैत्री भावना द्वेष का प्रतिपक्षी है, राग का अशुभ चिन्तन विहिंसा का करुणा, ईर्ष्या का मुदिता एवं उपेक्षा सभी दुःखों की प्रतिपक्ष भावना है । तथापि दोषों का अत्यन्त विग्रह नहीं हो पाता क्योंकि मोह का अविरोध है ।

शङ्का—यद्यपि मोह के रहने पर अहंकार का अभाव होने के कारण सकल दोषों का परिहाण ही होना चाहिए ।

समाधान—मोहतत्त्व को ही सत्कायदर्शन या आत्मा आत्मीय दर्शन कहा जाता है मोह भी क्लिष्ट है और सत्कायदर्शन भी । अर्हत् महापुरुषों में जो अज्ञान होता है वह अक्लिष्ट इसलिए होता है कि वे सत्कायदर्शन से सर्वथा रहित होते हैं ।

विद्यायाः प्रतिपक्षत्वात् चैत्तत्वेनोपलम्भितः ॥ २१५ ॥
मिथ्योपलब्धिरज्ञानयुक्तेश्चान्यदयुक्तिमत् ।

नैरात्म्यदर्शन विद्यारूप है और उसका प्रतिपक्ष है—अविद्या। विद्या का अभावमात्र अविद्या नहीं, अपितु अधर्म, अनृत के समान भावात्म पदार्थ है। चैत्तसि और ज्ञानात्मक होने से अविद्या भावात्मक है।

वार्तिकालङ्कारः

अर्हतान्तु यदज्ञानं न तत् क्लिष्टमतो न ते। मोहेऽप्ययुक्तसन्ताना हीनसत्कायदर्शनाः ॥७८७॥

तथा हि—विद्यायाः प्रतिपक्षत्वादिति।

नन्वसंप्रख्यानरूपाऽविद्या सत्कायदर्शनन्तु प्रतिपत्तिरूपं तत्कथं सत्कायदर्शनमेवाविद्येति। न दोषो यतः—

असंप्रख्यानरूपादेरविद्यात्वमितैरपि। तत्त्वं स्यादुपधीनां हि क्षये किमवशिष्यते ॥७८८॥

असंप्रख्यानं हि निरुपधिशेषे निर्वाणे निरोधसमापत्तौ च मुख्ये। अथ तस्य क्लेशनिदानत्वं नास्ति। न तर्हि तदविद्यालक्षणम्। सत्कायदृष्टिरेव तन्निदानत्वादविद्या नापरा। यतः—

विद्याविरुद्धो धर्मोऽन्योऽविद्याऽधर्मानृतादिवत्। विद्या नैरात्म्यदृष्टिस्तु तद्विरोध्यात्मदर्शनम् ॥७८९॥

न तावद्विद्याभावोऽविद्या तद्भावस्य निर्वाणेऽपि भावात्। न चाभावो हेतुः। नापि तदन्यो, रूपादीनामविद्यात्वप्रसङ्गात्। तस्माद्विद्याविरुद्धो धर्मोऽविद्याऽधर्मानृतवत्। तच्च सत्कायदर्शनमेव। तथा हि—परानुग्रहलक्षणो धर्मस्तदभावमात्रं नाधर्मोऽपि तु तदन्यमात्रम्। अपि तु अनुग्रहविरुद्ध उपघातोऽधर्मः। तथा न भूतार्थप्रतिपादनाभावोऽनृतमपि त्वभूतप्रतिपादनमसत्यवचनम्। एवं सति सत्यार्थे यदा भ्रान्त्या नास्तितां मन्यमानोऽस्तीति प्रतिपादयति। तदाऽसत्यता न स्यात्। असति च सत्यतां मन्यमानः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पूर्वपक्ष—अविद्या असंप्रख्यान रूप है और सत्कायदर्शन प्रख्यान रूप है, प्रतिपत्ति स्वरूप है अतः सत्कायदर्शन को अविद्या क्योंकर कह सकते हैं।

समाधान—अविद्यादि पदार्थ विद्या का विरोधी भावात्मक है, स्वोपाधिक पदार्थों का उपाधि की विषम अवस्था में अवशेष नहीं रह जाता है ॥ ७८९ ॥ विद्या का अभाव अविद्या नहीं माना जाता क्यों कि निर्वाण-अवस्था में भी अभाव का अवस्थान माना जाता है अभाव पदार्थ किसी का हेतु नहीं होता विद्या से अन्य पदार्थों को भी अविद्या नहीं कह सकते, क्योंकि रूपादि में भी अविद्यात्व प्रसक्त होता है। परिशेषतः विद्याविरुद्ध पदार्थ को वैसे ही अविद्या कहा जाता है जैसे धर्मविरुद्ध को अधर्म। और अनृतविरुद्ध पदार्थ को अनृत, ये सब भावात्मक पदार्थ हैं। अतः अविद्या सत्काय दर्शनात्मक "अस्तिकायपुरुषः" है। परानुग्रह रूप धर्म के अभाव को अभाव नहीं कहा जाता है और न उससे अन्य पदार्थ मात्र को, अपितु धर्म से विरुद्ध भावात्मक पदार्थ को अधर्म कहा जाता है, ऐसे ही भूतार्थप्रतिपादन का अभाव अनृत नहीं, अपितु अयथार्थ प्रतिपादन ही अनृत कहलाता है। सत्यवस्तु में भ्रान्ति के कारण नास्तितता का भान होता है। तब उसे अनृत क्यों नहीं कहा जाता है, इसी प्रकार सत्यता के न होने पर भी मृषारूपता क्यों नहीं होती, इसका उत्तर यह है—शब्द सदैव विकल्प-विषयक होते हैं। अतः सत्यवचन से विरुद्ध पदार्थ मृषा कहा जाता है। शब्द सदैव अध्यवसीयमान

वार्तिकालङ्कारः

तदा मृषा स्यात् । नैतदस्ति ।

विकल्प्यविषयाः शब्दाः यद्यथा वस्तुनिश्चितम् । तथैव वचनं सत्यमन्यथा वचनं मृषा ॥७९०॥

अध्यवसीयमानवस्तुविषया हि शब्दाः । अध्यवसायानुरूपप्रतिपादनमेव सत्यता- ऽन्यथा असत्यतेति न्यायः । बोधिसत्त्वानान्तु भ्रान्त्यापि सत्त्वविसंवादनं परमवद्यम् । अत एव ते सर्वाकारज्ञतायामभियोगिनो भवन्ति । ततः सत्कायदृष्टेरेवाविद्यान्यस्य विद्याप्रतिपक्षत्वाभावात् । चैत्तत्वेन च कारणेनोपलब्धितः । मिथ्योपलब्धिरेवाविद्या । आश्रयालम्बनाकारकालद्रव्यसमताभिः समं प्रयुक्ताः । इति सम्प्रयुक्ताः । उक्तं च "प्रज्ञाकारविपरीतप्रतिपत्तिरूपैवाविद्येति" । तत्र तत्र सूत्र उक्ताः । "तत्र कतमोऽज्ञानविगमो यो यथाभूतानां धर्माणामध्यारोपाधिगमः । तथा याः काश्चन लोकोपचारोपपत्तयः सर्वास्ता आत्माभिनिवेशतो भवन्ति । आत्माभिनिवेशनिगमतो न भवन्ति" । नन्वात्माभिनिवेशो दृष्टिः । सा चाविद्यासंप्रयुक्ता । ततो दृष्टिद्वारेणाविद्यैवोक्तेति मन्तव्यम् । नान्तरीयकत्वात् न तु सत्कायदृष्टिरेवाविद्येति । नैतदपि साधीयः ।

अविद्याङ्गे हि निर्देश्ये तत्स्वरूपप्रकाशनम् । युक्ता तदन्यनिर्देशः कौशलं न निवेदयेत् ॥७९१॥

प्रमाणमत्र न किञ्चित् अविद्यैवं निवेदिता । विपर्यये प्रमाणन्तु यथावदुपदर्शितम् ॥७९२॥

दृष्टिद्वारेणाविद्यैव निर्दृष्टेति न किञ्चिदत्र प्रमाणम् । सत्कायदृष्टिरेव त्वविद्या सर्वदोषनिदानम् इत्युपदर्शितमत्र प्रमाणम् ।

ननु सत्कायदृष्टिर्मोहजदेशभूता । मोहस्तु सकलक्लेशानुगतोऽसंप्रख्यानलक्षणो- ऽन्यथा वा स कथं सत्कायदृष्टिरुच्यते । विशेषशब्दस्य सामान्यार्थत्वाभावात् । तथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पदार्थ ही विषय करते हैं, अध्यवसाय अनुरूप वस्तु का प्रतिपादन ही सत्यता है । और अन्यथा प्रतिपादन अनृतता या असत्यता है । बोधिसत्त्वों को तो भ्रान्ति से भी सत्त्व-संवादन नहीं होता, अतएव वे सर्वाकारज्ञता के अधिकारी माने जाते हैं । फलतः सत्कायदृष्टि ही अविद्या है, अन्य कोई पदार्थ विद्या का प्रतिपक्षी नहीं होता । सत्काय-दृष्टि ही चित्त से सम्प्रयुक्त है, अतः मिथ्या और कारणत्वेन उपलब्धि या मिथ्या प्रत्यय कहलाती है । आश्रय, आलम्बन, आकार, काल और द्रव्य की समता अधिकांश २।३४ में निर्दिष्ट हुई है—"तत्र कतमोऽज्ञानविगमो यो यथाभूतानां धर्माणामध्यारोपाधिगमः । तथा याः काश्चन लोकोपचारोपपत्तयः सर्वास्ता आत्माभिनिवेशतो भवन्ति, आत्मा-भिनिवेशनिगमतो न भवन्ति ।"

शंका—आत्माभिनिवेश तो एक दृष्टि है, वह अविद्या-सम्प्रयुक्त होती है । दृष्टि के माध्यम से अविद्या ही कही जाती है । नान्तरीयक होने के कारण, न कि सत्कायदृष्टि ही अविद्या है ।

समाधान—कथित शंका उचित नहीं, क्योंकि अविद्याङ्ग के निर्देश-प्रसङ्ग में तत्स्वरूप-प्रत्याशन्न ही युक्ति-युक्त है, उससे अन्य पदार्थ का निर्देश उचित नहीं ॥ ७९१ ॥ 'अविद्या ऐसी होती है'—इस प्रकार कोई प्रमाण का प्रदर्शन नहीं किया गया, हाँ, विपर्यय में प्रमाण यथेष्ट उपदर्शित है ॥ ७९२ ॥ दृष्टि-द्वारा अविद्या ही निर्दृष्ट है—यह कोई प्रमाण का निर्देश नहीं । सत्कायदृष्टि ही तो वह अविद्या है, जो सभी दोषों का कारण है—इसमें प्रमाण प्रदर्शित है ।

व्याख्येयोऽत्र विरोधो यः तद्विरोधाच्च तन्मयैः ॥ २१६ ॥
विरोधः शून्यतादृष्टेः सर्वदोषैः प्रसिद्ध्यति ।

यदि सत्काय दृष्टि ही अविद्या है, तब 'दृष्टि-सम्प्रयुक्ता अविद्या' ऐसा कहा सम्भव न होगा, क्योंकि वही वस्तु उसी से सम्प्रयुक्त नहीं होती, अपितु भिन्न चित्त और चैतसिकों में सम्प्रयुक्तत्व-व्यवहार होता है, जैसा कि आचार्य वसुबन्धु ने सम्प्रयुक्तत्व का लक्षण किया है—"चित्तचैतसाः । साश्रयालम्बनाकाराः सम्प्रयुक्ताश्च पञ्चधा ।" (अभि० कोश० २।३४) । अर्थात् (१) आश्रय-समता, (२) आलम्बन-समता, (३) आकार-समता, (४) काल-समता और (५) द्रव्य-समता । इन पाँच प्रकार की समताओं से युक्त चित्त-चैतसिकों को सम्प्रयुक्त कहा जाता है। यद्यपि सत्काय दृष्टि अविद्या ही है, तथापि दृष्टि-विशेष अविद्या और अविद्या सामान्य अविद्या होने से दोनों में मानकर सम्प्रयुक्तत्व-व्यवहार का निर्वाह किया जा सकता है ।

सभी क्लेश सत्कायदृष्टि-प्रसूत हैं, अतः नैरात्म्य दृष्टि के द्वारा सब क्लेशों की निवृत्ति सिद्ध हो जाती है ।

वार्तिकालङ्कारः

यद्यविद्यादृष्टिरेव तदा दृष्टिसंप्रयुक्ताऽविद्येति संप्रयुक्तार्थो न स्यात् न स तेनैव संप्रयुक्तः । अत्र चोद्ये परिहारः । तदेवम्—व्याख्येयोऽत्रेति ।

सामान्यविशेषभावेन हि भेदप्रकल्पनया संप्रयुक्तार्थः । तद्यथा पलाशयुक्तं वनमिति । परमार्थतः पलाशस्वभावतैव कथिता एवं विशेषाभिधानेन तत्स्वभावोऽविद्यानिदानभूता प्रधान्येन निर्दिष्टा । यत आत्मदर्शनमविद्या, ततः तन्मूलकाः सर्व एव क्लेशाः । नैरात्म्यदर्शनात् मूलच्छेदकारिणो मूलच्छेदादुच्छिद्यन्ते । यतः सकलक्लेशविरोधि नैरात्म्यदर्शनं तच्च योगिनो न व्यपेतीति न पुनः क्लेशोदयः । ततो निःसरणाकारता निरोधस्य कथिता । एवञ्च—नाक्षयः प्राणिधर्मत्वादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—सत्कायदृष्टि तो मोह का एक भागमात्र है और मोह रागद्वेषादि सकल क्लेशों में अनुगत असंप्रख्यानलक्षण (अज्ञानात्मक) एक तत्त्व है, वह सत्काय दृष्टि क्योंकर कहलाएगा ? विशेष अज्ञान के वाचक 'सत्कायदृष्टि' का सामान्य अज्ञान अर्थ नहीं हो सकता । यदि अविद्या सत्कायदृष्टि है, तब अविद्या को दृष्टि से संप्रयुक्त नहीं कह सकते, क्योंकि सम्प्रयोजक और सम्प्रयुक्त एक नहीं होते ।

समाधान—यह सत्य है कि वही पदार्थ उसी से सम्प्रयुक्त नहीं होता किन्तु एक (मोह) सामान्य अज्ञान है और सत्कायदृष्टि विशेष अज्ञान है—इस प्रकार भेद की कल्पना करके वैसे ही सम्प्रयुक्तत्व का सम्पादन किया जा सकता है, जैसे—'पलाश-युक्तं वनम्' का । वस्तुतः वनं की पलाशावस्थता ही प्रदर्शित होती है, वैसे ही अविद्यामूलता ही प्रधानतः सभी क्लेशों में प्रदर्शित होती है, क्योंकि आत्मदर्शन (सत्कायदृष्टि) अविद्या है, सभी क्लेश तन्मूलक हैं, अतएव नैरात्म्य-दर्शनरूप विद्या से अविद्या के उच्छेद से सभी क्लेश उच्छिन्न हो जाते हैं । योगिगणों का नैरात्म्य-दर्शन कभी व्यपेत (उच्छिन्न) नहीं होता, फलतः योगियों में कभी भी क्लेशों का उदय नहीं होता । इस प्रकार निरोध की निःसरणाकारता प्रस्फुटित हो जाती है ।

नाक्षयः प्राणिधर्मत्वाद्रूपादिवदसिद्धितः ॥ २१७ ॥
सम्बन्धे प्रतिपक्षस्य त्यागसंसर्जनादपि ।
न काठिन्यवदुत्पत्तिः पुनर्दोषविरोधतः ॥ २१८ ॥
सात्मत्वेनानपायत्वादनेकान्ताच्च भस्मवत् ।
इत्यन्तरश्लोकौ ।

'रागादिरक्षयः, प्राणिधर्मत्वाद् रूपादिवत्'—यह अनुमान असिद्ध है, क्योंकि प्राणी या आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं कि प्राणधर्मत्वरूप हेतु सिद्ध होता। अपि च नैरात्म्यदर्शनरूप प्रतिपक्ष के रहते आत्मदर्शन का त्याग भी किया जा सकता है। जैसे अग्नि के सम्पर्क से विलीन (द्रुत) घृत पुनः नहीं कठिन होता, वैसे ही नैरात्मदर्शन-रूप अग्नि में भस्मसात् रागादि दोष पुनः उत्पन्न नहीं होते।

यः पश्यत्यात्मानं तत्राहमिति शाश्वतः स्नेहः ॥ २१९ ॥
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ।

जो व्यक्ति शरीर में आत्मदर्शी है, उसका आत्मा में शाश्वतिक स्नेह हो जाता है और 'मा न भूवं हि भूसम्'—इस प्रकार की तृष्णा से जन्म-मरण-प्रवाह में पड़ा रहता है।

वार्तिकालङ्कारः

नन्वात्मभावनादपि भवत्येव मोक्षः। तत् किं नैरात्म्यदर्शनेन। अत्राहागमः। "आत्मा…मन्तव्य" इत्यादिः। तदप्यसत्। यतः—यः पश्यत्यात्मानमिति।

आत्मदर्शी हि नियमेन आत्मनि शाश्वतेन स्नेहेन सम्बध्यते। स्नेहाच्च तत्सुखेषु तृष्णावान्। यस्य यत्र स्नेहः स तत्सुखे परितर्षवान्। यथा पुत्रादिसुखे।

नन्वात्मदर्शनादात्मनि स्नेहः इत्युक्तम्। किं काष्ठदर्शनादेः काष्ठे स्नेहः स्त्रीदर्शनादेव स्त्रियाम्। तस्मात् यः पश्यत्यात्मानं तत्र तस्य स्नेह इत्ययुक्तम्। नैतदस्ति। यस्यान्यत्र स्नेहः तस्यात्मनि न भवतीति कुतः।

स्नेहो दृश्यत एवात्मन्यत्र नास्ति विवादिता। आत्मस्नेहं विनान्यत्र स्नेह इत्यतिदुर्घटम् ॥७६३॥

यद्यात्मदर्शनमात्रकेण न स्नेहः स्नेह एव कस्यचिन्न स्यात् अन्यस्य कारणस्या-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—आत्म-दर्शन से भी मोक्ष का लाभ आगम-प्रदर्शित है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह. उ. ४।५।६)। अतः नैरात्म्य-दर्शन की क्या आवश्यकता ?

समाधान—आत्मदर्शी पुरुष नियमतः आत्मा में शाश्वत स्नेह बन्धन से बंध जाता है। स्नेह के कारण सुखों में तृष्णावान् होता है, जैसे पुत्रादि-स्नेह के कारण पुत्रादि में सदैव सुख की कामना रहती है, कामना सुदृढ रागबन्धन है।

शंका—यदि आत्मदर्शन से आत्मा में स्नेह होता है, तब पुत्रादि से कष्ट देखकर कष्ट में स्नेह होता है ? अतः आत्मदर्शन से आत्मा में स्नेह होता है—ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है।

समाधान—आत्मा में स्नेह देखा जाता है कष्टादि में नहीं—यह निर्विवाद तथ्य है किन्तु कष्टादि में आत्मदर्शन न होने के कारण स्नेह नहीं होता, अतः आत्मदर्शन के बिना अन्यत्र स्नेह का होना अत्यन्त दुर्घट है ।।७६३।। अर्थात् आत्मोपयोगी पदार्थ में

गुणदर्शी परितृष्यन्ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ॥ २२० ॥

तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत् स संसारे ।

आत्मा में शुचित्वादि गुणों को देखकर 'ममेतं सुखम्'—ऐसी तृष्णा के आधार पर सुख-साधनों की खोज में गर्भवासादि के चक्रव्यूह में फँस जाता है। आत्मात्मीय-अभिनिवेशों के कारण आत्ममोह की स्थिति-पर्यन्त संसार में ही पड़ा रहता है।

वार्तिकालङ्कारः

भावात् । काष्ठञ्च आत्मोपयोगि न पश्यति । तेन न स्नेहः । यस्य चात्मोपयोगिनि स्नेहः स कथमात्मनि न स्नेहवान् । अथ सत्त्वविशेषादात्मनि स्नेह एव नास्ति । परत्र तु महानुभावतया करुणातः स्नेहवान् । तदसत् ।

महानुभावता नाम परोपकरणं यदि । अप्रेक्षापूर्वकारित्वे तथा सत्यसमंजसम् ॥७९४॥

आत्मानं परित्यज्य परोपकारणीकुर्वता स्वार्थं महदप्रेक्षापूर्वकारित्वं आत्मनि प्रकटितं स्यात् ।

अथ परार्थक्रियैव सुखम् । तथा च सति ।

सुखत्वासङ्गसम्मूढः कथं मुक्तः तथा च सः । गणिकास्वाङ्गसम्मर्दमपि कुर्याद् स तादृशः ॥७९५॥
असत्यव्यवहारोऽयमिति चेत् नास्त्यसत्यता ॥

स्वात्मव्यवस्थितो यथा ध्यानसुखमाकांक्षति तथा गणिकाङ्गसङ्गमसुखमपि । न खलु सुखस्य तस्यापरस्य वा विशेषः । असत्यता तथा स्यादिति चेत् नासत्यता विशेषाभावात् । नरकादिगमनान्न युक्तमिति चेत् । न । महानुभावताविशेषात् परार्थं नरकगमनाङ्गीकरणम् । महती महानुभावतेति तथाभ्यासादसत्यव्यवहारोऽन्यश्च सुखहेतुः । ततो वरं सत्यव्यवहारोऽङ्गीकृतः । न विशेषाभावात् । तथा चात्मनि सतृष्णस्तद्वशाद्दोषादोषौ समीकुर्यात् । ततो दोषतिरस्करणे—गुणदर्शी परितृष्यन्निति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्नेह होता है। कष्ट आत्मोपयोगी नहीं, अतः उसमें स्नेह नहीं होता। जिसका आमापयोगी पदार्थ में स्नेह होता है, उसका आत्मा में स्नेह क्यों न होगा ?

शंका—कतिपय महानुभाव ऐसे देखे जाते हैं, जिनकी अकारण करुणा दुःखी जनों पर होती है, अतः आत्मोपकार-दर्शन स्नेह का कारण क्यों होगा ?

समाधान—यदि परोपकार का ही नाम महानुभावता है, तब उसमें प्रेक्षापूर्वकारित्व नहीं हो सकता ॥ ७९४ ॥ प्रेक्षापूर्वकारी पुरोपकार में आत्मसुख देख कर ही प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। यदि पदार्थ-साधन करना ही सुख माना जाय, तब वैसा सुखत्वासङ्गी पुरुष गणिकाओं से स्वाङ्ग-सम्मर्दन भी करा सकता है, उसी को सुख मान कर।? ७९६ ॥ यदि कहा जाय कि वैसा व्यवहार असत्य है। तब उसे असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। जब कि सभ्य-पुरुष ध्यानादि-जन्य सुख की आकांक्षा करता है, तब गणिकाङ्ग-मर्दनरूप सुख क्यों नहीं चाहेगा ? दोनों प्रकार के सुखों में स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं, तब एक को चाहेगा और दूसरे को नहीं—इसका क्या कारण ? यदि कहा जाय कि वैसा करने से नरक-यातना का भय है। तब अपनी महानुभावता बनाये रखने के लिए उसका भी सहन कर सकता है। यदि कहा जाय कि यह महती महानुभावता ही है जो असत्य व्यवहार का परित्याग कर सत्य व्यवहार अपनाया गया। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि जब उसका अभ्यास वैसा है, तब

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ ॥ २२१ ॥
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ।

आत्मा के मानने पर स्वपर-विभाग एवं स्व में राग और पर में द्वेष की सद्भावना होती है। रागद्वेष के सम्बन्ध से सभी क्लेश प्रसक्त हो जाते हैं।

नियमेनात्मनि स्निह्यंस्तदीये न विरज्यते ॥ २२२ ॥
न चास्त्यात्मनि निर्दोषे स्नेहापगमकारणम् ।

जिस व्यक्ति का आत्मा में नियमतः राग है, वह आत्मीय वस्तु में भी वैराग्य नहीं हो सकता, राग ही होगा। निर्दोष आत्मा में स्नेहादि के अपगम का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः आत्मा और आत्मीय पदार्थों में रागादि दोषों का होना स्वाभाविक है।

वार्तिकालङ्कारः

आत्मनि परमार्थतया विद्यमाने यस्तत्रोपकारः सोऽपि परमार्थः। ततः परमार्थोपकारी यः स एव गुणवानिति प्रतीयात्। ततो गुणदर्शी ममेति साधनान्युपादत्ते। तेनात्माभिनिवेशात् संसार इति। सुखसाधनं गर्तसूकरीसंस्पर्शमपि प्रार्थयते। तस्माद्—आत्मनि सति परसंज्ञेति।

आत्मपरविभागो हि परिग्रहद्वेषौ जनयेत्। ततः परिग्रहद्वेषसंप्रतिबद्धा ईर्ष्यामात्सर्यादयो दोषा भवन्ति।

अथापि स्यात्। आत्मन्येव स्नेहो नात्मीये तेनात्मीयस्नेहाभावात् असत्यव्यवहाराभावः। अत्रोच्यते—नियमेनात्मनीति।

आत्मनि हि स्नेहः प्रवर्तमानो न दोषमन्तरेणापैति। न च स्नेहवान् आत्मनि आत्मीये निःस्नेहः। तस्मादात्मनि आत्मीये च स्नेहवान् सकलदोषतिरस्करणेन सर्वत्रावृत्तिमानिति संसारसङ्गम एवास्याविरतः। अथात्मनि आत्मीये च स्नेहस्य संसारहेतुत्वात्, स्नेहसङ्गतस्य च दुष्टत्वात्। आत्मीयस्य न तत्र स्नेहः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दोनों सुखों में कोई अन्तर क्यों करेगा ? जबकि—आत्मा परमार्थ है, तब गुण-दोष-विवेक कर ही सत्त्वदर्शी प्रवृत्त होगा। सुख-साधनतया गर्तगत सूकरी के साथ भी संस्पर्श कर सकता है।

यह मैं हूँ और वह अन्य है—ऐसी भावना राग और द्वेष को जन्म देती है। उससे आत्म-परिग्रह और पर-द्वेष एवं ईर्ष्यादि दोष उत्पन्न होते हैं।

शंका—सत्काय-दृष्टि से यद्यपि आत्मा और आत्मीय भावना उद्बुद्ध होती है, तथापि आत्मा में ही स्नेह होता है, आत्मीय में स्नेह का अभाव होने से असत्य व्यवहार क्यों होगा ?

समाधान—आत्मा में प्रवर्तमान स्नेह दोष के बिना दूर नहीं होता। आत्मा और आत्मीय पदार्थ में स्नेहवान् व्यक्ति कभी निःस्नेह नहीं हो सकता। अतः आत्मा और आत्मीय वस्तु में स्नेह रखनेवाला व्यक्ति सभी दोषों का तिरस्कार करके समस्त व्यवहार में पुनः-पुनः प्रवृत्त होगा, फलतः उसके संसार-बन्धन की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। आत्मा और आत्मीय में स्नेह ही संसार का हेतु है। स्नेह दोषों का मूल है।

स्नेहः सदोष इति चेत् ततः किं तस्य वर्जनम् ॥ २२३ ॥
अदूषितेऽस्य विषये न शक्यं तस्य वर्जनम् ।

यद्यपि आत्मा निर्दोष है, तथापि स्नेह सदोष है। तब क्या करना चाहिए ? स्नेह का परित्याग कर देना चाहिए, किन्तु जब तक स्नेह के विषयीभूत आत्मा को दूषित नहीं किया जाता, तब तक स्नेह का त्याग नहीं किया जा सकता।

प्रहाणिरिच्छाद्वेषादेर्गुणदोषानुबन्धिनः ॥ २२४ ॥
तयोरदृष्टिविषये न तु बाह्येषु यः क्रमः ।

गुण-दर्शन-जनित इच्छा की निवृत्ति दोष-दर्शन से और दोष-दर्शन-जनित द्वेष की निवृत्ति गुण-दर्शन से होती है। यदि विषय में गुण और दोष का दर्शन नहीं होता, तब अनिच्छामात्र से विषय का त्याग हो जाता है। किन्तु वह बाह्यविषयों में होता है, आन्तरिक विषयों में नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

(४४) मार्गभावना—

अन्यदोषदुष्टत्वेऽपि स्नेहो न क्रियते किं पुनर्यत्र स्नेह एव दुष्टो भवति। तत्राह—स्नेहः सदोष इतीति।

अन्यदोषेण हि स्नेहो नेति विषयदोषाद्युक्तमेतत्। अदुष्टे तु विषये स्नेहाभावो न युक्तः। सुखहेतौ नास्ति दोषो गुणस्य भावात्। अथ स्नेह एव दोषः। भवतु किं भविष्यति। दुष्टत्वात् स्नेहस्य वर्जनमिति चेत्। नैतदस्ति। विषयदोषमन्तरेण स्नेहः परित्यागाभावात्। तस्मात्—प्रहाणिरिच्छाद्वेषादेरिति।

इच्छाद्वेषौ हि गुणदोषदर्शनाद् भवतः, तदभावान्न भवत इति न्यायः। आत्मसुखसाधनञ्च गुणः। तद्दुःखसाधनं दोषः। तच्चेद्विद्यते। नास्तीच्छाद्वेषप्रहाणम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(४४) मार्गभावना—

नैरात्म्य-दर्शन मार्ग है, वहाँ तक पहुँचने के लिए आत्मवादियों के विविध अभिनिवेशों का निरास करना होगा। यहाँ से उन्हीं अभिनिवेशों को सातरूपों में कहा जाता है।

१. जो विषय वैराग्यादि दोनों से युक्त है, उसमें स्नेह का न होना सम्भव है, किन्तु जहाँ स्नेह ही दोष है, वहाँ स्नेह का वर्जन क्योंकर होगा ? सुख के हेतुभूत पदार्थ में दोष नहीं, क्योंकि सुख-साधनत्वरूप गुण विद्यमान है। स्नेह को ही दोष क्यों न मान लिया जाय ? इससे क्या होगा ? स्नेह का वर्जन। कभी नहीं, क्योंकि विषयगत दोष के बिना स्नेह का परित्याग कभी नहीं हो सकता। फलतः विषयगत गुण-दर्शन से इच्छा और दोष-दर्शन से द्वेष मानना होगा, क्योंकि उसके बिना न इच्छा होती है और न द्वेष। आत्म-सुख का साधन है—गुण। आत्म के दुःख का साधन है—दोष, वे यदि विद्यमान हैं, तब इच्छा और द्वेष का प्रहाण नहीं हो सकता।

शंका—बाह्य वस्तु गुणवाली भी परित्याज्य होती है।

समाधान—बाह्य वस्तु जो बाह्य कारण के अधीन है, उसी का त्याग होता है और स्नेह एवं आत्मदर्शन के बल पर उपादीयमान होती है, उसका परित्याग क्योंकर होगा ? विषय में उपादानता स्नेह-विषयत्व और गुणत्व के द्वारा आती है, स्नेह का

न हि स्नेहगुणात् स्नेहः किन्त्वर्थगुणदर्शनात् ॥ २२५ ॥
कारणे विकले तस्मिन् कार्यं केन निवार्यते ।
इति संग्रहः ।
का वा सदोषता दृष्टा स्नेहे दुःखसमाश्रयः ॥ २२६ ॥
तथापि न विरागोऽत्र स्वत्वदृष्टेर्यथात्मनि ।

स्नेहगत गुण के द्वारा स्नेह नहीं किया जाता, अपितु पदार्थगत गुण-दर्शन से स्नेह उत्पन्न होता है। विषयगत गुणरूप कारण का दर्शन होने पर स्नेह का वारण कौन कर सकता है।

स्नेह में वह कौन-सी सदोषता देखी गई है, जिससे वह त्याज्य माना जाता है? हाँ आत्मा में स्नेह करने से उसके सुख-साधनों में तृष्णा होने के कारण दुःखभूत संसार प्रसक्त होता है ॥ २२६ ॥

न तैर्विना दुःखहेतुरात्मा चेत् तेऽपि तादृशाः ॥ २२७ ॥
निर्दोषं दुःखमप्येवं वैराग्यं न द्वयोस्ततः ।

यदि स्नेह आदि गुणों के बिना आत्मा दुःख का हेतु नहीं होता है, तब स्नेहादि भी आत्मा के बिना दुःख के हेतु नहीं होते। फलतः दोनों परस्पर सापेक्ष होकर दुःख के हेतु होते हैं। दुःख के हेतुओं से वैराग्य यदि अपेक्षित है तो सभी से चाहिए।

वार्तिकालङ्कारः

अथापि स्यात्। बाह्यं वस्तु गुणवदपि परित्यज्यते। तदप्यसत्। बाह्यं वस्तु हि बाह्यकारणाधीनं परित्यज्यते स्नेहात्मदर्शनबलादुपजायमानोऽपरापरः कथं परित्यक्तुं शक्यः। विषयस्य हि स्नेहविषयत्वमुपादानञ्च गुणत्वेन तदभावात्। तत्र स्नेहपरित्यागोऽनुपादानञ्च। स्नेहस्य तु न गुणवत्त्वात् उपादानमपि तु विषयगुणात्। ततो विषयगुणकारणसद्भावात् कुतः स्नेहस्यानुदयः। तदुक्तम्—नहि स्नेहगुणादिति। इति संग्रहः।

अपि च—का वा सदोषतेति।

आत्मा हि प्रथमं दुःखसमाश्रयः। आत्मनि सति पश्चात् स्नेहो दुःखस्य कारणम्। आत्माभावे तु कस्य दुःखम्। तत उभयस्यापि दुःखहेतुत्वात् द्वयोरपि न विरागो न चैकत्रापि। अथापि स्याद्। आत्मनि दुःखहेतुत्वं परोपाधिक न तस्यापि स्वगतो दोषः। आत्मस्नेहधर्माधर्मसंस्कारसहायः आत्मा दुःखहेतुरत्राह—न तैर्विना दुःखहेतुरात्मेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

परित्याग अनुपादानता के कारण होता है। स्नेह में गुणवत्त्वेन उपादानता नहीं मानी जाती, अपितु विषयगत गुणत्व के कारण, अतः विषयगत गुण का सद्भाव होने के कारण स्नेह का अनुदय क्यों होगा?

३. अपि च आत्मा पहले दुःख का आश्रय होता है और पश्चात् आत्मा में स्नेह दुःख का कारण होता है। आत्मा का अभाव होने पर किस को दुःख होगा? अतः आत्मा और स्नेह दोनों ही दुःख के हेतु हैं, फिर भी न तो दोनों से और न एक से वैराग्य होता है।

४. शंका—आत्मा में दुःख-हेतुता स्वतः नहीं, अपितु परोपाधिक है, अतः उसमें स्वयं दोष नहीं। आत्मगत स्नेह, धर्म, अधर्म और संस्कारों की सहायता से आत्मा दुःख का हेतु है।

दुःखभावनया स्याच्चेदहिदष्टाङ्गहानिवत् ॥ २२८ ॥
आत्मीयबुद्धिहान्यात्र त्यागो न तु विपर्यये ।
उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु ॥ २२९ ॥
सम्बन्धी केन वार्येत वैराग्यं तत्र तत् कुतः ।

स्नेहादि में दुःखभावना से उनकी यदि हानि होती है तो, उसी प्रकार—जैसे सर्पदष्ट-अङ्ग का त्याग । आत्मीय बुद्धि की हानि से ही स्नेहादि का परित्याग सम्भव है । आत्मबुद्धि के रहने पर त्याग सम्भव नहीं । अन्यथा कारणत्वेन स्वीकृत इन्द्रियादि में 'हीयेत' कभी सम्भव नहीं, सारांश यह है कि जिस पदार्थ का त्याग करना है, उसमें आत्मीय बुद्धि की हानि नियमतः अपेक्षित है ।

प्रत्यक्षमेव सर्वस्य केशादिषु कलेवरात् ॥ २३० ॥
च्युतेषु सा घृणाबुद्धिर्जायतेऽन्यत्र सस्पृहा ।

यह प्रत्यक्ष देखा गया है कि जब तक केश और नखादि को काटकर शरीर से पृथक् नहीं कर दिया जाता तब तक उनमें आत्मबुद्धि बनी रहती है, उनसे घृणा नहीं होती । और शरीर से पृथक् कर देने पर आत्मीय-बुद्धि के न रहने से उनमें घृणा हो जाती है ।

वार्तिकालङ्कारः

नखल्वनिर्दोषे वैराग्यं कस्यचित् न चात्मस्नेहोदय आत्मानमाश्रयमन्तरेण दुःखहेतवोऽतो न तेष्वात्मवत् सदोषाः । अतो न वैराग्यसम्भवः । अन्यच्च—दुःखभावनया-स्याच्चेदिति ।

ननु सुखहेतुत्वं स्नेहस्य । हेतुतस्तद्विपर्ययसम्भवाद् वैराग्यम् । न खल्वपकारिणि स्नेहः ।

अत्रोच्यते—नात्मीयबुद्धिविषये दुःखहेतावपि स्नेहविगमो दृष्टः । तस्मादात्मीयबुद्धिपरित्यागे वैराग्यम् । आत्मीयबुद्धेरेव परित्याग इति चेत् । नोपभोगाश्रयत्वेन प्रतिपन्नेषु शरीरादिषु कस्यचित् आत्मीयबुद्धिविगमः । तथा हि देवः स्यां नागः स्यामिति विशिष्टं शरीरादि मम स्यादिति तेष्वात्मीयबुद्धिं विधत्ते । तत एवंभूतबुद्धिमानेव कथं विरक्तः । तथा हि—प्रत्यक्षमेव सर्वस्येति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—दोष-दर्शन के बिना न तो किसी वस्तु से वैराग्य होता है और न आत्म-दर्शन के बिना स्नेह का उदय । अतः दुःख के कथित हेतु भी आत्मा के समान सदोष होते हैं, फलतः वैराग्य सम्भव नहीं ।

५. शंका—स्नेह का कारण केवल आत्मीय बुद्धि नहीं अपितु सुख-हेतुत्व भी है । दुःख के हेतुभूत आत्मीय पदार्थ में भी स्नेह नहीं होता, अपकारी आत्मीय जन में भी स्नेह कौन करता है ?

समाधान—जिसमें आत्मीय बुद्धि हो गई, उसमें दुःख की कारणता होने पर भी स्नेह का विगम नहीं देखा जाता । अतः आत्मीय बुद्धि के परित्याग में वैराग्यमात्र ही कारण है । आत्मीय बुद्धि से ही परित्याग नहीं होता, क्योंकि उपभोगाश्रयत्वेन निश्चित शरीरादि में आत्मीय बुद्धि का विगम नहीं होता प्रत्युत 'अहं देवः स्याम्', 'नागः स्याम'—इस प्रकार उत्तरोत्तर शरीर-ग्रहण में राग होता जाता है । फलतः

समवायादि सम्बन्धजनिता तत्र हि स्वधीः ॥ २३१ ॥
सम्बन्धा स तथैवेति दृष्टावपि न हीयते ।

समवायादि सम्बन्ध से आत्मगत सुखादि का ज्ञान होता है अर्थात् आत्मा का सुखादि गुणों के साथ समवाय सम्बन्ध, शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध, शरीरगत रूपादि के साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध और श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ संयोग सम्बन्ध होता है, अतः सुखादि का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह दोष-दर्शन से भी निवृत्त नहीं होता।

समवायाद्यभावेऽपि सर्वत्रास्त्युपकारिता ॥ २३२ ॥

यदि समवायादि को नहीं भी माना जाता, तब भी बुद्ध्यादि में उपकारिता का अपलाप नहीं किया जा सकता॥ २३२ ॥

दुःखोपकारान्न भवेदंगुल्यामिव चेत् स्वधीः ।
न ह्येकान्तेन तद्दुखं भूयसा सविषान्नवत् ॥ २३३ ॥

वह उपकारिता बुद्धि दुःख-साधनता के कारण सर्पदष्ट-अंगुलि में जैसे नहीं होती, वैसे आत्मादि में नियमतः दुःख-साधनता नहीं होती, अपितु सविषान्न-भक्षण के समान सुखजनकता भी देखी जाती है ॥ २३३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदा हि केशादिषूपभोगविषयता तदा सस्पृहतात्मीयबुद्धिजन्मिका। यदा तु विपर्ययः तदा वैराग्यं सस्पृहताविगमस्वभावं नान्यथेति विभागः। किञ्च वैशेषिकादीनाम्—समवायादिसम्बन्धजनितेति ।

सुखादिना समवायसम्बन्धः। शरीरेण संयोगः। शरीराश्रितं रूपादिभिः संयुक्तसमवायः। रूपत्वादिभिः समवेतसमवायः। श्रोत्रेन्द्रियेण संयोगः। चक्षुरादिना सांयोगिसंयोगः। इत्यात्मसम्बन्धो न व्यपैति। ततो दोषदर्शनेऽपि न हीयते तेषु स्नेहः। अथ समवायादिसम्बन्धं नाङ्गीकुर्यात्। तत्रापि परिहारः। ततः—समवायाद्यभावेऽपीति।

उपकारप्रभावितो हि सर्वत्र स्नेहः। तेन कुतो वैराग्यादयः। अथ परः प्रत्यवतिष्ठेत। यतो हि—दुःखोपकारानुभवेदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आत्मीय बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति विरक्त कैसे होगा ? केश-नखादि के विषय में जबतक आत्मीय बुद्धि रहती है, तब तक वैराग्य नहीं होता। हाँ, केशादि के कटकर शरीर से पृथक् हो जाने पर आत्मीय बुद्धि के न रहने पर ही उनसे घृणा होती है।

६. वैशेषिकात्मवाद—

वैशेषिकगण आत्मा का सुखादि के साथ समवाय सम्बन्ध, शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध, शरीराश्रित रूपादि के साथ संयुक्त-समवाय सम्बन्ध, रूपत्वादि के साथ संयुक्त समवेत-समवाय सम्बन्ध, श्रोत्रेन्द्रिय के साथ संयोग सम्बन्ध मानते हैं। इस प्रकार आत्मा का जो वस्तुमात्र के साथ सम्बन्ध स्थापित है। वह न तो दोष-दर्शनमात्र से टूट सकता है और न उनमें स्नेह समाप्त हो सकता है।

यदि समवायादि सम्बन्ध नहीं माना जाता, तब भी आत्मादि में उपकारप्रभावित जो सहज स्नेह है, उससे वैराग्योदय क्योंकर होगा ?

७. अन्य (न्यायवादी) का मत—

जैसे आत्मादि से दुःख होता है, वैसे ही सुख भी तो होता है। सविष अन्न के

विशिष्टसुखसङ्गात् स्यात् तद्विरुद्धं विरागिता।
किञ्चित् परित्यजेत् सौख्यं विशिष्टसुखतृष्णया ॥ २३४ ॥
नैरात्म्ये तु यथालाभमात्मस्नेहात् प्रवर्तते।
अलाभे मत्तकामिन्या दृष्टा तिर्यक्षु कामिता ॥ २३५ ॥

विशिष्ट सुख की लिप्सा में कभी-कभी स्वल्प सुख का त्याग भी देखा जाता है किन्तु नैरात्म्यवाद में कोई सुख है ही नहीं, सभी सुख दुःखरूप हैं। तब किसका त्याग और किसमें अनुराग होगा ? फलतः दुःख में भी आरोपित सुख के कारण प्रवृत्त हो सकता है, जैसा कि लोक-प्रसिद्ध है कि मद-मत्त कामिनी का लाभ न होने पर कामुक व्यक्ति पशुओं के साथ दुष्कर्म कर बैठता है ॥ २३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यथा तद् दुःखं तथा सुखमपि। सविषान्नवत्। न हि सविषमन्नं दुःखमेव। सुखत्वस्यापि सम्भवात्। तथा गर्तसूकरादिशरीरं दुःखमपि सुखमेव। कथञ्चिदतो न परित्यागविषयः इन्द्रियादिः। ननु तादृशं दुःखसम्मिश्रं दुःखमेव। एवं तर्हि सुखसङ्गतं सुखमेव इति प्राप्तम्। किञ्च—विशिष्टसुखसङ्गादिति।

यदि विशिष्टं सुखं लभ्येत स्यादन्यथा वैराग्यम्। न चाविवेकिनो विशिष्टसुखतृष्णा विवेकाभावादेव। विवेको भविष्यतीति चेत्। विवेक एव तर्हि दुःखहेतुरिति विवेक एव वैराग्यं स्यात्। अथ विवेकोऽवश्यमेव हेतुबलादेवं तर्हि नैरात्म्यावबोधतोऽपि विवेकवतोऽनिवार्य एवेति नात्मदर्शनान्मोक्षः। आत्मभावना त्वसम्भविनी।

यादृशः खल्वसावात्मा सुखादीनां समाश्रयः। तादृशे भावनाभावात् तादृशोऽसौ कुतोऽन्यथा ॥७६६॥

बुद्धिसुखदुःखेत्यादिसमाश्रयो ह्यसावात्मा। भाव्यमानोऽप्यसौ तादृश एव भवेत्। अथ पुरुषकाराश्रयाद् दोषरहितोऽसौ क्रियेत। तदसत्।

घृष्यमाणो हि नाङ्गारः शुक्लतामेति जातुचित्। निज. स्वभावसम्पर्कः केनचिन्न निवार्यते ॥७६७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भक्षण से जैसे दुःख के साथ सुख (तृप्त्यादि) भी होता है, वैसे ही आत्मादि पदार्थों से भी सुख-दुःख दोनों होते हैं। गर्त-सूकरादि का शरीर दुःख और सुख दोनों ही देता है। फलतः इन्द्रियादि प्रपञ्च केवल त्याग का विषय नहीं। यदि दुःख-मिश्रित सुख माना जाता है, तब सुख-मिश्रित दुःख को सुखरूप भी माना जा सकता है। इन्द्रियादि के त्याग से यदि विशिष्ट सुख का लाभ होता, तब इनसे वैराग्य भी हो सकता था किन्तु अविवेकी पुरुष को विशिष्ट सुख की तृष्णा विवेकाभाव के कारण है नहीं। यदि कहा जाय कि आज नहीं तो कल विवेक हो जायगा। तब तो विवेक ही दुःख का हेतु सिद्ध होता है, अतः विवेक से ही वैराग्य होना चाहिए। यदि विवेक हेतु के बल पर ऐसा है, तब नैरात्य-दर्शन भी विवेकी पुरुष को अनिवार्यरूप से होगा, फलतः आत्मदर्शन से मोक्ष नहीं होगा, आत्मभावना तो असम्भव ही है। आत्मा सुखादि का आधारभूत है, अतः उसकी भावना भी वैसी ही होगी, अतः सुखादिमान आत्मा अन्यथा (दुःखादिमान) क्योंकर होगा ? ॥ ७६६ ॥ अर्थात् बुद्धि सुख-दुःखादि आश्रयीभूत आत्मा भाव्यमान होकर भी वैसा ही रहेगा, अपने पुरुषार्थ से आत्मा को दोष-रहित करना वैसे ही सम्भव नहीं, जैसे बुझे हुए अंगार की लकड़ी को घिस-पिसाकर श्वेत

यस्यात्मा वल्लभस्तस्य स नाशं कथमिच्छति ।

जिस व्यक्ति का आत्मा में गाढ अनुराग है, वह उसके नाश (मोक्ष) की इच्छा कब करेगा ?

वार्तिकालङ्कारः

न च दुष्टः स्वयं स्वस्य दोषव्यावर्तनक्षमः । दुष्टोऽदुष्टः कथं भावी न सोऽन्यो भवति क्वचित् ॥७९८॥

अत एवाह—

आत्मवादे दोषाः—यस्यात्मा वल्लभ इति ।

दुष्टो रागादिना नात्मा तेन योगे पृथक् स्वयम् । न दण्डयोगे दण्डत्वं दण्डिनो भाविकं भवेत् ॥७९९॥
असंविदितरागादेर्न रागित्वादिसम्भवः । संवेदनाद्रागिता चेत् स्त्रीमान् स्यात् तन्निरूपणात् ॥८००॥
सम्बन्धाद्रागिता तस्य न तु रागादिवेदनात् । रागादिवेदने योगी रागी स्यात् पररागतः ॥८०१॥
व्यतिरेके विशेषः कः संयोगसमवाययोः । भेदस्याप्रतिपत्तिश्चेत् भेदस्तर्हि कुतो मतः ॥८०२॥
भिन्नमात्मस्वरूपं चेत् न वेत्यात्मा स्ववित् कथम् ।
न हि स्वरूपसंवित्तौ भ्रान्तिरस्तीति साधितम् ॥ ८०३ ॥
अथासंवेदनस्यास्य वेदनं घटरूपवत् । ग्राह्यत्वात् ग्राहकं तत् स्यात् नेति नास्यास्ति भोक्तृता ॥८०४॥
रसादीनां हि भोग्यत्वे भोक्तृता नोपलभ्यते । भोक्ता ततोऽन्य एव स्यात् एवञ्चेदनवस्थितिः ॥८०५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बनाना ॥ ७९७ ॥ दुष्ट पदार्थ अपने-आप अपने दोषों को दूर नहीं कर सकता । दुष्ट वस्तु कभी अदुष्ट होती कहीं और कभी भी नहीं देखी जाती ॥ ७९८ ॥ इस प्रकार विविध आत्मवादियों के द्वारा प्रदर्शित आत्मवाद सद्गुणों का प्रतीकार करने के लिए आत्मवाद में दोषों का प्रदर्शन आवश्यक हो जाता है, जिससे नैरात्म्यदर्शनरूप मार्ग प्रशस्त हो सके ।

(४५) आत्मवाद में दोष-प्रदर्शन—

जिसके मन में आत्मा अत्यन्त वल्लभ (प्रिय) है, वह उसका नाश कब चाहेगा ? आत्मा रागादि दोषों के द्वारा दूषित नहीं होता, अपितु स्वयं दोषपूर्ण है, क्योंकि जो पुरुष स्वयं दण्डी नहीं, वह दण्ड के सम्बन्ध से पारमार्थिक दण्डी नहीं हो सकता ॥७९९॥ रागादि का जिसको ज्ञान नहीं, वह वस्तुतः रागी नहीं बन सकता । संवेदन (चिन्तन) मात्र से यदि रागिता आती है, तब स्त्री के चिन्तनमात्र से स्त्रीमान हो जायगा ॥८००॥ राग के सम्बन्ध से कदाचित् रागिता यदि होती है, तब वीतराग योगी भी परकीय राग के सम्बन्ध से रागी हो जायगा ॥ ८०१ ॥ संयोग और समवाय दोनों में द्रव्य का व्यतिरेक (भेद) है, तब उनमें विशेषता क्या ? कि राग के समवाय सम्बन्ध से रहने पर ही पुरुष रागी होता है, अन्य सम्बन्ध से नहीं । भेद का यदि ज्ञान नहीं, तब भेद मानने की क्या आवश्यकता ? ॥ ८०२ ॥ रागादि पदार्थ आत्मस्वरूप हैं या भिन्न—ऐसा आत्मा यदि नहीं जानता, तब वह स्ववित् (स्वप्रकाश) क्योंकर होगा ? स्वरूप-संवेदन होने पर उसमें भेद-भ्रान्ति हो ही नहीं सकती—यह कहा जा चुका है ॥ ८०३ ॥ यदि असंविदित आत्मा में ज्ञान वैसे ही माना जाता है, जैसे घट में रूप । तो यह उचित नहीं, क्योंकि रूप ग्राह्य है और आत्मा ग्राहक । फिर भी आत्मा में भोक्तृत्व तो नहीं देखा जाता ॥ ८०४ ॥ रसादि में भोग्यत्व के उपलब्ध होने पर भी भोक्ता तो भोग्य से भिन्न ही मानना होगा । आत्मा को भोग्य मानने पर अनवस्था

वार्तिकालङ्कारः

भोगस्तत्समवेतश्चेत् तेन भोक्ता स कथ्यते । न भोगोऽनुभवादन्यः स च भोग्येऽप्यवस्थितः ॥८०६॥
मयि बुद्धिर्ममात्रेति प्रबोधो लोक ईदृशः । तेनाधार्याधारभाव उभयत्रापि विद्यते ॥८०७॥
अथानुमीयमानोऽसौ भोक्तेति व्यपदिश्यते । प्रत्यक्षासम्भवे तत्र नानुमानमिति स्थितिः ॥८०८॥
अथासौ योगिनामेव गम्य इत्युपदिश्यते । अतिसूक्ष्मतया तस्य वेदनं नास्मदादिभिः ॥८०९॥
इदानीं तावदस्माभिर्वेदनं नास्य सम्भवि । तामवस्थागतान्तु न विद्मः किं भविष्यति ॥८१०॥
योगिभावमुपक्षिप्य वस्तूनां यदि निर्णयः । अस्माकं ते योगिभिस्तस्य नाभावस्य न वेदनम् ॥८११॥

तस्मात् स्वसंवेदनरूप एवात्मा उपशान्तोऽन्यथा तस्याभावप्रसङ्गात् । स च सुखादिसंवेदनस्वभावो यद्यन्यथा भवेत् नाश एवास्य स्यात् । यस्य चात्मा वल्लभः स तस्य नाशं कथमिच्छेत् ।

दुःखे च तेनात्मेष्टव्यो यदि दुःखी सुखी न तु । दुःखव्यवस्थाविनाशे हि नष्ट एव स्वयं भवेत् ॥८१२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दोष प्रसक्त होता है ॥ ८०५ ॥ यदि कहा जाय कि ज्ञान (सुखादि के ज्ञान) को ही तो भोगपदार्थ माना जाता है । अनुभव से भिन्न कोई भोगपदार्थ नहीं, तब ग्राह्य और ग्राहक दोनों में भोक्तृत्व मानना होगा, क्योंकि 'मयि बुद्धि'—इस प्रतीति के आधार पर आत्मा में ज्ञान की आधारता और 'मम ज्ञान घटे'—इस अनुभूति के द्वारा ज्ञान की आधारता घटादि ग्राह्य पदार्थों में सिद्ध होती है ॥ ८०७ ॥ यदि भोक्ता प्रत्यक्ष-सिद्ध न होकर अनुमीयमान माना जाता है, तब वैसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्षा-गृहीत विषय में अनुमान की भी गति नहीं मानी जाती ॥ ८०८ ॥ यदि कहा जाय कि यह आत्मा योगियों के द्वारा ही जाना जा सकता है, क्योंकि वह नितान्त सूक्ष्म है, साधारण बुद्धि-गम्य नहीं । तब हमारा (बौद्धों का) कहना है कि इस समय तो आत्मा नाम की कोई वस्तु हमें उपलब्ध होती नहीं, योगियों के लिए हम नहीं कह सकते कि क्या होगा ॥ ८०९, ८१० ॥ अच्छा तो यही है कि अपने घरेलू वाद में योगियों को हस्तक्षेप न करने दिया जाय । नहीं तो आपके योगी आत्मा का समर्थन और हमारे योगी आत्मा का अभाव सिद्ध क्यों न कर देंगे ॥ ८११ ॥ [यहाँ पर प्रज्ञाकर गुप्त ने आत्मा के निराकरण में वही शैली अपनाई है जो कि कुमारिल भट्ट ने सर्वज्ञ के खण्डन में अपनाई थी ।

इह जन्मनि केषांचिन्न तावदुपलभ्यते
योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ।
योगिनां चास्मदादीनां त्वदुक्तप्रतियोगिनी] श्लो० वा० पृ० २१६ श्लोक।

परिशेषतः स्वसंवेदनरूप आत्मा ही मानना चाहिए । अन्यथा उसका अभाव प्रसक्त होगा । सुखादि का जैसे स्वसंवेदन होता है वैसा यदि आत्मा नहीं माना जाता तब उसका नाश प्रसक्त होता, किन्तु यह कहा जा चुका है कि आत्मा में जिस व्यक्ति का अत्यन्त प्रेम देखा जाता है जैसा पंचदशीकार ने कहा है—

मा न भूवमहं किं तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥

ऐसा व्यक्ति इस आत्मा का नाश कब चाहेगा । अतः आत्मा को दुःखी भावना होना सुखी नहीं । दुःखी अवस्था का नाश होने पर दुःखी आत्मा का नाश स्वतः प्रसक्त होता है ॥ ८१२ ॥ यदि कहा जाय आत्मा की दुःखावस्था का ही नाश होगा अवस्थावान्

वार्तिकालङ्कारः

अवस्थास्तस्य नाशिन्यो नावस्थातेति चेन्मतम् । तद्रूपव्यतिरेकेण नावस्थातोपलभ्यते ॥८१३॥

अथापि स्यात् । संविद्रूपता न विनश्यत्येव । सुखादीनामेव विनाशः । नैतदस्ति ।

सुखादिभेदात्संवित्तेरपि भेदः प्रसज्यते । सुखादिव्यतिरेकेण संवित्त्यनुपलम्भनात् ॥८१४॥

आत्मभूतेन भिन्नेन नाभिन्न उपलक्ष्यते । यथा तस्यैव भेदस्य नाभेद उपलक्ष्यते ॥८१५॥

संवित्संविदितिज्ञानाद्भेदो यदि विभेद्यते । अत एव परात्मापि परस्यात्मा स्वयं भवेत् ॥८१६॥

नैव संवेदनं तस्येत्येतदप्यतिदुर्घटम् । असंवेदनभावो हि सर्वोऽन्यः स्यादनात्मकः ॥८१७॥

पृथक् संवेदनं तच्चेत् एकता न क्वचिद् भवेत् । ततो न पूर्वापरयोरेकतेति विनाशिता ॥८१८॥

तथा च—

यस्यात्मावल्लभस्तस्य विनाशं कथमिच्छति । कूटस्थनित्यतायां हि तत्रैवास्थितिरिष्यताम् ॥८१९॥

प्रत्यभिज्ञाप्रभावाच्चेत् नात्रातीव प्रसज्यते । तद्रूपसम्भवे सैव प्रत्यभिज्ञा न किम्मता ॥८२०॥

विषयासम्भवेनादिवासनामात्रभाविनी । प्रत्यभिज्ञा पदार्थानां भवेन्न स्थितिकारणम् ॥८२१॥

ननु कूटस्थनित्यत्वे नोत्तरोत्तरवेदनम् । तथापि तस्य नित्यत्वं प्रसिध्यतु मते तव ॥८२२॥

समानतोपलम्भे वा स्यादेकत्वमिदं मतम् । असमानोपलम्भे तु स्पष्टे भेदे विनाशिता ॥८२३॥

यद्यपि नामकूटस्थनित्यतया नोत्तरोत्तरोपलम्भस्तथापि तस्य नित्यताऽविकारितैव । तथा क्रमाभावेन चोपलम्भस्य । तस्मादादि क्रमभाग्युपलम्भस्तस्य त्रुटयत्तयो-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आत्मा का नहीं, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अवस्थावान् पदार्थ से भिन्न अवस्था की उपलब्धि नहीं होती ॥ ८१२-१३ ॥ यदि कहा जाय कि केवल सुखादि का ही नाश होता है आत्मा की संविद् अवस्था का नाश नहीं होता, तो भी ऐसा नहीं कह सकते । आत्मा का सुखादि से भेद यदि मान जाता है तो संवित्ति का भी भेद मानना होगा, किन्तु सुखादि से भिन्न संवित्ति का उपलब्धि नहीं होती ॥ ८१४ ॥ जैसे भेद का अनुयोगी से भेद नहीं माना जाता, उसी प्रकार संवित्ति का भेद आत्मा से भी नहीं माना जा सकता ॥ ८१५ ॥ संवित्ति और संविदित ज्ञान के आधार पर भेद माना जाता है, तब परात्मा भी स्वात्मा हो जायेगा ॥ ८१६ ॥ ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता, ऐसा कहना अत्यन्त दुर्घट है । क्योंकि असंवेद भाव सर्वथा अनात्मक होता है ॥ ८१७ ॥ यदि संवेदन पृथक् माना जाता है तो आत्मा की एकता सिद्ध नहीं होगी, तब पूर्वापर की एकरूपता स्थिर न होने के कारण आत्मा की विनाशता निश्चित होती है । वार्तिककार ने जो कहा है, जिस व्यक्ति की दृष्टि में आत्मा अत्यन्त वल्लभ (प्रियतम) है वह उसका नाश कब चाहेगा । कूटस्थनित्यता भी अस्थिरता से युक्त हो जाती है, यदि प्रत्यभिज्ञा के प्रभाव से अस्थिरता प्रसक्त नहीं होती, तब तद्रूपता की स्थिति में प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं मानी जाती । प्रत्यभिज्ञा वह ज्ञान है जिसका विषय सम्भव नहीं । वासनामात्र प्रसूत प्रत्यभिज्ञा पदार्थों की स्थिरता एकता को प्रमाणित नहीं कर सकते ॥ ८२१ ॥ कूटस्थ नित्यत्व मानने पर उत्तरोत्तर वेदन नहीं हो सकेगा, तथापि सन्तानगत समानरूपता के आधार पर यदि नित्यत्व और एकत्व माना जाता है तब सदृशरूपता समानरूपता का उपलम्भ होने पर एकरूपता का विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ८२३ ॥ यद्यपि कूटस्थ नित्यतया उत्तरोत्तर उपलम्भ नहीं हो सकता तथापि आत्मा की नित्यता अविकारिता ही है । उपलम्भक क्रमाभाव होने पर पूर्व-पूर्व उपलम्भ का नाश ही प्रसक्त होता है । फलतः क्रमोपलम्भ की इच्छा

वार्तिकालङ्कारः

पलम्भनाश एव प्रसक्तः। एवं च क्रमोपलम्भेच्छायां नाशेच्छैव प्रसक्ता। ततश्च—यस्यात्मा वल्लभस्तस्येति।

अनुपलम्भं कथमिच्छतीति चेत्। मृताद्वरं दुर्बलता। वल्लभत्वेऽस्य जीवितं वरमस्तु न मृद्दृष्टिः जीवितस्योपरोधिनी। नन्वदृष्टेन तेन किं कर्तव्यमिति। पुनर्दर्शनमेषितव्यम्। तथा च सति क्रमभावित्वे स एव विनाशः। अयमपरोऽस्त्येवात्मवादिनो दोषः। अथवा समानरूपोपलम्भाद् एकता पूर्वापरयोर्युक्ता। भिन्नरूपोपलम्भे तु भिन्नतैव स्पष्टा। तथा च सति पूर्वकस्य विनाशः। एवं च यस्यात्मा वल्लभस्तस्य विनाशं कथमिच्छति।

अथवा बोधरूपतया आत्मा सर्व एक एव। स तु पुनरुपाधिभेदाद् भेदमाश्रयते। यथाकाशस्य एकत्वे घटाकाशं पटाकाशमिति भेदावभासः। तस्मादात्मनामविद्याकृत एव भेदः। यद्येवम्—

मुक्तस्य भ्रान्त्यभावेन यद्यन्यात्मतया स्थितिः। न स्यादात्मा स एवैकः तदवस्था भवस्थितिः॥८२४॥

यदि घटाकाशं घटाभावे न भवति यथा तथाऽविद्याभावे न भवेत् प्राणी। तथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में नाशेच्छा ही अन्तर्निहित हो जाती है। यह जो प्रश्न उठाया गया है आत्मा की अनुपलम्भ की इच्छा क्यों होगी। लोक में कहावत प्रसिद्ध है "मृतात् वरं दुर्बलता" अतः जीवन का नाश करनेवाली मृत्युदृष्टि कभी उचित नहीं। यदि आत्मा अदृष्ट है तो क्या करना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर है—पुनर्दर्शन करना चाहिए। क्रमिक भाव मानने पर पूर्व क्षण का विनाश प्रसक्त होता है। इसी प्रकार आत्मवादी के मत में यह एक और दोष प्रसक्त होता है। पूर्वापर की एकता 'सेयं दीपकलिका' के समान सदृशतामात्र पर निर्भर होगी। भिन्नरूपता का उपलम्भ होने पर पूर्व का विनाश ध्रुवभावी है, किन्तु जिसको आत्मा अत्यन्त प्रिय है वह उसका नाश कब चाहेगा। अथवा बोधरूपत्वेन आत्मा एक ही है। उपाधि के भेद से वैसे ही भिन्न प्रतीत होता है जैसे की आकाश एक है घटादि उपाधि के भेद से भिन्न प्रतीत होता है ऐसी अद्वैत वेदान्तियों की व्यवस्था क्यों न मानी जाय। इस प्रश्न का उत्तर यह है मुक्त पुरुष में अविद्या या भ्रान्ति नहीं रहती, तब आत्मा की एकता क्यों सुरक्षित रहेगी। यदि घट के न होने पर घटाकाश नहीं रहता तब मोक्ष की अवस्था में अविद्या के न रहने पर आत्मा क्यों रहेगी। घटाकाश का अभाव होने पर घटाकाश अन्य आकाश के साथ मिलकर एकरूप हो जाता है, आकाश विभाग अभाव से समान आत्मा विभाग भी न रहेगा, तब स्वात्मा परात्मा का व्यवहार भी विलुप्त हो जायेगा। 'अहं परः' इत्यादि व्यवहार वस्तुबलात् यही सिद्ध होता है, आत्मभेद अविद्या कल्पित और नैरात्म्य वास्तविक है। आत्मा की व्यापकता भी क्या है, अनेक देश सम्बन्धित, इसी प्रकार अनेक काल व्यापिता नित्यता मानी जाती है, किन्तु देश और काल की अव्यवस्था से व्यापित्व और नित्यत्व की व्यवस्था क्योंकर रह सकेगी ॥८२४–२५॥ यदि घट के न रहने पर घटाकाश नहीं रहता तो मुक्त रहने पर अभाव मानना ही होगा। असद्भूत आत्मा को मोक्ष से क्या प्रयोजन।

यह जो कहा जाता है कि आत्मा परमार्थतः क्रिया और भोगादि का आश्रय नहीं होता, केवल अविद्या के आधार पर भोगादि का आश्रय होता है उसका परिहार करने

निवृत्तसर्वानुभवव्यवहारगुणाश्रयम् ॥ २३६ ॥
इच्छेत् प्रेम कथं प्रेम्णः प्रकृतिर्न हि तादृशी ।

जो पदार्थ (आत्मा) सर्व व्यवहारों से दूर असत् हो गया है, उससे प्रेम क्योंकर करेगा ? प्रेम का वैसा स्वभाव ही नहीं कि असत् विषय में हो सके ।

वार्तिकालङ्कारः

सति घटाकाशाभावे सत्यन्येन सहैकमाकाशं जातमिति । आकाशविभागाभाववदात्मविभागोऽपि न स्यादिति न स्वपरविभाग इति विनष्ट एवात्मा स्यादहमिति । परव्यवच्छेदेनात्मत्वात् । आकाशतामुपगतस्य न क्रियाभोगादय इति नाकाशाद्विशेषः । ततो यद्यात्मा वल्लभस्तस्य स नाशं कथमिच्छति । वस्तुबलादिदमायातमिति चेत् । नैरात्म्यमेव तर्हि प्रसक्तम् ।

स्वरूपसंविन्मात्रस्य व्यापिता केयमुच्यते । अनेकदेशावष्टम्भे व्याप्तिरुच्येत मुख्यतः ॥८२५॥
अनेककालव्यापित्वे नित्यता व्यपदिश्यते । न व्यापित्वं न नित्यत्वं कथमात्मा व्यवस्थितः ॥८२६॥

अथापरघटादिरूपेणासौ व्यवस्थितः तथा सति सुतरामेव संसारी देवदत्तादिरूपेणापि व्यवस्थानात् तस्मान्मुक्तत्वे सत्यभाव एव तस्याकाशवदिति । न च तादृशां मोक्षेण किञ्चित् प्रयोजनमित्यहो महप्रेक्षापूर्वकारित्व योगिनाम् ।

अथ परमार्थतो नात्मा क्रियाभोगाद्याश्रयस्तत्त्वम् । तस्याविद्यावशादेव तथा स्नेहादयः । अत्र परिहार उच्यते—निवृत्तसर्वानुभवव्यवहारगुणाश्रयमिति ।

सर्वव्यवहारातीताद्यात्मो रलम्भतूलावलम्बि गगनात्मैवाऽतो यस्य यत्र प्रेमासौ न तं तादृशमिच्छति । प्रेम्णः प्रकृतिरेवैतादृशी न भवति । भवन्ती वाऽप्रेक्षापूर्वकारितां परिदीपयेत् । तद्वरं संसार एव प्रार्थितः । संसारसुखस्यापरितोषजनकत्वादिति चेत्, उच्यते—

निर्वाणेऽपि सुखं नैव परितोषक्रियाक्षमम् । प्रार्थनीयतयाऽत्यन्तं सुखत्वात्सकलं सुखम् ॥८२७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के लिए वार्तिककार ने कहा है—'निवृत्तः सर्वानुभवः—इत्यादि' सर्वव्यवहारातीत आत्मा से प्रेम कौन करना चाहेगा । प्रेम की यह प्रकृति, या स्वभाव है कि सर्वव्यवहारातीत खपुष्पादि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः मोक्षावस्थापन्न आत्मा से तो संसार ही अच्छा है । यदि संसारसुख वैषयिक होने से सन्तोष का कारण नहीं तो निर्वाण अवस्था में भी सुख-परितोष-क्रिया सक्षम नहीं हो सकता 'उत्तरोत्तर प्रार्थना का विषय होने के कारण सकल सुखरूपता आत्मा में सम्भव नहीं ॥८२६॥ अप्रार्थनीय सुख नाम की कोई वस्तु नहीं । सकलसुखसम्पदासीन मुक्तात्मा को भी सुखातिशय की अभिलाषा बनी ही रहती है, ऐसा मानने पर प्रार्थना का अपर पर्याय तृष्णा आत्मा में माननी होगी । फलतः समस्त सुख अपरितोष का जनक है । मुक्त पुरुष भी सुखी नहीं । मोक्षावस्था में भी यदि सुखाभिलाषा और उसके अनुरूप प्रयत्नशीलता, व्यग्रता बनी रहती है तब उससे अच्छी तो संसारावस्था है । आत्मा को यहीं रहना चाहिए । संसार से वैराग्य भी देखा जाता है । इस पर हमारा कहना यह है कि वैराग्य नहीं देखा जाता है, ऐसा नहीं, किन्तु उसका भी मूल कारण आत्मप्रेम है । सारांश यह है कि जब तक प्राणी को आत्मग्रह या सत्काय दृष्टि रहती है, तब तक वह मुक्त नहीं होता । संसार में विद्यमान आत्मीयजनों का स्नेहबन्धन उसे मुक्त होने नहीं देता ॥८२७॥

सर्वथात्मग्रहः स्नेहमात्मनि द्रढयत्यलम् ॥ २३७ ॥

आत्मीयस्नेहबीजं तु तदवस्थं व्यवस्थितम् ।

नैरात्म्यवादी आत्मस्नेह का सर्वथा त्याग करता है, किन्तु पूर्व स्नेह-बीज के आधार पर वर्तमान दोष बने रहते हैं ।

वार्तिकालङ्कारः

न हि सुखमप्रार्थनीयं नाम । किञ्चिदस्ति । ततः सकलसुखसम्पदासीनस्यापि ततः परं सुखातिशयवाञ्छा विद्यत एव । तदेव सुखं पुनः पुनः प्रार्थयत इति नाप्रार्थनं चित्तमस्यास्ति । प्रार्थना च नाम तृष्णाऽपरव्यपदेशा । महदेतन्महतां दुःखम् , ततः सर्वं सुखमपरितोषजनकमेव । ततः सुखी न कश्चिदपि परिनिर्वृतः । यतः पर्यायेण सकलसुखाकांक्षैवास्य भवति । ततः दृष्ट्वा वानुपादानं ततः सुखस्य कर्मोपचिनोतीति संसार एवानेन स्थातव्यम् ।

न नु वैराग्यमपि दृश्यत एव न नाम न दृश्यते । तत्तु सुखाश्रयैव यतः परिखिन्नः । तदुपायान्वेषणप्रयासेन दुःखमेव मन्यमानः सुखाभिमुखः प्रकारान्तराभिलाषी वैराग्यमभिमुखीकरोति नत्वात्मनि निस्नेहः । अत एवाह—सर्वथात्मग्रह इति ।

अयमत्र परमार्थः ।

यावदात्मग्रहस्तावदात्मस्नेहान्न मुच्यते । आत्मीयेऽपि ततः स्नेह उपकारसमाश्रयात् ॥८२८॥

नन्वात्मग्रहमेवायं परित्यज्य दोषपरिहाराय वर्त्तिष्यते । ततः कथमात्मीयस्नेहादयः । उच्यते—यद्यात्मग्रह एवास्य नास्ति दोषनिराक्रिया किमर्थम् । नह्यनर्थित्वे किञ्चित् कर्तुं प्रवर्त्तते ।

दुःखमाग्रहस्यथा स्याच्चेत् न तं दुःखिनमिच्छति । न च तत्र ग्रहस्तस्येत्येतदन्योऽन्यबाधितम् ॥८२९॥

परार्थकरणेच्छायां सुखिनं तं यदीच्छति । परेण क्रियतामेव रुचावात्मग्रहः पुनः ॥८३०॥

आत्मनः क्षणिकत्वेऽपि विशिष्टक्षणसम्भवात् । परार्थः सम्भवत्येव तस्मादात्मग्रहो वृथा ॥८३१॥

महानुभावता योगात्तेनैव यदि तद् क्रिया । महानुभावता कैव तस्य मिथ्याभिमानिनः ॥८३२॥

तस्माद् दुःखिनमात्मानं यो न वाञ्छति भावतः । स एवात्मग्रहस्तस्य तथात्मीयग्रहोदयः ॥८३३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—यह प्राणी आत्मग्रह का परित्याग करके रागादि दोषों के परिहार में प्रवृत्त होगा, तब आत्मीय जनों का स्नेह-बन्धन उसे क्योंकर जकड़ सकेगा ?

समाधान—यदि इस व्यक्ति को आत्मग्रह ही नहीं, तब अन्य दोषों का निराकरण किस लिए ? आत्मग्रह-रहित व्यक्ति को कोई इच्छा ही नहीं होती, अतः वह कुछ भी करने में प्रवृत्त ही नहीं होता । आत्मग्रह के होने पर ही आत्मा में कोई इच्छा हो सकती है, अन्यथा नहीं, अतः आत्मग्रह के अभाव से इच्छा और इच्छा के अभाव से आत्मग्रह बाधित होता है ॥ ८२९ ॥ परोपकार की इच्छा में परकीय 'आत्मा को सुखी करने की इच्छा होगी । ऐसी इच्छा आत्मग्रह के बिना नहीं हो सकती ॥ ८३० ॥ जिस परकीय आत्मा को दुःखी देखा गया, वह क्षणिक है अतः उसका उपकार-सम्पादन क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—'विशिष्टक्षणसम्भवात्" । अर्थात् सौत्रान्तिक-सम्मत क्षण की अपेक्षा सर्वास्तिवादियों का क्षण विशिष्ट होता है, जैसा कि कहा गया है—"सत्तरस चित्तक्खण एको रूपक्खणोति" (अभिधम्मत्थसङ्गहो पृ ६७) ॥ ८३१ ॥ आत्मग्रह के आधार पर यदि महानुभावता मानी जाती है, तो वह उचित नहीं क्यों कि—मिथ्या ज्ञानी की महानुभावता कैसी ? ॥ ८३२ ॥ फलतः जो, व्यक्ति दुःखी आत्मा

यत्नेऽप्यात्मीयवैराग्यं गुणलेशसमाश्रयात् ॥ २३८ ॥

वृत्तिमान् प्रतिबध्नाति तद्दोषान् संवृणोति च ।

आत्मस्नेह का बाध करके आत्मीय-स्नेह की निवृत्ति के किए दोष-दर्शनादिरूप प्रयत्न करने पर भी आत्मीय-स्नेह निवृत्त नहीं होता, क्योंकि आत्मीयजनों के कतिपय गुणों (उपकारों) के द्वारा आत्मस्नेह पुनः वृत्तिमान् (सक्रिय) होकर आत्मीय-स्नेह-निवृत्ति का प्रतिबन्धक होकर कथित दोषों को संवृत कर (ढक) देता है, आत्मस्नेह की बलवत्ता का इससे अधिक और क्या प्रमाण दिया जा सकता है ?

आत्मन्यपि विरागश्चेत् नेदानीं यो विरज्यते ॥ २३९ ॥

त्यजत्यसौ यथात्मानं व्यर्थातो दुःखभावना ।

आत्मीय वैराग्य जैसे बाधित हो जाता है, वैसे ही आत्म-वैराग्य भी बाधित हो जाता है । दूसरी बात यह भी है कि जो जिससे विरक्त हो जाता है, उसको त्याग देता है किन्तु आत्मा का त्याग कभी नहीं होता । फलतः दुःखभावना व्यर्थ है ।

वार्तिकालङ्कारः

अथ दीर्घकालसुखाकांक्षो नात्मीयग्रहवान् यदि । दीर्घकालसुखादृष्टेरिच्छा तत्र कथं भवेत् ॥८३४॥
कदाचित् स्यादिति यदि प्रवृत्तिर्न भवेदपि । न स्यादपि कदाचित्तत् नष्टा मर्कटचान्द्रिका ॥८३५॥
योगावस्थागतस्यास्य न विप्रः किं भविष्यति । अन्योऽन्यसंश्रयादेव वृत्तिस्तत्र भवेत् कथम् ।८३६॥

तस्माद्—यत्नेऽप्यात्मीयवैराग्यमिति ।

यस्य नामात्मग्रहः स यत्किञ्चित् आत्मोपकारिणं गुणलेशमाश्रित्य तत्राभिमुखीभूत आत्मीये वैराग्यं प्रतिबध्नात्येव दोषदर्शी । नैवमिति चेत् न दोषदर्शनस्यैव तेन गुणदर्शनेन प्रतिबन्धात् । तस्मादात्मन्यविरक्तो विरक्त एवात्मीये । एवमिति—आत्मन्यपि विरागश्चेदिति ।

स्यादेतद् । आत्मानं परित्यक्तुमसमर्थः । न हि एव तेन त्यक्ष्यते । तथा हि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानना चाहता, उसे भी आत्मग्रह एवं आत्मीयग्रह का समुदय हो जाता है ॥ ८३३ ॥ यदि आत्मीयग्रहवान् व्यक्ति दीर्घकालीन सुख का आकांक्षी नहीं हो सकता, तब उसकी दीर्घकालीन सुख की इच्छा कैसे होगी ? ॥८३४॥ कादाचित्क आत्मसम्भावना से यदि किसी समय परोपकार-प्रवृत्ति हो जाती है, तब कालान्तर में मर्कट-चंचलता के समान प्रवृत्ति नहीं भी हो सकती है ॥ ८३५ ॥ योगावस्था से सम्पन्न व्यक्ति भी आत्मदर्शन नहीं कर सकता, क्योंकि इच्छाभाव और आत्मग्रहाभाव का अन्योऽन्य बाधकत्व दिखाया जा चुका है ॥ ८३६ ॥

निष्कर्ष यह है कि जिस व्यक्ति को आत्मग्रह है, वह आत्मीय जनों के यत्किञ्चित् उपकार से प्रभावित होकर आत्मीयजनों से होनेवाले वैराग्य का बाध कर देगा । उनमें दोष-दर्शी व्यक्ति वैसा क्योंकर करेगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—आत्मीयजनों में उपकार-जनित गुण-दर्शन के द्वारा उनमें दोष-दर्शन का बाध हो जाता है । फलतः जो आत्मा से विरक्त नहीं, वह आत्मीयजनों से भी कभी विरक्त नहीं हो सकता ।

शंका—अपने आत्मा का तो कभी त्याग नहीं किया जा सकता । वही व्यक्ति उसी के द्वारा कैसे त्यागा जायगा ? जो व्यक्ति जैसा है—रागी या विरागी । उसका

वार्तिकालङ्कारः

यथास्ति न तथा त्यागो यथा नास्ति तेन नात्मपरित्यागः रागस्य केवलः। ततो रागिता परित्यागात् सदैव सुखी। अत्रोच्यते—

सुखे स्वस्थापना सैव राग आग्रहलक्षणः। सा चास्ति राग एवास्तीत्येतत्पूर्वं विवेचितम् ॥८३७॥

यदि चात्मनि विरागः, कस्य स विरागः। नैदानीमस्ति यो विरज्यते। अन्यो ह्यन्यस्तत्र विरक्तः भवति। स एव चेदविरक्तस्वभावः स न विरक्तो भवति। अत्रोच्यते—

नात्मा आत्मनि किं यथास्ति स विरज्यते। न तथा न यथा सोऽस्ति तथापि न विरज्यते ॥८३८॥

न हि तस्यान्यथाभावो नाप्यन्यस्य तथा स्थितिः। सर्वात्मनैकदेशेन सर्वथा दुर्घटं ततः ॥८३९॥

एकस्य नैकदेशोऽस्ति नैकदेशोऽस्त्यभिन्नता। यस्यैकदेशः सोऽन्यः स्यात्तथासत्यनवस्थितिः ॥८४०॥

स्यादनन्यः कथं चिच्चेत्तथाप्यस्त्वनवस्थितिः। अपरापरकल्पानां तत्रापरिसमाप्तितः ॥८४१॥

तस्मादात्मैव तेन परित्यक्तव्यो यथा त्यजत्यसावात्मानं तथा व्यर्था दुःखभावना। यैनाप्याकारेण न परित्यजति तथापि व्यर्था दुःखभावना वैराग्यं कर्तुमशक्यत्वात्। अथवा—

आत्मन्यपि विरागश्चेन्नेदानीं यो विरज्यते ॥८४२॥

यत्र त्यजत्यसौ तं यथात्मानमतोऽभावात् त्यागस्य व्यर्थदुःखभावना। न दुःखभावनार्थात्यागात् समर्था। न खलु विरागस्यास्य कारणम्। यथात्मनस्तथात्मीयस्यापि। ततो न तादृशा विरागेण मुक्तो भवति। इतोऽपि व्यर्था दुःखभावना। यतः—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

त्याग नहीं हो सकता, हाँ, केवल राग का तो त्याग हो सकता है। तब तो केवल राग का परित्याग करके सुखी हो जाना चाहिए।

समाधान—सुख में जो स्वकीय (आत्मीयता) गाढस्नेह है, वही तो राग कहलाता है, उसे ही आत्मग्रह कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है॥ ८३७॥ आत्मा से यदि विराग है तो वह किसका है ? जब कि वह विरक्त होने वाला है ही नहीं तो वैराग्य कैसे होगा ? शरीर में कल्पित आत्मवस्तु रागवान् है वह विरक्त क्यों होगा ? वह अविरक्त स्वभाव का है तो वह विरक्त क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है— आत्मा जैसा भी है उसमें विपरीत स्वभावता नहीं लायी जा सकती। आत्मा के जिस देश में राग है उस अवयव का भी त्याग दुर्घट है, क्योंकि आकाश के समान निरवयव आत्मा के एक देश का त्याग क्योंकर होगा, यदि वह सावयव माना जाता है तब अवयव की अवयव कल्पना अनवस्थाग्रस्त हो जाती है, यदि उस आत्मा को अवयवों से अनन्य माना जाता है तथापि अवयवावयवी की अविरल कल्पना अनवस्थोत्पादक होगी।।८३८-४१।। यदि राग और रागिता अंश का परित्याग नहीं हो सकता तब उस आत्मा का ही परित्याग कर देना चाहिए जो राग का एकमात्र कारण है। जब आत्मा का ही त्याग हो जाता है तब दुःख-भावना की आवश्यकता यदि वैराग्य और विरक्त आत्मा की कल्पना सम्भव नहीं तब भी दुःखभावना निरर्थक है।।८४२।। जो वस्तु जैसी है भावना के आधार पर उसका अन्यथाकरण संभव नहीं, जैसे आत्मग्रह का त्याग संभव नहीं, वैसे आत्मनिग्रह का भी त्याग सम्भव नहीं, दुःखभावना की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं हुई। दूसरी बात यह भी है यदि दुःखभावना वैराग्य का कारण

दुःखभावनयाप्येष दुःखमेव विभावयेत् ॥ २४० ॥

प्रत्यक्षं पूर्वमपि तत् तथापि न विरागवान् ।

दुःखभावना के द्वारा भी प्राणी दुःख का साक्षात्कार ही तो करेगा, वह तो दुःखभावना के पहले भी शस्त्र-प्रहारादि-जनित प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है, किन्तु उससे वैराग्य किसी को नहीं होता । फलतः दुःखभावना व्यर्थ है ॥ २४० ॥

वार्तिकालङ्कारः

दुःखभावनयाप्येष इति ।

यदि दुःखभावना विरागाय स्यात् युक्तम् । यदा साविष्येत, न चासौ विरागाय । दुःखभावना हि दुःखसाक्षात्करणहेतुरेव । नान्यथासौ विरागाय । भावनाविभावित-दुःखसन्तानो विरागी यथा स्यात् न चैवम् । यतः पूर्वमिति तद् दुःखं प्रत्यक्षमेव । प्रत्यक्षपूर्वकनिश्चयसम्भवात् । अन्यथा न संसारपरित्यागार्थी भवेत् । न ह्यसाक्षात्कृतं दुःखं पीडयति । न च तथापि विरागः । ततो व्यर्थिका दुःखभावना । प्रियविप्रयोगादिदुःखं हि सकललोकस्य प्रत्यक्षं तदा चेदविरक्तो दुःखभावनया कथं विरागो भवेत् ।

ननु दुःखभावना सकलस्य दुःखस्य स्मरणसंकलने भवन्तीं महतीं दुःखसंहतिं विभावयति । ततो विरागितेति चेत् । तत उद्वेगात् विरागः स्यात् । नैतदस्ति । यस्मात्—

यथैव दुःखप्रचयः स्मर्य्यमाणो विभावयेत् । तथा सुखस्य प्रचयस्ततो रागी भवेदयम् ॥८४३॥

यथा दुःखसन्तानं विभाव्य विरागस्तथा विपर्ययात् सरागोऽपीति कथं मुक्तिः ।

ननु प्रशमसुखास्याग्योद्वेजनात् न संसारसुखसतृष्णः । तदप्यसत् । यतः—

नात्मदृष्टिनिविष्टस्य शम उद्वेगकारणम् । श्मशानवासः काकस्य किमुद्वेगस्य कारणम् ॥८४४॥

काकः पद्मवने प्रीतिं प्राप्नोति न हि तादृशीम् । यादृशीमशुचिस्थानविनिवेशितसङ्गमः ॥८४५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होती तब उसकी सार्थकता मानी जा सकती थी। किन्तु दुःखभावना के उत्कर्ष से केवल दुःख का साक्षात्कार हो सकता है, दुःखभावना से पहले भी शस्त्रप्रहारादि से दुःख की अनुभूति होती है उससे क्या वैराग्य हो जाता है ? कदापि नहीं । अतः व्यर्थ दुःख-भावना प्रियविप्रयोगादि-जनित दुःख सर्वलोक-प्रत्यक्ष है, किन्तु उससे वैराग्य कदापि नहीं होता ।

शंका—दुःखभावना के द्वारा दुःखसन्तति की एक लम्बी परम्परा का स्मरण दिलाती है जिसके द्वारा यह व्यक्ति एक विस्तृत दुःख-महासागर को पार करने से विरत हो जाता है ।

समाधान—जैसे स्मर्यमाण दुःखप्रचेता वैराग्य का कारण है वैसे ही सुखप्रचय की भी एक लम्बी परम्परा उपस्थित होती है । उससे राग का प्रतिबोधन क्यों न होगा ॥८४३॥ जैसे दुःखसन्तति की विभावना से राग, वैसे विपरीत भावना से सरागता होती जाती है, मुक्ति का लाभ क्यों होगा । यह जो कहा जाता है कि प्रशम-सुख के द्वारा समुत्पन्न संसारसुख उद्वेग सुखादि के तृष्णा का निवर्तक होता है, वह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति में आत्मदृष्टि (सत्कायदृष्टि) विद्यमान है उसमें शम की अग्ररेखा कभी सुखादि से उद्वेजक वैसे ही नहीं हो सकते जैसे कि काक का कदाचित् श्मशानवास उसके वैराग्य का कारण नहीं हो सकता, कोई कौवा या सतृष्ण प्राणी कमलवन में वैसी प्रीति नहीं कर पाता जैसी की अशुचि देश में ॥८४४-४५॥

यद्यप्येकत्र दोषेण तत्क्षणं चलिता मतिः ॥ २४१ ॥
विरक्तौ नैव तत्रापि कामीव वनितान्तरे ।

यद्यपि किसी एक कामिनी में कुछ दोष आ जाने के कारण अनुरक्त पुरुष की अनुरागमति उससे विचलित हो जाती है, तथापि अनुरागी व्यक्ति न अन्य वनिताओं से विरक्त होता है और न उसी स्त्री से सदैव विरक्त रह पाता है ॥ २४१ ॥

त्याज्योपादेयभेदेन सक्तिर्यैवैकभाविनी ॥ २४२ ॥
सा बीजं सर्वसक्तीनां पर्यायेण समुद्भवे ।

त्याज्य (हेय) और उपादेय का भेद होने पर जो त्याज्य और उपादेय एक ही वस्तु में होनेवाली आसक्ति उत्पन्न होती है, वह पर्यायता राग और द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण है ।

वार्तिकालङ्कारः

ननु दृश्यत एव । प्रीतिहेतौ दोषदर्शनाद्वैराग्यम् । तत् कथं दोषदर्शनेऽपि दुःखभावनया न विरक्तः । नैतद्यतः—यद्यप्येकत्र दोषेणेति ।

यद्यपि क्वचिदपराधकारिणि जने विरक्तिः क्षणं तथाप्यसौ न सर्वथा विरक्तिः । न खलु कामी क्वचित् कामिन्यां विरक्तस्तथापि वनितान्तरेऽविरक्त एव तत्र च पर्यायेण । तथा हि—रागविरोध्यवस्थानादेवासौ विरक्तस्तदविरोध्यवस्थातः जनो पुनरविरक्त एव । तस्माद्रागशक्तिसङ्गतः एवासौ विरक्तः, न तु सर्वथा । पुनस्तत्रैव रागदर्शनात् । अत एवोक्तम्—"तद्धि भिक्षवः प्रहीणं यदार्यया प्रज्ञया" । तस्मादस्य—त्याज्योपादेयभेदेनेति ।

यस्य हि हेयोपादेयविभागस्तस्येच्छाद्वेषौ । न सर्वः सर्वदा हेयो नाप्युपादेयः । पर्यायेणेच्छाद्वेषौ परस्परबीजकौ पर्यायेणास्य भवत एवेति कथमात्मघी ? युक्तः । नैरात्म्यदर्शिनः पुनः सर्वत्रोपेक्षा हेयोपादेयविभागस्ततः सकलशक्तिनिर्मूलने व्यवस्थितस्य कुतो रागादिसम्भवः । अपि च विरागभाविरूपे वस्तुनि भवेन्नान्यथा न चात्मदर्शिनि क्वचिद्विरूपता । न तावदस्य आत्मा सदोषः । तत्र स्नेहोऽपि निर्दोषविषयतया-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यद्यपि सुख के हेतु में दोषदर्शन के द्वारा वैराग्य देखा जाता है अतः दोषदर्शनजनित दुःखभावना के द्वारा विरक्तता का लाभ क्यों न होगा ? इसका उत्तर यह है—यद्यपि किसी सराग व्यक्ति की किसी अपराधकारिणी कामिनी में क्षणिक विरक्ति हो जाती है, तथापि वह सर्वथा और सर्वदा विरक्त नहीं हो सकता, क्योंकि जिस स्त्री से क्षणिक घृणा हुई थी उसी में पुनः अनुराग देखा जाता है एवं किसी एक स्त्री से विरक्त हो जाने पर समस्त स्त्रियों से विरक्ति की प्राप्ति नहीं होती । फलतः उस क्षणिक विरक्त-व्यक्ति में भी रागशक्ति का सद्भाव बना रहता है जैसा कि स्वयं बुद्ध ने कहा है "तद्धि भिक्षवः प्रहीणं यदार्यया प्रज्ञया" निष्कर्ष यह है जिस व्यक्ति की दृष्टि में हेय और उपादेय का विभाग बना है उसे रागजनित इच्छा और द्वेषजनित त्याग हो जाता है, किन्तु सदा के लिए उसकी दृष्टि में न कोई द्वेष होता है न उपादेय । पर्यायेण इच्छा और द्वेष की भूमियों में आन्दोलित आत्मवादी व्यक्ति कभी मुक्त क्योंकर होगा । हाँ, नैरात्म्यदर्शन पुरुषधौरेय की सर्वत्र उपेक्षा भावना रहने के कारण समस्त आसक्तियों का उच्छेद करने में समर्थ हो जाता है । सत्कायदृष्टिरहित प्राणी का आपात

निर्दोषविषयः स्नेहो निर्दोषाः साधनानि च ॥ २४३ ॥

एतावदेव च जगत् क्वेदानीं स विरज्यते ।—इति संग्रहः ।

निर्दोष विषय स्नेह का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, स्वयं उपयुक्त उपभोग के साधन इन्द्रियगण शरीरादि एवं शब्दादि विषय निर्दोष हैं प्रत्येक दुःख के हेतु हैं, अतः सब में राग प्रसक्त होता है। वैराग्य किससे होगा।

सदोषतापि तत्र तस्यात्मन्यपि सा समा ॥ २४४ ॥

तत्राविरक्तस्तद्दोषे क्वेदानीं स विरज्यते ।

यदि भोक्ता, भोग्य और भोग रूप जगत् सदोष है तब भोक्ता आत्मा भी सदोष एवं हेयकोटि में निक्षिप्त हो जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

ददोषः। उपलब्धिसाधनान्यपि निर्दोषाणि। एतावदेव सकलं जगत् क्वेदानीं स विरज्यते—निर्दोषविषयः स्नेह इति। —इति संग्रहः।

अथापि स्यात्—सदोषतापि चेदिति।

ननु विषयस्य सदोषतापि दृश्यते शरीरादेश्च। ननु का तेषां सुखहेतूनां सदोषता दुःखहेतुता। ननु पर्यायेण सर्वस्य सुखहेतुता कदाचित् दुःखहेतुता चेत्। नन्वात्मन्यपि सा समानैव। तत्र चेदात्मनि तद्दोष एवाविरक्तः। क्व विरागवान् भवेत्। आत्मा परित्यक्तुमशक्य इति चेत्। आत्मीयेऽपि न विरागः। दोषांस्त्यक्तुं शक्यत्वाच्चात्मीयस्यैव त्याग इत्यपि मिथ्या। यदा यदा यस्य दोषस्तदा तस्य त्यागो न सर्वदा। यथा दोषाणां त्यागः तथा दोषानित्यतया त्यागानित्यतापि। सुखहेतावपरित्यक्ते पश्चादभावे महद् दुःखमिति चेत् तस्मात् मूलत एव परित्यागो युक्तः। एवं तर्हि दुःखेऽपि सति तदनन्तरं महत् सुखं भवतीति दुःखमप्युपादातव्यम्। तस्मान्न क्वचिद्विरागोऽस्त्यात्मदर्शिनः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्नेह भी दोषाधायक नहीं माना जाता, सराग व्यक्ति का इतना ही संसार है—भोक्तात्मा भोग्यविषयक भोगसाधन शरीरेन्द्रियादि इनमें गाढ राग रहने के कारण वह विरक्त कैसे हो सकेगा ?

शंका—शरीरादि एवं वनितादि विषयों में सदोषता भी देखी जाती है। अर्थात् शरीरादि सुख के ही साधन होते हैं किन्तु कदाचित् दुःख के हेतु भी बन जाते हैं।

समाधान—इस प्रकार की सदोषता तो आत्मा में भी पायी जाती है किन्तु उसका त्याग सम्भव नहीं, जिस वस्तु का त्याग सम्भव है, वह भी सदा के लिए नहीं, क्योंकि त्याग पदार्थ एवं सदोषता अनित्य पदार्थ हैं, उसका भान न रहने पर रागभावना पूर्ववत् प्राप्त हो जाती है। सुख के अनन्तर महान् दुःख की अनुभूति होती है, अतः सुख उपादेय पदार्थ है, ऐसे तर्क के आधार पर तो यह भी मानना पड़ेगा कि दुःख के अनन्तर सुख की अनुभूति, अतः सुखोत्पत्ति के लिए दुःख का उपादान भी अनिवार्य हो जाता है, फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मदर्शी व्यक्ति को किसी से भी वैराग्य नहीं हो सकता। अपि च इन्द्रियादि में गुणदर्शन के द्वारा स्नेह उत्पन्न होता है ऐसी बात नहीं, अपितु आत्मीयत्व दृष्टि के द्वारा ही राग उत्पन्न होता है,

गुणदर्शनसम्भूतं स्नेहं बाधेत दोषदृक् ॥ २४५ ॥

स चेन्द्रियाप्तै न त्वेवं बालादेरपि दर्शनात् ।

आत्मादिगत साधुगुणदर्शनजनित स्नेह दोष का वध करके उपादेयता का दर्शन प्रस्तुत करता है। बालकादि अबोध प्राणि भी गुणदृष्ट्या आत्मीय इन्द्रियादि में स्नेह करते देखे जाते हैं।

दोषवत्यपि सद्भावात् स्वभावाद् गुणवत्यपि ॥ २४६ ॥

अन्यत्रात्मीयतायां वा व्यतीतादौ विहानितः ।

फलतः गुणदर्शन से स्नेह और दोषदर्शन से स्नेहाभाव नहीं होता, अपितु आत्मीयत्व दर्शन से स्नेह और उसके अभाव से स्नेहाभाव सिद्ध होता है। कटे हुए केश नखादि में आत्मीयता न रहने के कारण स्नेह नहीं देखा जाता।

तत एव च नात्मीय बुद्धेरपि गुणेक्षणम् ॥ २४७ ॥

कारणं हीयते सापि तस्मान्नागुणदर्शनात् ।

आत्मीयता बुद्धि में भी गुणदर्शन कारण है, किन्तु आत्मदर्शन ही स्वजनों में आत्मीयता का उद्भावक माना जाता है। इस प्रकार आत्मीय बुद्धि भी आत्मगुण-दर्शन हेतु न होने के कारण अगुण या दोष के दर्शन से निवृत्त नहीं होती, किसी कार्य का निवर्तक वही धर्मी होता है जो कि उसके उत्पादक हेतु का विरोधी हो। जैसे शीतजनित रोमहर्षादि का निवर्तक शीतविरोधी अग्नि पदार्थ होता है। आत्मदर्शन ही आत्मीय पदार्थों में स्नेह का कारण होता है। दोषदृष्टि उसका विरोधी है। अतः वह उसकी निवर्तक क्यों ?

वार्तिकालङ्कारः

अपि च—गुणदर्शनसम्भूतमिति ।

तथा—दोषवत्यपि सद्भावादिति ।

न गुणदर्शनादिन्द्रियादौ स्नेहः, अपि त्वात्मीयदृष्टेः । तथा हि दोषवत्यपि आत्मीयतया परिगृहीते स्नेहस्य भावात् इन्द्रियादौ गुणवत्यपि परत्राभावात् बालपश्वादीनां चापरिकलितगुणदोषाणां भावात् । आत्मीयेऽपि च व्यतीते अभावादनागते च । तस्मान्न दोषदर्शनान्निवर्तते स्नेहः । एवं तर्हि दोषदर्शनादात्मीयबुद्धिरेव न भविष्यति । तदभावाच्च स्नेहः । गुणदर्शनसम्भूतस्य आत्मीयदर्शनस्य दोषदर्शनेनापाकरणात् न किञ्चिदेतत् । यतः—तत एव च नात्मीयबुद्धेरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सदोष पदार्थों में भी आत्मीयत्व-दर्शन के द्वारा रागभावना का अभ्युदय देखा जाता है. अतः दोषदर्शन के द्वारा राग की निवृत्ति सम्भव नहीं। वास्तविकता तो यह है कि दोषदर्शन के द्वारा आत्मीयत्व बुद्धि नहीं रहती, उसके न रहने पर स्नेह का अभाव होता है। गुणदर्शन से समुत्पन्न आत्मीयत्व बुद्धि की निवृत्ति ही दोषदर्शन से देखी जाती है, अतः दोषभावना के द्वारा विरक्तता सम्भावित नहीं।

समाधान—जब कि सदोष पदार्थों में भी क्वचित् आत्मबुद्धि और गुणवान् अतीत पदार्थों में भी आत्मीयताबुद्धि नहीं होती। स्नेह पदार्थ दोष-दर्शन के द्वारा तभी तक

अपि चासद्गुणारोपः स्नेहात्तत्र हि दृश्यते ॥ २४८ ॥
तस्मात्तत्कारणाबाधी विधिस्तं बाधते कथम् ।

अपि च आत्मीयजनों में अविद्यमान गुणों का आरोप स्नेह के कारण देखा जाता है, स्नेहरूप कारण का बाध न करनेवाला विधिवाक्य उसका (गुणारोप) बाधक क्योंकर होगा ।

परापरप्रार्थनातो विनाशोत्पत्तिबुद्धितः ॥ २४९ ॥
इन्द्रियादेः पृथग्भूतमात्मानं वेत्त्ययं जनः ।
तस्मान्नैकत्वदृष्टयथापि स्नेहः स्निह्यन् स आत्मनि ॥ २५० ॥
उपलम्भान्तरङ्गेषु प्रकृत्यैवानुरज्यते ।

वार्तिकालङ्कारः

दोषवत्यपि क्वचिदात्मीयबुद्धेर्भावात् । गुणवत्यपि चाभावात् व्यतीतादौ चेति । अपि चासद्गुणारोप इति ।

स्नेहो हि नामापि दोषदर्शनेन हीयेत यदि तावता । यावता स्नेहेन तदेव दोषदर्शनमपाक्रियते सद्गुणारोपविधायिना । मध्यस्थतया चेतसो दोषदर्शनमनारोपश्च गुणानामिति चेत् । न । स्नेहेन स एव मध्यस्थभावो न लभ्यते । विषयान्तरे स्नेहान्तरेण यदि परमसौ बाध्यते नान्यथा । तथा च—

उपघातः स एवास्य तथा सति निवर्तते । यादृशो भक्षितो मात्रा स डाकिन्यापि तादृशः ॥८४६॥

तस्मान्न दुःखभावनया स्नेहपरित्यागतो मुक्तिरात्मदर्शिनः ।

अत्र तां ख्याः प्राहुः नात्मदर्शिनां दुःखभावनासम्भवत्यपि तु प्रकृतिपुरुषान्तरपरिज्ञानतो मुक्तिः । तथा हि—

शुद्धबोधस्वभावोऽयं पुरुषः परमार्थतः । प्रकृत्यन्तरमज्ञात्वा मोहात् संसारमाश्रितः ॥८४७॥

प्रकृतिः सुखादिस्वभावायाः विवेकेनाग्रहणादमुक्तिरात्मनः । ततः केवलज्ञानोदय एव मुक्तिरात्मनः । तदप्यसत् । यतः—परापरप्रार्थनात इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बाधित होगा, जब तक कि स्नेह के द्वारा स्वयं दोषदर्शन अपाकृत (बाधित) नहीं हो जाता । यदि कहा जाय कि चित्त गुणदोष-दर्शन में स्वभावतः मध्यस्थ होता है तो स्नेह का दोष-दर्शनपूर्वक बाध क्यों होगा । इस प्रश्न का उत्तर यह है—यद्यपि चित्त मध्यस्थ है तथापि स्नेह उस मध्यस्थ भाव का घातक होता है । अतः स्नेह का दोष कल्पना के द्वारा बाध सम्भावित है । स्नेह या राग के द्वारा चित्त वैसे ही दोषारोपण कर लेता है जैसे गुणारोप । मारण-उच्चाटनादि प्रयोगों में डाकिनी जैसे अभिचार देवताओं को शत्रुवध के लिए प्रेम किया जाता है उसी प्रकार विपरीत प्रेरणा स्ववध के लिए भी घातक हो जाती है ॥८४६॥ फलतः दुःखभावना के द्वारा स्नेह का परित्याग और मुक्ति का लाभ आत्मदर्शी को नहीं हो सकता ।

सांख्यपक्ष – सांख्याचार्यों का कहना है आत्मदर्शी व्यक्तियों की दुःखभावना से मुक्ति नहीं होती अपितु प्रकृति और पुरुष के विवेकख्याति से मुक्ति का लाभ होता है । क्योंकि यह पुरुष स्वभावतः शुद्ध बोधात्मक है प्रकृति से अपना विवेक न कर पाने के कारण मोह से संसार में बंध जाता है ॥८४७॥ प्रकृति सुखदुःखमोह-स्वभाव की है ।

प्रत्युत्पन्नात्तु यो दुःखान्निर्वेदो द्वेष ईदृशः ॥ २५१ ॥
न वैराग्यं—

संख्यामत—सांख्याचार्यों का कहना है कि आत्मदर्शन से दुःखभावना उत्पन्न नहीं होती अपितु पुरुष और प्रधान (प्रकृति) का ऐक्यदर्शन (तादात्म्यविभ्रम) दुःख का हेतु और विवेकख्याति या भेदप्रतीति होने पर कर्तृत्वादि दुःखों की निवृत्ति हो जाती।

सांख्यमतनिरास—प्रकृति और पुरुष का अभेददर्शन सम्भव नहीं, अपितु शरीरादि-रूप प्राकृत तत्त्व का उत्पादविनाश-दर्शन, आत्मा से उसे भिन्न करता है, अभेदविभ्रम का उत्पादक क्योंकर होगा, फलतः एकत्वदर्शन से स्नेह की उत्पत्ति नहीं होती अपितु आत्मदर्शन से ही। आत्मदर्शी पुरुष का आत्मा और भोगसाधनीभूत इन्द्रियादि में स्वाभाविक अनुराग होता है प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) दुःख के दर्शन से जो निर्वेद उत्पन्न होता है, वह वैराग्य नहीं, अपितु द्वेष है।

वार्तिकालङ्कारः

हान्युदयदर्शनमेव भेददर्शनम्। अन्वयव्यतिरेकभावतो हि भेदः। आत्मान्वयी सुखादयो नान्वयिनः। ततो विरुद्धधर्माध्यासाद्भेद इति। अथैतदेव न पर्यालोचयति संसारी। तथा सत्यमुक्तिरेव। विवेकाध्यवसायस्यासम्भवात्। न खलु सुखार्थी तस्य हानावाद्रियते। सुखादिरहितेनात्मना न कश्चिदर्थी प्रेक्षावान्। केवलस्यार्थिनः संसर्गात् प्राक् न संसारः प्रधानेन सह एकतामात्मनि पश्यतः स इति चेत्। तदसत्—

चेतनस्य च स्वपितस्य कथमेकत्वविभ्रमः। विषयाभिलाषः कुतो यतः संसारसंगतिः ॥८४८॥

प्रधानानुप्रवेशो हि न तत्रास्त्येकता कुतः। आत्मन्येव हि न भ्रान्तिः प्रागेतत्प्रतिपादितम् ॥८४९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसे आत्मा का विवेकग्रह न होने के कारण अमुक्ति या बन्धन और केवल विवेक ज्ञान का उदय हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाता है।

सांख्यपक्षनिरास—विवेकदर्शन का अर्थ भेददर्शन है, भेद का दर्शन अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा होता है। आत्मा सर्वत्र अन्वयी है वैसा अन्वय सुखादि का नहीं जैसे पुष्पमाला में सूत्र सभी फूलों में अन्वयी है और फूल परस्पर व्यतिरिक्त। फलतः सर्वत्र अन्वयी सूत्र व्यतिरिक्त फूलों की अपेक्षा भिन्न माना जाता है, वैसे ही सर्वत्र अन्वयी आत्मा सुख-दुःखादि व्यतिरेकी पदार्थों से भिन्न सिद्ध होता है। अन्वयित्व व्यतिरेकित्व रूप विरुद्ध धर्मों की प्रतीति से दोनों (आत्मा और दुःखादि का) भेद मानना अनिवार्य है। यदि संसारी पुरुष अन्वय-व्यतिरेक की आलोचना नहीं कर सकता तब उसकी अमुक्ति निश्चित है, क्योंकि उसे विवेक का अध्यवसाय नहीं। सुखार्थी व्यक्ति आत्मा की हानि कभी नहीं चाहता। प्रकृति का संसर्ग होने से पहले आत्मा में संसार नहीं होता अपितु प्रकृति से अपना तादात्म्य समझने के बारे में अमुक्ति या संसार होता है। ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि स्वपित (स्वप्नावस्थाक्रान्त) चेतन पुरुष में प्रकृति के साथ एकताविभ्रम क्योंकर होगा। पुरुष को विषय की अभिलाषा कैसे हुई, जिसके कारण संसार का असङ्ग हो गया ॥८४८॥ प्रधान का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं, एकताभ्रान्ति कैसे होगी। आत्मा में भ्रान्ति नहीं हो सकती यह पहले कहा जा चुका है ॥८४९॥

तदाप्यस्य स्नेहोऽवस्थान्तरेषणात् ।
द्वेषस्य दुःखयोनित्वात् स तावन्मात्रसंस्थितिः ॥ २५२ ॥
तस्मिन्निवृत्ते प्रकृतिं स्वामेव भजते पुनः ।

उस समय भी अर्थात् निर्वेद की अवस्था में स्नेह देखा जाता है किन्तु विरक्त पुरुष को स्नेह की सम्भावना नहीं रहती क्योंकि निर्वेदकारणी अवस्था में भेद ही देखा जाता है, स्नेह के बिना एक का त्याग और ऊपर की काड्छा नहीं होती, द्वेष ही दुःख का कारण माना जाता है, निर्वेदसंज्ञक द्वेष जबतक है तबतक दुःख की अनुवृत्ति होती है दुःख के कारण का निरोध होने के कारण सत्त्वदर्शी पुरुष अविरागस्वरूप प्रकृति (स्वभाव) की ही अनुभूति करता है ।

वार्तिकालङ्कारः

विषयत्वेन दृष्टिश्चेद् नाभेदग्रहणं भवेद् । बुद्धेरभावाद् दृष्टिश्च न युक्ता सांख्यदर्शने ॥८५०॥
अभिलाषश्च दृष्टेऽर्थे पुरुषाणां प्रवर्तते । स्मरणस्य च सद्भावः सर्गवृत्तेः पुरः कुतः ॥८५१॥
अभिलाषस्मरणयोः प्रकृतेरेव वृत्तितः । अभिलाषाच्च तद् वृत्तिरित्यन्योऽन्यसमाश्रयः ॥८५२॥
अनादिवासनातश्चेत् तथास्य सुखितादयः । वासनापि प्रधानस्य विक्रियातः पुरः कुतः ॥८५३॥
तस्मात्स्वबोधरूपस्य प्रकृतिः सा यदीष्यते । न सा शक्याऽन्यथा कर्तुमिति संसार्यसौ सदा ॥८५४॥

ननु दुःखसंवेदनाद् दृश्यत एव निर्वेदः स कथमन्यथा क्रियेत । अत्राह—प्रत्युत्पन्ना तु य इति ।

यतः—द्वेषस्य दुःखयोनित्वादिति ।

दुःखसंवेदनोद्विग्नोऽपि न वैराग्ययोगी स्नेहेनैव ह्यसावात्मन्यात्मीये च प्रतिकूलदर्शनात् विद्वेषवानेव हि तदा । अशुभादिवस्तुप्रत्ययमात्रमेतत् । वैराग्यस्य पारमार्थिकस्यात्मदर्शिनस्तु स्नेहादमुक्तिरेवावस्थान्तरप्रार्थनातो द्वेष एव सर्वदा भावी तत्र तु वैराग्यम् । नैतदस्ति, यतो हि—

यावत् कालं च तद् दुःखं तावद् द्वेषः प्रवर्तते । कारणस्य तु दुःखस्य निर्वृत्तौ द्वेषिता कुतः ॥८५५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रकृति को यदि पुरुष अपने ज्ञान का विषय मानता है तो उससे अभेद कैसे? सांख्यदर्शन पुरुष में बुद्धि नहीं मानता तब अभेद-दृष्टि कैसे ? ॥८५०॥ पुरुषों की अभिलाषा दृष्ट अर्थ में हो सकती है। जब पुरुष में ज्ञान ही नहीं, बुद्धि ही नहीं तब उसमें तादात्म्य-दृष्टि सांख्यदर्शन के द्वारा उसमें स्मरण का सद्भाव सर्गप्रकृति के पूर्व कैसे होगा ॥८५१॥ अभिलाषा और स्मरण प्रकृति के ही धर्म हैं, उसी अभिलाषा से पुरुष में वृत्तिता क्योंकर होगी ॥८५२॥ अनादि वासनाओं के आधार पर यदि पुरुष में सुखित्वादि बुद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अनादि वासनाएँ भी प्रधानगत हैं पुरुषगत नहीं ॥८५३॥ अतः यदि प्रकृति स्वबोधात्मक है, उसका अन्यथाकरण नहीं किया जा सकता, तब पुरुष को सदैव संसारी मानना होगा ॥८५४॥

शंका—दुःख की कटु अनुभूति के अनन्तर जो वैराग्य की अनुभूति होती है, उसका अपलाप क्योंकर होगा ?

समाधान—दुःख-संवेदन से उद्विग्न प्राणी को वैराग्य नहीं होता, अपितु द्वेष उत्पन्न होता है, प्रतिकूल दर्शन के कारण । वैराग्य तो नैरात्म्यदर्शी को ही होता है। पारमार्थिक आत्मदर्शी का तो सर्वत्र स्नेह ही अनुभूत होता है, वैराग्य नहीं। हाँ,

औदासीन्यं तु सर्वत्र त्यागोपादानहानितः ॥ २५३ ॥
वासीचन्दनकल्पानां वैराग्यं नाम कथ्यते ।

वासी (दुर्गन्ध) के त्याग एवं चन्दन के ग्रहण में प्रवृत्त न होकर उदासीन (तटस्थ) रहने का नाम वैराग्य है ।

संस्कारदुःखतां मत्वा कथिता दुःखभावना ॥ २५४ ॥
सा च न प्रत्ययोत्पत्तिः सा नैरात्म्यदृगाश्रयः ।

संस्कारदुःखता की हम बौद्धों के मत में प्रत्ययोत्पत्ति या नैरात्म्यदर्शन का मुख्य कारण मानी जाती है। अर्थात् हेतुफलभाव से व्यवस्थित क्षणक्षयी नामरूपात्मक भावपदार्थ अविरल दुःख के उत्पादक होते हैं इस प्रकार के संस्कार दुःखभावना नैरात्म्यदर्शन के अनुकूल होती है वही मुक्ति का हेतु है। शेष नित्यदुःखादि की भावना नैरात्म्य भावना का उपायमात्र है ॥ २५४-५५ ॥

मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाः शेषभावना ॥ २५५ ॥
अनित्यात् प्राह तेनैव इत्थं दुःखान्निरात्मताम् ।

अतएव भगवान् बुद्ध ने दुःखभावना में शून्यता की अनुकूलता देखकर कहा—"तं किं मञ्ञथ भिक्खवे रूपं निच्चं वा अनिच्चं वा ति ?। अनिच्चं भन्ते ! यं पन अनिच्चं दुःखं विपरिणामधम्मं कल्लं नु त समनुपस्सितुं एतं मम एसोहमस्मि एसो मे अत्तास्ति"—(महावग्गो पृ० २१)।

वार्तिकालङ्कारः

दुःखस्याप्यनुवृत्तिश्चेत् शिवं मुक्तिः करोत्वसौ । दुःखद्वेषाभिभूतस्य सदा स्थानमधोगतिः ॥८५६॥

ननूद्वेगमन्तरेण कथं मुक्तिः । यतः—

अनुद्विग्नो हि संसारात् मुक्त्यर्थी नास्ति चेतनः । न च दुःखापराभूत उद्वेगी जायते जनः ॥८५७॥

तदसत् । तत एव च—औदासीन्यं तु सर्वत्रेति ।

धर्मतामात्रदर्शनेन हि समतामवाप्यते चेतसः । ननु नयप्रतिघप्रहाणेन वैराग्ययोगितायोगिनामस्मत्पक्षे नान्यथा । कथं तर्हि दुःखभावनोक्ता भगवता । अत्र प्रतिवचनम्—संस्कारदुःखतां मत्वेति ।

न खलु दुःखदुःखतामात्रमभिसन्धाय दुःखभावनोक्ता । रागिणां हि तावन्मात्रेण

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिकूल अवस्था से द्वेष अवश्य हो जाता है। वह द्वेष भी तभी तक रहता है, जब तक दुःख रहता है। कारणीभूत दुःख-निवृत्ति होते ही द्वेष समाप्त हो जाता है ॥८५५॥ मोक्ष की कामना भी व्यर्थ है, यदि दुःख की अनुवृत्ति सदा रहती है। दुःख और द्वेष का अवस्थान तो अधोगति है ॥ ८५६ ॥

शंका—उद्वेग (वैराग्य) के बिना मुक्ति कैसे होगी ? क्योंकि कोई संसार से अविरक्त (संसारासक्त) चेतन पुरुष मुक्त्यर्थी नहीं होता और वह पुरुष कभी विरक्त नहीं होता, जो दुःखाक्रान्त न हो ॥ ८५७ ॥

समाधान—अतएव दुःखभावना का उपदेश बार-बार बुद्ध ने किया है। किन्तु जब तक आत्मनैरात्म्य दर्शन का समुदय नहीं होता तब तक चित्त की विमुक्ति सम्भव नहीं, दुःखभावना का जो उपदेश बुद्ध ने किया है वह केवल दुःखता मात्र को ध्यान में

अविरक्तश्च तृष्णावान् सर्वारम्भसमाश्रितः ॥ २५६ ॥

सोऽमुक्तः क्लेशकर्मभ्यां संसारी नाम तादृशः ।

जो आत्मदर्शी है वह अविरक्त है, अविरक्त पुरुष तृष्णावान् होता है, हानोपादानरूप कर्मप्रसवहेतुओं का समाश्रयण करता है ॥२५६॥ क्लेश और कर्म के बन्धनों से वह मुक्त नहीं होता, वह संसारी नाम से प्रसिद्ध होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा के होने पर आत्मीय का होना अनिवार्य है। आत्मीयभावना का नाम अविमुक्ति है।

वार्तिकालङ्कारः

वैराग्यसुखभंगे सति पक्षपातपरित्यागात् संसारदुःखभावना योग्यता यथास्यादिति तूक्ता। सा च संस्कारदुःखता शून्यतैव परमार्थतः। ततः शून्यता दृष्टेरेव मुक्तिः।

शेषास्तु भावनास्तदर्था एव। अत एव नैरात्म्यदर्शनावसाना भगवतो देशना। यदाह—"रूपं भिक्षवो नित्यमनित्यं वा। अनित्यं भदन्त। यदनित्यं तद् दुःखं सुखं वा। दुःखं भदन्त। यदनित्यं तद् दुःखं विपरिणामधर्मकं कल्प्यन्तु तदेवं द्रष्टुं एतन्मम, एषोऽहमस्मि, एष ममात्मेति। नो हीदं भदन्त" इत्येवं हेतुफलभावेनानात्मदर्शनमेव मुक्तेरुपाय इति कथितं भवति। यः पुनरात्मदर्शी सोऽविरक्त एव। तदेवम्—अविरक्तश्च तृष्णावानिति।

आत्मदर्शनबीजे हि व्यवस्थिते आत्मीयदर्शनमनुपहतं संसारहेतुः। तत आत्मनि आत्मीये चाविरक्तो नियमेन तृष्णावांस्ततः सर्वकर्मारम्भसमाश्रितः। क्लेशकर्मभ्याममुक्तः संसार्येवासाविति कुतः तस्य मुक्तिगन्धोऽपि।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रखकर नहीं किया, दुःखभावना का पर्यवसन जब तक नैरात्मदर्शन में नहीं होता तब तक उससे कोई लाभ नहीं। वैराग्य और दुःखभावना से केवल साधन में एक प्रकार की योग्यता ही आती है। संस्कारदुःखता मूलतः शून्यता ही है। नैरात्म्यदर्शन का ही दूसरा नाम शून्यता है, उसके द्वारा ही मुक्ति का लाभ होता है। शेष भावनाएँ नैरात्म्य दर्शन की उपकार मात्र मानी जाती हैं। इसीलिए भावनाओं का तब तक परिपालन अनिवार्य है जब तक की नैरात्म्य भावना का समुदय न हो, ऐसा ही बुद्ध ने कहा है—"रूपं भिक्खवो नित्यं अनित्यं वा ? अनित्यं भदन्त ! यदनित्यं तत् दुःखं सुखं वा ? दुःखं भदन्त ! यदनित्यं तद् दुःखं परिणामधर्मकं कल्प्यं तु तदेवं द्रष्टुं एतन् मम एषोऽहमस्मि, एष मम आत्मा इति, नो हि इदं भदन्त !" इस बुद्धवचन का पालि पाठ इस प्रकार है—"तं किं मञ्ञथ भिक्खवे रूपं निच्चं वा अनिच्चं वा ति ? अनिच्चं भन्ते। यं पननिच्चं दुःखं विपरिणामधम्मं कल्लं नु त समनुपस्सितुं एतं मम एसो हमस्मि एसो मे अत्तत्ति इत्यादि।" (महावग्गो पृ० २१)। इस प्रकार अनात्मदर्शन रूप प्रधान साधन अपने अङ्गों और उपाङ्गों से युक्त होकर मुक्ति का उपाय कहा गया है। आत्मदर्शी तो अविरक्त ही होता है। आत्मदर्शन कारण है और आत्मीय-दर्शन कार्य है। आत्मदर्शन से युक्त होकर आत्मीयदर्शन संसार का हेतु माना जाता है। अर्थात् इन दोनों दर्शनों के द्वारा आत्मा और आत्मीयजनों में स्नेह एवं तृष्णा उत्पन्न होती है, तृष्णा के द्वारा सर्वकर्मारम्भ होता है। उससे क्लेश और वासनाओं से यह पुरुष आबद्ध हो जाता है, फिर तो उसे मुक्ति क्या ? मुक्ति की गन्ध भी नहीं मिलती।

आत्मीयमेव यो नेच्छेत् भोक्ताप्यस्य न विद्यते ॥ २५७ ॥
आत्मापि न तदा तस्य क्रियाभोगौ हि लक्षणम् ।

जो आत्मीय की ही इच्छा नहीं करता वह भोक्ता नहीं माना जाता, क्योंकि आत्मीयपदार्थ ही भोग्य होता है । भोग्य के बिना भोक्ता कैसा ? ॥२५७॥ भोक्ता का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि क्रिया और भोग ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व के स्वरूप माने जाते हैं । जबकि आत्मीय ही नहीं है तब कर्म किसलिए, और भोक्तव्य क्या ? फलतः कर्तृत्वभोक्तृत्व के अभाव से आत्मा का अभाव माना जाता है ।

वार्तिकालङ्कारः

अथापि स्यात् । आत्मीयमेव परमार्थतो नास्ति । तेन कुतः स्नेहसम्भवः । स्नेहो हि नाम विषये भवति । न निर्विषयः । तदप्यसत् । तदेतत्–आत्मीयमेव यो नेच्छेदिति ।

दृश्यमानमात्मीयं कथमिव शक्यं नास्तीति प्रतिपादयितुम् । अविद्यानिबन्धनत्वात् सर्वस्येति चेत् । ना अविद्याया आत्मव्यतिरेकेणाभावात् । नाविद्या पुरुषादन्या "पुरुष एवेदं सर्वमिति" वचनात् । ततोऽविद्यास्वभावत्वात् अस्य भ्रान्तता न कदाचिदपेयात् । न हि तदात्मभूत भ्रान्तिस्ततोऽपैति । तस्यैवापायप्रसङ्गात् ।

प्रतिक्षिप्तश्च स्याद्वादः । किञ्च आत्मीये असति क्रियाभोगौ न स्तः क्रियाभोगात्मकत्वादात्मनः । अथ परमार्थत एतदपि नेष्यत एवेति चेत् । आत्मनोऽपि परार्थत्वे कोऽवष्टम्भः । संवेदनेन तस्य परिच्छेदादिति चेत् सर्वसंवेदनप्रसङ्गः । अभ्यासात्स्वप्नादिवदसत्त्वमिति । न युक्तमात्मनोऽपि न पारमार्थिकत्वं अथाद्वैतम् । तदा चित्राद्वैत-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि कहा जाय कि आत्मीय नाम की कोई विषयवस्तु है ही नहीं, तब उससे स्नेह क्योंकर सम्भव होगा ? स्नेह तो किसी विषय में ही होता है निर्विषयक नहीं । तो वैसा कहना असत् है, क्योंकि दृश्यमात्र ही आत्मीय है, तब आत्मीय विषयवस्तु नहीं—यह कैसे कहा जा सकता है ? दृश्य तो अविद्यामात्र है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्या आत्मा से व्यतिरिक्त नहीं, जैसा कि कहा गया है—"पुरुष एवेदं सर्वम्" (ऋ० सं० १०।९०।२) । अविद्या जिस पुरुष का स्वभाव है, वह सदैव भ्रान्त है, उसकी भ्रान्तता कभी दूर नहीं हो सकती । भ्रान्ति जिसका स्वभावभूत है, उससे वह दूर हो—ऐसा नहीं हो सकता, अन्यथा उस पदार्थ का ही अभाव हो जायगा ।

"कथंचित् अस्ति, कथंचित् नास्ति"—इस प्रकार का जैन-सम्मत स्याद्वाद खंडित हो चुका है । दूसरी बात यह भी है कि आत्मीय पदार्थ के न होने पर क्रिया एवं भोगादि पदार्थ भी नहीं होंगे क्योंकि आत्मा का स्वरूप क्रिया-भोगात्मक ही माना जाता है । यदि कहा जाय कि क्रियादि पदार्थ भी परमार्थतः नहीं माने जाते, तब आत्मा के परमार्थ होने में भी क्या विश्वास ? यदि संवेदन के द्वारा आत्मा निश्चित होता है, तब तो सर्वसंवेदन प्रसक्त होता है । वस्तुतः स्वप्नादि के समान असत् की ही बार-बार प्रतीति मानी जाती है, तब तो समस्त विषयों के समान आत्मा को भी परमार्थतः नहीं माना जा सकता, फलतः विज्ञानाद्वैतवाद ही सिद्ध होता है, विज्ञान चित्राकार होने से इसे चित्राद्वैतवाद कहते हैं । आत्मा की नित्यता का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल वर्तमान का ही ग्राहक

तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम् ॥ २५८ ॥
उत्खातमूलाङ्कुरुत सत्त्वदृष्टिमुमुक्षवः ।

अतः संसार से उद्विग्न होकर मनुष्यगण आत्मदृष्टि का मूल उखाड़ देते हैं। अनादि सन्तान पूर्वपूर्व अविद्यारूप आत्मदर्शन उत्तरोत्तर आत्मदर्शन का कारण माना जाता है।

आगमस्य तथा भावनिबन्धनमपश्यताम् ॥ २५९ ॥
मुक्तिमागममात्रेण ब्रुवन्न परितोषकृत् ।

आगम में प्रतिपादितार्थ संवादित्व को न देखकर मुमुक्षुओं के लिए आगममात्र से मुक्ति मानने में परितोष नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

मिति। नात्मा नामास्ति, नित्यत्वस्य प्रत्युत्पन्नस्वभावमात्रग्राहिणा प्रत्यक्षेणाग्रहणात्। पूर्वापरप्रत्यक्षयोर्युगपदभावात्। एकैकेन नित्यतात्मनः। अथ परमार्थ एतदपि नेष्यत एवेति चेत् प्रतीतिः। न च संघटनं स्मृतेरप्रमाणत्वात्। प्रत्यक्षाभावेऽनुमानाभावाच्चेति। ततो नात्मदर्शनात्समीहितार्थसिद्धिः। ततो हि—तस्मादनादिसन्तानेति।

नैरात्म्यदर्शनादेव मोक्षो नान्या गतिः प्रामाणिकीत्युपसंहारः।

(४६) आगममात्रेण न मुक्तिः—

नन्वागमादात्मास्तित्वं तस्य च मोक्षः। स च मोक्ष एकान्तसुखरूपो न कदाचित्तस्याभावः। संसारसुखं तु विच्छेदवदिति न ततः परितोषः। स च दीक्षादिविधेरित्यचोद्यमेव पूर्वकं सकलम्। तथा चोक्तम्—

अतीन्द्रियानसम्बन्धान् पश्यंत्यार्षेण चक्षुषा। ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥ ८५८ ॥

अपौरुषेयं वा वचनमिति। तदप्ययुक्तम्—आगमस्य तथेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है। पूर्व और अपर वस्तु के ग्राहक दो प्रत्यक्ष एक साथ कभी नहीं हो सकते। आत्मा भी परमार्थतः नहीं माना जाता, तब 'अहम्'—इस प्रकार की प्रतीति को यदि स्मृति माना जाता है, तब वह प्रमाण नहीं। प्रत्यक्ष के न होने पर अनुमान भी नहीं हो सकता, फलतः आत्मप्रतीति मात्र के आधार पर अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। निष्कर्षतः नैरात्म्य-दर्शन से ही मोक्ष की प्रामाणिकी प्रतीति सिद्ध होती है।

(४६) आगममात्र से मुक्ति नहीं होती—

शंका—आगम के (वेदादि) द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है और साधनानुष्ठान से उसकी मुक्ति सिद्ध होती है। या मुक्ति या मोक्षतत्त्व एकान्त सुखात्मक है उसका अभाव कभी नहीं होता, सांसारिक सुख नश्वर होने के कारण सन्तोषाधायक नहीं। मोक्ष के लिए आत्मदर्शनादि की विधि का उपदेश किया गया है।

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥ (वाक्यपदीयम्—३।४)

अर्थात् जो महापुरुष अतीन्द्रिय और असंवेद्य पदार्थों का आर्षचक्षु के द्वारा दर्शन करते हैं उनका वचन अनुमान से बाधित नहीं होता। ऐसे ही अपौरुषेय वचन दिखाये जा सकते हैं।

नालं बीजादिसंसिद्धो विधिः पुंसामजन्मने ॥ २६० ॥
तैलाभ्यङ्गादिदाहादेरपि मुक्तिप्रसङ्गतः ।

बीजादि में दीक्षाविधान पुरुष के जन्माभाव का कारण नहीं होता अन्यथा तैलाभ्यञ्जन और अग्निदाहादि से भी संसार की मुक्ति प्रसक्त होगी ।

प्राग्गुरोर्लाघवात् पश्चात् न पापहरणं कृतम् ॥ २६१ ॥
मा भूद्गौरवमेवास्य न पापं गुरुमूर्तितः ।

दीक्षा के पूर्व दीक्षित का लाघव न करके गुरु ने गौरवापादन किया ऐसी कल्पना क्यों नहीं की जाती ? लाघव गौरव का विरोधी धर्म देखा जाता है, अतः दीक्षा विधि से गौरवाभाव का गमक होता है, पाप का नहीं । पाप को गुरु नहीं कह सकते क्योंकि वह अमूर्त है, मूर्त पदार्थों का धर्मगौरव अमूर्त पदार्थ में कैसे होगा ।

वार्तिकालङ्कारः

सत्यमेतदतीन्द्रियदर्शिनां वचनमनुमानेन बाध्यते । तदेव तु तत्प्रयुक्तत्वं वचनस्य न गम्यते । सर्वागमसाधारणत्वादस्य । न च सर्वागमप्रमाणत्वम् । न तदर्थानुष्ठान-सम्भवः । अपौरुषेयत्वन्तु न युक्तमित्युक्तम् ।

(४७) दीक्षाऽकिञ्चित्करी—

ननु बीजादीनामप्ररोहणधर्मता दीक्षाविधिसंसर्गादुपलब्धा । तदप्ययुक्तम्—नालं बीजादिसंसिद्ध इति ।

अथ तैलाभ्यङ्गस्य तावन्मात्रमेव सामर्थ्यं एवं सति दीक्षायामपि समानम् । तथा हि—

(४८) आत्मनोऽमूर्त्तत्वे न पापगौरवलाघवम्—प्राग्गुरोर्लाघवादिति ।

यदि नाम दीक्षितस्य सतः प्राग् गुरोर्लाघवं भवतु । न तावता पापापहारः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—यह सत्य है कि अतीन्द्रियदर्शी महापुरुषों के वचन अनुमान से बाधित नहीं होते, किन्तु वे वचन तत्प्रयुक्त हों, ऐसा अवगत नहीं होता, क्योंकि वह भी सर्वागम साधारण है । सर्वागमों की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती, उनके द्वारा प्रतिपादित सभी अर्थों का अनुष्ठान भी नहीं हो सकता । किसी वचन का अपौरुष होना युक्तियुक्त नहीं यह कहा जा चुका है ।

(४७) दीक्षा अकिञ्चित्करी—

यव-व्रीहि आदि बीजों में भर्जन आदि संस्कारों के विधान को दीक्षा-विधान कहते हैं । तैलादि से अभ्यञ्जित या भर्जित बीज जैसे अंकुरोत्पादन में सर्वथा अक्षम हो जाते हैं, वैसे ही मानव-जन्म के तृणादि बीज भी वैराग्यादि अग्नि के द्वारा भर्जित होकर पुनर्जन्म को अंकुरित नहीं करते । मोक्ष की अयत्न-सिद्धि क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह कि मानव-जन्म के बीजभूत अविद्यादि क्लेशों का भर्जन नहीं होता । केवल नैरात्म्यदर्शन के द्वारा उनकी निवृत्ति होती है अन्यथा मोक्ष के लिए तैलाभ्यङ्गादि का उपादान भी प्रसक्त होगा ।

(४८) आत्मा अमूर्त है, अतः पापादि से गुरु नहीं होता—

दीक्षा-विधान से पूर्व आत्मा पाप से गुरु और पापाभाव से लघु (हल्का) नहीं होता, क्योंकि आत्मा मूर्त्त द्रव्य नहीं । गुरुत्वादि धर्म मूर्त्त के हैं, अमूर्त के नहीं । पाप में गुरुत्व और पुण्य में लघुत्व भी नहीं होता, क्योंकि पाप-पुण्य द्रव्य नहीं होते । पाप

मिथ्याज्ञानतदुद्भूत तर्षसंचेतनावशात् ॥ २६२ ॥
हीनस्थानगतिर्जन्म तेन तच्छिन्नजायते।
तयोरेव हि सामर्थ्यं जातौ तन्मात्रभावतः ॥ २६३ ॥
ते चेतने स्वयं कर्मात्मखण्डं जन्मकारणम्।

बौद्ध पक्ष में नैरात्म्यदर्शन से जन्म क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्या ज्ञान (दुःख में विपर्यय बुद्धि) तज्जनित तर्ष (तृष्णा) का अभाव हो जाने से नैरात्म्यदर्शी जन्मलाभ नहीं करता। अज्ञान और तृष्णा जन्म के निमित्त माने जाते हैं। दीक्षित पुरुष के वे दोनों विद्यमान रहते हैं, अतः वे जन्मलाभ करते हैं, कर्म भी जन्म का कारण होता है, तब केवल अज्ञान और तृष्णा के उच्छेद से जन्म का उच्छेद क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है कि अज्ञान और तृष्णा का कारण है पूर्वकर्म अज्ञान और तृष्णा इनका सम्पिण्डित अभाव जन्माभाव का कारण माना जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

लाघवं हि गौरवविरोध्युपलभ्यमानं गुरुत्वाभावमेव गमयति न पापाभावम्। पापस्य गौरवाभावात्। पापेनैवासौ गुरुरिति चेत्। कुत एतद्। आगमादिति चेत्। उक्तमत्र। अपि च—

तावन्मात्रस्य पापस्य मुक्तिर्नास्ति विनाशतः। सामर्थ्यादपरत्रापि शक्तिरित्यनिरूपणम् ॥८५९॥
दर्शनं देवतादीनां क्व च नाम न विद्यते। सर्वतो मुक्तिरस्तीति को विशेषस्तथा सति ॥८६०॥

ननु भवत्पक्षेऽपि तृष्णाच्छेदो यदि नाम नैरात्म्यभावनातः, मुक्तिस्तु कथमिति चिन्त्यमेव। तदपि न यथावत्। तथा हि—मिथ्याज्ञानतदुद्भूतेति।

यतः—ते चेतने स्वयमिति।

तृष्णावशादेव देशादिसंप्राप्तिरुपलभ्यते।

ननु जन्मनः कर्मापि कारणं ततः कथं तन्मात्रभावः। तदप्यसत्। ते एव चेतने

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

से आत्मा में गुरुता आती है—ऐसा आगम से प्रमाणित होता है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आगम की प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती यह कहा जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि उतने पापमात्र का नाश हो जाने पर भी मुक्ति कैसे सिद्ध होगी ? अन्य पाप की शक्ति भी तो विद्यमान है ॥८५९॥ देवताओं के दर्शन को भी मोक्ष का हेतु नहीं कह सकते, क्योंकि वह कभी भी हो सकता है। समस्त पापों की निवृत्ति से मोक्ष-लाभ होता है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कतिपय पापों की निवृत्ति से समस्त पापों की निवृत्ति में क्या विशेषता ? ॥८६०॥

शंका—आप (बौद्धों) के पक्ष में प्रश्न उठता है कि नैरात्म्य-भावना से यदि तृष्णा का नाश होता है, तो हो, मुक्ति क्योंकर होगी ?

समाधान—उक्त प्रश्न यथावत् नहीं, क्योंकि मिथ्या ज्ञान और तज्जन्य तृष्णा—ये दोनों चेतन (चित्तस्कन्ध) में सम्प्रयुक्त होकर पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। उनका नाश होने पर जन्म नहीं हो सकता। देशान्तर-प्राप्ति सदैव तृष्णा के वश से ही होती है।

शंका—जन्म का कारण कर्म भी है, तब यह कैसे कह दिया—"तन्मात्रभावः"

पूर्वकर्म कारण होने के कारण कार्य के द्वारा वह भी संगृहीत हो जाता है। इसकी चर्चा विगत पृ० ३३७ पर भी आ चुकी है—"अविद्या तृष्णा कर्म चेति त्रयस्य कारणत्वात् ॥"

गतिप्रतीत्योः कारणान्याश्रयस्तान्यदृष्टतः ॥ २६४ ॥
अदृष्टनाशान्न गतिस्तत्संस्कारो न चेतना ।

गति, कारण और प्रतीति इन्द्रियों के द्वारा होती है। दीक्षा के द्वारा इन्द्रियों के कारणीभूत अदृष्ट के नाश होने से, किन्तु दीक्षित व्यक्ति के अदृष्ट का नाश नहीं होता।

सामर्थ्यं करणोत्पत्तेर्भावाभावानुवृत्तितः ॥ २६५ ॥
दृष्टं बुद्धेर्न चान्यस्य तानि सन्ति न सन्ति किम् ।

बुद्धि के अन्वय-व्यतिरेकानुविधान से करणों का देशान्तर समुत्पात देखा जाता है, वह बुद्धि दीक्षित व्यक्ति की रहती है, अतः इन्द्रियगण उसको गर्भस्थान में ले जाते हैं।

वार्तिकालङ्कारः

स्वयं कर्म। यत्पूर्वकं चेतनालक्षणम्। दानादिकर्मतत्संस्कारादन्त्ये जन्मान्तरभाविनी चेतने। मिथ्याज्ञानतद्भूततर्षसंचेतने। त एव स साक्षात्कर्म तदनन्तरभावित्वात् जन्मनः। पूर्वकन्तु तत्कारणत्वात् उपचारात्कर्म न साक्षात् स्वतः संपूर्णजन्मकारणं दीक्षितस्यापि तदस्तीति न मुक्तिः। अथापि स्यात्—गतिप्रतीत्योः कारणेति।

दशविधं कुशलमकुशलमपि दशविधमेव न चेतनालक्षणम्। तस्य च दीक्षादिना विधानेन नाश इति। तदप्यसद्। अर्थस्यासिद्धत्वात्। अपि च—सामर्थ्यंकरणोत्पत्तेरिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थात् मिथ्या ज्ञान और तृष्णा—इन दोनों से ही जन्म होता है—

समाधान—पूर्वजन्मार्जित कर्म से मिथ्या ज्ञान और तृष्णा की उत्पत्ति होती और इन दोनों से जन्म सिद्ध होता है। आशय यह है कि जन्म की साक्षात् कारणता इन दोनों में ही है और इन कारणों की कारणता कर्म में होती है, फलतः मिथ्या ज्ञान और तृष्णा—ये दोनों साक्षात् कर्म और पूर्वतन कर्म गौण कर्म हैं। दीक्षित पुरुष में ये दोनों विद्यमान हैं, अतः उसे मुक्ति-लाभ न होकर पुनर्जन्म मिलेगा।

यह जो कहा जाता है कि दश प्रकार के अकुशल और दश प्रकार के कुशल कर्मों का दीक्षा-विधि से त्याग नाश है। वह भी उचित नहीं, क्योंकि उससे अभीष्टार्थ (जन्माभाव) की सिद्धि नहीं होती। [अभिधर्मामृत पृ० २९ में इन कर्मों का निर्देश किया गया है—"द्विविधः संवरः—कुशलसंवरोऽकुशलसंवरः। कतमोऽकुशलसंवरः? प्राणातिपातः, अदत्तादानम्, काममिथ्याचारश्चेति त्रीणि कायदुश्चरितानि नाम। पैशुन्यं पारुष्यं मृषावादः, संभिन्नप्रलापश्चेति चत्वारि वाग्दुश्चरितानि नाम। अभिध्या, व्यापादः, मिथ्यादृष्टिश्चेति त्रीणि मनोदुश्चरितानि।" इन दश कर्मों दश विपर्यय कुशल कर्म हैं। मनुस्मृति १२।५—७ में भी कहा है—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्ठचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्ममानसम् ॥ ५ ॥

धारणप्रेरणक्षोभनिरोधाश्चेतनावशाः ॥ २६६ ॥

न स्युस्तेषामसामर्थ्ये तस्य दीक्षाधनन्तरम् ।

मुमुक्षु पुरुष में दीक्षा के अनन्तर बुद्धिगत सामर्थ्याभाव आजाने के कारण वह बुद्धि अपने विषय में इन्द्रियों का स्थापन (धारण) आयोजन (प्रेरण) और क्षोभ (विकार) एवं निरोध (निवृत्ति) ये नहीं हो सकते ।

वार्तिकालङ्कारः

बुद्धेरन्वयव्यतिरेकावनुविधीयमानानि करणानि चक्षुरादीनि तानि बुद्धया विधीयमानानि सन्ति परम्परयोत्पद्यन्ते । ततः कस्मान्न जन्म । अथ दीक्षयोपघातान्न जन्मनि सामर्थ्यमेवं सति । तदेतत्—धारणप्रेरणक्षोभेति ।

बुद्धयादयो ह्यात्मगुणा यदि दीक्षयोपहताऽनलं जन्मनि सामर्थ्यभाजः । तदा दीक्षानन्तरमेव बुद्धिरुपहता सती धारणं स्वेच्छावृत्तिर्विषयेषु निवर्त्तनं प्रेरणमभिमते क्षोभो विसंस्थुलत्वम् । निरोधो विनाशः । एते न स्युः । अथ मरणानन्तरमसामर्थ्यं परिणतिविशेषापेक्षत्वात्कारणानाम् । तदप्ययुक्तम् । यतो हि—

इदानीं नास्ति सामर्थ्यं दीक्षादीनामजन्मने । यदि स्यान्मरणादूर्ध्वमिति नास्ति प्रमेदृशी ॥ ८६१ ॥

इदानीमेव यदि सामर्थ्यं लेशतः प्रतीयते तत उत्कर्षलाभादपरमपि स्यादिति स्याद् । यदा त्वनुगम एव तारतम्यभागी नोपलब्धः । तदा निर्निबन्धनमेव मुक्तिपरिकल्पनम् । अथेदानीं बुद्धिसद्भावात् रागादयोऽस्य समानस्वभावा भवन्ति । मरणानन्तरन्तु बुद्धेरभावादेव संसारधर्माभावः ।

तदप्यसत् । बुद्धिरेव जन्मान्तरे नास्तीति कुतः । मरणादिति चेत् । व्यर्थता दीक्षाविधेः सर्वस्य मरणे बुद्धयभावे सति मुक्तेः । तथा हि—अथ बुद्धेस्तदाभावादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥
अदत्तानामुपादानैः हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि आदि में इनकी न्यूनाधिक संख्या भी गिनाई गई है] ।

बुद्धि के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान चक्षुरादिकरण दीक्षित में बुद्धि के रहने पर इन्द्रियों की गति या जन्मान्तर क्यों नहीं होता ? यदि कहा जाय कि दीक्षा के आधार पर जन्मग्रहण का सामर्थ्य नहीं रहता तब दीक्षा के अनन्तर ही धारण, प्रेरण, क्षोभ और निरोध, इनका अभाव हो जाना चाहिए। यदि कहा जाय कि मरण के अनन्तर बुद्धि में जन्मग्रहण सामर्थ्य नहीं रहता तो वैसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि जब जीवन अवस्था में दीक्षा कुछ नहीं कर सकती तब मरण के पश्चात् वह कुछ करेगी ऐसा विश्वास कदापि नहीं किया जा सकता है ॥ ८६१ ॥

इस समय यदि लेशतः सामर्थ्य होता तब मुक्ति की परिकल्पना अकारण होती, बुद्धि के रहते-रहते जन्मग्रहण-सामर्थ्य हो सकता है, किन्तु मरण के अनन्तर बुद्धि का अभाव हो जाने से वह सामर्थ्य क्योंकर रहेगा ? इसके उत्तर में प्रश्न किया जा सकता है—जन्मान्तर में बुद्धि ही नहीं रहती यह क्यों, मरण के कारण यदि बुद्धि का अभाव होता है तब सभी जीवों को मुक्ति लाभ अयत्नसिद्ध हो जाता है ।

अथ बुद्धेस्तदाभावात् न स्युः सन्धीयते मलैः ॥ २६७ ॥
बुद्धेस्तेषामसामर्थ्ये जीवतोऽपि स्युरक्षमाः ।

मिथ्याज्ञानादि मलों के द्वारा मरणकाल में बुद्धि का उत्पादन किया जाता है, अतः बुद्धि का अभाव सिद्ध नहीं होता ।

निर्ह्रासातिशयात् पुष्टौ प्रतिपक्षस्वपक्षयोः ॥ २६८ ॥
दोषाः स्वबीजसन्ताना दीक्षितेऽप्यनिवारिताः ।

रागादिमलों का स्वपक्ष माना जाता है आत्मदर्शन, और विपक्ष है नैरात्म्यदर्शन, आत्मदर्शन या अयोनिशोमनस्कार (विपर्यय ज्ञान) उसके पुष्ट होने पर दोष दीक्षित पुरुष में सुपुष्ट हो जाते हैं, अतः दीक्षित पुरुष में मिथ्याज्ञान तृष्णादि दोष बने ही रहते हैं । फलतः जन्मान्तर लाभ ही होता है, मुक्ति नहीं ।

वार्तिकालङ्कारः

रागादयो हि मला बुद्धेः सन्तो न हेतवः सन्तीति न बुद्धेरभावः । अथोपहतारागादयो दीक्षया न समर्थास्तदा जीवतो बुद्धेः प्रतिसन्धिहेतवो न स्युः । ततो दीक्षानन्तरमेव मुक्तिः स्यात् । अस्त्येवेति चेत् । तन्न,—निर्ह्रासातिशयादिति ।

दोषा हि स्वबीजभाविनः कुत एतत् । निर्ह्रासादतिशयाच्च प्रतिपक्षस्य नैरात्म्यस्य पुष्टौ निर्ह्रासात् । स्वपक्षस्यायोनिशोमनस्कारस्यातिशयात् । एवंभूताश्च दोषा दीक्षितेऽपि अनिवारिताः । इह जन्मनि अन्यत्र च तत्, कथमसौ मुक्तः ।

(४९) आत्मनो नित्यत्वे न पुनर्जन्म—

ननु नैरात्म्यदर्शनञ्चेत् कस्यासौ मुक्तिः । आत्मा हि रागादिमलोपहतः शुद्धो यदा कुतश्चिद् भवेत् तदा मुक्तः । बन्धविगमो हि मुक्तिः । नैरात्म्यदर्शने च यो बन्धः स बन्ध एव । न स एव मुक्तो नित्यतयात्मदर्शनभावात् । तदप्यसत् ।

शुद्धिर्यस्य न तस्यान्यानिर्वाणोऽग्निर्न पावकः । तथापि व्यपदेशोऽयं निर्वाणोऽग्निरिति स्थितः ॥८६२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रागादि बुद्धि के मल (दोष) हैं, बुद्धि के कारण नहीं कि उनके अभाव से बुद्धि का अभाव हो जाता । यदि कहा जाय कि दीक्षा के द्वारा रागादि उपहत हो जाते हैं, समर्थ न रहने के शरीरान्तर के साथ जीवित दीक्षित बुद्धि का प्रतिसन्धान नहीं कर सकते । तब दीक्षा के अनन्तर ही मुक्ति हो जानी चाहिए । मुक्ति हो ही जाती है— ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि रागादि दोष अपने साधक हेतुओं के उपचय से उपचित और अपने बाधक हेतुओं के उपचय से अपचित होते हैं । रागादि के साधक हैं— अयोनिशोमनीस्कार (विपर्यय ज्ञान) और बाधक है—नैरात्म्य-दर्शन । अतः दीक्षित व्यक्ति के दोषों का अभाव नहीं होता, तब वह मुक्त क्योंकर होगा ?

(४९) आत्मा यदि नित्य है, तब पुनर्जन्म नहीं हो सकता—

शंका—नैरात्म्य-दर्शन यदि सम्पन्न हो गया, तब मुक्ति किसकी होगी ? आत्मा तो सदैव रागादि मलों से युक्त है । जब कभी किसी साधन से शुद्ध (बन्ध-रहित) होगा, तब वह मुक्त हो सकेगा । बन्ध-विगम ही मुक्ति है । नैरात्म्य-दर्शन होने पर जो बन्ध है, वह बन्ध ही रहेगा । नित्य आत्मा का दर्शन तो नित्य है, नैरात्म्य-दर्शन कब होगा ?

नित्यस्य निरपेक्षत्वात् क्रमोत्पत्तिर्विरुध्यते ॥ २६९ ॥
क्रियायामक्रियायाश्च क्रिया च सदृशात्मनः ।

आत्मा वैशेषिकादि मतों में नित्य माना जाता है अभ्यन्तर में कारणकलाप का उत्पादक नित्य होने के कारण पुनर्जन्म दीक्षित का अनिवार्य है। दीक्षा के द्वारा कारणकलाप में किसी प्रकार की कुण्ठा उत्पन्न नहीं हो सकती। अशुद्ध अवस्था और शुद्ध अवस्था का क्रम भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अवस्थाओं का कारणीभूत आत्मा नित्य और निरपेक्ष है, अतः किसकी अपेक्षा से क्रम बनेगा ? ॥ २६९ ॥

ऐक्यं च हेतुफलयोः व्यतिरेके ततस्तयोः ॥ २७० ॥
कर्तृभोक्तृत्वहानिः स्यात् सामर्थ्यं च न सिध्यति ।

आत्मा यदि एक है और वही कर्त्ता और भोक्ता है तब कर्तृत्व और भोक्तृत्वरूप हेतु और फल का ऐक्य या अभेद प्रसक्त होता है। यदि कर्त्ता-भोक्ता का भेद माना जाता है, तब आत्मा न कर्त्ता होगा, न भोक्ता। एवं असमर्थ अवस्था से समर्थ अवस्था में जाने के लिए वस्तु का भेद चाहिए, किन्तु आत्मा एक है, अतः उसमें सामर्थ्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥ २७० ॥

वार्तिकालङ्कारः

तत्रास्मत्पक्षे वाचोयुक्तिमात्रमेव न घटते । तच्च दृष्टान्तेन समाहितम् । आत्मवादे तु अर्थ एव न घटते । वाचोयुक्तिमात्रेण तु घटते । नापि न किञ्चित् प्रधानस्य वस्तुनो विघटनात् न चात्र दृष्टान्तोऽस्ति । यतः—नित्यस्य निरपेक्षत्वादिति ।

अवस्थाभेदे ह्यात्मनः मुक्तता । अशुद्धावस्थस्य सतः शुद्धिसम्भवे । न क्रमेणावस्थानां कार्यतात्मनो निरपेक्षस्य युगपदेवावस्थाभावित्वप्रसङ्गादिति प्रदेशान्तरे निर्णयात् । अपि च । क्रिया विरुध्यते क्रियाक्रियावस्थयोः सदृशत्वात्—ऐक्यञ्च हेतुफलयोरिति ।

तादात्म्ये सति हेतुफलयोरैक्यं प्रसक्तम् । एकात्मान्तर्गतत्वात् तदात्मवत् । भेदे तयोर्हेतुफलयोर्नासौ कर्त्ता न भोक्ता । करणभोगसम्बन्धाभावात् । अपरात्मवत् अनुभव-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—अग्निकुण्ड में पुरानी अग्नि बुझ रही है, उसका शुद्धीकरण किया गया, पहले के अग्नि के लिए व्यवहार होता है 'निर्वाणोऽग्निः'। यद्यपि पुरानी अग्नि की इस समय सत्ता नहीं, जब कि 'निर्वाणोऽस्ति अग्निः' इस व्यवहार में निर्वाण-प्राप्त अग्नि की सत्ता व्यवहित होती है, किन्तु उसकी सत्ता सम्भव नहीं और परिशुद्ध अग्नि के लिए निर्वाण व्यवहार सम्भव नहीं, तथापि 'निर्वाणोऽग्निः' इस प्रकार व्यवहार देखा जाता है ।।८६२।। हमारे बौद्ध पक्ष में आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं, अतः 'आत्मा मुक्तः' इस प्रकार की वाचोयुक्ति (व्यवहार) सम्भव नहीं। किन्तु आत्मवादियों के मत में अर्थ के न घटने पर भी विकल्प व्यवहार देखा जाता है। जिसका परिचय योगदर्शन में दिया गया है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो० सू० १-९) जैसे 'स्नातकोऽयं पुरुषः' इत्यादि व्यवहार पुरुष की अवस्थान्तर (विशुद्धि) को लेकर प्रवृत्त हो जाता है, किन्तु अशुद्ध वस्तु की सत्ता मानने पर ही शुद्धि सम्भव है। आत्मा नित्य है, तब उसकी शुद्धता तथा अशुद्धता का क्रम सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मा सदा नित्य एकरस है। युगपत् शुद्धता अशुद्धता को लेकर मुक्तता और अमुक्तता उभयविध व्यवहार प्रसक्त होता है। एक वस्तु में विरुद्ध दो क्रियाओं का युगपत् सम्बन्ध सम्भव

अन्यस्मरणभोगादिप्रसङ्गाश्च न वाचकाः ॥ २७१ ॥
अस्मृतेः कस्यचित् तेन ह्यनुभूते स्मृतोद्भवः ।

यदि चित्त-सन्तान से भिन्न आत्मा नाम की कोई एक नित्य वस्तु नहीं, तब अन्य के द्वारा अनुभूत का स्मरण अन्य को एवं अन्य के द्वारा कृत कर्म का फलोपभोग अन्य को क्यों प्रसक्त न होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है कि स्मर्त्ता और भोक्ता नाम अभाव होने के कारण उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं होता। वस्तुस्थिति यह है कि अनुभव स्मरण-बीजाधान के द्वारा स्मरण का जनक माना जाता है एवं शुभाशुभ कर्म चेतनात्मक संस्कार भोक्ताकार संवित् के प्रवर्तक होते हैं। केवल बुद्धि-सन्तान सर्वव्यवहार का निर्वाहक है, संसारी नाम की भिन्न वस्तु कोई नहीं ॥ २७१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तोऽपि न सम्बन्धः। आत्मान्तरवदेव योगी परात्मकरणभोगसाक्षात्करणात् कर्त्ता भोक्ता च स्यात्। अथ समवायसम्बन्धा एवं न समवायस्याभावादेव न च योगिनामपि समवायाद् एकत्वबुद्धिहेतुः। अथ कार्यकारणभावात् कारणफलाभ्यां कर्त्ता भोक्ता चासौ भवेत्। तदप्ययुक्तम्। सामर्थ्यञ्च न सिध्यति। न नित्यस्य सामर्थ्यमस्तीति प्रतिपादितम्।

(५०) नैरात्म्ये स्मृतिसंगतिः—

नैरात्म्येऽपि तर्हि स्मरणभोगादयो न सिध्यन्ति। तन्न,—अन्यस्मरणभोगादीति।

न कस्यचित् स्मरणं स्मर्त्तुः तदभावादेव। नापि भोगो भोक्त्रभावादपि तु स्मरणमेव। तदेव स्मर्तृस्मरणविषय एवं भोगेऽपि वाच्यं सुखमेव भोग्यं भोगो भोक्ता च तच्च स्मरणं हेतोरनुभवादुत्पद्यते। नन्वन्यतोऽप्यनुभवात् परकीयाभिमतात् कस्मान्नोत्पत्तिमत्। परकर्मणोऽपि च भोगः। कार्यकारणभावनियमात् आत्मवादेऽपि वा कस्मान्न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं। आत्मा कर्ता है और भोक्ता, कर्ता भी वही और भोक्ता भी वही, कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभेद प्रसक्त होता है, क्योंकि एक ही आत्मा में दोनों धर्म तादात्म्यापन्न हैं, यदि कर्तृत्वादि धर्मों को आत्मा से भिन्न माना जाता है, तब आत्मा न कर्ता होगा न भोक्ता, क्योंकि करण-सम्बन्ध का अभाव होने से कर्तृत्व और भोग-सम्बन्ध का अभाव होने से भोक्तृत्व आता है, किन्तु दोनों धर्मों का सम्बन्ध न रहने के कारण एक ही आत्मा कर्ता और भोक्ता क्योंकर होगा ?। अन्यात्मा के समान ही योगी पुरुष परकीय करण और भोग के सम्बन्ध का साक्षात्कार करता है, अतः उसे कर्ता और भोक्ता मानना होगा। यदि कर्तृत्वादि धर्मों का समवाय-सम्बन्ध विवक्षित है, जो कि योगी में नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि समवाय नाम की कोई वस्तु प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती। एक ही आत्मा में कार्य और फल का सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव नित्य पदार्थ में किसी प्रकार का सामर्थ्य ही नहीं माना जाता है।

(५०) नैरात्म्यवाद में भी स्मृति की सङ्गति—

नैरात्म्यवाद में अनुभूत का स्मरण और कृतकर्मों का फलोपभोग क्योंकर होगा ? इसका उत्तर यह है कि न तो पूर्व अनुभूत का किसी को स्मरण होता है और न पूर्वकृत कर्मों का फलोपभोग, क्योंकि स्मर्ता और भोक्ता का अभाव है। लोक में ऐसा देखा जाता है, न तो अन्य के अनुभव से अन्य को स्मरण, न अन्य की क्रिया से अन्य को

वार्तिकालङ्कारः

भवत्येष दोषः । आत्मनो भेदात् स एव भेदः कुतः ।

यथैवात्माऽविशेषेऽपि नान्यतः स्मृतिसम्भवः । तथा मनोविशेषेऽपि नान्यतः स्मरणोदयः ॥८६३॥

मनसां हेतुभेदेन भेद एष भवेदपि । आत्मनान्तु कुतो भेदविभागो यमहेतुकः ॥८६४॥

नन्वसत्येकस्मिन्नात्मनि ।

पश्याम्यहं स्मरामीति कुत एकत्वसङ्गतिः । आत्मन्यपि समानोऽयं दोषो नात्र प्रमोदयः ॥८६५॥

आत्मापि केन प्रमाणेन स्मरणं दर्शनञ्चैकाधिष्ठानतया वेत्ति । प्रत्यक्षेणेति चेत् ।

पूर्वापरत्वेनाव्यक्षगतिरस्तीति साधितम् । प्रत्यक्षासम्भवात्तत्र नानुमानं प्रवर्तते ॥८६६॥

पूर्वरूपतयात्मानं यद्यात्मा वेत्ति तत्त्वतः । संवेदनस्य पूर्वस्य सत्त्वं स्यादधुनातनम् ॥८६७॥

ततः पूर्वतया तस्य संवित्तेः सम्भवः कुतः । न हि संवेद्यमानस्य पूर्वभावः प्रतीयते ॥८६८॥

स्मरणादेव पूर्वत्वं न प्रमाणं स्मृतिर्न हि । स्मरणादेव तत्त्वञ्चेदन्यत्रापि न किं मतम् ॥८६९॥

तस्मादात्मप्रवादेऽपि नैकत्वं तत्त्वतः स्थितम् । तयोश्च युगपद्भावादेकत्वमभिमन्यते ॥८७०॥

एकत्वमात्राभिमते व्यवहारो विभागतः । एककार्यतया चैकव्यवहारोऽयमीक्ष्यते ॥८७१॥

अनाद्यविद्याभासस्य सामर्थ्यमिदमाञ्जसम् । नात्मास्ति वेदेनैवैका तथात्मग्रहकारिणी ॥८७२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

फलप्राप्ति ।

आत्मवाद में भी यह दोष क्यों नहीं ? इसका उत्तर है आत्मभेद वह आत्मभेद जैसे अन्यदीय स्मरण और फलोपभोग का बाधक है, वैसे ही मनोभेद उसका बाधक माना जाता है ॥८६३॥ मन अनेक हैं, अतः मनोजन्य कार्यों में भी भेदव्यवहार होता है, किन्तु आत्मा एक है, तब भेदव्यवहार कैसे ? ॥८६४॥ आत्मैकत्ववाद में "अहं पश्यामि" "अहं स्मरामि" इस प्रकार की अनुभूतियों में एकत्व-सङ्गति कैसे होगी ? केवल इतना ही नहीं, अभिन्न अधिकरण में भिन्न धर्मों का अभेद प्रसक्त होता है, तब भेदव्यवहार अप्रमा क्यों नहीं ? ॥८६५॥ आत्मा भी किस प्रमाण के द्वारा दर्शन और स्मरण का समानाधिकरण्य अनुभव करता है, प्रत्यक्ष के द्वारा ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्व और पर विषयों का एक प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण नहीं होता, ऐसा सिद्ध किया जा चुका है। प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी प्रवृत्त नहीं हो सकता ॥८६६॥ यदि इस समय पूर्वतन अनुभव की एकता आत्मा प्रत्यक्ष कर रहा है तब पूर्वतन अनुभव का इस काल में सत्त्व प्रसक्त होता है ॥८६७॥ पूर्वतन संवित्ति का सत्त्व इस काल में नहीं रह सकता, क्योंकि इस समय संवेद्यमान पदार्थ का पूर्वभाव प्रतीत नहीं हो सकता ॥८६८॥ स्मरण के आधार पर पूर्वत्व का भान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति प्रमाण नहीं, स्मरण के आधार पर यदि एकता अनुभूत होती है। सर्वत्र क्यों नहीं ॥८६९॥ अतः आत्मा का प्रवाह या समुत्थान एकत्व-व्यवहार का कारण नहीं बन सकता। एक काल में उभय का भान होने के कारण एकत्व का अभिमान हो जाता है ॥८७०॥ पृथक् व्यवहार के आधार पर एकत्व का भान एककार्यकारित्व उपाधि के कारण हो जाता है ॥८७१॥ ऐसा व्यवहार अनाद्यविद्या के सामर्थ्य से उत्पन्न हो जाता है। वेद के द्वारा भी आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती, अपितु केवल आत्मा का उपचार सिद्ध होता है, जैसा कि विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि त्रिंशिका में कहा गया है—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो य प्रवर्तते ।
विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा ॥

स्थिरं सुखं ममाहं चेत्यादि सत्यचतुष्टये ॥ २७२ ॥

अभूतान् षोडशाकारान् आरोप्य परितृष्यति ।

दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग—इन चार आर्य-सत्यों के प्रत्येक सत्य में स्थिराकारता, सुखाकारता, ममाकारता और अहमाकारता नाम से चार-चार आकारों, सब मिलाकर सोलह आकारों का अध्यारोप हो जाता है, जिससे तृष्णा समुत्पन्न होकर संसरण-प्रवाह में डाल देती है ॥ २७२ ॥

तत्रैव तद्विरुद्धात्मतत्त्वाकारावरोधिनी ॥ २७३ ॥

हन्ति सानुचरां तृष्णां सम्यग् दृष्टिः सुभाविता ।

वहीं पर स्थिराकारतादि के विरुद्ध स्वभाववाली सम्यक्-दृष्टि (नैरात्म्यदृष्टि) सुभावित होकर तृष्णा और उसके समस्त परिवार का हनन (नाश) कर डालती है ।

वार्तिकालङ्कारः

कथन्तर्हि आत्मानमन्तरेण संसारप्रवर्तनम् । आत्मानमन्तरेण सत्कायदर्शनस्याभावात् । स्मरणमपि पूर्वापररूपविरहादेकता नित्यानित्यतयोर्न ग्रहणं समर्थमतः संसाराभाव एव ।

उक्तमत्र—न परमार्थतः संसारो नामास्ति स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनात् । तथापि व्यवहारत एतदेवं भवति । तथा हि—स्थिरं सुखमिति ।

(५१) सम्यग्दृष्टिर्नैरात्म्यदृष्टिः—तत्रैव तद्विरुद्धात्मेति ।

(५२) तृष्णाक्षयान्मोक्षः—हन्ति सानुचरामिति ।

अभूतारोप एव खलु संसारो न परमार्थतः संसारः । अभूताश्च षोडशाकारास्तदारोपात्परितर्षवतः कर्मसंसरणाभिमानोऽन्यथा न संसारस्य सम्भवः । अभिमानोऽपि न कश्चित्परापरसंवेदनव्यतिरिक्तोऽतोऽवेदनेऽप्येकत्वस्यात्मनश्च वेदनाभिमानः । तेनैवम्भूतत्वे न योनिशोमनसिकारसम्भवेनात्र किञ्चिदिति । परामर्शवतः स्थिरत्वेऽभ्यासतो नैरात्म्यस्य विशुद्धत्वमिति सकलाविद्याविनिवृत्तिलक्षणं निर्वाणापरनामकं साक्षात्करण-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आत्मा की सत्ता सिद्ध न होने के कारण आत्मग्रह-प्रयुक्त कार्य भी सिद्ध नहीं होते ॥ ८७२ ॥

आत्मसत्ता के अभाव में यह संसार क्यों उत्पन्न होगा ? इसका उत्तर दिया जा चुका है कि सत्कायदृष्टि या आत्मग्रह के आधार पर वैसा ही संसार परिस्फुरित हो जाता है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि संसार की परमार्थसत्ता सम्भव नहीं 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः" तथापि आरोह के आधार पर चार प्रकार के आर्यसत्यों के घटकीभूत प्रत्येक आर्यसत्य में स्थिराकारता, सुखाकारता, आत्मीयाकारता और आत्माकारता, सब मिलाकर सोलह आकारों का आरोप संसार का प्रवर्तक माना जाता है । (२७२ मू० प्र० वा०)

(५१-५२) सम्यक्दृष्टि-नैरात्म्यदृष्टि तथा तृष्णाक्षय से मोक्ष—

संसार केवल अभूतारोप या असद्-आरोपमात्र है, कथित सोलह आकारों के अध्यासित भावों पर एवं आत्मा की एकता भी वैसी ही है, आविद्धिक बन्धनों की निवृत्ति अविद्या की निवृत्ति से होती है, तत्त्वद्रष्टा पुरुष की तृष्णा निवृत्त होने पर मुक्ति

त्रिहेतोर्नोद्भवः कर्मदेहयोः स्थितयोरपि ॥ २७४ ॥
एकाभावाद् विना बीजं नाङ्कुरस्येव सम्भवः ।

एक तृष्णा का अभाव हो जाने से कर्म और देह के रहने पर भी तृष्णा, कर्म और देह—इन तीन हेतुओं का वैसे ही उद्भव नहीं होता, जैसे बीज के अभाव में अंकुर का जन्म नहीं होता।

असम्भवाद्विपक्षस्य न हानिः कर्मदेहयोः ॥ २७५ ॥
अशक्यत्वाच्च तृष्णायां स्थितायां पुनरुद्भवात् ।
द्वयक्षयार्थं प्रयत्ने च व्यर्थः कर्मक्षये श्रमः ॥ २७६ ॥

तृष्णा-क्षय के बिना कर्म और देह का और कोई विपक्ष नहीं। तृष्णा के रहते-रहते कर्म और देह की हानि नहीं हो सकती। तृष्णा और कर्म के क्षय का प्रयत्न करने पर पृथक् कर्म-क्षय का प्रयत्न व्यर्थ है।

फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनुमीयते ।
कर्मणां तापसंक्लेशात् नैकरूपात्ततः क्षयः ॥ २७७ ॥

कर्मों के (फल-वैचित्र्य) विविध उपभोगों को देखकर कर्मगत अपरिमित शक्ति-भेद का सहज अनुमान हो जाता है। अतः केवल एक या परिमित ताप से कर्म का क्षय नहीं हो सकता। क्योंकि पाप से पुण्य और पुण्य से पाप का क्षय क्योंकर होगा।

वार्तिकालङ्कारः

विषयः। तस्मात्तत्त्वदर्शिनां तृष्णाविनिवृत्तितो मोक्षः।

ननु कर्मणि देहे च स्थिते कथं मोक्षः। नैतदस्ति यतः—त्रिहेतोर्नोद्भव इति।

एवन्तर्हि कर्मदेहयोरप्यन्यतरस्य क्षये भवत्येव मोक्षो यथाहुः—"कर्मक्षयान्मोक्ष" इति। न सदेतत्। यतः—असम्भवाद्विपक्षस्येति।

(५२) अक्षीणकर्मणो न मोक्षः—

न हि तृष्णानिवर्तनमन्तरेणापरो विपक्षः कर्मदेहयोः। दीक्षादिविषया व्याख्याताः। आगमो न प्रमाणमिति। न च तृष्णासंगतः कर्म न करोति। रागद्वेषादयो हि ततोऽनायासत एव भवन्ति। द्वयक्षये च वरं तृष्णैव विनिवर्तिता। कर्मापि क्षपयितव्यमेवेति चेत् नासम्भवात् प्रतिपक्षस्येत्युक्तम्। यतः—फलवैचित्र्यदृष्टेरिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मानी जाती है।

यद्यपि कर्म और देह के रहने पर मोक्ष सम्भव नहीं, तथापि तृष्णा का नाश हो जाने से कर्म और देह की स्थिति रहने पर भी मोक्ष की सिद्धि मानी जाती है।

(५३) कर्म-क्षय न होने पर मोक्ष सम्भव नहीं—

तृष्णा की निवृत्ति के बिना कर्म और देह का अभाव नहीं हो सकता। दीक्षा का विषय कहा जा चुका है। यह जो आगम-वाक्य उद्धृत किया गया था—"कर्मक्षयान्मोक्षः", वह प्रमाण नहीं। तृष्णा-युक्त व्यक्ति कर्म नहीं करता—ऐसा नहीं, अपितु कर्म-प्रवर्तक राग-द्वेषादि तृष्णा से अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं, उनसे कर्म होता है। तृष्णा और कर्म—इन दोनों के क्षय से केवल तृष्णा की निवृत्ति ही आवश्यक और पर्याप्त है। कर्म भी क्षपयितव्य है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसका प्रतिपक्ष सम्भव नहीं। अर्थात् अनेक फल-प्रदान-सामर्थ्यवाले कर्म का केवल एक फल-प्रदान से

फलं कथञ्चित्तज्जन्यालपं स्यात् न विजातिमत् ।

कर्म की अपेक्षा उसका फल अल्प भी हो सकता है, इससे भी उसका क्षय प्रसक्त नहीं हो सकता ।

अथापि तपसः शक्त्या शक्तिसंकरसंक्षयैः ॥ २७८ ॥

क्लेशात् कुतश्चिद्धीयेताशेषक्लेशलेशतः ।

यदि जैनशास्त्रविहित केशलोलुञ्चनादि तपःकर्म के प्रभाव से नारकादि दुःख नहीं होता, तब जीवनकाल में किञ्चिद् मात्र भी दुःख नहीं होना चाहिए ।

यदीष्टमपरं क्लेशात् तत्तदा क्लेश एव चेत् ॥ २७९ ॥

तत् कर्मफलमित्यस्मात् न शक्ते संकरादिकम् ।

यदि तपरूप क्लेश कर्म का फल मान लिया जाय तब उस तप के द्वारा कर्मफल का उपभोग ही सम्पन्न हो सकता है ।

वार्तिकालङ्कारः

अनेकफलदानसामर्थ्यमभिमुखमादधाने कर्मण्यात्मनि कथमेकाकारफलोपभोगमात्रतः परिणहनः । परिक्षयः । एकाकारञ्च तापसंक्लेशलक्षणफलं ततो न परिक्षयो युक्तः । यतः—फलं कथञ्चित्तज्जन्यालपमिति ।

येन हि कर्मणा तज्जातीयमेव फलमुपजनयितव्यम् । तस्य फललेशानुभवात् तत्कर्मजमेव । फलमवहीयते फलानुभवेन । न तद्विलक्षणफलापचयः । तथा हि—अथापि तपस इति ।

यदि तपसः शक्तिरस्ति तदाऽशेषमेवाक्लेशात् लेशतः चैकलोमोत्पाटात् परिहीयते फलम् । तत्राप्युच्यते—यदीष्टमपरमिति ।

यदि क्लेशादपरं तत्तपस्तद तत एव कर्मक्षयः किं पञ्चतप आदि क्लेशेन । तत एव परिहीयतामशेषं कर्म । न खलवन्येन कृते नान्यस्य सामर्थ्यावगतिः । न च क्लेश एव तपस्तस्य कर्मफलत्वात् । न च कर्मफलमेव तपः । शीतातपसेविनां पश्वादीनामपि तापसत्वप्रसङ्गात् । अथ नैतत् कर्मफलमिच्छया प्रवर्तनात् । कर्मफलन्तु तदिच्छाविरहितस्यापि । तदप्ययुक्तम् ।

इच्छया राज्यलाभादि भवेत् कर्मफलं न किम् । कर्म तादृशमप्यस्ति बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥८७३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कर्म का परिक्षय होगा ? एकाकार फल तो तापसंक्लेशात्मक फल है, उससे परिक्षय उचित नहीं, जिस कर्म के द्वारा तज्जातीय अनेक फलों का उत्पादन अभीष्ट है । उस कर्म का केवल एक के अनुभव से सभी फलों का नाश क्योंकर होगा ?

यदि तप की शक्ति है, तब कर्म-प्रचय के एक रोम के उत्पादन से समस्त फल निवृत्त हो जाता है—वहाँ भी हमारा कहना है कि क्लेश से भिन्न तप का फल है, तब उसी एक तप से ही कर्म का क्षय हो जाता है, पञ्चतप आदि क्लेश की कोई आवश्यकता नहीं, उसी से ही अशेष कर्म का परिहाण हो जायगा । अन्य कर्म के करने से अन्य कर्म का सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता । क्लेश को तप नहीं कहा जाता, क्योंकि तप कर्म का फल माना जाता है । कर्म-फल तप नहीं, क्योंकि शीत और आतप के सेवी पशु आदि में भी तापसत्व प्रसक्त होगा । यदि कहा जाय कि यह कर्मफल नहीं, क्योंकि इच्छापूर्वक किया जाता है । कर्म-फल तो इच्छा के बिना भी प्राप्त होता

उत्पित्सुदोषनिर्घाताद्येऽपि दोषविरोधिनः ॥ २८० ॥
तज्जे कर्मणि शक्ताः स्युः कृतहानिः कथं भवेत् ।

दूसरी बात यह भी है कि केशोलुञ्चन आदि तपःकर्म के द्वारा उत्पित्सु (भविष्य में उत्पन्न होने वाले) पापों की अनुत्पत्ति हो सकती है, किन्तु पूर्वकृत कर्मों का नाश नहीं हो सकता जैसा कि वैदिक दार्शनिकों ने भी माना है—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" ।

वार्तिकालङ्कारः

यदि च तत्कर्मफलं न स्यात् कथं तर्हि फलोपभोगतः कर्मक्षय इति भवतोच्यते। तस्मात् कर्म फलमेवैतत् । ततश्च पापस्यैव क्षयः स्यान्न राज्यादिकर्मणः । ततो राज्यादिकमप्यनुभवनीयमेव । अथ राज्यादिकं निःस्पृहत्वादेव परित्यज्यते । नरकादिदुःखन्तु बलादापतदनुभवितव्यमेव । तेन सन्ताप एवेष्यते । एवं तर्हि नारकदुःखमप्यनुभवितव्यम् । अथ दुःखत्वात्तयोर्दुःखत एवापाक्रियते । नारकादिकेशोल्लुञ्चनतः । तदप्यसत् । इदमपि यतः प्रमाणमस्ति ।

दुःखत्वात् न क्षये हेतुः कर्मणां पशुदुःखवत् । अनैकान्तिकमेतच्चेत् त्वदुक्तावपि किन्न तत् ॥८७४॥

अपि च ।

निःस्पृहस्य यथा राज्यसुखाभावो न बाधकः । तथाभ्यासात् न तद् दुःखं नारकं तस्य बाधकम् ॥८७५॥

भावनाबलतः सर्वं लोके दुःखसुखादिकम् । ततो मोक्षस्थितस्यास्य नास्ति दुःखसुखादिकम् ॥८७६॥

अथापि स्याद् । अस्ति कर्म कर्मक्षयाय संवर्त्तते । स एव भवतोऽभ्युपगम इत्यभ्युपगमबाधा । तदसत् । यतः—उत्पित्सुदोषनिर्घाताद्येऽपीति ।

न खलु कृतस्य कर्मणो हानिः, न हि कृतनाशोऽस्ति । कथं तर्हि कर्मक्षयः उक्तः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है । तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इच्छा के द्वारा राज्यलाभादि हो सकते हैं, किन्तु कर्मफल नहीं । कर्म के अनुसार बुद्धि होती है और बुद्धि आदि के इच्छादि धर्म होते हैं किन्तु इच्छा के अनुरूप कर्मफल नहीं ॥ ८७३ ॥

यदि कर्म का फल इच्छा से नहीं होता तब फलोपभोग से कर्म का क्षय कैसे कहा जाता है इच्छा के आधार पर तो ताप का ही क्षय होगा, राज्यलाभादि का नहीं । यदि निस्पृहता के कारण राज्यलाभादि का त्याग किया जा सकता है तब नरकादि दुःख विवश होकर अनुभवनीय ही होगा । यदि नरकयातनादि का दुःख-भावना से अपाकरण हो जाता है—केशोलुञ्चन (जैनाचार्य-सम्मत केशोत्पाटन) से नारकीय दुःख का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि केशोत्पाटनादि-विषायक आगम प्रमाण नहीं । दुःखत्व हेतु के द्वारा कर्मों का क्षय ऐकान्तिक नहीं, तब आपका कथन भी अनैकान्तिक क्यों न माना जाय ॥ ८७४ ॥

निस्पृह व्यक्ति का जैसे राज्यसुखाभाव बाधक नहीं होता वैसे ही नैरात्म्य-भावना के परिपाक से नारकीय दुःख बाधक नहीं होता ॥८७५॥ लोक में सभी दुःख ओर सुख आत्मा ओर आत्मीय भावना के द्वारा प्रसूत होते हैं, अतः मोक्षप्राप्तपुरुष को सुखदुःखादि नहीं ॥ ८७६ ॥

शंका—आपके वैदिकसिद्धान्त में कर्म का क्षय करने के लिए प्रायश्चित्त कर्मों का विधान किया गया है, अतः उत्तर कर्म के द्वारा पूर्वकर्म का नाश क्यों नहीं ।

दोषा न कर्मणो दुष्टः करोति न विपर्ययात् ॥ २८१ ॥
मिथ्या विकल्पेन विना नाभिलाषः सुखादपि ।

कर्म के दोष नहीं होते अपितु दोषों से युक्त प्राणी कर्म किया करता है दोष रहित व्यक्ति कर्म नहीं करता क्योंकि नैरात्मदर्शी पुरुष की तृष्णा न होने के कारण कहीं भी प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती।

वार्तिकालङ्कारः

अत्रोच्यते—

कर्म तत्तादृशं येन सामग्र्यन्तरसम्भवे। फलं ददाति सद्भावे न तु कर्म विरोधिनः ॥८७७॥

यत्तु पुर्नियोगतः फलदानसमर्थं तदवश्यमेव फलं ददाति। तदर्थमपि न तपस्विनामभियोगः। बलादेव तस्यागमात्। रागादिपरिक्षये त्वनागतरागकार्यफलपरिक्षय एव न कृतस्यावश्यम्भाविवेदनीयस्य कर्मणः। ननु यथा तृष्णायां स्थितायां पुनरुद्भूतिः कर्मणां तथा कर्मणि स्थिते पुनः तृष्णोदय इति चेत्। तदसद्यतः—दोषा न कर्मणो दुष्ट इति।

तृष्णायां सत्यां फलार्थी कर्म करोत्यन्यथा वा तृष्णासम्भवे हि न किञ्चित्कुर्यात्।

अथ शुभं कर्म सुखदानसमर्थमिति सुखाभिलाषी नियोगतो भवेत्। तन्न। सुखमेव परमार्थतः किञ्चित् संसारेऽपि तु मिथ्याविकल्प एव केवलः। तेन मिथ्याविकल्पेन विना कुतोऽभिलाषः कस्य वा तत्सुखमिति। तस्मात् सत्कायदृष्टिलक्षणाविद्यापरिक्षयादेव मोक्षो नान्यथेतिचतुरार्यसत्यप्रकाशनमेव तायः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—कृतकर्म का नाश कभी नहीं हो सकता जैसा कि वैदिकमतावलम्बियों ने भी माना है कि प्रारब्धकर्म का उपभोग के बिना नाश नहीं होता।

तब कर्मों का क्षय क्योंकर होगा ? इसका उत्तर है—कर्म दो प्रकार का होता है, एक का फलदान अवश्यम्भावी और दूसरे का ऐसा नहीं। पहला अवश्य ही फल देता है ॥८७७॥ तपस्वी व्यक्तियों का यह अभियोग नहीं होता कि अवश्यम्भावी फलककर्म उत्पन्न हों, वह तो संचित कर्म के आधार पर बलात् उत्पन्न होता है। यदि तृष्णा की सिद्धि में कर्मों की पुनरुद्बुद्धि होती है तब कर्मों के रहने पर तृष्णा का पुनरुदय क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि तृष्णा के रहने पर फलार्थी कर्म करता है तृष्णा के न रहने पर नहीं। नैरात्म्यभावनादि से तृष्णा का विगम हो जाने पर कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती।

यदि शुभ कर्म सुखदानादि में समर्थ है तब सुख की अभिलाषा अवश्य होगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि लोक में सुख नाम की कोई वस्तु है ही नहीं सब दुःख ही दुःख है। सुख भावना केवल मिथ्या विकल्प है। उस मिथ्या विकल्प के बिना अभिलाषा कैसे ? निष्कर्ष यह है कि सत्काय-दृष्टिरूप अविद्या का परिक्षय हो जाने से ही मोक्षलाभ होता है अन्यथा नहीं। इस प्रकार चार आर्यसत्यों का प्रकाशन ही 'ताय' कहा गया है।

तायात् तत्त्वस्थिराशेषविशेषज्ञानसाधनम् ॥ २८२ ॥
बोधार्थत्वाद् गमेर्बाह्यशैक्षाशैक्षाधिकस्ततः ।

प्रमाणसमुच्चयीय प्रथम मंगल पद्य के (१) प्रमाणभूताय, (२) जगद्धितैषिणे, (३) शास्त्रे, (४) सुगताय तथा (५) तायिने—इन पाँच विशेषण पदों की अनुलोमगति (यथाक्रम) व्याख्या करने के अनन्तर वार्तिककार प्रतिलोमगति से निर्दिष्ट निमित्त-नैमित्तिक भाव को स्पष्ट करते हैं अर्थात् 'तायित्व' सुगतत्व का, 'सुगतत्व' शास्तृत्व का, 'शास्त्रित्व' जगद्-हितैषित्व का एवं 'जगद्-हितैषित्व' प्रमाणभूतत्व का निमित्त या अनुमापक कार्यहेतु है—ऐसा सिद्ध किया जाता है। स्थिर निःशेष विशेष ज्ञान ही सुगतत्व है, क्योंकि 'सुगत' शब्द में 'गम' धातु ज्ञानार्थक है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में 'सु' शब्द के तीन अर्थ किये हैं, जिनका अभिसमयालङ्कारालोक और अर्थविनिश्चय सूत्रादि में बड़े विस्तार से पदकृत्य किया गया। वार्तिककार ने भी "बाह्यशैक्षाशैक्षाधिकः" ऐसा कहकर उसी की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

वार्तिकालङ्कारः

(५४) तायात् सुगतत्वसिद्धिः—

तस्माच्चतुःसत्योपदेशलक्षणात् कार्यभूतात्। यतो हि—तायादिति।

तायाद्धि भगवान् सुगतताभिज्ञायते। तच्च सुगतत्वम्। तत्त्वस्थिराशेषविशेषज्ञानात्। तत्त्वज्ञानम्। प्रशस्तज्ञानम्। स्थिरज्ञानम्। अपुनरावृत्तिज्ञानम्। स्थिरं हि न पुनरावर्तते। अशेषविशेषज्ञानम्। सर्वाकारज्ञानम्। निःशेषज्ञानम्। बोधार्थो हि गमिरत्र। तदस्ति भगवत इति तायादेव ज्ञायते। न खल्वनुमानादेव तायित्वम्। न ह्यन्येषामेवम्भूतं तायित्वं सम्भवति। अनुमाने प्रवर्त्तनेऽन्येषामपि स्यात्। अथानुमाने परम्परयागतमेतदिति प्रतिवचनम्। तथा सत्यन्येषामपि स्यात्। नानुमानं क्वचिद्भवति क्वचिन्नेति विभागोऽस्ति। न चैकस्यापि भगवदुपदेशात्यये वेप्यस्ति। तेन सर्वपदार्थानां सर्वाकारदर्शनं भगवत इति ज्ञायते। न हि सर्वपदार्थानां सर्वाकारदर्शन-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(५४) तायित्व साधन के द्वारा सुगतत्व की सिद्धि होती है—

जैसे धूमादि कार्य हेतु के द्वारा वह्नि का अनुमान होता है, वैसे ही चतुःसत्योपदेशरूप तायित्व या तायपदार्थ के द्वारा भगवान् बुद्ध में सुगतत्व का अनुमान होता है। 'सुगतत्व' शब्द का अर्थ है—तत्त्वज्ञान, स्थिरज्ञान, अशेषविशेषज्ञान। तत्त्वज्ञान प्रशस्त ज्ञान है। स्थिर ज्ञान का अथ अपुनरावृत्ति-ज्ञान, क्योंकि स्थिर पदार्थ की पुनरावृत्ति नहीं होती। अशेष-विशेष-ज्ञान का स्वरूप सर्वाकार-ज्ञान है। 'सुगत' शब्द में 'गम' धातु ज्ञानार्थक है। ऐसा सुगतत्व भगवान् बुद्ध में है। उसका ज्ञान ताय (आर्यसत्योपदेश) के द्वारा होता है। तायित्व का ज्ञान अनुमान से ही होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य पुरुषों में वैसा तायित्व नहीं। तायित्व में अनुमान की प्रवृत्ति मानने पर अन्य व्यक्तियों में भी तायित्व प्रसक्त होगा। परम्परया अनुमान की विषयता मानने पर भी अन्य मनुष्यों में तायित्व होना चाहिए। अनुमान कहीं प्रवृत्त होता है और कहीं नहीं—ऐसा कोई विभाग नहीं देखा जाता। भगवान् की देशता के बिना किसी भी व्यक्ति में सुगतत्व नहीं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सभी पदार्थों का सर्वाकार-दर्शन भगवान् में ही है। सभी पदार्थों के सर्वाकार-दर्शन के बिना व्यापक

परार्थज्ञानघटनं तस्मात्तच्छासनं दया ॥ २८३ ॥
ततः परार्थतन्त्रत्वं सिद्धार्थस्याविरामतः ।

शास्त्रीत्व या शासनपदार्थ अन्यप्राणियों के उद्धार का प्रयत्न कहलाता है। यद्यपि उपदेश को शास्त्रीत्व या शासन पदार्थ कहा गया है, तथापि उसका कारण है जगद्हितैषिता, कारण में कार्य का औपचारिक प्रयोग किया गया है। फलतः शासन के द्वारा जगद्हितैषित्व का अनुमान किया जाता है। यद्यपि मोक्षावस्था में दया का सद्भाव माना जाता है, तथापि साधनावस्था में भी उसका अनुमान किया जा सकता है।

वार्तिकालङ्कारः

मन्तरेणेदं सम्भवति। सर्वपदार्थाः क्षणक्षयिण इत्यादि यदेव न दृष्टं तेनैवानेकान्तसम्भवात्। अथ यथास्माकं तथा भविष्यति तस्यापि। नास्माकं तदुपदेशं विना। तस्माद्यः साक्षाद्दर्शी यस्य च परोपदेशस्तस्यायं निश्चयो नान्यस्य। न च निश्चयं विनोपदेशः।

अथ भ्रान्त्यापि सम्भवति। तदसत्। यतः—

नित्यत्वे भवति भ्रान्तिः सदृशापरसम्भवात्। क्षणिकत्वे तु किं भ्रान्तेः कारणं येन सा भवेत् ॥८७८॥

संदेहोऽपि नैव भवति। उभयदर्शनाभावादुभयांशावलम्बितत्वात्। तस्मादयं निश्चयादेवोपदेशः। स च निश्चयो न साक्षात्करणं विनानुमानस्यास्माकमुपदेशमन्तरेणाभावात्। न च सन्देहेन भगवतेदमुक्तम्। उभयस्यापि निर्देशप्रसङ्गात्। तस्मात्तत्त्वस्थिराशेषज्ञानयोगाद्भगवान् सुगतः तत एव बाह्यशैक्षाशैक्षाधिकत्वं भगवतः। ततः सुगतत्वात्। अतः—परार्थज्ञानघटनमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आर्यसत्यों का उपदेश नहीं हो सकता। 'सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः'—इस नियम का उसी पदार्थ में व्यभिचार हो जाता है, जो दृष्ट नहीं। जैसे हमको सर्वक्षणिकत्व का ज्ञान है, वैसे ही भगवान् भी होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हमको तो भगवान् के उपदेश से वैसा ज्ञान होता है किन्तु भगवान् को किसी के उपदेश से नहीं, अपितु स्वयं साक्षात्कार हुआ। फलतः जो साक्षाद् दर्शी है, जिसने औरों का उपदेश किया, उसी का वैसा निश्चय है, अन्य का नहीं। निश्चय के बिना उपदेश कभी नहीं हो सकता।

भ्रान्ति से भी वैसा निश्चय हो सकता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रम सदैव रज्जु-सर्पादि के सदृश पदार्थों में होता है, सादृश्य नित्य या स्थिर पदार्थों में होता है, क्षणिकत्व पक्ष में न साक्ष्य और न भ्रम ॥८७८॥ क्षणिक पक्ष में संशय भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'—ऐसा संशय उभयांशावलम्बी होता है किन्तु क्षण-भङ्गवाद में उभय का दर्शन ही नहीं होता। अतः सर्वं क्षणिकम्—यह निश्चयात्मक ज्ञान है, निश्चय से ही उपदेश होता है। वैसा निश्चय साक्षात्करण के बिना नहीं होता। अनुमान उपदेश के बिना सम्भव नहीं। भगवान् ने संशय से ऐसा नहीं कहा है अन्यथा सन्देहों की दो कोटियों का निर्देश होना चाहिए। अतः स्थिर और अशेषविशेष विज्ञान के सम्बन्ध से भगवान् सुगत एवं बाह्य, शैक्ष और अशैक्ष पुरुषों की अपेक्षा अधिक वे ज्ञानसम्पन्न हैं।

(५५) संवादकत्व होने से भगवान् प्रमाण हैं—

दयया श्रेय आचष्टे ज्ञानाद्भूतं ससाधनम् ॥ २८४ ॥

तच्चाभियोगवान् वक्तुं यतस्तस्मात् प्रमाणता ।

दया से प्रेरित होकर जगद्हितैषी महापुरुष यथाभूत सत्य (कल्याणकारी) ज्ञान तथा उसके साधन का उपदेश करता है ।

उपदेशतथाभाव स्तुतिस्तदुपदेशतः ॥ २८५ ॥

प्रमाणतत्त्वसिद्ध्यर्थमनुमानेऽप्यवारणात् ।

प्रयोगदर्शनाद्वास्य "यत्किञ्चिदुदयात्मकम् ॥ २८६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सत्यमस्ति सुगतत्वं भगवतः तत्तु कुतो हेतोरिति । परिहारः—

परार्थज्ञानघटनं शास्तृत्वसंज्ञकं कारणमनुमीयते । अन्यथा सुगतत्वस्यासम्भवः । ततोऽपि दया नान्यथा परार्थज्ञानघटनम् ।

नन्वनेनैव किं साधितेन सुगतत्वमात्रेणैवासौ प्रमाणम् । नैतदस्ति यतः—

न ज्ञानमात्रतस्तस्य प्रामाण्यमुपदेशतः । सदा प्रामाण्यमस्यास्ति नान्यथास्मासु सा प्रमा ॥८७९॥

तदाह—

ततः परार्थतन्त्रत्वं सिद्धार्थस्याविरामतः ।

दयया हि परार्थज्ञानघटने सर्वदा परार्थमेव करोति । दयातो न परिनिर्वाति । यथोक्तं प्राक् । किञ्च—

(५५) संवादकत्वाद् भगवान् प्रमाणम्- दयया श्रेय आचष्टे ।

दयावतो हि श्रेयः कथनं सम्भवति ज्ञानाच्च भूतमवितथं कथयति तच्च ज्ञानं ससाधनम् । तच्च ससाधनमभियोगवान् वक्तुं यतः कारणचतुष्टयं तस्मात्प्रमाणता । अनेनैतत्कथयति ।

आदेरन्त उपादेरुपान्त इत्येषु हेतुफलभावः ।

तस्मात्प्रमाणभावो भगवत इति निश्चितं कथितम् ॥

तत एव भगवतोऽनेनैव गुणेन स्तुतिः । प्रमाणभूतत्वलक्षणेन । तदाह—उपदेशतथाभाव इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भगवान् में सुगतत्व का हेतु क्या ? इसके उत्तर में परकीय हितसिद्ध करने के लिए सचेष्टता या शास्त्रीत्व का अनुमान किया जाता है, सुगतत्व अन्यथा सम्भव नहीं दया के बिना परार्थ ज्ञान रचना सम्भव नहीं, ज्ञानमात्र के आधार पर भगवान् में प्रामाण्य नहीं माना जाता, अपितु परार्थ-हितैषी पुरुष सदा परार्थ करने में संलग्न रहता है, कभी निर्विण्ण नहीं होता, जैसा कि पहले बहुधा कहा जा चुका है । अतः कथित कारण-चतुष्टय के द्वारा प्रमाणता सिद्ध होती है । प्रमाणभूतत्व रूप गुण के द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है । उपदेश के आधार पर प्रमाणतत्त्वों की सिद्धि कथितस्तुति का उद्देश्य है ॥८७९॥ यही वार्तिककार ने कहा है- "ततः परार्थतन्त्रमित्यादि ।"

(५५) संवादकत्व से भगवान् प्रमाण हैं—

जगद्धितैषी महापुरुष दया-परवश होकर सदैव परार्थसाधन में ही निरत रहता

निरोधधर्मकं सर्वं" तदित्यादावनेकधा ।
अनुमानाश्रयो लिङ्गमविनाभावलक्षणम् ॥ २८७ ॥
व्याप्तिप्रदर्शनाद्धेतोः साध्येनोक्तः स च स्फुटः ।

उपदेश का तथाभाव या सम्पादकत्व प्रामाणिक कहलाता है। उसकी सिद्धि कारुणिकत्वादि हेतुओं के द्वारा होती है। भगवान् के प्रामाण्याभिधान को स्तुत्यर्थं माना जाता है। यद्यपि उपदेश आगमात्मक हैं तथापि परार्थानुमान का प्रतिज्ञाभाव उपदेशात्मक है, अतः अनुमान के लिए भी उपदेश व्यवहार कर दिया गया है। हेतु और साध्य का अविनाभाव व्याप्ति पदार्थ है उसका भी निर्देश कई बार किया गया है—"यत्किञ्चिदुदयात्मकम् तत्सर्वं निरोधधर्मम्" इससे यह निष्कर्ष निकलता है स्तुति के द्वारा यह ध्वनित किया गया है कि "भगवानेव प्रणाणभूतस्तायी मुमुक्षुभिरुपास्यः"।

वार्तिकालङ्कारः

कस्मादुपदेशस्य तथाभावप्रामाण्यलक्षणास्तुतिः। तदुपदेशतः प्रमाणतत्त्वसिद्धिर्यथा स्यादिति। तत्र प्रत्यक्षं भगवतैवोपदिष्टम्। "नीलज्ञानसमङ्गी पुद्गलो नीलं जानाति। नो तु नीलमेवेति"। अनुमानमपि न वारितम्। अतोऽनुमानमेव निवारितन्तु शाब्दादिकम्। "शून्याः सर्वपरप्रवादा अहमेवैकस्तत्त्ववादीति। अथवा प्रयोगस्य परार्थानुमानलक्षणस्य दर्शनमस्ति। यदाह—"यत्किञ्चिदुदयात्मकं निरोधधर्मकं तत्सर्वमिति"। तदेदाह—अनुमानाश्रय इति।

साध्येन व्याप्तो हि हेतुर्गमकः। सा च व्याप्तिरनेकधा प्रदर्शिता भगवता हेतोः। "यत् किञ्चित्समुदयधर्मकं तत्सर्वं निरोधधर्मकमि"ति। ततोऽनुमानमपि भगवतोक्तमेवेति भगवदुपज्ञमेव प्रमाणतत्त्वम्। तच्च भगवतः प्रमाणत्वादित्यतः प्रमाणमेव भगवतो गुणः परमः स पूर्वोक्तः।

प्रमाणतत्त्वं भगवांस्तथागतो दिदेश यस्मादुभयेन युक्तम्।
अतः परं नास्ति ततः प्रमाणं तथागतादेव समस्तसिद्धिः ॥२८०॥

इति प्रमाणवार्तिकालङ्कारे प्रमाणसिद्धिपरिच्छेदः प्रथमः ॥१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है। आदि और अन्त एवं उपरि और उपान्त का हेतुफलभाव माना जाता है। जैसा कि स्वयं भगवान् ने कहा है—"नीलज्ञानसमङ्गी पुद्गलो नीलं जनयति अतः अनुमानमात्र का कथन किया गया है। श्रद्धादि की निवृत्ति की गई है। जैसा कि स्वयं बुद्ध ने कहा है—"शून्या सर्वपरप्रवादाः, अहमेव एकोऽस्मि तत्त्ववादी" अथवा प्रयोग के द्वारा पुरार्थानुमान दूषित किया गया। "यत्किञ्चिदुदयात्मकं निरोधधर्मकं तत्सर्वमिति।"

साध्य से व्याप्त हेतु गमक होता है। व्याप्ति का प्रदर्शन भगवान् ने कई बार किया है—"यत्किञ्चित्समुदयधर्मकं तत्सर्वं विरोधधर्मकमिति"। अतः अनुमान भी भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रमाणस्वरूप गुण से इस प्रकार यह तथ्य निकलता है कि भगवान् ने साध्य-साधन उभय से युक्त तत्त्व का उपदेश किया है अतः भगवान् से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं है, उन्हीं से समस्त कल्याण की सिद्धि होती है।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

[प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्धयै स्वकृतिप्रकीर्णनात् निबध्यते विप्रसृतं समुच्चितम् ।।

आचार्य दिङ्नाग के इस प्रमाणसमुच्चयीय प्रथम मंगल श्लोक का विशद व्याख्यान आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने इस 'प्रमाणसिद्धि' नाम के आरम्भिक प्रकरण में प्रस्तुत किया है। इसके आधार पर भगवान् बुद्ध में सात हेतुओं के द्वारा प्रमाणता सिद्ध की गई है—

हेतु	पृष्ठ
१—ज्ञानवत्त्वाद् भगवान् प्रमाणम्	११८
२—हेयोपादेयवेदकत्वात्	१२१
३—कारुणिकत्वात्	१२३
४—शास्तृत्वात्	२६८
५—सुगतत्वात्	२८७
६—तायित्वात्	२९२
७—संवादकत्वात्	४०७

श्री प्रज्ञाकर गुप्त ने (१) जगद्धितैषित्व (कारुणिकत्व), (२) शास्तृत्व, (३) सुगतत्व तथा (४) तायित्व—इन चार (मौलिक साधनों का ही ग्रहण किया है—"कारण-चतुष्टयम्" (पृ० ४०३)। आचार्य मनोरथनन्दी ने इन चारों में उत्तरोत्तर धर्मों को पूर्व-पूर्व का वैसे ही निमित्त माना है, जैसे न्यायसूत्रकार ने अपने द्वितीय सूत्र में—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (न्या० सू० १।१।२) : श्री मनोरथनन्दी कहते हैं—'प्रमाणभूताय इत्यादि पञ्चपदानि व्याख्याय प्रतिलोमतो लिङ्गलैङ्गित्वंदर्शयन्नाह—तायेत्यादि" (१।१८२)]

इति प्रमाणवार्तिकालङ्कारव्याख्यायां प्रथमः परिच्छेदः।

प्रमाणवार्तिकं सभाष्यम्

(२)

प्रत्यक्ष-परिच्छेदः

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादि-योजना ।
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते ॥

(२)

प्रत्यक्ष-परिच्छेदः

मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः।
अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थादिमोक्षतः॥ १॥

वार्तिकालङ्कारः

(१) प्रमाणसंख्या—

एवं सामान्यलक्षणमभिधाय विशेषलक्षणमाह—प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणे। तत् प्रमाणमविसंवादाद्। अविसंवादश्चार्थादुत्पत्तेरर्थाव्यभिचारतः।

ननु तदेवाव्यभिचारित्वं अर्थे कथमवगन्तव्यम्। प्रत्यक्षानुमानत्वाच्च प्रामाण्यम् नान्यतः, शाब्दादित्वादित्यर्थः।

ननु शब्दादीनामर्थप्रतिबन्ध एव नास्तीति कुतः? यस्माल्लक्षणद्वयं प्रमेयम्। प्रमेयाव्यभिचारतः प्रामाण्यम्। न च प्रमेयमन्तरेण प्रमेयाव्यभिचारः। प्रमेयञ्च प्रत्यक्षानुमानप्रतिपाद्यादपरं नास्ति। यदाह—न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति। स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्। सामान्यलक्षणविषयमनुमानमिति प्रतिपादयिष्यामः। एतदेव प्रतिपादयति—मानं द्विविधमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(१) प्रमाण-संख्या—

पूर्व परिच्छेद में सामान्य प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत किया गया। इस द्वितीय परिच्छेद में विशेष प्रमाण (प्रत्यक्ष) का लक्षण करने के लिए बौद्ध-सम्मत प्रमाणों की संख्या एवं विशेष प्रकारों का निरूपण किया जाता है—(१) प्रत्यक्ष और (२) अनुमान। इनमें अविसंवादकता होने से प्रमाणता मानी जाती है। अविसंवादकता का कारण यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ज्ञान अर्थ (विषयवस्तु) से अव्यभिचरित होने के कारण अविसंवादी हैं। इन दोनों में अर्थाव्यभिचारित्व की सिद्धि क्योंकर होती है? प्रत्यक्षत्व और अनुमानत्व धर्मों के द्वारा। कोई शाब्दत्वादि अन्य धर्म अभिव्यभिचारिता का प्रयोजक नहीं, क्योंकि शाब्द ज्ञानादि का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, क्योंकि प्रमेय पदार्थ दो ही प्रकार का होता है—(१) स्वलक्षण और (२) सामान्यलक्षण। प्रमेयाव्यभिचार से ज्ञान में प्रामाण्य आता है। प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा ही प्रमेय प्रतिपाद्य होता है जैसा कि प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति में आचार्य दिङ्नाग ने कहा है—"अत्र प्रमाणं द्विविधमेव। कुतश्चेत्? द्विलक्षणं प्रमेयम्। स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति।" (प्र० समु० पृ० ४)। स्वलक्षण विषयक प्रत्यक्ष और सामान्यलक्षण-विषयक अनुमान होता है—ऐसा कहा जा रहा है—'मानं द्विविधमि'त्यादि।

"अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्" या "अज्ञातार्थप्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम्"—इस प्रकार जिस प्रमाण का पूर्व प्रकरण में लक्षण किया गया है, उसकी संख्या दो है—'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान', क्योंकि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के भेद से प्रमेय दो प्रकार का ही माना जाता है।

अर्थक्रिया में जो शक्त है, उसे स्वलक्षण और अर्थक्रिया में जो अशक्त है, उसे सामान्यलक्षण कहा जाता है। ये दो ही प्रमेय या अर्थ माने जाते हैं, क्योंकि व्यावहारिक पुरुष इन्हें ही अर्थ कहते हैं। तिमिरादि रोगाक्रान्त नेत्र से दिखनेवाले केशपाशादि अनर्थ हैं, क्योंकि उनमें अर्थरूपता का अधिमोक्ष (निश्चय) नहीं ॥ १ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यक्षानुमानभेदेन द्विविधमेव प्रमाणं प्रतिपत्तव्यम्। अन्यथा मेयप्रतिपत्तेरयोगादिति प्रतिपादयिष्यते।

प्रत्यक्षानुमेयत्वं प्रकारात् प्रतिपत्परा। न समस्ति ततस्तस्मात्प्रमाणं नापरं परम् ॥१॥

प्रत्यक्षत्वानुमेयत्वमेवावितथप्रमेयत्वप्रतिपत्तिनापरा। सामान्यविशेषरूपादपरस्य प्रतिपत्तिप्रकारस्याभावात्। विषयस्य चैकस्यैव द्वैविध्यं प्रतिपत्तिप्रकारस्य द्वैविध्यात्। प्रतिपत्तिभेदश्च प्रमाणभेदः। स एव च विषयभेदः। ननु प्रतिपत्तिभेदो विषयभेदः कथम्। न ह्यन्यस्मिन् भिन्नेऽन्यस्य भेदः। सत्यमेतत्।

तुरगस्य न भेदोऽस्ति गवादेरूपभिन्नता। सङ्गत्यभावान्न ज्ञानज्ञेययोरेवमिष्यते ॥२॥
ज्ञानायत्ता पदार्थानां सदासंप्रत्ययस्थितिः। ज्ञानान्तरात्स एवार्थोऽर्थान्तरत्वेऽनुमीयते ॥३॥

यदा साक्षाज्ज्ञानजननं प्रति शक्तत्वेन प्रतीयते। तदासौ स्वेन रूपेण लक्ष्यमाणत्वात् स्वलक्षणम्। यदा तु पारम्पर्येण शक्तत्वात् तस्यैव प्रतीयते। तदा सामान्यरूपेण लक्षणमिति सामान्यलक्षणम्।

पारम्पर्येण शक्तिरेवाशक्तिः पर्युदासवृत्त्या न शक्त्यभाव एव। केशादेस्तु तैमि-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से दो प्रकार का ही प्रमाण होता है, अन्यथा प्रमेय की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहा जायगा।

प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर अन्य किसी पदार्थ से प्रमेय की अधिगति नहीं होती, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न तीसरा प्रमाण नहीं ॥१॥

प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो ही अवितथ प्रमेय की प्रतिपत्तियाँ हैं, तीसरी कोई प्रतिपत्ति नहीं। प्रतिपत्ति के दो ही प्रकार होते हैं—सामान्यरूपा प्रतिपत्ति (अनुमान) और विशेषरूपा प्रतिपत्ति (प्रत्यक्ष)। इनसे अतिरिक्त और कोई प्रकार नहीं। प्रतिपत्ति-प्रकारों की द्विविधता के कारण ही एक ही विषय के दो आकार माने जाते हैं।

प्रतिपत्ति-भेद ही प्रमाण-भेद है एवं वही विषय-भेद है, क्योंकि अन्य के भेद से अन्य का भेद नहीं होता—ऐसा कहना असत्य नहीं किन्तु जैसे तुरग (अश्व) का गवादि भेद (रूपभेद) होता है, वैसा ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं होता, अपितु केवल सङ्गति (सम्बन्ध) का अभावमात्र है ॥२॥ पदार्थों की प्रतीति सदैव ज्ञान के अधीन होती है। अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञान और ज्ञेय का भेद अनुमित होता है ॥३॥ कोई पदार्थ साक्षात् ज्ञान-जनन-समर्थ, कोई परम्परा से ज्ञान का जनक होता है। पहला स्वलक्षण और दूसरा सामान्यलक्षण कहा जाता है। स्वलक्षण साक्षात् ज्ञान-जनन-अशक्त है। यहाँ

सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः ।
शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वतः ॥ २ ॥

सदृशत्व और असदृशत्व के भेद से भी प्रमेय द्विविध है। सदृश का अर्थ है—सामान्य और असदृश (असाधारण) है—स्वलक्षण। जहाँ सदृशत्व नहीं, वहाँ असदृशत्व और जहाँ असदृशत्व नहीं, वहाँ सदृशत्व—इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व दो भागों में ही विभक्त है।

जहाँ विषय से भिन्न निमित्तों का सद्भाव होने पर भी ग्राहक-बुद्धि का सद्भाव है, वह सामान्यलक्षण तथा जिसका ज्ञान नहीं होता, वह स्वलक्षण है—इस प्रकार भी विषय-द्वैविध्य सिद्ध होता है ॥ २ ॥

वार्तिकालङ्कारः

रिकोपलब्धस्य शाब्दाभ्युपलब्धस्य च नार्थतत्त्वं साक्षात् पारम्पर्येण वा शक्तत्वेनाप्रतीतेः। अथाधिमोक्षाभावात् अधिमोक्षाभावत्वबाधकप्रमाणप्रवर्तितः। इतश्च प्रमेयद्वैविध्यम्। तथा हि—सदृशासदृशत्वादिति।

यत् कथञ्चित् सदृशरूपेण प्रतीयते। तत्सामान्यलक्षणमन्यथा विशेषलक्षणम्। ननु पुरोऽव्यवस्थितं गवादिसदृशरूपेण प्रतीयते। तत् किं सामान्यलक्षणं तथोपमानेन प्रतीयमानमयं स गवय इति। नैतदस्ति।

सदृशेनैव रूपेण यस्य संवेदनोदयः। सामान्यलक्षणं तत्स्याद् स्वरूपस्यात्र वेदनम् ॥४॥

सदृशेनैव रूपेण यदुपलक्ष्यते तत्सामान्यम्, अत्र तु विशेषप्रतिपत्तिः। सदृशरूपता तु प्रतीयत इति चेत्। न तद्रूपस्य व्यतिरेकेणाप्रतीतेः। कथं सदृशोऽयमित्यध्यवसाय इति चेत्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अशक्त' पद में पर्युदासार्थक नञ् है, प्रसज्यार्थक नहीं, अतः अशक्त का अर्थ परम्परया' शक्त है, शक्तत्वाभाव नहीं। तिमिर रोगवाले को जो आकाश में केश-पुञ्ज दिखाई देता है, उसमें ज्ञान-जनन की न तो साक्षात् शक्ति होती है और न परम्परया। फिर भी अधिमोक्ष (निश्चय) का अभाव होने से आभासमात्र प्रतीत होता है।

प्रमेय-द्वैविध्य का यह भी एक कारण कहा जाता है—"सदृशासदृशत्वादि"-त्यादि। कोई वस्तु सदृशरूपेण प्रतीत होती है और कोई असदृशरूपेण। सदृशता समानता सामान्यलक्षण और असदृशता (असाधारणता) स्वलक्षणतत्त्व है।

प्रश्न—पुरोऽवस्थित गवयादि में जो 'गोसदृशोऽयम्'—इस प्रकार की जो प्रतीति है, वह क्या सामान्यलक्षण की है ? वैसे ही उपमान के द्वारा प्रतीयमान है—'स गवयः'। वह भी क्या सामान्यलक्षण है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस पदार्थ का स्वलक्षणतः भान न होकर सामान्येन ही भान हो, वह सामान्यलक्षण है, तथा "पर्वतो वह्निमान्"। गवय की प्रतीति तो स्वलक्षणतः भी होती है, अतः उसे सामान्यलक्षण नहीं कह सकते ॥४॥ अर्थात् "विशेषतोऽप्रतीयमानत्वे सति सामान्यतः प्रतीयमानत्वं सामान्यलक्षणत्वम्"—ऐसी परिभाषा यहाँ अतिव्याप्त नहीं होती, क्योंकि यहाँ विशेष-प्रतिपत्ति है। सदृश-प्रतीति भी तो है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सादृश्य की यहाँ व्यतिरेकेण (असदृशाभावत्वेन) प्रतीति है, स्वरूपतः नहीं। तब 'सदृशोऽयं गवयः'—ऐसा सादृश्याध्यवसाय क्यों होता है ? इस

वार्तिकालङ्कारः

न खल्वध्यवसायेऽपि पृथक् सादृश्यवेदनम्। पृथक् प्रतीत्यभावे च तदेवाद्वयवेदनम् ॥५॥

न खलु सदृशमिदमिति प्रतीत्या सादृश्यमपरं वस्तुव्यतिरेकेण वेदयितुं शक्यम्। न हि व्यवस्थितार्थोल्लेखमपहायापरा प्रतीतिरर्थस्य। तस्मादत्रार्थप्रतीत्यभावादनालम्बनैव सा दृश्यप्रतीतिः। अनुमानप्रतीतौ तु दृष्टान्तः दृष्टरूपाध्यारोपः सादृश्यम्। यद्येवं शब्दादिविषयोऽपि सामान्यमत्रोक्तमुत्तरम्—"नार्थोऽनर्थाधिमोक्षत" इति। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। शब्दस्य विषयः सामान्यलक्षणमविषयः स्वलक्षणम्।

ननु यदि शब्दस्य विषयः सामान्यलक्षणं शब्दोऽपि तर्हि प्रमाणं सामान्यविषयत्वात्। नैतदस्ति।

परार्थमनुमानं यत्सामान्यं तस्य गोचरः। सामान्यमेव शब्दस्य गोचरो नैवमुच्यते ॥६॥

अगोचरो हि शब्दस्य न सामान्यमितीर्य्यते। शब्दस्य विषयो यत्तु तत्सामान्यं परं न तु ॥७॥

शब्दयैव विषयः सामान्यम्। न तु शब्दस्य यो विषयस्तत् सामान्यमेव। अविषयोऽपि न स्वलक्षणमेवापि त्वविषय एव स्वलक्षणमित्यर्थो विवक्षितः। तेन नायं दोषः। तस्मात् शब्दविषयोऽपि किं तत् सामान्यं कश्चिदनर्थः। तथाऽविषयोऽपि किञ्चित् स्वलक्षणं कश्चिदनर्थः। अन्यनिमित्तानाञ्च विषयादन्येषां समयाभोगादीनां भावेऽपि यः सत्त्वं यत्र तत्सामान्यम्। यत्र तु धियोऽन्यनिमित्तानां चक्षुरादीनां भावेऽपि न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रतीति मात्र के आधार पर सादृश्य पदार्थ को पृथक् नहीं माना जा सकता। सादृश्यरूप विषय के अभाव में 'सदृशोऽयम्'—यह प्रतीति निरावलम्बन है ॥५॥ अर्थात् मरुमरीचि में जल की प्रतीतिमात्र से जल की जैसे पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती, वैसे ही 'अनेन सदृशमिदम्'—इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर सादृश्य पदार्थ की पृथक् सिद्धि नहीं की जा सकती। स्वलक्षणाकार प्रतीति ही वस्तु से जनित वस्तु की व्यवस्थापिका मानी जाती है, विकल्पाकार-प्रतीति नहीं। फलतः सादृश्य-प्रतीति ग्राह्य-रहित ही है। अनुमानादि में भी दृष्टान्त का प्रदर्शन केवल दृष्टार्थ का अध्यारोप करके ही किया जाता हैं। इसी प्रकार शब्दादि का विषय भी सामान्यलक्षण और अविषय स्वलक्षण है, वार्तिककार ने यही प्रथम पद्य में प्रतिपादित किया है—"केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः।" ऐसा ही अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

शंका—यदि शब्द का विषय सामान्यलक्षण है, तब शब्द भी अनुमान के समान प्रमाण होना चाहिए।

समाधान—जो परार्थानुमान प्रमाण है, उसका विषय सामान्यलक्षण है। इस प्रकार शब्द का सामान्य ही विषय है—ऐसा नहीं कहा जाता ॥६॥ अपितु सामान्यलक्षण शब्द का अविषय नहीं—यह विवक्षित है। जो सामान्यलक्षण है, वही शब्द का विषय है, स्वलक्षण नहीं ॥७॥ अर्थात् 'शब्द का ही विषय सामान्य है'—ऐसा ही कहना चाहते हैं, न कि 'शब्द का जो विषय है, वह सामान्य ही है'—ऐसा। अविषय भी 'स्वलक्षणमेव'—ऐसा विवक्षित नहीं, अपितु 'अविषय एव स्वलक्षणम्'—ऐसा कहना अभीष्ट है। अतः शब्द में प्रमाणतापत्ति नहीं होती। जैसे शब्द का विषयीभूत सामान्य पदार्थ कोई अनर्थ होता है। वैसे अविषयीभूत स्वलक्षण भी कोई अनर्थरूप होता है। अन्य (स्वलक्षण) पदार्थ के ग्राहक चक्षुरादि के रहने पर भी जिस वह्नित्वादि का ज्ञान नहीं होता उसे सामान्य कहते हैं और जहाँ पर आरोपित नामादि के आधार-

वार्तिकालङ्कारः

भावस्तत्स्वलक्षणम्। अत्रापि पूर्ववद् वक्तव्यम्।

अथवान्यनिमित्तानां भावे यत्र धियः सत्त्वं तत्स्वलक्षणं यत्र न सत्त्वं धियोऽन्यनिमित्तभावे तत्सामान्यलक्षणमनुपलभ्यमानस्य स्वरूपेण लक्षयितुमशक्यत्वात्। परोक्षं तत्सामान्यञ्च। तत्र स्वरूपेण लक्ष्यमाणं स्वलक्षणमन्यथा सामान्यलक्षणं परोक्षम्।

ननु प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणो विषयभेदः केन प्रमाणेन प्रतीयते। किं प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रमाणान्तरेण वा।

प्रमाणान्तरेण द्वित्वञ्चेत् प्रमेयस्य प्रतीयते। विरुद्ध एव हेतुः स्यात् तृतीयस्यापि सम्भवात् ॥८॥
प्रमाणद्वितयेनाथ भवेदन्योऽन्यसंश्रयः। त्र्यादिनापि प्रमाणेन विषयान्तरसाधने ॥९॥
त्र्यादिप्रमाप्रसिद्धिः स्यात् अभिप्रेतं न सिध्यति। प्रमाभेदो हि मेयस्य प्रभेदस्य प्रसाधकः ॥१०॥
अनुमानेन सिद्धिश्च परोक्षस्य कथं भवेत्। न प्रत्यक्षं परोक्षेऽस्ति वृत्तौ वा व्यर्थिकानुमा ॥११॥
परोक्षता कथञ्च स्यात् प्रत्यक्षस्य प्रवर्तने। प्रत्यक्षस्य निवृत्त्यैव वस्तुना स्यात् परोक्षता ॥१२॥
तत्र प्रवृत्तं नाध्यक्षं तेन तच्च प्रतीयते। वाचोयुक्तिरपूर्वेऽयं चक्षुषा दर्शनं विना ॥१३॥
तस्मात्प्रत्यक्षविषयः प्रत्यक्षेण प्रतीयते। परोक्षे तु प्रमा नास्ति कुतो द्वैविध्यनिश्चयः ॥१४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भूत निर्विकल्पक तत्त्व का पृथक् भान नहीं होता, उसे स्वलक्षण कहते हैं।

अथवा दूरस्थ वस्तुतत्त्व का जो सम्मुग्ध भान होता है, वह स्वलक्षण और जिस सामान्यादि का भान नहीं होता, वह सामान्यमात्र है। अनुपलभ्यमान पदार्थ का लक्षण नहीं किया जा सकता। यह सामान्य परोक्ष है। फलतः स्वरूपेण लक्ष्यमाण पदार्थ स्वलक्षण और स्वरूपेण अलक्ष्यमाण सामान्यलक्षण होता है। शब्द का विषयीभूत पदार्थ सामान्यमात्र है, सामान्यलक्षण नहीं, अतः शब्द में प्रमाणता प्रसक्त नहीं होती।

शंका—प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-भेद किस प्रमाण के द्वारा प्रतीत होता है—प्रत्यक्ष से ? या अनुमान से ? अथवा अन्य प्रमाण से ? यह प्रमेयगत द्वित्व यदि अन्य (किसी तीसरे) प्रमाण के द्वारा प्रतीत माना जाता है, तब यह विरोध उपस्थित होता है कि बौद्धों को दो ही प्रमाण न मानकर एक तीसरा भी प्रमाण मानना पड़ जाता है ॥८॥ प्रमाण-द्वित्व के द्वारा ही प्रमेय-द्वित्व का ग्रहण मानने पर अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है—प्रमेय-द्वित्व होने पर प्रमाण-द्वित्व और प्रमाण-द्वित्व होने पर प्रमेय-द्वित्व सिद्ध होगा। इसी प्रकार तीन प्रमाणों के द्वारा तृतीय प्रमेय की सिद्धि करने पर स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध उपस्थित होता है। प्रमाण-भेद ही प्रमेय-भेद का साधक होता है ॥९-१०॥ परोक्ष अर्थ की सिद्धि अनुमान से नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्षविषयविषयक अनुमान होता है और परोक्ष अर्थ में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती, अन्यथा अनुमान प्रमाण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि अनुमान के प्रमेयभूत परोक्ष अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही हो जाती है ॥११॥ यदि परोक्ष वस्तु में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति मान ली जाती है, तब उसमें परोक्षता क्योंकर रहेगी ? क्योंकि प्रत्यक्ष-विषयीभूत पदार्थ में परोक्षता क्योंकर रहेगी ? प्रत्यक्ष के अविषयीभूत पदार्थ में ही परोक्षता रहती है ॥१२॥ परोक्षता की रक्षा के लिए कहना होगा कि उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं और वह प्रत्यक्ष के द्वारा ही गृहीत होता है'—ऐसी वाचोयुक्ति (भाषा) वैसे ही व्याहत है, जैसे—चक्षु के बिना ही देखता है ॥१३॥ अतः यह मानना होगा कि जो प्रत्यक्ष का

वार्तिकालङ्कारः

तस्मात् प्रमेयद्वैविध्यमसिद्धं साधनं कथं विरुद्धं वा यद्यपि नाम प्रमेयद्वैविध्यन्तथापि प्रमाणेनापि तावता भवितव्यमिति कुतः।

प्रतिबन्धाप्रसिद्धो हि सर्वो हेतुरनिश्चितः। प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्च न प्रत्यक्षप्रमाणिका ॥१५॥

प्रमाणत्वं हि सामान्यङ्कथमध्यक्षसाधनम्। तस्मिन्नसिद्धे सम्बन्धः कथन्तेनाक्षनिश्चितः ॥१६॥

इति प्रमेयद्वितयाप्रसिद्धिरन्येन सिद्धौ तु विरुद्धता स्यात्।

असिद्धसम्बन्धतया च हेतोर्भवेदनैकान्तिकभाव एव ॥१७॥

अत्रोच्यते—विषयद्वैविध्यम्प्रत्यक्षत एव सिद्धम्। सदृशासदृशप्रतीतिर्हि प्रतीतेरेव धर्मः स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः। न च प्रतीतिः स्वरूपे भ्रान्तिसङ्गता। तत्र भ्रान्तिशङ्कायामव्यवहार एव भवेदनवतारहेतुर्वा वादिप्रतिवादिप्राश्निकवचनस्य। तथा हि—

संवेदनं विना कस्य क्व वचः सम्प्रवर्त्ततां। असङ्गताश्रयन्नैव वर्तते वचनक्वचित् ॥१८॥

प्रतीतिभेदे भावानामन्येषामपि भिन्नता। किम्पुनर्न प्रमाणस्य तद्रूपस्य भविष्यति ॥१९॥

प्रतीतिभेद एवास्तु मानभेदः कथम्भवेत्। ननु प्रसिद्धम्मानत्वम्पूर्वं सामान्यलक्षणात् ॥२०॥

तद्भेदव्यवहारोऽयमिदानीं साध्यताङ्गतः। सविकल्पकमध्यक्षमेषोऽग्निरिति यो वदेत् ॥२१॥

स्वरूपमक्षतः सिद्धम्पूर्वंसाम्येऽर्थहेतुता। न चैवमग्रहेऽर्थार्थी प्रवर्तेतार्थसम्पदे ॥२२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विषय है, वही प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होता है। परोक्ष पदार्थ प्रत्यक्ष का प्रमेय नहीं, तब प्रमेयगत द्वैविध्य से प्रमाणगत द्वैविध्य क्योंकर निश्चय होगा ॥१४॥ फलतः प्रमेयद्वैविध्य स्वयं असिद्ध होने के कारण प्रमाण-द्वैविध्य का साधन कैसे होगा ? एवं प्रमेयगत द्विविधता के कारण प्रमाणों में द्विविधा होनी चाहिए ऐसा क्यों ? जिन हेतुओं का अपने साध्य के साथ प्रतिबन्ध (व्याप्तिरूप सम्बन्ध) सिद्ध नहीं होता, ऐसे समस्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध माने जाते हैं। व्याप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती, क्योंकि 'प्रमाणत्व' धर्म सामान्यलक्षण है, इसकी सिद्धि प्रत्यक्ष से नहीं की जा सकती। प्रमाणत्व के असिद्ध होने पर तद्घटित व्याप्तिरूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष से निश्चित क्योंकर होगा ? ॥१५-१६॥ इस प्रकार प्रमेयगत द्वैविध्य द्विविध प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। किसी तीसरे प्रमाण से उसकी सिद्धि मानने पर विरोध उपस्थित होता है। जिस हेतु में साध्य की व्याप्ति नहीं होती, वह अनैकान्तिक नाम का हेत्वाभास है ॥१७॥

समाधान—विषय की द्विविधता प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होती है, क्योंकि सदृशासदृशत्व-प्रतीति प्रतीति (ज्ञान) का धर्म है। ज्ञान के स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष से ज्ञानगत धर्म का भी ग्रहण हो जाता है। प्रतीति भ्रान्तिरूप है– ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रान्ति की शंका होने पर वादी, प्रतिवादी तथा प्राश्निक (मध्यस्थ) का व्यवहार भंग हो जायगा, क्योंकि संवेदन के बिना किस विषय में कैसा शब्द-प्रयोग किया जाय—ऐसा निश्चय नहीं हो सकता, फलतः असङ्गताभिधान भी प्रसक्त होता है ॥१८॥ प्रतीति का भेद होने पर अन्य भावों का भी भेद हो जाता है, तब प्रमाणरूप प्रतीति का भेद क्यों न होगा ? ॥१९॥ प्रतीति का भेद होने पर प्रमाण का भेद क्यों होगा ? जो व्यक्ति ऐसा कहता है कि सामान्यलक्षण से पहले ही प्रमाणत्व सिद्ध है. केवल तद्गत भेद ही सिद्ध करना है। 'एषोऽग्निः' इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है ॥२०-२१॥ विज्ञान का स्वरूप भी प्रत्यक्षतः सिद्ध है। वह व्यक्ति अर्थ का ग्रह न होने

वार्तिकालङ्कारः

व्यवहारतः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणात्प्रामाण्यं सामान्यलक्षणेनैव प्रथमपरिच्छेद एव प्रसिद्धम्। भेदव्यवहारमात्रकमेवेदानीं साध्यमापन्नं तत्र सविकल्पकमेकमेवेदम्प्रत्यक्षं यदुताग्निरयमस्याभिप्रेतार्थक्रियाकारीति यो वदेत्तम्प्रति द्वितयमेतदिति। प्रतीत्याकारभेदात्प्रतीतिभेदे न च बाह्या अपि भावा भेदवत्त्वेनावगम्यन्ते। किम्पुनः प्रमाणं यत्तद्रूपमेव वस्तुतः। तत्र स्वरूपम्भास्वराकारम्प्रत्यक्षत एव सिद्धम्। साक्षात्करणात्तद्धि प्रत्यक्षमपरोक्षविषयत्वात्। पूर्वार्थक्रियाकारणसाधर्म्यन्तु समानाकारतया प्रतीयमानम्परोक्षत्वात्प्रमाणान्तरविषयः। अथ प्रत्यक्षमेव प्रवर्तकन्नापरन्तत्तु मान्तरम्भवदपि न प्रमाणम्। न हि सह तेन यावद् भवति तावत्प्रमाणम्। शरीरभूतलादीनामपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। अत्रोच्यते—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपयोगीतरस्थितिः। न च केवलमध्यक्षन्तदभावे प्रवर्तकम् ॥२३॥

अथ केवलमध्यक्षन्तदभावेऽत्यन्ताभ्यासात्प्रवर्तकन्दृष्टन्नानुमानं सादृश्यग्रहणाकारम्। तदप्यसत् नाध्यक्षप्रतीतिः केवला प्रथमम्प्रवर्त्तिका दृष्टा। मा भूत्पूर्वम्पश्चाद् भविष्यतीति चेत्। तदेतत्तौताख्यानम्—

तद्देशे हि प्रवेशो यः प्रथमं यदि रोगकृत्। प्रथमन्न प्रवेक्ष्यामि पश्चादस्तु प्रवेशिता ॥२४॥

यतः प्रथमम्प्रवर्तना भवेत् सैवाभ्यासिकी पश्चात्तनी प्रवृत्तिः कुतः। एतदेव पश्चात्तनस्य पश्चात्तनत्वं यः पूर्वकमन्तरेणाभावः। तस्मात् प्रत्यक्षेतरापि प्रतीतिः प्रवर्त्तिकैवान्यथा प्रवृत्त्यसम्भवात्। किञ्च—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के कारण क्योंकर अर्थार्थी होकर प्रवृत्त होगा ? ॥२२॥ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार के द्वारा ज्ञानगत प्रमाणत्व की सिद्धि प्रथम परिच्छेद में ही की गई है। अब केवल व्यवहारमात्र सिद्ध करना है। जो व्यक्ति 'एषोऽग्निः' इस प्रकार के एक सविकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता है। उसके लिए निर्विकल्पक (स्वलक्षण) और सामान्यलक्षण— इन दोनों की प्रमेयता सिद्ध की जाती है। "इदं रूपम्"—इस प्रकार का स्वलक्षण तत्त्व तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है केवल पूर्वतन अर्थ क्रियाकारी पदार्थ का समानाकारतारूप साधर्म्य परोक्ष होने के कारण प्रमाणान्तर (अनुमान) के द्वारा सिद्ध किया जाता है।

शंका—प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक होता है, वह प्रतीत्यन्तर होने पर भी प्रमाण नहीं, क्योंकि प्रतीति के साथ जो भी है, वह प्रमाण है—ऐसा नहीं हो सकता, अन्यथा शरीर और भूतलादि में प्रमाणता प्रसक्त होती है।

समाधान—अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उपयोगी-अनुपयोगी का निश्चय होता है। अन्वय-व्यतिरेक का अभाव होने पर केवल प्रत्यक्ष प्रवर्तक नहीं माना जाता ।.२३॥

यदि कहा जाय कि अन्वय-व्यतिरेक के बिना ही केवल प्रत्यक्ष अत्यन्ताभ्यास के आधार पर प्रवर्तक माना जाता है, सादृश्य-ग्रहणाकार अनुमान नहीं। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि केवल प्रत्यक्ष प्रतीति प्रथम प्रवर्तक नहीं देखी जाती। प्रथम न सही पश्चात् तो प्रवर्तक हों ही जायगी—ऐसा कहना वैसा ही तौतोपाख्यान है, जैसा कि कहा जाता है कि किसी देश में यदि प्रथम प्रवेश रोग-कारक है, तब पहले हम प्रवेश न करके पश्चात् प्रवेश करेंगे ॥२४॥

'तौतोपाख्यान' के रूप में प्रायः असंगताभिधान प्रस्तुत किया जाता है, जैसे

वार्त्तिकालङ्कारः

धूमादेर्लिङ्गतो वृत्तिरग्न्यादावपि या क्वचित् । साऽध्यक्षेण बिना दृष्टा ततस्तदपि निष्फलम् ॥२५॥

यथैवात्यन्ताभ्यासात्परोक्षप्रतीतिमन्तरेणापि प्रत्यक्षादेव प्रवर्तनम् । तथा प्रत्यक्ष प्रतीतिमन्तरेण धूमाद् वह्न्यादौ प्रवर्तनमिति तदपि प्रवर्तकमध्यक्षन्न । अथापि स्यात्—

अनुमानं बिनाऽध्यक्षन्न स्वार्थस्य प्रसाधकम् । प्रत्यक्षन्तु विना तस्मादभ्यासात्स्यात् प्रवर्तकम् ॥२६॥

तत्प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणन्नानुमा क्वचित् । तदभावेऽपि तत्सिद्धिरित्यध्यक्षप्रमाणता ॥२७॥

अत्रोच्यते—

उक्तमत्र विनाभ्यासान्न प्रत्यक्षे प्रमाणता । ततोऽनुमानमेवात्र प्रधानमिति गम्यताम् ॥२८॥

नान्यदाऽनुपयोगित्वेऽन्यदाप्यनुपयोगिता । अनभ्यासेऽर्थिता कस्मादनुमानेऽस्ति जन्मिनाम् ॥२९॥

उपयोगविनिर्मुक्ते कथङ्कस्यचिदर्थिता । अर्थित्वविषयो वस्तु नोपयोगीत्ययुक्तिमत् ॥३०॥

अथानुमानमध्यक्षप्रवृत्त्यर्थितयाऽर्थ्यते । प्रत्यक्षमपि नेवेताङ्गति लिङ्गेऽतिप्रवर्तते ॥३१॥

तस्मात् प्रत्यक्षानुमानयोर्द्वयोरपि स्वविषये न प्रामाण्यमिति स्थितमेतत् । एवमेव लोकस्य प्रतीतेः । अथ तदप्रमाणमेव । न । विशेषाभावात् । तथा हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किसी तौत (लाल-बुझक्कड़) कहता है कि यदि हमारी पहली छलांग हानिकारक है, तब मैं पहली छलांग न लगाकर दूसरी ही लगाऊँगा। यहाँ यह विचारणीय है कि जब छलाँगों का अभ्यास (आवृत्ति) किया जाता है तब पूर्व छलाँग को पहली और उसके पश्चात् वाली छलांग को दूसरी कहा जायगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पहली छलाँग न होने पर दूसरी हो ही नहीं सकती, तब दूसरी छलाँग ही लगाऊँगा'—ऐसा कहना नितान्त असंगत है। इसी प्रकार 'मा भूत प्रत्यक्ष-प्रतीतिः प्रथमप्रवृत्तेर्जनिका, द्वितीयप्रवृत्तेर्जनिका भविष्यति"—ऐसा कहना भी तौत व्यक्ति का असंगत अभिधान है। अतः प्रत्यक्ष से इतर (परोक्ष) प्रतीति भी प्रवर्तिका होती है, अन्यथा परोक्ष-स्थल पर प्रवृत्ति असम्भव हो जायगी। धूमादि लिंगों के आधार पर जो वह्न्यादि के ग्रहणादि में प्रवृत्ति होती है, वह प्रत्यक्ष के बिना ही देखी जाती है, वहाँ भी प्रत्यक्ष प्रवर्तक नहीं होता।

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष के बिना अनुमान स्वार्थ का साधक नहीं होता और प्रत्यक्ष अनुमान के बिना ही अपने अभ्यास के द्वारा प्रवर्तक हो जाता है ॥२६॥ इससे यही सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमान नहीं, क्योंकि अनुमान के न होने पर भी प्रत्यक्ष के स्वार्थ की सिद्धि हो जाती है ॥२७॥

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अभ्यास के बिना प्रत्यक्ष में प्रवर्तकत्वरूप प्रामाण्य नहीं देखा जाता किन्तु अनुमान में ऐसा नहीं, अतः अनुमान में प्रधानता (वरीयता) प्रतीत होती है ॥२८॥ यदि कोई पदार्थ किसी समय अनुपयोगी होता है तो वह कालान्तर में भी उपयोगी न हो—ऐसा कोई नियम नहीं। अभ्यास के बिना ही अनुमान में लोगों की पक्षपातता क्यों ? ॥२९॥ उपयोग-रहित पदार्थ में किसी व्यक्ति की अर्थिता कामना या प्रवृत्ति क्योंकर होगी, प्रकृति का विषयीभूत-पदार्थ उपयोगी नहीं ऐसा कहना अत्यन्त अयुक्त है ॥३०॥

यदि प्रत्यक्ष स्मृति के लिए अनुमान अपेक्षित है तब प्रत्यक्ष भी लिंग-प्रवृत्ति में अनपेक्षित नहीं हो सकता ॥३१॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रवर्त्तने समानेऽपि यदि कश्चित्प्रवर्त्तकः। प्रवर्तकत्वेतरयोः क इदानीं विवेचकः ॥३२॥

न च प्रवर्तकत्वादपरम्प्रामाणम्। ततोऽध्यक्षेतरयोर्द्वयोरपि तुल्यं प्रामाण्यन्न वा कस्यचित्। अथापि स्यात्। प्रत्यक्षं तत्रापि प्रवर्तकङ्कार्यलिङ्गादिविषयमनध्यक्षन्तु सत्तामात्रेण सन्निहितस तस्य प्रवर्तने व्यापारः। तदप्यसत्।

एवं प्रतीत्यभावात् न हि तत्र प्रत्यक्षमेव प्रवर्तकमिति कस्यचिदवसायः। न च प्रत्यक्षस्यापि सत्तामात्राद् परं प्रवर्तकत्वम्। अन्वयव्यतिरेकमात्रेण सर्वस्य कार्योपयोगात्। प्रतीत्यसमुत्पादमात्रकमेवेदमिति सिद्धान्तात् परमार्थतः न कस्यचित्क्वचित्सव्यापारता। संवृतिरेव सव्यापारता न परमार्थः। एतच्च पश्चात्प्रतिपादयिष्यते। अपि च—

प्रत्यक्षमेव तत्रापि परलोकप्रसाधकम्। लिङ्गस्य साधनं का नः क्षतिर्लैङ्गिकबाधने ॥३३॥

यद्यग्न्यादिविषयं लैङ्गिकं ज्ञानन्न प्रमाणम्। भवतु तेनैव लिङ्गज्ञानेन प्रत्यक्षभावमनतिक्रम्य वर्तमानेन लिङ्गिनो लिङ्गस्य च विषयीकरणम्परलोकादेरिति न काचिन्नः क्षतिः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

फलतः प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का अपने विषय में प्रामाण्य स्थित है, ऐसा ही लोक-व्यवहार भी प्रतीत होता है। अनुमान अप्रमाण है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जब प्रत्यक्ष और अनुमान—दोनों ही समानरूप से प्रवर्तक हैं, तब प्रत्यक्ष में क्या विशेषता? कि केवल उसी को प्रमाण माना जाय, अनुमान को नहीं। प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक है, अनुमान नहीं—इसका विवेचक कौन? ॥ ३२ ॥

शंका—अनुमान-स्थल पर भी प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक होता है, अनुमान तो सत्तामात्रतः उपयोगी है, प्रवर्तन में उसका कोई सहयोग नहीं। ऐसी विशेषता के कारण केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना चाहिए।

समाधान—वैसी लोक में प्रतीति नहीं होती, क्योंकि केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रवर्तक होता है—ऐसा किसी का निश्चय नहीं। प्रत्यक्ष में भी सत्तामात्रतः प्रवर्त्तकत्व है—ऐसा भी किसी को निश्चय नहीं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दोनों का उपयोग सिद्ध होता है। सिद्धान्त पक्ष में प्रमाणों की प्रवर्तकता का अर्थ किया गया है—"प्रतीतिसमुत्पादकत्व"। प्रवर्तता व्यापार-युक्तत्व नहीं। आचार्य धर्मोत्तर ने भी उसी ओर संकेत किया है—"प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रवर्तकत्वमेव, न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्" (न्या० वि० पृ० १८)। संवृत्ति ही सव्यापारता है, परमार्थ व्यापार नहीं। इसका विशेष प्रतिपादन पश्चात् किया जायगा (२३३ वें पद्य में)।

दूसरी बात यह भी है कि परलोक-सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण माना जाता है और अनुमान साधक है—प्रत्यक्ष। तब प्रत्यक्ष को ही सीधे परलोक का साधक मान लेना चाहिए, लैङ्गिक प्रमाण (अनुमान) का बाध मान लेने पर हमारी कोई क्षति नहीं ॥३३॥ अर्थात् पर्वत में अग्निविषयक लैङ्गिक ज्ञान को प्रमाण न मान कर प्रत्यक्षात्मक लिङ्ग-ज्ञान को प्रमाण मान लेने में कोई क्षति नहीं, उक्त लिङ्ग-ज्ञान लिङ्गी (अग्नि) और लिङ्ग दोनों को विषय करता है।

वार्तिकालङ्कारः

अनुमानाप्रमाणत्वे परलोकाद्यसिद्धितः । मा भून्नास्तिकता तस्याप्रामाण्यम्प्रतिसिध्यति ॥३४॥

अनुमानस्याप्रमाणतायान्तद्विषयस्य परलोकादेरसिद्धिरिति नास्तिकतामाशङ्कमानैरस्माभिरनुमानप्रतिक्षेपः प्रतिक्षिप्यते । नान्येनाभिप्रायेण । स चेदनुमानविषयः परलोकादिरप्रत्यक्षेऽपि प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते किमस्माकमनुमानस्य प्रामाण्यसाधनेन ।

महता हि प्रयासेन यस्य साधनमिष्यते । सोऽर्थः सिद्धो विनायासं यदि कस्यार्थिताऽपरा ॥३५॥

अनायाससाध्येऽर्थे एकेन प्रकारेण कः प्रकारान्तरमायाससम्भवभाजनञ्जनः प्रेक्षावानाश्रयेत् । अनुमानेन साध्योऽर्थो यदि प्रत्यक्षमात्रात्प्रसिध्यति किमस्माकमनुमानेन दीयते । किञ्च—

यद्यध्यक्षात्परोक्षेऽपि प्रसिध्यत्वर्थं ईप्सितः । सर्वस्य साधनम्प्राप्तं सर्वः सर्वार्थविद्भवेत् ॥३६॥
असम्बन्धान्न चेदस्ति सानुमैव तथा सति ।

न खल्वसम्बन्धात्प्रतीतिमन्तरेणापरमनुमानमनुमानवादिभिरपीष्यते । तस्मात्सदृशरूपेण यत्प्रतीयते तत्सामान्यलक्षणमेव तत्स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धम् । अनेन कार्यहेतोर्विषयः प्रदर्शितः ।

शब्दविषयत्वमपि शाब्दप्रत्ययगम्यमेव स एव शाब्दः प्रत्ययः स्वप्रतिभासिनो विषयत्वं प्रतिपादयति । अनेन स्वभावहेतोर्विषयस्य दर्शनम् । तथा हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुमान प्रमाण को न मानने पर परलोकादि की सिद्धि नहीं होती, नास्तिकता आ जाती है, अतः अनुमान के प्रतिक्षेप का निषेध किया जाता है ॥३४॥ अर्थात् अनुमान का विषय है—परलोकादि । अनुमान को अप्रमाण मानने पर परलोकादि की असिद्धि हो जाती है और नास्तिकता प्रसक्त होती है । इसी उद्देश्य से चार्वाक-द्वारा किये जानेवाले अनुमान-प्रतिक्षेप का निरास किया जाता है, अन्य अभिप्राय से नहीं । वह अनुमान का विषयीभूत परलोकादि अप्रत्यक्ष होने पर भी यदि प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है, तब अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने से क्या लाभ ? महान् प्रयास (प्रयत्न) के द्वारा जिस अर्थ की सिद्धि की जाती है, यदि वही अर्थ बिना प्रयास के सिद्ध हो जाता है, तब अन्य साधन की क्या आवश्यकता ? ॥३५॥ जिस अर्थ की अनायास सिद्धि हो जाती है, उसके लिए कौन प्रेक्षावान् आयासबहुल उपाय का अनुसरण करेगा । उससे अधिक अनुमान हमको क्या दे देगा ?

दूसरी बात यह भी है कि यदि अभीष्ट परोक्ष अर्थ भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हो जाता है, तब सभी पदार्थ सभी कार्य के कारण बन जायेंगे और कार्य-कारण-भिन्न पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा ॥३६॥ समस्त कार्यकारण-वर्ग का इन्द्रिय-सम्बन्ध न होने से सबका प्रत्यक्ष क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि फिर तो उसे अनुमान ही मान लेना चाहिए । ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि विषय-सम्बन्ध के बिना अनुमानवादी अनुमान भी नहीं मानते । अतः अयं घट-सदृशः—इस प्रकार सदृशरूपेण जो प्रतीत होता है वह सामान्यलक्षण ही है और स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष का विषय होता है । इस प्रकार कार्यहेतु का विषय प्रदर्शित हो जाता है ।

शब्द विषयत्व भी इसी प्रकार सिद्ध होता है, क्योंकि शाब्दज्ञानगम्य-पदार्थ को भी शाब्द कहा करते हैं । वक्ता की बुद्धि में जो पदार्थ उपस्थित होता है और शब्द के द्वारा जिसका ज्ञान दूसरे को कराता है, उसे ही शाब्दविषय माना जाता है । इस

वार्तिकालङ्कारः

उपमानेन गोवस्तुसदृशस्य विनिश्चयः । अयं सदृशशब्देन प्राक्तेन प्रतिपादितः ॥३७॥
तस्य स्वरूपमध्यक्षप्रत्ययादेव गम्यते । सादृश्यन्तु परन्तस्य शाब्दप्रत्ययगोचरः ॥३८॥

तथा हि । अनेन सदृशोऽसौ तेन सदृशोऽयमित्येक एवार्थः । तदनुकारव्यवहारश्च द्वयावलम्बी न च प्रत्यक्षेण द्वयं प्रत्येतुं शक्यमतः शाब्दप्रत्ययगोचर एव सादृश्यस्वभाव-हेतुना प्रतीयते । अनेन सदृशोऽसावेतदाकारस्य तत्रापि दर्शनात् । सादृश्यव्यवहारमा-त्रस्य साधनात् । आकारद्वयस्य तु तथाभूतप्रत्ययनिबन्धनस्य पूर्वापरप्रत्यक्षाभ्यामेवो-पलम्भात् । तस्माच्छब्दविषयो न स्वलक्षणम् । शब्दग्रहणेन च विकल्प एवोपलभ्यते । विकल्पविषय इति यावत् । अन्यनिमित्तानाम्भावे धियो यत्र न सत्त्वमिति चानुपलब्धे-रुपक्षेपः । यत्र धियो न सत्त्वं तस्याभावः । तत्र क्वचित्प्रवर्तमानं ज्ञानमन्यत्राहन्न प्रवृत्तमिति नियताकारत्वात्प्रत्याययति । न हि तत्सर्वत्र प्रवृत्तिमात्मनम् उपलभते । तस्माद् भेदवादिनः प्रत्यक्षत एव द्विधाभावावगमः प्रतीतेरन्यगत्यभावात् । इदञ्च सदृशासदृशत्वादि सकलमेव परोक्षेतरप्रत्ययविषयस्तच्चार्थक्रियायां शक्त्यशक्तित इति ज्ञायते । एतत्पश्चात्प्रतिपादयिष्यते ।

तत्र यदुच्यते—परोक्षे प्रत्यक्षन्नास्ति । तदयुक्तम्—

यत्र नास्मि तदध्यक्षादपरं वर्जितम्मया । एतावन्मात्रतोऽर्थानाम्परोक्षत्वविनिश्चयः ॥३९॥
प्रत्यक्षमेवात्मानं वेत्ति संवेदनात्मना । तियतत्वप्रतीत्यैवान्यस्यानध्यक्षतागतिः ॥४०॥
प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽपि परोक्षत्वे परोक्षिता । भवत्यर्थस्य तत्रार्थेन प्रत्यक्षं हि वृत्तिमत् ॥४१॥
नन्वर्थेऽध्यक्षतोऽज्ञाते परोक्षार्थस्य वित्कथम् । तद्वेदने हि तद्धर्मस्तत्स्वभावः प्रतीयते ॥४२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रकार स्वभाव हेतु के विषय का प्रदर्शन माना जाता है। उपमान के द्वारा गो-सदृश पदार्थ का निश्चय किया जाता है—"गवयः गोसदृशः" गवय का स्वरूप प्रत्यक्षप्रमाण से ही अवगत होता है, केवल सादृश्य का बोध शाब्दप्रत्यय का विषय माना जाता है ॥३७-३८॥ अर्थात् 'अनेन सदृशोऽसौ तेन सदृशोऽयम्" इति । इस प्रकार दोनों वाक्यों द्वारा एक ही अर्थ का अभिधान किया जाता है । उसके अनुरूप व्यवहार (गवयशब्दादि का प्रयोग) किया जाता है । गो और गवय दोनों का प्रत्यक्ष-दर्शन सम्भव नहीं क्योंकि घर में गो है, गवय नहीं, और वन में गवय है, गो नहीं, अतः शाब्दसादृश्य के आधार पर व्यवहारमात्र होता है—स्वलक्षण वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं । शब्द के द्वारा केवल सादृश्यरूप विकल्प का ही भान होता है । सादृश्यादि ज्ञानजनक निमित्तों के रहने पर जिसका ज्ञान नहीं होता स्वलक्षण तत्त्व है, कहा जा चुका है । यह वस्तु गो के सदृश है और यह पदार्थ गो के सदृश नहीं इस प्रकार सादृश्य असादृश्य का निर्णय अर्थक्रिया-कारित्व के आधार पर होता है, इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर किया जायेगा ।

यह जो कहा जाता है कि परोक्षवस्तु में प्रत्यक्ष की विषयता नहीं होती, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान, ज्ञानरूपधर्मी स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होता है, अतः उसका धर्मीभूत परोक्षत्व भी प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होगा । संवेदनरूपेण ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है और उसके धर्मभूत आकार का भी प्रत्यक्ष तथा उससे भिन्न का परोक्ष माना जाता है ॥३९-४०॥ प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत परोक्षतारूप धर्म का आश्रय होने के कारण वस्तु को परोक्ष कहा जाता है ॥४१॥ यह जो सन्देह किया जाता है कि प्रत्यक्षतः अज्ञात में अपरोक्षता कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यही है—ज्ञान

वार्तिकालङ्कारः

यदि परोक्षोऽर्थः प्रत्यक्षेण ज्ञातो भवेत्तद्धर्मः प्रतीयेत धर्मस्य तत्स्वभावत्वात्। अतत्स्वभावस्य तद्धर्मत्वायोगात् पदार्थान्तरवत्। तत्सम्बन्धात्तु तद्धर्मतेति चेत्। आयातन्तस्य तर्हि प्रत्यक्षेण परिज्ञानम्। तेन परोक्षतासम्बद्धं वस्तु प्रतियताऽध्यक्षेण नियमेन परोक्षमपि वस्तु प्रत्येतव्यन्ततः परोक्षाभिमतस्य वस्तुनोऽपरोक्षतैव प्रसक्ता। ततो नानुमानावतारः। न हि प्रत्यक्षगृहीतमेवानुमानविषयः। अत्रोच्यते—

स्वसंवेदनमध्यक्षम्परोक्षत्वे प्रवर्तते। तद्धर्मिणीन्द्रियज्ञानमपरन्तु प्रवर्तते ॥४३॥

द्वयप्रतिपत्तौ हि सम्बन्धप्रतिपत्तिः। न च तद् द्वयमेकेनैव प्रमाणेन प्रत्येयम्। तत्र स्वसंवेदनेन परोक्षतार्थस्य धर्मः प्रतीयते। परोक्षन्तु धर्मिप्रत्यक्षान्तरेणेन्द्रियविज्ञानेन प्रतीयते। ततः सम्बन्धप्रतिपत्तिः। ततः प्रत्यक्षेण परोक्षताप्रतीतावपि वस्त्वनुमानेन प्रतीयत इत्यनुमानावतारः। किञ्च—

विधिरूपस्य धर्मस्याव्यतिरेकेण तिष्ठतः। न वस्त्वग्रहणे वित्तिर्युक्ता न तु विपर्ययात् ॥४४॥

विधिरूपो हि धर्मोऽव्यतिरिक्तो वस्तुनः सधर्मिणा सहैकप्रमाणग्राह्यः। परोक्षत्वन्तु प्रतीतिविरहोऽध्यक्षेण। स न धर्मिग्रहणसापेक्षः।

अथ परोक्षे प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तौ कथमनुमानवृत्तिः। न किञ्चिदेतत्। यतः—

नानुमानात्परोक्षत्वं साध्यते तस्य वस्तुनः। सत्यामध्यक्षतायान्तु दृष्टरूपस्य साधनम् ॥४५॥

न ह्यनुमानेन वस्तुतः परोक्षता साध्यते येन तत्र प्रत्यक्षवृत्तिरिष्यते। अपि तु परोक्षता स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एवास्य प्रसिद्धेत्युक्तमेतत्। सत्यान्तु प्रत्यक्षप्रसिद्धायाम्प-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रूपधर्मी का प्रत्यक्ष होने से उसके धर्मधर्मी का प्रत्यक्ष माना जाता है क्योंकि धर्म और धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध होता है ॥४२॥

शंका—यदि परोक्ष अर्थ प्रत्यक्षतः ज्ञात होता तब उसके धर्म-धर्मी उसी से भान हो जाता, क्योंकि धर्म धर्मी का स्वभाव होता है। परोक्षता से सम्बन्धित पदार्थ का प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होने के कारण परोक्षाभिभूत पदार्थ को भी प्रत्यक्ष या परोक्ष माना जाता है। प्रत्यक्ष अर्थ में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं मानी जाती, तब अनुमान विषयता रूप परोक्षता क्योंकर होगी।

समाधान—विषय का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा और ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है। अतः ज्ञान के धर्मभूत परोक्षता का भान भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से माना जाता है, और उसके विषयीभूत अर्थ में ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति मानी जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्षता का भान होने पर भी वस्तु का भान अनुमान से होता है, अतः अनुमान का अवतरण माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि धर्म दो प्रकार का होता है, विधिरूप और निषेधात्मक, विधिरूपधर्म वस्तु से अभिन्न होने के कारण एक प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है। परोक्षत्वरूप धर्म प्रतीति का विरहरूप है अतः वस्तुग्रहण निरपेक्ष प्रत्यक्ष से गृहीत माना जाता है।

प्रश्न—परोक्ष पदार्थ में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने के कारण अनुमान भी क्योंकर प्रवृत्त होगा ?

उत्तर—अनुमान के द्वारा वस्तु की परोक्षता सिद्ध नहीं की जाती, अपितु स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्षता की सिद्धि होती है, यह कहा जा चुका है ॥४५॥ प्रत्यक्ष प्रसिद्ध परोक्षता के होने पर भी अर्थक्रिया-समर्थ अग्नि की अनुमान से सिद्धि की जाती है,

वार्तिकालङ्कारः

रोक्षतायामर्थक्रियासमर्थमग्न्यादिरूपमेवार्थस्य साध्यतेऽनुमानेन तत्र च प्राक्प्रत्यक्षम्प्रवृत्तमेव ततोऽनुमानप्रवर्तनाव्याघातः । किञ्च—

अनुमानस्य तद्रूपप्रतिपत्तावशक्तितः । परोक्षता तदैवास्य सामर्थ्यादवतिष्ठते ॥४६॥

अनुमानस्य हि तत्स्वरूपप्रवर्तना सामर्थ्यमेवाप्रकृता । सा च तदैवास्य भवति । ततो न प्राक्तत्र प्रत्यक्षवृत्तिरपेक्ष्यते । न च परोक्षतया कश्चिदर्थी येन तत्र प्रत्यक्षवृत्तिमपेक्षेत । अनिष्टावपि सा भवति । अनेन प्रामाण्यप्रसाधनमपि निर्णीतम् ।

परोक्षवस्तुसिद्धौ हि प्रामाण्यन्तस्य सिध्यति । परोक्षवस्तुसिद्ध्यैव तत्सम्बन्धप्रसिद्धितः ॥४७॥

वस्तुसम्बन्धितामात्रं ज्ञाने प्रामाण्यमुच्यते । प्रतिद्धवस्तुसम्बन्धे प्रामाण्ये लिङ्गतोऽस्ति वित् ॥४८॥

परिशिष्टन्तु प्रागेव प्रत्ययादीति नोच्यते ।

ननु प्रमेयद्वैविध्यम्प्रमेयमेव द्विधा प्रमेयञ्च कारणम्प्रमाणद्वैविध्यङ्कार्यम् । तत्कथङ्कारणात्कार्यस्य सिद्धिः । अत्रोच्यते—

सामग्रीसम्भवे कार्यङ्कारणाज्जायते यतः । ततः कारणतः सिद्धिः कार्यस्यायुक्तिका कथम् ॥४९॥

यद्यपि नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति न्यायस्तथापि कारणात्कार्यस्य सिद्धिरेवात्र । न हि सर्वदा प्रमाणद्वितयम्प्रमेयद्वितयात्साध्यते । अपि तु सामग्रीसम्भवादिति वयम्ब्रूमः । सामग्रीसम्भवञ्च पश्चात्प्रतिपादयिष्यामः । अवश्यञ्च प्रमेयद्वितयसिद्धिः प्रमाणद्वितयं साधयति । यत एव सिद्धिर्निश्चयलक्षणाऽस्य तदेव प्रमाणम् । न चैकस्माद् द्वितयसिद्धिरिति प्रतिपादितम् । यदा त्र्यादिप्रमाणविनिवृत्त्यर्थमिदं तदापर-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

फलतः अनुमान से पहले प्रत्यक्ष की उसमें प्रवृत्ति हो जाती, पश्चात् अनुमान की प्रवृत्ति मानने में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। अनुमान की वस्तुस्वरूप के ग्रहण में प्रवृत्ति नहीं मानी जाती, उससे पहले प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो जाती है। कोई भी व्यक्ति परोक्ष अर्थ में प्रत्यक्षप्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि अनिष्ट अर्थ में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो जाती है। परोक्ष वस्तु की सिद्धि हो जाने पर ही उसमें प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। और उसके सम्बन्ध की प्रसिद्धि होती है ॥४७॥ ज्ञान में वस्तुसम्बन्धिता को ही प्रामाण्य कहा जाता है। प्रामाण्य में वस्तु का सम्बन्ध होने पर ही लिङ्ग का विषय माना जाता है ॥४८॥ अवशिष्ट का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है।

प्रश्न—प्रमेय-द्वैविध्य-प्रमाण द्वैविध्य के द्वारा सिद्ध किया जा चुका है, किन्तु कारण से कार्य की सिद्धि कैसे ?

उत्तर—सामग्री के उपस्थित होने पर कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः कारण से कार्य की सिद्धि अयुक्त क्योंकर होगी ?

यद्यपि कारणों के उपस्थित होने पर कार्य का होना अवश्यंभावी नहीं, तथापि यहाँ कारण से कार्य की सिद्धि मानी जाती है। सदैव प्रमाण-द्वैविध्य से प्रमेय-द्वैविध्य की सिद्धि नहीं की जाती, अपितु सामग्री के सम्भव होने पर कार्य होता है, इतना ही हमारा कहना है। सामग्री के सम्भवरूपता का प्रतिपादन पश्चात् किया जायेगा, प्रमेय-द्वैविध्य की सिद्धि अवश्य ही होती है, अतएव निश्चयात्मक जो सिद्धि है, उसे ही प्रमाण कहा जाता है, एक वस्तु से द्वैविध्य की सिद्धि नहीं होती, इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। द्विविध प्रमाण से द्विविध प्रमेय की सिद्धि का तात्पर्य प्रमाणगतत्रित्वादि निवृत्ति के लिए किया जाता है, तब व्यापकाभाव के द्वारा प्रमाणान्तर की निवृत्ति

(२) सत्यद्वयचिन्ता—

अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् ।
अन्यत् संवृत्तिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥ ३ ॥
इत्यन्तरश्लोकः ।

जो अग्न्यादि पदार्थ अपनी दाह-पाकादिरूप अर्थक्रिया में समर्थ होता है, उसको ही इस बौद्ध-सिद्धान्त में पारमार्थिक सत् और उससे भिन्न अर्थ को संवृति सत् कहा गया है। परमार्थ सत् को स्वलक्षण और संवृति सत् को सामान्य लक्षण अभिहित किया जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

विषयाभावात् प्रमाणान्तरविनिवृत्तिर्व्यापकाभावात्साध्यते। न हि प्रमेयरहितं प्रमाणमस्ति। स्वरूपस्य पररूपस्य वा प्रमेयस्याभावे ज्ञानमेव नास्तीति किम्प्रमाणम्भवेत्। आत्मास्तीति चेत्। तस्यापि स्वपररूपप्रमेयाभावेऽभाव एव प्रसक्त इति न प्रमाणन्नाम। तस्मात्स्वरूपेण प्रतीयमानं वस्त्वेको विषयः। तत्र परन्तु पर इति व्यवस्थितम्।

(२) सत्यद्वयचिन्ता—अर्थक्रिया समर्थमिति।

ननु न किञ्चिदर्थक्रियासमर्थं कथमर्थक्रियासामर्थ्यं परमार्थसल्लक्षणम्। तथा हि—

अर्थक्रियासमर्थत्वं कस्य केन प्रतीयते। न हि मानस्य मेयस्य प्रतीतिः सम्भवस्तथा ॥५०॥

न नित्यस्य नानित्यस्य। न ज्ञेयस्य न ज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वम्प्रतीयते प्रत्यक्षेणानुमानेन वा। तथा हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सिद्धि की जाती है। क्योंकि कोई भी प्रमाण प्रमेय से रहित नहीं होता, स्वरूप या पररूपात्मक प्रमेय के न होने पर ज्ञान ही नहीं होता, प्रमाण कौन होगा।

प्रश्न—आत्मा की सत्ता का भी अभाव ही होता है क्योंकि स्व-आत्मक या परात्मक प्रमेयरूपता उसमें नहीं मानी जाती। फलतः स्वरूपेण प्रतीयमान एक विषय और पररूपेण प्रतीयमान विषयान्तर कहा जा चुका है।

(२) दो प्रकार के सत्यपदार्थों पर विचार—

शंका—लोक में कोई भी पदार्थ अर्थक्रिया (अपनी कार्य-कारिता) में समर्थ नहीं प्रतीत होता, तब वार्तिककार ने यह कैसे कह दिया कि जो वस्तु अपने कार्य के निष्पादन में समर्थ (सशक्त) है, वह परमार्थ सत् है? अर्थात् यह यहाँ प्रश्न उठता है कि वस्तु का अर्थक्रिया-सामर्थ्य किस प्रमाण से सिद्ध होता है? न तो वैसा कोई प्रमाण प्रतीत होता है, जिससे अर्थक्रिया-सामर्थ्यरूप प्रमेय की सिद्धि हो सके और न लोक में कोई वैसा प्रमेय प्रसिद्ध है, जिसके लिए प्रमाण की आवश्यकता हो ॥५०॥ लोक में न तो नित्य पदार्थ में, न अनित्य पदार्थ में, न ज्ञेय और न ज्ञान में अर्थक्रिया-कारिता देखी जाती है। प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के द्वारा भी वैसा कोई अर्थक्रिया-कारी पदार्थ नहीं सिद्ध होता। नित्यपदार्थ में अर्थक्रिया-सामर्थ्य इसलिए नहीं कि 'यदा नित्यं वस्तु नास्ति, तदा तस्य अर्थक्रिया नास्ति'—इस प्रकार का व्यतिरेक सम्भव नहीं और अनित्य पदार्थ में इसलिए अर्थक्रिया नहीं कि उसमें 'यदा अनित्यमस्ति, तदा तत्कार्यमस्ति'—इस प्रकार का अन्वय नहीं। अन्वय और व्यतिरेक ही कार्यकारणभाव के साधक होते हैं ॥५०॥ प्रत्येक पदार्थ का सामर्थ्य अन्वय-व्यतिरेक से

वार्तिकालङ्कारः

नित्यस्यास्ति न सामर्थ्यं व्यतिरेकाप्रसिद्धितः । नानित्यस्यास्ति सामर्थ्यमन्वयस्याप्रसिद्धितः ॥५१॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तं सामर्थ्यमीक्ष्यते । तयोरुभयथासिद्धौ कथं सामर्थ्यमुच्यते ॥५२॥

न खलु नित्यस्य सर्वदेशव्यापिनः क्वचित्कार्ये व्यापारविरहिणः सामर्थ्यंन्नाम। मा भूद्व्यापिनोऽव्यापिनो भविष्यति । मा भूत्सदास्थायिनः कालान्तरस्थायिनो भविष्यतीति चेत् । तदसत्—

देशाव्याप्तिः कुतस्तस्याप्रतीतेर्नित्यता कुतः । यथा न व्यापिता तस्य तथा नास्त्यस्य नित्यता ॥५३॥
अनित्यस्यापि भावस्य क्षणिकत्वात्क्रिया कुतः । क्षणिकस्य हि भावस्य भावमात्रे व्यवस्थितिः ॥५४॥
अथानन्तरमस्यान्यदिति सामर्थ्यमुच्यते । तदनन्तरमन्यस्याप्यतरस्तस्यापि तत्क्रिया ॥५५॥
सर्वभावक्षणानां हि सर्वापेक्षैव पूर्वता । तदभावेऽपि तद्भाव इति चेत्क्षणिके कथम् ॥५६॥

न खलु क्षणिकस्य कार्यस्य तदभावेऽपि पुनर्भवनसम्भवः। तदैव तस्य भावात्। अन्यदा कदाचिदप्यभावात्। अथ सन्तानः कार्यं कारणञ्च ततोऽयमदोषः। न। सन्तानस्य तद्व्यतिरेकिणो भावात्। भावे वा तस्यैव स कार्यकारणभावः क्षणानामसामर्थ्यादसत्वप्रसङ्गः। तत्सम्बन्धिनः कार्यकारणत्वे तेषामपि स कार्यकारणभाव इति चेत्। न। व्यतिरेकिणोः कार्यकारणभावादपरस्य सम्बन्धस्याभावात्। सन्तानः सर्वक्षणानन्तरभावीति सर्वस्य सन्तानो भवेत्। तस्य च नित्यताक्षणिकत्वयोः प्रागभाव्येव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्याप्त देखा जाता है। फलतः नित्य और अनित्य—उभयविध पदार्थों में अर्थक्रिया-सामर्थ्य क्योंकर सिद्ध होगा ? ॥५२॥

नित्य और विभु पदार्थ में किसी प्रकार व्यापार नहीं, तब उसमें कार्य-कारण-सामर्थ्य क्योंकर होगा ? व्यापक में न सही, अव्यापक पदार्थ में सामर्थ्य होगा—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सदा स्थायी पदार्थ में कोई सामर्थ्य नहीं, तब कालान्तरस्थायी पदार्थ में सामर्थ्य होगा, ऐसा भी नहीं, क्योंकि उसकी देशव्यापिता कैसे मानी जाय जब कि उसकी प्रतीति ही नहीं होती। जैसे व्यापिता प्रतीत नहीं होती, वैसे नित्यता भी प्रतीत नहीं होती ॥५३॥ अनित्य पदार्थ क्षणिक है, उसमें कार्य-कार्यता क्योंकर होगी ? क्षणिक पदार्थ तो उत्पाद-व्यय में व्यवस्थित है ॥५४॥ कार्य के अव्यवहित पूर्व में समर्थ कारण होता है, अतः जिसके अनन्तर कार्य हो, वही सामर्थ्य पदार्थ है—ऐसा मानने पर क्षणभङ्गवाद में यव-क्षण के अनन्तर वटाङ्कुरक्षण हो सकता है, अतः यवबीज से वटादि उत्पत्ति प्रसक्त होती है ॥५५॥ इतना ही नहीं, सभी भाव-क्षणों में विश्व के सभी कार्यों में आनन्तर्य होने से सब पदार्थों से सभी की उत्पत्ति प्रसक्त होती है। अनित्य-पक्ष में कारणाभाव होने पर भी कार्य होता है—ऐसा क्षणिक-पक्ष में क्योंकर कहा जा सकेगा ? ॥५६॥ अर्थात् क्षणिक-पक्ष में 'कारणाभावेऽपि कार्यभावः'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्तिक्षण से अतिरिक्त भावक्षण माना ही नहीं जाता, जैसा कि कहा गया है—"भूतिर्येषां क्रिया सैव" (बोधिचर्या० पृ० १८१)। क्षण-सन्तान में कार्य-कारणभाव मानने में कोई दोष नहीं आता—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सन्तानी क्षणों से अतिरिक्त सन्तान-तत्त्व माना ही नहीं जाता। यदि माना जाता है, तब उसमें ही कार्य-कारणभाव का सामञ्जस्य हो जाने पर सन्तानी क्षणों का असामर्थ्य के कारण असत्य या अभाव प्रसक्त होता है। सन्तानी क्षणों के सम्बन्धी सन्तानतत्त्व में कार्य-कारणभाव की उपपत्ति होने से क्षण में भी

वार्तिकालङ्कारः

दोषः । आह च—

सन्तानस्य ततोऽन्यत्वे सामर्थ्ये च स एव सन् । क्षणानां स्यादसामर्थ्यादसत्त्वं कल्पना वृथा ॥५७॥

तत्सम्बन्धिनि सामर्थ्यात्सामर्थ्यङ्कल्प्यते यदि । मुख्यसामर्थ्यविरहाद्भूषायाचितकेन सा ॥५८॥

कार्यकारणसम्बन्धः सन्तानेतरयोर्भवेत् । त्रैलोक्यस्य क्षणानां हि स्यात्सन्तानस्तथा सति ॥५९॥

सन्तानस्य च सामर्थ्यात् सत्त्वं कार्यक्रिया ततः । नित्यत्वेतरयोर्दोषः पक्षयोः स्यात्स एव वः ॥६०॥

सन्तानान्तरसंचारे भवेदेवानवस्थितिः । सन्तानस्यापि कार्यत्वे क्षणिकत्वे न कार्यता ॥६१॥

सन्तानान्तरमत्रापि यतः कार्यत्वकारकम् । ततोऽनवस्थाव्याघ्रेणाघ्राता सा कार्यता मतिः ॥६२॥

अपि च—

ज्ञानादन्येन कार्येण सत्ता हेतोर्भवेद्यदि । कार्यस्यापि न सत्ता स्याद्विना कार्यान्तरोदयम् ॥६३॥

ततोऽनवस्थितेः सत्त्वन्न मूलस्यापि विद्यते । ज्ञानकार्येण सर्वस्य तत्स्यात्सत्त्वमबाधितम् ॥६४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कार्य-कारणभाव यदि माना जाता है, तब वह सम्भव नहीं, क्योंकि यदि सन्तानी क्षणों से अतिरिक्त सन्तान की सत्ता मानी जाती है, तब उनमें कार्य-कारणभाव सम्बन्ध से अतिरिक्त कोई सम्बन्ध सम्भव ही नहीं, क्योंकि सन्तान तो सभी क्षणों के अनन्तर भावी होने के कारण सभी क्षणों की वह सन्तति है। उसके नित्य या क्षणिक मानने में कथित दोष प्रसक्त होते हैं। ऐसा ही कहा गया है—

सन्तानस्य ततोऽन्यत्वे सामर्थ्ये च स एव सन् ।
क्षणानां स्यादसामर्थ्यादसत्त्वं कल्पना वृथा ॥ ५७ ॥

अर्थात् बौद्धसिद्धान्त में क्षण और क्षणसन्तान की कल्पना की गई है, किन्तु क्षणसन्तति को यदि क्षणात्मक सन्तान ही उसे भिन्न मानते हैं तब कार्यकारण भावादिरूप समस्त व्यवहार सन्तान के द्वारा सम्पन्न हो जाता है। सन्तानीक्षण अनर्थक हो जाते हैं। अर्थक्रियाकारी पदार्थ ही सत् माना जाता है। क्षणों में अर्थक्रियाकारीत्व के न रहने के कारण असत्व आ जाता है। असत् पदार्थों की कल्पना व्यर्थ हो जाती है ॥५७॥

क्षणों के सम्बन्धिरूप सन्तति में सामर्थ्य रहने के कारण यदि क्षणों में भी सामर्थ्य की कल्पना की जाती है, तब भी क्षणों में अपना मुख्य सामर्थ्य नहीं रहता। सन्तानगत सामर्थ्य से सन्तानी को समर्थ मानना वैसा ही है जैसे कोई स्त्री अपने पड़ोसी से आभूषण माँगकर अपने को आभूषित और अलंकारिता का मिथ्या ढोंग रचाती है। 'मुख्यसामर्थ्यविरहा भूषायाचितकेन सा।" ॥५८॥ यदि अपने सम्बन्धि के कार्यकारण सामर्थ्य को लेकर कोई समर्थ माना जाता है तब त्रैलोक्यगत-समस्त क्षणों में कार्यकारणभाव सम्पन्न हो जाता है। कोई असमर्थ क्षण रहता ही नहीं ॥५९॥ सन्तानगत अर्थक्रियाकारित्व को ही यदि सत्ता का स्वरूप माना जाता है तब नित्यानित्य पक्षों में भी वही दोष प्रसक्त होता है ॥६०॥ सन्तानीक्षणों का सन्तानान्तर में संचार मानने पर सन्तान में भी क्षणिकत्व आ जाता है और क्षणिक वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व सम्भव नहीं ॥६१॥ सन्तानान्तर मानने पर सन्तान-परम्परा की धारा में अनवस्था दोष भी आ जाता है ॥६२॥ ज्ञानरूपकार्य को लेकर यदि आलम्बन में अर्थक्रियाकारित्व माना जाता है तो ज्ञान में अर्थक्रियाकारिता मानने के लिए ज्ञानान्तर की कल्पना अनवस्था उत्पादक हो जाती है ॥६३॥ अनवस्था दोष के कारण अन्त और उपान्त में अर्थक्रियाकारित्व रूप का अभाव मल-क्षण में भी आ जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

अत्रापि ज्ञानकार्येण ज्ञेययोगस्य वित् कुतः । ज्ञानेन ज्ञेययोः कार्यकारणत्वम्प्रतीयते ॥
पुरो व्यवस्थिततत्त्वेन द्वयोरप्यवभासनात् ॥६५॥
ज्ञानस्य तु न कार्यत्वन्तेनान्येनाथवेक्ष्यते । न प्रत्यक्षेण तेनैव तस्य प्रागप्रवृत्तितः ॥६६॥
प्रवृत्तौ तु न कार्यत्वं पुनः पूर्वं प्रवर्तते । तथाऽपर्यवसानत्वं कुतः स्यात् कार्यतागतिः ॥६७॥
समानकालयोरेव यदि स्यात्कार्यहेतुता । अविशेषाद् भवेदेवं युगपत्स्तम्भकुम्भयोः ॥६८॥
दृष्टयोरन्यथाभावे प्रकृतेऽपि न सिध्यति । केवलस्यापि कुम्भस्य यदि दृष्टेर्न कार्यता ॥६९॥
ज्ञानस्यापि न किन्तेन विना दृष्टेः प्रवर्तनम् । अन्यदेव हि तज्ज्ञानमतो न व्यभिचारिता ॥७०॥
स्तम्भोऽपि न किमन्योऽसौ प्रत्यभिज्ञोदयस्य नः । नित्यता च भवेदेवम्प्रत्यभिज्ञा न च प्रमा ॥७१॥
न हि पूर्वापरं रूपमेकस्यैव प्रतीयते । पूर्वापरप्रत्ययाभ्याम्प्रत्येकमनवग्रहात् ॥७२॥
स्मरणस्य द्वयोर्वृत्तिर्न चास्यास्ति प्रमाणता । पूर्वापरप्रत्यययोः परस्परमभिश्रणम् ॥७३॥
स्मरणन्तत उत्पन्नमेकत्वस्य न वेदकम् । आत्मा यद्यपि नामैकः कथन्तेनापि वेदनम् ॥७४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान-परम्परारूप अर्थक्रिया के माध्यम से विश्व के सभी खपुष्पादि पदार्थ सत् ही हो जाते हैं। असत्त्व रहता ही नहीं ॥६४॥ ज्ञानरूप कार्य का सम्बन्ध ज्ञेय के साथ क्योंकर अवगत होगा। ज्ञान के सम्बन्ध से दो ज्ञेय पदार्थों में भी कार्यकारण भाव मानना पड़ सकता है। पहले दो ज्ञेय पदार्थों का व्यवस्थित अवभास होता है। उनमें परस्पर कार्यकारणभाव न प्रत्यक्ष के द्वारा न ही और किसी प्रमाणान्तर के द्वारा हो सकता है। इस प्रकार एक वस्तु में कार्यता की अवगति के लिए वस्त्वन्तर में कार्यता की अवगति अनिवार्य होती है, जिसका कहीं पर्यवसान नहीं। फलतः अनवस्था माननी पड़ती है ॥ ६७ ॥ समकालिक पदार्थों में भी कार्य-कारणभाव अवतरित होता हुआ गवादि के विषाण-द्वय में परस्पर कार्यकारणभाव पर्यवसित होता है, जोकि नितान्त असंगत है ॥ ६८ ॥

यदि स्तम्भ-कुम्भादि के समान एककाल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में कार्य-कारण भाव का अन्यथाभाव (बाध) देखा जाता है, तब प्रकृत में ज्ञान और ज्ञेय का कार्य-कारणभाव सिद्ध न हो सकेगा। स्तम्भ-रहित केवल कुम्भ को देख कर कुम्भ में स्तम्भ की कार्यता का निश्चय यदि कोई नहीं कर सकता, तब ज्ञेयार्थ के बिना ज्ञान को देख कर ज्ञान और ज्ञेय में कार्य-कारणभाव का अभाव निश्चय क्यों न होगा? वह ज्ञान भी ज्ञेय का कारण नहीं, अपितु अन्य ही है, अतः उसमें कार्याकारित्व न रहने पर व्यभिचार क्यों होगा? ॥ ३९–७० ॥ कारणभूत स्तम्भ की अपेक्षा यह स्तम्भ भी अन्य हो सकता है, क्योंकि 'सोऽयं स्तम्भः'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा प्रमाण ही नहीं मानी जाती कि जिसके आधार पर स्तम्भादि में एकता और नित्यता सिद्ध हो सके ॥७१॥ एक प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के द्वारा किसी एक पदार्थ के पूर्व और अपर—दो रूपों का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व प्रत्यय के द्वारा वर्तमान रूप और वर्तमान प्रत्यय के द्वारा अतीत रूप का ग्रहण क्योंकर होगा? ॥७२॥

वस्तुतः 'सोऽयम्' यह एक ऐसा स्मरण ज्ञान है, जो कि पूर्वापर विषयों का ग्रहण करता है, किन्तु स्मरण ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता। भिन्न विषयक दो स्मरणों का मिश्रण नहीं हो सकता ॥७३॥ उभय विषयों से उत्पन्न स्मरण दो विषयों की एकता का वेदक (ज्ञापक) नहीं। यद्यपि स्मरण का आधारभूत आत्मा एक है, तथापि

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यक्षादिप्रमाणेन सोऽप्यर्थमवगच्छति । न ह्यात्माश्रितमित्येव ज्ञानम्मानत्वमृच्छति ॥७५॥
विनाप्यात्माश्रितत्वेनाविसंवादात्प्रमाणता । दृष्टस्य पश्चात्प्राप्तौ हि प्रमाणस्य प्रमाणता ॥७६॥
विनात्मानमिदं वस्तु न नित्येनावगम्यते । सद्भावेऽप्यात्मनो नास्ति प्रामाण्यं यस्य कस्यचित् ॥७७॥
प्रत्यक्षानुमयोरेव तत्राप्यस्ति प्रमाणता । न पूर्वापररूपत्वमात्मनोऽन्यस्य वेक्ष्यते ॥७८॥
आत्मनान्येन वा तेन न नित्यस्यास्ति सम्भवः । तस्माज्ज्ञानस्य नार्थस्य कार्यत्वं सम्प्रतीयते ॥७९॥
ज्ञानमात्मविदात्मानं वेत्ति तद्वेद्यमेव च । पूर्वापरत्वे नाध्यक्षं वर्तते कार्यकारणे ॥८०॥
अथानुमानतः कार्यात्पूर्वङ्कारणवेदने । तस्माज्ज्ञानमिदञ्जातमिति जानाति कार्यताम् ॥८१॥
तस्यापि नानुमानस्य प्रत्यक्षेणाप्रवेदने । वस्तुनोवृत्तिरस्तीति पूर्वमेवोपपादितम् ॥८२॥
पूर्वाध्यक्षाप्रमाणत्वे नानुमानम्भवेत्प्रमा । तत्राप्यस्त्यनुमानम्प्रागिति स्यादनवस्थितिः ॥८३॥
आस्तान्तावत्कार्यतादिप्रमेयं यस्य स्यात्तस्य नास्ति प्रतीतिः ।
मूलाभावादुत्तरन्नेति सिद्धन्धर्मः सिद्धो धर्मिणोऽयं न युक्तः ॥ ८४ ॥

सालम्बनतायां ज्ञानस्य वस्तुप्रसिद्धिः यदा तु वस्त्वेव न सिद्धन्तदा कस्य कार्य-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वह भी दो विषयों की एकता का ग्राहक क्योंकर होगा ? ॥७४॥ आत्मा भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा विषयवस्तु की अवगति करता है, किन्तु वह अवगति (ज्ञान) आत्मा के आश्रित है—एतावता प्रमाण हो जायगा ॥७५॥ ज्ञान आत्मा के आश्रित हो या नहीं, उसकी प्रमाणता उसकी अविसंवादिता पर निर्भर है। पूर्व क्षण में दृष्ट जलादि पदार्थों को प्राप्ति ही वह अविसंवादिता है, जिसके आधार पर प्रमाणता सिद्ध होती है ॥७६॥ आत्मा को छोड़कर भी 'इदं वस्तु' का ग्रहण किसी नित्य ज्ञान से नहीं हो सकता। आत्मा का सद्भाव न्यायादि-सम्मत होने पर भी अन्य (बौद्धादि के) मतों में उसकी प्रमाणता नही मानी जाती ॥७७॥ बौद्ध-सिद्धान्त में प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दो ही ज्ञानों को प्रमाण माना जाता है, किन्तु इनमें किसी भी प्रमाण के द्वारा आत्मा या किसी अन्य पदार्थ के पूर्वापर रूपों की एकता का ईक्षण (ग्रहण) नहीं होता ॥७८॥ आत्मा अथवा किसी अन्य अनात्मवस्तु में नित्यता सम्भव नहीं हो सकती, अतः नित्य आत्मा की कार्यता न ज्ञान में बन सकती है न तो अर्थ में ही बन सकती है ॥७९॥ आत्मा ज्ञान को जान सकता है किन्तु उनके पूर्वापरभाव या कार्यकारणभाव का प्रत्यक्षतः ज्ञान नहीं कर सकता. अतः ज्ञान और ज्ञेय में भी कार्यकारणभाव नहीं बन सकता । ८०॥ यदि अनुमान के द्वारा कार्य से पूर्व कारण की सिद्धि की जाती है—"तस्मादिदं ज्ञानमुत्पन्नम्" इस प्रकार कार्यता का ग्रहण माना जाता है। वह भी सम्भव नहीं. क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जो पदार्थ गृहीत नहीं, अनुमान उसका ग्राहक नहीं बन सकता। पूर्वोत्तरभाव प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत न होने के कारण अनुमान का भी विषय नहीं हो सकता, इसका उपपादन पहले भी किया जा चुका है ।.८१ ८२॥ अनुमान के विषय का प्रत्यक्ष से ग्रहण न होने पर अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता, और उत्तरानुमान के विषय का पूर्वानुमान के द्वारा ग्रहण मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है ॥८३॥ कार्यकारणभावादि जब गृहीत ही नहीं तब उन्हें किसी भी धर्मी का धर्म नहीं माना जा सकता। इस प्रकार लोकप्रसिद्ध कार्यकारणभाव की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥८४॥

ज्ञान को सालम्बन मानने पर ही वस्तु की सिद्धि होती है, कार्यज्ञान और

वार्तिकालङ्कारः

कारणभावः। सालम्बनत्वस्य कथमसिद्धिरिति चेत्। उच्यते—

कारणमेवालम्बनमिह जगति न दृष्टिमात्रेण।
प्रतिभासमात्रकेण तु तैमिरिकधियोऽपि तत्प्राप्तम्॥ ८५॥

यस्य यत्कारणं वस्तु न तत्कारणतो विना। चक्षुरादिधियाम्प्राप्ता न विनालम्बनं स्थितिः॥८६॥

विनापि चालम्बनेन चक्षुरादिवेदने निशीथिनीनाथद्वयाकारमुपजायमानमीक्ष्यते। तत आलम्बनकारणमन्तरेणाप्युपजायमानं व्यभिचारतो नालम्बनकारणकार्यं विज्ञानमिति युक्तम्। एष हि कार्यकारणभावः परस्परं भेदे सति व्याप्यव्यापकभावो यः। कारणमन्तरेण कार्यस्य भावे न तत्तस्य कार्यन्नापि कारणन्ततो निरालम्बनत्वात्सकलवस्त्वसिद्धिः कुत एव कार्यकारणभावः।

अथापि स्यात्। न कारणत्वेनालम्बनमपि तु ग्राह्यत्वेन, तदप्ययुक्तम्। यतः—

न नीलाद्यतिरेकेण ग्राह्यत्वमपरङ्क्वचित्। नीलादिता च विभ्रान्तविज्ञानेऽप्यवभासात्॥८७॥

पुरःस्फुटावभासित्वं भ्रान्तेर्वा न किमीक्ष्यते। तस्मान्न किञ्चिद्ग्राह्यत्व यद्भ्रान्तादतिरिच्यते॥८८॥

अथापि स्याद् भ्रान्तमेव सकलं संवेदनमिति। यतः—

नैवार्थकारिता काचिद् भ्रान्तचित्तावभासिनः। ततोऽसद्विषयम्भ्रान्तमपरत्र विपर्ययः॥८९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कारणज्ञान दोनों ही जब निरालम्बन हैं, न कोई कार्य, न कारण, तब कार्यकारण भाव किसका होगा? ज्ञान की सालम्बनता की असिद्धि क्योंकर होगी? इसका उत्तर यह है कि कारणतत्त्व ही आलम्बन है और आलम्बनता प्रतीतिमात्र सिद्ध है, तब तैमिरिक व्यक्ति के द्वारा गृहीत केशोन्मूकादि में भी कार्यकारणभाव मानना होगा॥८५॥ जिसका जो कारण होता है, उसके बिना उसकी स्थिति न मानने पर चाक्षुषादि ज्ञानों की अवस्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि उनका कोई आलम्बन नहीं॥८६॥ आलम्बन के बिना ही चाक्षुषादि ज्ञानों की सत्ता प्रतीति होती है, क्योंकि 'निशीथनीनाथ' (चन्द्रमा) में द्वित्व न होने पर भी 'द्वौ चन्द्रौ' ऐसी प्रतीति हाती है इससे यह सिद्ध होता है कि आलम्बन और चाक्षुषादि ज्ञानों का कार्यकारणभावनियम व्यभिचरित होता है। अतः आलम्बन और उसके ज्ञान का कार्यकारणभाव युक्त है। परस्पर भेद होने पर भी व्याप्य-व्यापक भाव के आधार पर जो कार्यकारणभाव सिद्ध होता है वह भी कारण के बिना ही सिद्ध होता है वह कारण के बिना कार्य की प्रतीति से यह परिभासित होता है न तो कोई कार्य है न उसका कारण। निरालम्बन पक्ष मे जब कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं तब कार्यकारणभाव किसका? यह जो कहा जाता है घटादि में कारणत्व प्रयुक्त आलम्बनता नहीं मानी जाती, अपितु ग्राह्यत्व प्रयुक्त अर्थात् घटादि पदार्थ अपने ज्ञान के ग्राह्य होने के कारण आलम्बन है, वह भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि नीलादि आकारों से भिन्न ग्राह्य नाम का कोई और प्रसिद्ध नहीं और नीलादि पदार्थ तो भ्रमज्ञानों में भी अवभासित होते हैं॥८७॥ शुक्ति आदि पुरःस्थित पदार्थों में रजतादि का भान सर्वजनीन है, किन्तु भ्रमज्ञानों का ग्राह्य सत् नहीं होता॥८८॥

शंका—सभी ज्ञान भ्रमात्मक हैं, क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान में अवभासित होनेवाला कोई भी पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं होता, अतः भ्रमज्ञान असद्विषयक है। अन्य विषय (रज्जु आदि) में अन्य (सर्पादि) का भान होने से वह विपर्यय कहलाता है॥८९॥

समाधान—'अर्थक्रिया' शब्द से अर्थ (विषय) विवक्षित है? अथवा संवेदन

वार्तिकालङ्कारः

अत्राप्युच्यते—

अर्थक्रियाकिमर्थात्मा तत्संवेद्यात्परात्मना । अथ संवेदनं तद्वा सर्वमप्यसता यतः ॥९०॥

अर्थान्तरं तत्क्रिया चेत्तदभावादसन्न सः । असत्त्वे हि न कार्यस्य कारणस्यापि नास्तिता ॥९१॥

यदि कार्यमर्थक्रियाभिमतन्नास्ति तदेवासत्कारणमप्यासीदिति कुतः । नान्यस्यासत्त्वेऽन्यदसदतिप्रसङ्गात् । यदि नाम कार्यस्याभावे कार्यकारणसामर्थ्यमेव न भवति । न तु स्वरूपमसत् । अथ ज्ञानमर्थक्रिया । तत्रापि द्वयी गतिः । तद्वा ज्ञानमपरं वा । तदेव ज्ञानं पुनरुत्पद्यमानमर्थक्रिया चेत् । भ्रान्तेऽपि पुनः पुनरुत्पद्यत एव भ्रान्तविज्ञानन्न ह्येकक्षणभाव्येव भ्रान्तं विज्ञानम् । अथ स्पर्शादि विज्ञानम् । तदप्यसत् ।

यदि नामापरोत्पत्तिः स एव विषयोऽस्तु सन् । अपरस्य तु सद्भावः कथमन्यस्य वेदने ॥९२॥

स्ववेदनेऽप्यनाश्वासः का वार्ता परवेदने । तद्वेदनेऽप्यसत्त्वशङ्कथन्नाम न शङ्क्यते ॥९३॥

चक्षुःसंवेदनात्स्पर्शसंवित्केन विशिष्यते । तत्रार्थपरितोषश्चेत् परितोषः कुतो नु सः ॥९४॥

यथा खलु चक्षुर्विज्ञाने निरालम्बनता तथा स्पर्शविज्ञानेऽपि, द्वयोरपीन्द्रियज्ञानत्वाविशेषात् । तिमिराद्युपघातसम्भावना द्वयोरपि समानोऽयत्र दर्शनात् । अपितु ज्वरोपघातादुष्णसंवेदनात्परितोषादिता चेत् । हिमसमयेऽपि तु ज्वरोपघातादुष्णसंवेद-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(ज्ञान) ? यदि अर्थ विवक्षित है तब वह ज्ञानत्वेन ज्ञानाकारत्वेन प्रतीत ही होता है। उसका अत्यन्ताभाव क्यों होगा ? यदि अर्थक्रिया शब्द से ज्ञान विवक्षित है तब ज्ञान के लिए विषय का साथ होना आवश्यक है क्योंकि असद् विषय से स्वप्नज्ञानादि निष्पत्ति देखी जाती है ॥९०॥ अर्थक्रिया यदि ज्ञान और ज्ञेय से भिन्न मानी जाती है तब अग्न्यादि के बिना दाहादि अर्थक्रिया की अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वप्न में अग्नि के न होने पर भी दाहादि का भान होता है ॥९१॥ अर्थात् यदि कार्य को अर्थक्रिया माना जाता है क्योंकि अन्य पदार्थ के असद् होने पर अन्य को असत्ता नहीं मानी जाती, अन्यथा अश्वादि के अभाव में गौ आदि की असत्ता प्रसक्त होती । कार्य का अभाव होने पर कारण का अभाव नहीं होता अपितु कारणस्वरूप का भान होने पर भी स्वप्नाग्न्यादि में व्यावहारिक दाहसामर्थ्य नहीं माना जाता, यदि ज्ञान का अभिधान अर्थक्रिया शब्द से कहा जाता है वहाँ पर भी दो गतियाँ ही हो सकती हैं । प्राकृत ज्ञान अथवा अन्य । प्राकृत ज्ञान के भ्रमात्मक होने पर भी पुनः पुनः उसकी उत्पत्ति देखी जाती है । यदि जलादिज्ञानों की अर्थक्रिया स्पर्श विज्ञान माना जाता है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि यदि पूर्वज्ञान से उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है तब पूर्व विज्ञान ही उत्तर का विषय बन जाता है, किन्तु अन्य स्वरूप का ज्ञान होने पर अन्य स्वरूप का सद्भाव क्योंकर होगा ? ॥९२॥ जिसका स्वरूप-संवेदन पर भी विश्वास नहीं अन्य वेदन में क्यों होगा ? क्योंकि स्वरूपसंवेदन में भी स्वरूप के असत्त्व की आशङ्का हो जाती है ॥९३॥

चाक्षुषसंवेदन के पश्चात् समुत्पन्न स्पर्शसंवेदन में क्या विशेषता ? केवल परितोष मात्र हो जाता है ॥९४॥ वस्तुस्थिति यह है कि जैसे चाक्षुषज्ञान निरालम्बन है वैसे ही स्पर्शन भी, क्योंकि दोनों ज्ञान इन्द्रियजन्य हैं । तिमिरादि दोषजन्यत्व की सम्भावना दोनों में समानरूप से हो सकती है । अपि च ज्वरोपहत त्वगिन्द्रिय के द्वारा बाह्यवस्तु में प्रतीयमान उष्णता पर विश्वास या परितोष होता है तब शीतकाल में भी

वार्तिकालङ्कारः

ननेऽपि किन्न परितोषः । अपि च—

संवेदनप्रमाणञ्चेत्परितोषः किमर्थकः । संवेदनम्प्रमा नोचेत्परितोषः किमर्थकः ॥९५॥

यदि संवेदनम्प्रमाणन्तत एवार्थसिद्धिः किमपरम्परितोषः करिष्यति ।

संवेदनान्न सिद्धं यत्परितोषशतैरपि । कथन्तत्साध्यमन्यो हि परितोषो न साधनम् ॥९६॥

संवेदनादपरस्य परितोषस्य क उपयोगः । अथ साधनञ्चेत्कथमन्येनान्यस्य सिद्धिः । सम्बन्धाच्चेत् । सम्बन्धः केन सिद्धः परितोषतश्चेत् तत्रापि सम्बन्धसिद्धिरपेक्षणीयेत्यनवस्था । संवेदनाच्चेत्तत एवार्थसिद्धिरिति वृथा परितोषः । तत्र च स एव दोषः । यदि संवेदनादर्थसिद्धिः किन्न पूर्वसंवेदनात् । अनेनार्थाधिमुक्तिरपि प्रत्युक्ता । तथाहि—

अर्थाधिमुक्तिः संवित्तेरन्या नार्थस्य साधिका । संविदेवाधिमुक्तिश्चेत्संवित्सर्वार्थसाधिका ॥९७॥

अनेनाभिलाषस्मृतीच्छाद्वेषादयोऽपि व्याख्याताः । किञ्च । सवेदनादभिलाषादयो न तेभ्यः संवेदनमिति यत्किञ्चदेतत् ।

अथापि स्यात् । भवतु सर्वसवेदनानां सालम्बनता न काचिन्नः क्षतिः । प्रमाणाप्रमाणविभागः कथमिति चेत् ।

लौकिकालौकिकत्वेन प्रमाणेतरसंस्थितिः । विभागः स कथं ज्ञातो बाधकेतरसङ्गमात् ॥९८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वैसा परितोष क्यों न होगा ? दूसरी बात यह भी है कि यदि संवेदन प्रमाणात्मक है तब परितोष से क्या लाभ और संवेदन यदि प्रमाणभूत नहीं तब भी परितोष की क्या सार्थकता ? ॥९५॥ अर्थात् प्रमाणभूत संवेदन के द्वारा ही अर्थ की सत्ता सिद्ध हो जाती है उससे अधिक परितोष क्या करेगा ? । जो वस्तु संवेदन से सिद्ध नहीं उसकी सिद्धि सैकड़ों परितोष से भी नहीं हो सकती, क्योंकि परितोष कोई वस्तु-सद्भाव का साधन नहीं माना जाता ॥९६॥ अर्थात् संवेदन से भिन्न परितोष का क्या उपयोग ? यदि उससे अर्थ की सिद्धि मानी जाती है तब असाधन से साध्य की सिद्धि क्योंकर होगी ? संबन्धविशेष के द्वारा—"ऐसा नहीं कहा जा सकता" क्योंकि संबन्ध की सिद्धि किससे होगी ? यहाँ पर परितोष के द्वारा ऐसा कहने पर वहाँ पर भी संबन्धान्तर की अपेक्षा हो सकती है । यदि संवेदन के द्वारा संबंध की सिद्धि की जाती है तब परितोष व्यर्थ हो जाता है । अतः संवेदन के द्वारा अर्थ की सिद्धि मानी जाती है इसीलिए अर्थ की अधिमुक्ति (निश्चय) निरस्त हो जाती है क्योंकि अर्थ की अधिमुक्ति संवित्ति से भिन्न है अथवा अभिन्न, भिन्न होने पर अर्थ की साधिका नहीं हो सकती, संवित् ही यदि अधीन उनकी है तब संविद् ही सर्वार्थ-साधिका हो जाती है ॥९७॥ इसी प्रकार अभिलाप (शब्दप्रयोग) स्मृति, इच्छा और द्वेषादि का भी निराश हो जाता है । न तो संवेदन से अभिलाषादि और न अभिलापादि से संवेदन की सिद्धि हो सकती है ।

शंका—सभी संवेदन (ज्ञान) यदि सालम्बन मान लिये जाते हैं, तब भी हमारी (बौद्धों की) कोई क्षति नहीं । यदि सभी ज्ञान सालम्बन हैं, तब यह ज्ञान प्रमाण है और यह अप्रमाण—ऐसी व्यवस्था क्योंकर होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लौकिक (जाग्रदादि व्यावहारिक) ज्ञान प्रमाण और अलौकिक (स्वाप्नादि प्रातीतिक) ज्ञान अप्रमाण है । लौकिकत्व और अलौकिकत्व की व्यवस्था अबाधित्व तथा अबाधितत्व के आधार पर हो जायगी ॥९८॥

वार्तिकालङ्कारः

बाधकेतरयोः केन लौकिकेतरता स्थितिः । बाधकेतरसद्भावादनवस्था प्रसज्यते ॥९९॥

असाधारणमलौकिकमितरदन्यथा चेत् यत्किञ्चिदेतत् । तथा हि—

तयोस्संवेदनन्नास्ति न प्रत्यक्षानुमे यतः । प्रत्यक्षेण हि संवित्तिः संवेद्ये नापरत्र सा ॥१००॥

ममैतत्प्रतिभाति परस्य वेति नात्रावतारः प्रत्यक्षस्य । अनुमानात्संवेदनमिति चेत् ।

सम्बन्धग्रहणाभावेऽनुमानस्योदयः कुतः । रोमाञ्चादिक्रियादृष्टेः स्वदृष्टेस्त्वनुमा न हि ॥१०१॥

धूमकार्यदृशा नाग्निः स एवात्र प्रसिध्यति । सामान्यविषयं यस्मादनुमानन्न भेदवित् ॥१०२॥

तत्र धूमस्य भेदाच्चेद्रोमाञ्चेऽपि किमेकता । एकत्वाभिनिवेशोऽपि न ज्ञानादपरः संवित् ॥१०३॥

यत्र मया चक्षुर्निवेशितन्तत्रैवानेनेति व्यवहारादेकतेति चेत् । तैमिरिकोपलब्ध-केशादावपि समानमेतत् । तत्रापि तैमिरिकयोरेकार्थाभिनिवेशः समानः । किञ्च यथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—बाधकत्व और अबाधकत्व निर्णय करने के लिए बाधकत्वादि की अपेक्षा से अनवस्था प्रसक्त होती है ॥९९॥

शंका—शुक्ति-रजतादि अलौकिक पदार्थ असाधारण हैं अर्थात् जिसको शुक्ति का ज्ञान है, केवल उसी को दिखते और व्यावहारिक या लौकिक घटादि पदार्थ साधारण अर्थात् सभी पुरुषों के दिखनेवाले हैं. अतः साधारणत्वासाधारणत्व के आधार पर लौकिकत्वादि का निश्चय मानने पर अनवस्था नहीं होती ।

समाधान—यह विषय सर्व-साधारण है और यह असाधारण है—इस प्रकार का विभेद न तो प्रत्यक्षतः होता है और न अनुमान से हो सकता है । प्रत्यक्ष के द्वारा तो केवल संवेद्य विषय का ही भान होता है, उसके साधारणत्वादि धर्मों का नहीं ॥१००॥ अर्थात् यह पदार्थ केवल मुझे ही दिखता (असाधारण) है ? अथवा दूसरों को भी दिखाई देता (साधारण) है ? ऐसा प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता । प्रत्यक्षागृहीत होने पर भी अनुमान से उसका ज्ञान हो जायगा—ऐसा यदि कहा जाता है तो नहीं कह सकते, क्योंकि व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध गृहीत न होने के कारण अनुमान का उदय ही कैसे होगा ? शीत-जन्य रोमाञ्चादि क्रिया को देखकर उससे हिमादि या वह्न्यभावादि का अनुमान नहीं होता ॥१०१॥ धूमात्मक कार्यलिङ्ग को देखकर जो अग्नि का अनुमान होता है, उसमें किसी प्रकार की विशेषता का भान नहीं होता कि यह वही धूम-सहचरित अग्नि है, जो महानस में थी या अन्य । केवल सामान्य अग्नि का ही ज्ञान होता है, उसकी किसी भेदक विशेषता का नहीं ॥१०२॥ जैसे धूम को देखकर सिद्ध अग्नि में एकरूपता नहीं अपितु विशेषता मानी जाती है, अर्थात् तारण-धूम (घास से जलाई गई) के द्वारा तारण अग्नि और अतारणधूम के द्वारा अतारण अग्नि का अनुमान होता है, वैसे रोमाञ्च के द्वारा शीत की कल्पना में कोई विशेषता नहीं देखी जाती, अतः साधारणत्व असाधारणत्व के आधार पर लौकिकत्वालौकिकत्व का निर्णय नहीं किया जा सकता । विषय और ज्ञान दोनों का अभेद होने के कारण जैसे ज्ञान में कोई विशेषता नहीं होती वैसे विषय में भी साधारणत्व असाधारणत्वादि विशेषता सम्भव नहीं ॥१०३॥

शंका—जो विषय एक व्यक्ति के ज्ञान का विषय है वही दूसरे का विषय होकर साधारण कहलाता है, इस साधारणता की अनुभूति इस प्रकार है कि "यत्र मया चक्षुर्निवेशितं तत्रैव अनेन" अर्थात् हमारे चक्षुसन्निकर्ष का जो आश्रय है वही दूसरे

वार्तिकालङ्कारः

तैमिरिकोपलब्धे केनचित्संवेदनम्। तथापरत्रापि सर्वेण संवेदनञ्चेत् स्तम्भादौ नात्र प्रमाणम्। न च तैमिरिकेन स्तम्भस्य वेदनम्। उपहतेन्द्रियत्वादसवेदनेऽपि न दोष इति चेत्। ननूपहतेन्द्रियत्वङ्कुतो ज्ञायते। असत्यार्थसवेदनादिति चेत्। सोऽय मतरेतराश्रयदोषः। सत्युपघातेऽसत्यत्वमसत्यत्वे चोपघातः। तस्मात्परेण न किञ्चिदुपलभ्यते।

ननु नोपलभ्यत इत्यपि नास्त्येवाप्रत्यक्षेणैवान्योपलभ्यरूपविविक्तोपलम्भात्मना परोपलभ्यमानताप्रतिषेधः। तथा विषयत्वात्तस्य परप्रत्यक्षस्य न प्रतिषेधः। कथन्तर्हि तेनोपलभ्यते परोपलभ्यरूपम्। अथोपलभ्यते तद्रूपम्परेणोपलभ्यमानता नोपलभ्यत इति चेत्। किन्तद्रूपादपरापरोपलभ्यमानता। अथ तद्रूपमेव। तद्रूपत्वे कथमनुपलम्भः। पररूपत्वे कथम्परेण तदुपलभ्यतेत्युपलभ्यमानता। परेणोपलभ्यते न स पदार्थ इति कथमसौ परेणोपलब्धः। यस्य ह्युपलभ्यमानतोपलभ्यते स एवानुपलब्धः। तथा च स पदार्थः न केनचिदुपलब्धः। स्वस्वोपलभ्यमानतया एव परस्परव्यावृत्ततायाः स्वपराभ्या-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यक्ति के चक्षुसन्निकर्ष का भी आश्रय है। इस प्रकार की अनुभूति का विषय साधारण या लौकिक (व्यावहारिक) कहलाता है। अतः लौकिकत्वरूप विशेषता का भान क्यों नहीं होगा ?।

समाधान इस प्रकार की साधारणता तो भ्रम के विषयीभूत अलौकिक पदार्थों में भी अनुभव सिद्ध है। जहाँ दो व्यक्तियों को एक साथ केशोन्मूक का भ्रम हो जाता है वहाँ पर दोनों व्यक्ति इस अंश में सहमत पाये जाते हैं कि हम दोनों को शुक्ति में रजत का या केशोन्मूकादि का भ्रम हुआ।

शंका—जब एक व्यक्ति अपनी उपहत (दोषयुक्त) इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करता है और दूसरा भी वैसा ही देखता है तब निश्चितरूप से यह कहा जा सकता है कि दूसरे के इन्द्रिय में भी समान दोष है। अतः उस दोष की समानता होने के कारण विषय-भ्रम में समानता आ जाती है, वस्तुतः नहीं।

समाधान- एक भ्रान्त व्यक्ति को यह कैसे निश्चित होगा कि दूसरे व्यक्ति का भी इन्द्रिय उपहत या दोषपूर्ण है। यदि कहा जाय कि असत्य अर्थ की समान कल्पना के आधार पर इन्द्रियगत दोष की कल्पना की जा सकती है, तब अन्योन्याश्रयता दोष प्रसक्त हो जाता है, क्योंकि असत्य अर्थ का भान हो जाने से इन्द्रिय में दोष और इन्द्रिय में दोष हो जाने के कारण असत्यार्थ का भान। फलतः यह निश्चित हो जाता है कि एक व्यक्ति के विषय का भान दूसरे को नहीं हो सकता, कोई वस्तु साधारण नहीं जिसे लौकिक कहा जा सके। वस्तुस्थिति यह है कि सर्वत्र भ्रमस्थलों पर एक व्यक्ति को जो पदार्थ अवभासित हो जाता है, वही दूसरे को नहीं हो सकता। हाँ, उस सन्तति के क्षणान्तर का ग्रहण माना जा सकता है, दो ग्राह्य पदार्थों की एकता सम्भव न हो सकने के कारण उनकी एकरूपता या साधारणता का उपपादन नहीं किया जा सकता। पदार्थ की सत्ता उपलभ्यमानता से अधिक भी नहीं कही जा सकती। उपलभ्यमानता साधारण नहीं, अपितु असाधारण होती है। निरन्वय विनाशवाद में कोई भी धर्म अन्य साधारण नहीं होता क्योंकि बौद्ध-सिद्धयोगियों का प्रत्यक्ष है "सर्वं स्वलक्षण स्वलक्षणम्" इस प्रकार सभी पदार्थ एकमात्र अलौकिक कोटि में समा जाते हैं, लौकिक नाम का कोई पदार्थान्तर बचता नहीं। जब बाह्यपदार्थ है ही नहीं तब उसके सत्वासत्व

वार्तिकालङ्कारः

मुपलम्भ इति न साधारणता नामोपलभ्यस्य कस्यचित् । न चोपलभ्यमानताव्यतिरेकेण पदार्थं इति स्वसंवेदनाग्रहाकारवत्संवेदनमात्रकम् । न बाह्यपदार्थो नाम । यस्य सामर्थ्यलक्षणं सत्त्वश्चिन्त्यते ।

अथ संवेदनानामेव परस्परङ्कार्यकारणभावात्सामर्थ्यलक्षणम्परमार्थं सत्त्वम्प्रतिपाद्यते । तदप्यसत् ।

स्वसंवेदनमात्रत्वे प्रत्यक्षत्वेनुमा कुतः । कार्यकारणभावेऽपि ज्ञानयोर्गृह्यते कथम् ॥१०४॥
विद्वयेन न तेनैव स्वमात्रस्य प्रवेदनात् । यदा कारणविज्ञानन्तदा कार्याप्रवेदनात् ॥१०५॥
कारणत्वं कथन्तस्य गृह्यते कार्यवेदने । कार्यकालेऽपि तन्नास्ति कार्यत्वं गृह्यतां कथम् ॥१०६॥
अनुमानात्परिज्ञानं कारणस्य यदीष्यते । तदाऽनुमानान्न ज्ञातमिदानीं ज्ञायते कथम् ॥१०७॥
पूर्वं प्रत्यक्षतो ज्ञातमिदानीमनुमानतः । इदानीन्नास्ति तज्ज्ञानमनुमानेन वित्कथम् ॥१०८॥
पूर्वत्वे नानुमानञ्चेन्न प्रत्यक्षेण वेदनाद् । पूर्वत्वमधिकन्तस्यानुमानेन चेदसत् ॥१०९॥
पूर्वत्वन्नाम नैवास्ति प्रत्यक्षेणास्य बाधनात् । तस्मात्पूर्वस्य रूपस्य न संवित्तिः कथञ्चन ॥११०॥
स्मृतिमात्रं हि तन्नास्ति न प्रमा तत्स्ववेदनात् । स्वसंवेदनमात्रञ्च प्रत्यक्षन्तत्स्ववेदनात् ॥१११॥
ततस्तस्य न संवित्तिरन्यकार्यतया तया । तस्मात्सामर्थ्यसंसिद्धिः ज्ञाने ज्ञेये न विद्यते ॥११२॥

किञ्च—

कार्यकारणभावोऽयं सदसत्त्वे न विद्यते । नासतः कारणं किञ्चिदश्वशृङ्गस्य विद्यते ॥११३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का चिन्तन भी कैसे हो सकता है। ज्ञान जब स्वसंवेदनमात्र है तब ज्ञानगत किसी विशेषता का अनुमान नहीं किया जा सकता। दो ज्ञानों का कार्यकारणभाव होने पर भी दोनों ज्ञानों की समानता या असमानता का भान क्योंकर होगा ? ॥१०४॥ उन्हीं दो ज्ञानों के द्वारा केवल एक-एक विषय का ही प्रवेदन होता है, दोनों का एक साथ नहीं। अर्थात् जब कारण का विज्ञान होता है, तब कार्य का नहीं और जब कार्य का प्रवेदन होता है, तब कारण का नहीं ॥१०५॥ कार्य-वेदन-काल में कारण की कारणता का ग्रहण क्योंकर होगा ? क्योंकि कार्यकाल में कारण है ही नहीं। इसी प्रकार कारण-काल में कार्य के न होने पर तद्गत कार्यता का ज्ञान विज्ञानवाद में कैसे होगा ? ॥१०६॥ यदि अनुमान के द्वारा कारण का ज्ञान माना जाता है, तब अनुमान के द्वारा अज्ञात पदार्थ अब क्योंकर ज्ञात होगा ? ॥१०७॥ पहले प्रत्यक्षतः ज्ञात पदार्थ का अब अनुमान के द्वारा ज्ञान कैसे होगा ? ॥१०८॥ पूर्वविज्ञानगत पूर्वत्व अनुमान से गृहीत नहीं होता, क्योंकि पूर्वतन प्रत्यक्ष से गृहीत है। यदि अनुमान के द्वारा पूर्वत्व का अधिक भान माना जाता है, तब उसे असत् मानना होगा ॥१०९॥ वर्तमान कारण विज्ञान में पूर्वत्व धर्म प्रत्यक्षतः बाधित है, अतः वह है ही नहीं, अतः पूर्वरूप की संविति कथमपि नहीं हो सकती ॥११०॥ पूर्व-विज्ञानगत पूर्वत्व धर्म को स्मृतिमात्र नहीं कह सकते, क्योंकि सभी ज्ञान स्वप्रकाश हैं, अतः उनका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है ॥१११॥ अतः अन्यज्ञान-कार्यत्वेन ज्ञान की संवित्ति नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान में स्वग्रहण-सामर्थ्य ही है, ज्ञेयार्थ के ग्रहण का सामर्थ्य नहीं ॥११२॥

दूसरी बात यह भी है कि—

यह कार्य-कारणभाव न सत् पदार्थों का बन सकता है और न असत् पदार्थों का, क्योंकि अश्वशृङ्ग के समान असत् पदार्थ का कौन कारण होगा ॥११३॥ यदि

वार्तिकालङ्कारः

अत्यन्ताभावतस्तस्य कारणन्नेति चेन्मतिः । प्रागभावि तु न कार्यमेतदप्यसदुत्तरम् ॥११४॥

प्रागभावः कथं सत्त्वेऽसत्त्वेऽप्यस्य कथम्मतः । असतः खरशृङ्गस्य प्रागभावो न विद्यते ॥११५॥

दर्शने प्रागभावश्चेदितरेतरसंश्रयः । न यावत्प्रागभावित्वन्तावदस्य न भाविता ॥११६॥

यावदस्य प्रागभावेन सम्बन्धो नास्ति न तावदुत्पत्तिः । यावच्च नोत्पत्तिस्तावत्प्रागभावस्य तत्त्वन्नास्ति । कारणस्य कार्यशून्यता प्रागभाव इति चेत्तदप्यसत् ।

शून्यता सा किमन्यस्याकारणस्य न विद्यते । ततस्तेनापि सम्बन्धे तस्य कार्यम्भवेदसौ ॥११७॥

प्रागभावेन सम्बन्धे हि कार्यता । स च प्रागभावः कार्यशून्यम्पदार्थान्तरम् । तच्च कारणाभिमतादन्यदपि प्रागभावस्वभावम्भवेत् । तेन च सम्बन्धे तत्कार्यतापि भावस्य कार्यंभूतस्य स्यात् । तदन्वयव्यतिरेकाभावान्नेति चेत् । उक्तमत्रोत्तरम्—न च प्रागभावो नाम प्रत्यक्षादिप्रमाणग्राह्यः । स्वरूपमात्रमेव कार्यकारणयोर्गृह्यते । कारणस्वरूपमेव प्रागभाव इति चेत्, कार्यस्यापि स्वरूपन्तथा स्यात् । भवत्येव तस्यापि कार्यान्तरापेक्षया चेत् । कारणाभिमतापेक्षयापि किन्न भवति । तथा प्रतीत्यभावादिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कहा जाय कि अश्वश्रृङ्गादि पदार्थ तो अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, अत: उनका कोई कारण नहीं हो सकता । हाँ, प्रागभाव का प्रतियोगी पदार्थ का कारण अवश्य होगा—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रागभाव भी सत् या असत् पदार्थ का नहीं हो सकता अर्थात् गगनादि सत् पदार्थों का प्रागभाव नहीं और खर-श्रृङ्गादि असत् पदार्थों के प्रागभाव तो होगा ही कैसे ? ॥११५॥ कार्य की उत्पत्ति को देखकर प्रागभाव की कल्पना करने पर अन्योऽन्याश्रय-दुरुद्धर हो जाता है । अर्थात् प्रागभावित्व को देखकर कार्यता और कार्यता को देखकर प्रागभाववत्ता का निश्चय होगा ॥११६॥ अर्थात् जब तक घटादि पदार्थों के साथ प्रागभाव का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, तब तक उनकी उत्पत्ति नहीं सिद्ध होती और जब तक उनकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, तब तक प्रागभाव-योगित्व सिद्ध नहीं होता ।

यदि कपालादि कारणों में घटादि कार्यों की शून्यता का प्रागभाव कहा जाता है, तब वह भी उचित नहीं, क्योंकि क्या घटादि कार्यों की शून्यता कपालादि कारणों में ही है ? अथवा शिलातलादि अकारणों में भी ? शिला-तलादि में भी वह शून्यतारूप घटादि का प्रागभाव रहता है, अत: उनसे भी घटादि की उत्पत्ति प्रसक्त होती है ॥११७॥ आशय यह है कि घटादि का प्रागभाव जहाँ रहता है, वहीं घटादि की उत्पत्ति माननी होगी । प्रागभाव कार्य की शून्यतारूप पदार्थान्तर है । वह जब शिलातलादि में भी है, तब वहाँ भी घटादि की उत्पत्ति होनी चाहिए । शिलादि का घटादि के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं, अत: वहाँ घटादि की उत्पत्ति क्यों होगी ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है कि अन्वय-व्यतिरेक अनैकान्तिक है ।

प्रागभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ग्राह्य भी नहीं । कार्य और कारण का स्वरूपमात्र ही प्रतीत होता है, प्रागभाव नहीं । प्रागभाव को यदि कारण का स्वरूप ही माना जाता है, तब कार्य के स्वरूप को भी प्रागभाव कहना होगा, क्योंकि कार्य भी कार्यान्तर की अपेक्षा कारण हो सकता है । कपालादि कारणों की अपेक्षा भी जो घटादि का कार्यमात्र स्वरूप है, उसको भी प्रागभाव क्यों नहीं मान सकते ? वैसी

वार्तिकालङ्कारः

चेत् । अनपेक्षितवस्तुनः प्रतीतिमात्रात्मकः सम्प्रत्ययः ।

तस्माद्वस्तुस्वरूपेण गृह्यते सा न सम्भवा । नीलादिना न कार्यादित्वस्य तत्र ग्रहोऽपरा ॥११८॥

न खलु नीलादिना कार्यत्वेन च वस्तु गृह्यते केनचित् । नीलादिव्यतिरेकिणः कार्यत्वस्याप्रतिपत्तेः । पूर्वापरभावे च प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः कुतः प्रागभावादिग्रहणम् ।

अथापि स्यात् । सत एव कार्यत्वं कारणानां हि सति कार्ये व्यापारस्य सम्भवात् । असति तु निर्विषयः कथं व्यापारः । अत्रोच्यते—

दृष्ट्वा श्रुत्वाऽथ विज्ञाय हेतुः कार्यङ्करोति किम् ।

जडत्वात् कारणाधीनः स्वभावः स तथा मतः ॥११९॥

ईश्वरस्य च हेतुत्वे स हेतूनान्नियोजकः । न चासतो न विज्ञानं स ह्यध्यक्षधियो यतः ॥१२०॥

तत्र सत्कार्यवादः किं किंवा कारणमीश्वरः ।

किं सांख्यमतमवलम्ब्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ॥१२१॥ इति

सदेव दृश्यते न कार्यकारणभावो नाम । किं वाऽसदेवोपलभ्यकारणेन जगतामीश्वरेण कारणानामप्रतिनियमेन नियोगः । असत्कलङ्कश्चेत् सर्वदोपलभ्यत इत्याकुला जगतः स्थितिः स्यात् उपलम्भकानामप्रतिनियतानान्नैवमित्यपि यत्किञ्चित् । उपलम्भकानामपि सर्वत्र सर्वदा भाव इति कः प्रतिनियमो नाम । किञ्च—

कारणादसतः कार्यं कार्यं किंवा सतो भवेत् ।

असतः कारणात्कार्यमिति साध्वी व्यवस्थितिः ॥१२२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतीति नहीं होती—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि विज्ञानवाद में कोई वस्तु तो है ही नहीं, प्रतीति ही है । विज्ञप्तिमात्रता पर कितना विश्वास किया जा सकता है ? जो वस्तु जिस रूप में प्रतीत होती है, वैसा सम्भव नहीं । नीलादिरूपेण कार्यकारण भाव प्रतीत नहीं होता ॥११८॥ कार्य-कारणभाव के नियामक पौर्वापर्यभाव के ग्रहण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं होती, तब प्रत्यक्ष से कार्यकारणभाव एवं प्रागभावादि का ग्रहण कैसे होगा ?

शंका—कार्य सदैव सत्पदार्थ ही होता है क्योंकि दण्ड-चक्रादि कारणों का व्यापार घट-विषयक तभी हो सकता है, जब कि घट सत् हो । कार्य के असत् होने पर निर्विषयक व्यापार कैसे होगा ?

समाधान—क्या दण्डादिहेतुपदार्थ घटादि कार्यों को देख सुन और समझकर उनकी उत्पत्ति किया करते हैं ? यदि ऐसा है तब दण्डादि जड़ हेतुओं में यह चैतन्य का स्वभाव सम्भव क्योंकर होगा ॥११९॥ यदि ईश्वर को कार्यवर्ग का नियोजक माना जाता है तब कार्य को निश्चित रूप से सत् ही मानना होगा, क्योंकि असत् पदार्थ का ज्ञान नहीं होता । ज्ञान के बिना कोई चेतन तत्त्व कारण-कलाप का प्रयोजक नहीं बन सकता ॥१२०॥ इस प्रकार या तो सांख्य-सम्मत सत् कार्यवाद प्रसक्त होता है, अथवा न्यायसम्मत ईश्वरवाद ॥१२१॥ सद् वस्तु के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्भव नहीं, कार्यकारणभाव क्योंकर होगा ? अथवा कार्य को असद् देखकर ईश्वर कारणकलाप का नियोजक होता है । सत् कार्यवाद में सभी कार्यों की सर्वत्र उपलब्धि माननी होगी कार्यकारणभाव की प्रतिनियतोपलब्धि अन्वय-व्यतिरेक के रूप में नहीं देखी जा सकती । प्रतिनियम पदार्थ भी अस्पष्ट और अनिर्वाच्य है । दूसरी बात यह भी है क्या

वार्तिकालङ्कारः

को हि प्रध्वंसाभावात्यन्ताभावयोर्विशेषः । आसीत्तेन हेतुरिति चेत् । यदासीत्तदा न हेतुरन्यदा हेतुरिति सुभाषितम् । यत एवमपि स्यात् ।

असतो हेतुतां प्राप्तौ ये सन्तस्ते न हेतवः । न हि व्यापारसद्भावस्तेषामेषाञ्च दृश्यते ॥१२३॥

व्यापारेण च हेतुत्वे स व्यापारः कुतो भवेत् ।
व्यापारवत्पदार्थाच्चेत् व्यापारस्तत्र किम्परः ॥१२४॥
व्यापारो यदि तत्रापि सोऽर्थो व्यवहितो भवेत् ।
व्यापारादेव कार्यञ्चेन्मृते कार्योदयो भवेत् ॥१२५॥

तथा च चिरनष्टेऽपि तस्मिन् कार्योदयो न किम् । दीर्घा व्यापारमालेयमेतावत्कस्य जीवितम् ॥१२६॥
अथ स्वरूपव्यापारस्तदा कार्यम्भविष्यति । व्यापारकाले कार्यञ्चेत् समकालम्प्रसज्यते ॥१२७॥
भावकाले न कार्यस्य कारणस्यास्तिता यदि । चिरानन्तरनष्टस्य को विशेषस्तथा सति ॥१२८॥
उत्पत्तिकाले सत्ता चेत्तदनन्तरभाविनः । उत्पत्तिः कार्यतो नान्या ततोऽस्य समकालता ॥१२९॥
स्याद्वाददूषणात्पश्चाद् द्वयपक्षनिराक्रिया । इदानीम्बहुवक्तव्यमिति तस्माद्विरम्यते ॥१३०॥

अथापि स्यात् । ज्ञानस्यार्थः कारणमिति प्रागनुमानेन प्रतीयते । तदप्यसत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

असत् कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अथवा सत् से मानी जाती है । असत् कारण से कार्य की सिद्धि मानना सम्भव ही नहीं ॥१२२॥ ध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव में क्या विशेषता है जिसके आधार पर कार्यकारणभाव माना जा सके । असत् को हेतु मानने पर कार्यकारणभाव का नैयत्य भङ्ग हो जाता है । दण्डचक्रादि असत् पदार्थ हैं, उन्हें कार्य का हेतु नहीं माना जा सकता है, तब उनसे कार्य क्यों होगा ? क्योंकि असत् कार्यवाद में जैसे व्यापार निर्विषयक होने से असम्भव हो जाता है वैसे ही असत् कारणवाद में भी वही अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है ॥१२३॥ कारण के व्यापार को कार्य का जनक नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारण असत् है उसका व्यापार भी असत् ही होगा । व्यापारयुक्त पदार्थ से व्यापार की उत्पत्ति भी असत् कारणवाद में नहीं हो सकती ॥१२४॥ कारण के न रहने पर भी उसके व्यापार से कार्य की निष्पत्ति मानी जाती है तब मृत पिता से भी पुत्र की उत्पत्ति माननी होगी ॥१२५॥ इस प्रकार चिरविनष्ट कारण से भी कार्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती । कार्यकारणभाव की यह माला बहुत ही लम्बी है तब तक कौन जीवित रहेगा ? ॥१२६॥ यदि कार्य-कारण के स्वरूप को ही व्यापार माना जाता है, तब व्यापार को कारण का स्वरूप मानने पर कारण के अनन्तर ही कार्य होगा किन्तु व्यापार को कार्य का स्वरूप मानने पर व्यापार काल में ही कार्य मानना होगा । कार्य और कारण की अनिष्ट-समकालता प्रसक्त होती है ॥ १२७॥ कार्य के भाव-काल में कारण की अस्तिता नहीं, तब कार्य-काल में चिरविनष्ट कारण के रहने पर भी कोई विशेषता नहीं अर्थात् कार्य-काल में न रहने वाला पदार्थ जैसे कारण नहीं हो सकता, वैसे चिरविनष्ट पदार्थ भी कारण नहीं हो सकता ॥१२८॥ कार्य की उत्पत्ति के समय यदि अव्यवहित पूर्वभावी (कारण) पदार्थ की सत्ता मानी जाती है, तब कार्य और कारण की समकालता प्रसक्त होती है ॥२९॥ स्याद्वाद में दूषणाभिधान के अनन्तर सत् और असत्—दोनों वादों का निराकरण किया गया । अब विविध विधाओं के विषय में प्रचुर वक्तव्य होने के कारण प्रस्तुत प्रसङ्ग को विराम देते हैं ॥ १३० ॥

शंका—'ज्ञानं विषय-जन्यम् , विषय-सन्निकर्षानन्तरं जायमानत्वात्'—इस प्रकार

वार्तिकालङ्कारः

अनुमानात्प्रतीतस्य प्रागध्यक्षावभासिनः । कथन्तत्कार्यतावित्तिरपरस्परमिश्रणे ॥१३१॥

यद्यपि नामानुमानेन प्रतीतस्य प्रागभाविता गतिः । प्रत्यक्षस्य संवेदनस्य तत्कारणमिति केन प्रतीयते । न ह्यनुमानमिदन्तत्प्रत्यक्षदृष्टं वस्तु प्रत्यक्षस्य कारणमिति प्रतीतिमत् । न खलु संवेद्यमाने एवानुमानम्प्रवर्तते । परोक्षविषयत्वादस्य । नापि प्रत्यक्षमनुमेये प्रवर्ततेऽपरोक्षविषयत्वात् । न च प्रतीयमानमेव परोक्षम् । प्रतीयमानमेव परोक्षतया परोक्षमिति चेत् । नैतदस्ति । यतः—

स्वरूपेण प्रतीतिश्चेदन्या काऽसौ परोक्षता । अस्पष्टाकारभासश्चेत्प्रत्यक्षः स न किम्मतः ॥१३२॥

द्वयरूपस्य वित्तौ हि द्वयम्प्रत्यक्षमिष्यते । यथाऽर्वाक् पररूपेण स्तम्भादेर्वेदनङ्क्रमात् ॥१३३॥

यदि स पदार्थः स्पष्टास्पष्टद्वयरूपः । तदा तस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वेदनेऽपि प्रत्यक्षरूपतैव भवेत्स्तम्भादेरर्वाक्परभागग्रहणवत् । अथ स्पष्टास्पष्टते उपाधिवशान्नीलतैव पदार्थस्वरूपम् ।

उपाधिभेदादन्येन रूपेण यदि वेदनम् । सर्वदाऽध्यक्षता न स्यात्स्वरूपस्याप्रवेदनात् ॥१३४॥

अथ नीलादिसंवित्तिरिति प्रत्यक्षतोच्यते । प्रत्यक्षमनुमापि स्यात्स्वस्य रूपस्य वित्तितः ॥१३५॥

इन्द्रियेण वियोगाच्चेदध्यक्षन्नानुमा मता । इन्द्रियेणापि संयोगोऽनुमया किन्न मीयते ॥१३६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुमान के द्वारा अर्थ में ज्ञान की कारणता सिद्ध होती है ।

समाधान—ज्ञान से पहले जो पदार्थ प्रत्यक्षावभासित था, उसमें अनुमान के द्वारा ज्ञान में अर्थ की कार्यता का अनुमान क्योंकर होगा, जब कि विषय और ज्ञान का परस्पर मिश्रण (जोड़-मेल) नहीं होता ॥१३१॥ यद्यपि अनुमान के द्वारा प्रतीत पदार्थ में ज्ञान-प्राग्भाविता का ज्ञान हो जायगा किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान की कारणता उस विषय में है—यह कैसे अवगत होगा ? अनुमान तो यह नहीं सिद्ध कर सकता कि प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है । दृष्ट या इन्द्रिय-सन्निकृष्ट वस्तु को अनुमान विषय नहीं कर सकता, क्योंकि अनुमान का विषय परोक्ष पदार्थ होता है, प्रत्यक्ष नहीं । प्रत्यक्ष प्रमाण भी अनुमेयार्थ में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उसका विषय अपरोक्ष ही होता है । प्रतीयमान वस्तु परोक्ष होती है—ऐसा भी कोई नियम नहीं । परोक्षतया प्रतीयमान वस्तु परोक्ष है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप तो प्रत्यक्ष है, उससे भिन्न परोक्षता और क्या ? अस्पष्टाकारावभासिता ही यदि परोक्षता है, तब स्वरूपतः या स्पष्टाकारावभासिता प्रत्यक्ष क्यों नहीं ? ॥१३२॥ स्पष्ट और अस्पष्ट उभय रूप से वस्तु का ज्ञान होने पर वैसे ही प्रत्यक्ष माना जाता है जैसे स्तम्भ आदि के पूर्व और पर भागों का क्रमशः स्पष्टत्वेन और अस्पष्टत्वेन उभय भागों को मिलाकर एक प्रत्यक्ष ही माना जाता है—"प्रत्यक्षोऽयम् स्तम्भः" ॥१३३॥ अर्थात् यदि एक ही पदार्थ स्पष्ट और अस्पष्ट दो रूपों में प्रतिभासित होता है तब परभाग का अनुमान से अवगत होने पर भी प्रत्यक्षता ही मानी जाती है । यदि स्पष्टता और अस्पष्टता दोनों धर्म औपाधिक माने जाते हैं, जैसे—"आकाश में नीलिमा" । तब उपाधि के भेद से अन्य रूप का भान माना जाता है । पदार्थ के अपने स्वरूप का प्रवेश न होने के कारण प्रत्यक्षता कभी नहीं होनी चाहिए ॥१३४॥ यदि आकाशादिगत नीलिमा की प्रतीति को प्रत्यक्ष माना जाता है, तब अनुमान को भी प्रत्यक्ष मानना होगा ॥१३५॥ यदि कहा जाय "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान इन्द्रियसंयोग के बिना ही उत्पन्न हुआ है अतः उसे

वार्तिकालङ्कारः

इन्द्रियवियोग एव हि न सिध्यति। तस्यानुमानेन स्वरूपस्य वेदनात्। अर्थाभावान्नेन्द्रियसंयोगः। कथम्प्रतीयमानमप्यस्तु स्वरूपग्राहिणानुमानेनासत्। असच्चेत्कथं वस्तुस्वरूपग्रहणमनुमानात्। अथ नानुमीयत एवेन्द्रियसम्बन्धः।

व्यर्थतैवानुमानस्य न चानेन प्रवर्तनम्। न द्रष्टव्यं न च स्पृश्यं वृथा तत्र प्रवर्तनम् ॥१३७॥

उपयोगार्थी हि पदार्थेऽनुमिते प्रवर्तते। प्रवर्तकञ्च प्रमाणमतोऽप्रवर्तकतायामप्रमाणमेव स्यात्। अथ पश्चाद्भाविनोऽनुमानमिन्द्रियसम्बन्धस्य तेन तदानीमिन्द्रियसम्बन्धाभावादप्रत्यक्षता। तदसत्।

भाविसम्बन्धमाने हि पूर्वं रूपाप्रतीतितः। कारणत्वन्न गम्येतानुमानं व्यर्थकम्भवेत् ॥१३८॥

तदेव मीयमानस्य स्वरूपेण न भाविता। तदेव मीयमानत्वं वर्तमानत्वमुच्यते ॥१३९॥

न खलु वर्तमानत्वमन्यदेव तदा स्वरूपेण प्रतिभासात्। स्वरूपप्रतिभासमानतैव वर्तमानता। अतीतादिरूपतया प्रतिभासमानत्वादवर्त्तमानतेति चेत्। नन्वतीतरूपताऽनुमानेन कथम्प्रतीयते प्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽनुमानप्रवृत्तेः। प्रत्यक्षञ्च नातीतरूपतायाम्प्रवृत्तम्। न यदासौ प्रत्यक्षेण दृश्यते तदाऽतीतरूपता प्रतीयते। इदानीमतीतरूपतेति चेत्।

वार्तिकालङ्कार व्याख्या

प्रत्यक्ष न मानकर अनुमान माना जाता है, तब वहाँ इन्द्रियसंयोग का भी अनुमान क्यों नहीं कर लिया जाता ॥ १३६॥ अर्थात् जिस इन्द्रियवियोग के आधार पर "पर्वतो वह्निमान्" इस ज्ञान को अनुमान माना जाता है तब इन्द्रियवियोग ही सिद्ध नहीं होता क्योंकि अनुमान के द्वारा उसका वेदन कर लिया जाता है। यदि कहा जाय कि पर्वत में अग्निरूप अर्थ के न होने से उसके साथ 'इन्द्रियसंयोग' का अनुमान क्योंकर होगा स्वरूपतः प्रतीयमान वस्तु यदि असत् है तब उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। पदार्थ का अनुमान न होने पर इन्द्रिय सम्बन्ध की सिद्धि भी नहीं हो सकती। फलतः पर्वत में अग्निज्ञान की प्रवृत्ति ही निष्फल हो जाती है क्योंकि अग्नि न तो वहाँ द्रष्टव्य है और न स्प्रष्टव्य ॥१३७॥ उपयोगार्थी पुरुष अग्न्यादि पदार्थ का अनुमान करके पर्वतादि में प्रवृत्त होता है प्रवर्तक ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है। अतः अप्रवर्तकता की अवस्था में उसे अप्रमाण ही माना जायेगा।

शंका—यदि अनुमान के द्वारा पश्चाद्भावी इन्द्रिय सम्बन्ध की कल्पना की जाती है उसकी वर्तमानसत्ता न होने के कारण प्रत्यक्षता नहीं मानी जा सकती।

समाधान—उक्त शंका सर्वथा असत् है, क्योंकि भावी सम्बन्ध का अनुमान करने पर उस सम्बन्ध में ज्ञान की हेतुता ही सिद्ध नहीं होती, अतः अनुमान ही व्यर्थ हो जाता ॥१३८॥ इस प्रकार अनुमीयमान पदार्थ की स्वरूपसत्ता सिद्ध नहीं होती उसी अनुमीयमानता को वर्तमानता के रूप में व्यवहारमात्र कर दिया जाता है ॥ १३९॥ वस्तु की वर्तमानता स्वरूप-प्रतीति से कोई भिन्न नहीं, स्वरूपतः प्रतिभासमानता ही वर्तमानता है। अतीतादि रूप से प्रतीयमानता भी अवर्तमानता क्यों नहीं ? अतीतरूपता का अनुमान कैसे होगा, क्योंकि जहाँ प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है वहाँ अनुमान की भी। अवर्तमानता में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने के कारण अनुमान से कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि जब तक कोई पदार्थ प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं देखा जाता तब तक अतीततया भी उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। अतीतरूपता यदि वर्तमान में मानी जाती है तो वह अन्य ही अतीतरूपता माननी होगी। वह अन्य अतीतरूपता भी प्रत्यक्ष का विषय न होने

वार्तिकालङ्कारः

अन्यदेव तर्हि जातम् । तत्र च न प्रत्यक्षमिति कथमनुमानम् । यदपि पश्चात्प्रत्यक्षम्भविष्यति तस्यापि न भाविरूपता प्रत्यक्षे तेनानुमानावतारस्तत्रेति समानम् ।

नन्वेतदुभयोरपि समानम् । परस्यापि न प्रत्यक्षतस्तथा प्रतीतिरिति कथन्तदुल्लेखतः प्रख्या । न, तस्य वासनाबलायातस्तथा प्रत्ययस्ततश्च ।

अर्थाश्रयेणोद्भवतस्तद्रूपमनुकुर्वतः । तस्य केनचिदंशेन परतोऽपि भिदा भवेद् ॥१४०॥

इति वक्ष्यते । न पारम्पर्येण तत् ज्ञानमर्थादुत्पन्नं वासनासमागमतोऽन्यथा कारणमपि यथा भवति द्विचन्द्रादिदर्शनं तिमिरादेः । तेनातीतकालरूपादागतं ज्ञानमतीताध्यवसायन्ततोऽतीतकालतया ग्रहणादतीतमेव ? तन्नत्वस्ति । न हि तस्येदानीन्तनत्वे प्रमाणम् ।

कथन्तर्हि तस्य प्राप्तिः अस्तित्वादेव । कथमस्तित्वम् । तेन दृश्यमानेन लिङ्गेन व्यवस्थापनात् । तद्द्वारेण ज्ञानमपि तत्र प्रवर्तकमिति समाप्तो व्यवहारः ।

ननु ज्ञानमर्थमप्रतियत्कथम्प्रवर्तकम् । अव्यभिचारादेव । ननु केवलोऽपि धर्मो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर अनुमान का विषय नहीं हो सकती । जो यह कहा जाता है कि पश्चात् प्रत्यक्ष होगा, उसकी भी भावीरूपता अनुमान के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती ।

शंका—यह तथ्य तो 'बौद्ध तथा न्याय'—दोनों वादियों के मत में समान है, क्योंकि बौद्ध के समान ही न्याय-मतानुसार भी अतीतरूपता की प्रत्यक्षतः प्रतीति नहीं मानी जाती, तब अतीतोल्लेखी अनुमान-प्रख्या कैसे होगी ?

समाधान—अनादि वासनाओं के उद्बोधन से वैसी प्रतीति हो जाती है । वार्तिककार आगे चलकर इसी परिच्छेद के पद्य ४०१ में कहेंगे—

"अर्थाश्रयेणोद्भवतस्तद्रूपमनुकुर्वतः ।
तस्य केनचिदंशेन परतोऽपि भिदा भवेत् ॥७४०॥"

[अर्थात् समानरूपवाले पदार्थ का अवलम्बन कर उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यद्यपि पदार्थ का पूर्णरूपेण अनुकरण करता है, तथापि परकीय (वासना के) आधार पर किसी-किसी अंश में विरूपता वैसी ही हो जाया करती है, जैसे अपने पिता से उत्पन्न पुत्र में अदृष्टवशात् कुछ वैरूप्य आ जाता है] ॥ १४० ॥

ज्ञान परम्परया भी पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता, अपितु द्विचन्द्रादि का ज्ञान दो चन्द्रों से उत्पन्न न होकर तिमिर (नेत्रगत तिरमिरा) रोग से उत्पन्न हो जाता है। ठीक उसी प्रकार अतीतता से अनुत्पन्न कारणता अतीत पदार्थ को ही विषय करती है । अर्थात् वर्तमान ज्ञान की कारणता अतीत विषयगत होती है । वर्तमानगत कारणता में कोई प्रमाण नहीं ।

अतीत और वर्तमान का कार्य-कारणभाव तब होगा, जब उनकी प्राप्ति हो, किन्तु अतीत और वर्तमान की प्राप्ति कैसे ? इसका उत्तर है—अस्तित्वेन । दृश्यमान धूमादि लिङ्ग के द्वारा अग्न्यादि का अस्तित्व प्रतिपन्न होता है । सत् विषय से उत्पन्न अनुमान ज्ञान भी वहाँ प्रवर्तक माना जाता है ।

प्रश्न—लिङ्ग-ज्ञान (धूम-ज्ञान) अग्निविषयक न होने के कारण अग्नि-ग्रहण में प्रवर्तक क्योंकर होगा ?

उत्तर—अव्यभिचार के कारण ।

(३) सामान्यकल्पना-निरासः—

अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरङ्कुरादिषु।
दृष्टा शक्ति', मता सा चेत् संवृत्याऽस्तु यथा तथा ॥ ४ ॥

कार्य-कारणभाव नाम का पदार्थ यदि सिद्ध नहीं होता, तब 'सर्वमशक्तम्' (सर्व-

---

वार्तिकालङ्कारः

व्यवस्थापकः स्यात् यथा व्यवस्थापको दृष्टस्तथा व्यवस्थापयति नान्यथेति कस्योपालम्भः। किञ्च—

ज्ञानन्तद्रूपतासंगात्प्रवर्तयति नापरम्। तत्रार्थाध्यवसायञ्च नियतो वासनाबलात् ॥१४१॥

तस्मात्पूर्वरूपतया प्रतीयमानमिदानीमस्ति तदिति न ज्ञानेन प्रतीयते। इदानीन्तद्रूपमस्ति तन्न दृश्यत एवातोऽदृश्यमानमेव परोक्षम्। अप्रतीतिरेव परोक्षताप्रतीतिः परोक्षमेतदिति।

परोक्षता चेदर्थस्य स्वभावोऽध्यक्ष एव सः। नानुमानम्भवेदत्र न च सन्देहसङ्गतिः ॥१४२॥
विनष्टे न भवेदेव तस्माज्ज्ञानन्तथाविधम्। ज्ञानार्थयोर्न चैकत्वं तस्मात्सोऽर्थो न वेद्यते ॥१४३॥

तस्माद्यदनुमानमर्थग्रहणरूपरूपञ्चक्षुरादिसम्बन्धोऽप्यनुमीयमानोऽस्त्येवेत्यध्यक्षतैवार्थस्यानुमेयस्येति प्राप्तम्।

(३) सामान्यनिरासः—

न चैवम्, यतो न परोक्षवस्तुविषयं ज्ञानमर्थग्रहणरूपमतो नानुमानेन प्रतीतस्य कारणभावः। तस्मान्न कार्यकारणभावः। अत एवाह - अशक्तं सर्वमिति चेदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रश्न—सहचरित धूम के समान असहचरित धूम भी क्या अग्नि का गमक होता है?

उत्तर -दृष्टानुसारिणी अदृष्ट कल्पना की जाती है। क्या केवल धूम अग्नि का गमक होता देखा गया है? ऐसा प्रश्न आप अपने से ही करें।

दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान विषयरूपता में उपचरित होकर ही प्रवर्तक होता है। अर्थाध्यवसायरूपता तो वासना की देन है, फलतः अर्थरूपेण प्रतीयमान ज्ञान प्रवर्तक होता है और ज्ञान में अर्थाकारता वासना-समर्पित होती है ॥१४१॥

निष्कर्ष यह है कि अतीत पदार्थ पूर्वरूपतया प्रतीयमान इस समय है, स्वरूपतः नहीं, अतः ज्ञान के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। इस समय जो विषय का अतीतत्व स्वरूप है, वह दृश्य नहीं, अतः अदृश्यमान वस्तु ही परोक्ष कही जाती है। अप्रतीति ही परोक्षता की प्रतीति है, अतः पदार्थ परोक्ष है। परोक्षता यदि पदार्थ का स्वभाव है, तब उसे अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) ही मानना होगा, अनुमान या संशय की सङ्गति नहीं ॥१४२॥ पदार्थ के विनष्ट होने पर वैसा ज्ञान नहीं होता, अतः ज्ञान और पदार्थ की एकता सम्भव नहीं, ऐसा पदार्थ ज्ञान के द्वारा वेद्य नहीं होता ॥१४२-१४३॥ फलतः अर्थग्रहणरूप अनुमान एवं अनुमेय रूपादि के साथ चक्षुरादि का अनुमीयमान सम्बन्ध भी पारमार्थिक सिद्ध होता है—ऐसे पूर्वपक्ष की स्थापना पर कहा जाता है—

(३) सामान्य-कल्पना का निरास—

ऐसा नहीं, क्योंकि परोक्ष वस्तु विषयक अनुमान न तो अर्थग्रहणात्मक है और न उसमें पारमार्थिक हेतुता (कार्यकारणभाव) अतएव वार्तिककार ने कहा है—"अशक्तं

मकारणम्) ऐसा उद्घोष क्यों न कर दिया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यद्यपि परमार्थतः कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता, तथापि बीजादि में जो अङ्कुरादि-जनन शक्ति प्रतीयमान है, उसकी यथा-तथारूपता (व्यावहारिकता या सांवृतिकता) का अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ ४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तत्राह—बीजादेरङ्कुरादिष्विति ।

तथा हि—

पश्यामि बीजादुत्पत्तिमङ्कुरस्येति लौकिकी । प्रतीतिरविभागेन तत्र एवास्तु दर्शनम् ॥१४४॥

यत्र हि पश्याम्येतदिति प्रतीतिस्तदेव प्रतीतम् । अस्ति च कार्यकारणभावे दृष्टो यम्ममेत्यधिमुक्तिरतोऽबाधिताधिमुक्तिसम्भवान्नान्यथाभावः शङ्कनीयः । तथा हि—

स्मराम्येतदहं वस्तु नाधिमुक्तेः परागतिः । वस्तुना न हि सम्बन्धः स्मरणस्य प्रतीयते ॥१४५॥

न तावत्प्रत्यक्षेण स्मरणस्याप्रत्यक्षत्वात् स्वसंवेदनन्तु स्वरूपमेव स्मरणस्य साक्षात्करोति न वस्तुसम्बन्धम् । नापि पूर्वकं प्रत्यक्षं स्मरणे प्रवर्तते कुतः सम्बन्धवेदनम् । अस्ति चानन्यथाभावी स्मराम्येतदिति प्रत्ययः । तस्मादधिमुक्तिरेव सर्वत्र साधिका सर्वव्यवस्थानाम् । अत्रोच्यते—मता सा चेत्संवृत्याऽस्तु यथा तथेति ॥५॥

अभिप्रायः । प्रमाणवस्तुतत्त्वव्यवस्थितिमन्तरेण यदधिमुक्तिमात्रमनादिव्यवहार-भावनातस्तत्संवृतिमात्रमेव । अपि च । न प्रतीत्यर्थो हि संवृत्यर्थः । यथैव हि क्वचि-द्देवदत्तादावदृष्टेऽपि दृष्टाभिमानः । स परामर्शान्निवर्तते । तथा नासौ न परमार्थतः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सर्वमित्यादि' । उसकी उपपत्ति की गई है—"बीजादेरित्यादि" । आशय यह है कि 'बीज से अंकुर की उत्पत्ति मैं देख रहा हूँ'—ऐसी लौकिक प्रतीति के विषयीभूत पदार्थ को प्रतीत कहा जाता, उसे किसी प्रकार के विश्लेषण के बिना वैसा ही दर्शन मान लिया जाता है ।१४४। कार्य-कारणभाव के विषय में ऐसी ही अधिमुक्ति (धारणा) होती है । ऐसी अबाधित अधिमुक्ति होने के कारण अन्यथाभाव (बाध) की शंका नहीं करनी चाहिए । 'एतद्वस्तु अहं स्मरामि'—इस प्रकार की अधिमुक्ति के आधार पर स्मरण के साथ वस्तुतत्त्व का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता ॥१४५॥ और न प्रत्यक्षतः उक्त सम्बन्ध स्थिर होता है, क्योंकि स्मरण प्रत्यक्षरूप नहीं होता । स्वसंवेदन ज्ञान भी स्मरण के स्वरूप का ही साक्षात्कार करता है, वस्तु-सम्बन्ध का नहीं । पूर्वभावी प्रत्यक्ष भी स्मरण को विषय नहीं कर सकता, उसके साथ विषयवस्तु के सम्बन्ध को कैसे सिद्ध करेगा ? 'स्मरामि'—इस प्रकार की अनन्यथासिद्ध प्रतीति सार्वजनीन है । परिशेषतः सभी प्रकार के व्यवहार की साधिका एक अधिमुक्ति ही क्यों न मान ली जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर है—"मता सा चेत्"—इत्यादि, अभिप्राय यह है कि जो वस्तुतत्त्व किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध न होकर केवल अनादि व्यवहारमात्र पर आधृत होता है, वह सांवृतिक (व्यावहारिकमात्र) कहलाता है । केशोण्डुकादि सांवृतिक अर्थ प्रतीति का विषय नहीं होता, जैसे देवदत्तादि के न होने पर भी तद्दृष्टत्वाभिमान । ऐसा विषय प्रत्यभिज्ञा परामर्श से बाधित हो जाता है । वैसा ही समस्त लोक-व्यवहार है, परमार्थतः नहीं । भगवत्पाद आचार्य शङ्कर भी ऐसा ही कहते हैं—"सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" (ब्र० सू० १।१।१) ।

वार्तिकालङ्कारः

तथा सकलोऽपि लोकव्यवहार एवमेवेति । संवृतिमात्रकं सकलम् । प्रमाणमन्तरेण हि प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः । तथा हि—

अन्वयव्यतिरेकाभ्याङ्कार्यकारणतां गतिः । प्रमाणञ्च न तत्रास्ति प्रत्यक्षमनुमा तथा ॥१४६॥

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकयोः । गतिर्यद्यनुमानात्स्यादितरेतरसंश्रयः ॥१४७॥

अन्वयव्यतिरेकयोः प्रत्यक्षेण केवलेनाग्रहणात् । प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यंकारणभाव उच्यते । तदेतदसङ्गतम् । इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षेणान्वयो न गृह्यते । एतत्सद्भावे भवत्येतदिति नैवम्प्रकारव्यापारः प्रत्यक्षम् । द्वयग्रहणमात्रव्यापारात् । एतदनन्तरमेतद् दृष्टमतस्तु भवतीति नैतदस्ति । यतोऽत एव भवत्यतो भवत्येवातोऽपि भवतीति यदेवात्र विकल्प्य त्रयमपरस्यार्थस्यासम्भवात् । यद्यत एव भवति अन्यतो न भवतीति सामर्थ्यादमयमर्थः स्यात् । तत्रापि विकल्पद्वयमिदानीमन्यदा वेति । यदीदानीमत एवेति मतिः । अन्यदा तर्हि भवत्यन्यत इति स्यात् । इदानीमपि देशान्तरेण भवत्यन्यत इति कुतः । न चैवङ्कार्यकारणभावो नियमाभावात् । नाप्यतो भवत्येवेत्यवधारणम् । कालान्तरे कदाचिन्न भवत्येवेत्यतो नान्वयव्यतिरेकगतिरध्यक्षात् । अतोऽपि भवत्यन्यतोऽपीत्यत्रपक्षे स्वयमेव व्यभिचाराभ्युपगमान्न कार्यकारणभाव इति प्रतिपादितम् , अतो नायमपि पक्षः ।

अथैतदभावे न भवतीत्यनुपलम्भतः प्रतीयते । तथा सति पुनरितरेतराश्रयदोषः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रमाण के बिना ही प्रतीत्यभिमान को संवृत्ति कहते हैं। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा कार्य कारणभाव की अवगति होती है किन्तु उसमें कोई प्रत्यक्ष या अनुमान कोई भी नहीं होता ॥१४६॥ यदि अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ की अवगति मानी जाती है, तब अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है ॥१४७॥ केवल प्रत्यक्ष के द्वारा अन्वय और व्यतिरेक की अवगति नहीं हो सकती, अतः प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ— दोनों को ही कार्यकारणभाव का जो साधन माना जाता है वह असङ्गत है, क्योंकि इतरेतराश्रय दोष की प्रसक्ति होती है। अन्वय तत्त्व भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि "एतत्सद्भावे एतद्भवति"—इस प्रकार का व्यापार प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु दो पदार्थों के ग्रहणमात्र में प्रत्यक्ष उपक्षीण हो जाता है। 'एतदनन्तरमेतद् दृष्टम्' अतः 'तत् एतस्माद् भवति'—ऐसा प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता अर्थात् 'अत एव भवति', 'अतो भवत्येव', 'अतोऽपि भवति'—इस प्रकार त्रिविध विकल्प ही उठ सकते हैं, अन्य (चतुर्थ) विकल्प सम्भव नहीं। इनमें यदि 'अत एव भवति'—ऐसा प्रत्यक्ष से माना जाता है तब 'अन्यतो न भवति'- ऐसा सामर्थ्य (अर्थापत्ति) से मानना होगा। इस पक्ष में भी दो विकल्प हो सकते हैं—(१) 'इदानीम्', (२) 'अन्यदा वा'। यदि 'इदानीमत एव'—ऐसा माना जाता है, तब 'अन्यदा अन्यतः'—इतना ही सिद्ध होगा, "इदानीमपि अन्यतो भवति'—यह कैसे सिद्ध होगा ? ऐसा कोई कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं, क्योंकि नियामकाभावात्। 'अतो भवत्येव'—ऐसा एवं 'कालान्तरे कदाचिन्न भवत्येव'—ऐसा द्विविध अवधारण भी सिद्ध नहीं होता। इससे यह निश्चित हो जाता है कि अन्वय-व्यतिरेक की अवगति प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती। 'अतोऽपि भवति', 'अन्यतोऽपि भवति'—इस प्रकार के विकल्प में स्वयं ही व्यभिचार स्वीकार कर लिया गया, तब कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता—यह कहा जा चुका है।

वार्तिकालङ्कारः

तथा हि—

प्रत्यक्षादपरः किंवाऽनुपलम्भः परस्तथा । प्रत्यक्षादपरत्वे हि नाममात्रमसाधनम् ॥१४८॥
अवतारो भवेन्नैवानुमानत्वप्रकल्पने । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामप्रतिबन्धेऽनुमा यतः ॥१४९॥

यदि प्रत्यक्षमेवानुपलम्भः स एव प्रत्यक्षे उदितो दोषः । अथानुमानम् । तदन्वयव्यतिरेकप्रवर्त्तितप्रतिबन्ध इतीत्यनुमानाभावे नान्वयव्यतिरेकग्रहणम् । तदभावे च नानुमानावतारः । अनवस्था चानुमानानाम्भवेत् ।

अथाभावेन प्रमाणेन तदभावे भावपरिग्रहः । तदप्ययुक्तम् । सन्निहितस्यैव देशकालयोस्ततोऽप्यभावप्रतीतेः । अपरः प्राह—तर्कप्रमाणगम्यः कार्यकारणभावः । अदृष्टसम्बन्धात्परोक्षप्रतीतिस्तर्क इति लक्षणम् । तथा हि तद्भावभाव उपलभ्यते, न कार्यकारणभावो नियमलक्षणोऽग्निधूमयोः । न च तेन सम्बन्धस्तद्भावभावेन कार्यकारणभावस्योपलभ्यते । प्रतियन्ति च लौकिकाः यस्मादतो भवति तस्मादेतत्कार्यमेतत् । तस्मादेतत्कार्यंप्रतीतिस्तर्कतः । अथवाऽर्थापत्त्या तत्कार्यंप्रतीतिः । यद्येतत्कार्यंन्न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि 'एतदभावे न भवति'—ऐसा अनुपलब्धि से माना जाता है, तब भी अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होता है—जिज्ञासा होती है कि अनुपलम्भ का प्रत्यक्ष से अभिन्न है ? अथवा भिन्न ? प्रत्यक्षात्मक मानने पर अनुपलम्भ भी प्रत्यक्षपक्षीय दोष से दूषित हो जाता है, क्योंकि उन दोनों का नाममात्र से भेद है, वस्तुतः दोनों एक ही हैं ॥१४८। अनुपलम्भ को प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानरूप मानने पर अनुपलम्भ की पृथक् चर्चा ही नहीं हो सकती और अनुमान में अपेक्षित व्याप्ति अन्वय-व्यतिरेक-सापेक्ष होने से अन्योऽन्याश्रय दोष दिखाया जा चुका है ॥१४९॥ निष्कर्ष यही निकला कि यदि प्रत्यक्ष ही अनुपलम्भ है, तब तो प्रत्यक्ष के दोष उसमें भी प्रसक्त होते हैं और अनुपलम्भ यदि अनुमानस्वरूप है, तब वह अन्वय-व्यतिरेक-सापेक्ष होने से अन्योऽन्याश्रय दोष का बहुचर्चित प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अनुमान को पृथक् न मानने पर अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण क्योंकर होगा । अनुमान में अन्वय-व्यतिरेक-साधक अनुमानान्तर की अपेक्षा में अनवस्था दोष भी प्रसक्त होता है। यदि कहा जाय कि अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा कारण के अभाव में कार्य का अभाव सिद्ध होता है। तो वह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि अनुपलब्धि के द्वारा केवल अविद्यमान पदार्थ के ही अभाव का निश्चय नहीं होता, अपितु देश-काल विद्यमान कारणत्व का भी अभाव प्रतीत होता है।

अन्यवादी का जो कहना है कि तर्क और प्रमाण के द्वारा कार्य-कारणभाव का अवगम होता है। जिस पदार्थ के साथ इष्ट सम्बन्ध नहीं, उसके परोक्ष ज्ञान की कल्पना का नाम तर्क है। जैसे अग्नि और धूम का कार्य-कारणभाव उपलब्ध नहीं, केवल (तद्भाव-भाव) अग्नि के होने पर धूम का होना मात्र देखा जाता है और इसी से अग्नि-धूम के कार्य-कारणभाव की परोक्ष प्रतीति हो जाती है कि अग्नि से धूम होता है, अतः धूम अग्नि का कार्य है। इस प्रकार कार्य-प्रतीति तर्क से होती है। अथवा अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा कार्य-कारणभाव की प्रतीति होती है। अर्थात् यदि धूम अग्नि का कार्य नहीं, तब अग्नि से धूम का होना ही नहीं बनता। इस प्रकार अदृष्टार्थ की कल्पना होने से अर्थापत्ति है।

वार्तिकालङ्कारः

स्यादतो भवनमेवास्य न घटते इत्यदृष्टार्थपरिकल्पनादर्थापत्तिः । तदयुक्तम्—

कार्यकारणभावस्य प्रतीतिर्दृश्यते यदि । अर्थापत्तेस्तर्कतो वा प्रतीतिरिति दृश्यताम् ॥१५०॥

ततो भावात्परा नैव कार्यकारणतेक्ष्यते । दोषः प्रागुदितस्तत्र नियमस्यापरिग्रहात् ॥१५१॥

यदि हि कार्यकारणभावः प्रतीतिविषयमवतरेत्तस्य प्रतीतिस्तर्कतोऽन्यतो वा स्यात् । न चायन्ततो भावादपरेण रूपेण निरूप्यते प्रयत्नवतापि । न च नियमेन ततो भाव इति कुतश्चित्प्रतीतः । तावत्कालस्यैव तद्भावस्य ग्रहणात् । न चासौ कार्यकारणभावः ।

अथ तर्कादर्थापत्तेर्वा प्रतीयते नियमः । यत इदानीमेतदनन्तरमुपलभ्यते । ततोऽन्यदाप्यत एवैतदित्यन्यथैव तदेव न भवेत् । तदप्ययुक्तम् ।

यदि नामेदानीमत उपलभ्यते । अन्यदपीति कुतः । प्रतीतिरेवमेवेति चेत् । घटोऽपि तर्हि पटानन्तरमुपलभ्यते । तत्राप्येवम्भवेत् । दृश्यतेऽत्र व्यभिचार इति चेत् । अनेनैव तर्हि तत्राप्यनाश्वासः । अनाश्वासप्रतीतेर्नास्त्येवेति चेत् । अदीर्घदर्शिनाम्भूयो दर्शनादेतत् । लोकव्यवहार एवमेवेति चेत् ।

तदेव पुनरायातं संवृत्या शक्तता गतिः । अनिरूपिततत्त्वा हि प्रतीतिस्संवृतिर्मता ॥१५२॥

अथ कालान्तरे तदेवेदन्तत्कार्यमिति प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वमेव कार्यताप्रतीतिः । अन्यथा प्रत्यभिज्ञैव न स्यात् । तदयुक्तम्—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि यदि कार्यकारणभाव की प्रतीति है, तब वह तर्क या किसी अन्य साधन से होगी ॥१५०॥ सर्वथा भाव पदार्थों से भिन्न कारणता और कार्यता सिद्ध नहीं हो सकती, पूर्वोक्त दोष उसके बाधक हैं । "तत एवास्य भावः"—ऐसा कोई नियम सिद्ध नहीं होता ॥१५१॥ अर्थात् जो कार्य-कारणभाव प्रतीति-पथ में अवतरित होता है, वह कार्य और कारणरूप भाव पदार्थों से कथमपि भिन्न नहीं हो सकता । उस पर भी "तत एवास्य भावः"—ऐसा नियम सौ प्रयत्न करने पर भी सिद्ध नहीं होता । कारण के समय कार्य का ही ग्रहण होता है, कार्य-कारणभाव नहीं ।

जो तर्क या अर्थापत्ति के आधार पर ऐसा नियम माना जाता है कि "यतः इदानीमेतदनन्तरमुपलभ्यते, ततोऽन्यदापि अस्मादेवैतद् भावष्यति" ।

वह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि यदि इस समय कोई कार्य किसी पदार्थ के अनन्तर होता है, तो वह सदैव ही उसी पदार्थ के अनन्तर होगा—ऐसा नियम क्यों ? यदि कहा जाय कि जिसके अनन्तर जो प्रतीत होता है, वह उसका कार्य है, तब तो पटानन्तर प्रतीयमान घट भी पट का कार्य माना जायगा । यदि घट और पट का व्यभिचार होने से कार्य-कारणभाव नहीं, तब व्यभिचार कहाँ नहीं—यह कहना सम्भव नहीं, सर्वत्र अन्तश्वास ही हो जाता है । वस्तुतः बारंबार आनन्तर्य-दर्शन से सर्वथा अनाश्वास की निवृत्ति तो नहीं होती, किन्तु लोक-व्यवहार का निर्वाह तो ऐसे ही होता है । फलतः वही व्यावहारिक पक्ष सामने आ जाता है कि किसी कारण में कार्य की शक्तता का जो सांवृतिक ज्ञान होता है, उसी के आधार पर लोक-व्यवहार निभ जाता है । जिस प्रतीति के स्वरूप का निरूपण न हो सके, उसे संवृति कहा जाता है ॥ १५२ ॥

"तदेवेदं कार्यम्"—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा भी कार्य-कारणभाव का

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यभिज्ञा क्व दृष्टेयम्पूर्वदर्शनसङ्गता। अर्थापत्तेस्तर्कतो वेत्येतच्च प्रागेव दूषितम् ॥१५३॥

अथ स्मरणतः। तथा हि—

स्मरामि दृष्टमेवैतन्मयेत्येवम्प्रतीतितः। स्मरणस्यापि सम्बन्धोऽनुभवेन मतो न हि ॥१५४॥

न च स्मरणम्प्रमाणम्। स्मरणेन च सिद्धं संवृत्तिसिद्धमेव। एतदाशङ्क्याह—"मता सा चेत् संवृत्याऽस्तु यथा तथेति"। एवमेव लोकव्यवहारोऽनाकुलो लोकव्यवहारे परमार्थं उपयुज्यते लोकव्यवहारप्रलोपप्रसङ्गात् अधिमुक्तिविभागमात्रेण सिद्धिः। स्वप्ननियतव्यवहारवत्। अनादिवासनानियम एवावशिष्यते लोकव्यवहारहेतुयोनिरन्यथा सालम्बननिरालम्बनञ्चानादिविभाग एव न सिध्येत्। यः पुनराह—अथ केयं संवृतिः? किञ्च संवृतिसत्यम्।

सत्यञ्चेत् संवृतिः केयं मिथ्या चेत् सत्यता कुतः। सत्यत्वन्नहि सामान्यम्मृषार्थपरमार्थयोः ॥१५५॥

सत्यञ्च संवृत्तिरिति व्याहतम्। अत्रोच्यते—संवृतिर्नाम विकल्पविज्ञानमधिमुक्तिमाह। अनादिवासनातः। ततोऽयमर्थः—अनादिवासनाबलायातः प्रतिभास एव केवलः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्ववृत्तिता-विशिष्ट वर्तमानता का दर्शन अर्थापत्ति या तर्क के द्वारा भी नहीं हो सकता—यह कहा जा चुका है ॥१५३॥ "स्मरामि दृष्टमेतन्मया"—इस प्रकार की स्मृति का अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं ॥१५४॥ स्मरण ज्ञान को प्रमाण भी नहीं माना जाता। स्मरण के द्वारा सिद्ध पदार्थ संवृत्ति-सिद्ध ही माना जाता है। ऐसी आशंका को ध्यान में रखकर ही वार्तिककार ने कहा है—"मता सा चेत् संवृत्याऽस्तु यथा तथा"। इस प्रकार का अनाकुल (व्यवहारकाल) में अबाधित लोक-व्यवहार लोक में परमार्थ एवं उपयोगी माना जाता है। अन्यथा लोक-व्यवहार का विलोप हो जायगा। स्वप्न में नियत व्यवहार के समान ही लोक-व्यवहार अनादि वासनाओं पर ही आश्रित होता है। अन्यथा सालम्बन और निरालम्बन का अनादि विभाग ही सिद्ध न होगा।

आक्षेप—श्री कुमारिल भट्ट ने संवृत्ति और संवृतिसत्य पर आक्षेप किया है—

सत्यं चेत् संवृतिः केयं मिथ्या चेत् सत्यता कथम्?।
सत्यत्वं न हि सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः ॥ १५५ ॥
(श्लो० वा० पृ० २१८-१९)

अर्थात् यह 'संवृति' तत्त्व सत्य है? अथवा मिथ्या? यदि सत्य है, तो उसके लिए 'संवृति' विशेषण की क्या आवश्यकता? संवृति यदि मिथ्या है, तब उसे सत्य क्यों कहा जाता है। सत्य यदि दो प्रकार का होता—(१) मिथ्या सत्य और (२) सत्य-सत्य तब एक को संवृतिसत्य और दूसरे को परमार्थ सत्य कहा जाता, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे गौ के नील और पीत दो भेद तभी कहे जाते हैं कि नील और पीत—दोनों व्यक्तियों में एक 'गोत्व' जाति रहती है, वैसे संवृति और परमार्थ—दोनों में सत्यत्व जाति रहती, तब सत्य के दो भेद किये जा सकते थे किन्तु मिथ्या और सत्य दो विरोधी धर्मियों में एक सत्यत्व धर्म कभी नहीं हो सकता ॥ १५५ ॥

समाधान—संवृति नाम है—विकल्प विज्ञान का। उसी को अधिमुक्ति भी कहते हैं, वह अनादि संस्कारों से उत्पन्न होता है अर्थात् स्वप्नकाल में जो हस्ती, अश्व, रथादि प्रतीत होते हैं, वे केवल अनादि संस्कारों के द्वारा केवल प्रतिभासमात्र होते हैं, उनकी

वार्तिकालङ्कारः

नीलादयो हि स्वप्नप्रतिभासवदसत्त्या न च तद्व्यतिरेकेण विज्ञानन्ततो न तत्त्वम्। न च लोकव्यवहारोच्छेद इत्युपयोगतः सत्यम्। एवञ्च संवृत्तिसत्यमिति न विरोधः। ततः परमार्थेन सर्वात्मविवेकः। न हि बाह्येन पदार्थेन सहान्वयव्यतिरेकावनुगम्येते। वासनायास्तु कारणत्वं स्वप्नप्रतिभासे प्रतीयते। तज्जातीयत्वेन परत्रापि तत्स्यात्। अथवा। उत्पादादिस्वभाव एव संवृत्तिः प्रमाणेनापरिच्छेदात्। तदा संवृत्योत्पाद इति प्रमाणेनापरिच्छिद्यमानतयैवोत्पादापिः।

अथ संवृत्तिरित्यसामर्थ्यं सर्वात्मविवेकत्वादुत्पाद इति सामर्थ्यम्। तदेतद्विरुद्धम्। तदप्यसत्। संवृतिरिति परमार्थेनासामर्थ्यन्तेन चोत्पादो नास्त्येवोत्पाद इति सामर्थ्यप्रतीतिमात्रेण प्रमाणरहितत्वात् तेन चोत्पादोऽस्त्येव। न चोत्पादेन उत्पाद इति दोषः। येन रूपेणोत्पादस्तेनैव सामर्थ्यम्। केन रूपेणोत्पादः? संवृत्या न परमार्थत इत्यर्थः। तथा च संवृत्तिरिति न नामकरणमात्रम्। प्रमाणाप्रतिपन्नत्वस्य तथाभिधानात्।

यदपि समानकालता कार्यकारणयोरित्यत्र दूषणम्। कारणात् कार्यस्य द्वितीये

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कोई वस्तुसत्ता नहीं होती, अतः जागने पर उनका बाध हो जाता है। उनकी प्रतीतिमात्र से भिन्न कोई सत्ता नहीं किन्तु व्यवहारात्म अर्थक्रिया के साधक होने के कारण सत्य कहे जाते हैं, ऐसे पदार्थ संवृति सत् हैं और जिनका जागने पर भी बाध नहीं होता, वे परमार्थ सत्य हैं, जैसे विज्ञानदि [श्रीशान्तिदेव ने संवृतिसत्य के दो भेद किये हैं—"सा च संवृतिर्द्विविधा (१) तथ्यसंवृतिः (२) मिथ्यासंवृतिः" (बोधिच० पृ० १७१)। इन्हीं त्रिविध सत्ताओं का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त में किया गया है—"त्रिविधं सत्त्वम्-(१) परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः। (२) अर्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वं मायोपाधिकस्याकाशादेः। (३) प्रातीतिकसत्त्वम् रजतादेः।" (पञ्चपा० वि० पृ० १६५)]। आशय यह है कि पदार्थ की प्रतीति केवल पदार्थ-सत्ता पर ही निर्भर नहीं, अपितु कहीं-कहीं विषय वस्तु के न होने पर भी अनादि संस्कारों के आधार पर वस्तु की प्रतीति हो जाती है, जैसे स्वप्न में, क्योंकि वहाँ प्रतीति का बाह्य पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं होता, केवल वासनाओं में ही स्वाप्न प्रतीति की कारणता सर्वमत-सम्मत है। शुक्ति-रजत, मरुमरीचि-जल, गन्धर्व-नगरादि की प्रतीतियाँ उसी कोटि की मानी जाती हैं।

अथवा उत्पादादि स्वभावक प्रमाणों के द्वारा अप्रमित पदार्थ को संवृति कहा जा सकता है [शान्तिदेव ने भी कहा है—"भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।" अर्थात् निःस्वभावक पदार्थों का उत्पादमात्र स्वभाव है, क्योंकि उनका किसी प्रमाण के द्वारा परिच्छेद नहीं हो सकता" (बोधिच० पृ० १८१)]।

शंका—संवृति का अर्थ है—असामर्थ्य, किन्तु उत्पाद सामर्थ्यात्मा है., तब संवृति और उत्पाद परस्पर-विरुद्ध क्यों नहीं ?

समाधान—संवृति परमार्थतः सामर्थ्याभाव है, उससे परमार्थतः उत्पाद भी नहीं होता, केवल प्रतीति के आधार पर उत्पाद की सत्ता मानी जाती है। जिस रूप से उत्पाद माना जाता है, उस रूप से सामर्थ्य भी स्वीकृत है। किस रूप से उत्पाद माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—संवृतिरूपेण, परमार्थतः नहीं। इस प्रकार 'संवृति'—यह नामकरण मात्र नहीं, अपितु प्रमाणाप्रतिपन्न पदार्थ की वह एक अभिधा है। यह

वार्तिकालङ्कारः

क्षणे उत्पत्तिरिति । तदप्यसत् । अतस्तस्य चिरातीतादविशेषात् । चिरातीतस्योत्पत्तिकालेऽसत्त्वात् । अनन्तरातीतस्य विपर्ययादिति चेत् । कोऽयमुत्पत्तिकालः । यदि भवनकालस्तदा भवनम्भवितुरभिन्नमिति सैव कार्येण समानकालता कारणस्य ।

अथ भावनाकाले विद्यते । सेयम्भावना भावयितुर्व्यापारस्ततश्च भावनाकाल इति कारणकाले सत्तेति स्यात् तदा । ततश्च व्यवहितस्यापि स्यात् कारणत्वम् । स्वकाले तस्यापि भावात् । सर्वेषाञ्च भावक्षणानामन्तरा भावादिति कारणताप्रसङ्गेऽतिप्रसङ्गः । भिन्नसन्तानत्वान्नेति चेत् । सोऽयमितरेतराश्रयदोषः । सत्यकारणत्वे भिन्नसन्तानत्वं सति भिन्नसन्तानत्वेऽकारणत्वमिति । कारणञ्च भिन्नसन्तानञ्चेति विरोधः ।

यदप्युक्तम् । अविचारप्रतीत्यर्थ इति, विचारप्रमाणमुच्यते । न विकल्पकं विज्ञानम् । ततोऽप्रमाणप्रतीत्यर्थ इत्यर्थः । मायार्थोऽप्ययमेव लोकप्रतीत्यर्थं इति । अविचारितरमणीया लोकप्रतीतिस्ततो न दोषः । शास्त्रकारप्रतीतिस्तु न व्यावहारिकीति न सा गृह्यते । तथा चोक्तम्—"तत्र कतमत् संवृतिसत्यम् । यावान् लोकव्यवहारः" ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जो यहाँ पर कार्य और कारण की समानकालता के दोषाभिधान पर कहा जाता है कि कारण के द्वितीय क्षण में कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है। वह असत् है, क्योंकि कार्यकाल में असत् पदार्थ चिरातीत के समान है, क्योंकि चिरातीत पदार्थ उत्पत्ति-काल में नहीं होता। चिरातीत पदार्थ में उक्त दोष होने पर भी अनन्तरातीत में वह दोष क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पूछा जाता है कि उत्पत्ति-काल क्या है ? यदि कार्य के भवन-काल को ही उत्पत्ति-काल कहा जाता है, तब कार्य का भवन कार्यरूप भविता पदार्थ से अभिन्न होने के कारण वही कार्य और कारण की समानकालता प्रसक्त होती है।

यदि कहा जाय कि भावना-काल में वह विद्यमान है, तब जिज्ञासा होती है कि यह भावना क्या है ? यदि भावयिता (कार्योत्पादक पुरुष) का व्यापार-विशेष भावना है, तब भावना-काल में कारण की सत्ता सिद्ध हो जाती। वही सत्ता द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाले कार्य को नियामक हो जाती है। भावना-काल में सभी पदार्थों की सत्ता स्वीकृत होने के कारण सभी पदार्थों में कार्य की कारणता प्रसक्त होती है, ऐसा नहीं कह सकते। प्रत्येक वस्तु की स्वकीयसन्तति में होने वाले भावक क्षण को कारण माना जता है, भिन्न सन्तति में नहीं। ऐसी व्यवस्था संभव नहीं, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। क्योंकि अकारणता तब होगी जब कि भिन्न सन्तानता सिद्ध होगी और उसकी सिद्धि तब होगी जब अकारणता किसी वस्तु में भिन्न-सन्तान-पतितत्व और उत्तर-कार्य-करणत्व ये दोनों दो विरुद्ध धर्म माने जाते हैं।

यह जो कहा गया कि अविचार-जनित प्रतीति का विषय अर्थ होता है, विचार नाम है प्रमाण का, अतः विकल्प विज्ञान प्रमाण में अप्रमाण एवं उसका विषय विकल्पित मात्र होता है। लोक में माया के द्वारा प्रतीयमान पदार्थ को लौकिक या सांकेतिक ही माना जाता है। लोकप्रतीति को अविचारित-रमणीया माना जाता है शास्त्रकार की प्रतीति व्यावहारिकी नहीं होती है। जैसा कि कहा गया है "तत्र कतमत्स्वसंवृतिसत्यं यावत् लोकव्यवहारः" प्रमाणाप्रमाण विभाग भी संवृति के द्वारा

(४) सामान्यविचारः

साऽस्ति सर्वत्र चेद् बुद्धेर्नान्वयव्यतिरेकयोः ।

सामान्यलक्षणेऽदृष्टश्चक्षूरूपादिबुद्धिवत् ॥ ५ ॥

वह (अर्थक्रिया) सर्वत्र (स्वलक्षण और सामान्य-लक्षण—दोनों में) रहती है—ऐसा यदि कहा जाय तो उचित न होगा, क्योंकि सामान्यलक्षण में अर्थक्रिया नहीं रहती। अन्य कार्य का सामर्थ्य तो दूर बुद्धिरूप कार्य की शक्ति सामान्यलक्षण में भी नहीं, क्योंकि जैसा अन्वय-व्यतिरेक चक्षु और चक्षु-जन्य रूपादिविषयक बुद्धि का देखा जाता है. वैसा सामान्यलक्षण और तद्विषयक बुद्धि का अन्वय-व्यतिरेक नहीं देखा जाता॥ ५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणाप्रमाणविभागेऽपि संवृत्येव। तथा हि—"प्रमाणमविसंवादि" (२।१।।

अविसंवादश्चलोपदर्शितेऽर्थे प्राप्तिः। प्राप्तिरपि संवेद्यमानतैव। यद्यर्थः संविदितः स एव पश्चादिति किमर्थम्प्राप्त्यर्थी भवति। ततः सर्वा बुद्धिः प्रमाणं स्यात्। अथ पश्चादन्यगतिः प्रदर्शितोऽसौ न तेन तत्प्राप्त्या भवतु प्रमाणम्। एवं सर्वस्य भवेत् प्रमाणत्वम् :

अथोपदर्शितेऽपि किञ्चदनुपदर्शितमस्ति। ततस्तत्प्राप्त्या प्रमाणत्वम्। तदप्रसद्। अनुपदर्शिते प्रमाणाभावाद्। इति यत्किञ्चिदेतत्। तस्मान्न परमार्थतः किञ्चिदस्तीत्यस्तु यथा तथा संवृत्या एतावताऽपि प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थितिर्न काचिन्नः क्षतिः। अभिप्रेत एव भवत्पक्षोऽस्माकमिति न वस्तुतत्त्वमतिक्रम्य वर्तितुं शक्यम्।

(४) सामान्यचिन्ता—

ननु संवृत्या यद्यर्थक्रियासामान्येऽपि सम्भवत्यतोऽतिव्याप्तिलक्षणं दोष इति। आह—सास्ति सर्वत्र चेदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ही व्यवहृत होता है "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" (प्र० वा० १-१) प्रदर्शितार्थ की अप्राप्ति को अविसंवाद कहा जाता है। सवेद्यमानता ही प्राप्ति है। यदि अर्थ संविदित है वही ही पश्चाद् भी होगा, तब अर्थप्राप्ति की कामना क्यों, इस प्रकार सभी ज्ञान प्रमाण ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रदर्शन मात्र से अर्थ की प्रतीति भी सम्पन्न हो जाती है। फलतः समस्त प्रदर्शन प्रमाण हो जाता है। यदि कहा जाय उपदर्शित होने पर भी कुछ वस्तु अप्रदर्शित रहती हैं तब प्रदर्शित वस्तु की प्राप्ति को ही प्रमाणता का व्यवस्थापक माना जाता है, यह कहना भी संभव नहीं, क्योंकि अनुपदर्शित वस्तु में प्रमाण की उपलब्धि ही नहीं रहती, फलतः परमार्थतः किसी वस्तु की सत्ता नहीं होती। केवल संवृत्ति के आधार पर प्रमाणाप्रमाण की व्यवस्था मानी जाती है, यही उचिततम भी है।

(४) सामान्य प्रतीतिमात्र है परमार्थतः नहीं—

शंका—यदि ज्ञानरूप अर्थक्रिया की जनकता को ही अर्थक्रिया-कारिता माना जाता है, तब सामान्यलक्षण में भी उसकी अतिव्याप्ति है, क्योंकि वह (अर्थक्रिया-कारिता) तो सर्वत्र (स्वलक्षण और सामान्यलक्षण—इन दोनों में) मानी जाती है।

समाधान—जैसे चक्षु और रूपादि विषयक बुद्धि की जनकता चक्षु और रूपादि

वार्तिकालङ्कारः

यथा चक्षूरूपादिबुद्धीनामन्वयव्यतिरेकानुविधानमालम्बनाधिपतिप्रत्ययविषयम्। न तथा सामान्यबुद्धीनाम्। पूर्वदर्शनाभोगमात्रतः सामान्यबुद्धिसम्भवात्। नैवं रूपादिबुद्धयश्चक्षुराद्यान्तरकारणमात्रभाविन्यः। तथा हि—

प्राग्भावस्तत्त्वतो दृष्टो यदि नाम न वस्तुनः। तथापि व्यतिरेकस्य दर्शनादस्तितामतिः ॥१५६॥

यदि विषयनिरपेक्षश्चक्षुर्मात्रभावीभूतस्तम्भसम्भारप्रतिभासः यत्र यत्र चक्षुः प्रवर्त्तते तत्र तत्र भवेत्। तैमिरिककेशादिप्रतिभासवत्। न च भवति। तद्वियुक्तप्रदेशे ततः स्तम्भादेः प्राग्भाव इति। ततोऽन्वयव्यतिरेकसङ्गमात् घटादिबुद्धय उदीयमानाः घटादीनां सामर्थ्यमवगमयन्ति। नैवं सामान्यबुद्धयः। आन्तरकारणमात्रेण भावात्। यत्कार्यं यत्सामग्रीमात्रभावि तत् तद्व्यतिरिक्तभावसामर्थ्यमात्मनि बोधयति। श्रोत्रस्य चक्षुरादिमात्रभावि चक्षुश्चित्तम्।

ननु गोत्वबुद्धिर्नाश्वे भवति तत्कथन्न व्यतिरेक इति चेत्। न सदेतत्। तथा हि—

गोत्वस्याभावतो नाश्वे गोबुद्धिर्नोपजायते। न वासनाप्रबोधोऽसाविति तत्र न गोत्वधीः ॥१५७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दोनों में अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध है, वैसे स्वलक्षण और सामान्यलक्षण—इन दोनों में ज्ञान-जनकता अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध नहीं, अर्थात् केवल स्वलक्षणतत्त्व में ही ज्ञानरूप अर्थक्रिया की जनकता सिद्ध होती है, सामान्यलक्षण में नहीं, क्योंकि सामान्यलक्षण की बुद्धि में ('सामान्यलक्षणसत्त्वे तद्बुद्धिसत्त्वम्, तदभावे बुद्ध्यभावः' इस प्रकार का) अन्वय-व्यतिरेक नहीं माना जाता, अपितु पूर्व-पूर्व संस्कारों एवं आभोगों (काल्पनिक आकारों) से ही वैसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, उसके लिए विषयवस्तु की आवश्यकता नहीं, फलतः सामान्य (जातितत्त्व) की सिद्धि उसके ज्ञान से नहीं होती। यदि ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व विषयवस्तु का भाव (सत्त्व) दृष्टचर नहीं होता, तब भी व्यतिरेक-दर्शन के द्वारा विषय की अस्तिता सिद्ध हो जाती है ॥१५६॥

अर्थात् यदि विषय निरपेक्ष केवल चक्षु से स्तम्भादि का प्रतिभास होता है, जैसे—"यत्र यत्र चक्षुः प्रवर्तते, तत्र तत्र केश-पाशादि-प्रतिभासः"। तब विषय की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु विषय-वियुक्त प्रदेश में स्तम्भादि का ज्ञान नहीं होता, अतः स्तम्भादि की पूर्व सत्ता सिद्ध होती है, फलतः घटादि-ज्ञान अपनी उत्पत्ति में घटादिगत सामर्थ्य को सिद्धि करते हैं। किन्तु सामान्यविषयक ज्ञान सामान्यलक्षण में वैसे सामर्थ्य की सिद्धि नहीं कर सकते, क्योंकि अनादि संस्काररूप आन्तरिक कारणों से ही वह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए बाह्य विषय की सत्ता अपेक्षित नहीं, क्योंकि जो कार्य जिस सामग्री से उत्पन्न होता है, वह कार्य उस सामग्री में ही स्वोत्पत्ति का सामर्थ्य सिद्ध करता है।

शंका—अश्व में गोत्व का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ गोत्व का अभाव है, अतः 'गोत्वाभावे गोत्व-ज्ञानं नास्ति'—इस प्रकार का व्यतिरेक-निश्चय क्यों न होगा?

समाधान—अश्व व्यक्ति गोत्व के संस्कारों का उद्बोधक नहीं, अतः उसको देखकर 'अश्वोऽयं न गौः'—इस प्रकार वहाँ गोत्व-बुद्धि नहीं होती। उसका कारण गोत्वाभाव नहीं, अपितु गोत्वविषयक संस्कारों का अनुद्बोधन है। गो व्यक्ति के बिना गो व्यक्तियों में रहनेवाली समानकालात्मक गोत्व जाति प्रतीत ही नहीं होती कि वह है या नहीं—

वार्तिकालङ्कारः

गोत्ववासनाप्रबोधकारी असावश्वो नेति न तत्र गोत्वबुद्धिः। तत्रैव गौरिति संकेतप्रतिपत्तेः। न गोत्वाभावाद् अपि तु तादृशसंस्कारस्यासत्त्वात् न च व्यक्तिव्यतिरेकेण समानाकारता तत्र प्रतीयते येन सास्ति नेति वा व्यवस्थाप्येत। तस्मात् प्रत्ययमात्रमेवाविचारितरमणीयं सामान्यन्न परमार्थतः।

ननु यदि न परमार्थं कथङ्गोत्वाश्वत्वयोः परस्परव्यावृत्तिः। कल्पनानामेव परस्परव्यावृत्तित्वं व्यक्तीनां वा। यदि व्यक्त्यभावेऽपि समयाभोगमात्रतः सर्वत्र सामान्यबुद्धिर्न स्यात् तदा व्यतिरेकतो न सामान्यमसमर्थं भवेद् व्यापि सामान्यन्तेन सर्वत्र सामान्यबुद्धिरिति चेत्।

तैमिरिकोपलब्धानामपि केशादीनान्तथात्वे प्रसङ्गः। अन्यैरदर्शनान्नेति चेत्। सामान्यमपि तदाभोगादिरहितैर्नैव प्रतीयते। तत्रापि दोषः। तद्भाव उपलभ्यत एवेति न च युक्तम्। केशादयोऽपि तिमिरे सति किन्नोपलभ्यन्ते परैः। तिमिरस्योपघातादतत्त्वोपलम्भकत्वमिति चेत्। किमिदमतत्त्वन्नाम। उपहतेन्द्रियोपलभ्यत्वम्। किमुपहतत्वम्। अतत्त्वोपलम्भकत्वम्। सोऽयमितरेतराश्रयदोषः।

अपि च। सामान्यमपि विपरीतसंस्कारप्रबोधत एवोपघातादन्तःकारणस्योपलब्धिमदिति समानमेतत्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ऐसी व्यवस्था की जाती। फलतः अविचारित-रमणीय गोत्वादि जाति प्रतीतिमात्र है, परमार्थतः नहीं।

शंका—गोत्वादि जाति यदि परमार्थतः नहीं, तब गोत्व और अश्वत्वादि जातियों का परस्पर भेद क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान—उक्त भेद भी जातियों का नहीं, अपितु कल्पनाओं का है या व्यक्तियों का। यदि व्यक्तियों के न होने पर भी संकेत या संस्कारों के द्वारा सामान्य-विषयक ज्ञान नहीं होता, तब सामान्यलक्षण में व्यतिरेक के द्वारा अर्थक्रियाकारित्वरूप सामर्थ्य का अभाव भी सिद्ध न होगा। इस आपत्ति का परिहार करने के लिए यदि प्रतीतिमात्र के आधार पर सामान्य को व्यापक और वस्तुसत् माना जाता है, तब तैमिरिक व्यक्ति के द्वारा प्रतीयमान केश-पाशादि की भी परमार्थसत्ता प्रसक्त होगी। तैमिरिक से भिन्न स्वस्थ नेत्र वाले व्यक्ति को प्रतीत न होने के कारण यदि केशादि की सत्ता प्रसक्त नहीं होती, तब सामान्य भी संस्कार और कल्पित आभोग से रहित व्यक्ति को प्रतीत न होने के कारण सत् क्यों माना जायगा ? सामान्य की सत्ता तो उपलब्ध होती है—ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि उसी प्रकार तैमिरिक के द्वारा क्या केशादि की उपलब्धि नहीं होती ? तिमिर दोष से उपहत होने के कारण नेत्र में केशोण्डुकादि अतत्त्वार्थ की उपलम्भकता आ जाती है—ऐसा मानने पर जिज्ञासा होती है कि यह अतत्त्व क्या है ? यदि उपहत-इन्द्रियोपलभ्यत्व को अतत्त्व माना जाता है, तब उपहतत्व के विषय का प्रश्न उठता है कि उपहतत्व क्या है ? अतत्त्वोपलम्भकत्व को अतत्त्व मानने पर अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है।

दूसरी बात यह भी है कि केशोण्डुक के समान ही सामान्यरूप अतत्त्व की उपलम्भकता विपरीत संस्काररूप दोष से उपहत अन्तःकरण में बन जाती है। "सामान्याभावे ज्ञानाभावः" इस प्रकार का व्यतिरेकी सामान्य में ज्ञानरूप कार्य की

ऐतेन समयाभोगाद्यन्तरङ्गानुरोधतः ।
घटोत्क्षेपणसामान्यसंख्यादिषु धियो गताः ॥ ६ ॥

जैसे सामान्यलक्षण का भान विकल्प बुद्धि के द्वारा होता है और विकल्प बुद्धि अपने विषय से जनित न होकर समय (संकेत) और आभोग (संस्कारों) से समुद्भूत होती है, वैसे ही घटादि द्रव्य (अवयवी), उत्क्षेपणादिकर्म, सामान्य (जाति), संख्या, गुण, समवायादि को विषय करने वाली बुद्धियाँ समय और आभोगादि अन्तरङ्ग साधनों के आधार पर ही उत्पन्न होती हैं ॥ ६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सामान्यव्यतिरेकित्वं यदि व्यापकभावतः । तैमिरज्ञानगम्यानामपि व्यापकता भवेत् ॥१५८॥
उपघातेन्द्रियग्राह्या न सत्या मशका यदि । असत्यत्वाप्रसिद्धत्वे नोपघातः प्रसिध्यति ॥१५९॥
अर्थक्रियाऽप्रसिद्धेश्चेदसत्यत्वादुपाहतिः । समानमेतत् सामान्ये तद्ग्राहिण्यप्युपाहतिः ॥१६०॥

तस्मान्न सामान्यमर्थक्रियासमर्थं ज्ञानमात्रेऽप्यसामर्थ्यात् । यतो हि—एतेन समयाभोगादीति ।

रूपरसगन्धस्पर्शानामधिष्ठानङ्घटोऽवयवि द्रव्यम् । उत्क्षेपणङ्क्रिया । संख्या गुणः । इह बुद्धिः समवायविषया । तद्ग्राह्यः समवायः । तेषु या बुद्धयस्ता अपि समयाभोगाद्यान्तरकारणमात्राधीना न विषयान्वयव्यतिरेकावनुविदधति । तथा हि—

रूपादिव्यतिरेकेण द्रव्यन्नाम न दृश्यते । नान्वयव्यतिरेकित्वङ्घटबुद्धेर्घटात्मनि ॥१६१॥

रूपादय एव चक्षुरादिबुद्धिभिरुपलभ्यन्ते । ततस्तावन्मात्रोपलम्भात् प्रबोधितानादिवासनालक्षणान्तरकारणादेवायङ्घट इत्येकाभिनिवेशिनी मतिरुपजायमाना जने-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यापकता सिद्ध करता है, तब ऐन्द्रिक ज्ञान के विषयीभूत केशपाशादि में भी ज्ञान की व्यापकता या कारणकता माननी होगी ॥१५८॥ उपहत (दूषित) चक्षुरादि के द्वारा यदि मसकादि सत् पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, अतः असत्य या सांवृतिक पदार्थों के प्रसिद्ध न होने पर इन्द्रियों में उपघात की परिभाषा न बन सकेगी ॥१५९॥ यदि अर्थक्रिया की अप्रसिद्धि होने के कारण इन्द्रिय में उपघात माना जाता है तब सामान्य के ग्राहक दूषित अन्तःकरण में भी विपरीत संस्कारादि के द्वारा उपघात सम्पन्न हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि सामान्यलक्षण तत्त्व अपने ज्ञानरूप कार्य के उपपादन का सामर्थ्य नहीं रखता, अतः वह असत् और प्रतीतिमात्र है।

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श का अधिष्ठान घट नामक अवयवी द्रव्य है उसी में ही उत्क्षेपण आदि कर्म देखे जाते हैं, संख्यादिगुण एवं 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर समवाय सम्बन्ध और गुणादि सिद्धि जो द्रव्य की सत्ता प्रतीत होती है, वह भी प्रतीति मात्र है गुणादि से भिन्न द्रव्य की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है, अतः रूपादि गुणों से भिन्न द्रव्य नाम की वस्तु कोई सिद्ध नहीं होती। "घटसत्त्वे घटबुद्धिसत्त्वं तदभावे तदभावः" इस प्रकार का अनुमान भी सिद्ध नहीं होता। द्रव्यादि का ज्ञान भी केवल संस्कारों से ही उत्पन्न होता है, द्रव्य पदार्थ से नहीं। द्रव्यपदार्थ भी जात्यादि के समान प्रतीतिमात्र है, वस्तुसत्य नहीं ॥१६१॥ रूपादि पदार्थ ही चक्षुरादिजन्य बुद्धि के विषय होते हैं। उन्हीं में द्रव्यादि का भान अनादि संस्कारों से उत्पन्न होता है। उद्बोधित अनादि संस्कारों के द्वारा 'एकोऽयं घटः' इत्यादि ज्ञान

वार्तिकालङ्कारः

नानुभूयते नापरः परतो निरूप्यमाणो घटादिद्रव्यस्वभावोऽस्ति।

ननु दर्शनेन परिच्छिद्यतेऽवयवी स्पर्शनेन च। द्विविधन्द्रव्यं दार्शनं स्पार्शनञ्च। तदप्ययुक्तम्। यतः—

रूपभेदेन तद् द्रव्यन्तद्विपर्ययतोऽथवा। गृह्यतेऽभेदसंवित्तौ रूपमेव न रूपवद् ॥१६२॥

भेदेन वित्तौ द्वयाकारबुद्धिसंवेदनम्भवेत्। न चक्षुर्मनोभात्राद् द्वयस्यास्त्यवभासनम् ॥१६३॥

अथ घट इति बुद्धिर्न रूपमिति तत्कथन्न भेदवेदनम्। तथा हि—

रक्तो घटः पटो वेति मतिरव्यभिचारिणी। न च संवेदनादन्यत् पदार्थस्थितिकारणम् ॥१६४॥

रूपमात्रसंवेदने हि तत्कुत इत्येव भवेन्न घट इति। तदप्यसत्।

रक्तारक्तपदार्थस्य घटादिव्यपदेश्यता। घटाघटपदार्थस्य रक्तशब्दाभिधेयता ॥१६५॥

ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्याम्भेदस्य परिकल्पने। व्यपदेशोऽर्थभेदेन न तु वस्तु तथा स्थितम् ॥१६६॥

इत्यन्यत्र विचारितमेतत्।

अथ यद्यवयवी नास्ति रूपादयश्च केवलाः। कथं यत्रैव रूपन्तत्रैव स्पर्श इति मतिः। तदपि यत्किञ्चिदेव।

एकसामग्र्यधीनत्वाद् समुदायप्रकल्पने। एककार्यत्वयोगे च यत्र तत्रेति कल्पना ॥१६७॥

यत्र सेनायां हस्त्यादयस्तत्र पुरुषा इति किन्न भवति व्यपदेशः। तथा यत्र वने

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो जाता है, उसके आधार पर घटादि द्रव्य की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती।

शंका—दर्शन के द्वारा गृहीत अवयवी द्रव्य की प्रत्यभिज्ञा स्पार्शन ज्ञान के द्वारा होती है, अतः दार्शन और स्पार्शन के भेद से द्रव्य की दो विधायें सिद्ध होती हैं।

समाधान—उक्त कथन नितान्त अयुक्त है क्योंकि द्रव्य की प्रतीति मात्र होती है किन्तु रूपादि से भिन्न कोई द्रव्यतत्त्व पृथक् सिद्ध नहीं होता, अतः रूपादि से भिन्न रूपवान् द्रव्य प्रमाणित नहीं होता ॥ १६२ ॥ ज्ञान में दो आकार प्रतीत होते हैं, उनमें केवल गुणाकार वस्तुसत् और द्रव्याकार अवस्तुसत् हैं ॥ १६३ ॥

शंका—'घट' इति बुद्धिर्न रूपम्—इस प्रकार द्रव्य और रूप का भेद स्पष्ट अवभासित होता है, तब द्रव्य और गुण में भेद क्यों नहीं माना जाता? अर्थात् 'रक्तो घटः', 'रक्तः पटः'—इस प्रकार की अव्यभिचारिणी बुद्धि यदि ज्ञान से भिन्न विषयवस्तु की स्थिति का कारण नहीं ॥१६४॥ तब रूपमात्र के संवेदन से घटादि द्रव्य व्यवस्थित क्यों नहीं होता?

समाधान—'रक्तो घटः', 'अरक्तो घटः'—इस प्रकार गुणादि में घटादि शब्दों की अभिधेयता प्रतीत होती है ॥ १६५ ॥ तब भी अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भेद की कल्पना करने पर केवल भेद-व्यवहार किया जा सकता है किन्तु वैसी वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती ॥ १६६ ॥ इस विषय का विशेष विचार अन्यत्र किया गया है।

शंका—यदि अवयवी द्रव्य की सत्ता गुणादि से भिन्न नहीं मानी जाती, तब "यत्रैव रूपं तत्रैव स्पर्शः"—ऐसी प्रतीति क्योंकर होगी? गुण या गुण-समूह को गुणादि का आधार नहीं माना जा सकता, अतः गुण-समूह से भिन्न द्रव्यतत्त्व को मानना चाहिए जिसमें उक्त प्रतीति का सामञ्जस्य हो सके।

समाधान—एककार्य-कारी अनेक पदार्थों में एकत्व और समुदायी पदार्थों की आधारता का व्यवहार यत्र-तत्र देखा जाता है ॥ १६७ ॥ जैसे 'यत्र सेनायां हस्त्यादयः,

वार्तिकालङ्कारः

पलाशादयस्तत्र खदिरादय इति च। न च पुरुषादिव्यतिरिक्ता सेना नापि च धवादिव्यतिरिक्तं वनमिति। तस्मादेकसामग्र्यधीनतयैककार्यत्वेन च परस्परमवियोगताभाजो जनैरेवं व्यपदिश्यन्ते। एवन्तर्हि परस्परमव्यतिरिच्यमानशरीरा रूपादय एवावयवी। न हि स्तम्भकुम्भवृक्षादिवत् परस्परं रूपादीनां व्यतिरेक इति।

न च वनादिवद् व्यपदेशमात्रमवयवी। तस्यावयवा अन्वयव्यतिरेकतः कल्पनया तथा व्यवस्थाप्यन्ते। तथा हि—यदेव पश्यामि तदेव स्पृशामीत्यादि अभिन्नदेशता प्रतीयते। न रूपदेशपरिहारेण स्पृश्यता अस्वाद्यता वा प्रतीतिमती। तदप्यसत्।

यद्यभिन्नम्भवेद् रूपं रूपादीनाम्परस्परम्। रूपादिभेदोऽस्तु कुतस्तदेवान्यत् कथम्भवेत् ॥१६८॥

न हि तदेवान्यद् भवति प्रतिभासभेदप्रसङ्गात्। अथैकमेव तद् भिन्नेन्द्रियग्रहणाद् भेदवत्प्रतीतिः। चक्षुरिन्द्रियेण प्रतीतौ रूपता स्पर्शनेन स्पृश्यता रसनेन च रसता। तदसत्।

किमेकमेव तद्वस्तु भिन्नग्रहणतोऽन्यथा। भिन्नमेवार्थभेदेन प्रतीतिपथसंस्थितम् ॥१६९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तत्रैव पुरुषाः' एवं 'यत्र वने पलाशादयस्तत्र खदिरादयः'—इत्यादि स्थलों पर 'सेना, वन' आदि एक इकाई नहीं, अपितु युद्ध-साधनों का समूह सेना तथा वृक्षों का समूह वन है। तथापि सेना में हस्त्यादि की आधारता प्रतीत होती है, वैसे ही गुणादि के समूह में गुणाधारता क्यों न प्रतीत होगी ? फलतः अवयवी द्रव्य पृथक् मानने की क्या आवश्यकता ? स्तम्भ और कुम्भ आदि के समान गुणादि व्यतिरिक्त नहीं, अतः गुणों के समूह में अवयवित्व और द्रव्यत्व की कल्पना हो जाती है।

शंका—सेना और वनादि के समान अवयवी नाममात्र का कल्पित पदार्थ नहीं, अपितु पटादि अवयवी द्रव्य के तन्त्वादि अवयव अन्वय-व्यतिरेक-सिद्ध परमार्थतः व्यवस्थित हैं। उस द्रव्य की एकता प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से प्रमाणित है—"यदेव पश्यामि, तदेव स्पृशामि" [न्यायसूत्रकार ने आत्मा की एकता में यही कहा है— 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" (न्या. सू. ३।१।१)। अवयवी की अर्थान्तरता-सिद्धि में कहा है—"धारणाकर्षणोपपत्तेश्च" (न्या. सू. १।२।३६)। सेनादि के समान समुदायवाद की आलोचना में कहा है—"सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्" (न्या. सू. १।२ ३७)]। रूपादि के आश्रयीभूत द्रव्य को छोड़ कर अन्यत्र स्पृश्यता, आस्वाद्यता, और दृश्यता की प्रतीति नहीं हो सकती। फलतः अवयव से भिन्न अवयवी तथा अवयवी से भिन्न अवयवों को मानना होगा।

समाधान—रूप-रसादि का समुदाय यदि अभिन्न है तब रूपादि का परस्पर भेद क्योंकर सिद्ध होगा। वही अभिन्न वस्तु भिन्न कैसे होगी ? ॥१६८॥ यदि कहा जाय कि धर्मी वस्तु एक है अभिन्न है किन्तु वही भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से गृहीत होने के कारण अनेक या भिन्न प्रतीत हो जाती है अर्थात् चक्षुः इन्द्रिय के द्वारा प्रतीत होने से रूपात्मकता, स्पर्शन इन्द्रिय से ग्राह्य होने से स्पर्शात्मकता और रसना के द्वारा गृहीत होने से रसरूपता अवभासित होती है। तो वैसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि—

क्या वह वस्तु वस्तुतः एक है किन्तु भिन्न-भिन्न ग्राहकों के द्वारा गृहीत होने के कारण अन्यथा (अनेक या भिन्न) प्रतीत होती है, अथवा वस्तुतः भिन्न ही है, अतः भिन्न प्रतीत होती है ? ऐसा संशय अवश्य होगा ॥ १६९ ॥ उस वस्तु के एक होने

वार्तिकालङ्कारः

न तावदेकमेवेति प्रमाणम्। न ह्येकमेव ग्रहणभेदाद् भेदवत् प्रतीयते भ्रान्तताप्रसङ्गात्। अथान्यथा ग्रहणस्यासम्भवादगत्यैतदेवाभ्रान्तमुच्यते।

अर्थोऽयमेवमेवेति कस्मान्न परिकल्प्यते। अभेदस्य प्रतीतिस्तु नास्तीत्यपरिकल्पना ॥१७०॥

अथापि स्याद्। यदि भेदः कथमेकदेशताऽवियोगश्च। तदपि सुगमं यतः—

देशो देशवतो नान्यस्तद्भेदानवभासनात्। देशवत्प्रतिभासस्तु भिन्न एवेत्यभित् कुतः ॥१७१॥

न देशो नामापरो रूपादिभ्यः। सोऽपि च तेभ्यो भिन्नो भेदप्रतिभासादेव न देशभेदादनवस्थाप्रसङ्गादप्रतीतिरेव भवति। स्वरूपेण भेदे रूपादीनामपि भेद एव। न च स्वरूपप्रतिभासमानरूपादपरम्। प्रतिभासस्य च भेद एव। न हि रूपप्रतिभासनमेव रसप्रतिभासनम्। इन्द्रियान्तरवैकल्यप्रसङ्गात्। अभेदप्रसङ्गाच्च। इन्द्रियभेदाद्भेद इति चेत्। तदसत्। न हीन्द्रियभेदेऽप्यभिन्नम्भिन्नम्प्रतिभाति। तथा चेत्परोक्षते वा भिन्नस्य स्यात्।

इति रूपादिमात्रमेवावयवीति प्रसक्तम्। यदि चेन्द्रियसामर्थ्यादन्यथार्थोऽन्यथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में कोई प्रमाण नहीं। यदि एक में ग्रहण-भेद से अनेकता की प्रतीति होती है, तब वह भ्रमात्मक ही होगी।

यदि कहा जाय कि अन्यथा-ग्रहण (अभिन्न अवयवी में भेद-ग्रहण) सम्भव नहीं अतः वह अभेद-ग्रहण अभ्रान्त (प्रमात्मक) है। तब यह गुणसमुदाय अनेकात्मक है—ऐसी कल्पना क्यों नहीं कर ली जाती। अभेद की परिकल्पना इसलिए नहीं कर सकते, कि वैसी प्रतीति ही नहीं होती ॥ १७० ॥

शंका—यदि पटादि अवयवी और तन्त्वादि अवयवों का भेद है, तब तन्तु में पट की एकदेशता और पटादि से तन्तुओं का अवियोग कैसे ?

समाधान—देश (अवयव) देशवान् (अवयवी) से भिन्न नहीं, क्योंकि भेद का अवभास ही नहीं होता। देशवत्ता (हस्तादिवत्ता) का अवभास भिन्न शरीर में ही होता है, अभेद में कैसे होगा ?॥ १७१ ॥ घटादि के रूपादि गुणों को घट का देश या अवयव माना जा सकता है, वह (घटादि) भी रूपादि से भिन्न है, क्योंकि 'रूपादिर्न घटः'—ऐसी भेद-प्रतीति होती है। घट से उसके अवयव यदि भिन्न हैं, तब अवयवों से भी उनके अवयव भिन्न होंगे, अतः अनवस्था क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अवयव के अवयवों की प्रतीति ही नहीं होती। घटादि का स्वरूपेण भेद मानने पर रूपादि का भी उनसे भेद प्रसक्त होगा, क्योंकि प्रतिभासमान रूप से भिन्न घटादि का स्वरूप नहीं होता। प्रतिभास का तो भेद है ही, क्योंकि रूप का प्रतिभास ही रसादि का प्रतिभास है—ऐसा नहीं कह सकते, अन्यथा रूप-भासक चक्षु से ही रस का प्रतिभास हो जाता, रसनादि इन्द्रियाँ व्यर्थ ही हो जातीं। इतना ही नहीं, रूपरसादि का अभेद भी हो जाता। इन्द्रिय-भेद से रूप-रसादि का भेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि यज्ञदत्त-देवदत्तादि की चक्षु-इन्द्रियों का भेद होने पर भी घटादि का नीलरूप अनील नहीं हो जाता, अन्यथा घट परोक्ष हो जाता। इस प्रकार रूपादि का समुदायमात्र अवयवी सिद्ध होता है। यदि इन्द्रिय के सामर्थ्य से अर्थ की अन्यथा प्रतीति होती है, तब उसे भ्रान्ति ही मानना होगा, क्योंकि कामल (पीलिया) रोग के रोगी व्यक्ति की 'पीतः शङ्खः' आदि प्रतीति को प्रमा नहीं माना जाता। संवाद के

वार्तिकालङ्कारः

प्रतीतिः भ्रान्तिरेव भवेत्कामलिनः शंखे पीतप्रतिभासवत्। अथापि स्यात्। संवादादभ्रान्तता। तदप्युक्तम्। संवादेऽपि प्रतिभास एव। सोऽपीन्द्रियभेदादेव तथाप्रतिभासप्रकारः। ततोऽसावपि भ्रान्त एवेति कथमसिद्धमसिद्धेन साध्यते। संवादस्यान्यस्य च प्रतिभासस्येन्द्रियकृतत्वान्नार्थान्वयव्यतिरेकानुबन्धिनी प्रतीतिरिति नार्थोऽत्र नामास्तीति साध्ववयविसाधनम्। न ह्यवयविसाधनमर्थाभावसाधने तस्यार्थविशेषत्वेनाभिप्रेतत्वात्। तस्मान्नेन्द्रियव्यापारादेकमनेकतया प्रतिभाति। अपि त्वनेकमेव रूपादि। तत्र एकप्रत्यय आन्तरकारणाधीन एव। उत्क्षेपणप्रत्ययेऽपि चापरापरदेशोत्पत्तयो हस्तादिक्षणा उत्क्षेपणमिति तत्समुदाय एव कल्पनारूपं कारणादान्तरादेव न विषयबलायातः। एवन्तर्हि पूर्वापरक्षणव्यङ्ग्यक्रियात्वमुत्क्षेपणप्रत्ययविषयः। न। व्यक्तिव्यङ्ग्यात् सामान्यस्य। क्रियात्वञ्च सामान्यङ्क्रियाव्यक्त्याभिव्यज्यते नार्थक्षणव्यक्त्या। न च हस्तादिक्षणव्यक्त्याश्रिताऽपरा क्रिया व्यक्तिरन्यथा चोपलभ्यते। न चान्यव्यक्तिव्यङ्ग्यता सामान्यस्य। अथ हस्तादिक्षणव्यङ्ग्या क्रियार्थजातिः।

तदप्यसत्। एकैकक्षणव्यङ्ग्यत्वाभावात्। न ह्येकक्षणव्यङ्ग्या उत्क्षेपणादयः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आधार पर उक्त प्रतीति को अभ्रान्त माना जाना उचित नहीं, क्योंकि संवाद भी तो एक प्रतिभास ही है। वह इन्द्रिय-भेद के द्वारा उपजात प्रतिभास का एक प्रकारमात्र है, फलतः वह संवाद भी भ्रमरूप ही है। जिस प्रतीति में प्रमात्व सिद्ध ही नहीं, उसके द्वारा भ्रमज्ञान में असिद्ध प्रमात्व कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? इसी प्रकार अन्यान्य संवाद ज्ञान भी इन्द्रिय-भेद-प्रयुक्त प्रतिभासमात्र हैं, वे अपनी-अपनी विषयवस्तु के अन्वय-व्यतिरेक से आबद्ध प्रमात्मक नहीं, अतः उनसे अर्थ (विषय) सिद्ध नहीं हो सकता, तब अवयवी द्रव्य की सिद्धि कैसे होगी ? क्योंकि अवयवी भी तो एक बाह्य अर्थ है और अर्थ कोई सिद्ध नहीं होता। फलतः एक पदार्थ भिन्न इन्द्रिय-ग्राह्यमात्र हो जाने से अनेक प्रतीत नहीं हो सकता, अपितु घटादिरूप प्रतिभासित होनेवाले रूपादि अनेक गुण ही अनेकत्वेन प्रतीत होते हैं, अतः 'एकोऽयं घटः'—ऐसी प्रतीति आन्तरिक संस्कारों के अधीन ही होती है।

जैसे द्रव्य पदार्थ रूपादि का समुदाय है, वैसे उत्क्षेपणादि क्रिया भी अपरापर देशोत्पन्न उत्क्षेपण क्षणों की सन्ततिमात्र हैं। कर्म-प्रतीति भी विषयाधीन नहीं, अपितु आन्तरिक अनादि भावना पर समुद्भूत एक कल्पनामात्र है। तब क्या पूर्वापर-क्षण-व्यङ्ग्य क्रियात्व ही उत्क्षेपणादि प्रतीतियों का विषय है ? इस प्रश्न का उत्तर है—नहीं, क्योंकि क्रियात्व एक जाति है और जाति सदैव अपनी आश्रयीभूत व्यक्तियों से ही अभिव्यङ्ग्य होती है। क्रियात्व भी एक जाति है, जो अपनी आश्रयीभूत क्रिया व्यक्ति के द्वारा ही व्यञ्जित होती है, अर्थक्षणों के द्वारा नहीं। हस्तादि-क्षण व्यक्ति के आश्रित अन्य क्रिया-व्यक्ति ही अन्यथा (क्रियात्वरूपेण) उपलब्ध होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य व्यक्ति के द्वारा अन्याश्रित सामान्य की अभिव्यक्ति नहीं होती।

हस्तादि-क्षण के द्वारा क्रियार्थगत जाति की अभिव्यक्ति नहीं मान सकते, क्योंकि क्षणक्षयी पदार्थों का समुदाय सम्भव नहीं और एकैकक्षण-व्यङ्ग्यत्व मानने पर प्रथम क्षण में ही उत्क्षेपण कार्य की प्रतीति प्रसक्त होती है।

केशादयो न सामान्यमनर्थाभिनिवेशतः ।
ज्ञेयत्वेन ग्रहाद् दोषो नाभावेषु प्रसज्यते ॥ ७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रथमक्षण एव प्रतीतिप्रसङ्गात् । अथायुगपत्कालैरेवाभिव्यज्यते क्रियाजातिः । न हि वैयाकरणैरवश्यम्परसिद्धान्तोऽनुगम्यते । एषैवास्माकन्दर्शनस्थितिः ।

तदसत् । प्रत्येकमनभिव्यक्ता यदि जातिसमुदाये न तर्ह्यभिव्यज्यते । प्रकाशान्तरासम्भवात् । अभ्यासादेकेनाप्यभिव्यज्यत इति चेत् । अभ्यास एव तर्हि कारणमान्तरमिति न विषयबलायातन्तज्ज्ञानम् । एवं संयोगविभागप्रत्यया अपि वाच्याः । तथा चोक्तम्—

संख्यासंयोगकर्मादेरपि तद्वत् स्वरूपतः । अभिलापाच्च भेदेन रूपम्बुद्धौ न भासते ।।१७२।।

नन्वर्थक्रियायामसमर्थमिति सामान्यलक्षणन्ततः केशादयोऽप्यर्थक्रियायामसमर्थत्वात् सामान्यं प्रसक्ताः । तदप्यसत् । यतः—केशादयो न सामान्यमिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—अयुगपदभावी अनेक क्षणों के द्वारा क्रियात्व जाति की अभिव्यक्ति वैसे ही मानी जा सकती है, जैसे वैयाकरण-गण अयुगपदभावी वर्णों को स्फोट का व्यञ्जक मानते हैं।

समाधान—जैसे वैयाकरण परकीय सिद्धान्त नहीं मानते, वैसे हम (बौद्धगण) भी पर-सिद्धान्त को नहीं मानते। रूपादि-समुदाय ही द्रव्यत्वादि व्यञ्जक मानना हमारा दार्शनिक सिद्धान्त है। प्रत्येक समुदायी व्यञ्जक नहीं होता।

शंका—प्रत्येक अवयव यदि जाति का व्यञ्जक नहीं, तब समुदाय में व्यञ्जकता कहाँ से आयेगी ? अभ्यास हो जाने पर किसी व्यक्ति के पैर या हाथ मात्र को देख कर व्यक्ति का बोध हो जाता है, वैसे ही समुदाय की प्रत्येक इकाई में जाति की व्यञ्जकता क्यों नहीं हो सकती ?

समाधान—यह कहा जा चुका है कि समुदाय यद्यपि अनेकात्मक है, तथापि किसी संस्कारादि आन्तरिक कारण के द्वारा एकात्मकता प्रतीत हो जाती है, अतः यह अभ्यास पदार्थ ही वह आन्तरिक कारण बन गया, जिससे एक अवयवित्व का प्रतिभास हो जाता है, फलतः "एकमिदं द्रव्यम्" ऐसी प्रतीति के आधार पर अवयवी की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि यह प्रतीति विषयवस्तु के अन्वय-व्यतिरेक से न होकर अन्यथा ही हो जाती है। इसी प्रकार संयोग-विभागादि प्रतीतियाँ भी विषयवस्तु के विना ही उपपन्न हो जाती हैं, जैसा कि कहा गया है ''संख्यासंयोगकर्मादेरपि तद्वत् स्वरूपतः । अभिलापाच्च भेदेन रूपं बुद्धौ न भासते' ।। १७२ ।।

अर्थात् द्रव्य के समान ही संख्या, संयोग और कर्मादि का स्वरूप भी पृथक् सिद्ध नहीं होता, केवल शब्द का विषय है, विकल्प वृत्ति के समान। विषयवस्तु कोई सिद्ध नहीं होती।

शंका—सामान्य (जाति) का लक्षण किया गया है—"अर्थक्रियायामसमर्थम् ।" तैमिरिक व्यक्ति के द्वारा दृश्यमान केश-पाशादि भी अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होते, अतः उनमें भी उक्त लक्षण अतिव्याप्त होता है।

समाधान—उक्त केश-पाशादि को सामान्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वल-

यद्यपि वह्नित्वादि सामान्य के समान ही तैमिरिक को विषय-निरपेक्ष केश-पाशादि भी प्रतीत होते हैं, तथापि उन्हें सामान्यलक्षण नहीं कह सकते, क्योंकि व्यावहारिक पुरुषों की दृष्टि में केश-पाशादि कोई पदार्थ नहीं माने जाते। घटाभावादि पदार्थज्ञेयत्वेन प्रसिद्ध हैं, अतः उन्हें सामान्य मान लेने में कोई दोष नहीं ॥ ७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अर्थ एव हि सामान्यरूपतया स्वलक्षणात्मा प्रतीयमानः सामान्यम् । यद्यसौ स्वलक्षणमर्थक्रियाकारित्वात् कथं सामान्यमनर्थक्रियाकारित्वे च कथमर्थः । अर्थक्रियाकारित्वेनार्थत्वात् । न च द्वयमेकत्रार्थक्रियाकारित्वमितरच्च । नैतद् दुर्घटम् । यतो हि—

साक्षादर्थक्रियासक्तम्पारम्पर्येण शक्तितः । सामान्यञ्च तदर्थश्च शक्तञ्चाशक्तमेव च ॥१७३॥

सामान्यमर्थाध्यवसायेनार्थः । परमार्थतोऽनर्थ एव । उपचरितपर्थत्वमस्य परम्परयार्थकार्यत्वात् (अन्यार्थत्वात्) कथन्तर्हि शब्दस्य विषयः सामान्यम् । न हि नद्यास्तीरे शर्कराशकटमित्यर्थक्रियापारम्पर्येणापि ।

नैतदस्ति । माभूत् तत्सामान्यं का नः क्षतिः सुतरामेव शोभनं शब्दस्याप्रामाण्यसाधनात् । तथा हि—सामान्यमस्माभिः प्रमाणविषय इष्यते । यदि चायमपि प्रमाणविषयः शब्दः प्रमाणम्भवेत् । कथन्तर्हि शब्दस्य विषयः सामान्यमुक्तम् । न शब्दस्य विषयः सामान्यमेव । किन्तर्हि शब्दस्य सामान्यं विषयः न विषयः । शब्दविषयत्वेन चानुगताकारता लभ्यते । तथाऽविषय स्वलक्षण मति न केशादयः स्वलक्षणं कस्यचिदविषयस्य शब्दानां स्वलक्षणत्वात् । अत्रापि नाविषयः स्वलक्षणमेव । किन्तर्हि, अविषय एव स्वलक्षणन्न विषयः । केशादिविषयञ्चाप्रमाणमेव विज्ञानम् तथा हि—"प्रमाणमविसं-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्षणरूप पदार्थ ही सामान्यरूपेण प्रतीयमान सामान्य कहलाता है। यदि स्वलक्षण है, तब अर्थक्रियाकारी है, तब सामान्य नहीं। यदि सामान्य है, तब अर्थक्रियाकारी नहीं। दो विरुद्ध धर्म एकत्र कैसे रह सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो पदार्थ साक्षात् अर्थक्रियाकारी न होकर परम्परया अर्थक्रियाकारित्व-शक्ति से समन्वित हो, उसमें अर्थक्रियाकारिता तथा उसका अभाव दोनों ही धर्म माने जाते हैं ॥ १७३ ॥ अर्थात् सामान्य पदार्थ अर्थाध्यवसाय के रूप में अर्थ तथा परमार्थतः अनर्थ माना जाता है। परम्परया उसमें अर्थक्रियाकारित्व होने के कारण अर्थत्व का उपचार मात्र होता है।

प्रश्न—तब 'सामान्य' शब्द का वह विषय क्योंकर होगा ? क्योंकि "नद्यास्तीरे शर्कराशकटम्"—ऐसे शब्द का विषय परम्परया भी अर्थक्रियाकारी नहीं होता।

उत्तर—यदि उसे सामान्य नहीं माना जाता, तब न सही, उससे हमारी क्या क्षति ? तब तो आपने शब्द की अप्रामाण्यता अच्छी सिद्ध कर दी ? आशय यह है कि सामान्य को हम प्रमाण (अनुमान) का विषय मानते हैं यदि सामान्य भी प्रमाण का विषय है, तब शब्द भी प्रमाण होगा। तब सामान्य को शब्द का विषय क्यों कहा गया ? शब्द का विषय सामान्य ही है, अपितु शब्द का सामान्य विषय ही है, अविषय नहीं। शब्दविषयत्वेन अनुगताकारता का लाभ हो जाता है। स्वलक्षण शब्द का विषय नहीं, अतः केश-पाशादि स्वलक्षण नहीं, क्योंकि स्वलक्षण तत्त्व निर्विकल्प होने से किसी शब्द का विषय नहीं होता। यहाँ पर भी अवधारण का आकार यह है कि 'नाविषयः स्वलक्षणमेव, अपितु अविषय एव स्वलक्षणं न विषयः'। केश-पाशादिविषयक विज्ञान

वार्तिकालङ्कारः

वादि ज्ञानम् (प्र० वा० १।१) इति सामान्यलक्षणे कृते विषयभेदेन तद्भेव उपपाद्यते।

भेदस्तु विषयस्यैव प्रतिपाद्यतया मतः। ततोऽप्रमाणविषये कथं विषमता भवेत् ॥१७४॥

यद्यर्थ एव सामान्यमभावस्यार्थता शून्यत्वादसामान्यता। न चासावविषयः। अनुपलम्भविषयत्वात् सामान्यभावेऽपि प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इत्यादिभेदव्यापकत्वात्। घटाद्यभाव इदानीमभाव इति च व्यक्तिव्यापनात्।

अत्रापि परिहारः। ज्ञेयत्वेन ग्रहणात्। अभावोऽपि हि केनचिदाकारेण ज्ञेय एव। अन्यभाव एवाभाव इति सिद्धान्तः स चार्थक्रियाकार्येण। अथवाऽसावपि प्रमाणेन परिच्छिद्यत एव। प्रयोजनवत्वाच्चासावर्थः। अभावेनापि हि प्रयोजनमेव निःशङ्कगमनार्थत्वात्। ततस्तत्राप्यर्थाधिमोक्ष इति, अर्थ एवाभावः स्वेन रूपेण, न पुनः केशादिः, भ्रान्तविज्ञेयतया परिच्छेदात्।

ननु केशादयोऽपि यदेवम्भूतङ्केशाद्यसदिति जायते सत्यकेशसदृशं वेति तदा तत्रापि स्वानुरूपमसत्यतानिबन्धनम्प्रयोजनमस्त्येव निर्विबन्धगमनादिकम्। ततस्तेषामपि प्रमाणविषयता भवेत्। अथ तथा परिच्छेदे सामान्यरूपतैव तथा सति स्फुटाभता न स्यात्। स्फुटाभतया चार्थत्वे स्वलक्षणमेव। तज्ज्ञानमनर्थकन्न भवतीति न भ्रान्त-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अप्रमाण हो है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" (प्र. वा. १।१)। इस प्रकार सामान्यलक्षण का स्वरूप कहा गया, अब विषय-भेद से उसके भेद का उपपादन किया जाता है—भेद तो विषय का ही होता है, क्योंकि प्रमाण का प्रतिपाद्य विषय ही होता है, अतः अप्रमाण के विषय में विषयता क्योंकर रहेगी ? ॥ १७४ ॥

शंका—यदि अर्थ ही सामान्य है, तब अभाव में ही अर्थता और शून्य होने के कारण असामान्यता प्रसक्त होती है। अभाव को अविषय नहीं कह सकते, क्योंकि अनुपलम्भ का विषय ही माना जाता है। सामान्य भाव में भी 'प्रागभावः, 'ध्वंसाभावः'—इस प्रकार भेद की व्यापकता रहती है। 'घटाद्यभावः', 'इदानीमभावः'—इस प्रकार अभाव में व्यक्ति व्याप्यता भी देखी जाती है।

समाधान—इस शंका का परिहार यही है कि विषय का ज्ञेयत्वेन ग्रहण होता है। अभाव भी किसी-न-किसी आकार से ज्ञेय ही माना जाता है। अन्य विषय का भाव ही अन्य का अभाव है—यही सिद्धान्त-सिद्ध है। वह अभाव अर्थक्रियाकारी भी है। अथवा अभाव भी प्रमाण के द्वारा प्रमित होता है। प्रयोजनवान् होने के कारण भी अभाव अर्थ है। पृथिवीतल पर कण्टकादि का अभाव देखकर पुरुष वहाँ निःशङ्क विहरण करता है। इस प्रकार अभाव में भी अर्थता (विषयता) निश्चित होती है किन्तु तैमिरिक-द्वारा गृह्यमाण कोश-पाशादि में अर्थता सम्भव नहीं, वे केवल भ्रान्ति-कल्पितमात्र हैं।

शंका—जब केशादि में भी "एवम्मतमसत्" अथवा "सत्यकेशसदृशम्"—ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, तब असत्यता-प्रयुक्त निःशङ्क गमनादि प्रयोजन उपलब्ध होता ही है, अतः उनमें भी प्रमाण-विषयता होनी चाहिए। यदि वैसी ज्ञेयता के आधार पर उसमें सामान्यरूपता मानी जाती है, तब स्फुटाभता नहीं बनेगी। स्फुटाभतया प्रतीयमान होने पर स्वलक्षण ही मानना होगा। फलतः न तो अनर्थक होगा और न

तेषामपि तथाभावेऽप्रतिषेधात् स्फुटाभता ।
ज्ञानरूपतथार्थत्वात् केशादीनि मतिः पुनः ॥ ८ ॥
सामान्यविषया केशप्रतिभासमनर्थकम् ।

यदि कथित केश-पाशादि में भी ज्ञानान्तर की ज्ञेयता प्रतीत होने के कारण सामान्यरूपता मानी जाती है, तब प्रतिषेध न होने के कारण हमें अभीष्ट ही है।

यदि "तैमिरिक-दृष्टा केशादयो न वस्तु"—ऐसा भान होता है, तब स्फुटाभता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ज्ञानाकारत्वेन केशादि को अर्थ माना जाता है, स्वलक्षणत्वेन नहीं, किन्तु स्फुटाभासता मानी जाती है—स्वलक्षणत्वेन।

वार्तिकालङ्कारः

स्भवेदित्याह—तेषामपि तथाभाव इति ।

यदि केशादयोऽपि तैमिरिकोपलब्धा असत्यतया परिच्छिद्यन्ते तदाऽसत्या इति कोऽर्थोऽर्थक्रियाज्ञानेन नोपलभ्यते पुरुषान्तरेण वेति । तदुपलभ्यत्वाभावपरिच्छेदादभावप्रमेयतैवेत्यभावतया प्रमेयत्वस्य सामान्यरूपताया अप्रतिषेध एव ।

यदपि सदृशमेतदन्येन केशादिना तदाज्ञानरूपे सदृशव्यवहार इति स्वभावहेतुविषयत्वात् प्रमेयतैव केशादेः । कथं तर्हि स्फुटप्रतिभासता सामान्यस्य । ज्ञानरूपेणार्थत्वा.त् स्वलक्षणमेव तत् । प्रत्यक्षविषयस्तर्हि भवेत् । भवत्येव । स्वसंवेदनप्रत्यक्षविषयत्वात् । कथं सामान्यरूपता । विकल्पज्ञानेनापरेण पूर्वकेशादिसमानतया विषयीकरणात् । तथा हि—

असत्यास्तिमिरज्ञानगम्याः केशादयः पुरा । एवमेवोपलब्धत्वाद् सदृशा वा सरूपतः ॥१७५॥

न हि सत्यताविपर्ययः सदृशता पूर्वरूपानुस्मरणमन्तरेणेति विकल्पपरिच्छेद्यतैव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भ्रान्त, यह कहा गया है—"तेषामपि" इत्यादि से। अर्थात् तैमिरिक व्यक्ति के द्वारा प्रतीयमान केश-पाशादि यदि असत्यतया प्रतीत होते हैं, तब असत्य ही हैं, तब अभावत्वेन प्रमेयता पर्यवसित होने के कारण सामान्यरूपता का प्रतिषेध नहीं हो सकता।

जब "सत्यकेश-सदृशमिदम्"—ऐसी प्रतीति मानी जाती है, तब "इदं प्रमेयम्, समानाकारत्वेन प्रतिभासनाद् गोत्वादिसामान्यवत्" इस प्रकार प्रमेयत्व-साधक स्वभाव हेतु के द्वारा प्रमेयता सिद्ध हो जाती है। सामान्यलक्षण में विशदावभासता कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञेयत्वेन अर्थता सिद्ध होने के कारण वह सामान्यलक्षण नहीं, स्वलक्षण ही है। तब प्रत्यक्षप्रमाण की विषयता होनी चाहिए। वह तो अभीष्ट ही है, क्योंकि स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष की विषयता मानी ही जाती है। तब सामान्यरूपता क्यों मानी जाती है ? पूर्वकेशादि-समानतया औदीच्य विकल्प विज्ञान के द्वारा गृहीत होने के कारण सामान्यरूपता मानी जाती है। अर्थात् पहले तिमिर-जन्य ज्ञान के विषयीभूत केशादि का भान होता है। उसके पश्चात् 'पूर्व-सदृशा इमे केशादयः'—ऐसा विकल्प विज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १७५ ॥ पूर्वरूप की समानता के बिना केवल सत्यताभाव को लेकर सदृशता और असत्यता कही जाती। निर्विकल्पक ज्ञान पूर्वापर विषयों का ग्राहक नहीं होता—यह कहा जायगा, अतः केशादि परोक्ष होने के कारण सामान्य कहे जाते हैं। पूर्व और पर ज्ञानों में कौन ज्ञान अनर्थक है ? केशादि-प्रतिभा-

वार्तिकालङ्कारः

सादृश्यासत्यत्वयोः। न च पूर्वापररूपे प्रवृत्तमविकल्पकमिति प्रतिपादयिष्यते। तेन परोक्षतया सामान्यम्। अनर्थत्वात्तर्हि कस्य ज्ञानस्येति चेत्। केशप्रतिभासमिन्द्रियज्ञान-मनर्थकम्। अयमभिप्रायः—स्वसंवादने प्रत्यक्षं केशादिरूपे विकल्पज्ञानमनुमानमिन्द्रिय-ज्ञानमनर्थकमिति विभागः।

नन्विन्द्रियज्ञानन्तदेव च स्वसंवेदनम्। न हि स्वसंवेदनविज्ञानादपरमिन्द्रियजम्। इन्द्रियाश्रयेण तस्य स्वसंवेदनस्योत्पत्तेः।

अथैतदिन्द्रियज्ञानमर्थाभावे भ्रमो मतः। स्वसंवित्तिस्तु नैवाक्षात् तद्विनापि प्रवर्त्तनात् ॥१७६॥

यदन्तरेणापि यत् न तत्तस्य कारणम्। ननु परिस्फुटा स्वसंवित्तिर्नैवाक्षमन्तरेण। तदप्यसत्। स्वसंवित्तिः सर्वैव परिस्फुटा स्वेन रूपेण। यद्यत्र स्वेन रूपेण साक्षात्करणा-कारेण प्रतिभाति तत्परिस्फुटम्। स्वञ्च रूपं सर्वस्य ज्ञानस्य साक्षात् प्रतिभाति। न हि स्वरूपमेव परोक्षं स्वरूपाभावप्रसङ्गात्। तस्मात् परोक्षमेव सकलमस्पष्टम्। स्वप्न-ज्ञानञ्चेन्द्रियमन्तरेणापि स्पष्टरूपम्। तस्मादिन्द्रियमर्थे एव प्रवर्त्तते तदभावेऽनर्थकं तत् स्यात्। केशज्ञानमनर्थकन्न तत्र केशप्राप्तिः। ततोऽर्थापेक्षयाऽनर्थकमिति निश्चयः।

ननु ज्ञानरूपतयापि यद्यर्थता सामान्यमपि स्वलक्षणम्प्रसक्तं स्पष्टावभासि चेति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सक इन्द्रिय ज्ञान अनर्थक है। अभिप्राय यह है कि स्वसंवेदन ज्ञान स्वविषयकत्वेन प्रत्यक्ष प्रमाण है और केशादि में विकल्प ज्ञान अनुमान तथा इन्द्रियज्ञान अनर्थक है—इस प्रकार का विभाग यहाँ अभीष्ट है।

शंका—जो इन्द्रिय-ज्ञान है, वही तो स्वसंवेदन है। स्वसंवेदन विज्ञान से भिन्न इन्द्रिय-विज्ञान नहीं, इन्द्रिय का आश्रयण करके ही वह स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः कथित विभाग संगत क्योंकर होगा ?

समाधान—इन्द्रिय-ज्ञान विषय के बिना उत्पन्न होने के कारण भ्रमात्मक है। स्वसंवित्ति ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं, क्योंकि वह इन्द्रिय के विना ही समुद्भूत होता है ॥१७६॥ जिसके बिना ही जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उस ज्ञान का कारण नहीं माना जाता। अतः स्वसंवेदन ज्ञान इन्द्रियों का आश्रयण नहीं करता, उससे भिन्न ही होता है।

यह जो कहा जाता है कि स्वसंवेदन इन्द्रिय का आश्रमण किये बिना स्फुट (विशद) नहीं हो सकता।

यह कहना भी असत् है, क्योंकि समस्त संवित्ति ज्ञान स्वतः ही स्फुट होता है, उसे अपनी स्फुटता के लिए इन्द्रिय का आश्रयण करना आवश्यक नहीं। जो ज्ञान अपने स्वरूप से (साक्षात्काराकारेण) प्रतिभासित होता है, वही परिस्फुट है। प्रत्येक ज्ञान का अपना रूप साक्षात् प्रतीत होता है। स्वरूप कभी परोक्ष नहीं होता, अन्यथा उसमें स्वरूपता ही नहीं रहेगी। जो पदार्थ परोक्ष है, वह अस्फुट या अस्पष्ट कहलाता है। स्वप्न-ज्ञान इन्द्रिय के विना ही स्पष्ट होता है। इन्द्रियगण सदैव अर्थ के होने पर ही प्रवृत्त होते हैं, अर्थ का अभाव होने पर इन्द्रिय-ज्ञान अनर्थ एवं भ्रममात्र होता है। केश-पाशादि का ज्ञान भी अनर्थक है, उससे केशादि की प्राप्ति नहीं होती, अतः अर्थ की अपेक्षा से केशादि-ज्ञान अनर्थक है।

शंका—यदि ज्ञानरूपतया (ज्ञानाकारत्वेन) केशादि में अर्थता मानी जाती है,

ज्ञानरूपतयार्थत्वे सामान्ये चेत्प्रसज्यते ॥ ९ ॥
तथेष्टत्वाददोषः, अर्थरूपत्वेन समानता ।
सर्वत्र समरूपत्वात् तद्व्यावृत्तिसमाश्रयात् ॥ १० ॥

यदि 'ज्ञानाकारत्वमर्थत्वम्'—ऐसा अर्थ का लक्षण किया जाता है, तब तैमिरिक-कल्पित केशपाशादिरूप सामान्य अर्थ में भी स्वलक्षणता प्रसक्त होती है, क्योंकि वह भी ज्ञान का आकार है। इस प्रसक्ति में इष्टापत्ति करते हुए कहा गया है—'तथेष्टत्वाददोषः'। अर्थात् कथित केश-पाशादि में ज्ञानाकारत्वेन स्वलक्षणता और ज्ञेयाकारत्वेन सामान्यलक्षणता मानी जाती है क्योंकि वैसी सभी केशोण्डुकादि व्यक्तियों में 'न पूर्वविसदृशमिदम्', अपि तु 'पूर्व-सदृशम्' इस प्रकार असमानता की व्यावृत्ति और समता या सामान्य का विधान किया जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

विरोधः। न विरोधो यतः—ज्ञानरूपतयार्थत्व इति।

ज्ञानरूपतया स्वलक्षणता परिस्फुटाकारता च सामान्यस्य विद्यत एव। तथाभूतेव हि तस्य स्पष्टता। अर्थस्तु भवत्यस्पष्टप्रतिभासोऽन्यस्य स्पष्टाभासस्य भासनादन्यतः। ज्ञानस्य तु स एवाकारः किमपेक्षया तदस्पष्टमुच्यताम्। तस्मात् स्वरूपस्य साक्षादवभासनात् अस्पृष्टता कुतः। एतदेव स्पष्टत्वं यः सर्वाकारप्रतिभासः। अर्थस्य तु स्वरूपमन्यदिति तदप्रतिभासने न स्पष्टताप्रतिभासः।

कथन्तर्हि सामान्यन्तदस्पष्टप्रतिभासञ्चेत्याह—अर्थस्य बाह्यस्य रूपेण समानता। रूपणं रूपोनिरूपणमित्यर्थः। अर्थनिरूपणेन समानता। अस्पष्टता चार्थस्य। तत्र परोक्षतयाऽस्पष्टता सामान्याकारता च यतः—सर्वत्र समरूपत्वादिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तब सामान्य भी स्वलक्षण हो जायगा, अतः 'सामान्य' और 'स्पष्टावभासि'—ऐसा विरुद्धाभिधान प्रसक्त क्यों न होगा ?

समाधान—उक्त विरोध-प्रसिद्ध इसलिए नहीं होती कि सामान्यलक्षण में ज्ञानाकारत्वेन स्वलक्षणता और स्फुटाभासता मानी ही जाती है। हाँ, अर्थ (सामान्य) तो अस्पष्ट ही होता है, क्योंकि ज्ञानाकार की स्पष्टावभासिता से ज्ञेयाकार का स्पष्टावभास नहीं हो सकता [अर्थात् ज्ञान प्रकाशात्मक है, उसका आकार-प्रखप्रकाश में बिछे हुए पट के समान है, उसका अवभास नितान्त स्फुट होता है, किन्तु ज्ञेयाकार सांवृतिक है, अन्धकार में बिछे पट के समान है, फलतः विषय या सामान्यरूप अर्थ का अस्पष्ट होना न्यायोचित है]। अन्य (विद्या) की स्पष्टावभासिता से अन्य (अविद्या) की स्पष्टावभासिता नहीं हो सकती। सामान्य-प्रतीति तो ज्ञान का ही आकार है, वह किसकी अपेक्षा से अस्पष्ट कहा जाय ? अतः ज्ञान के स्वरूप का स्पष्ट अवभास ही होता है, अस्पष्ट अवभास क्यों होगा ? सर्वाकार का अवभास ही स्पष्टता है। अर्थ (ज्ञेय) का स्वरूप अन्य (सांवृतिक) है। संवृति का अवभास न होने से स्फुट प्रतिभास नहीं होता।

प्रश्न—यदि सामान्य ज्ञानाकारत्वेन स्पष्ट प्रतिभास है, तब सामान्य अस्पष्ट प्रतिभास क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—उक्त प्रश्न का ही उत्तर दिया गया है—"अर्थरूपत्वेन समानता"। अर्थात्

वार्तिकालङ्कारः

सर्वत्र हि तीक्ष्णमन्दतीव्रचान्दनादौ समरूपता। समत्वेन तस्य प्रतिपत्तेरेकाध्यवसायेन दृश्यविकल्प्यार्थैकीकरणतः। तथा हि—

सामान्यन्तत्समानानाम्भाव इत्युपगम्यते। ज्ञानाकारश्च तद्व्यक्तिरूपेणाध्यवसीयते ॥१७७।

शावलेयादिसकलव्यक्तिनिष्ठतया सामान्याकारस्य। संवृत्या तदध्यवसायेन सामान्यरूपता ज्ञानाकारविशेषस्य। तत्र चाध्यवसायस्य तत उत्पत्तिर्वासनाविशेषश्च निबन्धनमित्यनवद्यम्। तद्व्यावृत्तिसमाश्रयेण तस्योत्पत्तेः। पारम्पर्येण हि व्यावृत्तपदार्थाश्रयणेन तस्योत्पत्तेः। व्यावृत्तेषु पदार्थेषु प्रवर्त्तनाच्च। तस्य व्यावृत्तत्वं समानं सर्वेषामिति व्यावृत्तिरेव सामान्यम्। व्यावृत्तिसम्बन्धाच्चाकारस्यापि व्यावृत्तिरूपत्वादिति।

ननु कस्मादाकारः सामान्यम्। रूपादय एवाविशेषेण सामान्यमनुमानगोचरम्। व्यक्त्यन्तरापरित्यागे हि व्यक्तय एव सामान्यमुच्यन्ते। सकलव्यक्तिपरित्यागे तु अनुमानमप्रमाणम्प्रसक्तम्। तस्मादवश्यमनुमानस्य प्रामाण्यमभ्युपगच्छता व्यक्तिविषयताऽभ्यु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसी में बाह्यरूपेण (ज्ञेयत्वेन) समानता और अस्फुष्ट प्रतिभासता मानी जाती है। परोक्ष होने के कारण अस्पष्टता मानी जाती है। अग्नि की प्रखर, मध्य, मन्द और चान्दन (चन्दन काष्ठ-प्रज्वलित) व्यक्तियों में समरूपता की प्रतिपत्ति (दृश्य और विकल्प का तादात्म्य-प्रतिबोध) का जन्म होता है। 'सामान्य' शब्द का अर्थ है—'समानानां भावः'। अर्थात् शाबलेयादि समस्त गोव्यक्तियों में सामान्याकारता ही सामान्य है ॥ १७७ ॥ सामान्यरूपता सांवृतिक ज्ञानाकार है, जिसकी उत्पत्ति वासना (अनादि संस्कारों) से मानी जाती है। व्यक्ति-निष्ठ असमानताओं की व्यावृत्ति जिस अध्यवसाय में होती है, उसका विषय ही सामान्यतत्त्व है। जैसे अघट की व्यावृत्ति घटत्व, अपट की व्यावृत्ति पटत्व है, वैसे ही असामान्य की व्यावृत्ति ही सामान्य है। व्यावृत्ति सर्वत्र समान है, अतः व्यावृत्ति के सम्बन्ध से अर्थाकार भी व्यावृत्तिरूप ही माना जाता है।

शंका—अर्थ का आकार सामान्य पदार्थ है, ऐसा क्यों माना जाता है, सभी अग्निव्यक्तियों में रहने वाले समान रूपादि को सामान्य मानना चाहिए, वही अनुमान का विषय होता है—"पर्वतो वह्निमान्"। किसी व्यक्त्यन्तर का त्याग करके प्रतीयमान व्यक्तियाँ ही सामान्य कहलाती हैं। सभी व्यक्तियों का परित्याग करके किसी अन्य सामान्य का अनुमान करने पर अनुमान में अप्रमाणता प्रसक्त होगी, क्योंकि व्यक्तियों से भिन्न कोई सामान्य तत्त्व होता ही नहीं, अतः अनुमान की प्रमाणता चाहने वाले पुरुष को लक्षित-लक्षणा के द्वारा अनुमान की विषयता व्यक्तियों में ही माननी चाहिए। व्यक्ति-निरपेक्ष आकारमात्र का भान मानने पर पुरुष की बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति न हो सकेगी। अतः उस ज्ञानाकार के द्वारा व्यक्तियों का अनुमान हो जाता है। इस प्रकार सामान्यवादी बौद्धाचार्य व्यक्ति-विषयक सामान्यानुमान किया करते हैं।

शंका—सामान्य के द्वारा व्यक्ति का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें भी सामान्यमात्र का प्रतिभास होने के कारण प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अनुमान व्यर्थ हो जाता है। पूर्व पूर्व सामान्य के द्वारा उत्तरोत्तर सामान्य का अनुमान सम्भव भी नहीं, क्योंकि सामान्य-परम्परा इतनी ही है—ऐसा कोई सीमाङ्कन तो है नहीं, अतः सामान्य

न तद्वस्तु अभिधेयत्वात् साफल्यादक्षसंहतेः ।
नामादिवचने वक्तृश्रोतृवाच्यानुबन्धिनि ॥ ११ ॥
असम्बन्धिनि नामादावर्थे स्यादप्रवर्तनम् ।
सारूप्याद् भ्रान्तितो वृत्तिरर्थे चेत्स्यान्न सर्वदा ॥ १२ ॥

सामान्यलक्षण को वस्तु इसलिए नहीं कहा जाता कि वह अभिधेय (शब्द का विषय) है । सामान्यशब्द-संकलित सभी व्यक्तियों का ज्ञान यदि शब्द से ही हो जाता है, तब उनके साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष की क्या आवश्यकता ? प्रवृत्ति-सम्बन्धी लिङादि शब्दों का शक्ति-ग्रह एवं उनके द्वारा कर्मादि में प्रवृत्ति हो जाने पर भी सुबन्त शब्दों का शक्ति-ग्रह न होने से उनके द्वारा कहीं भी प्रवृत्ति न हो सकेगी । सारूप्य-निबन्धन भ्रम से अर्थावबोध सर्वदा न हो सकेगा ॥ १२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

पगन्तव्या लक्षितलक्षणेन । नाकारमात्रपर्यवसानम् । अप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात् । केवलसामान्यग्रहणेऽप्ययमेव दोषः । तस्मात् ततोऽपि ज्ञानाकारादनुमानं व्यक्तीनामिति व्यक्तिविषयं सामान्यानुमानं बौद्धतीर्थिकानां सामान्यवादिनाम् ।

ननु सामान्येनापि व्यक्तेरनुमानन्नास्ति । तत्रापि सामान्यप्रतिभासनात् अप्रवर्त्तनमेव पुनरपीत्यनर्थकमनुमानम् । न चेयती सामान्यपरम्परा । सामान्यात् सामान्यानुमानन्ततोऽप्यपरसामान्यानुमानमित्यनवस्था । तस्मात् पर्यन्तेऽपि व्यक्तयोऽवगन्तव्या इति व्यक्तयः सामान्यम् । तदप्यसत् । यतः—तदवस्त्वभिधेयत्वादिति ।

न हि रूपादय एव सामान्यं सामान्यज्ञानेन प्रतीयमानाः । रूपादयो हि व्यस्ताः समस्ता वा सामान्यज्ञानेन प्रतीयेरन् । यदि समस्ताः सामान्यज्ञानेन प्रतीयन्ते तदा शब्दादुत्पद्यते यत्सामान्यज्ञानन्तेन सकलव्यक्तिस्वरूपप्रतिपत्तेरक्षसंहतेर्वैकल्यप्रसङ्गः । व्यक्तिप्रतिपत्त्यर्थं हि चक्षुरादेरक्षसंहतिरिष्यते । सा च व्यक्तिरपगतेष्वपि चक्षुरादिषु प्रतीयत इति किमक्षैः । सुखार्थमिन्द्रियाणीष्यन्त इति चेत् ।

तथा हीन्द्रियसंश्रयेण यत्सुखन्तदन्यथा । तदप्ययुक्तं तस्यापि शब्दादेव प्रतीतितः ॥१७८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के द्वारा सामान्यानुमान में अनवस्था भी है । अतः अन्त में व्यक्तियों का ही अनुमान करना होगा, फलतः व्यक्तियों को ही सामान्य मानना होगा ।

समाधान—उक्त आशङ्का युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि सामान्य-ज्ञान के द्वारा प्रतीयमान सामान्य को व्यक्तिस्वरूप नहीं मान सकते, क्योंकि सामान्य-ज्ञान के द्वारा प्रतीयमान रूपादि सामस्त्येन सामान्य रूप हैं ? अथवा व्यस्तत्वेन ? प्रथम पक्ष में शब्द के द्वारा प्रजायमान सामान्य-ज्ञान के द्वारा सकल व्यक्तियों के स्वरूप की प्रतिपत्ति हो जाने के कारण व्यक्तियों के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि व्यक्तियों की प्रतिपत्ति के लिए ही व्यक्तियों के साथ चक्षुरादि का सम्बन्ध अपेक्षित होता है। उन व्यक्तियों की प्रतिपत्ति चक्षुरादि के व्यपगत हो जाने पर भी शब्दमात्र से ही हो जाती है ।

सुखादि के लिए इन्द्रियाँ अपेक्षित हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रिय के आश्रित जो सुख होता है, वह भी शब्द से ही हो जाता है, इन्द्रियों की क्या आवश्यकता ? ॥१७८॥ यदि कहा जाय कि शब्द के द्वारा सुख को केवल प्रतीति हो हो

वार्तिकालङ्कारः

प्रतीतिरेव शब्दाच्चेन्न विनाक्षं सुखोदयः। सुखोदयध्वनेः सोऽपि भवत्येव सुखोदयः ॥१७९॥

प्रतीतिरेव तत्रापि यदि नास्ति सुखोदयः। सुखोदयः स्वरूपेण प्रतिपन्नः कथन्न सः ॥१८०॥

यदि सुखोदयः स्वरूपेण प्रतीयमानोऽपि न तथा। तथा सत्यन्यत्रापि प्रतीतौ कः समाश्वासः। प्रतीयमानतैव हि सत्ता।

अथ विफलाप्यक्षसंहतिः कर्मवशादुपजायते। जायतान्नाम सा तु विफलत्वेन प्रतीयेत नष्टेऽपि चक्षुषि रूपदर्शनेन। न चैवमिति न व्यक्त एव शब्दतः प्रतीयन्ते। तस्मादरूपादिरूपं सामान्यम्। एवन्तर्हि नामादिरूपम्भविष्यति। नाक्षसंहतेर्वैफल्यात् तदप्ययुक्तम्।

विप्रयुक्तो हि संस्कारो वक्तृश्रोत्रर्थसङ्गतः। असङ्गतो वा वक्त्रापि सङ्गमेऽर्थेऽप्रवर्त्तनम् ॥ १८१ ॥

न हि वक्तृश्रोतृसङ्गतनामनिमित्तप्रतिपादनेऽस्य प्रतीतिरिति अप्रतीतेऽर्थे कथम्प्रवर्तनम्। अप्रतीतेऽपि प्रवर्त्तने सर्वत्र प्रवर्त्तनप्रसङ्गात्, प्रतिपत्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च नैतद् युक्तम्। अथापि स्यात्। यन्निमित्तं यश्चार्थस्तयोः सारूप्यादेकप्रतिपादनेऽप्यन्यत्र वृत्तिर्यथा यमलकयोरेकत्रोदने चित्राङ्गदचित्रवीर्ययोः न हि तत्रान्यत्र न वृत्तिः। तदप्ययुक्तम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकती है, इन्द्रियों के बिना सुख की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहना भी संगत नहीं, क्योंकि सुखोदय-वाचक शब्द से भी सुखोदय होता है ॥१७९॥ इस शब्द से भी सुखोदय की प्रतीति ही होती है, सुखोदय उत्पन्न नहीं होता—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो सुखोदय स्वरूपतः प्रतिपन्न है, वह सुखोदय क्यों नहीं ॥१७९-१८०॥ यदि स्वरूपेण प्रतीयमान सुखोदय सुखोदय नहीं, तब अन्यत्र (सुखादि की प्रतीति पर) भी विश्वास कैसे किया जा सकता है कि प्रतीयमानता ही वस्तु की सत्ता है ?

शंका—विफल इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी कर्माधीन उत्पन्न हो सकता है। भले ही वह (अक्ष-संहति) उत्पन्न हो किन्तु वह वैसे ही विफलत्वेन प्रतीत होगी, जैसे चक्षु के नष्ट होने पर रूप-दर्शन, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः शब्दतः व्यक्तियों की प्रतीति नहीं होती।

समाधान—वक्ता और श्रोता के अतीत संस्कार भी अर्थ (विषय) से जुड़े रहते हैं, अन्यथा उनके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी और अप्रतीत अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होगी ? ॥१८१॥ अर्थात् वक्ता और श्रोता में संगत शब्द के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन होने पर अर्थविशेष में प्रवृत्ति क्योंकर होगी ? अप्रतीत अर्थ में प्रवृत्ति मानने पर सर्वत्र अज्ञात पदार्थों में प्रवर्तन प्रसक्त होगा एवं अर्थ-प्रतिपादन भी व्यर्थ हो जायगा, अतः पदार्थों में संस्कारासंगति-पक्ष युक्त-युक्त नहीं।

शंका—यह आवश्यक नहीं कि ज्ञात अर्थ में ही प्रवृत्ति होती है, अज्ञान में भी प्रवृत्ति हो जाती है, यदि उसमें ज्ञात अर्थ का सादृश्य विद्यमान हो, जैसे महाराजा शन्तनु के यमल पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य में से एक बुलाने के लिए कहा जाता था तो लोग दूसरे को बुला लाते थे, अतः वहाँ प्रवृत्ति ज्ञात के समान अज्ञात में भी हो जाती थी।

समाधान—वह तो एक भ्रान्ति का विषय है। भ्रान्ति के विषय को ज्ञात नहीं।

देशभ्रान्तिश्च न ज्ञाने तुल्यमुत्पत्तितो धियः ।
तयाविधाया अन्यत्र तत्रानुपगमाद् धियः ॥ १३ ॥
बाह्यार्थप्रतिभासाया उपाये वाऽप्रमाणता ।
विज्ञानव्यतिरिक्तस्य व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ॥ १४ ॥

यद्यपि योगाचार-मत में ज्ञानाकार ही अभिधेय होता है, तथापि बाह्य अर्थ में अप्रवृत्ति की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि ज्ञानाकार बाह्यत्व का आरोप मान लिया जाता है। शब्द-जनित ज्ञान स्वांशावलम्बी होने पर भी अनादि अविद्या-वश बाह्यार्थ विषयक उत्पन्न हो जाता है, फलतः उसके द्वारा बाह्यार्थ में प्रवृत्ति सम्भव हो जाती है किन्तु अन्यत्र (नामादिविषयक ज्ञान में) तदर्थाध्यवसाय के द्वारा बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति युक्त नहीं, क्योंकि निराकार बुद्धिवादी वैभाषिक के मतानुसार बाह्यार्थ-प्रतिभासिनी ज्ञानाकार बुद्धि नहीं मानी जाती।

यदि बुद्धि ज्ञेयाकार होती, तब अवश्य ही उसके द्वारा बाह्यार्थ में प्रवृत्ति भी हो जाती किन्तु प्रतिभासित आकार बाह्य नहीं, अपितु ज्ञान का ही अपना आकार है, उसे बाहर नहीं माना जा सकता, अतः नामादि-जन्य ज्ञान को बाह्यविषयक मानने पर इस ज्ञान में अप्रमाणता प्रसक्त होती है, क्योंकि ज्ञान से व्यतिरिक्त विषय प्रसिद्ध ही नहीं ॥ १४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भ्रान्तिस्तत्रेह न भ्रान्तिर्भ्रान्तिश्चेद् स्यान्न वस्तुवित् ।
भ्रान्तिश्च वस्तुवित्तिश्चेत्येतदन्योऽन्यबाधनम् ॥१८२॥

यदि नामनिमित्तप्रतिभासिनी सा मतिः कथमभ्रान्तिः। भ्रान्तिश्चेदनालम्बना। तथा सति न नामनिमित्तप्रतिपत्तिः। नामनिमित्तस्य स्वरूपेणाप्रतिभासनात्। तत्रापि नामनिमित्तकल्पनायामनवस्था। तस्माद् यमलकयोरभ्रान्तिप्रतिपत्तौ नामनिमित्तप्रतिभासनमेवेति असिद्धो दृष्टान्तः। तत्रापि तत्प्रतिपत्तेरेव प्रवर्त्तनमिति तत्रापि चोद्यं कथमर्थे प्रवर्त्तनमिति साध्यपक्षनिक्षिप्तो न दृष्टान्तः। अभ्युपगम्याप्युच्यते—सारूप्याद् भ्रान्तित इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कहा जाता। यदि वहाँ पदार्थ ज्ञात है, तब वहाँ भ्रान्ति नहीं बनती। भ्रान्ति और वस्तु-निश्चय का परस्पर-विरोध है ॥१८२॥ अर्थात् यदि वहाँ ज्ञान अपने विषय का भासक है, तब भ्रान्ति कैसे? यदि भ्रान्ति है, तब वह निरालम्बन है, अतः वस्तु-भासक कैसे होगा? भ्रान्ति को शब्द प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि वहाँ नाम (शब्द) को निमित्त मानकर विषयवस्तु का स्वरूपेण प्रतिभास नहीं होता। स्वरूपेण प्रतिभासकता में नाम (शब्द) की निमित्तता शब्द से प्रमाणित करने पर अनवस्था दोष प्रसक्त होता है। अतः कथित यमलक-स्थलीय प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता, फलतः दृष्टान्ताभासता या दृष्टान्तासिद्धि दोष है। यदि यमलकस्थलीय प्रवृत्ति में अर्थज्ञानपूर्वकत्व का अनुमान किया जाता है, तब वह भी पक्षकोटि में आ जाता है, उसे सपक्ष या दृष्टान्त नहीं माना जा सकता।

उक्त पक्ष को सदोष मानकर भी कहा जाता है कि सर्वत्र ज्ञानपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है—ऐसा नियम नहीं, अपितु अन्य अर्थ का ज्ञान होने पर सारूप्य-निबन्धन

वार्तिकालङ्कारः

यदीयस्बाह्ये वृत्तिरन्यप्रतीतावपि सारूप्योपजनितविभ्रमहेतुका तदा न सर्वदा भवेत्। न हि यमलकयोरेकप्रतीतावन्यत्रैव सर्वदा वृत्तिस्तत्रापि वृत्तिदर्शनात्। न च सारूप्यम्मूर्त्तामूर्त्तयोः सादृश्याभावात्। तद्भावे वा न विप्रयुक्तसंस्कारता। रूपादिस्वभावत्वेन रूपस्कन्धस्यान्तर्गमात्। किञ्च देशभ्रान्तिश्च न स्यादेतद्देश एव प्रतिपादित इति न हि तदन्यदेशयोः सारूप्यम्।

अथ देशस्यापि न स्वरूपेण प्रतिपादनम्। किन्तर्हि नामनिमित्तत्वेनैव तस्यापि भ्रान्त्या प्रतीतेः। एवन्तर्हि न देशो नामप्रतिपादित इति न देशविशेषे प्रवर्त्तेत। न ह्यदेशे चित्तचैत्तप्रतिपादने कश्चिद्देशविदेशसङ्कते रूपादौ प्रवर्त्तते। एकत्वाध्यवसायात् प्रवर्त्तत इति चेत्, कोऽयमेकत्वाध्यवसायो नाम। नामनिमित्तस्य प्रवृत्तिविषयपदार्थरूपतया प्रतिपत्तिरिति चेत्। कथमन्यस्यान्यत्वेन प्रतीतिः। न घटः पटरूपेण प्रतीयते। तस्य रूपन्तत्राध्यस्तमिति चेत्, यत्तर्ह्यध्यस्तन्तदेव प्रतिपन्नम्बाह्योऽध्यस्ते बाह्यमेव प्रतिपन्नन्न नामनिमित्तगन्धोऽपीति। यत्र चाध्यासः तत्रैव प्रवर्त्तनं न बाह्येऽर्थे भवेत्। अथ नामनिमित्तस्य तत्राध्यासः। तथा सति नामनिमित्तमेवं प्रतिपन्नङ्कथम्बाह्ये प्रवृत्तिः। शुक्तिकायां रजताध्यासे कथं शुक्तिकायां वृत्तिरिति चेत्, शुक्तेरपि तत्र सद्भावात् तद्देशस्य च प्रत्यक्षेण ग्रहणात्। न च नामनिमित्तदेशपरिग्रहः। देशपरिग्रहेऽदेशस्थता न स्यात्। आधारस्यार्थस्य स देश इति चेत्, न विवेकाभावात्। शुक्तिकाया देशो न रजतस्य।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अन्यत्र प्रवृत्ति हो जाती है। तब उस उत्तर में कहा जाता है कि ऐसी प्रवृत्ति क्वाचित्की ही होगी, सार्वत्रिकी नहीं। यमलक स्थलीय प्रवृत्ति भी कभी-कभी ही होती है विजातीय और विरूप मूर्तामूर्त पदार्थों में सादृश्य-निबन्धन प्रवृत्ति सम्भव भी नहीं। विभिन्न देशों का भी सारूप्य नहीं बनता।

शंका—देश का प्रतिपादन भी स्वरूपेण न होकर, नाम-निमित्तत्वेन ही माना जाता है, तब वह भी भ्रान्ति का ही स्थल हो जाता है। अतः जब देश-विशेष प्रतिपादित ही नहीं, तब उसमें प्रवृत्ति कैसे होगी? यदि कहा जाय कि एकत्वाध्यवसाय से प्रवृत्ति हो जाती है, तब प्रश्न उठता है कि यह एकत्वाध्यवसाय क्या है? यदि कहा जाय कि शब्दनिमित्तक उपस्थित पदार्थ में प्रवृत्ति-विषयीभूत पदार्थरूपता ही एकत्वाध्यवसाय है। तब प्रश्न होता है कि अन्य अर्थ की अन्यत्वेन प्रतीति कैसे होगी? घट कभी भी पटरूपेण प्रतीत नहीं होता। यदि कहा जाता है कि उसका रूप भी वहाँ अध्यस्त है। तब जिज्ञासा होती है कि जो अध्यस्त है, क्या वही प्रतिपन्न (ज्ञायमान) है? बाह्य वस्तु अध्यस्त है, अतः वही प्रतिपन्न है, नाम-निमित्तता का लेशमात्र भी नहीं। जिस पदार्थ में बाह्य अध्यस्त है, उसी पदार्थ में प्रवृत्ति होगी, बाह्य पदार्थ में नहीं। शुक्तिका में रजत का अध्यास होने पर शुक्तिका में रजतार्थी की प्रवृत्ति क्यों होती है? शुक्तिका भी वहाँ सद्भाव है, शुक्तिरूप देश का प्रत्यक्ष ग्रहण होता है। नाम के निमित्तरूप देश का परिग्रह नहीं होता। देश का परिग्रह करने पर अदेशस्थता नहीं रहेगी। आधाररूप पदार्थ का वह देश माना जायगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अध्यासस्थल पर देशों का विवेक-ग्रह नहीं रहता कि हम यह कह सकें—"शुक्तिकाया देशो न रजतस्य"। उसी प्रकार "रजतस्य देशो न शुक्तिकायाः"—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रजत जब सत् ही नहीं, तब उसका देश कौन होगा? वैसे ही नाम के

वार्तिकालङ्कारः

तद्वदन्यत्रापीति चेत्, न रजतस्यासत्त्वतो देशाभावात्। न तु नामनिमित्तस्य देशो भावः। दृष्टस्य च रजतस्याध्यारोपो न च नामनिमित्तदर्शनमस्ति। अध्यारोपकाल एव तस्य दर्शनात्। तस्मान्नेयमध्यारोपतोऽर्थे वृत्तिः। न च स्खलद्गतिप्रत्ययग्राह्यता माणवकाग्निप्रत्ययवत्। अत्यन्ताभ्यासान्नेति चेत्, कुत एतद् अत्यन्ताभ्यासत इति प्रतीतिः प्रमाणाभावात्। प्रमाणेन हि प्रतीयमानस्तथाभ्युपगन्तव्यो नान्यथा। अन्यथा व्यवहारो न युक्तस्तेनैवङ्कल्प्यते इति प्रमाणाभाव इति चेत्, न अन्यथापि व्यवहारादिति प्रतिपादयिष्यते।

यस्यापि शब्दात् स्वाकारमेव ज्ञानमुत्पद्यतेऽर्थासंस्पर्शितस्यापि कथमर्थे प्रवर्त्तनमिति चेत्, न ज्ञाने ज्ञानाकारे बाह्ये तुल्यम्। भ्रान्ताया बुद्धेरुत्पादात्। तथा वासनासामर्थ्यादुपजायमाना स्वरूपमेव विशिष्टदेशाधिष्ठानमर्थं मन्यमाना व्यवहारिणम्प्रवर्त्तयतीत्यत्र न किञ्चिद् व्याहतम्। तथा हि —

स्वरूपमर्थारोपेण प्रवर्त्तयति यावता। व्यवहारः साभाप्तोऽयन्तावतैव परेण किम्॥ १८३॥

नामनिमित्तमर्थम्मन्यत इति द्वयी कल्पना। प्रतिपन्नमप्रतिपन्नं वा। अर्थाकारतयाध्यवसीयत इति। यदि शाब्दविज्ञाने नामनिमित्तमप्रतिपन्नं स्वरूपेण कथमस्यार्थ-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निमित्त का देश भी नहीं। आपणादि में दृष्ट रजत का शुक्तिका में अध्यारोप होता है किन्तु नाम के निमित्त दर्शन न होने से उसका आरोप भी नहीं हो सकता। केवल अध्यारोप-काल में ही उसका दर्शन होता है। अतः अध्यारोप से भी पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जो ज्ञान-गम्यता स्वयं स्थिर नहीं, लड़खड़ा रही है, उसका आरोप वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे माणवक में अग्नि-प्रत्यय। आरोप होने पर भी अत्यन्ताभ्यास के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कैसे ज्ञात हो सकेगा कि यह प्रतीति अत्यन्ताभ्यास-जनित है? जब कि उसमें कोई प्रमाण नहीं। किसी प्रमाण के द्वारा प्रसाधित पदार्थ ही अभ्युपगन्तव्य होता है। अन्यथा (प्रमाण के बिना भी) "इह वटे यक्षः"—इत्यादि व्यवहार प्रचलित हो जाते हैं, अतः प्रमाणाभाव की कल्पना नहीं कर सकते यह आगे चलकर कहा जायगा।

जिस योगाचार के मत में घटादि शब्दों के द्वारा जो घटाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वाकार ही होता है। अर्थात् वह आकार बाह्य विषय का न होकर उत्पद्यमान ज्ञान का अपना ही आकार होता है, क्योंकि वह ज्ञान बाह्यार्थ-संस्पर्शी होता ही नहीं कि विषय का आकार ज्ञान में प्रतिफलित हो। वहाँ यदि यह प्रश्न किया जाता है कि जब वह ज्ञान विषय-संस्पर्शी ही नहीं, तब उससे अर्थ में प्रवृत्ति क्योंकर होगी? तो उसका उत्तर यही होगा कि वह आकार चाहे ज्ञान का या विषय का, बाह्याकार विषयकत्व का भ्रम हो जाने से प्रवृत्ति हो जाती है। अर्थात् सौत्रान्तिक और योगाचार—दोनों मतों में बाह्यार्थ में प्रवृत्ति का प्रकार समान है कि अनादि वासनाओं के सामर्थ्य से उपजायमान बुद्धि उन व्यक्तियों को विषय में प्रवृत्त करती है, जो विषय को ज्ञान का स्वरूप (आकार) मान लेते हैं। फलतः प्रवृत्ति में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं होता। ज्ञान का स्वरूप ही अर्थारोप-पुरःसर व्यवहार में प्रवर्तक होता है। ज्ञान से भिन्न विषय की क्या आवश्यकता? ॥ १८३ ॥ अर्थात् ज्ञान के स्वरूप में ही प्रवर्तक शब्द—निमित्तकत्व और अर्थत्व की दो कल्पनाएं होती हैं। विषय ज्ञात हो

वार्तिकालङ्कारः

तया प्रतीतिः। न हि स्वरूपेण प्रतिपन्नमन्याकारतया प्रतिपन्नमुच्यते। न खल्वन्याकारन्तद् भवति। आकारभेद एव भेद इति। तस्मान्नामनिमित्तस्यार्थाकारतया प्रतीतिरिति नासावाकारोऽर्थस्य तत्रार्थस्याभावात्। नापि नामनिमित्तस्य तदयोगादिति। स आकारो ज्ञानस्यैव। तद् वरं स एव ज्ञानाकारोऽर्थत्वेन प्रतीयताङ्किमन्तर्गडुना नामनिमित्तेन। ज्ञानस्यार्थाकारता भवति। ततः पारम्पर्येणोत्पत्तेरिति युक्तन्नामनिमित्तस्यार्थाकारतेति। कुत एतत्। न हि तस्यार्थाकारतायाम्प्रमाणङ्किञ्चित्।

अथ नामनिमित्तस्याप्यव्यतिरिक्तोऽर्थाकारः। स एव तर्ह्यर्थाकार इति नाक्षसंहतेरवैफल्यम्। अथाप्यर्थक्रियाकारि न भवति तदर्थक्रियाकारिग्रहणे नाक्षसंहतेरवैफल्यम्।

तदप्ययुक्तम्। अर्थक्रियाकारित्वाग्रहणादप्रवर्त्तनमेव प्राप्तम्। अध्यारोपात् प्रवर्त्तते। सोऽध्यारोपो ज्ञानाकार एवेत्युक्तम्। अन्यथा तत्राप्यपरन्नामनिमित्तं तत्राप्यपरमित्यनवस्था भवेदित्यपरिहारः तत्रापि भ्रान्ततायाः। न नामनिमित्ते प्रमाणाभावात्। न हि भ्रान्तविज्ञानादर्थव्यवस्था। स एवाकारोऽर्थस्य व्यवस्थापक इति चेत्, न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

या अज्ञात अर्थाकारतया अध्यवसित होकर प्रवर्तक माना जाता है।

शंका—यदि शब्द ज्ञान में नाम निमित्तकत्व प्रतिपन्न (निश्चित) है, तब ज्ञान के स्वरूप में अर्थता की प्रतीति कैसे होगी? जो स्वरूपतया निश्चित है, वह अन्याकारतया कैसे प्रतिपन्न होगा? आकार-भेद ही तो भेद है। अतः नामनिमित्तक पदार्थ में अर्थाकारता की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वह आकार अर्थ का नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ अर्थ होता ही नहीं। वह आकार ज्ञान का ही मानना होगा। इससे अच्छा तो यही है कि ज्ञान का आकार ही अर्थत्वेन प्रतीत होकर प्रवर्तक हो जाता है, मध्यपाती व्यर्थ लटकने वाले अजा-गलस्तन के समान नामनिमित्तकत्व की क्या आवश्यकता?

समाधान—ज्ञान में अर्थाकारता प्रतीत होती है, क्योंकि वह परम्परया अर्थ से उत्पन्न होता है, अतः नामनिमित्तक उपस्थित पदार्थ में ही अर्थाकारता माननी होगी, क्योंकि इसकी अर्थाकारता में कोई प्रमाण नहीं।

शंका—नामनिमित्तक पदार्थ से अर्थाकारता को अव्यतिरिक्त ही मानना होगा, क्योंकि विषय न होने से इन्द्रिय-सन्निकर्ष किससे होगा? यदि शब्द के द्वारा उपस्थित होने वाला आकार ही अर्थ का आकार है, उसके लिए इन्द्रिय-सन्निकर्ष की क्या आवश्यकता?

समाधान—शब्द के द्वारा ऐसे रजतादि पदार्थ अवभासित हो जाते हैं, जो अर्थक्रियाकारी नहीं होते। शुक्ति-रजत से आभूषणों का निर्माण नहीं किया जा सकता, अतः इन्द्रिय-सन्निकर्ष की सार्थकता यही है कि उसमे अर्थक्रियाकारी पदार्थ का ही ज्ञान होगा। आरोपित रजत ज्ञान का आकारमात्र है, अन्यथा शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त पदार्थ में अन्यान्य शब्द-प्रवृत्तिनिमित्तों को मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है। उसमें भी भ्रमरूपता का परिहार नहीं किया जा सकता। अपरापर शब्द-प्रवृत्ति-निमित्तों के होने में कोई प्रमाण नहीं। भ्रमात्मक ज्ञान से विषय-व्यवस्था भी नहीं हो सकती।

वही अध्यारोपात्मक आकार ही विषय-व्यवस्थापक है—ऐसा नहीं कह सकते,

सर्वज्ञानार्थवत्त्वाच्चेत् स्वप्नादावन्यथेक्षणात् ।
अयुक्तं न च संस्कारान्नीलादिप्रतिभासतः ॥ १५ ॥
नीलाद्यप्रतिघाताच्च ज्ञानं तद्द्योग्यदेशकैः ।
अज्ञातस्य स्वयं ज्ञानात् नामाद्येतेन वर्णितम् ॥ १६ ॥

'यद्ज्ञानम्', 'तदर्थवत्'—यह व्याप्ति स्वाप्न ज्ञान में बाधित हो जाती है क्योंकि वहाँ कुड्यादि (दीवार आदि) विषयों के बिना ही ज्ञान हो जाता है। वहाँ भी दीवार आदि विषयों की सत्ता मानने पर मनुष्यादि की गति का प्रतिघात (टकराव) हो जाना चाहिए किन्तु होता नहीं, अतः अर्थ के बिना ही ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है। विषय की सत्ता यदि हो, तब निद्राक्रान्त पुरुष के समीप योग्य देशादि में अवस्थित पुरुषान्तर को भी वह विषय दिखना चाहिये।

ज्ञानोत्पत्ति में विषयरूप निमित्त की व्यभिचारिता के समान शाब्दबोध में शब्दादि निमित्तों का भी व्यभिचार एवं संस्कारादि निमित्तान्तर वर्णित है ॥१५-१६॥

वार्तिकालङ्कारः

व्यतिरेकाभावात्। न हि सौत्रान्तिकस्येव नामनिमित्तवादिनः सिध्यति व्यतिरेकः। मनस्कारादिमात्रेण नामनिमित्तविषयाभिमताया बुद्धेर्भावात्। अर्थाकारे च ज्ञानेऽभ्युपगम्यमानेऽर्थाकार एव स युक्तः। कस्मान्न स्पष्टाकारतेति चेत्, न सामग्रीभेदेनाकारलेशोत्पत्तेः। न हि यतो यदाकारस्सम्भवति तत्सर्वात्मनैवात्मीसदृशपुत्रवत्।

ननु सकलमेव ज्ञानमनाकारन्तत्रार्थस्य स आकारो यो नीलादिः प्रतिभासः। तत्र सकल एव नीलादिक आकारोऽर्थस्य न ज्ञानस्य। अतः सकलं ज्ञानमर्थवत्। न स्वाकारङ्किञ्चिदिति कुतो भ्रान्तिः। न च ज्ञानस्यासावाकारो बहीरूपेण प्रतिभासनात्। नैतदस्ति। यतो हि—सर्वज्ञानार्थवत्वाच्चेदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि वह ज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं, अतः ज्ञान से व्यतिरिक्त विषय का व्यवस्थापक क्योंकर होगा ? जैसे सौत्रान्तिक के मत में विषय का आकार ज्ञान से भिन्न बाह्य देश में अवस्थित माना जाता है, वैसे शब्द-ज्ञानानुपाती विकल्प-वृत्ति मानने वाले योगाचार के मत में वैसा नहीं माना जाता, अपितु घटादि शब्दों का प्रयोग करने पर जो मनस्कार (मानसिक आभोग या आकार) प्रस्फुटित होता है, वह अनादि संस्कारों से उद्भूत ज्ञान का आकारमात्र है। अर्थ के आकार को ज्ञान में मानने की अपेक्षा अर्थ में ही मानना उचित है। अर्थ का ही आकार ज्ञान में प्रतिफलित होता है, तब उसमें स्पष्टाकारता क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सामग्री-भेद से अन्तर पड़ जाता है अर्थात् जिस पदार्थ के सम्बन्ध से जो आकार उत्पन्न होता है, वह सर्वात्मना वैसा नहीं हो पाता कुछ भेद हो जाता है, जैसे पिता से समुत्पन्न पुत्र पूर्णतया पिता के समान नहीं हो पाता। फलतः विषय-जनित समानाकारता ज्ञान में विस्पष्ट नहीं हो पाती।

शंका—समस्त ज्ञान निराकार है, जो नीलादि अवभासित होता है, वह विषय का आकार है, ज्ञान का नहीं। सभी ज्ञान अर्थवान् या सालम्बन हैं। स्वाकार कोई होता ही नहीं, अतः भ्रान्ति कैसे होगी ? नीलादि आकार ज्ञान का नहीं हो सकता, क्योंकि वह बाह्यरूप प्रतिभासित होता है।

वार्तिकालङ्कारः

सर्वं ज्ञानमर्थवदिति कुतो व्याप्तिः। न खल्वपुरोवर्त्याकारानुभवादेवार्थवत्ता। तथा चेद् भ्रान्ताभ्रान्तविभागो न भवेत्। सकलस्य सालम्बनत्वात्। सालम्बनत्वेऽप्यर्थक्रियाऽप्राप्तेर्भ्रान्तताव्यवहार इति चेत्। एवन्तर्ह्यर्थक्रियाप्राप्तेरनालम्बनत्वेऽपि प्रामाण्यव्यवहार इति किन्नेष्यते। किमत्र तत्त्वमिति चेत्। अनालम्बनत्वमेव। यतः स्वप्नादौ निरालम्बनत्वेऽपि पुरोवर्त्तिग्रहणस्य दृष्टत्वात् तस्य चान्यत्रापि दृष्टत्वात् अयुक्तं सालम्बनत्वम्। विपर्ययः कस्मान्नेति नोत्तरम्। सालम्बनत्वस्यासिद्धत्वात्। न हि सालम्बनत्वङ्क्वचिदपि सिद्धम्। जाग्रदवस्थायामिति चेत्। सा तर्ह्यवस्थाऽन्यत्र नास्तीति तत्र ज्ञानमनालम्बनम्। तस्मात् स्वप्नादावनैकान्तिकत्वमन्यथा दर्शनात्। अथ स्वप्नज्ञानमपि नामनिमित्तालम्बनत्वेन स्वप्नज्ञानमनालम्बनमिति न सिद्धम्।

अत्रोच्यते—न नामनिमित्तालम्बनं स्वप्नज्ञानन्नीलाकारालम्बनान्नामनिमित्तस्य तदाकारताऽभावान्नीलादिकमेव तत्राऽऽलम्बनमिति न युक्तम्। नीलादिविलक्षणत्वात् पुरोनतदाकारस्य। तस्याप्रतिघता नास्ति सत्यनीलादेः। स्वप्ननीलस्य च तद्विपर्ययात्। तथा संवृतेऽपि प्रदेशे हस्तियूथदर्शनात्। यत्र ह्यपवरके व्यवस्थितः पश्यति तत्र हस्तिपुरीष वकाशत्वाद् बहिरपि पिहितापवरकान्निर्गन्तुमशक्यत्वात्। हस्तियूथकार्यस्य च

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—"सर्वं ज्ञानमर्थवत्"—ऐसी व्याप्ति कैसे निश्चित हुई? अपुरोवर्ती आकारानुभव के आधार पर उक्त व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वैसी व्याप्ति मानने पर भ्रान्त और अभ्रान्त का विभाग अनुपपन्न हो जायगा, सभी ज्ञान तो सालम्बन हैं। सभी ज्ञानों के सालम्बन होने पर भी अर्थक्रियाकारी जिसका आलम्बन नहीं, उस ज्ञान में भ्रान्तता का व्यवहार हो जायगा—ऐसा मानने पर जिस अन्यालम्बन ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व व्यवस्थित है, उसमें प्रामाण्य—व्यवहार क्यों नहीं माना जाता? इसका उत्तर है—अनालम्बनता के कारण अर्थात् स्वाप्न ज्ञान अर्थवान् या निरालम्ब होने के कारण प्रमाण नहीं माना जाता। निरालम्बन होने पर भी स्वाप्न ज्ञान में ज्ञानरूपता या ग्रहणात्मता वैसी ही है, जैसी जागरित ज्ञान में। पुरोवर्ती पदार्थ का ग्रहण जैसे जागरित में होता हैं, वैसे ही स्वप्न में। स्वाप्न ज्ञान को निरालम्बन न कह कर विपर्यय क्यों न कहा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विपरीत आलम्बन वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं, स्वाप्न ज्ञान का कोई आलम्बन नहीं, तब विपरीतालम्बनक क्योंकर कहा जायगा? सालम्बनता कहीं प्रसिद्ध ही नहीं, स्वाप्नज्ञान में उसका निषेध क्योंकर होगा? उत्तर है—"जाग्रदवस्थायाम्"। ठीक है किन्तु स्वप्नावस्था जाग्रदवस्था नहीं, अतः वहाँ ज्ञान निरालम्बन है, फलतः "सर्वं ज्ञानं सालम्बनम्"—यह व्याप्ति स्वाप्न ज्ञान में अनैकान्तिक (व्यभिचरित) है।

शंका—स्वप्न-द्रष्टा कहता है—"गजो मया दृष्टः"। वह गज हो या नहीं, 'गज' शब्द का तो अर्थ है ही, अतः गजशब्दार्थत्वेन स्वाप्न ज्ञान का आलम्बन है ही, स्वाप्न ज्ञान निरालम्बन कैसे?

समाधान—शब्दार्थ का कोई आकार नहीं होता किन्तु स्वप्नदृष्ट पदार्थ नीलाकार-पीताकार होता है। नीलाकार गज वहाँ यदि है, तब स्वाप्न ज्ञान सालम्बन अन्यथा अनालम्बन मानना होगा। जिस छोटे-से अपवरक (शयनागार) में स्वप्नालु पुरुष स्वप्न देख रहा है, वहाँ इतना स्थान नहीं, जहाँ गज-जैसा महाकाय जानवर

वार्तिकालङ्कारः

विटपभङ्गादेरदर्शनादग्निकार्यस्य च दाहादेरदर्शनात्। अथ तथाभूत एव नीलादय उत्पन्ना अप्रतिघास्तथा सति सर्वः कस्मान्न पश्यति। यस्तत्र जागर्त्ति तस्य तथाभूतसामग्र्यभावात्। निद्रासामग्रीदर्शनकारणस्वप्नरूपादेः। यदि निद्रासामग्री सर्वस्य दर्शिका स्यात्। न चैवं स्वप्नानामन्यथान्यथा स्वप्नदर्शनात् तद्देश एव। संस्कारस्य भेदादन्यथादर्शनम्। तथा हि यस्य जाग्रदवस्थाभावी यः संस्कारस्तथाभूतमेव दर्शनं न भवतीति न सर्वस्य सर्वदर्शनमिति।

ननु संस्कारः संस्कृतविज्ञानसन्ततिव्यतिरेकेण नान्यस्ततस्ततो विज्ञानमुत्पन्नं विषयसन्निहितङ्गृह्णातीति सर्वसन्निहितग्रहणप्रसङ्गः। न खलु चक्षुरादेर्विज्ञानमुपजायमानं सन्निहितेष्वपि किञ्चिद् ग्रहणायोग्यम्। तस्मात् स्वप्ने किञ्चिदुत्पन्नं विभागेन ग्रहणात्। पूर्वरूपदर्शने हि युज्येत विभागः। यस्य संस्कारः पूर्वदर्शिनः स एव तत् पश्यति, अन्यस्य पूर्वाभावाददर्शनम्।

अस्तु तर्हि विपरीतख्यातिः पूर्वकालमेव दृश्यते तत्कालतया। न तत्कालताऽभावात् अत एव विपरीतख्यातिरिति चेत्। अत्रोच्यते—

विपरीताऽथवा ख्यातिर्विपरीतस्य किम्मता। विपरीते यदि ख्यातिर्न तस्यास्ति विपर्ययः ॥१८४॥

यदि विपरीतस्य ख्यातिर्न तस्य विपरीतता विद्यते। विपरीतता चेत् सर्वस्य तथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समा सके। शयनागार का द्वार बन्द है, बाहर से भी नहीं आ सकता। हाथी अपने आस-पास के पेड़-पौधे उखाड़-पछाड़ कर विनाश का ताण्डव मचा देता है। वह भी उस अपवरक में दिखता नहीं देता। उस कमरे में जाने-आने वाले व्यक्ति हाथियों से उपहत भी नहीं होते, टकराते भी नहीं। निद्रा की भी वह करामात नहीं मानी जा सकती, नहीं तो सभी निद्रालुओं को हस्तियूथ दिखाई देता। उस देश का भी वह सामर्थ्य नहीं, क्योंकि वहाँ अनेक स्वप्निल व्यक्ति विविध स्वप्न देखते हैं। संस्कारों के भेद से स्वप्न-दर्शन का भेद हो जाता है। जिस पुरुष के हस्तियूथ-दर्शन-जनित संस्कार उद्‌बुद्ध नहीं होते, वह वैसा स्वप्न नहीं देखता, फलतः सभी को स्वप्न में सर्वदर्शन नहीं होता।

शंका—संस्कृत विज्ञान-सन्तति से भिन्न संस्कार कुछ और नहीं होता, अतः विज्ञान उत्पन्न होकर सन्निहित पदार्थों का ग्रहण किया करता है। तब प्रश्न उठता है कि स्वप्न में जितने पदार्थ दिखते हैं, सभी सन्निहित उपलब्ध क्यों नहीं होते, क्योंकि जब चक्षु का सन्निहित पदार्थों से सन्निकर्ष होता है, तब उनमें-से कुछ ग्रहण के अयोग्य नहीं होता। स्वाप्न विज्ञान उत्पन्न होकर अपने से भिन्न कुछ विषयों का ग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है, सबका नहीं। यह विभाग तभी उपपन्न हो सकता है, जबकि संस्कारों को विषय-भासक माना जाय। जिस पूर्व-द्रष्टा के विषयानुभव-जनित संस्कार सक्रिय हैं, वह स्वप्न में वह विषय देखता है और अन्य पुरुष वह विषय नहीं देखता है। यह दर्शन तो शुक्ति में रजत-दर्शन के समान विपरीत ख्यातिमात्र है।

समाधान—यहाँ 'वपरीत-ख्याति' शब्द से विपरीतस्य ख्याति विवक्षित है? अथवा 'विपरीता ख्याति'? यदि विपरीत अर्थ की ख्याति है, तब वह ख्याति स्वयं विपरीत नहीं, अपितु विपरीत अर्थ की है, तब विपर्यय (विपरीत) ख्याति नहीं ॥ १८४ ॥ यदि उस ख्याति को ही विपरीत-ख्याति कहा जाता है, तब विषय-सम्बन्धी

वार्तिकालङ्कारः

ग्रहणप्रसङ्गः। तेषामपि विपरीतख्यातिरिति चेत्, नेदं साधीयः।

सर्वस्य विपरीतत्वङ्ख्यातेर्यदि विपर्ययः। किमपेक्षा न हि भ्रान्तिर्भ्रान्तापेक्षतया भवेत् ॥१८५॥

न खलु परम्भ्रान्तमेवापेक्ष्य तदन्योऽपि तथाभूत एव भ्रान्त उच्यते। किञ्च—

अन्यत्र विपरीतख्यातिप्रेताऽन्यत्र सा गता। अकर्दमे पतिष्यामि जातः पातोऽस्य कर्दमे ॥१८६॥

स्वप्नदर्शिनो विपरीतख्यातिम्प्रतिपादयिष्यामीति जाग्रतां वपरीतख्यातेः प्रतिपादनम्।

अथ विपरीतख्यातिः। ख्यातेरेव तर्हि सा विपरीतता नार्थस्येति स्वेनैव रूपेणार्थस्य दर्शनमिति का विपरीतख्यातिः। ख्यातेरेव तद्रूपं यो विपर्यय इति। न चान्यख्यातिरूपमन्यस्य येनान्यस्यापि तथा प्रतीतिः स्यात्। भिन्नत्वात् प्रतीतीनाम्। एवन्तर्हि प्रतीतिरेव तथा प्रतीयत इति न स्वप्नदर्शनस्य सालम्बनता। तथा हि—

तत्कालेऽर्थः स नास्त्येव संस्कारादुदयस्तथा। न दृश्यतेऽविद्यमानं ज्ञानमेव स्ववेदनम् ॥१८७॥

देशान्तरव्यवस्थितन्दृश्यतेऽन्यत्र देश इति युक्तमप्येतत्। कालान्तरसङ्गतन्तु तदाऽविद्यमानङ्कथमिव दृश्यते। तस्मात् पूर्वदर्शनाज्ज्ञानमेव तथोत्पन्नं संवेद्यते नार्थस्तस्यासम्भवात्। यद्यन्यकालेऽपि तत्कालतया दृश्यते सर्वत्र विपरीतख्यातिरस्ति जाग्रदवस्थायामपि स्तम्भादिदर्शने। न तत्र बाधकाभावात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सभी जाग ख्यातियों को भी विपरीत ख्याति कहना होगा। तब तो अविपरीत-ख्याति कोई रही ही नहीं, किसकी अपेक्षा विपरीतता मान कर विपरीत-ख्याति का प्रयोग होगा ?॥ १८५ ॥ सत्य या सम्यक् ख्याति की अपेक्षा जो विपरीत, असत्य या असम्यक् हो उसे ही विपरीत ख्याति कहा जायगा, अन्यथा नहीं। अभ्रान्त की अपेक्षा अन्य को अभ्रान्त कहा जाता है, अन्य भ्रान्त की अपेक्षा नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि हमने कीचड़ से पार सूखी भूमि में पहुँचने के लिए छलांग लगाई और गिर पड़े उसी कीचड़ में॥ १८६ ॥ जाग्रत्ख्याति से भिन्न स्वाप्न ख्याति (प्रतीति) में विपरीतता लाते-लाते जाग्रत्ख्याति में ही विपरीतता ला बैठे।

यदि 'विपरीत-ख्याति' का अर्थ है–ख्यातेरेव विपरीतता, नार्थस्य। तब तो पदार्थ के स्वरूपतः दर्शन में विपरीत-ख्यातिता क्या ? ख्याति का ही वह रूप है, जिसे विपर्यय कहते हैं। ख्याति या प्रतीति व्यक्तियाँ अनन्त हैं, प्रत्येक ख्याति का स्वरूप भिन्न होता है। एक ख्याति व्यक्ति का रूप अन्य ख्याति का नहीं हो सकता। इस प्रकार तो स्वप्न में प्रतीति ही तत्तद्विषय के रूप में प्रतीत होती है, विषयवस्तु नहीं, अतः स्वाप्न ज्ञान निरालम्बन है। अर्थात् स्वाप्न प्रतीति का विषय स्वप्न-काल में नहीं, अपितु पूर्व संस्कारों के आधार पर ज्ञान का अपना आकार ही उसके द्वारा प्रतीत होता है॥ १८७ ॥

वनादि प्रदेश में विद्यमान गजादि अन्यत्र (स्वप्न देश में) प्रतीत होते हैं। यह युक्ति-युक्त होने पर भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि अतीत काल के पदार्थ स्वप्न-काल में विद्यमान नहीं, अतः कैसे देखे जायेंगे ? फलतः पूर्व-दर्शन का अज्ञान ही स्वप्न-काल में दिखाई देता है, पदार्थ नहीं। यदि जाग्रत्कालीन पदार्थ स्वप्नकालीनतया दृष्ट हैं, तब विपरीतख्याति ही है। जाग्रत्कालीन स्तम्भादि के दर्शन में विपरीत ख्याति नहीं, क्योंकि स्वाप्न पदार्थों के जैसे जागरित में बाध होता है, वैसे स्तम्भादि का बाध नहीं

वार्तिकालङ्कारः

ननु बाधकाभावो विपरीतख्यातिरेव । अर्थप्राप्तेर्न विपरीतख्यातिरिति चेत्। नन्वर्थप्राप्तिरपि विपरीतख्यातिरेव । नन्वर्थस्य विद्यमानत्वे कथं विपरीतख्यातिः। नन्वर्थस्य दृष्टत्वे कथमप्राप्तिः । तथाऽभावादिति चेत्, अभावे कथं वेदनम् । अन्यदाकारादिति चेत् । कथन्तर्हि न प्राप्तिः । अन्यदेव भावादिदानीमभावात् । कथन्तर्हि तद्दर्शनम् ।

पर आह—तत्कालस्य रूपस्य प्राप्तिरपि तत्कालस्य किन्न भवति । अशक्यत्वादिति कथन्द्रष्टुं शक्यम् । दृश्यत इति चेत् । ननु तदेव न ज्ञायते कस्य दर्शनम् । प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वस्य दर्शनमेतदिति निश्चयः । न स्वप्ने प्रत्यभिज्ञानाभावात् जन्मान्तरदृष्टस्य अन्येन प्रत्यभिज्ञायमानेन साधर्म्यादिहाप्यनुमानमिति चेत् । गन्धर्वनगरादिष्वभावात् । न हि च तत्र प्रत्यभिज्ञानम् । सर्वमेव तर्हि प्रत्यभिज्ञेयम्पूर्वमेव दृश्यते नेदानीन्तनदर्शनमिति ।

अनेन स्मृतिसम्प्रमोषोऽपि व्याख्यातः । अलौकिकमपि व्याख्यातमनेनैव । तथा हि—किमिदमलौकिकम् । अन्येन न दृश्यते असाधारणम् ।

अत्रोच्यते—ज्ञानमेव तदन्येन योग्यदेशावस्थितेनाज्ञानाद् ग्राहकाकारवत् ग्राह्यतया ग्रहणादर्थ एव न ज्ञानम् । न तस्य ग्राह्यतया ग्रहणमस्ति । स्वरूपेण ग्रहणात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता । बाधकाभाव-प्रतीति भी तो विपरीत ख्याति है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जाग्रत्कालीन स्तम्भादि की प्राप्ति हो जाती है, अतः उनकी प्रतीति विपरीत ख्याति नहीं और उनके बाधाभाव की प्रतीति भी विपरीत-ख्याति नहीं । जागरित काल में यदि दृष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है तो स्वप्न-दृष्ट पदार्थों की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर है—'तथाभावात्' अर्थात् स्वप्न-दृष्ट पदार्थों का अभाव होने से उनकी प्राप्ति नहीं होती । वहाँ यदि अभाव है, तब उनके संवेदन कैसे ? अन्यकालीनतया वेदन हो जाता है । तब प्राप्ति क्यों नहीं होती ? अतीत काल में होने पर भी इदानीं (वर्तमान काल में) न होने से प्राप्ति नहीं होती । तब उसका दर्शन कैसे ?

किसी वादी का प्रश्न है कि यदि स्वप्न में दृश्यमान पदार्थ की अतीत में सत्ता है, तब उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ? उसका उत्तर है—"अशक्यत्वात्" अर्थात् अन्यकालीन पदार्थ का वर्तमान में ग्रहण नहीं हो सकता । किन्तु स्वप्न में वह पदार्थ देखा जाता है । यही तो विचारणीय है कि वह किसका दर्शन है ? प्रत्यभिज्ञा के आधार पर पूर्वतन पदार्थ का ही दर्शन होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वप्न में तो जन्मान्तर-दृष्ट पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती । यद्यपि जन्मान्तरीय पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, तथापि ऐहिक प्रत्यभिज्ञात पदार्थ के साधर्म्य से यहाँ भी एकता का अनुमान किया जा सकता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि गन्धर्वनगर आदि में वैसा सम्भव नहीं । प्रत्यभिज्ञा भी वहाँ नहीं होती । फलतः समस्त प्रत्यभिज्ञेय पदार्थ पूर्व समय में ही देखा जाता है, वर्तमान में नहीं, अतः स्वाप्नज्ञान निरालम्बन है।

इसी प्रकार प्रभाकर-सम्मत स्मृति-प्रमोषवाद भी आलोचित हो जाता है और अलौकिकार्थ-ख्याति भी । यहाँ प्रश्न उठता है कि यह प्रतीयमान अलौकिक पदार्थ क्या है ? अन्य पुरुष के द्वारा यह देखा नहीं जाता । यही असाधारणता ही अलौकिकता है । इस असाधारणता के द्वारा भी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान ही वह

सैवेष्टार्थवती केन चक्षुरादिमतिर्मता।
अर्थसामर्थ्यदृष्टेश्चेदन्यत् प्राप्तमनर्थकम् ॥ १७ ॥

अपि च जो रूपादिविषयकत्वेन चाक्षुषादि-बुद्धि अभीष्ट है, वह अर्थवती कैसे है? यदि कहा जाय कि चाक्षुषादि ज्ञान के उत्पादन का सामर्थ्य रूपादि विषय में देखा गया है, तब रूपादि ज्ञान से भिन्न ज्ञान में सामान्यविषयकत्व एवं अनर्थकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि जैसे रूपादि अर्थ के अभाव से चाक्षुष ज्ञान का अभाव होता है, वैसे सामान्यरूप अर्थ के अभाव से सामान्य-बुद्धि का अभाव नहीं होता, केवल आभोग (कल्पित आकारमात्र) से उसका समुत्पाद मान लिया जाता है ॥ १७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्वरूपेण हि सोऽर्थो न ग्राहयतया। ग्राह्यतया चेदर्थः। ग्राहयता प्रतिभासादन्या नास्ति स एवास्तीति नार्थो नाम। ग्राहयाकारतयार्थत्वमुपलभ्यते न त्वसावर्थः। कथमन्येनान्यस्योपलम्भलक्षणमिति यत्किञ्चिदेतत्।

अर्थोऽर्थ इति प्रत्यय उत्पद्यत इति चेत्, न उक्तमेतत्। "नार्थोऽनर्थाधिमोक्षत" (प्र० वा० २।१) इति। एतेन नामादि व्याख्यातम्।

अपि च सर्वमेव पुरोवर्त्तिप्रतिभासं ज्ञानमत्र विपरीतख्यातिरत्र नेति। अत्रालोकिकार्थता। अत्र नेति कुत इत्याह—सैवेष्टार्थवती केनेति।

अपि च। येषा चक्षुरादिमतिरविपरीतख्यातिरूपा सार्थवती अर्थसन्निधिजनिता केन मता। किमत्र कारणम्। न हि दृश्यमानतायां विशेषः। अर्थस्य सामर्थ्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यान्दृश्यत इति चेत्। तथा हि—सोऽर्थोऽन्येन प्राग् दृश्यते स्वयञ्चानुमानेन पश्चात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

असाधारणरूप है, जो योग्य देश में अवस्थित अन्यपुरुष के द्वारा देखा नहीं जाता स्वसंवेदनमात्र है। वही ग्राहक ज्ञान ही ग्राह्यतया गृहीत अर्थ या विषय कहलाता है। ग्राह्याकार भी ग्राहक से भिन्न नहीं। अर्थात् एक ही विज्ञान ग्राहकतया विज्ञान और ग्राह्यतया अर्थ माना जाता है, ज्ञान से भिन्न कोई अर्थ या आलम्बन नहीं, अतः ज्ञान निरालम्बन है। अन्य ज्ञान की अन्य (अर्थरूपेण) उपलब्धि कैसे? इस प्रश्न का उत्तर है कि शुक्ति वस्तुतः रजत नहीं हो सकती तो क्या रजताकारेण प्रतीत भी नहीं हो सकती?

लोक में घटादि पदार्थ अर्थरूपेण प्रतीयमान हैं, तब अर्थ की सत्ता क्यों नहीं? इस प्रश्न का पहले ही उत्तर दिया जा चुका है—"नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः" (प्र० वा० २।१)। शब्दादि की भी निर्विषयता इसी प्रकार सिद्ध की जाती है।

अपि च पुरोवर्ति-भासक समस्त ज्ञान समानरूपेण निरालम्बन है, क्योंकि यह सम्यक्ख्याति है। यह विपरीत ख्याति है या यह लौकिक ख्याति है और यह अलौकिक ख्याति है—इस व्यवस्था का निर्णायक कोई पदार्थ नहीं। यही कहा जा रहा है—"सैवेष्टेत्यादि"।

अर्थात् यह जो चक्षुरादिजन्य अविपरीतख्यातिरूप मति (ज्ञान) है, वह इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से जनित है—इसमें क्या प्रमाण? सम्यक् और विपर्यय ख्याति में दृश्यमान कोई विशेषता उपलब्ध नहीं होती। अर्थ का सामर्थ्य अन्वय-व्यतिरेक से देखा जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जो पदार्थ पहले अन्य के द्वारा दृष्टचर है,

अप्रवृत्तिरसम्बन्धेऽप्यर्थसम्बन्धवद् यदि ।
अतीतानागतं वाच्यं न स्यादर्थेन तत्क्षयात् ॥ १८ ॥

केवल वक्ता और श्रोता के सम्बन्धी अर्थ में ही नहीं, सम्बन्ध-रहित नामादि अर्थ में भी प्रवृत्ति हो जायगी। फलतः अतीत (मान्धातादि) और अनागत शंखचक्रवर्ती आदि पदार्थों के साथ उनके नामशब्दों का सम्बन्ध न होने से वे शब्द वाच्य-रहित हो जायेंगे, क्योंकि उनके वाच्यार्थों का कोई स्वरूप ही नहीं ॥ १८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्राप्यते। तेनार्थस्य सामर्थ्यन्दृश्यते। यद्येवमन्यद् यत्रेयं सामग्री नास्ति तज्ज्ञानं प्राप्तमनर्थकम्। तथा हि—

नास्त्यत्रार्थोऽत्र स्वस्तीति मतिः सा व्यवहारिकी । अविसंवादिनी चेयम्मतिः (?) ।।१८८।।

तथा हि-ज्ञानमेव ममोत्पन्नन्नात्रार्थोऽस्ति पूर्वभावनासामर्थ्यमत्र मयैवम्भावितमिति न तु तन्मया दृश्यते स्मरणं वा ममालौकिको वायमर्थः । येन बाधकेनालौकिकत्वम्प्रतीयते तेनानर्थकत्वमेव। न च लौकिकत्वेन प्रतीयमानमलौकिकन्तत्र विपरीतख्यातिप्रसङ्गात्। तदप्यलौकिकमिति चेत्, न अनवस्थाप्रसङ्गात्। अथासाधारणत्वमेव प्रतीयते। न हि परेणेदम्प्रतीयत इति मतिः। अर्थविषये तु प्रत्ययेऽनुमानेन परप्रतीयमानता प्रतीयते। एवन्तर्हि परो नास्त्यभ्रान्तार्थस्तवैव प्रतीतिरेषाप्रतीतिरेवेयमिति नार्थ इति प्रत्येति तस्मान्नामादिप्रतिभासः तेन न सालम्बनत्वं वक्तृश्रोतृसम्बन्धे सतीति न्यायः। तथा हि—अप्रवृत्तिरसम्बन्धेऽपीति।

यद्यर्थसम्बन्धाभ्युपगमो नामनिमित्तस्य तदाऽप्रवृत्तिरेव। यतोऽर्थेन सह तस्य क्षयः। असम्बन्धे सुतरामेवाप्रवृत्तिः। यत्रार्थसम्बन्धस्य केवलस्य प्रतीतेरप्रवृत्तिप्रसङ्ग-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पश्चात् स्वयं अनुमान के द्वारा प्राप्त किया जाता है—यह अर्थ का ही तो सामर्थ्य है। जहाँ उक्त सामग्री नहीं, वहाँ जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह अर्थवान् (सालम्बन) कैसे होगा ?

पुरुष को दो प्रकार की सांव्यवहारिकी बुद्धि होती है—(१) 'अत्रार्थो नास्ति', (२) 'अत्रार्थोऽस्ति'। यह बुद्धि अविसंवादिनी है ॥ १८८ ॥ अर्थात् जहाँ विषय नहीं होता, वहाँ यह अनुभव होता है कि 'ज्ञानमेव ममोत्पन्नं नात्रार्थोऽस्ति।' केवल पूर्व संस्कारों के आधार पर मैंने अर्थ की (१) कल्पना कर रखी है, 'वह अर्थ मुझे दिखाई नहीं देता।' या (२) 'उस अर्थ की स्मृति हो रही है।' अथवा (३) वह अर्थ अलौकिक (असाधारण) है'। जिस बाधक ज्ञान के द्वारा विषय का बाध होता है, उसी से उस ज्ञान में अनर्थता (निरालम्बनता) सिद्ध होती है। वहाँ लौकिक पदार्थ ही अलौकिकत्वेन प्रतीत होता है—ऐसा मानने में अतस्मिंस्तद्बुद्धिरूप विपर्यय प्रसक्त होता है। वह भी अलौकिक ख्याति है—ऐसा मानने में अनवस्था प्रसक्त होती है। असाधारणता ही प्रतीत होती है। अर्थात् कोई परपुरुष ऐसा नहीं, जो अभ्रान्तार्थक हो। एकमात्र आपको ही इसकी प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति नहीं, अप्रतीति है, क्योंकि इसका कोई अर्थ (विषय) नहीं। फलतः वक्तृश्रोतृसम्बन्धी शब्द सालम्बन (किसी अर्थ का वाचक) नहीं।

यदि नाम (शब्दरूप) निमित्त का अर्थ के साथ सम्बन्ध विवक्षित है, तब शब्द

(५) परमते दोषाः—

सामान्यग्रहणाच्छब्दादप्रसङ्गो मतो यदि ।
तन्न केवलसामान्याग्रहणाद् ग्रहणेऽपि वा ॥ १९ ॥
अतस्तत्समानताव्यक्तौ तेन नित्योपलम्भनम् ।
नित्यत्वाच्च यदि व्यक्तिर्व्यक्तेः प्रत्यक्षतां प्रति ॥ २० ॥
आत्मनि ज्ञानजनने यच्छक्तं शक्तमेव तत् ।
अथाशक्तं कदाचिच्चेदशक्तं सर्वदैव तत् ॥ २१ ॥

यदि कहा जाय कि शब्द के द्वारा केवल सामान्य (जाति) का ही ग्रहण होता है, व्यक्ति का नहीं, अतः व्यक्ति का ग्रहण करने के लिए इन्द्रिय-संहृति की आवश्यकता है, उसका वैफल्य नहीं। तो वैसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि व्यक्ति-रहित केवल सामान्य का ग्रहण किसी से भी नहीं हो सकता। व्यक्ति से ही जाति की अभिव्यक्ति मानी जाती है, व्यञ्जक-ग्रहण के बिना व्यङ्ग्य (सामान्य पदार्थ) की अभिव्यक्ति कैसे होगी ? जिस व्यक्ति से जो व्यङ्ग्य हो, उसको तत्समानता (उस व्यक्ति की समानता या सामान्य) कहते हैं और अतत्समानता की व्यक्ति (अभिव्यक्ति) नहीं होती। आशय यह है कि जो सामान्य न तो किसी व्यक्ति का धर्म है और न किसी व्यक्ति से व्यङ्ग्य, वह सामान्य नित्य और निरपेक्ष है, उसकी सदैव उपलब्धि होनी चाहिए, चाहे व्यक्त हो अथवा नहीं। व्यक्ताश्रित सामान्य की प्रत्यक्षता के लिए ही व्यक्ति की प्रत्यक्षता अपेक्षित है, अतदाश्रित सामान्य के लिए नहीं ॥ २० ॥ जो सामान्य (जाति) व्यञ्जक-प्रत्यक्षता के समय अपनी प्रत्यक्षता के जनन की शक्ति रखता है, वह व्यक्ति की प्रत्यक्षता (इन्द्रिय-व्यापार) के बिना भी अपनी प्रत्यक्षता में समर्थ है इन्द्रिय की कोई आवश्यकता नहीं ॥ २१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्तत्रासम्बन्धे सुतरामेवाप्रवृत्तिः। अतीतानागतस्य चार्थस्याभावात्। यद्यपि नामनिमित्तमास्ते तथा प्रवृत्तिरेवार्थेऽर्थोल्लेख्याभावात्। न ह्यन्यत्र प्रतीतेऽन्यत्र प्रवृत्तिः। परिशिष्टन्तु व्याख्यातम्।

(५) परमते दोषाः—सामान्यग्रहणाच्छब्दादिति।

यदि सामान्यं शब्दप्रत्ययगोचरः। तत्सामान्यं केवलमन्यथा वा गृह्येत। यदि केवलं सामान्यं गृह्यते व्यक्त्यपायेऽपि भवति प्रत्ययः किन्त्वतीतादिप्रतीतिर्न स्यात्। न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के द्वारा अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अतीत और अनागत पदार्थों का कोई स्वरूप न होने के कारण शब्द के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यद्यपि शब्द की प्रतीति होती है, तथापि अर्थ-प्रतीति न होने से अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अन्य की प्रतीति से अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। कारिका के शेष भाग की व्याख्या पहले हो की जा चुकी है।

(५) जातिशक्तिवाद में दोषाभिधान—

यदि सामान्य (जाति) शब्दजन्य प्रतीति का विषय है, तब जिज्ञासा होती है कि केवल सामान्य (व्यक्ति-निरपेक्ष) शब्द ज्ञान का विषय है? अथवा व्यक्ति-विशेषित जाति का ? यदि केवल सामान्य का ग्रहण होता है तो व्यक्ति का नाश हो जावे

वार्तिकालङ्कारः

हि सामान्यमतीतादिरूपम् । अथ सामान्यमतीतादिव्यक्तियोगादतीतादीति व्यपदिश्यतेऽध्यवसीयते वा । तथा सति व्यक्तिरूपसहितमेव गृह्यते । न चातीतादिव्यक्तीनां रूपमस्ति । कथमतीतादेर्व्यक्तिरूपद्वारेणातीतादिरूपताप्रतीतिः । न ह्यविषयीकृततद्रूपस्ताद्रूप्येणापरपरिग्रहणे समर्थः ।

अथ केवलस्यापि सामान्यस्य ग्रहणे व्यवहारः । तदाप्यपरो दोषः । तस्य तत् सामान्यन्न भवति तद्वयङ्ग्यश्च न भवति । न हि तद्वचतिरेकेण गृह्यमाणं स्वतन्त्रन्तस्य तदिति व्यपदेशार्हम् । तद्वयङ्ग्यं वा । स्वज्ञानेन प्रतीतिर्हि व्यञ्जकः प्रदीपादिप्रकाशः । व्यक्तिप्रतीतिमन्तरेणापि यदि सामान्यङ्केवलम्प्रतीयते न व्यक्ति-व्यङ्ग्यम् । तेन नित्योपलब्धिरस्य स्यात् । व्यक्तिशून्येऽपि प्रदेशे सामान्यमुपलभ्यते । यथा शब्दात् तद्वयक्त्यभावेऽपि तद्देशे । अथ व्यञ्जिकां व्यक्तिमन्तरेणेन्द्रियेण न गृह्यते । इन्द्रियेण गृह्यमाणं सामान्यं व्यक्तिव्यङ्ग्यं यथा घटादयः शब्दात् प्रतीयमाना न प्रदीपादिकमपेक्षन्ते । इन्द्रियेण प्रतीयमानास्त्वपेक्षन्त इत्यदोषः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर भी सामान्य का ज्ञान होना चाहिए । सामान्य की प्रतीति जैसे वर्तमान होती है वैसे ही अतीत और अनागत सामान्य की प्रतीति होती है । सामान्य की प्रतीति में व्यक्ति की अतीत होने से अतीत तथा अनागत होने से अनागतविषयता होती है । साक्षात् सामान्य नित्य है, न वह अतीत है, न ही अनागत । अतः व्यक्ति के द्वारा अतीतादि विषयकत्व उपपन्न हो सकता है । व्यक्ति-निरपेक्ष जाति का ग्रहण करने पर अतितादि विषयकत्व कैसे संभव होगा, क्योंकि सामान्य न अतीत है न अनागत नित्य है । अतः मानना होगा कि व्यक्ति-विशेषित ही सामान्य का ग्रहण होता है, केवल सामान्य का नहीं । अतीतादि व्यक्तियों का कोई रूप नहीं होता, तब व्यक्ति के द्वारा ही प्रतीति में अतीतादि विषयकत्व कैसे बनेगा ? विषयगत अतीतत्वादि के न होने पर प्रतीति में अतीतादि विषयकत्व नहीं बन सकता । यदि कहा जाय कि लोक में केवल सामान्य का ही व्यवहार होता है—घटत्वं जानामि, पटत्वं जानामि—इस प्रकार व्यक्ति-निरपेक्ष सामान्य का ग्रहण करने पर "कस्य तत् सामान्यम्" इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति-निरपेक्ष सामान्य के साथ व्यक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं । घटत्वादि व्यक्तियों का व्यञ्जक घटादि पदार्थ ही माने जाते हैं, जैसे अन्धकारस्थ पदार्थ का व्यञ्जक दीपक होता है, वैसे ही घटत्वादि के व्यञ्जक घट माने जाते हैं । व्यक्ति प्रतीति के बिना ही सामान्य की प्रतीति होती है तब सामान्य को व्यक्ति-व्यञ्जक नहीं माना जा सकता, फलतः नित्य सामान्य की उपलब्धि भी अनित्य होगी व्यक्ति से शून्य प्रदेशों में भी सामान्य की उपलब्धि प्रसक्त होती है, जैसे शब्द के द्वारा व्यक्ति-रहित प्रदेशों में भी सामान्य की प्रतीति होती है ।

शंका—इन्द्रियों के द्वारा सामान्य का ग्रहण व्यक्ति के माध्यम से ही होता है अर्थात् इन्द्रिय-संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से घटत्व का प्रत्यक्ष माना जाता है व्यक्ति के न होने पर वह सम्बन्ध सम्भव नहीं । जैसे शब्द के द्वारा प्रदीपादि-व्यञ्जक के बिना ही घट का ग्रहण होता है वैसे इन्द्रिय के द्वारा प्रदीपादि के बिना घटादि का ग्रहण नहीं हो सकता । फलतः प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीयमान घटत्व भी जाति या व्यक्ति की अपेक्षा करती है ।

तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षययितुं क्षमः॥ २२ ॥
तच्च सामान्यविज्ञानमनुरुन्धन् विभाव्यते।
नीलाद्याकारलेशो यः स तस्मिन् केन निर्मितः॥ २३ ॥

उस (नित्य सामान्य) में जो स्वविषयक ज्ञान के उत्पादन की शक्ति या अशक्ति स्वभावतः अवस्थित है, वह अचिकित्स्य (अनपनेय) है, उस शक्ति या अशक्ति का निराश कोई नहीं कर सकता ॥ २२ ॥ शब्दतः केवल सामान्य का ज्ञान होता है, तब वह सामान्याकार ही होना चाहिए किन्तु उस ज्ञान में जो नीलादि-आकार की प्रतीति कैसे होगी ? वह इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जनित व्यक्ति-भान है, अतः इन्द्रिय-सन्निकर्ष व्यर्थ नहीं ॥ २३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तदप्ययुक्तम्। शब्दात् घटादिसामान्यमेव प्रतीयते। तत्कथं स दृष्टान्तः पक्षीकृतत्वात् सामान्यस्य। न हि पक्ष एव दृष्टान्तो दृष्टान्तदोषाभावप्रसङ्गात्। ततो यदि शब्दात् स्वरूपेण सामान्यम्प्रतीयते किन्तस्य प्रत्यक्षप्रतीत्या।

ननु प्रत्यक्षग्रहणाभावे कथं शब्दात् प्रतीतिः सम्बन्धग्रहणाभावात्। ननु यः शब्दाकारः प्रतिभाति सामान्यस्य किन्तद्रूपं सामान्यमन्यथारूपं वा। यदि तद्रूपन्तदेव तर्हि व्यक्तिव्यक्तम्प्रत्यक्षेणापि प्रतीयेत तेनैव रूपेण ज्ञानञ्जनयेत्। अथ प्रत्यक्षेण प्रतीयते तत्सामान्यस्य रूपम्। तथा सति तत्र सङ्केतकरणे कथमन्यत्र प्रतीतिः प्रत्यक्षप्रतिपन्नेनैव रूपेण भासेत शब्देऽपि प्रत्यये। न च तत्स्वभावोऽन्यस्वभावतया प्रत्ययान्तरे प्रतिभासते। नित्यञ्च सामान्यन्तद्रूपमेव सर्वदा च प्रतिभासते। यतः—तस्य शक्तिरशक्तिर्वेति।

यदि शब्दतः केवलसामान्यप्रतीतिः केवलेनैव सामान्याकारेण प्रतिभासितव्यम्। नीलाद्याकारलेशस्य कुतोऽवकाशः। व्यक्तेश्चेत् व्यक्तेरप्रतिभासने कुतः। व्यक्तिजनित-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—शब्द के द्वारा केवल घटत्वादि सामान्य की जो उपलब्धि होती है वह पक्ष के अन्तर्गत है उसे दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता, कुमारिल भट्ट ने भी कहा है "न हि पक्षे सपक्षता" अतः यदि शब्द के द्वारा केवल सामान्य की प्रतीति होती है तब प्रत्यक्ष-प्रतीति का क्या प्रसङ्ग ?

प्रश्न—प्रत्यक्षतः ग्रहण न होने पर शब्द से प्रतीति कैसे होगी ? क्यों कि उसके बिना शब्दार्थ की सङ्गति ग्रहण ही नहीं होगी। शाब्दज्ञान में जो सामान्य का कारक प्रतीत होता है क्या सामान्य का वही आकार है अथवा दूसरा। यदि वही रूप सामान्य है, वह व्यक्ति का स्वरूप है, व्यक्ति की प्रतीति प्रत्यक्ष से भी होती है, उसी रूप से वह ज्ञान को जन्म देगी। यदि प्रत्यक्ष के द्वारा ही सामान्य की प्रतीति मानी जाती है तब सङ्केत-ग्रहण काल में भी उसीके साथ सङ्गति-ग्रहण मानना होगा, अतः शाब्द प्रत्यय में भी उसी का ग्रहण होगा रूपान्तर का नहीं। सामान्य नित्य है उसका रूप भी नित्य है, उसका प्रतिभान अन्य रूप से कभी नहीं हो सकता। यदि शब्दतः सामान्य की प्रतीति होती है तब व्यक्ति-निरपेक्ष केवल सामान्य का प्रतिभास होना चाहिए।

प्रत्यक्षप्रत्ययार्थत्वात् नाक्षाणां व्यर्थतेति चेत् ।
सैवैकरूपाच्छब्दादेर्भिन्नाभासा मतिः कुतः ॥ २४ ॥

पदार्थों का ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) प्रत्यक्ष और (२) अप्रत्यक्ष। शब्दादि के द्वारा अप्रत्यक्ष तथा इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान, अतः इन्द्रियों की व्यर्थता क्यों प्रसक्त होगी ? इन्द्रियों की सार्थकता हो जाने पर भी प्रश्न यह उठता है कि एक प्रकार के कारण से प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाभासात्मक अनेकस्वरूप बुद्धि कैसे उत्पन्न होगी ॥ २४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

त्वादिति न युक्तम् । सामान्याभावप्रसङ्गात् । तद्व्यतिरेकेणानवभासनात् । अनुगताकारतापि नान्या नीलाद्याकारत इत्युक्तम् । तत्र च समानाकारतायामर्थानां सामान्यमिति न स्यात् । उभयोरपि प्रतीतेरिति चेत्, न इन्द्रियग्राह्यता स्यात् । इन्द्रियेण व्यक्तिप्रतीतेर्भविष्यतीन्द्रियग्राह्यतेति न न्यायः । शब्दात् प्रतीतिर्न सामान्यस्य स्यात् । न हि तथाभूतं सामान्यमस्तीति प्रतीतिः सम्प्रत्ययाभावाद् भिन्नप्रतिभासनाच्च । तस्माद् व्यक्तिव्यतिरेकि किञ्चित् प्रतिपाद्यमिति शब्दाद् व्यक्तिरूपप्रतिपत्तौ नाक्षसंहते साफल्यं व्यर्थता भवेत् । यतो हि—प्रत्यक्षप्रत्ययार्थत्वादिति ।

अर्थस्वरूपप्रतिपत्तेरेव प्रत्यक्षता सा चेदस्ति व्यर्थतैवाक्षाणाम् । पुरोवर्त्तितया प्रतिपत्तिरध्यक्षता न साक्षादिति चेत्, न । शब्दस्यान्यथा प्रतीतेः तर्हि शब्दः पुरोवर्त्त्येव गृह्यते । तस्याध्यक्षता न स्यात् । सर्वात्मना प्रतीतिरिति चेत् । शब्दादपि स एव प्रतीयते सङ्केतस्य तत्रैव ग्रहणात् परितोषार्थत्वादिति चेत्, न परितोषस्यापि भावात् । ईदृशस्तव परितोष इति शब्दश्रुतेरासीदिति प्रयोगान्नेति चेत्, न । भवतीत्यतीतेऽपि प्रयोगस्य सम्भवात् । अथापि स्यादतीतानागतयोरेव शब्दः प्रयुज्यते । व्यवहिते च वर्त्तमाने । न त्वव्यवहिते दृश्यमान एवं तत्र प्रयोगवैयर्थ्यात् । न वातीता रूपादयः परितोषकारिणो व्यवहिताश्चादृश्यमानाः । तेनेन्द्रियाणां साफल्यमिति चेत् । तदसत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नीलादि व्यक्तियों का जो प्रतिभास होता है उसके प्रतिभास का कोई अवसर ही नहीं। व्यक्ति-सम्बन्धित सामान्य का भान मानने पर व्यक्ति का भान न होने पर सामान्य का भान कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि व्यक्ति से जनित होने के कारण व्यक्ति का भान आवश्यक है। व्यक्ति के बिना सभी व्यक्तियों में अनुगतरूप से प्रतीत होने वाला सामान्य तत्त्व भी अवभासित नहीं हो सकता। व्यक्ति और सामान्य दोनों का भान मानने पर इन्द्रियग्राह्यता नहीं बनती। इन्द्रिय के द्वारा व्यक्ति की प्रतीति होने पर शब्द से सामान्य की प्रतीति नहीं होगी। अतः व्यक्ति से व्यतिरिक्त सामान्य शब्द प्रतिपाद्य नहीं। अर्थस्वरूप की प्रतिपत्ति ही प्रत्यक्षता है, वह यदि शब्द के द्वारा ही हो जाती है तब इन्द्रियों का सार्थक्य नहीं रह जाता। पुरोवर्तितया ग्रहण ही प्रत्यक्षता है तब शब्द से भी वही वस्तु प्रतीत होगी, क्यों कि संकेत के द्वारा भी संकेतग्रहण वैसा ही होता है। परोक्ष ग्रहण से पुरुष को सन्तोष नहीं होता, प्रत्यक्ष के द्वारा विशदावभास होने पर ही सन्तोष होता है। वैशद्यावभास इन्द्रियों के सहायता बिना नहीं हो सकता। यही इन्द्रियों का साफल्य है।

वार्तिकालङ्कारः

एवं हि—

स्वरूपेण हि यद् दृष्टस्तदतीतादिकङ्कथम्। न ह्यदृश्यादतीतादि परं रूपाद् विभाव्यते ॥ १८९ ॥

चक्षुरादिनापि दृश्यमानमव्यवहितस्वरूपदर्शनादेव परितोषकारि च। न च व्यवहितेऽपि गीतध्वनिः स्वरूपेण प्रतीयमानः परितोषस्य न विधायकः। जलतरङ्गन्यायेनागतेरव्यवहित एवेति चेत्। नैतदपि सारम्। तदेवम्—

दूरदेशतया तस्य प्रतीतेरागतिः कुतः। उपादानस्य दूरत्वेऽतिप्रसङ्गः प्रवृत्तिमान् ॥ १९० ॥

दूरदेशोऽपि प्रतीयमानो यदि संयुक्तः शरीराधिष्ठानैः। रूपादयोऽपि तथा स्युः। ततः शब्दाऽनुमानादन्यतो वा विकल्पादर्थप्रतीतौ चाण्डालस्पर्शागम्यागमनादयो भवेयुः। तस्माद् यदि शब्दार्थस्य स्वरूपेण प्रतिपत्तिरतीतादिना न स्यात्। दृश्यमाना अपि स्वरूपेण प्रतीतित एवानातीतादयः। संवादेऽपि संवादादिशब्दादस्त्येव। अथेन्द्रियेण प्रतीतिरेवास्तिता न प्रतीतिमात्रम्। शब्दवैकल्यादयोऽपि हि विद्यमानतां विनापि दृष्टवृत्तयः।

इन्द्रियेण प्रतीतिश्चेदस्तित्वम्मशकादयः। किन्न सन्त्युपघाताच्चेदुपघातः कथम्मतः ॥ १९१ ॥

अन्यथा प्रतिपत्तिश्चेन्न सन्ति मशकादयः। एवन्तर्हि स्वरूपस्य प्रतीतिरस्तिता मता ॥ १९२ ॥

तस्मात् स्वरूपप्रतिपत्तिरेवास्तिताध्यक्षताऽव्यवहितता चेति न विशेषः शाब्देन्द्रियप्रत्यययोरिति प्रत्यक्षप्रत्ययप्रयोजनता न युक्तिमतरक्षाणामतो वैफल्यमेव। इतश्च

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—जो वस्तु स्वरूपेण दृष्ट है वह अतीतादि नहीं हो सकता, क्योंकि अदृश्य स्वरूपता से भिन्न अतीतादि का स्वरूप नहीं माना जाता ॥ १८९ ॥ चक्षुरादि के द्वारा अव्यवहित स्वरूप का दर्शन होने पर ही सन्तोष होता है। व्यवहितगीतध्वनि से तब तक परितोष नहीं होता जब तक की ध्वनि का अर्थ प्रत्यक्ष न हो! व्यवहित पदार्थ भी जलतरङ्ग के समान अव्यवहित हो जाता है, ऐसा नहीं कह सकते। जिसकी प्रतीति दूरदेशतया होती है उसका समीपागमन कैसे होगा, जिस तत्त्व का उपादान कारण व्यवहित है, दूरस्थ है, उपादेयता का भान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ॥१९०॥ दूर देश में प्रतीयमान शब्द यदि जलतरङ्ग की रीति से प्रत्यक्ष हो जाता है तब रूपादि सन्तति में भी प्रत्यक्षता अतिप्रसक्त होती है। दूरदेशस्थ प्रतीयमान पदार्थ भी यदि शरीराधिष्ठान से संयुक्त हो जाता है तब शब्द या अनुमान प्रमाण के द्वारा अर्थ की प्रतीति होने पर चाण्डाल-स्पर्श और अगम्य-गमनादि का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। अतः शब्दार्थ की यदि स्वरूपेण प्रतिपत्ति होती है तब अतीतादि का भान नहीं होना चाहिये। इन्द्रिय के द्वारा प्रतीति ही अस्तिता है। क्योंकि शब्द के द्वारा असत् पदार्थ का भी प्रतिभान मान लिया गया है, किन्तु ऐन्द्रियक प्रतीति को सत्ता का व्यंजक माना जाता है तब तैमिरिक व्यक्ति के द्वारा दृष्ट केशपाश और मसकादि की भी सत्ता माननी पड़ सकती है, यदि कहा जाय दृश्यमान केश-पाशादि यदि सत् माने जाते है तब त्वगिन्द्रिय के द्वारा भी उनके स्पर्श की अनुभूति होनी चाहिये ॥१९१॥ यदि इन्द्रियों के द्वारा भी अन्यथा प्रतीति हो सकती है तब स्वरूपतः प्रतीति वही अस्तिता माननी होगी, पीतादि रूप से प्रतीयमान शङ्खादि की प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती ॥१९२॥ स्वरूप-प्रतीति ही यदि अस्तिता, अध्यक्षता और अव्यवहितता है, तब शब्द के द्वारा स्वरूपतः प्रतीति होने पर इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रह जाती। शब्द के द्वारा

न जातिर्जातिमद्व्यक्तिरूपं येनापराश्रयम् ।
सिद्धम् पृथक् चेत्कार्यत्वं ह्यपेक्षेत्यभिधीयते ॥ २५ ॥
निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुना ।
सम्बध्यते कल्पनया किमकार्यं कथञ्चन ॥ २६ ॥
अन्यत्वे तदसम्बद्धं सिद्धान्तो निःस्वभावता ।
अतिप्रसङ्गोऽभावस्य नापेक्षाऽभावतस्तयोः ॥ २७ ॥

जाति जातिमद् व्यक्ति से भिन्न है, अथवा अभिन्न ? यदि व्यक्तिस्वरूप है, तब सभी व्यक्तियों का स्वरूप भिन्न है। जाति जिस व्यक्ति का स्वरूप है, उसी में रहेगी, अन्य में नहीं, अतः जाति में अनन्याश्रयता (एकव्यक्तिमात्रवृत्तिता) प्रसक्त होती है, जबकि जाति सर्वव्यक्तिवृत्ति मानी जाती है। यदि जाति व्यक्ति से

वार्तिकालङ्कारः

सामान्यमवस्तु। तदाह—न जातिर्जातिमद्व्यक्तिरूपमिति ।

जातिमद्वा वस्तु जातिरुच्येतान्यद्वा। तत्र न तावद् वस्तुव्यक्तिरूपमेव जातिर्व्यक्तयो येनापराश्रया अमिश्राः प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते । न ह्यन्यथाऽभ्रान्तप्रत्ययेन प्रतीयमानमन्यथा भवति । तथान्यनिरपेक्षाः शाबलेयादयः प्रतीयन्ते केवलकेवलाः । अथ पश्चाद् द्वितीयादिव्यक्तयः पूर्वपूर्वसापेक्षतया प्रतीयन्ते तत्समानमेतत् तदेवेदमिति वा । तदप्ययुक्तम् । कार्यमपि यावदङ्कुरादिकल्पनया सम्बध्यते स्वहेतुना निष्पत्तेरपराधीनत्वात् । तथा हि यावदनिष्पन्नन्तावदत्र कल्पनैव निष्पत्तिकालेऽपि तत्सहभावितयाऽपराधीनं विनष्टं वा कारणमिति कल्पनयैव सम्बन्धः कार्याणामपि कारणैः किमङ्गविपर्यये । तस्मादन्यत्वव्यक्त्यन्तराद् व्यक्तेः सामान्यस्य वा तदसम्बद्धम् । अतो निःस्वभावता सामान्यस्य । न ह्यसम्बद्धम्प्रतीयमानं सामान्यम् । अभावोऽपि तर्हि तत्सम्बद्धतया

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतीयमान सामान्य पदार्थ केवल कल्पनामात्र है, वस्तुसत् नहीं ।

इसलिए भी सामान्य वस्तु नहीं, क्योंकि जातिमद् वस्तु को जाति कहा जाता है ? अथवा जाति-रहित वस्तु को ? जातिमत् (व्यक्ति) वस्तु को जाति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यक्तियाँ भिन्न-भिन्न जाति से युक्त होकर अमिश्र (भिन्न-भिन्न) प्रतीत होती हैं, अभिन्न एक नहीं। अनेक व्यक्तियों में जाति के समान एकता प्रत्यक्ष प्रमाज्ञान के द्वारा कभी प्रतीत नहीं हो सकती। अभ्रान्त प्रत्यय के द्वारा प्रतीयमान पदार्थ अन्यथा कभी नहीं होता। वैसे ही अन्य-निरपेक्ष शाबलेयादि व्यक्तियाँ प्रतीत होती हैं—केवल-केवल (एक-एक)। पश्चात् द्वितीयादि व्यक्तियों में "तत्समानमेतत्" अथवा "तदेवेदम्"—ऐसी जो प्रतीति होती है।

वह भी अयुक्त है, क्योंकि अङ्कुरादि कार्य भी अपने कारणीभूत कारण (बीजादि) की कल्पना करके अपने हेतु से सम्बन्धित होता हैं, क्योंकि कार्य-वस्तु की निष्पत्ति सदैव पराधीन होती है। (१) जब तक कार्य निष्पन्न नहीं होता, तब तक कारण की कल्पना ही होती है। (२) निष्पत्ति के समय कार्य-सहभावी अपराधीन कारण की कल्पना अथवा (३) विनष्ट कारण की कल्पना होती है, विपर्यय में कहना ही क्या ? अतः व्यक्ति से व्यक्त्यन्तर और सामान्य से व्यक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं। अतः

भिन्न (असम्बद्ध) है, तब 'अस्येदं सामान्यम्'—इस प्रकार प्रतीयमान सम्बन्ध नहीं बनता। अपेक्षा की विवक्षा हो नहीं सकती, क्योंकि अपेक्षा नाम है—उत्पत्ति या कार्यत्व का, वह नित्य सामान्य में सम्भव नहीं ॥ २५ ॥ घट-पटादि कार्य पदार्थों का अपने कारणों के साथ सम्बन्ध कुछ कल्पना करके सम्भव हो जाता है किन्तु अकार्य (नित्य) सामान्य का कभी सम्बन्ध सम्भव नहीं ॥२६॥ जाति में व्यक्ति से अन्यत्वानन्यत्व की व्यवस्था न हो सकने के कारण व्यक्तिस्वभावता या तदन्यस्वभावता सम्भव नहीं, अतः निःस्वभावता सिद्ध हो जाती है। निःस्वभावता भी जाति है किन्तु यह अर्थ कदापि नहीं कि सभी अभाव-पदार्थ जाति हैं, अन्यथा सभी अभाव जाति बन जायेंगे। अतद्व्यावृत्ति निःस्वभाव होने पर भी अनुगम-प्रतीति की हेतु होने से वैसे ही सामान्य मानी जा सकती है, जैसे प्रागभावादि में अभावत्व और द्रव्यादि में पदार्थत्व ॥ २७ ॥

तस्मादरूपा रूपाणां नाश्रयेणोपकल्पिता।
तद्विशेषावताराथैर्ज्योतिः शब्दैः प्रकाश्यते ॥ २८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रतीयमानः सामान्यम्भवेत्। निःस्वभावतायाः समानत्वात्। तथा हि—अतिप्रसङ्गोऽभावस्येति।

शशविषाणं शशविषाणमिति भवत्येव सामान्यं व्यक्त्यपेक्षया। अन्यव्यक्तेः कस्मान्नेति चेत्। वस्तुसामान्यवादिनोऽपि गोत्वङ्कर्कादिकस्य कस्मान्न भवति। अपेक्षाऽभावात्। न हि कर्कादिव्यक्त्या तद् व्यज्यते। एवन्तर्हि शाबलेयादिष्वपेक्षाभावादेव खरविषाणादिकस्य न तत्सामान्यरूपता। गोत्वस्य तु तदाश्रयणेन भावात्। तत्र च प्रवर्त्तनाद् भवत्यपेक्षालक्षणः सम्बन्ध इति न दोषः। न च तद्रूपन्तेषामस्ति। नापि तादात्म्यसम्बन्धस्तथापि तथा भवत्यनादिवासनासामर्थ्यात्। तस्मात्—तस्मादरूपा रूपाणामिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सामान्य में निःस्वभावता सिद्ध होती है, क्योंकि वह असम्बद्धतया प्रतीत होता है। तब अभाव ही असम्बद्धतया प्रतीयमान होने से सामान्य क्यों नहीं? निःस्वभावता सामान्य और अभाव में समानरूप से है।

'शश-विषाणम्'—'शश-विषाणम्'—इस प्रकार व्यक्ति की अपेक्षा अभाव सामान्य है। अन्य व्यक्ति की उसमें समानता नहीं, यदि ऐसा कहा जाय तब जो सामान्य को वस्तु मानता है, उसके मन में 'गोत्व' का कर्कादि अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध क्यों नहीं होता? उत्तर है—"अपेक्षाभावात्'। अर्थात् जिसके साथ जिसकी अपेक्षा (आकांक्षा) होती है, उसी के साथ उसका सम्बन्ध किया जाता है। गोत्व की कर्कादि के साथ अपेक्षा न होने से सम्बन्ध नहीं होता। यदि गोत्व की अभिव्यक्ति कर्कादि व्यक्तियों से होती, तब अवश्य अपेक्षा और सम्बन्ध हो जाता। यदि ऐसा है, तब शाबलेयादि की व्यपेक्षा न होने से खर-विषाणादि में शाबलेयादि की सामान्यरूपता नहीं, गोत्व में तो शाबलेयादि की सामान्यरूपता रहेगी ही। शाबलेयादि में गोत्व की प्रवृत्ति होने से अपेक्षा होने से सम्बन्ध होता है। शाबलेयादि में गोत्वरूपता या गोत्व तादात्म्य नहीं, तथापि अनादि संस्कारों के आधार पर गोत्व का शाबलेयादि के साथ सम्बन्ध है।

वस्तुतः निःस्वभावा जाति (सामान्य) शाबलेयादि रूपों का आश्रयण कर उपकल्पित होकर शब्दों के द्वारा प्रतिपादित नहीं होती अपितु तद्विशेषार्थक शब्दों के द्वारा अतद्व्यावृत्तिरूप जाति प्रतिपादित होती है ॥ २८ ॥

तस्यां रूपावभासोऽयं तत्त्वेनार्थस्य वा ग्रहः ।
भ्रान्तिः सा, अनादिकालीनदर्शनाभ्यासनिर्मिता ॥ २९ ॥

यदि जाति निःस्वभाव है, तब स्वभाव-विशिष्ट क्यों प्रतीत होती है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तस्यामित्यादि"। उस (जाति) में जो रूप (स्वभाव) का अवभास होता है, तत्त्वेन (जाति-स्वभावेन) अर्थ का ग्रह (भ्रम) है, वह अनादि कालीन तथाभूत अध्यवसाय ज्ञानों के अभ्यास से निर्मित है ॥ २९ ॥

अर्थानां यच्च सामान्यमन्यव्यावृत्तिलक्षणम् ।
यन्निष्ठास्त इमे शब्दा न रूपं तस्य किञ्चन ॥ ३० ॥

अन्यापोहात्मक सामान्य का स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर है—अर्थानामित्यादि। जातिवाचक शब्दों का जो अन्यव्यावृत्तिरूप विषय है, उसका कोई रूप नहीं, वह कल्पित मात्र है ॥ ३० ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खलु जाते रूपमस्ति । केवलं रूपाणामाश्रयेण तत्र पारम्पर्येणोत्पत्तिलक्षणमिति रूपवतीव प्रतीयते । तत एव च तदुत्पत्तेस्तदध्यवसायाच्च तज्जातिप्रतीतौ विशेषेषु प्रवर्त्तते । तेन तद्विशेषावतारार्थैरपि शब्दैः सैव प्रकाश्यते नापराव्यतिरिक्तेत्युपसंहारः ।

भवतु रूपाकारता जातेरेकत्वाध्यवसायस्तु कुतो व्यक्त्येति । रूप हि दृष्टमदृष्टन्त्वेकत्वाध्यवसानङ्कथं । अत्रोच्यते—तस्यां रूपावभासो य इति ।

न खलु तत्त्वे दर्शनादेव तद्रूपारोपः । भ्रान्तिपरम्परापि भवत्येवेश्वरादिकल्पनावत् । अस्फुटावभासेऽपि स्फुटदर्शनात् कथमिति भ्रान्तिपरम्परैवात्रापि शरणम् । तस्मादपरभ्रान्तदर्शनायातैव भ्रान्तिः साप्यपरस्मादित्यनादितैव भ्रान्तेः श्रेयसीति न दर्शनेन तद्रूपस्य प्रयोजनम् । अथवा—अर्थानां यच्च सामान्यमिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाति का कोई रूप नहीं, केवल व्यक्तियों के आश्रित गोत्व जाति रहती है। विशेष-वाचक शब्दों के द्वारा भी उसी सामान्य की प्रतीति होती है, अन्य पदार्थ की नहीं ।

शंका—जाति में रूपाकारता (व्यक्त्याकारता) भले ही रहे किन्तु जाति में व्यक्ति का एकत्वाध्यवसान कैसे होगा, क्योंकि रूप (व्यक्ति) दृष्ट है और एकत्वाध्यवसान अदृष्ट ।

समाधान—किसी वस्तु का दर्शन होने पर ही आरोप होता है—ऐसा आवश्यक नहीं, भ्रान्ति-परम्परा भी होती है, जैसे ईश्वरादि की कल्पना । अस्फुटाभास होने पर भी स्फुटावभास देखा जाता है, कैसे ? इसके लिए एकमात्र भ्रान्ति-परम्परा ही शरण है। परिशेषतः उत्तरोत्तर भ्रान्ति पूर्व-पूर्व भ्रान्ति पर निर्भर है। किसी रूप का दर्शन आवश्यक नहीं, भ्रान्ति-परम्परा से सब-कुछ सिद्ध हो जाता है।

अन्यापोहात्मक जाति का कोई स्वरूप नहीं । अनभिमत पदार्थों से शब्द केवल व्यावृत्ति (अपोह) मात्र किया करते हैं। व्यावृत्ति केवल निवृत्ति नहीं, अपितु अनिष्ट-

वार्तिकालङ्कारः

न हि जाते रूपमस्त्यन्यव्यावृत्तिलक्षणायाः । ततो हि विजातीयादनभिमताद् व्यावृत्तिमेव शब्दाः कुर्वते । व्यावृत्तिश्च ततो वृत्यभाव एव । न हि निवृत्तिमात्रेण कश्चिदर्थी । न हि घटमानयेति पटादीनामनानयनमेव प्रार्थ्यते । नैतदस्ति । आनयेत्यनानयनम्प्रतिषेध्यते । ततः स्वयमेवानयनम्भवति । तच्चाघटेऽपि प्रसक्तमिति तस्य निषेधः । न च निषेधस्य रूपम् ।

ननु प्रथमस्य शब्दस्य विधेः शब्दार्थो भविष्यति । न तत्र प्रतिषेधस्सम्भवति प्रसक्त्यभावात् । तदपि न । यतो हि—

अनानयनमेवात्र प्रसक्तन्तन्निषिध्यते । औदासीन्यात् परन्नास्ति प्रसक्तिस्तस्य काऽपरा ॥१९३॥

अत्रानुद्योग एवानानयनन्तदेव प्रसक्तन्निषिध्यते शब्देन ।

ननु तस्य निषेधोऽन्यस्य विधानमेव तत्कथं रूपन्नास्ति तस्येति । अत्रेदमुच्यते—

निषेधे तस्य रूपस्य स्वयमेवान्यकल्पना । न तत्र शब्दव्यापारः स्वयमर्थस्वतो गतिः ॥१९४॥

कथमन्यभाव एवान्यस्याभाव इति चेत्, अन्यप्रतिपत्तौ तत्कल्पनोत्पत्तेः । कल्पनारूपान्यापोहपक्षे वा तदुक्तमिति न दोषः । स्वबुद्धिमेव तद्विविक्तामनुभवतो नास्तीति प्रतीतेः ।

ननु सामान्यबुद्धिस्तावदस्ति । तत्र योऽर्थाकारः स सामान्यं सदेव । यदि नाम

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निवृत्ति है । घटादि के अनानयन का निषेध कर देने पर आनयन अपने-आप सिद्ध हो जाता है ।

शंका—प्रथम शब्द का तो विधिरूप ही शब्दार्थ होगा, प्रतिषेध सम्भव नहीं, क्योंकि जब तक कोई वस्तु प्रसक्त न हो, तब तक उसका निषेध क्योंकर होगा ?

समाधान—स्वभावतः अनानयन ही प्रसक्त है, उसी का निषेध किया जाता है शब्द के द्वारा । उदासीनता (अप्रवृत्ति) से भिन्न प्रसक्ति और क्या हो सकती है ॥ १९३ ॥

उदासीनता, अनुद्योग या अनानयन ही यहाँ प्रसक्त है, शब्द के द्वारा उसी का निषेध किया जाता ।

शंका—यह जो कहा गया कि निषेध का कोई स्वरूप नहीं, वह अयुक्त है, क्योंकि निषेध्य का निषेध ही तो अन्य का विधान है ।

समाधान—प्रसक्त रूप का निषेध कर देने पर अन्य पदार्थ की कल्पना अपने-आप हो जाती है । वहाँ शब्द-व्यापार की आवश्यकता नहीं अर्थात् स्वयं मार्गस्फुरण हो जाता है ॥ १९४ ॥

अन्य वस्तु का भाव ही अन्य का अभाव कैसे ? इसका उत्तर है—"अन्यप्रतिपत्तौ तत्कल्पनोपपत्तेः" । अर्थात् प्रकाश और अन्धकार के समान दो विरोधी पदार्थों में एक की सत्ता से अन्य की असत्ता कल्पित होती है । अथवा कल्पनारूप अन्यापोह का पक्ष लेकर वैसा कहा गया है । अर्थात् घटत्वादि भाव पदार्थों का जो स्वरूप अपोहवाद में बताया गया है—अघट-निवृत्तिरूपता । उसके अनुसार प्रत्येक भाव अभावाभावात्मक है ।

शंका—सामान्य-बुद्धि में जो अर्थ का आकार प्रतीत होता है, वही सामान्य पदार्थ है । सामान्य अर्थ का आकार न मानने पर उसका प्रतिभास ही नहीं होगा ।

सामान्यबुद्धौ सामान्ये नारूपायामपीक्षणात् ।
अर्थभ्रान्तिरपीष्येत सामान्यं साप्यभिप्लवात् ॥ ३१ ॥
अर्थरूपतया तत्त्वेनाभावाच्च न रूपिणी ।

बुद्धि का जो आकार है, वही स्वभाव है, क्या वही सामान्य है? इसके उत्तर में कहा गया है—"सामान्यबुद्धावरूपायामित्यादि"। अर्थात् सामान्य बुद्धि में प्रतिभासमान पदार्थ को सामान्य माना जाता है। उस बुद्धि में यदि निराकारता है, तब नियमतः अपर बुद्धि के द्वारा भासित रूप को सामान्य कहना होगा किन्तु वह अर्थभ्रान्ति जैसे सामान्य नहीं, वैसे ही भ्रान्तिरूपता भी निश्चित हो जाती है, अन्यथा शंख में प्रतीयमान पीतिमा भी वस्तुसिद्ध होगी ॥ ३१ ॥

निःस्वभावतयाऽवाच्यं कुतश्चिद् वचनान्मतम् ॥ ३२ ॥

यदि वह तत्त्व और अन्यत्वरूपेण (व्यक्तिरूपतया और तद्भिन्नरूपतया) सामान्य अवाच्य है, तब वह उसे निःस्वभाव ही कहना होगा ॥ ३२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तस्यार्थरूपता नास्ति तस्याऽन्यथाप्रतिभासनात्। व्यतिरिक्तन्तु तत् सामान्यन्न भवतीति न युक्तम्। अत्रोच्यते—सामान्यबुद्धौ सामान्य इति।

सामान्यबुद्धौ हि प्रतिभासमानं सामान्यमिष्येत। यद्यरूपता निराकारता सिध्येत् तदा नियमेन बुद्धेरपरेण तेन भवितव्यमिति सामान्यं स्यात्। तस्य सामान्येन रूपेण दृष्टेः किन्तु सार्थभ्रान्तिरपि यथैव हि तत्सामान्ये नेक्ष्यते। तथा भ्रान्तिरेषेत्यपि प्रतीयत एव। सापि न स्वरूपेण सामान्यम्। स्वाकारनिष्ठतया स्वलक्षणत्वात् अपि त्वभिप्लवादर्थेषु प्लवमानत्वादर्थरूपतया तत्त्वेनाभाव इति च प्रतिपत्तेः। न हि सामान्यमिदमर्थेषु विद्यते। यथा तन्निष्ठतया प्रतीयते। अतस्तेन रूपेण सालम्बनत्वेन न रूपिणी न सस्वभावा। तथा परीक्षाक्षमत्वात्। अन्यथा पीतादयोऽपि सितशङ्खादिषु भवेयुरेव। तस्मान्न सामान्यं वस्तु। अवाच्यत्वाच्चावस्तु सामान्यम्। न खलु सामान्यन्तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्वेऽपि वस्तु। कुतः—निःस्वभावतयाऽवाच्यमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थ से व्यतिरिक्त सामान्य नहीं—यह कहना युक्ति-युक्त नहीं।

समाधान—सामान्य-बुद्धि में प्रतिभासमान आकार को सामान्य तब कहा जा सकता था जब कि सामान्य में अरूपता या निराकारता सिद्ध होती। निराकार पदार्थ का अवभास होने के लिए उसमें नियमतः आकारारोप की आवश्यकता होती किन्तु उसका सामान्याकारेण दर्शन माना जाता है। सामान्य में जैसे विषय की भ्रान्ति नहीं मानी जाती। वैसे ही "भ्रान्तिरेषा'—ऐसा भी प्रतीत होता है। वह सामान्य स्वरूपतः भ्रान्ति नहीं, क्योंकि स्वाकारनिष्ठत्वेन वह स्वलक्षण है किन्तु अर्थाकारेण वह भ्रान्ति है, क्योंकि अर्थ प्लवमान (बाधित) है, केवल अनादि संस्कारों के द्वारा प्रतीयमान है, वस्तुसत् नहीं। घटादि पदार्थों में 'घटत्व' नाम का कोई सामान्यतत्त्व विद्यमान नहीं होता जैसा कि "घटेषु घटत्वम्" इस प्रकार प्रतीत होता है। जो पदार्थ जहाँ प्रतीत होता है, वहाँ उसका वस्तुसत् होना आवश्यक नहीं, अन्यथा पीत शङ्खादि पदार्थ में मानने पड़ जायेंगे, फलतः सामान्य वस्तुसत् नहीं।

यदि वस्तुनि वस्तूनामवाच्यत्वं कथञ्चन ।
नैव वाच्यमुपादानभेदाद् भेदोपचारतः ॥ ३३ ॥
अतीतानागतेऽप्यर्थे सामान्यविनिबन्धनाः ।
श्रुतयो निविशन्ते सदसद्धर्मः कथं भवेत् ॥ ३४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यत्तु तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यन्तदवस्वभावम् । अवश्यं हि भवता भावेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्येन न भवितव्यम् । अथ सामान्यान्तरादन्यत्वेन वाच्यमेवेति नियमेन भेदे सति वस्तुना सामान्येन भवितव्यम् । यदि वस्तुव्यक्तेरपि तत्त्वान्यत्वाभ्यां वाच्यम्भवेत् । तत एवावाच्यत्वादवस्तु । तत्सम्बन्धादेवावाच्यता तत इति चेत् । व्यतिरिक्तस्य कार्यकारणभाव एव सम्बन्धः । ततः सर्वकार्याणाङ्कारणापेक्षयाऽवाच्यत्वम्भवेत् । न च धूमोऽग्नेस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यः । देशाभेदात् सामान्यस्य व्यक्तेरवाच्यतेति चेत् । न देशो नामास्ति वस्तुतः पदार्थादपरः । भेदाप्रतिभासे कथम्भेदाभावो न भवेत् । भेदप्रतिभासने केनाभेदः । ततस्तत्त्वान्यत्वादपरः प्रकारो नास्ति वस्तुन इति कुतश्चिदप्यवाच्यत्वादवस्तु । सामान्यान्तरादपि नैव तद्भेदेन वाच्यम् । सामान्यान्तरस्यापि वस्तुत्वसिद्धेः । अथ परिकल्पितादपि भेदेन वाच्यत्वे वस्तु । शशविषाणादीनामपि परस्परम्भेदाद् वस्तुताप्रसङ्गः । उपादानभेदात्तेषाम्भेदो न परमार्थतः । शशादिमस्तकभेदोपादानबुद्धिरिवासौ भिद्यते न शशविषाणादय इति चेत् । इहाप्येवमुच्यमाने को विरोधः । व्यक्त्युपादानभेदादत्रापि बुद्धिभेद एव न वस्तुभेदः इति । तदाह—नैव वाच्यमुपादानभेदादिति ।

यदि च सामान्यं व्यक्तिर्वा वाच्यं शब्दानाम्भवेत् । अतीतानागतं वाच्यन्न स्यान्न चैवं यावता । यतो हि—अतीतानागतेऽप्यर्थं इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सामान्य किसी शब्द का वाच्य न होने के कारण भी वस्तुस्वरूप नहीं । तत्त्व और अन्यत्वरूप से अवाच्य होने पर भी सामान्य को वस्तु मान लिया जाय—ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि जो पदार्थ तत्त्व और अन्यत्वरूप से वाच्य नहीं होता, वह अवस्तुस्वरूप होता है । वस्तुस्वरूप भाव को कभी तत्त्व और अन्यत्वरूप से अवाच्य नहीं होना चाहिए ।

प्रश्न—एक सामान्य "सामान्यान्तरादन्यत्वेन" निर्वाच्य क्यों नहीं ?

उत्तर—यहाँ सामान्य का अन्यत्व और अनन्यत्व अपनी आश्रयीभूत व्यक्ति से विचारणीय है, वह निर्वाच्य नहीं, अतः वस्तु नहीं अर्थात् सामान्य को तब वस्तुस्वरूप माना जा सकता था, जब कि उसमें व्यक्ति की अपेक्षा अभिन्नत्वेन या भिन्नत्वेन निर्वाच्यता होती । वैसा न होने से सामान्य अवस्तु है ।

प्रश्न—सामान्य अन्तर से भी सामान्य का भेद नहीं कहा जा सकता क्यों कि सामान्यान्तर में भी वस्तु सिद्ध है । यदि परिकल्पितपदार्थ से भी अन्यत्वेन वाच्यता मानकर वस्तु सिद्ध किया जाता है तब शशविषाणादि का भी परस्परभेद देखा जाता है अतः उनमें भी वस्तुता प्रसक्त होती है । आश्रयीभूत व्यक्तियों का भेद होने से यदि उनका भेद नहीं माना जाता फिर शशविषाणादि के उपादान विषयक बुद्धि ही भिन्न होती है, शशविषाणादि नहीं । ऐसा मानने पर प्रकृत में भी कोई विरोध प्रसक्त नहीं होता क्योंकि व्यक्तिरूपा उपादान के भेद से ही सामान्य में बुद्धि भेदमात्र है, वस्तु भेद

जाति पदार्थ को तत्त्व और तदन्यत्व (अभेद या भेदरूप से) निर्वचन न हो सकने के कारण अवस्तु माना गया है, किन्तु एक सामान्य (अश्वत्व) का अन्य सामान्य (गोत्व) से वस्तुतः भेद नहीं है। केवल आश्रयीभूत कर्कः [श्वेत अश्व] और शाबलेय [चित्ता] गौ के भेद से सामान्य में औपचारिक भेद माना जाता है। दूसरी बात यह भी है जो सामान्य विषय में अतीतादि व्यवहार देखा जाता है—आसीत् घटः, भविष्यति घटः, इससे असत् घट का भी सामान्य धर्म ध्वनित होता है किन्तु असद् धर्म में सामान्य धर्म वैसे ही नहीं जैसे शशविषाण में तीक्ष्णत्वादि धर्म ॥ ३३-३४ ॥

उपचारात् तदिष्टं चेद् वर्तमानघटस्य का।
प्रत्यासत्तिरभावेन या पटादौ न विद्यते ॥ ३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यद्यतीतेऽपि वस्तुन्यनागतेऽपि वा सामान्यम्प्रतीयेत तर्हि सामान्यमतीतानागतस्यावस्तुनः सदसतो धर्मः कथम्भवेत्। न ह्यसतः सन्धर्मो भवति। सत एव व्यक्त्यन्तरस्य धर्म इति चेत्। तद्धर्मतया प्रतीयमानस्य कथमतीतता। अतीतव्यक्तिबलेन हि सामान्यस्यातीतता न स्वतः। तेनातीतयोगितया सामान्यस्यातीततेति। नियमेन सामान्यमसतो धर्मः (यश्चासतो धर्मः) सन्न भवति। यथा शशविषाणत्वमभावत्वं वा। सन् वाऽसतो धर्मो न भवति कार्योत्पादनशक्तिवदङ्कुरादीनाम्। को विरोध इति चेत्, संबंधाभाव एव। न ह्यसता संबंधः शक्यः प्रतिपत्तुम्। तथा चेत् सामान्यमप्यसदेव प्रतीयते, यथा व्यक्तिर्विशेषाभावात्। व्यक्तिरपि तर्हि सत्येव प्रतीयते अतीतानागतस्य सत्त्वात्। यदि सत्कथमतीतम्। प्रतिपत्तेरतीतत्वात्। सापि प्रतीतिः प्रतीयत एव। अप्रत्यक्षतया प्रतीतिरिति चेत्, न, अप्रत्यक्षताया एव स्वरूपप्रतिपत्तावभावादित्युक्तम्। तस्मादसतोऽतीतादेर्न धर्मः सत्सामान्यम्। तथा हि—उपचारात् तदिष्टञ्चेदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं। अतः कहा गया है "नैव वाच्यमित्यादि"।

यदि सामान्यवृत्ति शब्दों का वाच्य होती तब अतीत और अनागत पदार्थ भी वाच्य होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। यदि अतीत या अनागत वस्तु में भी सामान्य की प्रतीति होती है तब सामान्य अतीत और अनागत अवस्तु आत्मक व्यक्तियों का धर्म क्योंकर होगा, क्योंकि असत् का सद्धर्म कभी नहीं होता। यदि कहा जाय शब्दरूप व्यक्त्यन्तर का धर्म है तब प्रश्न उठता है कि वर्तमान धर्मतया प्रतीयमान वर्तमान में अतीतता कैसे, क्योंकि अतीत व्यक्ति के आश्रित होने के कारण ही सामान्य में अतीतता का व्यवहार होता है, स्वतः नहीं। इस प्रकार अतीत व्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण सामान्य में असत् की धर्मता होने से वह सद् कैसे होगा? जैसे कि शशविषाणत्व अथवा अभावत्व, सत् या असत् का धर्म वैसे ही नहीं होता जैसे कार्योत्पादन की शक्ति अंकुरादि में। प्रश्न उठता है कि यहाँ विरोध क्यों? इसका उत्तर है संबन्धाभाव अर्थात् असत् के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। यदि सामान्य भी वैसा ही है तो उसे भी वैसा ही मानना होगा जैसे कि व्यक्ति, क्योंकि उनमें भी कोई विशेषता नहीं। व्यक्ति भी सत् क्यों नहीं मानी जाती, उसका उत्तर है "यदि सत् कथम् अतीतम्" उसकी प्रतिपत्ति अतीत है तब उसकी प्रतीति कैसे, प्रत्यक्षतया प्रतीति मानने पर अप्रत्यक्षता का अभाव प्रसक्त होता है यह कहा जा चुका, फलतः अतीतादि असत् व्यक्तियों का धर्म सामान्य नहीं हो सकता।

यदि सामान्य में उपचारतः असत् व्यक्ति की धर्मता विवक्षित है, वस्तुतः नहीं, तब सत्व घट में परिदृष्ट सद्धर्मता का उपचार असद् घटादि में भी होना चाहिये। यदि कहा जाय कि सामान्य का आश्रयीभूत घट का अभाव है तब उस अभाव के साथ सामान्य की कोई भी प्रत्यासत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि घटत्व का उपचार घट से भिन्न पटादि में नहीं देखा जाता ॥ ३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

असदित्यसिद्धो हेतुः। उपचारात् तदिष्टम् असद्धर्मत्वन्न परमार्थत इति। असद्धर्मत्वमसिद्धो हेतुः। यच्चोपचरितन्तत्तत्र परमार्थतो नास्तीति तत्रातीतानागते सामान्यस्य परमार्थतः सत्त्वाभावात् सत्त्वमसिद्धो हेतुरित्यभिप्रायः।

अत्र परिहारः--तत्रातीतादौ सामान्यधर्मस्य चोपचारः। शब्दस्य व्यक्तेर्वेति पक्षाः। यदि सामान्यस्योपचारः। तदयुक्तम्। वर्तमानघटे यत् सामान्यन्तस्योपचारोऽतीते सम्बन्धात् सो दृश्याद्वा। अन्यथा प्रत्यासत्तिरहिते उपचारेऽतिप्रसङ्गः। न चासता संबंधः सादृश्यं वा। सत्त्वप्रसङ्गाद् अतीतादेरपि सत्त्वमिति प्रत्युक्तम्। अथ शब्दस्योपचारः। तदप्ययुक्तम्। अर्थमन्तरेण शब्दस्याप्रवृत्तेः। प्रवृत्तौ वाऽभावेऽपि शब्दाः प्रवर्तन्त इति प्राप्तम्। तच्च सामान्यमतो न वस्तु। अथ व्यक्तेरुपचारस्तत्रापि प्रत्यासत्या भवितव्यम्। अप्रत्यासत्तिकस्योपचारस्यायोगात्। शब्दोपचारेऽप्येतदेव वाच्यम्। अथातीतानागतयोरेकत्वाद् रूपसादृश्यादुपचारस्तदेवातीतमर्थक्रिया तु नास्तीति तत उपचारोऽर्थक्रियाया इति सामान्यमेव तत्र प्रतीयते नेतरथा। तथा तर्हि सर्वमस्ति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आक्षेप—"असतः संबन्धो न संभवति असत्वात्", यहाँ पर असत्त्वहेतुः असिद्ध है क्योंकि असद्धर्मता औपचारिक है परमार्थतः नहीं, अर्थात् जो उपचरित होता है वह नहीं होता, अतीत और अनागत में सामान्य परमार्थता रहने के कारण असत्त्व हेतु असिद्ध है। उक्त आक्षेप का परिहार यह है अतीतादि में सामान्य धर्म का उपचार होता है शब्द या व्यक्ति पक्ष है और सामान्य का उपचार कहा जाता है वह युक्त नहीं, क्योंकि वर्तमान घट में जो सामान्य (घटत्व) है, उसका उपचार अतीत घट में किसी सम्बन्ध या सादृश्य के कारण होता है। प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) के बिना उपचार मानने पर अतिप्रसङ्ग उपस्थित होगा कि सिंह के असदृश निर्बल बैल आदि में भी 'सिंह' शब्द का उपचार होने लगेगा। सत् और असत् का न तो सम्बन्ध होता है और न सादृश्य। अतीतादि में सत्त्व मानने पर उनका सत्त्व-प्रसङ्ग दिखाया जा चुका है। असत् अर्थ में शब्द का भी उपचार नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ के बिना शब्द की प्रवृत्ति किस में होगी ? अर्थ के बिना भी शब्द की प्रवृत्ति मानने पर घटाभाव में भी 'घटोऽयम्'—इत्यादि शब्दों की प्रवृत्ति प्रसक्त होती है। फलतः असत् सामान्य को वस्तुतत्त्व नहीं माना जा सकता। असत् सामान्य में यदि व्यक्ति का उपचार माना जाता है, तब भी उसके साथ व्यक्ति की प्रत्यासत्ति होनी चाहिए, क्योंकि अप्रत्यासत्तिक (असम्बद्ध या असदृश) पदार्थ का उपचार नहीं होता—यह कहा जा चुका है। शब्दोपचार भी अर्थ के बिना नहीं हो सकता—यह कह चुके हैं।

अतीत और अनागत पदार्थों का एकत्व तथा सादृश्य होने के कारण उपचार हो जाना चाहिए—'तदेवातीतम्'। दाहादिरूप अर्थक्रिया न अतीत वह्नि में है और न अनागत वह्नि में। अतः अर्थक्रिया का उपचार हो सकता है। यदि वहाँ व्यक्ति भी है,

वार्तिकालङ्कारः

कथमतीतत्वम् । अर्थक्रिया नास्ति तेनेति चेत् । यदि सा नास्ति सैवातीता कथम्भावः । तद्योगाद् भावोऽप्यतीत एवेति चेत् । तद्योगः केन प्रतिपन्नः । प्रतीतावत्रभावस्यापि प्रतीतिः । अपि च—

अर्थक्रियाऽपि तस्यास्ति सर्वमस्तीति दर्शने । तस्याभावे कथम्भावस्यावभावो भाविको भवेत् ।। १९५ ।।

अथ संवृत्याऽतीतादिता परमार्थतः सर्वमस्त्येवेति चेत् ।

केयं संवृतिरर्थस्य ज्ञानालम्बनता यदि । परमार्थ एव सकलः सत्यता संवृतेः कथम् ।। १९६ ।।

असद्रूपपदार्थालम्बना हि संवृतिस्तत्त्वसंवरणात् । तत्त्वप्रकाशने तु न संवृतिर्नाम । अतीतादिकञ्च यदि संवृतिर्न परमार्थः । अतीतादिरूपताव्यतिरेकेण भावस्याभावन्न किञ्चित् तत्त्वमिति स्यात् । वर्त्तमानम्परमार्थञ्चेदतीतादिकं संवृतिरपरमार्थं इति सामान्यमवस्त्विति सिद्धम् । न हि वर्तमानमात्रभावि सामान्यमिति सकलं सुस्थम् । तस्मान्नोपचारो नाम वस्तुनि वाच्ये । तथायमेवोपचारो यदसत्प्रतिपादनम् ।

अतश्च सामान्यं व्यक्तिर्वा । अतीतवस्त्वभिधायिनां शब्दानामर्थः । तथा हि यद् दृष्टं तदेवाध्यारोप्यते । तदप्यसत् ।

येन रूपेण तद् दृष्टन्तेनैवारोप्यते न हि । येन दृष्टन्न तद् वस्तु तेनारोप्यते तेन हि ।। १९७ ।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सामान्य भी और अर्थक्रिया भी, तब वहाँ सब कुछ है, अतीतत्व कैसे ? अर्थक्रिया नहीं । यदि अर्थक्रिया नहीं, तब अर्थक्रिया ही अतीत मानी जायगी, भाव पदार्थ नहीं । अर्थक्रिया के अतीत होने से भाव भी अतीत हो जाता है—ऐसा मानने पर प्रश्न उठता है कि भाव के साथ अर्थक्रिया का योग (सम्बन्ध) किस के द्वारा प्रतिपन्न (ज्ञात) हुआ ? सम्बन्ध की प्रतीति होने पर भावपदार्थ की भी प्रतीति माननी होगी ।

दूसरी बात यह भी है कि जिसकी ऐसी मान्यता है कि 'सर्वमस्ति,' उसकी दृष्टि में अर्थक्रिया भी है । अर्थक्रिया का भाव होने पर भावपदार्थ का भाविक (पारमार्थिक) अभाव क्योंकर होगा ? ।। १९५ ।।

शंका—अतीतादिरूपता तो सांवृतिक है और परमार्थतः सब कुछ है ।

समाधान—यह अर्थ की संवृति क्या है ? यदि पदार्थगत ज्ञानालम्बनता ही संवृति है, तब यदि सकल पदार्थ सत्य हैं, तब संवृति-सत्यता कैसे ? ।। १९६ ।। अर्थात् रज्जु-सर्पादि के समान असत् पदार्थों को विषय करनेवाली अविद्या-वृत्ति को संवृति कहा जाता है, क्योंकि वह रज्जु आदि वस्पुतत्त्व को आवृत (आच्छादित) करती है । तत्त्व का प्रकाश होने पर संवृति नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती । अतीततादि यदि संवृति है, तब परमार्थ नहीं । अतीतादिरूपता यदि परमार्थ नहीं, तब अतीतादि-रूपता से व्यतिरिक्त भाव की कोई सत्ता नहीं, अतः कुछ भी तात्त्विक नहीं रह जाता । यदि वर्तमान परमार्थ और अतीतादि संवृति या अपरमार्थ है, तब सामान्य पदार्थ अवस्तु सिद्ध हो जाता है, क्योंकि सामान्य तत्त्व कोई वर्तमानमात्र भावी नहीं—इस प्रकार सकल समञ्जस हो जाता है । फलतः वाच्य वस्तु में उपचार नहीं हो सकता । अतः उपचार का यही स्वरूप रह जाता है—असत् का प्रतिपादन ।

शंका—असत् है—वह सामान्य या व्यक्ति, जो 'घट आसीत्'—इत्यादि अतीत वस्तु के अभिधायक शब्दों का अर्थ है । जो दृष्ट पदार्थ है—रजतादि, वहीं आरोपित होता है ।

वार्तिकालङ्कारः

अथातीतादौ प्रवर्त्तमानः प्रत्ययस्तद्देशकालसम्बन्धितया प्रतीयते। ततोऽतीतेऽपीदानीन्तदेव पूर्वकृतं रूपमारोप्यते। यथा वाहीके पूर्वदृष्टगोत्वारोपः। एवन्तर्ह्यनतीतेऽपि तस्मिन् पूर्वरूपारोप एव प्रतीयते नान्यथाऽनुमानेनापि सामान्यम्प्रत्येतुं शक्यम्। ततः सर्वत्रोपचार एव न परमार्थः सामान्यम्। सर्वत्रारोपलक्षणत्वात्। अथ प्रत्यक्षेण विद्यमानमेव सामान्यङ्गृह्यते तत्परमार्थो भविष्यति। तर्हि नानुमानादिना प्रतीयत इति तदवस्तु सामान्यम्।

अथ प्रत्यक्षेणापि यत् पूर्वसाधारणमस्पष्टाभं रूपम्प्रतीयते शब्दतोऽपि तदनुमानतोऽपि तथैव प्रतीयते। स्पष्टत्वन्तु तत्र व्यक्तेरेव प्रतीयते। ततो यदि नामविशेषांशे न प्रवर्त्ततेऽनुमानं शाब्दं वा सामान्यांशे तु अस्पष्टावभासिनि प्रवर्त्तत एव। तदप्यसत्।

प्रत्यक्षतैव नास्त्यत्र सामान्येऽनक्षभावतः। असाक्षात्करणाच्चैतत् पश्चादेवाभिधास्यते ॥१९८॥

न खलु पूर्वसाधारणतायामध्यक्षमिति प्रतिपादयिष्यते। नष्टेऽपि च पूर्वविशेषे तत्साधारणता प्रतीयमाना कथं वस्तु। सदसद्धर्मः कथम्भवेदित्युक्तम्।

अथोभयसाधारणत्वे कथमवस्तुता वस्तुतापि भवेत्। तदप्ययुक्तम्। न हि वर्त-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—जो वस्तु जिस रूप में देखी जाती है, उसी रूप से आरोपित नहीं होती। इसके ठीक विपरीत जो वस्तु जिस रूप से दृष्ट नहीं, उसी रूप से आरोपित होती है ॥ १९७ ॥

शंका—स्वप्न-द्रष्टा को अतीतादि पदार्थों का वर्तमानत्वेन भान होता है, अतः अतीतार्थ में भी 'इदानीं तदेव'—इस प्रकार आरोप होता है। जैसे—"गौर्वाहीकः"—यहाँ पर वाहीक (चरवाहा जाति के व्यक्ति) में गोत्व का आरोप देखा जाता है। इस प्रकार अनतीत (वर्तमानादि) में भी पूर्व-पूर्व रूप का आरोप ही प्रतीत होता है, अनुमान के द्वारा भी अन्यथा सामान्य की प्रतीति आँकी नहीं जा सकती। फलतः सर्वत्र उपचारतः प्रतीति सिद्ध होती है, मुख्य प्रतीति कहीं भी नहीं।

समाधान—प्रत्यक्ष के द्वारा विद्यमान सामान्य का ही ग्रहण होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान पारमार्थिक (मुख्य) हो जायगा। तब तो वह सामान्य अनुमानादि के द्वारा सिद्ध नहीं होता, अतः वह अवस्तु मात्र है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्व-साधारण और अस्पष्टाकारतया जो प्रतीत होता है, वह शब्द और अनुमान के द्वारा भी वैसा ही प्रतीत होता है। अतः यदि अनुमान नाम-विशेष (शब्दविशेष) अंश में न तो अनुमान प्रवृत्त होता है और न शाब्द। सामान्यांश में तो प्रवृत्त होता है, क्योंकि वह अस्पष्टावभासी है।

ऐसा कहना भी असत् ही है, क्योंकि सामान्यांश में जब प्रत्यक्षता ही नहीं, वह अक्ष-गोचर ही नहीं। उसका साक्षात्करण सम्भव नहीं—यह पश्चात् कहा जायगा ॥१९८॥ पूर्व विषय की समानता या साधारणता में अध्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती—यह कहा जायगा ॥१९८॥

पूर्व-समानता प्रत्यक्ष-द्वारा गृहीत नहीं होती—यह आगे चलकर कहा जायगा। पूर्व पदार्थ के नष्ट हो जाने पर तत्समानता प्रतीत होती है, वह वस्तु क्योंकर होगी? समानता सद्वस्तु का धर्म है, वह असत् पूर्व पदार्थ का धर्म नहीं हो सकता—यह पहले भी कहा जा चुका है।

बुद्धेरस्खलिता वृत्तिर्मुख्यारोपितयोः सदा ।
सिंहे माणवके तद्वद् घोषणाप्यस्ति लौकिकी ॥ ३६ ॥

यहाँ वृत्ति पद की आवृत्ति करके द्वितीय वृत्ति पद प्रश्लिष्ट अकार के साथ जोड़ा जाता है, इस प्रकार परिनिष्पन्न अवृत्ति पद गौण अर्थ के साथ अन्वित होकर विवक्षित अर्थ का बोधक होता है, अर्थात् 'सिंहो माणवकः' यहाँ पर सिंह पदार्थ मुख्य इसलिए है कि उसमें सिंहज्ञान की वृत्तिता अस्खलित-गतिक [अबाधित] है और माणवक गौण अर्थ इसलिए माना जाता है कि उसमें सिंह-बुद्धि की अवृत्तिता अबाधित है। गौण-मुख्य व्यवहार इसी प्रकार से लोक में प्रसिद्ध है ॥ ३६ ॥

यत्र रूढ्याऽसदर्थोऽपि जनैः शब्दो निवेशितः ।
स मुख्यस्तत्र तत्साम्याद् गौणोऽन्यत्र स्खलद्गतिः ॥ ३७ ॥

फलतः जिस विषय में असद्-अर्थक शब्द रूढिवृत्ति से वाचकत्वेन व्यवहृत होता है वह मुख्य अर्थ उस विषय की सदृशता मात्र के आधार पर उस शब्द का प्रयोग स्खलद्-गतिक या बाधित हो जाता है। उसे गौण कहते हैं। इस व्यवस्था के द्वारा जो गौण-मुख्य की परिभाषा इस प्रकार की जाती थी कि सदर्थविषयत्वं मुख्यत्वं और असदर्थविषयत्वम् अमुख्यत्वम्, वह व्यवस्था निरस्त हो जाती है ॥ ३७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मानः प्रतिभासोऽतीतप्रतिभासेन सहैकतया प्रतीयते। अनेकप्रतिभासे च कात्या साधारणता नाम। तस्मादतीतादिरूपप्रतिभासनात् असदेव शब्दविषयः न चात्रोपचारः। अस्खलत्प्रत्ययविषयत्वात्। यतः—बुद्धेरस्खलिता वृत्तिरिति।

बुद्धेरेवास्खलिता वृत्तिर्मुख्यारोपितयोर्निबन्धनम्भवतन्यथा च स्खलद्गतिर्हि प्रत्ययो माणवके तेन सिंहत्वमुपचरितम्। अन्यत्र सिंह एव तथेति मुख्यन्तत्। अत्र तूभयत्रापि न स्खलत्प्रत्ययविषयता ततो नोपचारः। असदर्थतयोपचार इति चेत्। यद्यसदर्थप्रत्ययविषयता तथा सति सामान्यन्तरत्रादेवावस्त्विति सिद्धम् किञ्च—यत्र रूढ्याऽसदर्थोऽपीति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

साधारणता (समानता) पूर्व और परपदार्थों का धर्म है। पूर्व पदार्थ असत् है, अतः वह समानता असद्धर्मत्वेन असत् और परपदार्थ सत् है, अतः सद्धर्मत्वेन सत्—यह क्योंकर होगा ? यदि कहा जाय कि वर्तमान और अतीत प्रतिभासित अर्थों की एकता विवक्षित नहीं कि एक में विरुद्ध सदसद्रूपता प्रसक्त होती। तब तो अनेक रूपों का प्रतिभास होने पर साधारणता और क्या होगी ? फलतः अतीतादिरूप का प्रतिभास होने से शब्द का विषय असत् ही है। उपचार सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतिभास में मुख्यार्थ-विषयता बाधित नहीं, क्योंकि सिंहादि-बुद्धि की विषयता ही मुख्यार्थ और गौणार्थ की निर्णायिका है अर्थात् वह वृत्तिता जहाँ अबाधित है, वह मुख्य सिंह और जहाँ (माणवकादि) बाधित है, वह 'सिंह' शब्द का गौण अर्थ है। प्रकृत में अतीत एवं वर्तमान—दोनों में गोत्व बाधित नहीं, अतः कहीं पर भी उपचार नहीं। अतीत गौ व्यक्ति असत् है, अतः उसमें गोत्व-ज्ञान की विषयता असदर्थक होने से उपचार क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना है कि इस प्रकार तो गोत्व सामान्य की अवस्तुता स्वतः सिद्ध हो जाती है—यही तो बौद्धवादी को सिद्ध करना था।

वार्तिकालङ्कारः

अभावशब्दो ह्यभावेऽस्खलद्गतित्वान्मुख्यः। भाव एवाप्रयोजनत्वादन्यत्र पुत्रादावभावशब्दो गौण इति लोकप्रसिद्धिः। तस्मादभावो भावे च समानत्वादप्रतीतादौ न सामान्यं वस्तु, अवस्तुग्राहिप्रत्ययसमानाकारग्रहणात्। अथैतदेवोपचरितत्वं यदसति वस्तुनि प्रवर्त्तनम्। समानाकारतायां असति प्रवर्त्तनमिति कुत एतत्। प्रतीतेरेव तथाभावादिति चेत्। नन्वविज्ञाननाशे प्रतीतिभेदोऽपि नास्त्येव। याप्यसौ नष्ट इति प्रतीतिः साप्यनष्टे भवति। सन्देहो भविष्यतीति चेत्। सन्देहोऽपि न स्यादेव यदि वस्तु प्रतिभासेत। प्रतिभासमानेऽपि सादृश्यात् सन्देह इति चेत्।

नन्वभेदेऽपि नोपलक्षितयोः सादृश्यमिति शक्यं वक्तुम्। अनुपलक्षणे तु भेदस्य तत्त्वमेव न सादृश्यम्। अथ कालभेदाद् भेदः। तदसत्।

कालभेदेन यो भेदस्तत्त्वातत्त्वमतः कुतः। सदर्थत्वेऽपि कालस्य भेदः प्रत्यययोर्न्न किम् ॥१९९॥

यथा भवतः सदर्थत्वेऽपि पूर्वापरप्रत्यययोः कालभेदस्तथैवासदर्थत्वेऽपीति कुतः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि 'अभाव' शब्द अभावरूप अर्थ में अबाधितवृत्तिक होने से मुख्य है। पुत्रादि भावपदार्थों में 'अभाव' शब्द गौण होता है—ऐसी लोक-प्रसिद्धि है—'निकम्मे पुत्रों का होना न होना बराबर है'। अतः भाव और अभाव में समान और अतीतानागतरूप असत् पदार्थों में रहने के कारण सामान्य वस्तुतत्त्व नहीं। अवस्तु-ग्राही विकल्प ज्ञान के द्वारा गृहीत होने के कारण भी सामान्य वस्तुरूप नहीं। यदि कहा जाय कि नित्य सामान्य का ही अतीत घटादि में उपचार होता है और उपचरितत्व का अर्थ है—'असति वस्तुनि प्रवर्तनम्'। समानाकारतारूप सामान्य की असत् वस्तु में प्रवृत्ति क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है—प्रतीति। अर्थात् 'आसीद् घटः'—इस प्रकार अतीतादि घटों में सामान्य की प्रतीति ही प्रवृत्ति है और यही उपचार है। विज्ञान के नष्ट हो जाने पर प्रतीति भी कैसे सम्भव हो सकेगी? इसका कारण यह है कि जो "असौ नष्टः"—ऐसी प्रतीति है, वह औपचारिक रूप से तो उस अनष्ट होने पर ही हो सकेगी। यदि निश्चयात्मक प्रतीति नहीं हो सकती, तब सन्देहात्मक तो हो जायगी—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि विषयवस्तु के प्रतिभासित होने पर सन्देह कभी नहीं हो सकता। वस्तु के प्रतिभासमान होने पर भी सादृश्य के आधार पर सन्देह क्यों न होगा? इसका उत्तर यह है कि अतीत और वर्तमान व्यक्ति का अभेद होने पर भी तब तक सादृश्य का भान अनुयोगी और प्रतियोगी भूत दो व्यक्तियों का प्रतिभास होने या न होने पर नहीं हो सकता।

अतीत और वर्तमान काल का भेद होने से भिन्न पदार्थों का सादृश्य-बोध हो जायगा—ऐसा कहना भी असत् है। क्योंकि काल-भेद से जो वस्तु का भेद माना जाता है, उससे तत्त्वता (वस्तुता) और अतत्त्वता (अवस्तुता) का ज्ञान कैसे होगा? यद्यपि काल सत्पदार्थ है, तथापि दो पदार्थों का भिन्न हो सकता है, चाहे वे पदार्थ सत् हों या असत् ॥१९९॥

जैसे आपके मत में सदर्थक दो ज्ञानों का कालभेद है, वैसे ही हमारे मत में असदर्थक दो प्रत्ययों (ज्ञानों) का काल-भेद होता है।

अतः कालभेद के आधार पर सदर्थत्व असदर्थत्व का निर्णय नहीं किया जा सकता।

वार्तिकालङ्कारः

कालभेदात् सदर्थेतरविभागः । अथानुमानात् सदर्थता ननु मानमप्यतीतानागतयोरस्त्येव । लिङ्गविशेषादतीतादिविभाग इति चेत् । तथा हि लिङ्गात् किञ्चिदतीततया किञ्चिद् वर्तमानतयाऽपरन्तु भावितयेति नास्ति बुद्धेः समानत्वम् । तदसत् ।

लिङ्गादुत्पद्यमानापि यदि वस्तुनि सा भवेत् । नाकारान्तरसन्देहः सर्वाकारपरिग्रहात् ॥२००॥

तस्मात् तत्रापि स आकारः शब्दाकारवत् सन्देहविषयत्वादवस्त्विति युक्तम् । न हि प्रतीयमान एव सन्देहः । आकारान्तरे सन्देह इति चेत् । अत्रोच्यते—

तदाकारान्तरन्तत्र प्रतीतं यदि वाऽन्यथा । प्रतीतञ्चेन्न सन्देहः सन्दिग्धन्तल्लक्षणोऽन्यथा ॥२०१॥

यदि हि तस्य प्रतीतिः प्रतीतिरेव न सन्देहः । अप्रतीयमानमप्यनाभासमेव कस्तत्र सन्देहः । यदि ह्यप्रतीयमानतैव सन्देहः सर्वत्रानाभासने सन्दिग्धता भवेत् । अप्रतीयमान एव सन्देहोऽपरस्य विकल्पस्य चलाचलस्य भावादिति चेत् । यदि प्रतीतिः कथं विकल्पस्य चलनम् । किञ्च किं स्वरूपस्य चलनमथ विकल्पस्य प्रमेयस्य । विकल्पस्वरूपस्य चलनेन प्रमेयसन्देहः । अथ प्रमेयस्य चलनन्न प्रतिभासमानस्य चलनाभावात् । अथात्र न सन्देहः । किमिदन्द्रक्ष्यामि न वेति द्रक्ष्यमाणतायां सन्देह इति चेत् । सापि प्रतिभाति न वेति । तदेव पक्षद्वयमक्षीणमावर्तते । यदि द्रक्ष्यमाणता दृष्टा कथं सन्देहः । न दृष्टा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—अनुमान के द्वारा सदर्थता की सिद्धि की जा सकती है । अनुमान के द्वारा अतीत और अनागत की भी सिद्धि की जाती है । लिङ्ग-विशेष के आधार पर अतीत और अनागत का विभाग सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अनुमान के द्वारा जो पदार्थों की सिद्धि हो जाती है उनका साधक लिङ्ग या पक्षधर्मता और व्याप्ति इन दोनों धर्मों से विशिष्ट हेतु-विशेष उसका साधक होता है । न्यायदर्शन में अनुमान की प्रवृत्ति तीनों कालों में मानी गयी है, वर्तमान अग्नि की सिद्धि धूम से, अतीत वृष्टि की सिद्धि नदीपूर्व से एवं अनागत वर्षा की सिद्धि मेघों आदि से की जाती है । वर्तमान अर्थसत् अतीत और अनागत असत् अर्थों की सिद्धि की जाती है, फलतः अनुमानज्ञान सदसत् उभय पदार्थों को विषय करता है । अनुमान के द्वारा कुछ पदार्थ अतीततया कुछ वर्तमानतया और कुछ भावीतया अनुमित होता है, तीनों ज्ञानों की समानता सम्भव नहीं ।

समाधान—लिङ्ग के द्वारा उत्पादित बुद्धि सर्वथा वस्तु को विषय नहीं कर सकती । वह सर्वाकार वस्तु को विषय करता है, अतः उसका विषय संदिग्ध है, अवस्तु है । अनुमित आकार को छोड़कर आकारान्तर में सन्देह भी नहीं किया जा सकता क्योंकि वह आकारान्तर अनुमिति बुद्धि में प्रतीत होता है अथवा नहीं, यदि प्रतीत है तो संदेह कैसे और यदि अप्रतीत है तब भी सन्देह क्योंकर होगा ॥२०१॥ अर्थात् यदि उस आकार की प्रतीति है तब प्रतीयमान होने के कारण उसमें सन्देह नहीं रह सकता । अप्रतीयमानवस्तु अज्ञात होने के कारण उस अंश में भी सन्देह नहीं हो सकता । यदि अज्ञात में सन्देह होता है तब सर्वत्र सन्देह होना चाहिये । यदि कहा जाय अप्रतीयमान आकार में ही सन्देह होता है और अन्य विकल्प तो चलाचल स्वभाव का होता है । यहाँ पर प्रश्न उठता है, यदि प्रतीति है तब वह विकल्पात्मक होने से विकल्प का चलन या अभाव नहीं हो सकता । चलन के विषय में ही सन्देह होता है, चलन वस्तुस्वरूप है अथवा विकल्पक है ? विकल्परूप का चलन होने पर प्रमेय में सन्देह नहीं होता, यदि प्रमेय का चलन माना जाता है तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिभासमान-

वार्तिकालङ्कारः

चेत्कः सन्देह इति। अथ सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च सन्देहः। तदप्यसत्। यतः—

योऽसौ विशेषोऽप्रत्यक्षस्तस्याप्रत्यक्षतैव का। पर्युदासप्रसज्याभ्यामपरन्न निषेधनम्॥२०२॥

यदि पर्युदासः प्रत्यक्षादन्यत्संवेदनमप्रत्यक्षमिति तदाऽन्यदपि संवेदनं सालम्बनमिति कथं सन्देहः। अथ न ज्ञायते किं सालम्बनमथान्यथेति ततः संदेहः। तत्रापि सालम्बनत्वम्प्रतिभाति न चेति तदेवावर्त्तते। अथ तन्निरालम्बनमपि सम्भवति विपर्ययेण चेति संदेहः। प्रतिभासमात्रमेव तर्हि नार्थः प्रतिभातीति कथं वस्तुविपर्ययताऽनुमानस्य। सामान्यप्रत्यक्षादिति च विशेषणमनर्थकम्। अनुमानप्रतीयमानेऽपि संदेहात्। यत्र च विशेषेऽप्रत्यक्षता स किन्तस्यैवान्यस्य वेति विकल्पः। तस्यैव चेत् स्वरूपं कथमप्रत्यक्षता। अन्यस्य चेत्, कथन्तद्दर्शनात्तत्र संदेहः। तदपि तत्र दृष्टमिति चेत्। यदि नाम दृष्टन्तथापि दृष्टमिति स्मरणमस्तु कथं सन्देहः। कदाचिन्न दृष्टमपीति चेत्। अन्यदा न दृष्टमित्येवमपि स्मरणमस्तु कः सन्देहः। उभयत्र युक्तमिति सन्देह एवेति चेत्। कथमुभयदृष्टङ्कालभेदेनेति चेत्। स्मरणमपि तथैवास्तु कथं सन्देहः। इहेदानीन्न दृश्यत

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पदार्थ का चलन निर्वृत्ति कभी नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि यहाँ दर्शन में सन्देह नहीं कि "अहं द्रक्ष्यामि न वा" अपितु द्रक्ष्यमाणता में सन्देह होता है। विषयवस्तु यदि दृष्ट नहीं तब सन्देह कैसे? इसका उत्तर है सामान्य का प्रत्यक्ष-विशेष का अप्रत्यक्ष। और विशेष का स्मरण होने से प्रत्यक्ष हो जाता है जैसा कि न्यायसूत्रकार ने कहा है—

वह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि जो विशेष पदार्थ अप्रत्यक्ष कहा गया है उसकी अप्रत्यक्षता क्या, पर्युदास और प्रसज्य को छोड़कर और कोई निषेधक नहीं माना जाता॥२०२॥ अर्थात् यदि पर्युदास वृत्ति का सहारा लेकर प्रत्यक्ष से भिन्न अन्य संवेदन को यदि अप्रत्यक्ष कहा जाय तब अन्य ज्ञान में भी सालम्बनता का सन्देह कैसे होगा। यदि वह सालम्बनता या निरालम्बनता ज्ञात नहीं तब सन्देह हो ही नहीं सकता, उसमें भी सालम्बनत्व की प्रतीति होती ही नहीं। इस प्रकार की पूर्व आक्षेप परम्परा अवतरित हो जाती है। यदि कहा जाय कि ज्ञान निरालम्बन भी हो सकता है और सालम्बन भी, अतः "ज्ञानम् सालम्बनं भवेत्" इस प्रकार का सन्देह बन जाता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ पर केवल अर्थ का प्रतीयमानमात्र हो सकता है, न वस्तु और न वस्तु का विपर्यय, सामान्यप्रत्यक्षात् यह विशेषण भी अनर्थक है, क्योंकि अनुमान प्रतीयमानपदार्थ में सन्देह हो जाता है, केवल प्रत्यक्ष दृष्ट में नहीं। यह भी यहाँ विकल्प होता है कि जिस विशेष में अप्रत्यक्षता है वह क्या उसी की अथवा अन्य की? यदि उसी की तब वस्तु के स्वरूप में अप्रत्यक्षता कैसी? अन्य की अप्रत्यक्षता से सन्देह है तब उसी के दर्शन से उसी का सन्देह कैसे? यदि कहा जाय कदाचित् उसका दर्शन नहीं भी होता तब "अन्यदा न दृष्टम्" इस प्रकार का ही स्मरण होना चाहिये, सन्देह क्यों? यदि कहा जाय उभयत्र दर्शन की एकता में सन्देह हो जाता है, तब प्रश्न होता है कि उभयदर्शन कैसे, कालभेद से यदि कहा जाता है तब स्मरण भी वैसा ही हो सकता है सन्देह कैसे। "इह इदानीं न दृश्यते" यदि ऐसा सन्देह किया जाता है तब अदर्शन के द्वारा सन्देह और सामान्य इत्यादि विशेषण अयुक्त हो

वार्तिकालङ्कारः

इति सन्देह एव। अदर्शनेन तर्हि सन्देह इति सामान्येत्याद्ययुक्तम्। तस्मादनालम्बना प्रतीतिः सम्भवतीति सन्देहसम्भवः।

अथ सन्देहो नामार्थ एव तथाभूतप्रतिभासमानः। न, अर्थत्वेनाधिमुक्तेरभावात्। प्रतीतिमात्रकमेतदिति तत्राधिमोक्षः। न चालोकिकस्वसंवेदनयोर्विशेष इत्युक्तम्। तस्मात् प्रतिभासमन्तरेण सन्देहो नान्यथा। ततो यद्यनुमानविषयो वस्तुसन्देहो न स्यात्। अस्ति च ततो न वस्तु। अथास्ति तावत्तत्र वस्तु तच्चाध्यवसितमनुमानेन। ततः कथमनुमानस्य न वस्तुविषयः। अत्रोच्यते—

वस्तुसंस्पर्शनन्तत्र यदि स्याच्चलनङ्कथम्। चलत्येव प्रतीतिः सा लिङ्गाभासस्वकल्पने ॥२०३॥

वह्निप्रतीतावपि सत्यधूमाद् यदा मशकवर्त्तिरिति विभ्रमोदयस्तदा चलति दहनप्रतीतिरन्या चोपजायते। न तु प्रत्यक्षप्रतीतावेवञ्चलनम्। तत्रापि तिमिरोपघातसम्भावनया समानमिति चेत्, न स्वरूपाभासस्य तदभावात्। लोचननिमीलने चलतीति चेत्, न कारणाभावादनुत्पत्तिरेव। अनुमानस्यापि कारणस्य लिङ्गस्याभावादनुत्पत्तिरेवेति चेत्, न तस्य धूमसद्भावेऽप्यन्यथा सम्भावनया चलितत्वे दृष्टेः।

अथानन्यथा सम्भावनमेव कारणमिति कुतः कारणसम्भवः। तदयुक्तम् तस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है अतः "अनालम्बना प्रतीतिः सम्भवति" इस प्रकार का सन्देह सम्भव है।

शंका—सन्देह अर्थ का ही नामान्तर है जो कि वैसा प्रतिभासित होता है अतः विषय से भिन्न सन्देह की कोई स्थिति सम्भव नहीं।

समाधान—सन्देह की ज्ञानत्वेन ही प्रतीति मानी जाती है, अर्थत्वेन नहीं, सन्देह एक प्रतीतिमात्र है, ऐसी ही अधिमुक्ति या निश्चय होता है। अतः वस्तु का प्रतिभास के बिना सन्देह नहीं हो सकता। यदि वह अनुमान का विषय है तब सन्देह नहीं किन्तु सन्देह होता है अतः वह वस्तु नहीं। यदि कहा जाय कि वह भी वस्तु है और अनुमान के द्वारा अध्यवसित है तब प्रश्न उठता है अनुमान में वस्तुविषयता नहीं मानी जाती। केवल प्रत्यक्ष ही वस्तुविषय क्यों ? इसका उत्तर है—यदि अनुमान वस्तुविषयक है तब उसका चलन (बाद) कैसे लिङ्गाभास कल्पना के द्वारा उसका बाद होता है ॥२०३॥ जैसे कि वह्नि की प्रतीति जिस धूम के द्वारा होती है उस धूम में मसक-पंक्ति आदि का सन्देह हो जाने पर ज्ञान-प्रतीति अन्यथा मानी जाती है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रतीति में इस प्रकार का चलन या बाध नहीं देखा जाता। प्रत्यक्ष में भी तिमिरादि दोषों के द्वारा केशपाशादि का जो भान हो जाता है उसका बाध उपलब्ध होता है ऐसा नहीं कह सकते। स्वरूपाभास में बाध नहीं होता, नेत्र-निमीलन के कारण जो 'चलति' ऐसी प्रतीति होती है वह हो ही नहीं सकती, क्योंकि वैसी प्रतीति का हेतु नेत्रोन्मीलन है। अनुमान के कारणीभूत लिङ्ग का अभाव होने से, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि धूम का सद्भाव होने पर भी मसकपंक्ति आदि रूप में सम्भावना हो जाती है।

यह जो कहा जाता है अनन्यथा सम्भावना को भी कारण माना जाता है अन्यथा सम्भावना में कारण का अभाव रहता है, ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि उसका विषयवस्तु का दर्शन होने पर अन्यथा सम्भावना नहीं रहती। फलतः अनुमान आभासकल्पना के द्वारा बाधित हो जाता है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं। जब 'प्रत्यक्षत।

वार्तिकालङ्कारः

दर्शनेऽन्यथा सम्भावनमेव न भवेत्। तस्मात्—

अनुमानस्य चलने न वस्तुग्रहणन्ततः। पश्यन्नेवापदेशेन चलतीत्यतिसाहसम् ॥२०४॥

प्रत्यक्षे चलनन्नास्ति चलनञ्चेन्न दर्शनम्।

यो हि दृष्टोऽर्थो न तस्य चलनम्। न ह्यन्यथा विकल्प्यमानमन्यथा वस्तु भवति। अथापि नायं वह्निरिति दृश्यमाने चलत्येव।

नाग्निः प्रत्यक्षविषयः स्पृश्यविन्नहि चक्षुषा। भाविरूपस्य वा नास्ति क्वचिदक्षेण वेदनम् ॥२०५॥

अग्निरयन्न भवतीति किमिदमेवं रूपन्न भवति। अथोष्णस्पर्शसहचारीदन्न भवति। भाविसमीहितवेदनविषयं वेति विकल्पाः। यदीदमेव न भवति तदशक्यम्। दृश्यमानत्वाद् दृश्यमानमपि नेति सर्वत्र भवेत्। अथ रूपस्पर्शसमुदायोऽग्निस्तेन स्पर्शसहचारीदं रूपन्न भवतीति विकल्प्यते। न तर्हि तस्य चक्षुषा ग्रहणन्ततोऽदृष्ट एव। तस्माददृष्टेरेव चलनम्। अनेन भाविरूपताचलनं व्याख्यातम्। तस्माद् वस्तुसंस्पर्शनिदर्शनमिति न विकल्पो युक्तः। तस्मादनुमानप्रत्ययो न वस्तुसंस्पर्शी। यतः—

आकारान्तरसन्देहो दृष्टेऽपि क्वचिदस्ति चेत्। अनुमेये स सन्देहो न दृष्टस्यानुमेयता ॥२०६॥

प्रतिभासेऽविसंवादः प्रत्यक्षेतरयोः समः। प्रत्यक्षता च भेदस्तु बाह्यवस्तुव्यपेक्षया ॥२०७॥

प्रत्यक्षाभासता तेन प्रतिभासेऽपि कस्यचित्। अनुमानस्य चेत्येव विभागो बाह्यवस्तुनि ॥२०८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

चलति' ऐसी प्रतीति होती है तब उसका बाध करना बड़े साहस का काम है।।२०४।। क्योंकि चलन का जब प्रत्यक्ष हो रहा है तब चलन का दर्शन क्यों नहीं, जो पदार्थ देखा गया है उसका बाध नहीं होता, किसी प्रकार के विकल्प के द्वारा सद्वस्तु असद् नहीं की जा सकती। यदि कहा जाय अग्नि का दर्शन होने पर भी 'नायम् अग्निः' इस प्रकार का बाध होता है तो ऐसा नहीं कह सकते क्यो कि जो दृष्ट अर्थ है उसका बाध नहीं किन्तु स्पृश्य अग्नि का या भावी अग्नि का इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। २०५ ।। अर्थात् अनुमित अग्नि के विषय में जो यह बाध होता है—"अग्निरयं न भवति" उसका तात्पर्य दृश्यमान अग्नि के निषेध में है अथवा स्पृश्यमान उष्ण अग्नि के निषेध में। प्रथम पक्ष नितान्त व्याहत है और द्वितीय धूम का व्यापक नहीं यदि कहा जाय रूप और स्पर्श का समुदाय अग्नि है, गुणों से भिन्न द्रव्यों की पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती अतः स्पर्शसहचारी 'इदं रूपं न भवति', ऐसा बाध विकल्प होता है। तब चक्षु के द्वारा भी उसका दर्शन नहीं होना चाहिये। तब दर्शनाभाव के कारण ही उसका बाध होता है अन्यथा नहीं इसी प्रकार भावी अग्नि का चलन बाध व्याख्यात हो जाता है।

फलतः वस्तु-संस्पर्श-विषयक ज्ञान विकल्प नहीं कहला सकता। "अनुमानप्रतीतिर्वस्तुविषयिणी न भवति" दृष्ट पदार्थ में भी कहीं-कहीं आकारान्तर का सन्देह होता है अनुमेय पदार्थ के विषय में ऐसा सन्देह नहीं होता है ॥ २०६ ॥ तथापि अनुमित अग्नि की प्राप्ति मात्र से जो अविसंवाद है वह प्रत्यक्ष और उससे भिन्न ज्ञान में समानरूप से प्रमाणता का निर्णायक माना जाता है। अग्निगत प्रत्यक्षता की अपेक्षा जो भेद प्रतीत होता है वह बाह्य अग्नि की अपेक्षा है ॥ २०७ ॥ अतएव अग्नि के प्रतिभास में भी प्रत्यक्षाभासता कुछ लोग मानते हैं उसको लेकर अनुमान और प्रत्यक्ष का भेद माना जाता है ॥ २०८ ॥ यदि अनुमान में भी भावी वस्तु का प्रतिभास नहीं होता तब

यथा भावेऽप्यभावाख्यां यथाकल्पनमेव वा।
कुर्यादशक्ते शक्ते वा प्रधानादिश्रुतिं जनाः ॥ ३८ ॥

जैसे असिंह में सिंह का उपचार करने पर सिंह मुख्यार्थ माणवकादि असिंह गौण माना जाता है, वैसे ही भावार्थ में अभाव का उपचार करने पर अभाव में 'अभाव' शब्द मुख्य और भाव में 'अभाव' शब्द गौण माना जाता है। अतः जो लोग "वस्तुविषयत्वं मुख्यत्वम्"—ऐसा मुख्यता का लक्षण करते हैं, वह भावविषयक 'अभाव' शब्द में व्यभिचरित है, क्योंकि यहाँ 'अभाव' शब्द भावरूपवस्तुविषयक होने पर भी मुख्य नहीं गौण ही है।

इसी प्रकार सांख्यमतानुसार आत्मादि वस्तुतत्त्व में प्रवृत्त 'प्रधान' गौण माना जाता है, अतः उसमें कथित मुख्यार्थत्व का लक्षण व्यभिचरित होता है ॥ ३८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथवानुमानेऽपि यदि भावि वस्तु न प्रतिभाति किन्तस्य सत्यता भवति। भवति तस्य पुरुषान्तरेण प्रतीतेः।

ननु सोऽपि यदि भाविरूपतया नावगच्छेत् कथन्तस्य सत्यता। तैमिरिकप्रतिभासवदसत्यमेव भवेत्। पुरुषान्तरप्रतीतावप्यनुमानमेव। कथन्तेनैव तस्य सत्यतावगतिः। नासिद्धमसिद्धेन साध्यम्। भाविरूपतायाश्च सम्भवे तद्विषयावसाय्येवानुमानम्। न च तदा तदस्तीति कथं वस्तुविषयमनुमानम्। प्रत्यक्षस्यापि तत्रैव प्रामाण्यमिति चेत्, यतस्तत्रापि सत्यता भाविरूपप्रत्यतीत्येवान्यथा न सत्यता। एवमेतत्तथा च प्रतिपादयिष्यते। तस्मादनुमानबुद्धिरसत्यपि समाना। प्रत्यक्षबुद्धिस्तु वस्त्वन्तरेण न भवतीति नानुमानं वस्तुविषयम्।

अथावस्तुविषयतैवामुख्यता। तदप्यसत्। सर्वमेवानुमानेन वस्तुविषयमिति सिद्धत्वात् न चेदममुख्यलक्षणं विपर्ययदर्शनात्। तथा हि—यथाभावेऽप्यभावाख्यामिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इसकी सत्यता क्या, भावी पदार्थ भी किसी पुरुष के द्वारा प्रतीत होता ही है। भावी वस्तु का भावी रूपेण यदि भान नहीं होता तब उसकी सत्यता कैसे? तैमिरिक प्रतीभासित केश-पाशादि के समान असत्यता ही मानी जायेगी। पुरुषान्तर के द्वारा प्रतीयमान होने पर भी वह अग्नि अनुमान का ही विषय है उसी के द्वारा उसकी सत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती, जो कि न्याय है "नासिद्धम् असिद्धेन साध्यम्" अर्थात् असिद्ध साधन के द्वारा किसी वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती। अग्नि में भावी-रूपता संभव है उस विषय का ही अध्यवसाय अनुमान माना जाता है यदि वर्तमान काल में अग्नि न होने से अनुमान वस्तुविषयक कैसे, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु के संतान में अविसंवादता होती है वैसे ही भावी अग्नि की संतान परम्परा में अविसंवाद माना जाता है। भावी रूप भासकत्वेन अनुमान में प्रमाणता मानी जाती है, इसका प्रतिपादन आगे भी किया जायेगा, अतः अनुमानज्ञान असत्पदार्थ में भी समान ही माना जाता है। प्रत्यक्षज्ञान भिन्नवस्तु में नहीं हो सकता, अतः यह अवस्तुविषयक न होकर वस्तुविषयक ही होता है।

अवस्तुविषयता की अमुख्यता है अर्थात् "सिंहो माणवकः" यहाँ पर असत् सिंह स्वरूप माणवक को ही अमुख्य माना जाता है यह अमख्यता का लक्षण भी असत् है,

शब्देभ्यो यादृशी बुद्धिर्नष्टेऽनष्टेऽपि दृश्यते।
तादृश्येव सदर्थानां नैतच्छ्रोत्रादिचेतसाम् ॥ ३९ ॥
सामान्यमात्रग्रहणात् सामान्यं चेतसोर्द्वयोः।
तद्व्याधि केवलस्य प्राग् ग्रहणं विनिवारितम् ॥ ४० ॥

"आसीद् घटः"—इत्यादि ज्ञानों में औपचारिकता का निर्वाह करने के लिए सद्विषयक और असद्विषयक ज्ञानों का सादृश्य अपेक्षित है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे नष्टविषयक और अनष्टविषयक शाब्दज्ञान में कोई विशेषता नहीं, समानता (सदृशता) होती है, वैसे इन्द्रिय-जन्य ज्ञानों में सदसद्विषयकत्व का सादृश्य सम्भव नहीं, क्योंकि विषय के न होने पर ऐन्द्रियक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता।

सामान्यमात्रविषय में दो ज्ञानों की समानता भी सम्भव नहीं, क्योंकि व्यक्ति-निरपेक्ष सामान्यमात्र का ग्रहण इसी प्रकरण के बीसवें पद्य में निराकृत जो हो चुका है और व्यक्तिविषयक ज्ञानों में विशेषता अवश्य होगी, सदृशता नहीं ॥३९-४०॥

परस्परविशिष्टानामविशिष्टं कथं भवेत्
तथा द्विरूपतायां वा तद्वस्त्वेकं कथं भवेत् ॥ ४१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भावेऽप्ययोग्यतया योग्यतया वा प्रधानादिश्रुतिम्प्रवर्त्तयति लोकः। त्वन्मत्या तु वस्तुविषयत्वात् मुख्यता भवेत्। प्रधानपुरुषादौ तु त्वन्मत्या साङ्ख्यपुरुषादिशब्दास्तेषामवस्तुत्वादमुख्यता व्यपदेशविकल्पयोः। न चैवम्।

अथ पुत्रादावभावारोपतोऽमुख्यता प्रधानपुरुषादिशब्दानान्न तर्हि भावेतरविषयत्वम्मुख्येतरयोर्लक्षणम्। अन्यथारोप्यमाणन्तत्र तेन रूपेण नास्त्येव। तेनेदमेव लक्षणम्। अनुमानेनापि तर्हि दृष्टान्तं दृष्टमेव रूपं साध्यस्यारोप्यत इति सिद्धमवस्तुविषयत्वमनुमानस्य। तस्मात्—शब्देभ्यो यादृशी बुद्धिरिति।

सामान्यमात्रग्रहणे हि नातीतादिविभागः। प्रतिपादितश्च न केवलङ्गृह्यत इति। अथ ता एव व्यक्तयोऽविशेषेण गृह्यमाणाः सामान्यन्ततो वस्तुविषयमनुमानम्। अत्रोच्यते—तदविशेषग्रहणं यदि ज्ञानरूपस्यैव न वस्तुविषयोऽनुमानस्य। अथ वस्तुत एव सद्रूपम्। तदव्यसत्। तथा हि—परस्परविशिष्टानामिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि अनुमान के द्वारा सांवृतिक वस्तु की सिद्धि मानी जाती है, अत्यन्त असद् वस्तुविषयक नहीं, अतः अनुमान में अमुख्यता का लक्षण नहीं घटता। फलतः कथित अमुख्यता का लक्षण अतिव्याप्त है। लोकव्यवहार में भाव में भी अभाव का उपचार देखा जाता है, भाव वस्तु है फिर भी तद्विषयक अभाव ज्ञान अमुख्य माना जाता है, अतः वहाँ भी यह लक्षण अव्याप्त है। किन्तु आपके मत से वस्तुविषयक होने के कारण उसमें मुख्यता होनी चाहिये, प्रधान और पुरुषादि के विषय में भी सांख्य के अनुसार अतिप्रसङ्ग दिखाया जा चुका है। इसी प्रकार पुत्रादि में भी अभावारोप के द्वारा अमुख्यता दिखाई जाती है। अनुमान के द्वारा दृष्टान्तदृष्ट पदार्थ ही पक्ष में आरोपित होता है अतः अनुमान में अवस्तुविषयत्व सिद्ध होता है। सामान्यमात्र का ग्रहण होने पर व्यक्तियों की विशेषता का भान न होने पर अतीतादि व्यवहार सम्भव नहीं हो

भिन्न सामान्य का निषेध करने के अनन्तर अभिन्न सामान्य का निषेध किया जाता है—परस्परेत्यादि से। व्यक्तियों में परस्पर-विशेषता निश्चित है, अतः व्यक्तिः सापेक्ष सामान्यज्ञान में एकता या समानता क्योंकर रहेगी ?॥ ४१॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि विशिष्टरूपाणामविशिष्टरूपता। परस्परविरुद्धयोरेकत्वायोगात्। अनुगतव्यावृत्तङ्गौरित्येकमेव प्रत्यक्षत उपलभ्यत इति चेत्। कथमनुगतिर्नाम। या गौर्गौरित्यनुगतत्वेन प्रतीयते। किमनुगतिरस्ति। तथा चेदनवस्था। स्वरूपमेव तत्तस्या इति चेत्। किमसौ स्वेन रूपेणोपलभ्यते। यद्युपलभ्यते द्वयाकारः प्रत्ययो भवेत्। पदार्थरूपमेव तस्या रूपमिति चेत्। रूपस्यानुगमो रूपस्यैकत्वमतो न व्यक्तिभेदस्तथा च न सामान्यम्। अथ तदेकं भवति रूपन्तथापि न सामान्यम्। अथ व्यक्तय उपलभ्यन्ते गौर्गौरिति चानुगताकारप्रत्ययोऽन्यथा कथमेतद्भवेत्। अत्रेदमुच्यते—

प्रत्ययोऽनुगताकारः किमर्थं इति कथ्यताम्। प्रत्ययश्चेन्न तेनार्थोऽनुगतः कश्चिदीक्ष्यते ॥२०९॥

यदि प्रत्ययोऽनुगताकारोऽर्थस्य किमायातम्। अथार्थानुगतत्वेन तदनुगतिरिति चेत्। स एव तथा व्यपदिश्यताङ्किमन्यव्यपदेशेन। न हि नीलादयो ज्ञानस्य व्यपदेशेन तथोच्यन्ते। नीलादयोऽपि तथा व्यपदिश्यन्त एव। तथा हि नीलाकारसंवेदनान्नील-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकता, यह दिखाया जा चुका है। वस्तुभूत व्यक्तिसमूह से अतिरिक्त सामान्यतत्त्व सिद्ध नहीं होता अतः सामान्यविषयक अनुमान भी वस्तुविषयक नहीं। इसका स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है। विशिष्ट पदार्थों में अविशिष्टता या समानता मानना परस्पर विरुद्ध है, दोनों की एकता नहीं हो सकती। सभी गोव्यक्तियों में अनुगत तथा अश्वादि व्यक्तियों से व्यावृत्त 'गौः'—इस एक सामान्य का प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है—ऐसा यदि कहा जाय, तब प्रश्न उठता है कि यह अनुगति क्या है ? उत्तर है—"या गौरित्यनुगतत्वेन प्रतीयते"। अर्थात् अनुग धर्म की अनुगति एवं अनुगति की अनुगति मानने पर अनवस्था दोष प्रसक्त होता है। प्रथम अनुगति से द्वितीय अनुगति भिन्न नहीं, उसका स्वरूप ही है अतः अनवस्था-प्रसक्ति नहीं होती। क्या द्वितीय अनुगति प्रथम की स्वरूपेण प्रतीयमान है ? अथवा नहीं ? यदि है, तब वहाँ दो अनुगतियों का ज्ञान होना चाहिए। द्वितीय अनुगति प्रथम अनुगतिरूप अर्थ का स्वरूप ही है, तब द्वयाकारता क्यों प्रतीत होगी ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वरूपानुगति की गोव्यक्तियों में अनुगति न होने के कारण उसे गोत्वरूप सामान्य नहीं कहा जा सकता। अनुगतिरूप स्वरूप एक होने पर भी सामान्य नहीं कहला सकता, क्योंकि उससे व्यक्तियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि 'गौः' 'गौः' इस प्रकार अनुगताकार प्रतीति तभी हो सकती है जबकि व्यक्तियों में कोई अनुगत धर्म माना जाय। इस पर हमारा कहना है—

प्रतीति में अनुगताकारता क्यों मानी जाय, प्रतीति के अनुगति से प्रकृत समस्या का समाधान नहीं हो सकता ॥ २०९ ॥ अर्थात् प्रतीति यदि अनुगताकार है तो इससे अर्थ या विषय पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्रतीति के अनुगति से अर्थ की अनुगति सिद्ध होगी। यदि ऐसा है तब उक्त व्यक्तियों की प्रतीति में अर्थानुगति का व्यपदेश ही क्यों नहीं किया जाता। नीलादिज्ञानों के व्यपदेश से पदार्थ भी वैसा क्यों कहा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर–विज्ञानवाद की गहन प्रक्रिया की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है।

वार्तिकालङ्कारः

न्नान्यथा। नैतदप्यस्ति। न हि लोक एव व्यपदिशति। अपि तु नीलम्पश्यामीति नील-पीतयोर्भेदमेवावगच्छति सुखदुःखयोर्वा। अत्रापि भेदवेदने इदमत्रानुगतमिदमन्यथेति व्यपदिश्येत। अव्यपदेश्यमेवैतदिति चेत्। अथ किमिदमीसतो रूपन्न निर्दिश्यते। निर्देष्टुमशक्यत्वात्।

न हि सर्वस्वरूपेण निर्देष्टुं शक्यमस्ति यत्। यतोऽयम्प्रत्ययस्तत्तु सामान्यमिति कथ्यते॥ २१०॥

यदि निर्देष्टुमशक्यङ्कथम्परस्मै प्रतिपाद्यते। अप्रतिपादितश्च परः कथमभ्युपगमयितव्यः।

ननु सुखादीनामपि कथन्निर्देशः। तेऽपि न स्वरूपेण प्रतिपादनार्हाः। स्वसंवेदन-प्रत्यक्षत्वादप्रतिपादनेऽपि न दोषः। तव सुखमस्तीति किमनेन प्रतिपादितेन, मम तव दर्शनेन सुखमिति प्रतिपादनमुपयोगीति चेत्, न, संव्यवहारमात्रकमेवैतद् गणिकादिषु दर्शनात्। अथ रोमाञ्चादिदर्शनात् प्रत्येति तथापि किं परप्रतिपादनेनेति यत्किञ्चिदेतत्। यतोऽयं रोमाञ्चादिप्रपञ्चस्तत् सुखादीतिप्रतिपत्तिमात्रेण पर्यवसानात्। अत्रापि यतः पटः पट इत्युल्लेखस्तत् सामान्यमिति चेत्। नैवमनुगताकारं व्यतिरिक्तमितरद्वा साधितं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञानगत प्रमाणाकारता ही प्रमेयाकारता की व्यवस्थापिका मानी जाती है। अतः नीलादि पदार्थों की व्यवस्था उनके ज्ञान पर ही निर्भर होगी। फलतः "नीलाकार संवेदनात् नील नान्यथा"—यह योगाचारसिद्ध परम सिद्धान्त है। इस पर भी हमारा कहना यह है कि लौकिक पदार्थों की व्यवस्था लोकव्यवहार के अनुसार ही होती है। लोक में ज्ञान के द्वारा ज्ञेय की व्यवस्था नहीं, अपितु नीलादि ज्ञेय पदार्थों के द्वारा ज्ञानाकारता मानी जाती है। 'नीलं पश्यामि' इत्यादि व्यवहार के द्वारा नील और पीत का भेद ही अवगत होता है, इस भेद-प्रतीति में अनुगति और अननुगति का व्यवहार होता है। यदि कहा जाय कि यह शब्दव्यवहार का विषय ही नहीं है। व्यक्तियों का स्वरूपतः निर्देश क्यों नहीं किया जाता? इसका उत्तर है–'निर्देष्टुम् अशक्यत्वात्' अर्थात् देशकाल और स्वरूप के भेद से व्यक्तियाँ अनेक हैं, उनका निर्देश एक शब्द से नहीं हो सकता। देशादिभेदभिन्न अनन्त व्यक्तियों का स्वरूपतः निर्देश सम्भव नहीं, अतः 'गौः गौः' इस प्रकार की प्रतीति का विषय सामान्य माना जाता है॥ २१०॥ यदि सामान्य का निर्देश नहीं किया जा सकता तब अन्य व्यक्तियों को उसका उपदेश कैसे होगा। उपदेश के बिना अन्य व्यक्तियों को उसका ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

शंका—सभी पदार्थों का निर्देश यदि आवश्यक है, तब सुखादि का निर्देश क्योंकर होगा? उनका भी स्वरूपेण प्रतिपादन नहीं हो सकता।

समाधान—दुःखी व्यक्ति को अपने दुःख का स्वसंवेदन होता है। दुःख का अन्य को उपदेश (प्रतिपादन) न होने पर भी कोई दोष नहीं। अर्थात् "तव सुखमस्ति"—इस प्रकार के प्रतिपादन से क्या लाभ? 'मम तव दर्शनेन सुखं जातम्"—इस प्रकार के प्रतिपादन तो व्यवहारोपयोगी है—ऐसा कहना भी एक संव्यवहारमात्र है, जो गणिकादि निकृष्ट समाज में प्रचलित है। यद्यपि समुत्पन्न सुख से जनित रोम-हर्षादि के द्वारा परपुरुषगत सुख की प्रतीति द्रष्टा पुरुष को हो जाती है, तथापि उसके प्रतिपादन से क्या फल? रोम-हर्षादि के द्वारा परपुरुषगत सुखादि की प्रतिपत्तिमात्र दूसरे को हो जाती है।

ताभ्यां तदन्यदेव स्याद् यदि रूपं समं तयोः ।
तयोरिति न सम्बन्धो व्यावृत्तिस्तु न दुष्यति ॥ ४२ ॥

दो पदार्थों की समानता एक रूप है, अतः वह समानाकारता दो व्यक्तियों से भिन्न होगी, फलतः 'तयोः सामान्यम्'—यहाँ प्रतीयमान सम्बन्ध नहीं होगा, क्योंकि उपकार्योपकारकत्व का अभाव है। हमारे (बौद्ध) मत में अन्योपोहात्मक सामान्य मानने में कोई दोष नहीं, क्योंकि व्यावृत्ति रूप सामान्य कोई वस्तुतत्त्व नहीं ॥४२॥

वार्तिकालङ्कारः

सामान्यम् । केवलमनादिरयं व्यवहार इति व्यवहारपरम्परायातमेतदव्यवस्थितवस्तुकम् । व्यवहारवासनैवास्य निमित्तम्प्रधानादिव्यवहारवत् । न हि भिन्नाभिन्नमप्यनुभूयते ।

अन्यदेव न सामान्यमन्यत्वेनाप्रवेदनात् । अन्यानन्यत्वपक्षोऽपि किमाकारान्तरं विना ॥२११॥
तथा हि केनचित् तत्त्वमपरेण विपर्ययः । विपर्ययेण यत् तत्त्वं न तदन्यत् प्रवेद्यते ॥२१२॥
कटकत्वेन भेदेऽपि सुवर्णङ्कुण्डलन्न किम् । कटकाव्यतिरेकेण सुवर्णमपरङ्कुतः ॥२१३॥
अन्वितत्वं सुवर्णञ्चेदन्वितत्वम्परङ्कुतः । अन्वितप्रत्ययादेतत् प्रागेव प्रतिपादितम् ।

तदेतदास्तान्तावत् । अथापि व्यक्तिरिक्तं सामान्यन्तथापि न तस्य सम्बन्धः । यतो हि—ताभ्यान्तदन्यदेव स्यादिति ।

यदि ताभ्यान्तदसम्बद्धमन्यदेव तदा न सामान्यम्पदार्थान्तरत्वात् । न हि घटः पटस्य सामान्यम् । असामान्यात्मकत्वान्न सामान्यमिति चेत्, तदसत् ।

सामान्यात्मकताया हि भवेत् सामान्यमेव तत् । तस्येति तु सम्बन्धः कुत एव भविष्यति ॥ २१४ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सुखादि-प्रतिपत्ति के समान ही 'पटः-पटः'—इस प्रकार के उल्लेख से पटत्व सामान्य की प्रतिपत्ति क्यों नहीं होगी ? अवश्य होगी, किन्तु उसके द्वारा पटगत समानाकारता को छोड़कर और कोई पटत्व नाम की जाति सिद्ध नहीं होती। जाति-विषयक केवल अनादि व्यवहार ही प्रचलित आ रहा है। व्यवहार-वासना ही जाति-कल्पना की वैसे ही निमित्त है, जैसे प्रधानादि व्यवहार। जाति व्यक्ति से भिन्नाभिन्न भी अनुभूत नहीं होती। व्यक्ति की अपेक्षा सामान्यतत्त्व पृथक् सिद्ध नहीं होता, अन्यथा व्यक्ति की अपेक्षा सामान्य का कोई भिन्न आकार होना चाहिए। भेदाभेद-पक्ष भी आकारान्तर के बिना सिद्ध नहीं हो सकता ॥ २११ ॥ कटक कारणरूपेण अभिन्न और कार्यरूपेण विपर्यय (भिन्न) माना जाता है किन्तु वह सुवर्ण से भिन्न तत्त्व नहीं होता ॥ २१२ ॥ कटक और कुण्डल स्वकीयाकारेण यदि भिन्न हैं, तब क्या सुवर्णरूप भी नहीं रहेगा ? ॥ २१३ ॥ कटक सुवर्ण से अन्वित होकर सुवर्ण माना जाता है, तब वह अन्वय के पहले क्या सुवर्ण नहीं था।

यदि सामान्य (जाति) को व्यक्ति से पृथक् भी मान लिया जाता है, तथापि उसका व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं बनता। दो भिन्न व्यक्तियों में रहने वाला सामान्य तत्त्व यदि भिन्न-भिन्न है, तब उसे सामान्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "समानानां भावः सामान्यम्"—इस प्रकार निर्वचन उसमें नहीं घटता। जैसे घट पट का सामान्य धर्म नहीं कहलाता, वैसे घट से भिन्न घटत्व उसका सामान्य धर्म नहीं हो सकता।

घट पट का सामान्य धर्म इसलिए नहीं कि असामान्यात्मक है—ऐसा जो कहा जाता है, वह भी असत् है, क्योंकि कोई सामान्य किसी का सामान्य तभी होगा, जबकि सामान्यात्मक हो, तब सामान्य में सामान्य का सम्बन्ध कैसे बनेगा ? अर्थात् सामान्य और

वार्तिकालङ्कारः

तत्सम्बन्धरूपादिति चेत्, तदेतदायातम्—

अनित्यत्वङ्कुतः शब्देऽनित्यत्वादनित्यता। न चैवं कस्यचित् सिद्धिर्न भविष्यति वस्तुनः ॥२१५॥

ननु सम्बद्धत्वस्यासिद्धेः कुतः स एव हेतुरन्यथा सर्वस्य सर्वं सिध्येत्। न च सामान्यरूपतापि नाम सामान्याभिमतस्य सिद्धा। अथ सम्बन्धः सिद्धः। एवमप्यशेष-व्यक्तिग्रहणम्भवेदशेषसम्बन्धिरूपत्वात्। न च सम्बन्धिरूपताव्यतिरेकेणापरं सामान्यम्। समानाकारमिति चेत्। समानाकारतेति सम्बन्ध एव तथा व्यपदिश्यते। व्यक्त्यपेक्षया हि समानाकारता न स्वरूपापेक्षया। स्वरूपस्य सर्वत्र स्वात्मनि व्यवस्थितेः। व्यक्त्य-पेक्षया च समानत्वे व्यक्तिग्रहणमन्तरेणाग्रहणात्। अन्यव्यावृत्तेरपि सामान्यस्यायमेव दोषः। न। व्यावृत्तेरदुष्टत्वात् परस्परविशिष्टानामपि परतोऽभिमतात् व्यावृत्तिर-विरुद्धा। समानव्यवहारोऽपि तदेकार्थक्रियाकरणात् अविरुद्ध एव। अलक्षितनानात्वस्य हि समानाकारता केन वार्यते। असमानेषु कथं समानबुद्धिः। न, तत एव समानत्वात्। न हि समानताऽन्यैव काचिदन्यत्र समानाकारप्रत्ययविषयीकरणात्। तत्रासमानेषु कथं समानाकारबुद्धिरिति पर्यनुयोगस्यायमर्थः। असमानबुद्धिविषयेषु कथं समानबुद्धिः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विशेष पदार्थों में साकांक्षता होने के कारण परस्पर संवन्ध हो जाता है, सामान्य का सामान्य के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ २१४ ॥ सामान्य तो सामान्यात्मक है किन्तु 'तस्य सम्बन्धः कस्मात्''—इस प्रश्न क्या उत्तर? इसके उत्तर में यदि कहा जाय 'सम्बन्धरूपत्वात्।' तब यह उत्तर वैसा ही है कि किसी ने प्रश्न किया 'शब्दोऽनित्यः, कस्मात्?' इसका उत्तर दिया जाता है—'अनित्यत्वात्'। इस प्रकार आत्माश्रयता-पादक उत्तरों से किसी अर्थ की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी ॥ २१५ ॥

शंका—सामान्यगत सम्बद्धत्व का साधक स्वयं सम्बद्धत्व नहीं हो सकता, अन्यथा सभी पदार्थ अपने-आप सिद्ध हो जायेंगे। ! हाँ, सम्बन्ध अवश्य सिद्ध है। इस प्रकार भी समस्त व्यक्तियों का ग्रहण होना चाहिए, क्योंकि सामान्यतत्त्व अशेष व्यक्ति-सम्बन्धी है। सम्बन्धिरूपता ही तो सामान्य है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं। समानाकारता को सामान्य कहना भी उचित नहीं, क्योंकि व्यक्ति और जाति का सम्बन्ध समानाका-रता है, क्योंकि लोक-व्यवहार ऐसा हो है। व्यक्तियों की अपेक्षा हो समानाकारता को सम्बन्ध माना गया, सामान्य-स्वरूप की अपेक्षा नहीं, क्योंकि सामान्य का स्वरूप तो सर्वत्र सदा व्यवस्थित है, उसे सम्बन्ध की अपेक्षा हो नहीं। व्यक्ति की अपेक्षा समानता मानने पर व्यक्ति-ग्रहण के बिना सामान्य का ग्रहण नहीं हो सकता। अन्य-व्यावृत्तिरूप सामान्य के पक्ष में भी यही दोष प्रसक्त होता है।

समाधान—अन्य-व्यावृत्तिरूप सामान्य मानने में कोई दोष नहीं। घट और घट-त्वादि के परस्पर विशिष्ट होने पर भी अन्य (पटादि) से व्यावृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं। व्यक्तियों में समानाकारता का व्यवहार भी एक कार्य-कारित्वेन उपपन्न हो जाता है। जिन व्यक्तियों का नानात्व या असमानाकारता लक्षित नहीं, उनमें सामानाकारता की प्रतीति का निवारण कौन कर सकता है? व्यक्तियों में विशेषता या असमानाकारता के रहने पर समानाकारता-बुद्धि कैसे रहेगी? इसका उत्तर यही है कि समानाकार-प्रतीति-विषयता के कारण व्यक्तियों में समानाकारता मानी जाती है। इसका आशय यह है कि असमान-बुद्धि के विषयीभूत

तस्मात् समानतैवास्मिन् सामान्येऽवस्तुलक्षणम् ।
कार्यं चेत् तदनेकं स्यान्नश्वरं च न तन्मतम् ॥ ४३ ॥
वस्तुमात्रानुबन्धित्वाद् विनाशस्य न नित्यता ।
असम्बन्धश्च जातीनामकार्यत्वादरूपता ॥ ४४ ॥

सामान्य में जो समानता धर्म है, वही अवस्तुत्व का लक्षण (हेतु) है, क्योंकि 'यत् सामान्यं तदवस्तु'—इस प्रकार की व्याप्ति निश्चित है। सामान्य यदि व्यक्ति का कार्य है, तब वह भी व्यक्तियों के समान अनेक और नश्वर है। अर्थात् जब 'सर्वं स्वलक्षणम्'—ऐसी वस्तुस्थिति है, तब सामान्य या समानाकारता को भ्रममात्र मानना होगा ॥४३॥ समस्त वस्तुओं में जब नश्वरत्व व्याप्त है, तब सामान्य में नित्यता कैसे सिद्ध होगी ? सामान्य को यदि व्यक्ति का कार्य नहीं माना जाता, तब व्यक्ति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः तस्य (घटादेः) इदं (घटत्वादि सामान्यम्) इस प्रकार प्रतीयमान सम्बन्ध बाधित हो जाता है ॥४४॥

वार्तिकालङ्कारः

बुद्धयविषयत्वञ्च सिद्धम्। न हि सामान्यवादिनोऽपि तत्र सामान्यबुद्धिविषयीकरणमसिद्धम्। तदाह—तस्मात् समानतैवेति।

न हि समानाकारता भ्रान्तप्रत्ययाकारव्यतिरेकेणापरोपपादयितुं शक्या। अथ सामान्याकारता यथासम्भवं यत्र द्वयन्तत्र तथेति। एवन्तर्ह्यपरापरव्यक्त्युत्पत्तौ परिवर्द्धमानाकारं सामान्यं व्यक्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यमेव व्यक्तीनाम्। तथासत्यनेकता व्यक्तिवदेव प्रसक्ता। प्रत्यभिज्ञायमानत्वादेकत्वमिति चेत्। सामान्येऽपि समानाकारतेत्यनवस्था।

अथ न प्रतीयत एव सामान्ये सामान्यं व्यक्तावपि नेति समानः पर्यनुयोगः। प्रत्यभिज्ञायान्तु सामान्येनानेकान्तः। सामान्येष्वपि प्रत्यभिज्ञानदर्शनात्। नश्वरञ्च सामान्यन्नाभिमतम्प्राप्नोति च व्यक्तिविनाशे विनाशात्। वस्तुत्वाच्च नश्वरता। वस्तुमात्रा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यक्तियों में समानाकारता-बुद्धि-विषयता कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि व्यक्तियों में समानबुद्धि की अविषयता असिद्ध होने के कारण समान-बुद्धि-विषयता सिद्ध हो जाती है। सामान्यवादी मीमांसकों के मत में सामान्य में सामान्य बुद्धि की विषयता असिद्ध नहीं।

एकमात्र स्वलक्षण वस्तुतत्त्व है, अतः समानाकारता भ्रमात्मक ज्ञान की ही विषयता सिद्ध होती है। हाँ, एक व्यक्ति में समानाकारता सम्भव नहीं, दो व्यक्तियों में तो उपपन्न हो जाती है। इस प्रकार तो तृतीय-चतुर्थादि व्यक्तियों की उत्पत्ति से क्रमशः सामान्याकारता प्रवर्द्धमान होकर व्यक्तियों की वह कार्य ही सिद्ध होती है, फलतः उसमें भी व्यक्तियों के समान अनेकता सिद्ध होती है। प्रत्यभिज्ञा के आधार पर एकता मानने पर सामान्यों में भी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः सामान्य में सामान्य मानने पर अनवस्था दोष प्रसक्त होता है।

यदि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा प्रतीयमान सामान्यगत सामान्य नहीं मानते, तब व्यक्तियों में भी सामान्य की सिद्धि क्योंकर होगी ? प्रत्यभिज्ञा सामान्य में व्यभिचरित हो जाती है। व्यक्तियों का नाश होने पर सामान्य में भी नश्वरता प्रसक्त होती है।

यच्च वस्तुबलाज्ज्ञानं जायते तदपेक्षते।
न सङ्केतं न सामान्यबुद्धिष्वेतद् विभाव्यते ॥ ४५ ॥

जो ज्ञान घटादि वस्तु के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह न तो संकेत की अपेक्षा करता है और न सामान्यविषयक बुद्धि में वह संकेतानपेक्ष होकर विभावित होता है ॥ ४५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नुबन्धी हि विनाश इति साधयिष्यते। अजन्यतायाञ्च सामान्यस्यासम्बद्धता। अरूपता च। प्रतिनियताकारपरिग्रहे हि वस्तुत्वं स च सामान्यस्य व्यापिनो न सम्भवति। न हि सामान्यं सकलकालकलाकलापावलीढम्प्रतिपत्तुं शक्यम्। उपलम्भ एव च सत्त्वन्तदभावे कुतः सत्त्वम्। सत्तासम्बन्धतः सत्यमिति चेत्। सत्ताया अपि सत्तासम्बन्ध इत्यनवस्था। न च व्यतिरिक्तसत्तासम्बन्धः सामान्यस्य। स्वरूपसत्त्वेनैव सत्त्वात्। न चोपलम्भव्यतिरेकेण तदुपलब्धम्। तस्मादसत् सामान्यम्। स्वरूपसत्त्वञ्च खरविषाणस्य कस्मान्न भवति। तत्रापि किन्नेति चेत्। कारणाभावात्। तथा चेत् सामान्यमप्यसत् तत्रापि कारणाभावात्। प्रतीयात् सामान्यमिति चेत्। उक्तमत्र—शशविषाणादयोऽपि स्वबुद्ध्या प्रतीयन्त एव तेऽपि सन्तः स्युः। निरूप्यमाणा नेति चेत्। सर्वं समानम्।

किञ्च। सामान्यमेतत्सङ्केतबलात् प्रतिभासते शाब्द्याम्बुद्धौ। तथात्र न वस्तु तथा हि—यच्च वस्तुबलाज्ज्ञानमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वस्तुत्व हेतु के द्वारा नश्वरता सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तुमात्र में नश्वरता व्याप्त है—यह आगे सिद्ध किया जायगा। सामान्य में यदि व्यक्ति-जन्यता नहीं मानी जाती, तब सामान्य में असम्बद्धता प्रसक्त होती है। केवल असम्बद्धता ही नहीं, अरूपता भी। क्योंकि प्रतिनियताकार का परिग्रह करने पर ही घटाकारादि में वस्तुत्व माना जाता है किन्तु व्यापकीभूत सामान्य में प्रतिनियत परिच्छिन्नाकारता सम्भव नहीं। क्योंकि सकल काल-खण्डों में एक अखण्ड सामान्य की परिणति असम्भव है। उपलब्धि ही सत्ता है, उसके अभाव में सत्ता नहीं हो सकती। सत्ता के सम्बन्ध से सत्त्व मानने पर सत्ता में भी सत्ता माननी होगी, अतः अनवस्था प्राप्त होगी। सामान्य में व्यतिरिक्त सत्ता का सम्बन्ध मानना निरर्थक है, क्योंकि स्वरूपसत्ता के सम्बन्ध से ही सत्त्व माना जाता है। उपलम्भ से भिन्न सामान्य उपलब्ध नहीं, अतः वह अवस्तु है। सामान्य का सत्ता-सम्बन्ध से सत्त्व नहीं, अपितु स्वरूपतः सत् है—ऐसा मानने पर प्रश्न उठता है कि तब खर-विषाण सत् क्यों नहीं हो जाता? आप सत्ता के सम्बन्ध से सत् मानते हैं, तब खर-विषाण सत् क्यों नहीं हो जाता? यदि कहें 'कारणाभावात्'। तब हम भी वही उत्तर देंगे कि सामान्य भी असत् क्यों? 'कारणाभावात्'। यदि आप कहें कि सामान्य की प्रतीति होती है, तब हम भी कहेंगे कि खर-विषाण भी प्रतीयमान है। यदि कहें निरूप्यमाण होकर खर-विषाणादि सिद्ध नहीं होते, तब निरूपण की कसौटी पर तो सामान्य का खरा उतरना सम्भव नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि सामान्य पदार्थ तो संकेतमात्र के आधार पर शाब्दी बुद्धि में प्रतिभासित होता है, अतः वह वस्तुतत्त्व नहीं। संकेत जो किया जाता है, वह कोई सन्निहित पदार्थ को लेकर नहीं किया जाता संकेत-जनित प्रत्यय सामारोपित (अध्यस्त) ही होता है। "पीतः शङ्खः' आदि के समान पूर्व और पर प्रतीयमान पदार्थों

वार्तिकालङ्कारः

सङ्केतो हि क्रियमाणः सन्निहितमात्रमवलम्ब्य न क्रियते । तदपेक्षश्च प्रत्ययः समारोपित एव । तथा हि—

पूर्वेतराध्यारोपेण विना सङ्केतनं यदि । अध्यापितायान्नैवं स्याद् व्यवहारानुमायिता ॥२१६॥

शब्दसामर्थ्यादेव व्यवहारकाले प्रतीतिरिति चेत् । यदि पूर्वापराध्यारोपो न स्यान्न भवेत् प्रतीतिः । न च शब्दात् सामान्यबुद्धिः संकेतमन्तरेण दृष्टा । व्यक्त्यन्तर-दर्शनाद् भवत्येव शब्दमन्तरेणेति चेत् । तत्रापि तदेव लिङ्गन्तद्रूपव्यवहारभावे संकेत-ग्रहणमुपलक्षणं लिङ्गमपि पूर्वाध्यारोपमेव जनयति नाधिकम् । तथा हूणादिजातिर्द्वि-जादिजातिश्च सङ्केतमात्रबलावलम्बिनी न वस्त्वपेक्षते । सङ्केतसहितम्प्रत्यक्षम्प्रमाण-न्द्विजादिजातिषु चेत् , न, वस्तुबलेन यज्जायते न तत्सङ्केतमपेक्षते सङ्केतमात्रापेक्षणे-ऽन्धपरम्परैव स्यात् । प्रत्यक्षमपि सहकारि विद्यत इति चेत् । अत्रोच्यते—

प्रत्यक्षेण गृहीतञ्चेदुपदेशो निरर्थकः । प्रत्यक्षेणागृहीतञ्चेदुपदेशो निरर्थकः ॥२१७॥

यदि प्रत्यक्षेण गृहीतं किमुपदेशेन तेनैव ग्रहणात् । अथ प्रत्यक्षेण प्रत्येतुमशक्यं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का परस्पर अध्यास न होने पर संकेत नहीं किया जा सकता । 'अयं घटः', "सोऽपि घटः"—इत्यादि व्यवहार पूर्व-पर को समानाकारता-समारोपण के बिना सम्भव नहीं ॥२१६॥ शब्द के सामर्थ्य से ही व्यवहार-काल में जाति की प्रतीति हो जाती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जब तक पूर्वापर व्यक्तियों में समानता का आरोप नही होता, तब तक समानाकारतात्मक जाति का व्यवहार नहीं किया जा सकता । घटान्तर को देखकर 'घटत्व' शब्द के बिना ही घटत्व का बोध हो जाता है, वह संकेतसापेक्ष क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है कि 'इस प्रकार के आकारवाले पदार्थ को घट कहा जाता है'—इस प्रकार के संकेत का स्मरण किये बिना व्यक्ति को देखने मात्र से घटत्व का बोध नहीं हो सकता । धूमादि लिङ्गों के द्वारा भी महानसीय और पर्वतीय दोनों अग्नियों का तादात्म्यारोप किये बिना पर्वत में अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता । उसी प्रकार 'हूण' (एक म्लेच्छ जाति, जिसे महाराज विक्रम ने मार भगाया था) एवं द्विजादि जातियाँ केवल संकेत के आधार पर ही कल्पितमात्र हैं, वस्तुसत् नहीं ।

शंका—ब्राह्मणत्वादि जातियाँ केवल कल्पना पर आश्रित नहीं, अपितु शब्द-संकेत-सहित प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध होती हैं, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"दर्शनस्मरणपारम्पर्यानुगृहीतप्रत्यक्षगम्यानि ब्राह्मणत्वादीनि" (तं० वा० १ । २ । १) ।

समाधान—वस्तु के बल पर (इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के द्वारा) जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे संकेतादि की अपेक्षा नहीं होती । संकेत-सापेक्ष ज्ञान अन्ध-परम्परा पर आश्रित भ्रममात्र होता है । शाब्द ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञान को भी सहकारी कारण क्यों नहीं माना जा सकता ? इसका उत्तर यह है कि जो पदार्थ प्रत्यक्षतः गृहीत है, उसके लिए उपदेश (शब्द-प्रयोग) निरर्थक है । इसी प्रकार वह शब्द प्रमाण नहीं, जिसको प्रत्यक्ष के अनुग्रह की अपेक्षा हो ॥ २१७ ॥ अर्थात् यदि कोई वस्तु प्रत्यक्ष-गृहीत है, तब उसके लिए उपदेश की क्या आवश्यकता ? यदि प्रत्यक्ष के द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता, उसके लिए हजारों उपदेश व्यर्थ हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थ के लिए पुरुष

याप्यभेदानुगा बुद्धिः काचिद् वस्तुद्वयेक्षणे ।
संकेतेन विना सार्थप्रत्यासत्तिनिबन्धना ॥ ४६ ॥

शाबलेय वस्तु को देखकर बाहुलेय वस्तु को देखनेवाले पुरुष को जो "स एवायम्"—इस प्रकार अभेदानुगामिनी बुद्धि उत्पन्न होती है किन्तु शावलेय और कर्करूप वस्तु-द्वय के दर्शन से नहीं होती । वह बुद्धि शावलेयादि व्यक्तियों के न होने पर भी सामान्य-प्रत्यासत्ति (एकज्ञानकार्यत्व) के द्वारा प्रवृत्त होती है ॥ ४६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

किमुपदेशसहस्रेणापि शक्यम्प्रत्याययितुम् । दृष्टे हि पुरुषोपदेशो मयैतद् दृष्टमिति स्यात् । अतीन्द्रिये तु द्विजातित्वे नोपदेशस्य सामर्थ्यात् । तदेवाह—याप्यभेदानुगा बुद्धिरिति ।

तत्पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणमेव । अथापि स्याद् , अनुगताकारा बुद्धिः पदार्थद्वयदर्शने सङ्केतमन्तरेण भवत्येव । यथा गवादिबुद्धिः शावलेयादिदर्शनादेव न तत्र सङ्केतोपेक्ष्यते । एवन्तर्हि—

ब्राह्मणत्वमजातिः स्यात् तथा तस्याप्रतीतितः । द्विजादिजातेर्न व्यक्तिर्गोत्ववद् व्यञ्जिकेष्यते ॥२१८॥
गोत्वे यद्यन्यथा बाह्यं किं सन्देहोऽत्र कश्चन । ब्राह्मणत्वे तु सन्देहोऽि किं द्विजोऽयमिति ध्वनेः ॥२१९॥
क्रियातो निश्चयस्तत्र नास्त्यन्येन जनिश्रुतेः । हूणादिजातेर्न व्यक्तिरुपदेशं विना कृता ॥ २२० ॥
नास्त्येव तत्र तत्त्वञ्चेद् गोत्वादावपि किम्मतम् । यथैकशब्दवाच्यत्वमजादौ जातिरिष्यते ॥ २२१ ॥
तथैकशब्दवाच्यत्वं कर्कादौ किमनिष्टिमत् । अनन्तव्यक्तयो गोत्ववाच्यत्वन्तत्र तत्कथम् ॥ २२२ ॥
व्यक्तिभेदे हि तत्रापि किमनन्तत्वमस्ति न । उदात्तादिप्रभेदे हि नानन्तत्वन्न साधयेत् ॥ २२३ ॥
प्रत्यभिज्ञानमेकत्व उत यत्रापि सम्भवि ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कह सकता है कि "मयैतद् दृष्टम्", किन्तु अतीन्द्रिय पदार्थ के बोधन में उपदेश का सामर्थ्य कदापि सम्भव नहीं ।

प्रत्यक्षादृष्ट पदार्थ केवल पुरुष-बुद्धि से कल्पित सांवृतिकमात्र होता है । शाबलेयादि व्यक्तियों को देख कर जो "गौरयम्"—ऐसी बुद्धि होती है, उसमें संकेत की अपेक्षा नहीं होती ।

शंका—यदि प्रत्यक्ष-निरपेक्ष उपदेश नहीं हो सकता, तब ब्राह्मणत्वादि में जातित्व न बन सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्षतः उनकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि गोत्वादि के समान यदि ब्राह्मणत्वादि का प्रत्यक्ष माना जाता है, तब "अयं ब्राह्मणो न वा"—ऐसा सन्देह क्यों होता है । यागाध्ययनादि क्रिया के द्वारा भी निश्चय नहीं हो सकता । हूणादि जातियों का तो उपदेश के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । तब गोत्वादि जातियों का अनुपगम क्यों ? जैसे एक 'अज' शब्द से वाच्य होने के कारण 'अजत्व' जाति मानी जाती है, वैसे ही कर्कादि (श्वेत अश्व) में एक 'अश्व' शब्द की वाच्यता होने से जाति क्यों नहीं ?

गोत्ववाच्य जाति अनन्त व्यक्तियों में रहती है । समानाकारता रूप जाति भी व्यक्तिभेद से भिन्न होती है, कहा जा चुका है । तब व्यक्ति के समान जाति में भी अनन्तत्व क्यों नहीं ? वाचक शब्द के भेद से भी वाच्य जातियों में भेद मानना होगा, क्योंकि उदात्तानुदात्तादि में भेद से गो शब्द एक नहीं अपितु अनन्त है । प्रत्यभिज्ञा के आधार पर जाति में यदि एकत्व माना जाता है तब व्यक्तियों में क्यों नहीं ?

प्रत्यासत्तिर्विना जात्या यथेष्टा चक्षुरादिषु ।
ज्ञानकार्येषु जातिर्वा यथाऽन्वेति विभागतः ॥ ४७ ॥

जाति के बिना एककार्यतारूप प्रत्यासत्ति ही नहीं बनती। जाति में जात्यन्तर के बिना ही जिस प्रत्यासत्ति के आधार पर शाबलेयादि में अनुवृत्त गोत्व के समान कर्कादि से व्यावृत्त गोत्व की प्रतीति हो जाती है, जाति की क्या आवश्यकता ? ॥४७॥

वार्तिकालङ्कारः

उदात्तघर्घरादिभेदो हि इकारादिष्वपि तदनन्तता निबन्धनमस्त्येव । प्रत्यभिज्ञानादेकत्वं घर्घरत्वादिभेदेऽपि विद्यत इति समानं कर्कादिषु । तस्माद् गोत्वादावपि गोशब्दवाच्यता व्यतिरेकेण नापरं गोत्वमिति । अर्थप्रत्यासत्तिरेकशब्दवाच्यतैकपरामर्शजननञ्चेति न जातिर्नामास्ति क्वचित् । अथापि स्यात् सैव शब्दवाच्यता । एकपरामर्शजननञ्च जातिमन्तरेण । तदप्यसत् । तथा हि—प्रत्यासत्तिर्विना जात्येति ।

न खल्वेककार्यजननलक्षणा प्रत्यासत्तिश्चक्षुरालोकमनस्काराणाञ्जातिमन्तरेणासम्भविनी । सहकारिणां सम्भवत्येवेति चेत् । वस्तुद्वयेक्षणेऽपि सहकारित्वमेव भवत्येकबुद्धिः समानाकारता नास्तीति चेत्, न, प्रमेये समानाकारताया वस्तुद्वयव्यतिरेकेणादर्शनादिति प्रतिपादनात् । बुद्धिजननमेवावशिष्यते । तच्चक्षुरादिष्वपि समानम् । तेषामपि तदेकप्रत्ययजनकत्वमस्तीति चेत्, शाबलेयादीनामप्येकपरामर्शजननात् नापरमिति समानः प्रसङ्गः । तदेव वस्तुभूतमिति चेत्, अन्यथा त एव तत्प्रत्ययञ्जनयन्ति नान्य इति कुतोऽयं विभागः । जातिरपि तर्हि शाबलेयादिषु नान्यत्रेति कुतोऽयं विभागः । तत्र विभागकारिणापरेण सामान्येन भवितव्यन्तस्यापि विभागवृत्तिनिबन्धनेन नापरेणेत्यनवस्था भवेत् । अथ तथा भूतङ्कारणन्तेषां येन त एव शाबलेयादयो व्यञ्जका गोत्वस्य तदाधेया चेति । एवन्तर्हि जातिमन्तरेणैव तत्परामर्शजननं स्वकारणवशादिति किम्परिहीयते जातिं विनेत्याग्रहस्त्यज्यताञ्जातौ । न च चक्षुरादिषु सामान्यम् । एवं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

॥२१८-२३॥ स्वरों में उदात्त व्यक्त और घर्घर आदि अव्यक्त के भेद ही उनकी अनन्तता का साधक है, उनके वाच्यार्थ में भेद से शब्दों में रहनेवाली कत्व खत्वादि जातियाँ अनन्त मानी गयी हैं ।

समाधान—एककार्यजनकत्व रूप प्रत्यासत्ति जाति के बिना सम्भव नहीं, अतः चक्षु आलोक मनस्कारादि सामग्री सहकारी सामग्री में जाति के बिना सामग्री से नहीं हो सकता, अतः एककार्यकारित्वरूप जाति वस्तुभूत है, ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है, यदि सामग्री में एककार्यकारित्वरूप जाति मानी जाती है तब शाबलेयादि गो-व्यक्तियों में ही गोत्व क्यों, इस नियम का निर्वाह करने के लिए भी गोत्वरूप सामान्य में भी कोई जाति मानी जाय । इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होती है । यदि कारण सामग्री में यह विशेषता मानी जाती है कि उससे जन्य शाबलेयादि व्यक्तियाँ ही गोत्व की व्यञ्जिका मानी जाती हैं । कारणगत विशेषता को सर्वत्र कार्यगत विशेषता का नियामक मान लेने से काम चलता है जाति के बिना क्या बिगड़ता है (छोड़ दो जाति त्यज्यतां जातिः) । चक्षुरादि कारणकलाप में भी कोई समानाकारता रूप जाति अनुभूत नहीं होती । चक्षुरादि में किसी एक सामान्य की प्रतीति नहीं होती । कारणों का कार्यों के साथ सर्वत्र एक सम्बन्ध है । सम्बन्ध में कोई एक जाति नहीं मानी जा

कथञ्चिदपि विज्ञाने तद्रूपानवभासतः ।
यदि नामेन्द्रियाणां स्याद् द्रष्टा भासेत तद्वपुः ॥ ४८ ॥
रूपवत्त्वात् , न जातीनां केवलानामदर्शनात् ।
व्यक्तिग्रहे च तच्छब्दरूपादन्यन्न दृश्यते ॥ ४९ ॥

इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, उनके ग्रहण का सामर्थ्य यदि किसी द्रष्टा में होता, तब अवश्य उनका ग्रहण होता किन्तु उनका ग्रहण नहीं होता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इन्द्रियाँ असत् हैं, क्योंकि रूपादि ज्ञानों की कादाचित्कता ज्ञान-जनक इन्द्रियों की सत्ता सिद्ध करने में सक्षम है। किन्तु व्यक्तियों से भिन्न जाति का न कोई स्वरूप है और न उसका पृथक् ग्रहण, अतः सामान्य कोई सत् वस्तु नहीं। केवल सामान्य शब्द अनादि कल्पना-जनित संस्कारों के आधार पर व्यवहार में प्रचलित है ॥४८–४९॥

वार्तिकालङ्कारः

हि—कथञ्चिदपि विज्ञान इति ।

न हि चक्षुरादिषु सामान्यं कथञ्चिदपि प्रतिभाति। कार्यद्वारेणापि प्रतीयते। कार्यद्वारेणापि प्रतीयमानन्तदेककार्यमिति प्रतीयते। तथा च तेषामेकेन कार्येण सम्बन्ध इति स्यान्न सामान्यम् सम्बन्धोऽपि सर्वत्रैकः सामान्यमिति चेत् , न, सम्बन्धस्यापि कथञ्चिदप्रतिभासनात्। तदनन्तरं कार्यस्योपलब्धिरेव तेन नापरः सम्बन्ध उपलभ्यते। एकञ्च कार्यमपि सम्बद्ध्यते कल्पनयेति। अथ शक्तिरेका सर्वेषामित्युच्यते। न शक्तेः शक्तिमतोऽव्यतिरेकादिति प्रतिपादितम्। न च शक्तिरपि प्रतिभाति। अदृष्टापि शक्तिः कस्मान्न परिकल्प्यते इन्द्रियादिवदिति चेत् , तदसत्। तत्रातीन्द्रियत्वस्योपगमादस्माभिरनुपलम्भः। अजाजीपुष्पवदित्यादिवचनात्। न च सामान्यमागमैकसमाधिगम्यम्। कार्यव्यतिरेकेण च किमपि रूपादिप्रतिभासस्य कारणमस्ति। तत्किङ्गोलकावस्थाव्यतिरिक्तमथान्यथेति नात्र विवेकः। तथा हि—

व्यतिरिक्तं किमप्यस्ति विशिष्टं गोलकन्तथा। वासनाया विशेषो वा मतभेदाः पृथग्विधाः ॥ २२४ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकती। कारणों में इतना ही नियम विकल्पित होता है कि उनका कार्यों के साथ अव्यवहित उत्तरत्व सम्बन्ध, यह कहा जा चुका है कि कल्पित सम्बन्धों के द्वारा कार्यकारण की विशिष्टता का भान होता है यदि कारणों में एक शक्ति मानी जाती है तो वैसा मानना भी उचित नहीं क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् पदार्थ का अव्यतिरेक होता है और शक्ति प्रतीत भी नहीं होती। इन्द्रियों की कल्पना के समान कार्यान्यथा उपपत्ति से अदृष्ट शक्ति की कल्पना क्यों नहीं की जा सकती, इस प्रश्न का उत्तर—शक्ति में अतीन्द्रियत्व होने के कारण उसका उपलम्भ नहीं होता उपलम्भ ही सत्ता है, अतः शक्ति की सत्ता ही अस्थिर है, यह कहा जा चुका है। जैसे अजादि (गूलर) पुष्प किसी ने नहीं देखा। सामान्य तत्त्व एकमात्र आगम के द्वारा, ऐसा भी नहीं कह सकते, कार्य के बिना उसके कारण की कल्पना चक्षुरादि इन्द्रियों की कल्पना में भी यह सन्देह पाया जाता है कि रूपादि ग्रहण का सामर्थ्य गोलक की किसी विशेषता के कारण अथवा उसमें कल्पित इन्द्रिय के द्वारा होता है। अर्थात् अक्षुरादि गोलक में ही रहने वाली अतीन्द्रीय इन्द्रिय की कुछ लोग कल्पना करते हैं। कुछ गोलक की विशेषता के कारण ही और कुछ लोग चित्तगत वासना-विशेष के द्वारा रूपादि ग्रहण के

ज्ञानमात्रार्थकरणेऽप्ययोग्यमत एव तत् ।
तदयोग्यतयाऽरूपं तद्ध्यवस्तुषु लक्षणम् ॥ ५० ॥

सामान्य अज्ञायमान होने के कारण ज्ञानरूप अर्थक्रिया के साधन की क्षमता नहीं रखता । अर्थक्रिया की योग्यता जिसमें नहीं, वह सर्वथा असत् माना जाता है, फलतः सामान्य अवस्तुमात्र है ।। ५० ।।

वार्तिकालङ्कारः

यस्य हि बाह्योऽर्थोऽव्यतिरेकात् कार्यस्य न सिध्यति स किञ्चक्षुरादीनां कार्यव्यतिरेकाद् व्यतिरिक्तानामनुमानं क्षमते । तस्माद् यथा कथञ्चिदनुमानमनवस्थितप्रमेयमेव तदिति न तद्द्वारेणोपलम्भः । रूपवत्त्वे त्वनागम एव । तथा सति—

यदि तेषाम्भवेद् द्रष्टा दृश्येरंश्चक्षुरादयः । अतीन्द्रियत्वोपगमे गतिरन्या न विद्यते ।।२२५।।

अतीन्द्रियस्यैषैव गतिरूपवत्त्वेनोपगमात् । न तु सामान्यमेव केवलस्य दर्शनानभ्युपगमात् । यदि योगिनां केवलं सामान्यमुपलभ्येत । न सामान्यं भवेत् । अथ समानाकारा बुद्धिरुत्पद्यते । तस्या इदन्निबन्धनमिति योगिनः पश्यन्ति । नैवम्प्रमाणसिद्धता सामान्यस्य । अस्माभिस्तु सामान्यं न दृश्यत एव पृथक् । व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वात् । सामान्यस्य न केवलग्रहणं न ह्यालोकग्रहणमन्तरेण रूपग्रहः ।

तदप्यसत् । रूपं स्पर्शाद्यव्यभिचारीति गृह्यतेऽनुमाने नालोकमन्तरेणापि । यदि तु न गृह्येत न भवेदेवालोकाद् व्यतिरेकः । नाप्रसिद्धव्यतिरेकं व्यतिरेकीत्यभ्युपगमाहम् । सामान्यन्तु न केवलं कदाचिदुपलब्धिविषयः । व्यक्तिरूपानुप्रवेशे तु न विद्यत एव । यदि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नियम का निर्णय किया करते हैं ।।२२४।। जिस विज्ञानवादी बौद्ध के मत में ज्ञान से भिन्न बाह्य वस्तु भी नहीं मानी जाती वह चक्षुरादि इन्द्रियों को भी ज्ञान से भिन्न क्योंकर अनुमेय मानेगा ? अतः सांवृतिक सामान्यलक्षणरूप प्रमेय को लेकर अनुमान की प्रमाणता यथाकथञ्चित् निभ जाती है । उसके द्वारा भी इन्द्रियों की सिद्धि नहीं की जा सकती । चक्षुरादि की रूपवत्ता में तो कोई आगमन है ही नहीं, क्योंकि यदि कोई उनका द्रष्टा होता, तब चक्षुरादि उसके द्वारा दृष्ट होते । चक्षुरादि की अतीन्द्रियता में अन्य कोई साधक नहीं ।। २२५ ।।

चक्षुरादि अतीन्द्रिय पदार्थों के लिए इतना ही कहा जा सकता है कि उनमें रूप मानने पर दृश्यता होनी चाहिए किन्तु सामान्य के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यक्ति-निरपेक्ष केवल सामान्य का दर्शन माना ही नहीं जाता ।

शंका—"अयं गौः"—इस प्रकार की सामान्याकार बुद्धि जो उत्पन्न होती है, उसका एक मात्र नियामक यह सामान्य तत्त्व है—योगिगण प्रत्यक्षतः देखते हैं । तो ऐसा कहना निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार सामान्य तत्त्व प्रमाण-सिद्ध नहीं माना जा सकता । हम बौद्धजनों को तो सामान्य नाम की कोई वस्तु दिखाई देती नहीं—यह तो एक पृथक् बात है । अन्य मतों में भी सामान्य की व्यक्तियों के द्वारा अभिव्यक्ति मानी जाती है, अतः जैसे स्वव्यञ्जकीभूत आलोक-संयोग के बिना रूपादि पदार्थ देखे नहीं जाते, वैसे व्यक्तियों के बिना सामान्य (जाति) की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती ।

समाधान—रूप में अनुमान के द्वारा स्पर्शादि का अव्यभिचार गृहीत होता है और आलोक के बिना ग्रहण भी, क्योंकि यदि आलोक के बिना रूप का ग्रहण न माना जाय, तब वह आलोक से भिन्न से भिन्न सिद्ध न हो सकेगा, जैसा कि प्रसिद्ध न्याय

यथोक्तविपरीतं यत् तत् स्वलक्षणमिष्यते।
सामान्यं त्रिविधं तच्च भावाभावोभयाश्रयात् ॥ ५१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

परं गौर्गौरिति नाममात्रकम्। अथ समानदेशतया न विवेकोपलब्धिः कथं रूपरसादीनान्तेषां भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वाद् विवेक इति चेत्। अत्र तु पुनरविभागप्रतिपत्तिरत्यन्तसंसर्गात्।

कोऽयमत्यन्तसंसर्गः किं स्वरूपविमिश्रता। अभेद एव हि प्राप्तो रूपन्तस्यैतदेव यत् ॥२२६॥
देशाभेदेऽपि रूपस्य भेदाद् भेदग्रहो न किम्। न हि रूपातिरेकेण देशो नाम प्रतीयते ॥२२७॥

वस्तुव्यतिरेकेण कुतोऽन्यो देशः वस्तु चेद् भिन्नं देशोऽपि भिन्न एव कथन्देशाभेदः।

देशाभेदेन भेदश्चेत् तस्य भेदः कुतो भवेत्। तस्य देशान्तरादेव तथा स्यादनवस्थितिः ॥२२८॥

यतश्च स्वरूपेण न प्रतिभाति खरादिविषाणवत्। तथा हि—ज्ञानमात्रार्थकरण इति।

यदेव न प्रतिभाति स्वरूपेण ग्राह्याभिमतं स न भवत्यालम्बनप्रत्ययः। स्वाकारार्पणार्थन्न सत्त्वाच्चक्षुरादिवत् अधिपतिप्रत्ययो भविष्यतीति चेत्, न, तत्राप्यन्वयव्यतिरेकाभावात्। तदाह—यथोक्तविपरीतं यदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है—"नाप्रसिद्धव्यतिरेकं व्यतिरेकी भवति"। अर्थात् जिसका जिससे व्यतिरेक (भेद) सिद्ध नहीं होता, वह उससे भिन्न (व्यतिरेकि) नहीं होता। किन्तु सामान्यतत्त्व कदापि व्यक्ति से रहित (केवल) गृहीत नहीं होता। व्यक्ति के स्वरूप में प्रवेश मानने पर सामान्य का पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता, केवल "गौर्गौः"—इस प्रकार नाममात्र रह जाता है।

शंका—व्यक्ति और जाति—दोनों समानदेशस्थ हैं, अतः उनका भेद गृहीत नहीं होता। यद्यपि रूप-रसादि भी समानदेशस्थ हैं, तथापि वे भिन्नेन्द्रिय-ग्राह्य होने के कारण उनका विवेक (भेद) भासित होता है।

समाधान—जाति-व्यक्ति में अभेद-प्रतिपत्ति अत्यन्त संसर्ग के कारण सिद्ध होती है। यह अत्यन्त संसर्ग क्या है ? यदि व्यक्ति और जाति के स्वरूपों का मिश्रण ही अत्यन्त संसर्ग है, तब तो स्वरूपाभेद प्रसक्त होता है ॥२२६॥ जाति और व्यक्ति का समान देश होने पर भी स्वरूप-भेद होने से भेद क्यों नहीं सिद्ध होता ? फलतः दोनों का स्वरूपतः भेद नहीं। देशादि भी वस्तु-स्वरूप से भिन्न नहीं प्रतीत होते ॥२२७॥ वस्तु से भिन्न देश नहीं। यदि देश भिन्न है और वस्तु भिन्न, तब देशाभेद कैसे ? देश का अभेद होने पर भी यदि वस्तु का भेद है, तब उस (देश) का भेद क्योंकर होगा ? देश में देशान्तरता के कारण भेद मानने में अनवस्था प्राप्त होती है ॥२२८॥ स्वरूपतः देशादि प्रतीत नहीं होते, अतः 'खर-विषाण' के समान उसकी कोई सत्ता नहीं।

जो पदार्थ ग्राह्यत्वेन अभिमत होने पर भी स्वरूपेण प्रतीत नहीं होता, वह ज्ञान का आलम्बन प्रत्यय नहीं हो सकता। आलम्बन प्रत्यय अपने ज्ञान में स्वाकारार्पण के द्वारा हेतु होता है, केवल सत् होने से नहीं। चक्षुरादि के समान अर्थ को अधिपति प्रत्यय भी नहीं मान सकते, क्योंकि चक्षुरादि के समान अर्थ में अन्वय-व्यतिरक नहीं देखा जाता, स्वप्नादि में अर्थ के विना भी ज्ञान होता है।

यथोक्त सामान्यलक्षण से जो विपरीत होता है, उसे स्वलक्षण कहते हैं। स्वलक्षण में सामान्यलक्षण का वैपरीत्य या वैधर्म्य है—अनभिधेयत्व, अवाच्यत्व, असाधारणत्व, अर्थक्रियाकारित्वादि । अपट-भिन्नत्वादिस्वरूप पटत्वादि जाति तीन प्रकार की होती है—(१) भावोपादनक (कृतकत्वादि) । (२) अभावोपादानक (अनुत्पत्तिमत्त्वादि) और (३) भावाभावोभयाश्रित (ज्ञेयत्वादि) ॥ ५१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यत् पुनः स्वाकारेण प्रतिभासतेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधृतसामर्थ्यन्तत् परमार्थसत् स्वलक्षणं स्वेन रूपेण लक्षमाणत्वात् । स्वरूपं लक्षणमस्येति । न तु स्वरूपेण कथ लक्ष्यलक्षणभावः । न लक्ष्यलक्षणभावस्य काल्पनिकत्वात् ।

"एवम्प्रकारा सर्वैव क्रियाकारकसंस्थितिः" (प्र० वा० २।२१९)

इति च वक्ष्यते । स्वरूपमेव लक्षणं युक्तन्नान्यत् । अन्येनान्यस्य परमार्थतो लक्षयितुमशक्यत्वात् । पररूपेण हि लक्षणम्पररूपताध्यारोप एव न स्वरूपलक्षणन्तत् । कथन्तर्हि सामान्यलक्षणम् , अव्यक्तिव्यापनात् । सत्यमेतन्न परमार्थतः सामान्यन्नाम । स्वरूपमेव तदपि ज्ञानस्य । व्यवहारादेवमुच्यते । अनेकव्यक्तिस्वरूपाध्यारोपेण वर्त्तमानत्वात् तत उत्पत्तेश्च । कथमवस्तुत्वे सति, अनुपलम्भकार्यस्वभावहेतुभेदः । प्रत्यक्षानुमानयोर्विषयभेदाद् भेदः । अनुपलम्भादीनान्तु न विषयभेदः । लिङ्गभेदाद् भेद इति चेत् । ननु तदेव चोदितन्तदेव परिहार इति कथमेतत् । तथा हि लिङ्गभेद एव न युक्तः । अथ दृश्यते षड्भेदता तर्हि प्राप्नोति । अथवा द्वौ वस्तुसाधनावेकः प्रतिषेधहेतु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जो वस्तु स्वरूपेण प्रतिभासित एवं अर्थक्रियाकारी हो, उसे परमार्थसत् कहते हैं, जैसे—स्वलक्षण । 'स्वलक्षण' शब्द की व्युत्पत्ति है—"स्वरूपं लक्षणमस्य" ।

प्रश्न—धूम अग्नि का लक्षण है । लक्षण भिन्न होता है और लक्षित भिन्न, अतः स्वयं वस्तु अपना लक्षण क्योंकर होगी ?

उत्तर—यहाँ पर लक्ष्य-लक्षणभाव काल्पनिक है, जैसा कि वार्तिककार ने आगे कहा है—"एवं प्रकारा सर्वैव क्रियाकारकसंस्थितिः" (प्र० वा० २।३१९) । वस्तुतः वस्तु का स्वरूप ही लक्षण होता है । अन्य के द्वारा अन्य पदार्थ कभी अभिलक्षित नहीं हो सकता । पररूपेण लक्षणाभिधान पररूपता का अध्यारोप मात्र होता है, वह स्वरूपलक्षण नहीं । तब सामान्यपदार्थ लक्षण कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सामान्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं केवल लोक में अनादि संस्कारों के बल पर वैसा व्यवहार चला आता है ।

प्रश्न—जब सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसकी अनुमिति के लिए अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्यरूप तीन हेतुओं का विभाग क्योंकर सिद्ध होगा ? प्रत्यक्ष और अनुमान का अपने विषय-भेद से भेद सिद्ध हो जाता है किन्तु अनुपलब्धि आदि लिङ्गों का कोई विषय-भेद नहीं, तथापि लिङ्गभेद से विषय-भेद हो सकता है ।

उत्तर—विषय-भेद से लिङ्ग-भेद और लिङ्ग-भेद से विषय-भेद मानना अन्योऽन्याश्रित है । फलतः लिङ्ग-भेद ही अयुक्त है । यदि कोई एक भेद माना जाता है, तब एक परमाणु में उत्तर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, ऊर्ध्व और अधोदिशा के भेद से षडंशता माननी होगी, जैसा कि आचार्य वसुबन्धु ने कहा है—"षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता" (विंश० १२) । अथवा तीनों लिङ्गों का भेद इस प्रकार है—तीनों में से

यदि भावाश्रयं ज्ञानं भावे भावानुबन्धतः ।
नोक्तोत्तरत्वाद् दृष्टत्वादतीतादिषु चान्यथा ॥ ५२ ॥

यदि सामान्य को घटादि भावों के आश्रित माना जाता है, तब तो ज्ञानस्वरूप ही है, क्योंकि 'भावे सति ज्ञानसत्त्वम्'—इस प्रकार का अन्वय ज्ञान के साथ ही देखा जाता है। घटादिस्वरूप सामान्य को मानने पर 'घट' शब्द के द्वारा ही उसकी प्रतीति हो जाती है, इन्द्रियों की व्यर्थता प्रसक्त होती है—यह कहा जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि 'आसीद् घटः'—इत्यादि प्रतीतियों के द्वारा असत् घट में भी सामान्य की प्रतीति होती है, इसलिए भी सामान्य में भावधर्मता सिद्ध नहीं होती ॥ ५२ ॥'

वार्तिकालङ्कारः

रिति वक्ष्यते। कथमवस्तुत्वे समाने वस्त्ववस्तुविभागः। अत्र परिहारमाह—सामान्यन्त्रिविधमिति।

न परमार्थतो भेदः सर्वत्रावस्तुत्वात्। भावाभावोभयाश्रयत्वेन तु कार्यस्य ज्ञानस्य भेदात् तत्कारित्वेन स्वभावानुपलब्धिकार्यहेतुभेदः। तथा हि भावोपादानो विकल्पः स्वभावहेतोरुदयी। अभावोपादानोऽनुपलब्धेः। उभयोपादानो विकल्पः कार्यहेतोरिति व्यतिरिक्तसाधनः कार्यहेतुः। भावाभावाश्रयो हि व्यतिरेको भवति। व्यतिरिक्तञ्च कारणं साध्यम्। अथवाऽवस्तुत्वेऽपि भावाभावोपादानतया भेदमुपादानभेदादाश्रित्य विषयभेदः। भाव एव द्विविधो व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तश्चेति विषयभेदाद् भेदप्रकारस्त्रिविधस्तत्र। (सदसतोः विषययोर्दृश्यानुपलब्धिः)। उभयोपादानभेदोऽदृश्यानुपलब्धिर्विषयः। तदाह—यदि भावाश्रयं ज्ञानमिति।

न हि भावाश्रयं ज्ञानमित्येव भावे भवति। भावविषयत्वं हि भावस्वरूपग्रहणात्। न च स्वरूपग्राही सामान्यविषयो विकल्पो "वैफल्यादक्षसंहतेः" (२।११०) इत्युक्तम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वभावहेतु और कार्यहेतु—ये दो भाव के साधक हैं और तीसरा अनुपलब्धि हेतु भाव का निषेधक है यह कहा जायगा।

प्रश्न—जब कि वस्तु कोई नहीं, सब अवस्तु-ही-अवस्तु है, तब भाव-अभाव आदि का विभाग कैसे होगा ?

उत्तर—संसार में कोई वस्तु परमार्थ नहीं, सब अवस्तु हैं, तथापि ज्ञानरूप कार्य के भेद से उनके कारणों का विभाग किया जाता है। इसी प्रकार स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धिरूप लिङ्गों का भेद माना जाता है। अर्थात् (१) भावाश्रित कृतकत्वादि विकल्प को स्वभाव हेतु, (२) अभावाश्रित विकल्प को अनुपलब्धि और (३) उभयाश्रित विकल्प कार्यहेतु का विषय होता है। कार्यहेतु व्यतिरिक्तसाधनक कहलाता है, क्योंकि उसका व्यतिरिक्त प्राच्य कारण होता है। अथवा अवस्तुरूप होने पर भी उपादान (विषय या साध्य) के भेद से कथित लिङ्गों का भेद होता है। भावपदार्थ दो प्रकार का होता है—(१) व्यतिरिक्त और (२) अव्यतिरिक्त। घट-पटादि व्यतिरिक्त और घट-घटत्वादि अव्यतिरिक्त होते हैं।

ज्ञान भाव के आश्रित है—एतावता भाव नहीं कहलाता, अपितु भावविषयक होने के कारण भाव माना जाता है। सामान्यविषयक विकल्प प्रत्यय स्वरूपावगाही नहीं होता—यह विगत पृ० ४६२ पर कहा गया है—"वैकल्यादक्षसंहतेः"।

भावधर्मत्वहानिश्चेद् भावग्रहणपूर्वकम् ।
तज्ज्ञानमित्यदोषोऽयं मेयन्त्वेकं स्वलक्षणम् ॥ ५३ ॥

घटादि वस्तु के बिना ही सामान्य-ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर सामान्य में भाव-धर्मत्व ही हानि प्रसक्त होती है। दूसरी बात यह भी है कि रूपादि के समान सामान्य का भावरूपत्वेन ग्रहण नहीं होता कि उसमें भावधर्मता निभ जाती। सामान्य तो कल्पितमात्र है, प्रमेयतत्त्व तो एकमात्र स्वलक्षण है ॥ ५३ ॥

तस्मादर्थक्रियासिद्धेः सदसत्ताविचारणात् ।
तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम् ॥ ५४ ॥

विचारणीय तो एकमात्र सत्त्व ही है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व के सदसत्व का निरूपण होता है। वस्तुतः एक स्वलक्षणतत्त्व ही स्वरूपेण प्रत्यक्ष और सामान्यात्मक पररूपेण अनुमेय माना जाता है। इस प्रकार प्रमेय-द्वैविध्य की स्थापना की गई है ॥ ५४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथ भावे सतीत्युच्यते तदासिद्धम् । भावमन्तरेणाप्यतीतादिषु दृष्टत्वात् । यदि सामान्ये तज्ज्ञानं विशेषे वा । नातीतादिविषयता भावस्य स्वरूपेण गृह्यमाणस्यातीतत्वत्यागात् । नात्र लोको भावविषयत्वमवगच्छति । भावो नास्ति स्वरूपाभिनिवेशी भवति प्रत्यय इति भ्रान्तिमात्रकम् । उक्तोत्तरत्वादिति च विपर्यये प्रमाणवृत्तिरूपदर्शिता । दृष्टत्वादिति पराभिमतस्य हेतोरनैकान्तिकोद्भावनम् । यदि तर्ह्यभावेऽपि विकल्पस्य दृष्टिर्भावेऽपि तदा तर्हि भावधर्मता हीयते । एवेत्युभयधर्मता स्यात् , तदाह—भावधर्मत्वहानिश्चेदिति ।

यज्ज्ञानमेव न तत्र किञ्चिदालम्बनम् । परोक्षस्य सामान्यस्य मेयत्वात् । परोक्षं हि सामान्यन्तच्च स्वरूपेणाप्रतीयमानङ्कथम्मेयम् । यतो हि—मेयन्त्वेकं स्वलक्षणमिति ।

न हि सामान्यन्नाम प्रमेयम् । यथाकल्पनमयोगात् । स्वलक्षणमेव परमार्थतः प्रमेयम् । तस्यैव सदसदत्वेनावबोधस्य प्रयोजनत्वात् । कुत एतत् । एवं हि—तस्मादर्थक्रियासिद्धेरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि सामान्य की भावरूपता का निर्वचन इस प्रकार किया जाता है कि 'सामान्यज्ञानं व्यक्तिसद्भावे एव भवति" । तब असिद्धि दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि घटादि के अतीत होने पर भी "आसीद् घटः"—इस प्रकार घटत्व सामान्य की प्रतीति हो जाती है। अतीतादि प्रतीतियाँ भावविषयकत्व कोई भी लौकिक (व्यावहारिक) पुरुष नहीं मानता। अविद्यमानत्वेन भाव की प्रतीति तो भ्रममात्र है । उक्त ५२वें श्लोक में जो 'दृष्टत्व' हेतु प्रयुक्त है, वह सामान्य सत्ता-साधक हेतु की अनैकान्तिकता का उद्भावन है। अर्थात् यदि घटादि के न होने पर भी घटत्व-बुद्धि होती है, तब उसमें भाव-धर्मता की हानि निश्चित है। सामान्य में यदि भावाभावोभय की धर्मता है, तब 'भावधर्मता' में भाव पद का ग्रहण व्यर्थ है।

दूसरी बात यह भी है कि सामान्य परोक्ष है, अतः प्रमेय कैसे ? प्रमेय तो एकमात्र प्रत्यक्ष-सिद्ध स्वलक्षणतत्व है, क्योंकि स्वलक्षण की सदसत्ता का विचार सार्थक होता है।

वार्तिकालङ्कारः

अर्थक्रियाकारिणो हि पदार्थस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यामर्थिता प्रेक्षावताम्। तदवबोधाय च प्रमाणमन्विष्यते। अन्यथा प्रमाणपरीक्षणमप्रेक्षापूर्वक्रियैव भवेत्। तस्मादर्थक्रियाकारिपदार्थभावाभावविषयीकरणसमर्थमर्थवत्प्रमाणम्। तस्मात् द्वाभ्यामपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां स्वलक्षणमेव विषयीकर्तव्यम्। अन्यथा प्रमाणत्वायोगात्। यदि स्वलक्षणमेव द्वाभ्यामपि विषयीक्रियते एकविषयत्वाद् एकमेव मानम्प्रसक्तम्। अथैकविषयत्वेऽपि सामग्रीभेदात् प्रमाणभेद एवं सति प्रमेयद्वैविध्यादिति विरुध्यते। उक्तश्चाचार्येण यस्माल्लक्षणद्वयम्प्रमेयमिति। सामग्रीभेदेन च प्रमाणभेदे चक्षुरादिविज्ञानानामपि भेदः सामग्र्या इति तावन्ति प्रमाणानि भवेयुः।

ननु प्रमेयभेदेनापि भेदेऽनेकनीलादिप्रमेयत्वादनन्तप्रमाणप्रसङ्गः। न, सर्वेषां स्वलक्षणत्वस्य भावात्। तद्विषयमेकमेव प्रमाणमेकविषयत्वात्। सामग्रीभेदेऽपि सति अक्षजत्वस्य भावात् किन्न सर्वम्प्रत्यक्षमिति चेत्, न, अक्षजत्वस्यालक्षणत्वात्। तथा च प्रतिपादयिष्यते। तस्मात् प्रमेयद्वैविध्यादेव द्वैविध्यम्। अन्यथाऽनन्तप्रमाणता भवेत्। कथम्प्रमेयस्यानन्तता नेति चेत्, न, अनन्तत्वेऽपि नीलादित्वेन प्रमेयद्वित्वमेव यतः—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लोक में अर्थक्रियाकारी पदार्थ की ही सत्ता असत्ता का विचार बुद्धिमान् किया करते हैं। सद् वस्तु को प्रमाणित करने के लिए प्रमाण की अन्वेषणा की जाती है। अन्यथा प्रमाण-प्रमेय की परीक्षा निरर्थक मात्र हो जायगी। अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु को प्रमाणित करने में ही प्रमाणों की अर्थवत्ता न्यायदर्शनादि में उपनिबद्ध है। निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दोनों प्रमाणों के द्वारा स्वलक्षणतत्त्व का ही परीक्षण न्याय-संगत है। अन्यथा उनमें प्रमाणता का निर्वाह न होगा।

शंका—यदि प्रत्यक्ष और अनुमान मात्र के दोनों प्रमाणों के द्वारा केवल एक स्वलक्षण का ही विचार किया जाता है, तब दोनों प्रमाणों में से एक को प्रमाण (अज्ञातार्थज्ञापक) और दूसरे का अनुवादकमात्र मानना होगा। विषय की समानता होने पर भी सामग्री के भेद से दोनों प्रमाणों का भेद माना जाता है। वार्तिककार ने जो प्रत्यक्षपरिच्छेद के प्रथम पद्य में कहा है—"मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्"। यहाँ "मेया द्वैविध्यात्"—ऐसा न कहकर 'सामग्री भेदात्"—ऐसा कहना चाहिए था किन्तु आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि "यस्मात् स्वसामान्यलक्षणद्वयं प्रमेयम्, तस्माद् द्विविधं प्रमाणम्।" सामग्री-भेद से प्रमाण भेद मानने पर चाक्षुषादि ज्ञानों में भी भिन्न प्रमाणता माननी होगी। सामग्री भेद से तो प्रमाणों के अनन्त भेद हो जाएँगे।

प्रमेय-भेद से प्रमाण-भेद मानने पर भी अनेक नीलादि रूप प्रमेयों के भेद से अनन्त प्रमाण-भेद क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नीलादि के भेद से नील-स्वलक्षणादि का भेद होने पर भी स्वलक्षणत्वेन सबका संग्रह हो जाता है। एक स्वलक्षणविषयक एक ही प्रमाण माना जाता है। इसी प्रकार सामग्री भेद होने पर भी अक्षजन्यत्व की एकता से प्रमाण में एकत्व क्यों नहीं?

समाधान—अक्ष-जन्यत्व कोई लक्षण नहीं—ऐसा आगे चलकर कहा जायगा। निष्कर्षतः प्रमेय-द्वैविध्य से ही प्रमाण का द्वैविध्य उचित है, अन्यथा अनन्त प्रमाणता प्रसक्त होगी। प्रमेय के अनन्त होने पर भी नीलादित्वेन प्रमेय-द्वित्व ही व्यवस्थित है, क्योंकि स्वरूप-प्रतिभासकत्वेन अनन्त नीलादि भी स्वलक्षणत्वेन एक रूप में संगृहीत

वार्तिकालङ्कारः

तस्य स्वपररूपाभ्यामिति ।

स्वरूपप्रतिभासनेन नीलादयोऽनन्तभेदत्वेऽपि स्वलक्षणमेव स्वेन रूपेण लक्षणात्। ननु प्रतिपत्तिभेदेनाभेदे न पारमार्थिकं स्वलक्षणत्वम् । तत्प्रतिपत्त्यभावेऽन्यप्रतिपत्तिसम्मुखीभावेऽस्वलक्षणत्वात् । तथा तदैवैकमेकस्य स्वलक्षणमपरस्यान्यथा । न च प्रतिपत्तृप्रमेयभेदः । अपेक्षाकृतस्य भेदस्य काल्पनिकत्वादपरमार्थता । एकस्य च स्वलक्षणत्वेतरत्वेनदुभयरूपम्प्रमेयान्तरमिति तत्रापरम्प्रमाणमुद्भवेत् । तदेतदसत् । यतो हि—

परमार्थप्रमेयत्वे स्यादनन्तप्रमेयता । अपेक्षाकृतभेदत्वे परमार्थो न लक्षणम् ॥२२९॥

अत्रोच्यते —

उपलम्भेन यल्लक्ष्यम्पारमार्थिकमेव तत् । सत्तोपलम्भ एवेति भावानाम्पारमार्थिकी ॥२३०॥

न हि स्वरूपोपलभ्यमानतामनासाद्य भावाः सत्तामात्मसात्कुर्वन्ति । ननूपलम्भेन ज्ञाप्यते सत्ता न तु स एव सत्ता । अनुपलभ्यमानस्य शशविषाणादेरसत्त्वात् । विपर्ययादुपलम्भः सत्तेति व्यवस्था ।

ननु तत्राप्यसत्त्वेऽनुपलम्भो न त्वनुपलम्भ एवासत्त्वम् । नानुपलम्भव्यतिरेकेणासत्त्वमपरम् । अनुपलम्भेन यत्प्रतीयते तदसत्त्वमिति चेत् । कोऽयमनुपलम्भः । किमुप-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो जाते हैं ।

शंका —स्वलक्षणत्वरूप प्रतिपत्ति के सम्बन्ध से अभेद मानने पर वस्तुतः स्वलक्षण नहीं होता, क्योंकि उस प्रतिपत्ति के अभाव में अन्य प्रतिपत्ति के युक्त होकर स्वलक्षण नहीं अस्वलक्षण या सामान्यलक्षण हो जाता है, क्योंकि वह स्वलक्षण एकक्षण है, जो 'तथैव, तदेव, तत्रैव' शब्दों से ध्वनित होता है । एक सन्तान का स्वलक्षण दूसरे का स्वलक्षण न होकर अन्यथा हो जाता है । प्रतिपत्तृ और प्रमेय तत्त्व एकात्मक ही होता है, उसका भेद नहीं होता । किसी की अपेक्षा आपादित भेद पारमार्थिक नहीं होता । एक ही वस्तु में स्वलक्षणत्व और अस्वलक्षणत्व उभयरूप मानने पर स्वलक्षण-ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न प्रमाण अस्वलक्षण का ग्राहक होगा ।

समाधान—ऐसा कहना असत् है, क्योंकि स्वलक्षणत्वेन संगृहीत पदार्थ को प्रमेय मानने पर अनन्त प्रमेय प्रसक्त हैं । किसी वस्तु की किसी की अपेक्षा से माना जानेवाला भेद या अभेद पारमार्थिक नहीं होता ॥२२९॥ इस पर हमारा कहना यह है कि जो वस्तु स्वरूपतः उपलब्ध होती है, वह सत् है । भाव पदार्थों की पारमार्थिक सत्ता है—उपलम्भ ॥२३०॥ जब तक कोई भाव स्वरूपतः प्रस्फुरित नहीं होता, तब तक वह सत्ता का आत्मसात् नहीं कर सकता अर्थात् सत् नहीं हो सकता ।

शंका —उपलम्भ (ज्ञान) के द्वारा सत्ता ज्ञापित होती है, न कि वह (उपलम्भ) ही सत्ता है । अनुपलभ्यमान शश-विषाणादि असत् होते हैं । अनुपलम्भ विपर्यय होने से उपलम्भ सत्ता है । यहाँ सन्देह होता है कि असत्त्व यदि अनुपलम्भ पदार्थ हो, तब उसका विपर्यय (उपलम्भ) सत्ता होगा किन्तु ऐसा नहीं, अपितु पदार्थ के असत् होने पर उसका अनुपलम्भ होता है, न कि अनुपलम्भ ही असत्त्व है । इस पर हमारा यह कहना है कि अनुपलम्भ को छोड़कर असत्त्व अन्य कुछ भी नहीं ।

समाधान—आपका जो यह कहना है कि अनुपलम्भ के द्वारा प्रतीत होता है, वह असत् है—यहाँ अनुम्भ पदार्थ क्या उपलम्भाभाव है ? या अन्य उपलम्भ ? अथवा

वार्तिकालङ्कारः

लम्भाभावोऽथान्योपलम्भः किं वा नोपलम्भ इति विकल्पः। यद्युपलम्भाभावः कथमतः प्रतीतिः। नाभावः प्रतीतिः। सोऽप्यभावोऽन्येनोपलंभाभावेन प्रत्येय इत्यनवस्था।

ननूपलम्भस्यापरश्च उपलम्भो नास्तीति नोपलम्भभावेन तस्य प्रतीतिर्येनानवस्था भवेदपरोक्षत्वाज्ज्ञानस्य। यदि परोक्षं ज्ञानङ्कथन्तस्य भावः प्रतीयते। यथा च पदार्थस्यानुपलंभादभावप्रतीतेस्तथा ज्ञानस्यापि स्यादिति प्रगष्टतरम्। अथ तत्रार्थापत्तिरस्ति। अपरोक्षत्वादर्थस्य तेन न प्रमाणपंचकाभावः।

नन्वर्थापत्तिरपि बुद्धिरेव ततो बुद्धयन्तरेण बुद्धिः प्रतीयते। ततश्च तत्रापरार्थापत्तिर्नास्तीति प्रमाणपंचकाभावादर्थापत्तिबुद्धिर्नास्तीति प्राप्तम्। अथ तत्र प्रमेयप्रतिपत्तिरस्तीति पुनरर्थापत्तिरनवस्थानादप्रतिपत्तिः।

ननु प्रतिपत्तिर्दृश्यते। यदि दर्शनमात्रमवलम्ब्यते किमर्थापत्त्या। यथा दृश्यते तथैवास्तु। अपरोक्षो दृश्यते स तथैवास्तु किमर्थापत्त्या बुद्धिपरिकल्पनया।

नन्वर्थापत्तिरुत्पद्यते। यद्येवमनवस्थानादप्रतिपत्त्यध्यवसायोऽपि भवत्येव स कथमनिष्टः यदा चोपलभ्यमानताऽपरोक्षता वा बुद्धिस्तदा तदभावप्रतिपत्तावनवस्था।

अथ पदार्थानुपलम्भ एवोपलम्भानुपलम्भः। एवं सत्यनुपलम्भमानोऽप्युपलम्भोऽ-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

'नोपलम्भः'—ऐसा विकल्प है? यदि उपलम्भाभाव है, तब उससे उसकी प्रतीति क्योंकर होगी? अभाव प्रतीति नहीं कहलाता। वह उपलम्भाव भी अन्य उपलम्भाभाव के द्वारा प्रत्येय (ज्ञाप्य) है—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है। यदि कहा जाय कि उपलम्भ का अन्य उपलम्भ नहीं होता और न एक अनुपलम्भ को अन्य अनुपलम्भ से प्रतीति मानी जाती है कि अनवस्था प्रसक्त हो। ज्ञान स्वयंप्रकाश या अपरोक्ष है। ज्ञान यदि परोक्ष है, तब उसकी सत्ता का ज्ञान किससे होगा? जैसे पदार्थ के उपलम्भ से उसकी सत्ता का ज्ञान होता है। वैसे ही ज्ञान के भी उपलम्भ से उसकी सत्ता का ज्ञान होगा—ऐसा मानना तो अनवस्था दोष से प्रणष्ट (दूषित) किया जा चुका है। यदि अर्थ की सत्ता में अर्थापत्ति का उपयोग किया जाता है, तो उचित न होगा, क्योंकि घटादि पदार्थ तो प्रत्यक्षतः सिद्ध हैं, अर्थापत्ति का उपयोग तो वहाँ ही किया जाता है, जहाँ उससे भिन्न प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो।

अर्थापत्ति भी एक बुद्धि (ज्ञान) ही है, अतः एक ज्ञान की प्रतीति ज्ञानान्तर के द्वारा सिद्ध होती है। वहाँ प्रमाणपञ्चक का अभाव न होने के कारण अपर अर्थापत्ति न होने से अनवस्था नहीं। यदि वहाँ भी प्रमेय-प्रतिपत्ति (अन्यथानुपपत्ति) के कारण अपरापर अर्थापत्ति की प्राप्ति होने से अनवस्था होगी। यदि कहा जाय दर्शनान्यथानुपपत्ति से अर्थापत्ति होगी और दर्शन (प्रत्यक्ष) के होने पर अर्थापत्ति की क्या आवश्यकता? दर्शन के अनुरूप ही पदार्थ की सत्ता व्यवस्थित होगी। प्रत्यक्ष के द्वारा जो पदार्थ जैसा दिखाई देता है, वैसा ही स्थिर होगा, अर्थापत्ति की क्या आवश्यकता?

ज्ञान के ग्रहण में यदि अर्थापत्ति की उत्पत्ति होती है, तब अर्थापत्तिरूप के ग्रहण में अन्यान्य अर्थापत्ति की उत्पत्ति मानने में अनवस्था दिखाई जा चुकी है। अर्थापत्ति न मानने पर ज्ञानाभाव का अध्यवसाय कैसे हटाया जायगा। जब उपलभ्यमानता या अपरोक्षता को बुद्धि माना जाता है, तब बुद्धयभाव की प्रतिपत्ति में अनवस्था प्राप्त होती है।

वार्तिकालङ्कारः

स्त्येवेति प्राप्तम् । स एवाभाव इति चेत् । यद्यनुपलम्भोऽभाव उपलम्भोऽपि भाव इति प्राप्तम् । अथान्योपलम्भ एवानुपलम्भः ।

तदप्ययुक्तम् । यदि नामान्योपलंभस्य नाम कृतं कथमन्यो नास्ति । तस्योपलम्भाभावादिति चेत् । दत्तमत्रोत्तरम् । स एवान्यस्योपलम्भोऽन्यत्र न प्रवृत्त इति तदन्यस्यानुपलम्भः । यदिनामान्यत्र न प्रवृत्तस्तथापि तस्याभाव इति कुतः । अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याभाव एव । अन्यथा तत्रापि प्रवर्त्तेत तस्यापि तद्वदेवोपलभ्यमानत्वात् । न चोपलभ्यते । तस्यानुपलंभः केन प्रतिपन्नोऽभावलक्षण इति सैवानवस्था । प्रतिनियताकारोपलंभादिति चेत् । ननु किमियमर्थापत्तिः । तथेति चेत् । अनवस्थोक्ता । प्रतिनियताकारोपलम्भ एव उपलंभाभावोऽपरस्येति चेत् । एवन्तर्हि नाभावो नाम कश्चिदन्यथाऽपरभावादतोऽपरो योऽभावोऽन्यापेक्षया स्वापेक्षमभाव इति । तच्च रूपम्प्रतिनियतमुपलभ्यमानतायामेव । तत उपलम्भः सत्तोच्यते ।

ननु प्रतिनियतत्वे उपलभ्यमानताप्रतिनियमो न तु स एव प्रतिनियमः । नन्वनुपलभ्यमानतायां कथम्प्रतिनियम इति बुद्धिरुपलभ्यमानताप्रसादादेव । तस्मादुपलभ्यमानतैव सत्ता ।

अथ नोपलंभे इति विकल्प एवानुपलंभः । तदापि नानोपलंभे इति विकल्पोनुपल-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—अर्थ का अनुपलम्भ ही उपलम्भ का अनुपलम्भ है—ऐसा मानने पर अनुपलभ्यमान उपलम्भ को सत् मानना होगा । यदि अनुपलम्भ ही अभाव है, तब उपलम्भ को भाव कहना होगा । अन्य उपलम्भ को अनुपलम्भ मानने में क्या आपत्ति ?

समाधान—यदि अन्य उपलम्भ का नाम अनुपलम्भ किया जाता है, तब उसका अनुपलम्भ कैसे ? यदि कहा जाय कि उसका उपलम्भ नहीं होता, अतः उसका अनुपलम्भ नाम है । तब के लिए कहा जा चुका है कि वह अन्य का उपलम्भ अन्यत्र प्रवृत्त नहीं, अतः वह अन्य का अनुपलम्भ है । यदि वह अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हुआ, तब उसका अभाव कैसे होगा ? वह उपलब्धि लक्षण-प्राप्त या योग्य नहीं, अन्यथा अन्यत्र भी प्रवृत्त हो जाता, क्योंकि वह भी प्रथमवत् उपलम्भन-योग्य है । किन्तु उपलब्ध नहीं होता । उसका अनुपलम्भ किससे अवगत हुआ ? अन्यान्य गमक की कल्पना में अनवस्था होती है, क्योंकि प्रतिनियताकार की उपलब्धि होती है । यह उपलब्धि यदि अर्थापत्ति है, तब अनवस्था-प्रसक्ति होती है । प्रतिनियताकारोपलम्भ ही अन्य का उपलम्भाव है—ऐसा मानने पर अभाव तो अपरभाव से भिन्न कुछ भी नहीं अर्थात् अन्य की अपेक्षा जो अभाव (घटत्वेन अभाव) है, वह स्वापेक्षा से (घटत्वेन घट) भाव ही है । ऐसा रूप तो प्रतिनियत उपलम्भवान ही है, फलतः उपलम्भ पदार्थ ही सत्ता सिद्ध होता है ।

प्रतिनियतन उपलभ्यमानता का प्रयोजक है, प्रतिनियम ही उपलम्भ नहीं—ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि किसी वस्तु की अनुपलभ्यमानता में प्रतिनियम (व्यवस्था) क्योंकर रहेगा ? उत्तर है बुद्धि की उपलभ्यमानता के प्रसाद से, अतः उपलभ्यमानता को ही सत्ता कहना चाहिए ।

यदि "नोपलभे"—इस प्रकार के विकल्प को ही अनुपलम्भ माना जाय, तब भी नानोपलभे (भिन्नमुपलभे) इस प्रकार का विकल्प अनुपलब्धि का ही अनुसरण करता

वार्तिकालङ्कारः

ब्धिमेवानुसरति। सा चानुपलब्धिविचारिता। तस्मादुपलब्धिः सत्तेति। उपलभ्यमान-तैव प्रमेयतत्त्वम्। यदि तर्हि तदेव परमार्थसत्त्वन्न कस्यचिदन्यथा भवेत्। नैतदन्यथा भवति। पुरुषान्तरापेक्षयापि तत्तथैव भवति नीलादिवदेव। परोक्षतया कथन्तदेव तत्प्रतीयत इति चेत्। तेनैव रूपेण परोक्षतयापि प्रतीयमानन्तत्। यदि तु न केनचित् तथा प्रतीयते नापि प्रत्येष्यते वृथा तदनुमानम्। तदाऽप्रतीयमानं कथन्तथेति चेत्। अन्यथापि तद् भवति तदवेति कुतः। उपलब्धेरभावादन्यथेति चेत्। ननूपलब्धेरभावाद-भाव एव। नन्वभावेऽप्यनुपलब्धिः स्यात् कथमभावः। ननु भावे प्रमाणभावे सत्येवं वाच्यं स्यात्। अनुमानम्प्रमाणमिति चेत्। तदपि दृष्टमेव रूपमनुसरति। पश्चाद्दर्शना-त्कथम्पूर्वन्दृश्यमानता। यदि दृश्यमानता नास्ति कथं सत्त्वम्। पश्चादुपलम्भादिति चेत्। पश्चादेव सत्त्वमस्तु कथम्पूर्वम्।

ननु पूर्वमविद्यमानं कथम्पश्चादुपलभ्यते। उपलभ्यमानतया (प्रतीतेरुपलभ्यमान-तया) प्रतीतेरुपलब्धमन्यथान्यथेति चेत्। अन्यदापि तद्रूपेणैवाध्यवसीयत इति नान्यथा-सत्त्वम्। अन्यथा प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। अनुमानञ्च भाविसत्तायाम्प्रमाणमिति प्रतिपाद-यिष्यते। कथन्तर्हि मेयान्तरम्। तस्यैव पररूपेण प्रतीतेः। तया प्रतीयमानन्दृष्टान्त-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है। वह अनुपलब्धि विचारित हो जा चुकी है, अतः उपलब्धि सत्ता निश्चित होती है। उपलभ्यमान ही प्रमेय तत्त्व है। यदि ऐसा है, तब वही उपलभ्यमान अर्थ परमार्थ होगा, किसी उपलभ्यमानार्थ का अन्यथा बाध नहीं होना चाहिए। उपलभ्यमान पदार्थ कभी अन्यथा नहीं होता। वह अन्य पुरुष के प्रति भी नीलादि के समान वही ही रहता है। यदि वही परमार्थतत्त्व है, तब उसका परोक्षत्वेन भान क्यों होता है ? पर-मार्थतत्त्व सदैव प्रत्यक्ष होता है, परोक्ष नहीं। जिस (निर्विकल्पक) रूप से वह प्रत्यक्ष होता है, उसी रूप से यदि परोक्ष है, तब परमार्थ ही है। यदि वह किसी प्रकार न प्रतीत होता और भविष्य में प्रतीत होगा तब उसके लिए अनुमान व्यर्थ है। जो तथा प्रतीयमान नहीं, उसे तथा क्योंकर कहेंगे ? कोई वस्तु 'अन्यथा' भी हो और 'तथा' भी—यह कैसे होगा ? उपलब्धि का अभाव होने से अन्यथा होगा - ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुपलब्धि से वस्तु का अभाव हो जाता है, वस्तु अन्यथा नहीं होती। अभाव होने पर भी अनुपलब्धि बनी रहती है, सर्वथा अभाव कैसे ? 'कथमभावः ?'— यह प्रश्न तब उठ सकता है, जब कि भाव के सद्भाव में कोई प्रमाण हो। यदि कहा जाय कि भाव के सद्भाव में अनुमान प्रमाण है। तब वह भी तो दृष्ट (प्रत्यक्ष) का ही अनुसरण करेगा। पश्चात् दृश्यमानता से पूर्वदृश्यमानता कैसे सिद्ध होती ? दृश्यमानता यदि नहीं, तब सत्ता क्योंकर होगी ? पश्चात् उपलम्भ के कारण सत्ता सिद्ध हो जायगी—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पश्चात् उपलम्भ ने पश्चात् सत्ता ही सिद्ध होगी, पहले सत्त्व कैसे निश्चित होगा ?

पूर्व काल में अविद्यमान पदार्थ पश्चात् कैसे उपलब्ध होगा ? ठीक है किन्तु पश्चात् काल में भी वह उपलभ्यमानतया प्रतीत होने के कारण अन्यथा सत् माना जाता है। पश्चात् काल में भी प्रतीति तद्रूपेण ही होगी, अन्यथा कैसे ? अन्यथा सदर्थ की अन्यथा प्रतीति हो ही नहीं सकती। यह आगे चलकर कहा जायगा कि भावी सत्ता में अनुमान प्रमाण है—"इह भविष्यति घटः, तत्सामग्रीवत्त्वात्"। तथापि वह मेया-

वार्तिकालङ्कारः

साधारणेन रूपेण मेयान्तरम्। प्रतिपत्तिभेदेन तद्रूपारोपान्न परमार्थः। एवन्तर्ह्यपेक्षाकृतत्वान्न परमार्थता। सत्यमवस्तुसामान्यमिति प्रतिपादितमेव नेदमपूर्वमुच्यते। वस्तुसंवादद्वारेण व्यवहारिभिरलक्षितनानात्वैर्वस्त्विति व्यवह्रियते। तेन तदपेक्षयेदमुच्यते प्रमेयद्वैविध्यम्। व्यवहारिभिरलक्षितनानात्वैर्वस्त्विति व्यवह्रियते। तेन तदपेक्षयेदमुच्यते प्रमेयद्वैविध्यम्। अथोभयरूपत्वादुभयग्राहकप्रमाणान्तरम्भवेदिति मतिः।

तदयुक्तम्। उभयरूपतयैकेन प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। प्रतिपत्तौ वा प्रमाणद्वयमेव तत्। प्रतितिभेदे एव भेदात्। अथवा प्रतिपत्तिभेदादपारमार्थिकमेव लक्षणमिति नोभयरूपताप्रसङ्गः। नीलादितैव हि पदार्थस्वभावः। सा च नापेक्षाभेदाद् भेदवती। कथन्तर्हि पारमार्थिकप्रमेयाभावात्प्रमाणत्वम्।

अत्रोच्यते—

भेदः कल्पितरूपत्वात् स एवापारमार्थिकः। वस्तुरूपन्तु यत्प्राप्यम्परमार्थतरन्न तत् ॥२३१॥

(६) अनुमानं व्यावहारिकम्—

कथन्तर्हि परमार्थस्य विषयीकरणाद् भेदः। स्वरूपसाक्षात्करणे हि प्रत्यक्षतैव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

न्तर (सामान्यलक्षण) क्योंकर होगा ? क्योंकि प्रथम प्रमेय (स्वलक्षण तत्त्व) की ही तो सामान्यरूपेण प्रतीति अनुमान से मानी जाती है। यद्यपि अनुमान के द्वारा वह्नि-स्वलक्षण ही प्रतीत होता है, तथापि वह धर्मिमात्रवृत्तित्वेन स्वलक्षण और दृष्टान्त-साधारणरूपेण मेयान्तर (सामान्यलक्षण) माना जाता है। हाँ, वह स्वरूपतः प्रतीयमान न होकर व्याप्ति के बल पर प्रतीयमान होने के कारण वस्तुसत् नहीं, आरोपितमात्र है। निरपेक्ष सत्ता न होकर सापेक्ष सत्ता वाला पदार्थ परमार्थ नहीं माना जाता। यह सब कुछ पहले ही कहा जा चुका है, कोई नई बात नहीं। अतएव अनुमान को विषय-संवादी होने के कारण ही केवल व्यवहारजगत् में प्रमाण माना जाता है। इस प्रकार व्यवहार सिद्ध भेद को लेकर प्रमेय-द्वैविध्य कहा जाता है।

जबकि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण—दोनों उपपन्न हैं, तब उभय को परमार्थतः प्रमेय और उभय-ग्राहक ज्ञानों को पारमार्थिक रूप से प्रमाण मानना चाहिए—ऐसा कहना सर्वथा असत् है, क्योंकि दो विरोधी धर्मों से एक वस्तु का ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता। यदि हो सकता है, तब दोनों प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रतीति के भेद से उनका भेद माना जाता है। अथवा प्रतिपत्ति (उपपत्ति) के भेद से अनुमान का लक्षण अपारमार्थिक ही है, अतः एक वस्तु में उभयरूपता प्रसक्त नहीं होती। नीलादिरूपता ही पदार्थ का स्वभाव है, वह अपेक्षा-भेद से भेद वाली नहीं।

प्रश्न—सामान्यलक्षण में यदि पारमार्थिक प्रमेयता नहीं, तब अनुमान में प्रमाणता कैसे ?

उत्तर—भेद कल्पित है, अतः वही अपारमार्थिक है। भेदपुरःसर जो कल्पित सामान्यलक्षण है, वह भी परमार्थतर नहीं ॥ २३१ ॥

(६) अनुमानस्य व्यावहारिकं प्रामाण्यम्—

प्रश्न—यदि अनुमान भी स्वलक्षणरूप परमार्थ प्रमेय को ही विषय करता है, तब प्रत्यक्ष प्रमाण से उसका भेद कैसे ? अनुमान यदि वस्तुस्वरूप (स्वलक्षण) को विषय करता है, तब प्रत्यक्ष प्रमाण ही है और यदि उसका संस्पर्श नहीं करता, तब अनुमान

अयथाभिनिवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते।
गतिश्चेत् पररूपेण न च भ्रान्तेः प्रमाणता ॥ ५५ ॥

स्वलक्षणतत्त्व एक गति (ज्ञान) स्वरूपेण और द्वितीय गति पररूपेण (सामान्याकारेण) कही गई है। पररूपेण गति यदि भ्रान्ति है, तब अनुमान में प्रमाणता नहीं बन सकती ।।५५।।

अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता।
गतिरप्यन्यथा दृष्टा, पक्षश्चायं कृतोत्तरः ॥ ५६ ॥

भ्रान्ति ज्ञान में भी प्रमाणता मानी जाती है यदि अभिप्रेत पदार्थ की अर्थक्रियाकारिता में अविसंवाद (अबाध) उपलब्ध होता है, क्योंकि अर्थक्रिया के साधनीभूत अर्थ की प्रापकता का नाम प्रमाणता है। कहीं-कहीं अर्थ की पररूपेण गति भी अविसंवादिका देखी जाती है। अनुमान को वस्तु ग्राहक क्यों न मान लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"पक्षश्चायं कृतोत्तरः" अर्थात् "न तद्वस्त्वभिधेयत्वाद्—इत्यादि वार्तिक (प्रत्यक्ष० ११) में इसका उत्तर दिया जा चुका है ।। ५६ ।।

वार्तिकालङ्कारः

भवेत्। तदसंस्पर्शे कथन्तद्विषयता। अत्रोच्यते—अयथाभिनिवेशेनेति।

यथासावर्थ इदानीमिह कारणभेदतः भिन्नस्तथासावभिनिवेशो न भवतीति अयथाभिनिवेशिनी भ्रान्तिरेव। पूर्वदृष्टार्थजनितवासनाप्रबोधबलभावित्वादवस्तुसंस्पर्शोऽपितदध्यवसायात्। यदि तर्हि वस्तुसंस्पर्शाभावः प्रमाणमेव न भवति। अविसंवादात् प्रमाणमेवेति चेत्। स एव विसंवादोऽन्यगतावन्यप्राप्तेर्न्न स्यात्। तदाह—गतिश्चेत् पररूपेणेति।

यदि पररूपेण गतिः कथन्तस्य गतिः पररूपस्यैवासौ गतिः। तत्रान्यस्य भ्रान्तौ भ्रान्तिरेव, भ्रान्तिश्च न प्रमाणता। परिहारः—अभिप्रायाविसंवादादपीति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वलक्षणविषयक कैसे ?

उत्तर—यद्यपि अनुमान स्वलक्षणतत्त्व को विषय करता है, तथापि उसमें स्वलक्षणता का अभिनिवेश न करके सामान्यलक्षणता का अभिनिवेश करता है। अत एव अनुमिति को अयथाभिनिवेशिनी भ्रान्ति कहा जाता है। पूर्वोपस्थित स्वलक्षण-दर्शन से जनित संस्कारों के बल पर भावित होने के कारण अनुमान अवस्तु-विषयक होकर भी वस्तु-विषयक-जैसा अवसित (प्रतीत) होता है। यदि अनुमान वस्तुतत्त्व को विषय नहीं करता, तब वह प्रमाण ही नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अभिप्रेतार्थ का विसंवाद (अलाभ) न होने के कारण प्रमाणता मानी जाती है।

आक्षेप—यदि विसंवाद अन्यगत हो और प्राप्ति अन्यगत हो, तब उसे प्रमाण नहीं कह सकते, जैसे कि कहा गया है कि "गतिश्चेत् पररूपेण न च भ्रान्तेः प्रमाणता।" अर्थात् मणि के लाभ से मणि-प्रभा-ज्ञान में प्रमाणता नहीं, भ्रान्तिरूपता है और भ्रान्ति में प्रमाणता नहीं होती।

परिहार—कहीं-कहीं अभिनिवेश भी यथार्थ हो जाता है। इसका ज्ञान कैसे होगा? उत्तर है—"अभिप्रायाविसंवादात्"। अर्थात् अभिप्राय-विषयीभूत पदार्थ के

वार्तिकालङ्कारः

अन्यत्रापि यथार्थाभिनिवेशः कथमवगन्तव्यः । अभिप्रायाविसंवादादेव । स चात्रास्तीति नायथार्थाभिनिवेशः । इदन्तु वासनाबलाज्ज्ञानम्प्रतिभासभेदतो भेद इति नैवं व्यवहारिणो विदन्ति । व्याख्यातृप्रतीतिरेवेयम् । स एवाभिप्रायः कथमन्यदर्शनादिति चेत् । न विकल्पानां वस्तुप्रतिनियमाभावात् । अनादिवासनासामर्थ्यमेवैतत् । ततः कथमपरिच्छिन्नतत्त्वस्तत्र प्रवर्त्तत इति न चोद्यमेतत् । दृष्टे च नानुपपत्तिसम्भवः। प्रत्यक्षेऽपि कथम्प्रवर्त्तते । तत्रापि नैव प्राप्तव्यरूपपरिच्छेदः । सन्निहितमात्रस्य परिच्छेदात् । प्रत्युत किन्त्वर्थे प्रत्यक्षमेव वा प्रवर्त्तकं सन्निहितमात्रस्य परिप्राप्तेः । तत्रापि तदेकत्वाध्यवसायादेव वृत्तिर्भाविनि वस्तुनि । ततोऽनुमानेऽप्येवमेव वृत्तिः कथमसमानतयेक्ष्यते । अथ प्रत्यक्षमेकत्वाध्यवासायरूपन्न भवति परिच्छेदकमेव सन्निहितस्य । एकत्वाध्यवसायस्तु तदुत्तरकालन्न विना विकल्पेन । तदसत् ।

अनुमानेन सुतरां स्वरूपस्य परिग्रहात् । विकल्पान्तरमध्यासीद् ग्रहणे सन्निधावतः ॥२३२॥

यथैव हि प्रत्यक्षसन्निहितरूपादिमात्रग्राहि विकल्पान्तरेणैकत्वाध्यासे सति प्रवर्त्तकन्तथाऽनुमानं सुतरां स्वरूपस्य सन्निहिततरस्य ग्राहकमिति । तत्रापि विकल्पान्तरेणैव भाव्यध्यवसायात् प्रवर्त्तकत्वम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थक्रिया-सामर्थ्य का अविसंवाद (अव्यभिचार) प्रमाणता का ज्ञापक होता है। वह अनुमान में है, अतः यह अभिनिवेश अयथार्थ नहीं । यह प्रतिभास शुक्ति-रजत के समान केवल वासना (संस्कार) के बल पर समुद्भूत हुआ है--ऐसा व्यवहार-परायण पुरुष नहीं समझते वासना-प्ररोहण-प्रकार तो केवल व्याख्याताओं की देन है । यह व्याख्याताओं की ऊहा (भ्रान्ति) है—यहाँ कैसे जाना गया ? इस प्रश्न का उत्तर है—'अन्यदर्शनात्' अर्थात् उनके वक्तव्य के अनुरूप वहाँ वैसी वस्तु नहीं, उसके विपरीत देखा जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विकल्पवृत्तियाँ किसी बाह्य पदार्थ पर निर्भर नहीं होतीं, केवल बुद्धि-विलासमात्र होती हैं । अनादि वासनाओं का सामर्थ्यमात्र है । अतः तत्त्वानभिज्ञ व्यक्ति वहाँ प्रवृत्त कैसे हो गया ? ऐसा प्रश्न वहाँ नहीं उठता, क्योंकि जब रजतार्थी की प्रवृत्ति शुक्ति में दृष्टचर है, तब उसमें अनुपपत्ति क्या ?

प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही अनुमान भी प्रवर्तक होता है—यह दिखाने के लिए प्रश्न उठाया जाता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण प्राणियों का अपने विषय में प्रवर्तक कैसे होता है ? कहना होगा कि प्राप्तव्य जलक्षण का प्रत्यक्षतः परिच्छेद (निश्चय) न होकर उस सन्तान के सन्निहित पूर्व क्षण का ही दर्शन होता है। वैसे ही अनुमान से भी धूम-व्यापकी भूत अग्नि और पर्वतीय अग्नि का एकत्वाध्यवसाय होने पर पर्वतीय अग्नि के ग्रहण में प्रवृत्ति होती है । प्रवर्तकत्व ही प्रमाणों का प्रामाण्य कहलाता है, तब दोनों प्रमाणों में असमानता क्यों ?

शंका—प्रत्यक्ष एकत्वाध्यवायरूप न होकर स्वविषय का निश्चायक ही होता है।

समाधान—अनुमान भी प्रवर्तमान के विषयीभूत वस्तुस्वरूप सामान्यलक्षण का निश्चायक होता है ॥ २३२ ॥

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण सन्निहित वस्तु का ही ग्राहक होता है, एकत्वाध्यासरूप विकल्पान्तर की सहायता से प्रवर्तक होता है, वैसे ही अनुमान प्रमाण भी सन्निहिततर स्वरूप का ग्राहक होता है और सामान्यलक्षणरूप विकल्पान्तर की सहायता से प्रवर्तक

वार्तिकालङ्कारः

अथ स्वरूपेणैवानुमानमध्यवसायरूपत्वात् प्रवर्त्तकमवस्तुसंस्पर्शि चेत् प्रमाणम्। प्रत्यक्षस्य तु वस्तुसंस्पर्शितया प्रमाणता। उदव्यसत्। यतो हि—

वस्तुसंस्पर्शमात्रेण न प्रत्यक्षं प्रवर्त्तकम्। भाव्येकाध्यवसायस्तु प्रत्यक्षस्य न विद्यते ॥२३३॥

येन रूपेण वस्तुसंस्पर्शो न तेन रूपेण प्रमाणम्। प्रवर्त्तकत्वाभावात्। अथ तदेव रूपं विकल्पजनने यत् प्रवर्त्तकम्।

अथ किं विकल्पस्य प्रवर्त्तकत्वमस्ति येन तद्द्वारेण प्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तकता। तद्धि स्वयमप्रवर्त्तकम्। अप्रवर्त्तकविकल्पजननेन प्रवर्त्तकमिति केयं वाचो युक्तिः।

प्रवर्त्तको विकल्पश्चेदवस्तुग्रहणे कथम्। तत्रापि वर्त्तयत्येतदनुमानेन किं मतम् ॥२३४॥

यदि हि विकल्पजननद्वारेण प्रत्यक्षम्प्रवर्त्तकम्। आयातन्तर्हि विकल्पस्य प्रवर्त्तकत्वात् प्रमाणत्वम्। तथासत्यनुमानस्य प्रामाण्यमव्याहतमेव। अनुमानस्यावस्तुग्रहणादप्रामाण्यमप्रवर्तकत्वादिति चेत्, कथन्तर्हि विकल्पस्य प्रत्यक्षोत्तरकालभाविनः। तत्र प्रत्यक्षस्य वस्तुग्रहणात्। न विकल्पे भाविनि तस्याप्रवृत्तेः। तत्सन्ताने प्रवृत्तत्वात्प्रवृत्तिरिति चेत्। कथम् प्रथमक्षणस्य सन्तानता। न चान्यत्र वृत्तमन्यत्र वृत्तम्भवति। तथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है।

यह जो कहा जाता है कि अनुमान सामान्यलक्षणरूप अवस्तु को विषय करता है किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण स्वलक्षणरूप वस्तुतत्त्व का अवगाही होता है।

वह कहना असत् है, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वलक्षणरूप वस्तु का अवगाही होने मात्र से प्रवर्तक नहीं होता, क्योंकि उसमें भावी (प्राप्तव्य) वस्तु के एकत्व का अध्यवसाय नहीं होता, अन्यथा प्रत्यक्ष प्रमाण भी सविकल्पकावगाही हो जायगा ॥२३३॥ अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण जिस (प्रत्यक्षत्व) रूप से निर्विकल्प वस्तु को विषय करता है, उस रूप से प्रवर्तक नहीं होता। इष्ट-साधनत्वादि विकल्पों का जनक होकर ही वह प्रवर्तक होता है। "अप्रवर्तकविकल्पजननेन प्रवर्तकम्"—ऐसा कहना अत्यन्त विरुद्ध है।

अनुमान यदि प्रवर्तक है, तब अवस्तु विषयक कैसे ? यदि वह अवस्तुविषयक है, तब प्रवर्तक कैसे ? ॥२३४॥

यदि विकल्प-जनन के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवर्तक माना जाता है, तब विकल्प में प्रवर्तकत्व होने से प्रामाण्य आ गया। फलतः अनुमान में प्रमाणत्व अव्याहत सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि अनुमान सामान्यलक्षणात्मक अवस्तु का ग्राहक होने के कारण न प्रवर्तक है और न प्रमाण। तब प्रत्यक्षोत्तरकाल भावी विकल्प में प्रवर्तकत्व कैसे मान लिया गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण स्वलक्षणात्मक वस्तुतत्त्व का ग्रहण करता है। किन्तु उससे भावी विकल्प में प्रवर्तकत्व क्यों होगा ? वह विकल्प प्रत्यक्ष की सन्तति में पतित होने से प्रवर्तक होता है, अनुमान विकल्प वैसा नहीं। तब प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष का प्रथम क्षण सन्तान न होने से प्रवर्तक क्यों होगा। सन्तानगत प्रवर्तकत्व असन्तानरूप प्रथम क्षण में नहीं हो सकता। यदि अन्यत्र वृत्त धर्म अन्यत्र भी रहता है, तब अनुमान भी अपने स्वरूप में प्रवृत्त होने के कारण अपने विकल्परूप विषय में भी प्रवृत्त हो जायगा। अनुमान की सामान्यलक्षण में प्रवृत्ति उपचारमात्र है, परमार्थतः नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष यदि अपनी सन्तति में प्रवृत्त है, तब प्रथम क्षण में प्रवृत्त होगा, क्योंकि अन्यत्र प्रवृत्ति यदि

वार्तिकालङ्कारः

चेदनुमानमपि स्वरूपे वृत्तमर्थेऽपि वृत्तमेव भवेत्। उपचारमात्रमेतन्न परमार्थसत्येऽपि नोत्तरम्। प्रत्यक्षमपि एकत्रवृत्तमन्यत्रापि वृत्तमिति नोपचारादेतदन्यत्। प्रत्यक्षन्तज्जातीये वृत्तमनुमानन्तु तत्रापि नेति व्याहतम्। विकल्पस्य प्रत्यक्षोत्तरकालभाविनस्तज्जातीये वृत्यभावात्। तत्र प्रत्यक्षस्य वृत्तिरिति परिहारेऽनुमानेऽप्येतदिति समानमेतत्। अनुमानविषयतज्जातीये प्रत्यक्षवृत्तेः। महानसदहने हि प्रत्यक्षम्प्रवृत्तमेव। अनुमानविषये तन्नास्तीति चेत्, सर्वं समानम्। तथा हि—

यथानुमानविषये न प्रत्यक्षप्रवर्त्तनम्। तथा विकल्पस्य न किम्प्रत्यक्षोत्तरभाविनः ॥२३५॥
अन्यव्यक्तिप्रवृत्तञ्चेत् प्रत्यक्षमनुमानकृत्। अन्यरूपे न वृत्तं किम्प्रत्यक्षन्तद्विकल्पकृत् ॥२३६॥
एकत्वाध्यवसायस्तु समान उभयोरपि। सामान्यमुभयत्रापि गृह्यते प्राप्य वस्तुनः ॥२३७॥
वह्नेरादिक्षणस्तत्र विकल्पस्याक्षगोचरः। नन्वन्यस्य ग्रहेऽन्यस्य ग्रहो नेति निवेदितम् ॥२३८॥
तत्सम्बन्धिग्रहे तस्य ग्रहणं यदि सम्मतम्। अनुमानेऽपि सर्वत्र सम्बन्धिग्रहणं समम् ॥२३९॥
विकल्पेऽकारणं दृश्यमनुमानेऽपि कार्यदृक्।

यथा विकल्पस्य प्रत्यक्षोत्तरकालभाविनो विषयप्रत्यक्षमप्रवृत्तमपि तत्कारणे

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उपचार है, तब वैसी प्रवृत्ति चाहे प्रत्यक्ष की हो, चाहे अनुमान की बराबर है। प्रत्यक्ष तज्जातीय में प्रवृत्त है, अनुमान नहीं—ऐसा कहना अत्यन्त व्याहत (विरुद्ध) है, क्योंकि अनुमान वह्निजातीय में ही प्रवृत्त होता है और प्रत्यक्षोत्तर भावी विकल्प तज्जातीयार्थ में प्रवृत्त नहीं होता। प्रत्यक्ष तज्जातीय में प्रवृत्त होता है, अनुमान नहीं—यह उचित नहीं, प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों समान हैं। अनुमान के विषयीभूत सामान्यलक्षण में प्रत्यय प्रवृत्त नहीं होना—ऐसा कहना भी समान ही है—जैसे अनुमान के विषय में प्रत्यक्ष की प्रवत्ति नहीं होती, वैसे ही प्रत्यक्षोत्तरभावी विकल्प के विषय में भी उसकी अप्रवृत्ति क्यों नहीं होती? ॥२३५॥ यदि प्रत्यक्ष स्वोत्तरभावी विकल्परूप व्यक्त्यन्तर में प्रवृत्त होता है, तब वह अनुमानकृत विकलपरूप व्यक्त्यन्तर में क्यों नहीं प्रवृत्त होता? एकत्वाध्यास तो उभयत्र समान है। प्राप्यार्थ की समानता भी उभयत्र सुलभ है ॥२३६-२३७॥ अनुमान-विषयीभूत सामान्यलक्षणरूप वह्नि का आद्यक्षण (निर्विकल्प) प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु द्वितीय क्षण नहीं, क्योंकि अन्य का ग्रहण होने से अन्य का ग्रहण नहीं होता—यह कहा जा चुका है ॥२३८॥ तत्सम्बन्धी वस्तु का ग्रहण होने से तत्पदार्थ का ग्रहण यदि सम्मत है, तब अनुमान में सर्वत्र सम्बन्धिग्रहण समानरूप से प्राप्त है ॥२३९॥ यदि दृश्य प्रत्यक्ष स्वोत्तरभावी विकल्प में प्रवृत्त है, तब अनुमान विकल्प में भी प्रवृत्त होना चाहिए। अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष के उत्तर काल में उत्पन्न विकल्प के विषय में प्रवृत्त न होकर भी प्रत्यक्ष उसके कारणीभूत विषय में प्रवृत होने के कारण विकल्पगत प्रवर्तकत्व का विधान करता है, वैसे ही अनुमान के विषयीभूत सामान्यलक्षण में प्रवृत्त न होकर भी प्रत्यक्ष विकल्प-कारणीभूत निर्विकल्प वस्तु में प्रवृत्त होने के कारण अनुमानगत प्रामाण्य (प्रवर्तकत्व) का विधान करे, कार्य-कारणरूप सम्बन्ध उभयत्र समान है। यदि "सर्वत्र कार्येषु कारणमेव प्रवर्तकम्"—ऐसा नियम माना जाता है, तब अनुमानरूप कार्य में प्रत्यक्षरूप कारण की प्रवृत्ति न होने के कारण प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य आता है, अनुमान में नहीं।

शंका—यह जो कहा गया कि "कारणात् कार्यगतिरनैकान्तिकी।" वह संगत

वार्तिकालङ्कारः

वृत्तं विकल्पस्य प्रवृत्तंकत्वप्रामाण्यं विदधाति। तथाऽनुमानविषयेऽप्रवृत्तमपि तत्कार्यप्रवृत्तमनुमानस्यापि प्रामाण्यं विदधातु, सम्बन्धविशेषात्। कार्यकारणसम्बन्ध उभयत्र समानः। प्रत्युत्कारणात् कार्यगतिरनैकान्तिकीति प्रत्यक्षमेवाप्रमाणं भवेन्नानुमानम्।

अथ प्रत्यक्षत्वादनैकान्तिकोद्भावनमयुक्तम्। ननु यत्र प्रत्यक्षता सन्निहितमात्रके न तत्रानैकान्तिकतोद्भाव्यते। भाविनि तु न प्रत्यक्षमेतत्। तज्जातीये प्रत्यक्षन्तत्रापि प्रत्यक्षमेवेत्यप्यचोद्यम्। तज्जातीयताऽनुमानविषयेऽपि प्रत्यक्षविषयः। तत्र वृत्तं प्रत्यक्षमिह तु प्रवर्त्तत इति विशेषः। तत्र व्यक्त्यन्तरे वृत्तमिह तत्रैवेत्यसामान्यविषयता प्रत्यक्षस्य, न, भाविभूतयोरेकत्वाभावात्। अप्रत्यक्षत्वाच्च सामान्यविषयता समानैव। कथं वा तज्जातीयता भाविविषयेण नादृष्टस्यावगम्यते। अन्यत्र तथाग्रहणादेतदिति चेत्, व्यक्त्यन्तरसाधारणतैव तर्हि सर्वत्र सामान्यं गम्यते न विशेषः प्रत्यक्षानुमानयोः। अथावश्यम्भाविता भाविनस्तेन नानैकान्तिकता। यत्र कारणन्तत्रावश्यम्भाविता यत्र कार्यन्तत्र सुतरामेवावश्यम्भाविता। अवश्यम्भाविनि च कार्यकारणत्वमेवेति प्रतिपादितम्। तस्मान्न भाविनि प्रवर्त्ये प्राप्ये प्रत्यक्षानुमानयोर्विशेषः।

अथ प्रत्यक्षं तावद् वस्तुसंस्पर्शे तेन प्रमाणन्नानुमानमिति चेत्, तदप्यसत्,

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं, क्योंकि अनुमानरूप कार्य यदि स्वकारणीभूत प्रत्यक्षरूप होकर ही प्रवर्तक है, तब उसमें "अनैकान्ति का उद्भावन सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय इन्द्रियसन्निकृष्टमात्र होता है, उसमें अनैकान्तिकता का उद्भावन सम्भव नहीं। भावी विकल्प में विशेष प्रत्यक्ष प्रवर्तक नहीं, अपितु प्रत्यक्षजातीय प्रत्यक्ष प्रवर्तक है—ऐसा आक्षेप भी नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्षजातीय अनुमान का विषय भी प्रत्यक्ष का विषय होता है। वहाँ अनुमान के विषयजातीय निर्विकल्पक में प्रत्यक्ष प्रवृत्त हो चुका होता है और विकल्प के विषय में प्रवर्तमान है। अनुमान-स्थल पर प्रत्यक्ष व्यक्त्यन्तर में प्रवृत्त है और विकल्पस्थल पर उसी व्यक्ति में, बस इतनी विशेषता है।

समाधान—भावी (अनुमान) और भूत (प्रत्यक्ष) की एकता (अभिन्नता) विवक्षित नहीं कि अनुमानात्मक प्रत्यक्ष में अनैकान्तिकता का उद्भावन असंगत होता। अनुमान प्रत्यक्षात्मक न होने के कारण स्वलक्षणविषयक न होकर सामान्यलक्षणविषयक माना जाता है। भावी विकल्प का विषय अदृष्ट है, अतः उसकी सजातीयता प्रत्यक्ष के विषय में क्योंकर होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अन्यत्र (भावी विकल्पस्थल से भिन्न वर्तमान विकल्पस्थल पर) सजातीयता का दर्शन सम्भव है—ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान में कोई विशेषता नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों सामान्यविषयक ही हो जाते हैं। प्रवृत्ति के लिए जब विकल्प विज्ञान आवश्यक है, तब प्रत्यक्षरूप कारण के पश्चात् भावी विकल्प की अवश्यभाविता निश्चित है, तब अनैकान्तिकता क्यों होगी ? जहाँ कारण है, वहाँ कार्य भी है और जहाँ कार्य है, वहाँ तो अवश्यंभाविता निश्चित ही है, तब व्यभिचार नहीं हो सकता। अवश्यंभावी पदार्थों की कार्यता और कारणता है यह कहा जा चुका है। फलतः प्रवर्त्यं और प्राप्य अंशों में प्रत्यक्ष और अनुमान का कोई भेद नहीं।

यह जो कहा जाता है कि प्रत्यक्ष निर्विकल्प वस्तु को विषय करता है, अतः प्रमाण है और अनुमान सामान्य कल्पना को विषय करता है, अतः वह प्रमाण नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

प्राप्यविषयताभावे भ्रान्तस्याभ्रान्तस्य च न विशेषः। अथ भावाभावाभ्यां विशेष इति चेत्, न, संवादमन्तरेण तस्यैवार्थभावेतरत्वस्याधिगन्तुमशक्यत्वात्। अथ प्रत्यक्षे नरान्तरसंवादादसंवादेऽपि वस्तुविषयता, तदप्यनुमानगम्यमेवेति न विशेषः। तस्मादभिप्रेतार्थाविसंवादात् प्रमाणान्न वस्तुग्रहणमुपयोगि, अन्यथा प्रत्यक्षमप्रमाणमेव भवेत्।

तत्रैव व्याख्यायते—"अन्यथापि गतिर्दृष्टा"। भ्रान्तापि गतिर्दृष्टा अथवा गतिः पादविहरणन्तदन्यथापि पररूपेण प्रतिपत्तावपि दृष्टा। कथं प्राप्तिः? सद्भावादर्थस्य। यस्य सद्भावः स प्राप्यते। तथा हि—समर्थकारे हस्तपरामर्शतोऽपि प्राप्तिदर्शनम्। नियता कथमिति चेत्, सम्बन्धबलादेव। अस्तित्वमपि सम्बन्धिसद्भावादेव। कथं सम्बन्धिता गतिः? प्रत्यक्षेऽपि कथम्भाविसम्बन्धिता गतिः? एवमेव दृष्टत्वादिति चेत्, समानमुभयत्रापीत्यविवादः। अथ तदेव प्रत्यक्षन्तत्र प्रमाणन्तद्विकल्पजननादिति चेत्, अनुमानजननादपि तदेव पूर्वकम्प्रत्यक्षं किन्नेष्यते। अतीतत्वात्तस्येति चेत्, विकल्पो-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वह कहना भी असत् है। जो ज्ञान प्राप्य-विषयक नहीं, वह भ्रान्त हो या अभ्रान्त कोई अन्तर नहीं। अभ्रान्त ज्ञान भावविषयक और भ्रान्त अभावविषयक, अतः दोनों ज्ञानों का महान् अन्तर है, अवश्य अन्तर है किन्तु संवाद के बिना अर्थ के भाव और अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि प्रत्यक्ष पुरुषान्तर-संवाद के आधार पर वस्तु विषयक माना जाता है, तब भी वही आपत्ति है कि अनुमान के बिना नरान्तर-संवाद का ज्ञान नहीं हो सकता। फलतः अभिप्रेतार्थ विसंवादरूप प्रमाण से प्रवृत्ति होती है, उसमें वस्तु-ग्रहण उपयोगी नहीं, अन्यथा (अभिमतार्थ का संवाद न होने पर) प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं हो सकेगा।

छप्पनवें वार्तिक पद्य के "गतिरप्यन्यथा दृष्टा"—इस अंश की "अन्यथापि गतिदृष्टा"—ऐसा पाठान्तर मानकर अन्य व्याप्ति की जाती है—भ्रान्त प्रतीति भी देखी जाती है। अथवा 'गति' शब्द का स्वभाव-सिद्ध अर्थ है—पाद-विहरण (प्रवृत्ति) अन्यथा (पररूपेण) ज्ञान होने पर भी देखा जाता है अर्थात् मणि-प्रभा में मणि की प्रतीति होने पर भी मणि चाहनेवाले पुरुष की प्रवृत्ति देखी जाती है। वहाँ मणि-वस्तु की प्राप्ति कैसे होती है? मणि का सद्भाव होने से। जिसका सद्भाव होता है, वह वस्तु प्राप्त की जाती है। जैसे कि भ्रान्तस्थल पर भली प्रकार हाथ फेरने पर समीहितार्थ (मणि) की प्राप्ति देखी जाती है। नियत प्राप्ति कैसे? सम्बन्ध के बल पर मणि का अस्तित्व भी सम्बन्धी के सद्भाव से अवगत हो जाता है। सम्बन्धिता की गति (प्रतीति) कैसे होती है? इसके उत्तर में प्रत्यक्षस्थल का निरीक्षण आवश्यक है कि जलस्वलक्षण के ज्ञान से सामान्यलक्षण की प्राप्ति भी सम्बन्धि-ज्ञान से ही होती है—यही तो लोक में देखा जाता है। इस विषयमें प्रत्यक्ष और भ्रान्तिस्थल—दोनों समान हैं। यदि कहा जाय कि वही प्रत्यक्ष ही विकल्पोत्पादन के द्वारा प्रत्यक्ष स्थल पर प्रवर्तक माना जाता है। तब अनुमान स्थल पर भी व्याप्ति-प्रत्यक्ष ही अनुमान-जनन द्वारा प्रवर्तक क्यों नहीं मान लिया जाता? यदि यह अतीत हो जा चुका है, तब विकल्पोदय-काल में पूर्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी अतीत ही हो जाता है। कार्य और कारण की एककाल-वृत्तिता सम्भव नहीं—यह आगे चल कर कहा जायगा। विकल्प-काल में भी वही पूर्व प्रत्यक्ष ही धारारूपेण विद्यमान माना जाता है—ऐसा मानना

वार्तिकालङ्कारः

दयकालेऽपि प्रत्यक्षमतीतमेव। न हि कार्यकारणयोः समानकालतेति प्रतिपादयिष्यते। अथ विकल्पसमानकालमपि प्रबन्धेन प्रत्यक्षमस्ति एवेति विशेषः। नोत्तरप्रत्यक्षक्षणानामप्रमाणत्वात्। अथोत्तरेषामपि प्रमाणताऽन्यथा प्रबन्धस्य भाविनोऽपरिनिश्चयात् पूर्वेषां तर्ह्यप्रमाणता। प्राप्यविषयत्वाऽभावात्। पूर्वैरेव निश्चयजनने उत्तरेषामप्रमाणता भवेत्। सन्देहे हि न निश्चित्यानिश्चये वा न सन्देहः, निश्चयेतरयोरेकविषयत्वायोगात्। अथ पूर्वेषामप्रमाणतैव तथा सति न प्रवर्त्तत इति कस्यचित् प्रामाण्यं पश्यामि तावत् किमत्र प्राप्तिरुत नेति प्रवृत्तावनुमानेऽपि समानमेतत्। तस्माद् गतिरपि प्रत्यक्षाभिमताऽन्यथा दृष्टा पररूपेणैव। न काचित् प्रवृत्तिविषये स्वरूपेण गतिः। अन्यत्र तु वस्तुरूपे स्वरूपे वा गतिरुभयोरपीति भाविवस्तुनि को विशेषः। कथन्तर्हि प्रत्यक्षानुमानयोर्विषयभेदः। स्पष्टेऽस्पष्टमध्यारोप्यतेऽस्पष्टे च स्पष्टमिति। अथवाऽन्यथा।

यत्र भाविगतिस्तत्रानुमानम्मानमिष्यते। वर्त्तमानेतिमात्रेण वृत्तावध्यक्षमानता ॥२४०॥

यत्रात्यन्ताभ्यासादविकल्पयतोऽपि प्रवर्त्तनन्तत्र प्रत्यक्षम्प्रमाणम्। अन्यथा विकल्पस्य प्रमाणान्तरता प्राप्ता। यदि यत्र विकल्पस्तत्रैव प्रत्यक्षम्प्रवर्त्तकम्प्रमाणञ्चेति।

अथ प्रत्यक्षमेव प्रमाणन्न विकल्पो गृहीतग्रहणादिति चेत्। विचारितमेतद् यथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सम्भव नहीं, क्योंकि प्रथम क्षण के समान प्रत्यक्ष के उत्तर क्षण प्रमाण नहीं माने जाते। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष-सन्तति के उत्तर क्षणों को भी प्रमाण मानना होगा, अन्यथा भावी सन्तति का परिनिश्चय न होने के कारण पूर्वक्षणों को भी अप्रमाण मानना होगा। आशय यह है कि संदेह होने पर निश्चय नहीं और निश्चय होने पर संदेह नहीं होता, क्योंकि निश्चय और अनिश्चय समान विषयक कभी नहीं होते। यदि प्रत्यक्ष-सन्तति के पूर्व क्षणों को प्रमाण नहीं माना जाता, तब उनके द्वारा कोई व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होगा, फलतः किसी क्षण में भी प्रामाण्य का दर्शन नहीं कर पा रहा हूँ। किसी प्रकार प्रवृत्ति हो जाने पर भी 'क्या यहाँ दृश्यमान् पदार्थ की प्राप्ति होगी, अथवा नहीं ?' इस प्रकार का संशय ही बना रहता है, वैसे ही अनुमान में भी, अतः दोनों की अप्रमाणता समान ही है। अतः बहुत ठीक कहा गया है—"गतिरन्यथा दृष्टा"। वर्तमान विषय में तो तथा और अन्यथा दोनों प्रकार की गति कही जा सकती है किन्तु भावी विषय में क्या कहा जाय ?

यदि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही स्वलक्षणविषयक हैं, तब इनका विषय-भेद कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर है कि स्पष्ट विषय (स्वलक्षण) में अस्पष्ट (सामान्य लक्षण) विषय का आरोप करके अनुमान और अस्पष्ट (सामान्य लक्षण) विषय में स्पष्ट (स्वलक्षण) विषय का आरोप करके प्रत्यक्ष प्रवृत्त होता है। अथवा जहाँ भावी गति (प्रवृत्ति या ज्ञान) होती है वहाँ अनुमान प्रमाण माना जाता है और जहाँ अत्यन्त अभ्यास होने के कारण वर्तमान विषय में ही गति हो जाती है, वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त होता है ॥ २४० ॥ अर्थात् अत्यन्त अभ्यास हो जाने के कारण बिना किसी प्रकार के विकल्प से प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण व्यवस्थित होता है अन्यथा विकल्प-विज्ञान में प्रमाणान्तरता प्रसक्त होती है। यदि जहाँ विकल्प विज्ञान होता है वहाँ ही प्रत्यक्ष प्रवर्तक और प्रमाण माना जाता है, तब निर्विकल्पावस्था में प्रत्यक्ष को प्रवर्तक और प्रमाण क्योंकर माना जा सकेगा ?

वार्तिकालङ्कारः

गृहीतग्राहिता नास्ति । पुनरप्युच्यते । तथा हि—

नोपयोगो विकल्पस्य प्रवृत्तौ यदि तेन किम् । उपयोगो विकल्पस्य प्रवृत्तौ चेत् प्रमा न किम् ॥२४१॥

यदि विकल्पस्यानुपयोगितैव कथमसौ सहायतयेष्यते प्रत्यक्षस्य । न खलु निरुपयोगिनापि सहायेन कस्यचिदर्थिता । अथ तेन विना न प्रवर्त्तनम् । प्रत्यक्षमप्रमाणम्भवेत् । तेनापि विना न प्रवर्त्तत इति चेत्, उभयन्तर्हि प्रमाणम्प्रसक्तम् । अथाप्रमाणविकल्पः । पदार्थरूपासंस्पर्शात् । प्रत्यक्षमप्यप्रमाणम्प्राप्यरूपासंस्पर्शादित्युक्तमिदानीमेव । तस्मात्—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विकल्पस्य प्रवर्त्तने । यदि कारणता नास्ति तदा स्यादप्रमाणता ॥२४२॥

प्रत्यक्षात्परतो वृत्तिर्विकल्पस्य प्रवर्त्तने । शक्तिश्चेद् व्यवधानेन प्रत्यक्षस्याप्रमाणता ॥२४३॥

अथ व्यवहितस्याप्यप्रमाणता तथा सति चक्षुरादीनामपि प्रवर्त्तकत्वे प्रमाणता स्यात् । अज्ञानत्वान्नेति चेत्, समनन्तरप्रत्ययस्य स्यात् । अन्यविषयत्वात्तस्य नेति चेत्, समानविषयत्वे स्यात् । भवत्येवेति चेत्, न, तत्र प्रवर्त्त्येऽज्ञानत्वात् । न हि प्रवर्त्यविषयत्वम्पूर्वक्षणग्राहिणः प्रत्यक्षस्यास्ति तस्मादनन्तरत्वात् प्रमाणं विकल्प एव स्यात् । अथापि प्रवृत्तिविषये प्रत्यक्षम्प्रवर्त्तेत प्रतिभासमात्रेण । तथापि प्रमाणं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अगृहीत-ग्राहक होने से प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है, गृहीत-ग्राहक होने के कारण उत्तरभावी विकल्प नहीं—यह पहले विचारित हो चुका है कि विकल्प में गृहीतग्राहिता नहीं, पुनः भी कहा जाता है—यदि प्रवृत्ति में विकल्प का कोई उपयोग नहीं तो उससे क्या ? हाँ, विकल्प का यदि प्रवृत्ति में उपयोग है, तब वह प्रमाण क्यों नहीं ? ॥२४१॥

यदि प्रत्यक्षोत्तर भावी विकल्प विज्ञान अत्यन्त अनुपयोगी है, तब वह पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष का सहायक क्यों माना जाता है ? नितान्त निरुपयोगी सहायक को कौन चाहेगा ? यदि विकल्प के बिना केवल प्रत्यक्ष प्रवर्तक नहीं हो सकता, तब प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायगा । यदि परस्पर-सहयोग के द्वारा ही दोनों प्रवर्तक माने जाते हैं, तब दोनों में प्रमाणता प्रसक्त होती है ।

यदि विकल्प को प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि वह विषयवस्तु का स्पर्श नहीं करता, तब प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ही हो जाता है, क्योंकि प्राप्य विषय का वह स्पर्श नहीं करता—ऐसा अभी ही कहा जा चुका है, अतः यदि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा विकल्प में प्रवर्तकता सिद्ध नहीं होती, तब वह अप्रमाण है ॥२४२॥ यदि प्रत्यक्षोत्तरभावी विकल्प में प्रवर्तन-शक्ति मानी जाती है, तब प्रवृत्ति से व्यवहित हो जाने के कारण प्रत्यक्ष में अप्रमाणता आ जाती है ॥ २४३ ॥

यदि व्यवहित कारण में भी प्रमाणता मानी जाती है, तब ज्ञान की जनकीभूत चक्षुरादि में भी प्रवर्तकत्व और प्रमाणता माननी होगी । चक्षुरादि ज्ञानस्वरूप नहीं, अतः उनमें प्रमाणता प्रसक्त न होने पर भी समनन्तर प्रत्यय में प्रमाणता प्रसक्त क्यों न होगी ? समनन्तर प्रत्यय यदि अन्य विषयक है, तब समानविषयक समनन्तर प्रत्यय में अवश्य प्रमाणता माननी होगी । उसमें तो प्रमाणता होती ही है—ऐसा नहीं कह सकते, प्राप्यविषयक ज्ञान न होने से समानविषयक समनन्तर प्रत्यय को प्रमाण नहीं माना जा सकता । पूर्वक्षण-ग्राहक प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रवर्त्यविषयकत्व नहीं होता, क्योंकि उस (प्रत्यक्ष) के अनन्तर विकल्प में प्रवर्त्यविषयकत्व होता है, अतः विकल्प में ही

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः ।
मिथ्याज्ञानविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ ५७ ॥
यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः ।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ ५८ ॥

एक व्यक्ति मणि के प्रकाश को मणि समझ कर उसे उठाने दौड़ा और दूसरा प्रदीप के प्रकाश को मणि जानकर उसे उठाने लपका। दोनों के प्रवर्तक मिथ्या ज्ञान समान हैं, तथापि अर्थक्रिया (प्रवृत्ति की सफलता और असफलता) में विशेषता अवश्य है कि प्रथम व्यक्ति मणि प्राप्त करने में सफल और दूसरा असफल हो जाता है।

ठीक उसी प्रकार अनुमान के द्वारा प्रवृत्त पुरुष सफल और अनुमानाभास के द्वारा प्रवृत्त व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहता है। फलतः सफल प्रवृत्ति के जनक अनुमान को प्रमाण माना जाता है और अनुमानाभास को अप्रमाण ॥ ५७-५८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

विकल्पः। गृहीतग्राहित्वे कथम्प्रमाणमिति चेत्, प्रवर्तकत्वात्। यथा स्वभावानुमानम्। न हि प्रतिभासमात्रेण प्रत्यक्षम्प्रमाणम्। क्षणिकत्वेऽपि प्रत्यक्षग्राह्यता स्यात्। भवत्येवेति चेत्, क्षणिकग्राहकमनुमानन्न प्रमाणम्भवेत्, गृहीतग्राहित्वात्। अथ व्यवहारसाधनात् प्रमाणं विकल्पोऽपि तथेति समानम्भवेत्। तस्मात् प्रत्यक्षविषयप्रवर्त्तकत्वेऽपि स्पष्टास्पष्टभेदात् प्रमाणद्वितयमेव। तत्पररूपेणापि गतिरविसंवादात् प्रमाणमेव। यथा चाविसंवादेऽपि न वस्तुस्वरूपग्रहणन्तथा प्रतिपादितमेव। अविसंवादात् प्रमाणत्वेऽपि भ्रान्ततान्दर्शयति। तथा हि—मणिप्रदीपप्रभयोरिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रमाणता पर्यवसित होती है। प्रवर्त्यविषयक प्रतिभासमात्र होने से यदि प्रत्यक्ष प्रवर्तक हो जाता है, तब भी विकल्प विकल्प को प्रमाण मानना होगा। विकल्प गृहीत-ग्राहक है, अतः प्रमाण कैसे होगा ? इसका उत्तर है—प्रवर्तकत्वात्। स्वभावानुमान भी तो गृहीत-ग्राहक है, प्रवर्तक होने से ही प्रमाण माना जाता है—हेतु-दर्शन-काल में वृक्षत्वात्मक शिंशपात्व का ही साध्यरूपेण ग्राहक है। प्रतिभासमात्रतः प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं मान सकते, विकल्प के विषय में क्षणिकत्व होने पर भी प्रत्यक्ष-ग्राह्यता माननी होगी। होती ही है—ऐसा कहने पर क्षणिकवस्तु-ग्राहक अनुमान प्रमाण न हो सकेगा, क्योंकि गृहीत-ग्राहक है। यदि अनुमान व्यवहार का साधन होने से प्रमाण माना जाता है, तब विकल्प भी वैसा ही है, अतः दोनों (अनुमान और विकल्प) समान हैं। विकल्प और अनुमान—दोनों प्रत्यक्ष-विषय में प्रवर्तक हैं, तथापि उनका विषय अस्पष्ट और प्रत्यक्ष का विषय स्पष्ट है—इस प्रकार विषय के स्पष्ट और अस्पष्ट दो भेद होने के कारण दो ही प्रमाण सिद्ध होते हैं। निष्कर्ष यही निकला कि स्वलक्षण का पररूपेण (सामान्यलक्षणत्वेन) ज्ञान (अनुमान) अविसंवादक होने से प्रमाण माना जाता है। अनुमान अविसंवादक होने पर भी वस्तुस्वरूप का ग्राहक नहीं—इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। अविसंवादक होने से प्रमाणता होने पर भी भ्रान्तता दिखाई जाती है—मणिप्रदीपेत्यादि से।

मणि या प्रदीप की प्रभा (प्रकाश) में मणि (पद्मरागादि मणि) का भ्रम तब

वार्तिकालङ्कारः

मणिप्रभायां कुञ्जिकाविवरविहितमणिसंस्थानविशेषायाम्मणिविशेषमनाश्रितायाम्। प्रदीपप्रभायाञ्च सरसिरुहरागमणिभ्रान्तिः परस्परन्न विशिष्यते। अथ च मणिप्राप्तिकृतोऽस्त्येव कस्याश्चिद् विशेषः। तद्वद् अनुमानतदाभासयोरपि तत एव प्रमाणेतरते। अदृष्टेऽपि मणौ प्रदीपप्रभाप्तं मण्यध्यवसायी प्रवर्त्तमान उपलब्ध एव। न च भ्रान्तिरिति समानता सर्वत्र सामग्रीविशेषतो विशेषात्। न हि ज्ञानत्वात् सकलम्भ्रान्तमितरथा वा। तस्माद् भ्रान्तमपि प्रमाणमविसंवादात्। सामग्रीविशेषाद् विशेषवत्। भ्रान्त्यध्यवसितता भ्रान्तिरपि सम्बद्धपदार्थजनिता प्रमाणोदयनिबन्धनं भवति समीहितप्राप्तिहेतुः। प्रत्यक्षोदयनिबन्धनानुमानज्ञानवत्। न ह्यनुमानम्प्रत्यक्षोदयमन्तरेण प्रमाणम्। न च प्रत्यक्षमनुमानोदयं बिनेति प्रतिपादितम्। तथा हि—

विनाऽनुमानम्प्रत्यक्षन्न प्रवर्त्तकमादितः। तथाऽनुमानम्प्रत्यक्षं विनेति प्रतिपादितम् ॥२४४॥
विशेषस्त्वयमेवात्र क्वचित् पूर्वं क्वचित्परम्। अनुमानात् परन्नाक्षन्नाक्षात् पूर्वानुमेष्यते ॥२४५॥

अथापि स्यात्। प्रत्यक्षमन्तरेणानुमानं प्रवर्त्ततेऽनुमानन्तु विनापि प्रत्यक्षमिति विशेषादनुमानम्प्रत्यक्षेणासमानम्। तदप्यसत्।

प्रत्यक्षमनुमानेन बिना मानं स्ववेदने। व्यवहारस्तथा नास्ति प्रमाणत्वेऽपि किम्भवेत् ॥२४६॥
स्वसंवेदनमात्रे च प्रत्यक्षेऽर्थाप्रसिद्धितः। भेदस्य च न किञ्चित् स्याद्दृष्टमवशिष्यते ॥२४७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है, जब कि भुन्नासी ताले की लम्बी कुञ्चिका (चाभी) जाने योग्य गोल छेद से कमरे के अन्दर रखी मणि या दीप का गोल प्रकाश बाहर चिकने धरातल या स्वच्छ स्फटिकतल पर पड़ता है। दोनों मण्याकार प्रकाशों में मणि-भ्रान्ति समान है किन्तु मणि-प्रभा-भ्रान्ति की महती विशेषता यह है कि वहाँ मणि की प्राप्ति हो जाती है। उसी प्रकार अनुमान और अनुमानाभास में अनुमान की यह विशेषता है, उसके द्वारा प्रवृत्त पुरुष विषयवस्तु की प्राप्ति कर लेता है, अतएव अनुमान प्रमाण माना जाता है। किसी ने मणि देखे बिना ही मणि की भ्रान्तिमात्र से प्रवृत्त होकर मणि की उपलब्धि कर लेता है। सभी भ्रान्तियाँ समान होती हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामग्री के भेद से भ्रान्तियों में विशेषता पाई जाती है। ज्ञानत्वेन समस्त ज्ञान भ्रम या प्रमा नहीं होते, अतः भ्रान्त ज्ञान भी क्वचित् अविसंवाद के कारण प्रमाण माना जाता है। सामग्री की विशेषता से ज्ञान विशेष होता है कि किसी में भ्रान्तिरूपता और किसी में अध्यवसितरूपता देखी जाती है। कहीं-कहीं भ्रान्ति भी सम्बद्ध पदार्थ से जनित होकर समीहित वस्तु की प्रापिका वैसे ही होती है, जैसे प्रत्यक्ष-गृहीत हेतु के द्वारा समुत्पन्न अनुमान ज्ञान। प्रत्यक्ष के बिना अनुमान और अनुमान के बिना प्रत्यक्ष का उदय नहीं होता—यह कहा जा चुका है। अनुमान के बिना प्रत्यक्ष प्रथमतः प्रवर्तक नहीं होता, वैसे ही प्रत्यक्ष के बिना अनुमान—यह सिद्ध किया जा चुका है ॥२४४॥ विशेषता इतनी ही है कि कोई कहीं पूर्व और कहीं पश्चात् प्रवृत्त होता है। अनुमान के पश्चात् प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष के पश्चात् अनुमान—ऐसा कोई नियम नहीं ॥२४५॥

प्रत्यक्ष के बिना अनुमान प्रवृत्त होता है किन्तु अनुमान के बिना प्रत्यक्ष नहीं—ऐसा भी कहना नितान्त असत् है, क्योंकि अनुमान के बिना प्रत्यक्ष केवल अपने स्वरूप का ही प्रकाशक होता है, उतने से व्यवहार (प्रवृत्ति) नहीं होता, उसके प्रमाण होने से क्या लाभ? ॥२४६॥ स्वप्रकाशतामात्र से विषयवस्तु प्रस्फीत नहीं होती उसकी

वार्तिकालङ्कारः

तस्मादर्थस्य भेदस्य नाध्यक्षसाधकं विना। अनुमानन्ततस्तस्य प्रमात्वन्नानुमां विना ॥२४८॥

अथापि स्यात्। प्रत्यक्षमनुमानमपेक्षैव भेदेऽर्थे च प्रवर्त्तते। अनुमानन्तु प्रत्यक्षं विनापि। तथा हि धूमादग्न्यनुमानम्प्रत्यक्षमनपेक्षैवोत्तरकालभावि। तत एव तस्यार्थस्य प्राप्तेः। नैतदस्ति। तदाह—

न हि देशविशिष्टत्वम्प्रत्यक्षेण विनेक्ष्यते। अनुमानम्पुनर्देशाविशेषेणाग्निसंविदे ॥२४९॥

कुड्यादिव्यवहितो वह्निर्न प्रतिनियतदेशतया प्रत्येतुं शक्योऽनुमानेन। कुड्यात् परदेशे क्वापि वह्निरिति सामान्येनानुमाने प्रत्यक्षात् प्रतिनियतदेशपरिग्रहः। न चाप्रतिनियतदेशस्य हुतभुजो जन्मप्राप्तिः। मणिप्रभायामपि मणिज्ञानस्य प्रतिनियतदेशापरिग्रह एव दोषः। न च सन्देहविपर्ययोः। प्रतिनियतपदार्थाप्रापकत्वेन विशेषः। अथापि स्यात्। विपर्ययप्रत्ययोऽन्यत्र प्रवर्त्तकत्वादप्रमाणम्। सन्देहस्तु कदाचित् तत्रापि प्रवर्त्तयतीति भवेत् प्रमाणम्। तदसत्।

उभयांशावलम्बी हि संशयो न प्रवर्त्तकः। विपर्यासो विपर्यासात् प्रवर्त्तयति देहिनः ॥२५०॥

संशयो हि विपर्यासादधमः। उभयांशमवलम्बमानो दोलायमानचेतसः। कथम्प्र-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इष्ट-साधनादि का भेदावभास नहीं, विज्ञानाद्वैतमात्र अवशिष्ट रहता है ॥२४७॥ प्रवृत्ति में उपयोगी पदार्थ-भेद का प्रत्यक्ष तब तक साधक नहीं होता जब तक कि अनुमान का साहाय्य प्राप्त नहीं होता ॥२४८॥

शंका—प्रत्यक्ष प्रमाण अपने विषयीभूत निर्विकल्पक पदार्थ में समीहित-साधनता एवं प्राप्ति-योग्यतादि भेद विकल्पों का ज्ञान कराने के लिए अनुमान की अपेक्षा करके ही प्रवृत्त होता है किन्तु अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा के बिना भी अपने विषय में प्रवृत्त हो जाता है, जैसे कि धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा के बिना ही सम्पन्न हो जाता है। उतनेमात्र से प्रवर्तमान व्यक्ति को अग्नि की प्राप्ति हो जाती है।

समाधान—पर्वतादि देश-विशिष्ट अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष की अपेक्षा के बिना नहीं देखा जाता। अनुमान तो देशाविष्ट सामान्य अग्नि का ही ज्ञान कराता है ॥२४९॥ अर्थात् प्रत्यक्षानधिगत कुड्यादि-व्यवहित अग्नि का "इह पर्वतेऽग्निरस्ति"—इस प्रकार से अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान से केवल इतना ही ज्ञान होगा कि कुड्य (दीवार) के उस पार कहीं अग्नि है। देशविशेष-विशिष्ट अग्नि का परिग्रह (ज्ञान) तो प्रत्यक्ष से ही होगा। अव्यवस्थित देश में अग्नि की जन्म-प्राप्ति नहीं हो सकती। मणि-प्रभा में मणि-ज्ञान की विषयीभूत मणि भी ऐसे ही दोष से युक्त है। संशय और विपर्यय दोनों ही प्रतिनियत विषय के अप्रापक हैं, अतः इस अंश को लेकर इन दोनों में कोई अन्तर या विशेषता नहीं।

शंका—विपर्यय ज्ञान (रजतादि ज्ञान) तो अन्यत्र (स्वविषयीभूत रजत से भिन्न शुक्ति में) प्रवर्तक होने से अप्रमाण है किन्तु संशय ज्ञान कदाचित् स्वविषय में भी प्रवर्तक होने से प्रमाण है, अतः दोनों समान क्योंकर होंगे ?

समाधान—स्थाणु और पुरुष—इन दोनों कोटियों का अवलम्बन करने के कारण "स्थाणुर्वा पुरुषो वा ?" इस प्रकार का संशय प्रवर्तक ही नहीं होता किन्तु विपर्यय ज्ञान विपरीत अर्थ में प्रवर्तक होता है ॥२५०॥

शंका—संशय तो विपर्यय से अधम है, क्योंकि स्थाणु और पुरुषरूप दो कोटियों का

वार्तिकालङ्कारः

वर्तकः । ततोऽसौ दोलायमानता प्रत्यक्षादपैति । विपर्यासोऽपि मणिप्रभायाम्मणिज्ञान-लक्षणोऽनुमानात् पश्चाद्भाविन इति नानुमान्तरात् मणिप्रभायां मणिज्ञानस्य विशेषः प्रमाणत्वेन । किन्तु प्रमाणमिति चेत् ।

प्रत्यक्षमेव तन्मानं कथम्भ्रान्तन्तथैव तत् । संवादेन प्रमाणत्वं क्वोपयोगि भ्रमेतरत् ।।२५१।।

"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" (१।१) इति लक्षणसामान्येन तद्भ्रमे सत्यन्यथा वेति क्वेदमुपयोगवत् । ननु भ्रान्तत्वे सति विसंवादोऽपि भवेन्नान्यथा । नैतदपि सत्यम् ।

अभ्रान्तिरविसंवादात् कालदेशनरान्तरे । न भ्रान्तेरविसंवादोऽभ्रान्तेरेवाप्रसिद्धितः ।।२५२।।

इदम्भ्रान्तमिदमन्यथेति नाविसंवादनमन्तरेण । अथाबाधितत्वादभ्रान्तिरिति चेत्, न, अविसंवादस्यैव तथाभिधानात् । विसंवादे हि सति सर्वो विभ्रम एव । अबाधितत्वेऽपि सैव बाधेति चेत्, अविसंवाद एव तर्हि तस्याबाधितत्वमित्यविसंवादा-देवाभ्रान्तिरिति सिद्धम् । अविसंवादेऽपि भ्रान्तिरेवानुमानमित्यपि न मीमांसकस्य मतम् । लोकायतस्यापि न मतम् । भ्रान्तेस्सर्वस्याप्रमाणत्वेनोपगमात् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अवलम्बन कर दोलायमान (अनिश्चयात्मक अवस्था में) झूलता रहता है । वह किसी एक विषय में प्रवर्तक क्योंकर होगा ? वह दोलायमानता प्रत्यक्ष से दूर होती है। किन्तु मणि-प्रभा में मणि-ज्ञानात्मक विपर्यय भी प्रत्यक्षोत्तरभावी अनुमान प्रमाण से कम नहीं, अपितु उसी के समान प्रमाण है ।

समाधान—कथित विपर्यय प्रत्यक्ष होने पर भी प्रमाण नहीं, भ्रान्त है। भ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के समान प्रमाण क्योंकर होगा ? भ्रम से भिन्न ज्ञान में रहनेवाले प्रमाणत्व का उपयोगी भ्रमगत संवाद क्योंकर होगा ? ।। २५१ ।। इस ग्रन्थ के प्रथम पद्य में वार्तिककार ने जो "प्रमाणविसंवादी" कहा है, वह भ्रम-प्रमा-साधारण प्रमाण का लक्षण किया है, अर्थात् अनुमान के समान व्यावहारिक प्रमाण में भी रह जानेवाला लक्षण किया गया है । वह भ्रम में ही रह जाता है, अतः पारमार्थिक प्रमाणता में उपयोगी कैसे होगा ?

शंका—मणि-प्रभा में मणि-बुद्धि यदि भ्रान्ति है, तब उसमें विषय-विसंवाद भी होना चाहिए, क्योंकि शुक्ति-रजत-बुद्धि में अविसंवाद नहीं विषय-व्यभिचार ही देखा जाता है ।

समाधान—मणि-प्रभा में मणि-बुद्धि अविसंवादिनी होने से यदि अभ्रान्ति मानी जाती है, तब अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि अविसंवाद से अभ्रान्तित्व और अभ्रान्तित्व से अविसंवादित्व सिद्ध होगा, क्योंकि अविसंवादन से पहले अभ्रान्ति ही प्रसिद्ध नहीं ।।२५२।। अर्थात् "इदं भ्रान्तम्", "इदमभ्रान्तम्"—ऐसा भेद-बोध विसंवाद और अविसंवाद के बिना नहीं हो सकता । यदि अभ्रान्तित्व का निमित्त अविसंवाद को न मानकर अबाधितत्व को माना जाता है, तब भी शब्दान्तर से अविसंवादित्व का ही अभिधान किया जाता है क्योंकि विसंवाद होने पर सभी ज्ञान भ्रम (बाधित) ही हो जाता है । फलतः अबाधितत्व को अभ्रान्तित्व का प्रयोजक मानने पर भी वही अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। इस प्रकार अविसंवाद ही अबाधितत्व और अविसंवाद से ही अभ्रान्तित्व पर्यवसित होता है । अविसंवाद होने पर भी भ्रान्तित्व का अनुमान करना भी मीमांसक-सिद्धान्त नहीं । लोकायत (चार्वाक) भी ऐसा नहीं

वार्तिकालङ्कारः

यदि तर्हि भ्रान्तमपि प्रत्यक्षमप्रमाणं को विशेषः प्रत्यक्षानुमानयोः। प्रतिभासभेदादिति वक्ष्यते। भ्रान्तत्वेऽपि प्रतिभासभेदोऽनुमानाभासतैमिरिकज्ञानयोरिव।

अभ्रान्तमेव सकलं ज्ञानं मानं न विभ्रमः। विभ्रमाविभ्रमत्वस्य विशेषः क इवेक्ष्यते ॥२५३॥

विभ्रमो हि स्वरूपासंस्पर्श एव। स च प्रमाणस्य सकलस्य समानः। यथैवानुमानस्य प्राप्यरूपासंस्पर्शस्तथा प्रत्यक्षस्यापीति विशेषः। तस्मान्मणिप्रभायामपि मणिज्ञानम्प्रत्यक्षमेव। भाविनि विषये प्राप्यनुमानं प्रमाणमिति चेत्, इतरत्रापि प्रत्यक्षे समानमेतत्। तत्र नास्ति प्रमाणान्तरत्वाभिमानो मणिज्ञाने त्वस्त्येवेति चेत्, नात्यन्ताभ्यासतो मणिज्ञानेऽपि नास्ति प्रमाणान्तरत्वाभिमान इति समानम्। ननु भ्रान्त्यभिमानः प्रभामणिज्ञाने न तु स्तम्भादिज्ञाने। अत्रोच्यते—

परमार्थसमानत्वेऽभिमानादप्रमाणकात्। विशेषस्य न सत्यत्वम्प्रमाणद्वयमेव तत् ॥२५४॥

सर्वत्र प्रत्यक्षानुमाने च प्रमाणान्तरमस्त्यभिमानस्तु नास्तीति नैतावता वस्तुभेदः। अप्रमाणकाभिमानस्य यथा कथञ्चिद् भाव इति न तत्सदसत्तयोर्विशेषः। तस्मात्—

प्रत्यक्षमेव तज्ज्ञानमनुमानमथापि वा। मणिप्रभामणिज्ञानमिति तत्त्वविनिश्चयः ॥२५५॥

अथ मणिस्वरूपस्याग्रहणात् कथम्प्रत्यक्षता। स्तम्भादौ तु यदि नाम भाविस्वरूपा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मानता, क्योंकि भ्रान्ति ज्ञान को सभी अप्रमाण मानते हैं।

प्रश्न—यदि भ्रान्त प्रत्यक्ष भी प्रमाण है, तब प्रत्यक्ष और अनुमान में क्या भेद ?

उत्तर—प्रतिभास के भेद होने से दोनों का भेद है—ऐसा आगे चलकर कहा जायगा। अनुमानाभास और तैमिरिक-ज्ञान दोनों ज्ञान भ्रमात्मक हैं, फिर भी उनके प्रतिभास का जैसे भेद है, वैसे ही प्रकृत में भी। सभी अभ्रान्त ज्ञान प्रमाण होते हैं, विभ्रम प्रमाण नहीं होता। इससे अतिरिक्त विभ्रम अविभ्रम में क्या भेद ? ॥२५३॥ आशय यह है कि विभ्रम ज्ञान जैसे अपने स्वरूप (विषय) का स्पर्श नहीं करता, वैसे ही प्रत्यक्ष और अनुमान भी अपने प्राप्य विषय का ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार मणि-प्रभा में मणिज्ञान प्रत्यक्ष ही सिद्ध होता है। भावी विषय (प्राप्य) को लेकर यदि अनुमान प्रमाण है, तब प्रत्यक्ष भी वैसा ही है। प्रत्यक्षादि में अप्रमाणता का अभिमान नहीं, किन्तु कथित मणि-ज्ञान अप्रमाणत्व का आभास होता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त मणि-ज्ञान-स्थल पर मणि-प्राप्ति का अभ्यास हो जाने पर मणि-ज्ञान में अप्रमात्व का आभास नहीं होता।

प्रश्न—स्तम्भादि विषयों के प्रत्यक्ष में भ्रान्तित्व का अभिमान नहीं होता किन्तु मणिप्रभा-मणिज्ञान में होता है—ऐसा क्यों ?

उत्तर—परमार्थतः दोनों में जब समानता है, तब अप्रामाणिक अभिमान के आधार पर भेद की सत्यता नहीं मानी जा सकती, फलतः दोनों ज्ञान प्रमाण हैं ॥२५४॥ प्रत्यक्ष और अनुमान में सर्वत्र प्रमाणान्तरत्व का अभिमान नहीं, इतने मात्र से क्या वस्तु-भेद नहीं ? अप्रामाणिक अभिमान का भाव कथञ्चित् हो गया तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, फलतः मणि-प्रभा में मणि-ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष है या अनुमान, वह तत्त्व-निश्चयात्मक ही है ॥२५५॥

प्रश्न—जब कि वहाँ मणि-स्वरूप का ग्रहण नहीं, तब उसको प्रत्यक्ष क्योंकर कहा जा सकता है ? स्तम्भादि प्रतीतियों में यदि भावी (प्राप्य मणि) विषय को लेकर

बुद्धिर्यत्रार्थसामर्थ्यादन्वयव्यतिरेकिणी ।
तस्य स्वतन्त्रं ग्रहणमतोऽन्यद्वस्त्वतीन्द्रियम् ॥ ५६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ग्रहणन्तत्स्वरूपग्रहणन्तु तत्कालभावि विद्यत एव । तदसत् । तथा हि—

भावि रूपाग्रहेऽन्यस्य ज्ञानज्ञेयस्य तद्ग्रहः । समान एवोभयथा प्राप्तिस्तु प्रतिबन्धतः ॥२५६॥

प्राप्यरूपस्य भेदग्रहः । तदपरस्य स्वरूपस्य वा भवतु परिग्रहः पररूपस्य वेति न विशेषः । मणिप्रतिभासस्तु मणौ मणिप्रभायाञ्च समान एव । तत्र क्वचित् देशभ्रान्तिः क्वचित् स्वरूपभ्रान्तिः क्वचिदुभयं क्वचिदनुभयम् । मणिप्रभायां मणिज्ञानस्य देशभ्रान्तिर्मणावेव प्राप्यस्वरूपभ्रान्तिः । सामान्यानुमानस्योभयभ्रान्तिः । स्वसंवेदनस्य नोभयथापीति प्रकारः ।

ततो यदुक्तम्—"या गतिः साम्यरूपेणैव यथा प्रत्यक्षा गतिः । यत्प्रमाणन्तदभ्रान्तं यथा प्रत्यक्षम्" । तदयुक्तम् । प्रत्यक्षापि गतिर्न स्वरूपेण । न चाभ्रान्तम्प्रत्यक्षमस्ति । स्वरूपे च यथा प्रत्यक्षभ्रान्तम् । तथानुमानमप्यन्ये च भ्रान्ताभिमताः प्रत्यया इति न तथा भ्रान्तताप्रतिपादनं क्वचिदुपयोगि । एवन्तर्हि कथम्प्रत्यक्षानुमानयोर्लक्षणभेदः उक्तमत्र -स्पष्टेतरप्रतिभासभेदादिति । स एव प्रतिभास भेदस्तथा कुतो भवति । यस्य स्वतन्त्रं ग्रहणन्तस्य स्पष्टप्रतिभासता । यस्यान्यथा तदस्पष्टप्रतिभासमतीन्द्रियं परोक्षम् । एतदेव कथम्भवति येनैवमुच्यते—बुद्धिर्यत्रार्थसामर्थ्यादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वरूप-ग्रहण माना जाता है, तब प्रकृत से भी क्यों नहीं ?

उत्तर—मणि-प्रभागत मणि-ज्ञान और मणि-प्रत्यक्ष—इन दोनों स्थलों पर भावी (प्राप्य) विषय का अग्रहण समान है, तब अन्य आरोपित विशेषता से भेद नहीं प्रसक्त होता ।।२५६।। अर्थात् भावी प्राप्य स्वरूप का भेद-ग्रह स्फुट है । उससे भिन्न स्वरूप का ग्रहण होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । मणि का प्रतिभास तो मणि-प्रभा और साक्षात् मणि—दोनों में समान है । हाँ, (१) कहीं देश की भ्रान्ति, (२) कहीं स्वरूप की भ्रान्ति, (३) कहीं उभय-भ्रान्ति और (४) कहीं अनुभय है । (१) मणि-प्रभागत मणि-ज्ञान में देश-भ्रान्ति, (२) साक्षात् मणि में प्राप्य स्वरूप की भ्रान्ति, (३) सामान्यानुमान-स्थल पर उभय-भ्रान्ति और (४) स्वसंवेदन में दोनों नहीं—इतनी विशेषताएँ अवश्य हैं ।

इस प्रकार यह जो कहा गया है—"या गतिः साम्यरूपेणैव यथा प्रत्यक्षगतिः । यत्प्रमाणं तदभ्रान्तं यथा प्रत्यक्षम् ।" वह अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान भी स्वरूपग्रहणात्मक नहीं और प्रत्यक्ष ज्ञान भी अभ्रान्त नहीं । जैसे प्रत्यक्ष अपने प्राप्य विषयांश में भ्रमात्मक है, वैसे ही अनुमान भी भ्रान्त है, किन्तु उनकी भ्रान्तता का उपपादन कहीं उपयोगी नहीं । यदि भ्रान्तरूपेण प्रत्यक्ष और अनुमान समान हैं, तब उनका लक्षण-भेद कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है—स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास को लेकर प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद है । वह स्पष्टास्पष्ट-प्रतिभासता क्यों होती हैं ? इसका उत्तर यह है कि जिसका स्वतन्त्र (अन्यप्रमाण-निरपेक्ष) ग्रहण होता है, उसमें स्पष्ट प्रतिभासता होती है और जिस (अनुमान) की प्रतिभासता प्रत्यक्ष-सापेक्ष है, उसमें अस्पष्ट प्रतिभासता रहती है ।

इसकी उपपत्ति की गई है—बुद्धिर्यत्रेत्यादि से । अर्थात् जिस प्रमाण का विषय

जिस पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखती हुई बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि के साक्षात् जनक उस पदार्थ को स्वलक्षण कहते हैं, उस पदार्थ का साक्षात् (स्वरूपतः) ग्रहण होता है। उससे भिन्न सामान्यलक्षण अतीन्द्रिय होता है ॥ ५६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यस्य हि साक्षात् प्रतिभासनं स एवार्थोऽनतीन्द्रियः स्वलक्षणम्। साक्षात्प्रतिभासश्च बुद्धेरन्वयव्यतिरेकानुविधानेन तदाकाराया जननात्। यत्तु पूर्वदर्शनजनितवासनाप्रबोधतोऽवभासविषयः पूर्वप्रतिपन्नरूपाकारतया निश्चीयते तदतोऽन्यदतीन्द्रियम्। न हि तदेन्द्रियव्यापारः। तत्सम्भवी वा साक्षात्करणाकारः साक्षात् प्रतीयते। न च तदाकारव्यतिरेकेणापरा तस्य प्रतीतिः। तत् साक्षादेव यस्य च न साक्षात् तस्य नैव प्रतीतिः। अथाक्रमसङ्गत्यभावात् परोक्षम्। स्वरूपेण तर्हि प्रतीयमानमेव परोक्षमक्षव्यापाराभावादिति प्राप्तम्। तदेतदनभिमतम्।

तस्मात् परोक्षविषयः प्रत्ययो यद्यवस्तुदृक्। प्रतीतस्यापरोक्षत्वात् परोक्षो विषयः कथम् ॥२५७॥

यदि प्रतीयते न परोक्षः। न च वस्त्वसंस्पर्शने वस्तुविषयता। सामान्यविषयतायान्तर्हि कथम्परोक्षविषयता सामान्यन्तत्र साक्षात्कृतमेव वस्तु तु पुनर्न संस्पृष्टमिति कथम्परोक्षविषयता सामान्यज्ञानस्य। लक्षितलक्षणेन प्रतिपन्नमिति चेत्, केन रूपेण

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

साक्षात् इन्द्रिय-सम्बन्ध से प्रतिभासित होता है, वह स्वलक्षण-ज्ञान अनतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष) है, क्योंकि विषय के साथ अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा बुद्धि की नराकारता उत्पन्न होती है। जो ज्ञान महानसादि में धूमाग्नि-सहचार-दर्शन के बल पर उत्पन्न होता है, ऐसा अग्नि आदि पदार्थ परोक्ष या अतीन्द्रिय होता है। वहाँ इन्द्रिय-व्यापार नहीं होता। जहाँ इन्द्रिय-व्यापार सम्भव है, वहाँ विषयाकारता परिस्फुट होती है। विषयाकारता को छोड़कर और कोई विषय-प्रतीति नहीं।

इस प्रकार तो स्वरूपेण प्रतीयमान भी परोक्ष प्रसक्त होता है, क्योंकि इन्द्रिय-व्यापार का अभाव है किन्तु उसका परोक्ष होना अभिमत नहीं, क्योंकि परोक्ष-विषयक प्रत्यक्ष यदि अवस्तुक है, तब वह परोक्ष कैसे ? क्योंकि प्रतीत पदार्थ अपरोक्ष माना जाता है, परोक्ष विषय कैसे ? ॥२५७॥ अर्थात् यदि कोई विषय प्रतीत होता है, तब परोक्ष नहीं, क्योंकि विषयवस्तु का संस्पर्श (सम्बन्ध) न होने पर वस्तु-विषयता सम्भव नहीं।

यदि विषयता विषय-सन्निकर्ष के बिना नहीं होती और सन्निकृष्टविषयक ज्ञान अपरोक्ष होता है, तब धूम-ज्ञान से जन्य वह्निसामान्य-ज्ञान में परोक्षता कैसे मानी जाती है ? वह्नित्वरूप सामान्य का तो महानसादि में साक्षात्कार हो चुका है। सामान्य वस्तु नहीं, कल्पनामात्र है और स्वलक्षण वस्तु संस्पृष्ट नहीं। यहाँ सामान्यज्ञान परोक्षविषयक माना जाता है। वह कैसे संगत होगा ? यदि कहा जाय कि लक्षितलक्षणा के द्वारा सम्पन्न होगा [अर्थात् सामान्यार्थक 'अग्नि' शब्द में सामान्य अर्थ की लक्षणा और सामान्यार्थक शब्द की विशेष (स्वलक्षण) में लक्षणा करके स्वलक्षणविषयक ज्ञान में परोक्षता का उपपादन होगा]। तब जिज्ञासा होती है कि स्वलक्षणरूप विशेष अर्थ किस रूप से लक्षित होगा ? विशेष (स्वलक्षणत्वेन) रूप से लक्षणा मानने पर अग्नि आदि शब्द की ही विशेष अर्थ में लक्षणा कर

तस्यादृष्टात्मरूपस्य गतेरन्योऽर्थ आश्रयः ।
तदाश्रयेण सम्बन्धी यदि स्याद् गमकस्तदा ॥ ६० ॥

उस अदृष्टस्वरूपक (सामान्यलक्षण) पदार्थ की गति (ज्ञान या बुद्धि) का आश्रय (जनक) वह (हेतुपदार्थ) होता है, जो उस (सामान्यलक्षण) का सम्बन्धी (व्याप्य) एवं उसके आश्रयीभूत (पक्ष) पदार्थ का सम्बन्धी (पक्षवृत्ति) हो ॥ ६० ॥

वार्तिकालङ्कारः

विशेषस्य लक्षणम् । यदि विशेषेण शब्दादेरेव तस्य प्रतीतिरस्तु किमन्तर्गडुना सामान्येन । सामान्यरूपेण लक्षणेऽनवस्थेत्युक्तम् । विशेषरूपेण च लक्षणे इन्द्रियवैफल्यम् ।

अथ सामान्यमेव प्रतिभाति । विशेषः परोक्षोऽप्रतिभासनात् । अत्रापि स्वाकार एव वासनाबलायातः प्रतिभाति साक्षात् । अर्थस्तु परोक्ष इति कथन्तद्विषयता । तत्र प्रवर्त्तनात् । अप्रतिपन्ने कथम्प्रवर्त्तनम् । अप्रतिपन्न एव सर्वत्र प्रवर्त्तनमिति प्रतिपादितम् । अप्रतिपन्नेऽपि हि देवदत्तरूपे यज्ञदत्तस्य समानस्य दर्शनात् । प्रवृत्तिदर्शनात्तत्र संवाद इति चेत् , न, अविसंवादकारणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । सम्बन्धादविसंवाद इति । यदि भ्रान्तिरसौ वासनाबलाद् वासनायामेव तर्हि प्रतिपन्न इति कथमर्थस्याध्यवसायः प्राप्तिर्वा । न वासनाप्रबोधस्यापि कारणत्वात् । तत्सम्बन्धेनार्थस्येति न दोषः । तदेवाह—तस्यादृष्टात्मरूपस्येति ।

अदृष्टस्वरूपो ह्यर्थोऽन्यतः सम्बन्धात् प्रतीयते । अन्य मात्रात् प्रतीतावति-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लेने से ही विशेष अर्थ की उपस्थिति हो जाती है, सामान्य की तद्वाचक शब्द में लक्षणा की क्या आवश्यकता ? यदि विशेषरूपेण लक्षणा न करके सामान्यरूपेण ही लक्षणा की जाती है, तब सामान्य परम्परा के अनुसरण में अनवस्था प्रसक्त होती है । विशेषरूपेण लक्षणा के द्वारा स्वलक्षणरूप विशेष की यदि प्रतीति हो जाती है, तब उसके लिए इन्द्रिय का वैफल्य भी आ जाता है ।

अनुमानादि स्थल पर सामान्य का ही प्रतिभान होता है और विशेष का प्रतिभान न होने के कारण वह परोक्ष है । इस ज्ञान में भी वासना के बल पर प्रतिभासित स्वकीय आकार ही साक्षात् प्रतिभासित होता है । अर्थ तो परोक्ष है, अतः उसमें ज्ञान की विषयता कैसे होगी ? उस विषय में प्रवृत्ति की उपपत्ति करने के लिए विषयता माननी होगी, क्योंकि अज्ञात अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा चुका है कि सर्वत्र प्राप्यार्थ का ज्ञान न रहने पर ही प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे कि देवदत्त के स्वलक्षण का ज्ञान न होने पर भी तत्समान सन्तान यज्ञदत्तादि को देखकर प्रवृत्ति होती है । वहाँ प्रवृत्ति में संवाद भी होना चाहिए—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विसंवाद कारण कहा जायगा—"सम्बन्धादसंवादः" । यदि वह भ्रान्ति है, तब वासना के द्वारा कल्पित पदार्थ ही प्रतिपन्न ज्ञान होता है, उससे विषयवस्तु का अध्यवसाय क्योंकर होगा ? अथवा प्राप्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर है—'वासनाप्रबोधकस्यापि हेतुत्वात् ।' अर्थात् पूर्वतन वासना का प्रबोध प्राप्य विषय के सन्निधान से होता है, फलतः पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है । यही कहा गया है—"तस्येत्यादि" से । अर्थात् स्वरूपतः अदृष्ट पदार्थ भी अन्य-सम्बन्ध से प्रतीत होने के कारण परोक्ष है । अन्यमात्र की प्रतीति मानने पर अतिप्रसङ्ग (विपर्ययरूपत्व) होता है । विषय की

वार्तिकालङ्कारः

प्रसङ्गः। स्वयम्प्रतीतौ सर्व एव सर्वदर्शी स्याद् विशेषाभावात्। तेनाश्रयेण च सोऽन्यो यदि सम्बन्धी तदा गमकः। कथमेतत्। एकमेव दृष्टेः। ननु स्मरणमेव तत्र सम्बद्धाद् भवति। तच्च सम्बन्धादेरपीति स एवातिप्रसङ्गः। नाभोगादिजनितायाः स्मृतेरन्यथाभावात्।

आदेशादिव्यवस्थस्य तस्या भोगादितः स्मृतिः। देशकालविशिष्टस्य तदाश्रयसमागमात् ॥ २५८ ॥

धर्मिसाध्यसम्बद्धपदार्थदर्शनाद्धि देशकालनियतः शक्यप्रापणोऽर्थः प्रतीयते नाभोगादितः। तथा हि—आभोगः किम्मया दृष्टः किमित्यन्वेषणपरो मानसो व्यापारः। तत्र सति तथाभूतदेशकाल एव वस्तुनि स्मरणन्नाधिकव्यापारन्तेनाप्रमाणन्तत्। सदृशग्रहणाद् अनेन सदृशोऽसावित्येतावन्मात्रिका प्रतीतिः। सदृशत्वन्तु न देशकालविशिष्टस्य। सर्वदा सदृशत्वात्। अनेकस्य च सादृश्यमितरद्वेति न प्रतिनियतगतिरिति न तत्प्रमाणम्। तेन तु तत्सदृशेन यत् कर्त्तव्यन्तत् क्रियत इति प्रमाणमेव तत्र प्रत्यक्षम्। अन्यथा तु प्रत्यक्षाद् प्रवर्त्तनमेवेति न प्रमाणमिति प्रतिपादितमेवेति न पुनरुच्यते। एवमेव च सम्बन्धादपि प्रतीतिरनुमानात्मिका प्रमाणम्। तथा हि—

लिङ्गमलक्षणत्वेन कार्यादि गमकम्मतम्। तल्लक्षणत्वादपरन्न लिङ्गस्यास्ति लक्षणम् ॥ २५९ ॥

तदेतद् वृक्षार्थक्रियाकारि शिंशपात्वं धूमादिकश्चाग्न्यादिजनितकार्यत्वेन कारणत्वेन वा सादृश्यावगतिस्तत्रापि। तदेतत्सत्त्वमनित्यरूपम्पूर्वापररूपरहितत्वेन नान्य-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वतः प्रतीति मानने पर सभी व्यक्ति सर्वदर्शी हो जायेंगे, अतः अन्य (धूमादि) पदार्थ यदि विषयवस्तु का सम्बन्धी है, तब वह उसका गमक हो जायगा। यह कैसे ? ऐसा ही लोक में देखा जाता है।

शंका—अन्य के सम्बन्ध से जो अन्य का ज्ञान होता है, वह स्मरण कहलाता है, वह सम्बन्धादि का भी बोधक होता है, अतः पूर्ववत् अतिप्रसङ्ग क्यों नहीं ?

समाधान—आभोग (प्रतिबिम्ब) आदि के दर्शन से जनित स्मृति अन्यथा भी देखी जाती है अर्थात् अदर्शादिमसृण पदार्थों में परिदृश्यमान आभोगादि से जनित देशकालादि-विशिष्ट स्मरण अन्यथा होता है ॥२५८॥

अर्थात् धर्मिसाध्य—सम्बद्ध पदार्थ के दर्शन से जनित स्मृति प्रापण-योग्य पदार्थ-विषयिणी होती है, आभोगादि से नहीं। इसका कारण यह है कि आभोग नाम उस मानस वृत्ति या आकार का है, जो 'सदृशोऽयम्'—इस प्रकार का विकल्पमात्र है। सदृशता तो देशकालादि विशेष-विशिष्ट स्वलक्षण की नहीं होती। सादृश्य अनेक पदार्थों का है—ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता, हाँ, आभोग कोई अनधिगत पदार्थ नहीं, प्राप्त वस्तु की छायामात्र है, अतः वह प्रमाण नहीं। इसके विपरीत प्रत्यक्ष के द्वारा सादृश्यमूलक कर्त्तव्य का सम्पादन किया जाता है, अतः वह प्रमाण है। अन्यथा प्रत्यक्ष के द्वारा प्रवृत्ति का निष्पादन ही सम्भव नहीं होता। यह सब-कुछ कहा जा चुका है, अतः पुनः नहीं कहा जाता। इसी प्रकार व्याप्तिरूप सम्बन्ध से जनित अनुमानात्मक प्रतीति भी प्रमाणरूप है। अर्थात् कार्यादि (धूमादिरूप) लिङ्ग भी वस्तु का गमक माना जाता है ॥२५९॥

'अयं वृक्षः शिंशपात्वात्'—यहाँ शिंशपात्वरूप स्वभावहेतु और "अयमग्निमान् धूमात्"—यहाँ धूम कार्यहेतु है। "अयं गवयपदवाच्यः, गोसदृशत्वात्"—यहाँ

गमकानुगसामान्यरूपेणैव तदा गतिः ।
तस्मात् सर्वः परोक्षोऽर्थो विशेषेण न गम्यते ॥ ६१ ॥

धूमादिरूप गमक हेतु के अनुगामी (व्यापकीभूत अग्न्यादि) पदार्थों का ज्ञान सामान्यरूपेण ही होता विशेषकारेण नहीं, अतः वह परोक्ष ही होता है ॥ ६१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

दन्यस्याप्यानित्यत्वस्य रूपमिति सर्वानुमानप्रतीतिरेवम्भूते च सन्निहितकारणञ्च धूमस्य रूपं विशेषेण केनचिदुपलक्षितस्यासन्निहितकारणञ्च भस्मादेरिति द्वयमपि यथायोगं गमकम् । तथा हि—

यो यथा दृश्यते भाव एकदा स तथान्यदा। प्रबोधकः स्मृतेरेव यथायोगम्प्रवर्तकः ॥ २६० ॥
अन्यथा पूर्वदृष्टस्य चलिता स्याद् यदा स्मृतिः। प्रवर्त्तनम्भवेत्तत्र न तु संवादसङ्गतिः ॥ २६१ ॥
प्रत्यक्षमविसंवादि स्मरणन्तु तदाश्रयात्। तथैवाहं स्मरामीति स्मृतेस्स्याद् यदि सा प्रमा ॥ २६२ ॥
दर्शने व्यभिचारेण तथात्वेऽपि न चेत् प्रमा । दर्शने व्यभिचारोऽपि स स्मृतेरन्यथात्वतः ॥ २६३ ॥
तथा हि दर्शनमनालम्बे स्मरणमन्यथा। सालम्बनत्वेन यतः तथा तन्न प्रमा भवेत् ॥ २६४ ॥

स्मरणे नान्यथानुगम्यमानन्दर्शनप्रमाणमिति दर्शनस्य स्वतो दोषोऽपि तु स्मरणस्य । तदपि हि स्मरणं सादृश्यादन्यथोपजायते । स्मरणपाटवाद् भावादेव ।

तस्मात् कार्यस्वभावाभ्यां स्मरणं जायतेऽर्थभाक् । उपलक्षिताभ्यान्तत्त्वेन स्यात् स्मृतेर्विभ्रमोऽन्यथा ॥२६५॥

तस्माद् स्मृतिविभ्रमकृत एव सर्वथा विसंवादः । तस्मात् परोक्षविषयं स्मरणमेव सम्बद्धाद् यथादृष्टस्य प्रमाणम् । तच्चानुमानमेव नान्यत्। अत एवाह—गमकानुगसामान्येति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सादृश्य हेतु है । ऐसे स्थलों पर अग्न्यादि अन्य पदार्थों का धूमादिरूप अन्य पदार्थों के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह अनुमानात्मक परोक्ष ज्ञान ही है। इसी प्रकार भस्मादि को देखकर अतीत अग्नि का अनुमान भी। जो धूमादि पदार्थ अग्नि की सन्निधि में कभी देखा जाता है, वह अन्य काल में अग्न्यादि का स्मारक भी होता है, स्मृतिज्ञान भी परोक्ष है । तथापि अपने विषय में प्रवर्तक होता है ॥२६०॥ जहाँ पूर्व दृष्ट रजत का शुक्ति-दर्शन-जनित विचलित स्मरण होता है, वहाँ प्रवृत्ति में संवाद (साफल्य) नहीं होता ॥२६१॥ जहाँ प्रत्यक्ष रजत को देखकर रजतस्मरण होता है, वहाँ अर्थाविसंवाद होने के कारण प्रमात्व ही माना जाता है ॥२६२॥ जहाँ अव्यभिचारपूर्वक सहचार-दर्शन होने पर भी प्रमात्व नहीं देखा जाता, वहाँ सहचार-दर्शन अन्यथा (भ्रमात्मक) ही होता है ॥२६३॥ जहाँ सहचार-दर्शन अनालम्ब (निर्विषयक) और सहचार-स्मरण अन्यथा ही हो जाता है, वहाँ अनुमान ज्ञान प्रमा नहीं होता ॥२६४॥ जहाँ 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः'—ऐसा सहचार-दर्शन स्मरण में अन्यथा हो जाता है, वहाँ दर्शन में स्वतः दोष न होकर स्मरण का ही दोष माना जाता है। वह स्मरण सादृश्य के कारण अन्यथा हो जाता है, स्मरण की पटुता (निर्दोषता) से वह दोष नहीं होता। निष्कर्ष यह निकला कि कार्यहेतु और स्वभावहेतु के द्वारा जो सहचरित-स्मरण अर्थाव्यभिचारी है, वह प्रमाण है और अन्य विभ्रम है ॥२६५॥ विसंवाद सदैव विभ्रम के कारण ही होता है । अतः सम्बन्धी-दर्शन-जनित स्मरण ज्ञान जो प्रमाण होता है, वह अनुमान ही है, अतएव वार्तिककार ने कहा है—"गमकानुमानेत्यादि" ।

या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिर्धर्मिणि जायते।
साऽनुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम् ॥ ६२ ॥

जो अग्न्यादि के सम्बन्धी (पक्ष) के धर्मभूत धूमादि के द्वारा पर्वतादि धर्मी में वह्न्यादि का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं, जो कि नियमतः परोक्ष अर्थ का ही गमक होता है ॥ ६२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

गमकपरतन्त्रा हि गम्यस्य प्रतीतिस्तच्च गमकं सामान्यरूपेण न विशेषेण। तस्य लक्षयितुमशक्यत्वात्। अलक्षितेनापि रूपेण गमकत्वे सर्वाकारसर्वकारणपरम्परा-प्रतीतिप्रसङ्गः। तच्च धूमादिसामान्यं सर्वत्राग्न्यादौ दृष्टम्। ततोऽनैकान्तिकत्वान्न ततो विशेषस्य प्रतीतिः। विशेषोपलक्षणे प्रतीतिरिति चेत्, न, अवान्तरविशेषस्य लक्षयितु-मशक्यत्वात्।

ननु विशेषोपलक्षणमपि कस्यचित् सम्भवत्येव, न, अत्यन्तं विशेषस्याशक्यत्वात्। विशेषोपलक्षणन्तु तत्रापेक्षाकृतम्। या च यावती च मात्रेति। यस्य तु सर्वाकारप्रतीति-स्तस्य साक्षात्करणात्। अव्यक्तमेव तदिति प्रतीमः। विशेषदृष्टेर्विशेषप्रतीतिरिति चेत्, न, तत्रापि सामान्यस्यैव गतिरिति प्रतिपादयिष्यते। एतदेवाह—या च सम्बन्धिनो धर्मादिति।

अन्यलक्षणाभावादनुमानलक्षणसम्भवाच्च नानुमानादपरम्परोक्षविषयम्प्रमाण-मस्ति। ननु प्रमाणान्तरविषयम्प्रमाणान्तरमिति न द्वे एव प्रमाणे। अत्र परिहारः—न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

गमक के अधीन ही गम्य की प्रतीति होती है, वह गमक प्रकृत में सामान्यरूपेण गमक है, विशेषरूपेण नहीं, क्योंकि विशेषरूपेण व्याप्ति न होने के कारण विशेष का अधिगम नहीं किया जा सकता। फिर भी अलक्षितरूप से किसी पदार्थ का गमक मानने पर सर्वाकार समस्त कारण-परम्परा की प्रतीति प्रसक्त होगी, क्योंकि धूम-सामान्य तो सर्वत्र अग्न्यादि में देखा जाता है। अतः अनैकान्तिक होने के कारण सामान्य से विशेषार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। सामान्योपलक्षित विशेष अर्थ की भी प्रतीति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अवान्तर विशेषता को लक्षित नहीं किया जा सकता।

विशेष गमक (तार्णादि धूम) के द्वारा विशेष (तार्ण) अग्नि का अनुमान होता है, तब साध्य की विशेषावगति क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि साध्यगत कतिपय विशेषताएँ ही विशेष हेतु के द्वारा अवगत हो सकती हैं, पूर्ण विशेषताएँ नहीं। जिस देश में जिस प्रकार की जितनी अग्नि है, उस देश को सर्वाकार अग्नि का स्फीतावभास तो प्रत्यक्ष से ही होता है, अनुमान से नहीं। सामान्यता तो धूम से अग्नि का ज्ञान अव्यक्त (अविशद) ही होता देखा जाता है। विशेष वृष्टि से नदी का विशेष प्रवाह क्या नहीं देखा जाता? अवश्य देखा जाता है, तथापि सापेक्ष और सीमित विशेषताएँ ही अवगत हो पाती हैं, समस्त नहीं—यह आगे कहा जायगा—यहाँ भी कहा जाता है—"या चेत्यादि"।

परोक्ष ज्ञानों में अनुमान को छोड़कर अन्य किसी प्रमाण का लक्षण सम्भव नहीं, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण व्यवस्थित होते हैं। प्रमाणविषयक प्रमाण

न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः ।
तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥ ६३ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष द्विविध प्रमेयों को छोड़कर कोई तीसरा प्रमेय नहीं होता, अतः द्विविध प्रमेय के लिए द्विविध प्रमाण माना जाता है ॥ ६३ ॥

त्र्येकसंख्यानिरासो वा प्रमेयद्वयदर्शनात् ।
एकमेवाप्रमेयत्वादसतश्चेन्मतं च न ॥ ६४ ॥

प्रमेय के द्विविध भेद से प्रमाण भी दो ही होते हैं, न एक और न तीन ॥६४॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामिति ।

ननु प्रमाणद्वित्वेन प्रमेयद्वित्वमिति युक्तम् । प्रमाणस्य सत्तासाधनत्वात् । नैतदस्ति । प्रमेयम्प्रमाणेन सिध्यति प्रमाणस्वरूपन्तु स्वसंवेदनाकारसिद्धेः ज्ञानकार एव च स्वसंवेदनः स्वसामान्यतयोपलभ्यमानः प्रत्यक्षानुमानविषय इत्युक्तम् । विषयद्वैविध्यादाकारद्वैविध्यादित्यर्थः । स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमिति युक्तम् । नापि त्र्यादिकम् । तथा हि—त्र्येकसङ्ख्यानिरास इति ।

प्रमेयद्वयादपरस्य प्रमेयस्यासम्भवात् । अपरप्रमाणन्नास्तीति प्रतिपादितम् । इदानीं द्वितीयस्य प्रमेयस्य सम्भवान्नैकम्प्रमाणन्नापि त्र्यादिकमिति प्रतिपादयिष्यति । न हि द्वितीये प्रमेये सम्भवति प्रमाणमेकम् । द्वितीयप्रमेयविषयस्यापि प्रमाणस्य भावात् । नैकेन प्रमाणेन द्वितीयस्यापि सिद्धिः । अथ सामान्यविशेषरूपमेकमेव प्रमेयम् । अपरस्तु नास्तीति प्रमेयद्वयसिद्धमित्याह—एकमेवाप्रमेयत्वादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तीसरा क्यों नहीं माना जा सकता ? इसका उत्तर दिया जाता है—"न प्रत्ययेत्यादि"।

शंका—प्रमाण-द्वित्व के द्वारा प्रमेय-द्वित्व सिद्ध किया जा सकता है, प्रमेय-द्वित्व के द्वारा प्रमाण-द्वित्व की सिद्धि नहीं, क्योंकि प्रमाण साधक है और प्रमेय साध्य ।

परिहार—प्रमेय-सिद्धि के लिए ही प्रमाण माना जाता है—प्रमाण के लिए प्रमेय नहीं । प्रमाण अङ्ग और प्रमेय अङ्गी, अतः प्रमेय-द्वित्व ही प्रमाण-द्वित्व का साधक है। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से और प्रमाण की सिद्धि स्वसंवेदन से । विषयाकार ही प्रमाण है, वह आकार विषय पर निर्भर है, अतः प्रमेय-द्वित्व से ही प्रमाण-द्वित्व-सिद्धि न्यायोचित है । ज्ञान जब स्वगत दो आकारों का संवेद कर रहा है, तब न प्रमाण एक हो सकता है और न तीन चारादि ।

द्विविध प्रमेय से कोई तीसरा प्रमेय सम्भव नहीं, अतः तीसरा प्रमाण भी आवश्यक नहीं—यह कहा गया । अब यह कहा जा रहा है कि द्वितीय (सामान्य लक्षणरूप) प्रमेय सम्भव है, अतः प्रमाण-संख्या न एक हो सकती है और न तीन चार आदि, क्योंकि द्वितीय प्रमेय के सम्भव होने पर एक ही प्रमाण मानना उचित नहीं, द्वितीय प्रमेयविषयक द्वितीय प्रमाण भी होना चाहिए, केवल प्रथम प्रमाण से ही द्वितीय प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती ।

यदि कहा जाय कि स्वलक्षणात्मक एक ही प्रमेय है, द्वितीय नहीं, अतः द्विविध प्रमेय असिद्ध है, तब के लिए कहा जाता है—"एकमेवेत्यादि" । अर्थात् यह दृष्टचर है कि स्वलक्षण से भिन्न सामान्यलक्षणरूप द्वितीय प्रमेय भी है। स्वलक्षणतत्त्व ही

अनैकान्तोऽप्रमेयत्वेऽसद्भावस्य विनिश्चयः ।
तन्निश्चयप्रमाणं वा द्वितीयम् , नाक्षजा मतिः ॥ ६५ ॥
अभावेऽर्थबलाज्जातेऽर्थशक्त्यनपेक्षणे ।
व्यवधानादिभावेऽपि जायेतेन्द्रियजा मतिः ॥ ६६ ॥

जब कि स्वलक्षण ही पररूपेण (सादृश्यादि सामान्यरूपेण) सामान्यलक्षण है, तब वह सत् एवं उसका साधन प्रमाण ही है, अतः "इदमप्रमेयम् असत्त्वात्"—यह हेतु अनैकान्तिक भी है क्योंकि चार्वाकादि परलोक को असत् मानते हैं, फिर भी वह प्रमेय है। जिस प्रमाण से परलोकाभाव सिद्ध किया जाता है, वही अनुमान नाम का द्वितीय प्रमाण है। अभाव का ज्ञान कभी प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष सदैव योग्य विषय का ही ग्राहक होता हैं, अन्यथा व्यवहित घटादि का भी भान प्रत्यक्षतः हो जायगा ॥६५-६६॥

वार्तिकालङ्कारः

दृष्टमेवैतत् स्वलक्षणादपरमप्रमेयमसत् । तच्च न प्रमेयं एकमेव तु स्वलक्षणं प्रमेयम्। तदेव स्वपररूपाभ्यां गतेः सामान्यविशेषलक्षणमिति प्रागुक्तम्। किञ्च—अनेकान्तोऽप्रमेयत्व इति ।

अभावोऽपि हि प्रागभावादिलक्षणः प्रमेय इति कथमसदप्रमेयमिति व्याप्तिः। अव्याप्तिकश्च कथं हेतुरैकान्तिकः। तथा हि प्रागभावाद्यवेदने सर्वमेव नित्यम्भवेत् न कार्यन्नापि कारणम्। तथा च प्रतिपादयिष्यते। इतरेतरभावे च सति मिश्रीभवेयुर्द्रव्याणीत्यद्वैतं सकलम्भवेत्। तन्निश्चयः प्रमाणं वा द्वितीयम्। यतः नाक्षजामतिः। तदाह—नाक्षजा मतिरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वरूपेण (स्वलक्षणत्वेन) और पररूपेण (सामान्यलक्षणत्वेन) अधिगत होता है—ऐसा पहले कहा जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि प्रागभावादिस्वरूप अभाव भी एक पृथक् प्रमेय है, तब 'असद् अप्रमेयम्'—यह व्याप्ति क्योंकर सिद्ध होगी? व्याप्ति-रहित हेतु ऐकान्तिक (सद्धेतु) कैसे होगा? आशय यह है कि प्रागभावादि के न होने पर समस्त घटादि-प्रपञ्च नित्य हो जायगा। न कोई कार्य होगा, न कारण। इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा। इतरेतराभाव (अन्योऽन्याभाव) के न होने पर घटादि भी पटादिरूप हो जायेंगे, फलतः समस्त जगत् अभिन्न हो जायगा। अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता। शब्दादि के द्वारा ही अभाव का प्रतिभास होता देखा जाता है। 'अत्र घटो नास्ति'—इस प्रकार असत्त्वेन अभाव की प्रतीति होती है, अतः इन्द्रिय का वह विषय नहीं। व्यवहित अभाव की भी व्यवस्था होती देखी जाती है, प्रत्यक्ष से वैसा होना सम्भव नहीं।

यदि कहा जाय कि घटादि भाव पदार्थों से विविक्त (रहित) प्रदेश से भिन्न अभाव और कुछ भी नहीं और वह विविक्त प्रदेश प्रत्यक्ष का ही विषय है। तब जिज्ञासा होती है कि यह विविक्तता क्या है? यदि आधाररूप प्रदेश ही विविक्त पदार्थ है, तब उसे 'नास्ति' शब्द से कैसे कहेंगे? क्योंकि वह तो सत् ही है। वह प्रदेश घटादि का अभाव स्वरूप होने से यदि 'नास्ति' शब्द के द्वारा अभिहित होता है, तब भावरूप भूतल प्रदेश अभाव कैसे? उस प्रदेश में घटादि संगत (सन्निहित या संयुक्त)

अभावे विनिवृत्तिश्चेत् प्रत्यक्षस्यैव निश्चयः ।
विरुद्धं सैव वा लिङ्गमन्वयव्यतिरेकिणी ॥ ६७ ॥

शंका—भाव और अभाव—दोनों का निश्चय एक प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होता है, हाँ, 'अत्र घटः'—ऐसी प्रवृत्ति से भाव-निश्चय और 'नात्र घटः'—इस प्रकार की निवृत्ति से अभाव का निश्चय होता है।

समाधान—प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति से अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष-निश्चय—ऐसा कहना वैसा ही नितान्त विरुद्ध है, जैसा कि आँख बन्द कर आँख से देखना। यदि अनुपलब्धि के अन्वय-व्यतिरेक से युक्त प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति अभाव की गमक है, तब वह अनुमान क्यों नहीं ?

वार्तिकालङ्कारः

न खल्वभावो नामेन्द्रियगोचरः। शब्दादिस्वभावस्यैव तत्र प्रतिभासनात्। तदत्र नास्तीति तु तस्य रूपमसत्तया नाक्षगोचरः। व्यवहितस्यापि तस्यासत्त्वेन व्यवस्थापनात्। अथ विविक्तप्रदेशोपलम्भादेव तथा निश्चयः। केयं विविक्तिता नाम। यदि प्रदेशादिरूपम्। तस्मिन्नुपलब्धेऽन्यन्नास्तीति कुतः। तस्य तदभावरूपत्वादिति चेत्, कथमन्योऽन्यस्याभावः, तेन सहासङ्गमाच्चेत्, असङ्गमः कुतः ? सहावेदनाच्चेत्, सहावेदनार्त्तार्हि व्यवस्थाऽभावस्य। तदन्यवेदनमेव तस्यावेदनम्, तदन्यत्वमेव तस्यावेदने कथं गृह्यते। तस्य प्रागवेदनादिति चेत्, तदेतन्न वेद्यत इति कथमभावगतिः। तस्मादयमभावनिश्चयो नेन्द्रियजः। ततो न प्रत्यक्षमेतत्। अथापि स्यात्। प्रत्यक्षमेव निवर्त्तमानमभावनिश्चयनिमित्तम्। तदप्यसत्। यतो हि—अभावे विनिवृत्तिश्चेदिति।

प्रत्यक्षस्यैव निवृत्तेरभावनिश्चय इति चेत्, व्याहतमेतत् तच्च नास्ति तेन च

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं, अतः वह प्रदेश अभावरूप है, तब सह (संयुक्तत्वेन) वेदन न होने मात्र से वह उपपन्न हो जाता है। ठीक है, किन्तु "तदेतत् सह न वेद्यते"—ऐसी अभाव की अवगति कैसे ? इन्द्रिय से वह सम्भव नहीं, फलतः यह प्रतीति प्रत्यक्ष नहीं।

प्रश्न—निवर्तमान प्रत्यक्ष को ही अभाव-निश्चय का निमित्त क्यों न मान लिया जाय ? प्रत्यक्ष की निवृत्ति से ही अभाव का निश्चय होता है।

उत्तर—यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है कि अभाव-निश्चय के समय या पूर्व में प्रत्यक्ष नहीं और प्रत्यक्ष अभाव-प्रतीति का निमित्त (कारण) है। प्रत्यक्ष जिस विषय में प्रवृत्त होता है, उसी का निश्चायक होता है। वह जब अभाव में प्रवृत्त ही नहीं, तब उसका निश्चय कैसे होगा ? व्यवहार में लोग कहा भी करते हैं कि "मैंने उसे आजकल नहीं देखा, अतः नहीं कह सकता कि वह यहाँ है कि नहीं ।" हेतु के बिना उसका कार्य नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि उपलब्धि-योग्य पदार्थ का अनुपलम्भ भावपदार्थ के रहने पर नहीं होता, अतः अभाव का निश्चय होता है। तब परलोकादि अतीन्द्रिय पदार्थों के अभाव का निश्चय होना चाहिए। यदि भाव के सद्भाव में अनुलब्धि व्यावृत्त (निवृत्त) होती है, तब उसके अभाव से व्याप्त होकर अनुपलब्धि अभाव की अनुगमिका होने से अनुमान का प्रमाणान्तर क्यों नहीं ? इस प्रकार अनुपलब्धि हेतु प्रतिपादित हो जाता है। अब स्वभाव हेतु कहा जा रहा है—"सिद्धं चेत्यादि"।

अन्य शरीरगत चैतन्य का ज्ञान अपने आत्मा के समान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं

सिद्धं च परचैतन्यप्रतिपत्तेः प्रमाद्वयम् ।
व्यवहारादौ प्रवृत्तेश्च सिद्धस्तद्भावनिश्चयः ॥ ६८ ॥

प्रथमतः पुरुष अपने शरीर में प्रत्यक्षतः चैतन्य और उसकी प्रवृत्तियों को देखता है। दूसरे शरीर में वैसी ही प्रवृत्तियों को देखकर परकीय शरीर में चैतन्य का अनुमान करता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दो प्रमाणों की सिद्धि हो जाती है ॥ ६८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिपत्तिः। प्रत्यक्षं हि संवेदनात्मतया यत्र प्रवर्त्तते तत्र निश्चयकृत्, अनुभूते निश्चयात्। अनुभवाभावे तु कथन्निश्चयः। तथा हि वक्तारो भवन्ति। न जाने किमस्त्यन्यदथ नास्तीति नात्र समसंवेदनमिति। कथमनिश्चयहेतोरसंवेदनान्निश्चयः। अथोपलब्धि-योग्यस्यानुपलम्भो न सति पदार्थे ततोऽभावनिश्चय इति चेत्, न तर्हि परलोकादेरतो-न्द्रियस्याभावनिश्चयः। यदि चानुपलब्धिः सद्भावाद् व्यावृत्ता तदा तद्विपर्ययव्याप्ता सती गमिकेति लिङ्गमन्वयव्यतिरेकयोगात् सिद्धमनुमानमपर प्रमाणम्, लिङ्गादुत्पत्तेः। अनेन स्वभावहेतुरनुपलब्धिश्च तदन्तर्गतोक्ता। कार्यहेतुमाह—सिद्धञ्च परचैतन्यप्रतिपत्तेरिति।

न हि परचैतन्यमात्मन इव प्रत्यक्षतः सिध्यति। न खलु जाने किमस्य चैतन्य-मस्ति न वेति। तदाकारपरिस्फुरणादेव तथा प्रतिपत्तेः। कार्यविशेषेण विशेषस्य द्वेषा-देर्निश्चयः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता। लोग कहा करते हैं—"न खलु जाने किमस्य चैतन्यमस्ति न वेति।" तदाकार-परिस्फुरण से ही उस अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। मानव के क्रूर कर्मों को देखकर तद्गत-द्वेषादि का निश्चय होता है।

यदि यथाकथञ्चित् अभाव का निश्चय मान भी किया जाय तब भी वह प्रमाण नहीं हो सकता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसके अनुरूप प्रमाण-व्यवहार देखा जाता है, अतः वह प्रमाण ही है। यदि उसे यथाकथञ्चित् (आपाततः) प्रमाण मान लिया, तब विचार के पश्चात् उसे त्याग देना चाहिए। अन्य उपाय न होने के कारण अगत्या आपात-प्रतीत का परित्याग नहीं किया गया—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अन्य उपाय का न होना—यह निश्चय भी अनुपलब्धिलिङ्गक अनुमान नाम का प्रमाणान्तर है—ऐसा कहा जा चुका है।

अभाव-निश्चय की प्रत्यक्षता का उपपादन परकीय मत (न्यायमत) के अनुसार किया गया है। वह बौद्ध मत के अनुसार परार्थानुमान के अन्तर्गत हो जाता है। पर-कीय दृष्टिकोण कभी अपना नहीं माना जाता।

शंका—गत्यन्तराभाव के कारण यदि प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति को भी प्रत्यक्ष माना जाता है, तब स्वर्गापवर्गादि परलोक का भी त्याग प्रसक्त होता है, क्योंकि उसके विना भी जिया जा सकता है।

समाधान—यह जो कहा गया कि परलोक के विना भी जीवितार्थी व्यक्ति अपना जीवन चला सकता है। वहाँ कथित जीवितार्थी क्या अतीत जीवन का अभ्यर्थी है। अथवा वर्तमान जीवन का? अतीत की तो अभ्यर्थना हो नहीं सकती, वर्तमान भी प्राप्त हो चुका है, अनागत जीवन की कामना हो सकती है। उसके उपाय का जिस अन्वय-

प्रमाणमविसंवादात् तत् क्वचिद्व्यभिचारतः ।
नाश्वास इति चेल्लिङ्गं दुर्दृष्टिरतदीदृशम् ॥ ६९ ॥

प्रत्यक्ष ज्ञान में अविसंवाद (विषयाव्यभिचार) के कारण प्रामाण्य माना जाता है, किन्तु कहीं-कहीं (धूलिपटल में धूमदर्शनादि) में व्यभिचार देखकर अनुमान पर विश्वास नहीं किया जा सकता -ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अलिङ्ग में लिङ्ग की दुर्दृष्टि (भ्रान्ति) के कारण विसंवाद होता हैं, सद्धेतु-स्थल पर विसंवाद कभी नहीं होता ॥ ६९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भवतु यथाकथञ्चिदयन्निश्चयः स तु प्रमाणन्न भवति । नैष दोषः । तदनुरूपस्य व्यवहारस्य व्याहारादिलक्षणस्य दर्शनात् । यथाकथञ्चिद् प्रमाणिकैव प्रवृत्तिरिति चेत् , न, विचार्यपरित्यागप्रसङ्गात् । अन्यस्योपायस्याभावादगत्या अपरित्याग इति चेत् । अन्यस्योपायस्याभाव इत्येषोऽपि निश्चयः प्रमाणमेव । तच्चानुमानमित्युक्तम् ।

पराभ्युपगमेनैतदुच्यते । तेनाऽदोषः । न पराभ्युपगतस्य परार्थानुमान एवावतारात् । न ह्यात्मानमेव पराभ्युपगमेन प्रतिपादयति कश्चित् । गत्यन्तराभावादत्र प्रतिपद्ये तेनैवमहम्प्रवृत्तः । परलोकेऽपि तर्हि प्रतिपत्तिरस्तु परलोकत्यागेऽपि जीवितुं शक्यम् । तेन तत्राप्रवृत्तिरिति चेत् । एवञ्जीवितुं शक्यमिति कुत एतत् । जीवितार्थ्यपि किमतीतजोवितार्थी अथ वर्तमानजीवितार्थीति । तत्रातीतार्थी न अतीतत्वादेव । न वर्त्तमानार्थी तस्यापि प्राप्तत्वात् । अनागतार्थी चेत् , अनागतन्तर्हि जीवितमनेनोपायेन भवति नान्यथेति अन्वयव्यतिरेकतः प्रतीतेरनुमानमेव ।

किञ्च, यथाकथञ्चिदयं व्यवहार इति किम्भवत एवाथान्यस्य । यदि भवत एव उभयासिद्धत्वात् कथम्परः प्रतिपादितः । अथान्यस्याप्युपायाभाव एव तथा सति परचैतन्यप्रतिपत्तिरवश्यमिति कथं यथाकथञ्चिदियम्प्रतीतिः । अथेयमपि भवति यथाकथञ्चिदेव । एवन्तर्हि भवत एवासम्प्रत्ययः कथम्परस्य प्रतिपत्तिः । मम तावदेवम्परस्य तु कथमिति न जाने । अवचनमेव तर्हि प्राप्तम् । परस्याप्येवमेव भविष्यतीति चेत् , न, प्रमाणाभावादिति युक्तिकथञ्चिदेतत् । तस्मादस्ति परप्रतीतिः । ततोऽनुमानमभ्युपगन्तव्यम्परेणापि । तदाह—प्रमाणमविसंवादादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यतिरेक के द्वारा सम्भव है, वह अनुमान ही है ।

दूसरी बात यह भी है कि चर्चित यथाकथञ्चित् क्या आप (वादी) का ही है ? अथवा किसी अन्य का ? यदि केवल आपका ही है, तब उसमें उभयासिद्धि दोष है । उसे मानने के लिए हम बाध्य नहीं । परकीय व्यवहार मानने पर परकीय चैतन्य का मानना आवश्यक है । यदि फिर भी अन्य का व्यवहार भी यथाकथञ्चित् ही माना जाता है, तब जिस व्यवहार पर स्वयं आपका भी विश्वास नहीं, उसके आधार पर हमको क्या ज्ञान करा सकेंगे ? फलतः अवचन (मौन) करना ही उचित होगा । जबकि कोई प्रमाण ही नहीं, तब परकीय व्यवहार को यथाकथञ्चित् कहना भी क्योंकर सम्भव होगा । निष्कर्षतः अन्य को भी अनुमान प्रमाण ही स्वीकार करना होगा ।

जब कि प्रमाण का लक्षण अविसंवादकत्व माना जाता है, तब अनुमान की भी प्रमाणता ।

यतः कदाचित् सिद्धाऽस्य प्रतीतिर्वस्तुनः क्वचित् ।
तद्वश्यं ततो जातं तत्स्वभावोऽपि वा भवेत् ॥ ७० ॥

धूमादि के दर्शन से अग्न्यादि वस्तुओं की सिद्धि जहाँ अवश्य होती है, वहाँ धूमादि अपने कारणीभूत अग्नि से अभिजात (उत्पन्न) हुए होते हैं। कार्य या स्वभाव हेतु के द्वारा अपने व्यापक पदार्थ का अनुमान सर्वथा विश्वसनीय है॥ ७० ॥

वार्तिकालङ्कारः

अविसंवादो हि प्रमाणलक्षणन्तदस्त्यनुमानस्येति प्रमाणता। अथ विसंवादेऽपि क्वचिद् दृश्यत इति विपर्ययः। तथा हि स श्यामस्तत्पुत्रत्वादित्यनुमानव्यभिचाराङ्गयपि। तदयुक्तम्। अनुमानमेवैतन्न भवति लिङ्गाभासादुत्पत्तेः प्रतिबन्धाभावात्। न हि श्यामतायान्तत्पुत्रत्वम्प्रतिबद्धम्। एकसामग्र्यधीनतया समानरूपता चेत्, नैकसामग्र्यधीनताऽभावात्। कर्माहारकालविशेषस्य सम्भवात्। एकसामग्र्यधीनतायां युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्यालिङ्गरूपतत्वानुपलक्षणादहेतावपि हेतुत्वाध्यारोपतो व्यभिचाराभिप्रायः।

अथापि स्याद्। एवम्प्रायमेव सर्वानुमानन्नापरं विशेषलक्षणमिति कस्याव्यभिचारः। तदप्यसत्। यतो हि—यतः कदाचिदिति।

तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धसङ्गतं हि लिङ्गं गमकम्। अन्यस्य तदात्मत्वात्। यतश्च प्रतीतिरव्यभिचारिणी साध्यस्य तन्नियमेन तत उत्पन्नम्। तन्नियतं तत्स्वभावं वा नान्यथाऽव्यभिचारगतिसम्भवोऽतिप्रसङ्गात्। न च सर्वतः प्रतिपत्तिः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

"अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्"—यही तो प्रमाण का लक्षण किया गया है, वह अनुमान में भी है, अतः अनुमान प्रमाण है। यदि कहा जाय कि कहीं-कहीं विसंवाद होने पर भी अनुमान में प्रमाणता का व्यवहार होता है, जैसे—'स श्यामः मित्रातनयत्वात्'—यह अनुमान मित्रा के गौर पुत्र में व्यभिचारी भी है। तो वैसा कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि यह सदनुमान नहीं, लिङ्गाभास (व्याप्यत्वासिद्धरूप हेत्वाभास) से उत्पन्न हुआ है। हेतु में साध्य का प्रतिबन्ध (व्याप्तिरूप सम्बन्ध) नहीं, अर्थात् 'यत्र यत्र तत्पुत्रत्वम्, तत्र तत्र श्यामत्वम्'—ऐसा कोई नियम नहीं, पुत्रों में गौरता भी हो सकती है। एक माता-पिता से उत्पन्न पुत्र समान रूप के ही होंगे, कोई श्याम तो कोई गौर—ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि माता-पिता एक हैं, तथापि पुत्रों की उत्पादक सामग्री में कर्म (अदृष्ट), आहार (शाकादि) और काल आदि की विशेषता के कारण पुत्रों में विरूपता हो सकती है। कालादि-घटित एक सामग्री से ही अनेक पुत्रों की उत्पत्ति मानने पर युगपत् सबकी उत्पत्ति प्रसक्त होती है। फलतः लिङ्ग के व्याप्ति-पक्षधर्मत्वादि धर्मों का अभाव होने पर भी भाव-भ्रम के कारण अहेतु में हेतुत्व का आरोप होकर अनुमानाभास अप्रमा ज्ञान का जनक हो जाता है।

शंका—अनुमान तो प्रायः सभी ऐसे ही होते हैं, जैसे-तैसे हेतु से किसी-न-किसी पदार्थ की कल्पना हो जाती है, तब अव्यभिचारी अनुमान की आशा क्या?

समाधान—धूमादि कार्य हेतु या शिंशपात्वादि तादात्म्यापन्न हेतुओं से उत्पन्न वह्नि और वृक्षत्वादि की नियमतः अव्यभिचारिणी प्रतीति होती है। कार्यहेतु कारणीभूत साध्य एवं स्वभाव हेतु अपने साध्य से नियत (व्याप्त) होता है, तभी उनसे अपने व्यापक की सिद्धि होती है, अन्य (व्यभिचारी) लिङ्ग के द्वारा किसी वस्तु की सिद्धि

स्वनिमित्तं स्वभावं वा विना नार्थस्य सम्भवः।
यच्च रूपं तयोर्दृष्टं तदेवान्यत्र लक्षणम् ॥ ७१ ॥

धूमादि कार्यहेतु का अपने कारणीभूत वह्न्यादि और शिंशपात्वादि स्वभाव हेतु का अपने वृक्षत्वरूप व्यापक पदार्थ से व्यभिचार नहीं हो सकता, क्योंकि कारण के बिना कार्य और वृक्षत्वादि व्यापक के बिना धूम एवं शिंशपात्वादि स्वभाव हेतुओं का लाभ नहीं होता। अतः इनसे उत्पन्न अनुमान व्यभिचारी नहीं हो सकता। इन हेतुओं का जो कार्यत्व और स्वभावत्व निमित्त है, वही अन्य हेतुओं का भी लक्षण समझना चाहिए। कथित तत्पुत्रत्वरूप व्यभिचारी हेतु में न तत्कार्यत्व है और न तत्स्वभावत्व, अतः ऐसा व्यभिचारी हेतु लिङ्ग ही नहीं ॥ ७१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सर्वस्योपजायते। कादाचित्कतयोपलब्धेः। तस्मादियम्प्रतिपत्तिर्नियमेन प्रतिबद्धपदार्थजनिता। प्रतिबन्धश्च द्विविध एव। एकसामग्र्यधीनस्यापि तदुत्पत्तिलक्षण एव पारम्पर्येण प्रतिबन्धः। तत एवाव्यभिचारः। अतः—स्वनिमित्तं स्वभावं वेति।

यस्य च कार्यस्वभावहेतोर्लक्षणं यद् दृष्टमन्यत्रापि तदेव। न च तत्पुत्रादेस्तदस्ति न तेन सर्वत्रानाश्वासः। लक्षणयुक्ते हि बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासो नान्यथेति न्यायः। न च निमित्तं अभावं वा विना कस्यचित् सम्भवः। तथा शङ्कायामव्यवहार एव सर्वत्र स्यात्। व्यावहारिकप्रमाणप्रस्तावश्चैष नान्यः। तस्मात् संव्यवहारार्थिना नियमेनानुमानार्थिना भाव्यम्। अनुपाये कथम्प्रवृत्तिरिति चेत्, न, असिद्धत्वादुपायत्वस्य विचार्यमाणे विशीर्यत इति चेत्, न, विचारस्याप्यनुमानात्मकत्वात्। सोऽयं यथा गच्छतः स एव विस्मृतः पन्था।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मानने पर अतिप्रसङ्ग हो जायगा। सभी पदार्थों से सभी की सिद्धि कभी नहीं होती, क्योंकि सभी उपलब्धियाँ कादाचित्क ही होती हैं। फलतः यह अनुमानरूप प्रतीति नियमतः प्रतिबद्ध (व्याप्तिरूप सम्बन्ध से संवलित) सद्धेतु के द्वारा जनित होती है॥ प्रतिबन्ध पदार्थ दो प्रकार का ही होता है—(१) तादात्म्य और (२) तदुत्पत्ति तादात्म्य में भी तदुत्पत्ति है किन्तु परम्परया, क्योंकि शिंशपात्व और वृक्षत्व—दोनों ही एक सामग्री के अधीन हैं—तज्जनक-जन्यत्व सम्बन्ध पर्यवसित होता है और वह्नि-धूम में साक्षात् तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है। इन हेतुओं में किसी प्रकार का भी व्यभिचार नहीं रहता, क्योंकि जिस (कार्य और स्वभावरूप द्विविध) हेतु का लक्षण देखा गया है, वही अन्यत्र भी वैसा ही है। तत्पुत्रत्वादि हेतुओं में वह नहीं, अतः उनका व्यभिचार देखकर सर्वत्र सद्धेतुओं में अविश्वास नहीं होता। जिस लक्षण से युक्त हेतु में बाध-व्यभिचारादि दोष आता है, तब वह लक्षण ही दूषित होता है। दूषित लक्षण से युक्त हेतुओं पर ही अनाश्वास होता है। योग्यानुपलब्धि का निश्चय निमित्त (प्रतियोगी-उपलम्भक सामग्री) और प्रमाण के विना सम्भव नहीं। शंकामात्र से व्यवहार नहीं चलता। यह प्रसङ्ग व्यावहारिक प्रमाण का है। अनुमान प्रमाण की व्यावहार-साधनता निश्चित है, अतः उमरदेय है। व्यवहार की उपायता अनुमान असिद्ध है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुपायत्व-साधन भी अनुमान पर निर्भर है। वह तो अश्वारोही के लिए अपने अश्व एवं पथिक के लिए अपने पथ का ही विस्मरण मात्र है।

स्वभावे स्वनिमित्ते वा दृश्ये दर्शनहेतुषु ।
अन्येषु सत्स्वदृश्ये च सत्ता वा तद्वतः कथम् ॥ ७२ ॥

अनुपलब्धि हेतु में अव्यभिचार दिखाने के लिए कहा जाता है—अभाव के प्रतियोगिरूप स्वभाव के दृश्य (दर्शन-योग्य) होने पर भी उपलम्भ न होना योग्यानुपलम्भ है। उसके होने पर तद्वतः (दृश्यानुपलम्भवान् भाव की) सत्ता क्योंकर रहेगी ? अतः दृश्यानुलम्भ के द्वारा अनुमित, अर्थाभाव भी अव्यभिचारी ज्ञान का विषय होता है ॥ ७२ ॥

अप्रामाण्ये च सामान्यबुद्धेस्तल्लोप आगतः ।
प्रेत्यभाववद् , अक्षैश्चेत् पर्यायेण प्रतीयते ॥ ७३ ॥
तच्च नेन्द्रियशक्त्यादावक्षबुद्धेरसम्भवात् ।
अभावप्रतिपत्तौ स्याद् बुद्धिजन्मानिमित्तकम् ॥ ७४ ॥

वह्नित्वादि सामान्य का अनुमानात्मक ज्ञान यदि अप्रमाण है, तब परोक्ष पदार्थं का वैसे ही लोप प्रसक्त होता है, जैसे प्रेत्यभाव (परलोक) का।

यदि आज की परोक्ष-वस्तु कल इन्द्रिय-गोचर हो जाने से सत् मानी जा सकती है, किन्तु जो परलोक कभी भी इन्द्रिय का विषय नहीं होता, वह सत् कैसे माना जा सकता है ? तब यह प्रश्न उठता है कि चक्षुरादिगत ग्राहक शक्ति का अक्ष-जन्य ज्ञान नहीं होता, तब क्या उसका अभाव मान लिया जाय ? यदि हाँ, तब चक्षुरादि के द्वारा ज्ञानोत्पादन का निमित्त कारण कौन होगा ? ॥ ७३-७४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अनुपलब्धेस्तर्हि कः प्रतिबन्धः । स एव तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणः प्रतिबन्ध इति दर्शयति । तथा हि—स्वभावे स्वनिमित्ते वेति ।

यत एवासौ तत्र प्रतिबद्धो अत एव तदभावान्न भवति । अन्यथान्यस्याभावे किमिति न भवेत् । अतिप्रसङ्ग एवं सति स्यात् । एवं ह्यसौ प्रतिबद्धो यदि तदभावेन भवेत् । अन्यथा प्रतिबन्धाभावात् । तस्माद् यत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य कारणस्य व्यापकस्य वाऽनुपलम्भस्तत्र तयोरभावः । यत्र च तयोरभावो न तत्र कार्यव्याप्ययोः सम्भव इत्युपलब्धेरव्यभिचारः । एवं कार्यस्वाभावानुपलम्भलक्षणं त्रिविधमप्यनुमानमस्तीति साधितम् । यस्मात्—अप्रामाण्ये च सामान्येति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुपलब्धि हेतु में प्रतिबन्ध (व्याप्ति) क्या है ? वही तादात्म्य और तदुत्पत्ति लक्षण प्रतिबन्ध है—यह दिखाते हैं—'स्वभावे इत्यादि" ।

"धूमाभाववान्, वह्न्यभाववत्वात्"—यहाँ धूम वह्नि से व्याप्त है, अतः वह्नि का अभाव होने पर धूम नहीं रहता । अन्यथा अव्यापकीभूत घटादि के न होने पर क्यों नहीं रहता ? वैसा होने पर अतिप्रसङ्ग हो जाता । धूम वह्नि से प्रतिबद्ध है, अतः उसके अभाव में नहीं होता । अन्यथा प्रतिबन्ध का अभाव है, अतः अन्यथा नहीं होता । फलतः उपलब्धि-योग्य कारण या व्यापक के अभाव में कार्य या व्याप्य का अभाव सिद्ध होता है । जहाँ कारण और व्यापक का अभाव नहीं, वहाँ कार्य और व्याप्य का भी अभाव नहीं रहता । यह है -अनुपलब्धि हेतु का अव्यभिचार, सब मिलाकर कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धिरूप त्रिविध अनुमान की सिद्धि की गई ।

स्वलक्षणे च प्रत्यक्षमविकल्पतया विना ।
विकल्पेन न सामान्यग्रहस्तस्मिंस्ततोऽनुमा ॥ ७५ ॥

स्वलक्षण वस्तु में प्रत्यक्ष प्रमाण अविकल्पत्वेन (निर्विकल्पत्वेन) ही प्रवृत्त होता है, किन्तु सामान्यलक्षण का ग्रहण विकल्प के बिना हो नहीं सकता, अतः सामान्यलक्षण में अनुमान की ही प्रवृत्ति मानी जाती है ॥ ७५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि हि सामान्यबुद्धेरप्रमाणता तदा परोक्षन्नाम प्रमेयन्नास्तीति प्राप्तम् । परलोकवदेव । अथ न सर्वः परोक्षार्थो नास्ति पर्यायेणाक्षैः प्रतीतेः परलोके तु न पर्यायेणाक्षवृत्तिरिति तथाविध एव नास्ति । यदैव तर्हि प्रतीयते तदैवास्ति प्रागस्तीति कुतः । प्रागप्यन्येन प्रतीयते तेनास्ति । परलोकोऽपि प्रागन्येन न प्रतीयते स्वयं वेति कुतः । परलोकादेरन्योऽपि वाऽन्येन प्रतीयत इति कुतः । तथा व्यवहारादिति चेत्, आयातमनुमानस्य प्रामाण्यम् । न चाक्षे योग्यतायां वा पर्यायेणाक्षवृत्तिः । कार्यस्वभावहेतुभावानुमानेनैव तयोरवगमात् । तदभावे च बुद्धेर्जन्म च पदार्थानामनिमित्तकमेव भवेत् । तस्मात् कार्यदर्शनेन कार्यव्यतिरेकेण च योग्यता चक्षुरादिकञ्चानुमीयमानमस्त्येव । न च पर्यायेण तत्राक्षव्यापारावतारः । ततः परलोकादिकमप्येवमेव । तस्मात् सामान्यमनुमानमन्तरेण न प्रतीयते । यस्मात्—स्वलक्षणे च प्रत्यक्षमिति ।

सामान्यावधारणरूपा अपि प्रतिपत्तयो व्यवहारकारिण्यः । न च सामान्यमविकल्प्य गृह्यते । न च सविकल्पकम्प्रत्यक्षमविचारकत्वात् । तस्मात् सामान्यविषयमनु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि वह्नित्वादि सामान्य का ज्ञान (अनुमान) प्रमाण नहीं, तब परोक्ष नाम का प्रमेय नहीं—यह सिद्ध होता है, जैसे कि परलोक । यदि कहा जाय कि समस्त परोक्ष पदार्थ नहीं—ऐसा नहीं, क्योंकि कोई पदार्थ आज नहीं तो कल आँख के सामने आ ही जाता है, किन्तु परलोक तो कभी भी इन्द्रियों का विषय नहीं होता, अतः वह नहीं है । तब प्रश्न उठता है कि जो पदार्थ जब प्रतीत होता है, तब तो है किन्तु वह प्रतीति से पहले था—यह कैसे सिद्ध होगा ? यदि कहा जाय एक की प्रतीति से पहले दूसरे की प्रतीति के आधार पर उसकी सत्ता मानी जाती है, तब परलोक के विषय में भी वैसा ही कहा जा सकता है, कि परलोक भी पहले किसी को प्रतीत नहीं हुआ—ऐसा क्यों ? व्यवहार के आधार पर यदि परलोक सिद्ध है, तब अनुमान का भी प्रामाण्य सिद्ध हो गया । इन्द्रिय के विषय में इन्द्रिय की परम्परया वृत्ति नहीं मानी जाती । अतीन्द्रिय की कार्य या स्वभाव हेतु के द्वारा ही अवगति होती है । अनुमान के न होने पर वह अवगति अनिमित्तक ही माननी होगी । फलतः रूप-दर्शनादि कार्य को देखकर उसके योग्य कारण चक्षुरादि का अनुमान हो हो जाता है । ऐसा चक्षुरादि का परम्परया ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता । निष्कर्षतः सामान्य लक्षण की प्रतीति अनुमान के बिना नहीं हो सकती ।

सामान्य की अवधारणा भी व्यवहार की कारण मानी जाती है । विकल्प के बिना सामान्य का ग्रहण नहीं हो सकता । सविकल्पक का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह विचार की कसोटी पर खरा नहीं उतरता । परिशेषतः सामान्यविषयक अनुमान

प्रमेयनियमे वर्णानित्यता न प्रतीयते।
प्रमाणमन्यत् तद्बुद्धिर्विना लिङ्गेन सम्भवात् ॥ ७६ ॥

प्रमेय के विषय में यदि ऐसा नियम किया जाता है कि केवल स्वलक्षण-विषयिणी प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण और केवल सामान्यलक्षणविषयिणी प्रतीति अनुमान प्रमाण होती है, तब "अनित्यमिदं नीलादि"—ऐसी अनित्यतारूप सामान्यलक्षण से विशिष्ट नीलादिरूप स्वलक्षण को विषय करनेवाली प्रतीति को प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न एक तीसरा प्रमाण मानना होगा, क्योंकि इसे प्रत्यक्ष प्रमाण इसलिए नहीं कह सकते कि सामान्यलक्षण को भी विषय करती है और इसे अनुमान प्रमाण भी नहीं कह सकते, क्योंकि लिङ्ग के बिना ही यह प्रतीति होती है ॥ ७६ ॥

विशेषदृष्टे लिङ्गस्य सम्बन्धस्याप्रसिद्धितः।
तत् प्रमाणान्तरं मेयबहुत्वाद् बहुतापि वा ॥ ७७ ॥

महानसादि में विशेष अग्नि को देखकर ही धूमादि के साथ सम्बन्ध (व्याप्ति)

वार्तिकालङ्कारः

मानन्न प्रत्यक्षम्।

यत्तर्हीदमनित्यादिभिराकारैर्वर्णादि गृह्यतेतत्कथम्। सामान्यरूपग्रहणमेतत्। प्रमेयनियमश्च भवतेष्यते। तथा हि—प्रमेयनियमे वर्णानित्यतेति।

नियमो हि नाम प्रमेयस्य स्वलक्षणस्य सामान्यस्य च प्रतिनियतप्रमाणग्राह्यता। मिश्रप्रतिपत्तिश्चेयं वर्णाद्यनित्यमिति। स्वसामान्यलक्षणयोः परस्परमिश्रतया प्रतिपत्तेः। तत उभयरूपप्रतिपत्तिरन्यत् प्रमाणं प्रसक्तम्। लिङ्गेन च विना सम्भवादनुमानमेतन्न भवति। सामान्यस्य च ग्रहणान्न प्रत्यक्षम्। स्वलक्षणस्य च नानुमानमिति तत्प्रमाणान्तरं विना लिङ्गे न वृत्तेः सामान्यस्य च प्रतिभासात्। विशेषदृष्टे चानुमानेन सामान्यगतिर्लिङ्गस्य सामान्येन सम्बन्धस्याप्रतीतेः। तदाह—विशेषदृष्टे लिङ्गस्येति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं।

यदि सामान्य का प्रत्यक्ष नहीं होता तब "अनित्यमिदं नीलादि"—इस प्रकार अनित्यतादि सामान्यप्रकारेण नीलादि स्वलक्षण का ग्रहण किससे होगा? विस्पष्टतः यह सामान्य का ग्रहण है और आप (बौद्धवर) स्वलक्षणरूप प्रमेय का ही प्रत्यक्ष और सामान्यलक्षण मात्र का अनुमान मानते हैं। अर्थात् स्वलक्षण और सामान्यलक्षणरूप द्विविध प्रमेयों में स्वलक्षण का अपने प्रतिनियत ग्राहक प्रत्यक्ष और सामान्यलक्षण का केवल अनुमान से ग्रहण बौद्ध मानते हैं। किन्तु अनित्यत्व-विशिष्ट नीलादि स्वलक्षण की प्रतीति एक मिश्रित (उभय-घटित) प्रतिपत्ति है। अतः इस प्रकार की विशिष्ट प्रमा के लिए कोई तीसरा प्रमाण चाहिए। लिङ्ग के बिना जायमान होने के कारण यह अनुमान नहीं हो सकती। सामान्य विषयिणी होने के कारण प्रत्यक्ष भी नहीं कही जा सकती। स्वलक्षण का अनुमान नहीं होता। लिङ्ग के बिना सामान्य का भान अनुमान नहीं कहला सकता। महानसादि में विशेष अग्नि के साथ ही धूम का सम्बन्ध (सहचार) देखा गया, सामान्य अग्नि के साथ नहीं, तब पर्वत में धूम-दर्शन से सामान्य बुद्धि का अनुमान कैसे होगा? यह कहा जाता है—"विशेषदृष्टे आदि"

का ग्रहण होता है, किन्तु "अनित्यमिदं नीलादि"—यहाँ पर कोई लिङ्ग-सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, अतः इसे प्रमाणान्तर (तीसरा प्रमाण) मानना समुचित है। सामान्य-विशेष की भेद-बहुत्व के अनुसार प्रमाण-बहुत्व मानना भी असंगत नहीं ॥ ७७ ॥

प्रमाणानामनेकस्य वृत्तेरेकत्र वा यथा ।
विशेषदृष्टेरेकत्रिसंख्यापोहो न वा भवेत् ॥ ७८ ॥

एक ही वह्न्यादि विषय में प्रत्यक्ष भी प्रवृत्त होता है और अनुमान भी। इसी प्रकार अनेक विषयों में एक ही प्रमाण प्रवृत्त होकर उनकी प्रामाणिकता सिद्ध कर सकता है, अतः द्विविध प्रमेय का नियमन कर एकप्रमाणता और त्रिप्रमाणता का अपोह (निरास) नहीं किया जा सकता ॥ ७८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अनित्यमिदं वर्णादीति न खलु किञ्चनात्र लिङ्गमस्ति । न च तत्प्रत्यक्षं सामान्यस्याप्यनित्यत्वस्य प्रतीतेः । विशेषदृष्टे च विशेषस्यैव प्रतीतिः । तस्य विशेषस्य लिङ्गस्य सामान्येन सम्बन्धाप्रतिपत्तेः । तेन तत् त्वन्मतेन प्रमाणान्तरम् । न साक्षात् प्रतीतिरिति न प्रत्यक्षन्न सामान्यविषयमिति नानुमानम् ।

किञ्च, सामान्यविशेषोभयभेदेन प्रमेयबहुत्वात् प्रमाणबहुत्वमिति न त्रिसङ्ख्यानिरासः । अनेकस्याप्रमाणस्यैकत्र वृतेः नैकसङ्ख्यापोहः । यथा विशेषदृष्टेन सह प्रत्यक्षस्य वृत्तिरेकत्र स्वलक्षणे तथा सामान्येऽपि प्रत्यक्षस्येति । यदुक्तमेकसङ्ख्यानिरासः प्रमेयद्वयदर्शनादिति स न भवेत् प्रत्यक्षस्यैव सामान्येऽपि वृत्तिसम्भवात् । विषयनियमे प्रमेयान्तराभावे च त्र्येकसङ्ख्यानिरासः, न चोक्तेन न्यायेनोभयमपीति नाभिमतप्रयोजनसिद्धिः । प्रमाणसम्प्लवात् प्रमेयबहुत्वाच्च प्रमाणबहुत्वम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

"अनित्यमिदं वर्णादि—यहाँ किसी लिङ्ग का निर्देश नहीं किया गया। इस ज्ञान को प्रत्यक्ष इसलिए नहीं कह सकते, क्योंकि इसका विषय अनित्यत्वरूप सामान्यलक्षण भी है। वर्णरूप विशेष (स्वलक्षण) अर्थ की भी प्रतीति होती है। उसके साथ किसी सामान्य लिङ्ग के साथ व्याप्तिरूप सम्बन्ध की प्रतिपत्ति न होने से अनुमान नहीं हो सकता। अतः सामान्य-विशिष्ट विशेषार्थ का अवगाही कोई तीसरा प्रमाण ही मानना होगा, क्योंकि साक्षात् प्रतीति न होने से यह प्रत्यक्ष नहीं और परम्परया प्रतीति न होने से अनुमान भी नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि सामान्य-विशेष के भेद से प्रमेय-बहुत्व सिद्ध होता है, केवल प्रमेयद्वित्व नहीं, अतः उसके लिए प्रमाण-बहुत्व अनिवार्य है। प्रमाण-द्वित्व की सीमा भङ्ग हो जाती है। अनेक प्रमाणों की भी एक ही विषय में प्रवृत्ति हो जाने से एक प्रमाणता भी अपोह (अपलाप) नहीं हो सकता। जैसे केवल स्वलक्षण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही सामान्य-विशिष्ट स्वलक्षण में, अतः एक ही प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति द्विविध प्रमेय में हो जाती है, एकप्रमाणता स्थिर हो जाती है। तब यह जो आपका कहना है कि "प्रमेयद्वित्वदर्शनात् एकप्रमाणताया निरासः"। वह असङ्गत हो जाता है। "प्रमेयद्वैविध्य एवं प्रमाणगत त्रित्व और एकत्व संख्या का निरास—ये दोनों प्रयोजन असिद्ध होकर रह जाते हैं। प्रमाणसम्प्लव (एक ही विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति) मानकर एक-प्रमाणता और प्रमेय-बहुत्व होने से प्रमाण-बहुत्ववाद का औचित्य

विषयनियमादन्यप्रमेयस्य च सम्भवात् ।
योजनाद् वर्णसामान्ये नायं दोषः प्रसज्यते ॥ ७९ ॥

विषय के ग्रहण का यह नियम नहीं किया जा सकता कि एक या दो प्रमाणों से ही समस्त प्रमेय-राशि का ग्रहण किया जा सकता है, अतः प्रमाण-बहुत्व को स्वीकार क्यों न किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निर्विकल्पत्वेन सकल निर्विकल्प-कलाप का एवं सविकल्पत्वेन निखिल सविकल्प-प्रकारों का संग्रह कर प्रमाण-द्वित्ववाद में पर्यवसान हो जाता है ॥ ७९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ननु शक्त्यशक्तित इत्यादिना प्रमेयबहुत्वन्निवारितमेव तत्कथन्तस्योपन्यासः । सत्यम् । एतदपि दर्श्यत इत्युपदर्श्यते । विरुद्धाव्यभिचार्युपदर्शनं वा परेण कृतमित्यदोषः । प्रमाणसम्प्लवोपदर्शनन्तु युक्तमेव । तस्मात् सर्वः परोक्षोऽर्थो विशेषेण न गम्यत इत्येतस्याप्यसिद्धिमुद्भावयति । तस्मान्न त्र्येकसङ्ख्यानिरासः । अत्रोच्यते—योजनाद् वर्णसामान्य इति ।

वर्णत्वं सामान्यमनित्यत्वेन योजयति अनित्यं वर्णादीति । तेन सामान्यरूपमेव प्रमेयं नोभयरूपमिति न दोषोऽयं विषयानियमादन्यप्रमेयस्य च सम्भवादिति । सामान्यविशेषभावे हि स्यादयं दोषो न सामान्यैकभावे । यद्यनित्यत्वं वर्णत्वेन सामान्येनैव योजयति तद्वस्तुधर्मो न स्यात् । यत्र हि यो धर्मो युक्तः प्रतीयते तस्यैवासौ धर्मः । सामान्ययुक्तत्वे च सामान्यस्य तद्रूपं न वस्तुनः । सामान्यस्य च वस्तुत्वात् तद्धर्मोऽवस्तु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

न्याय-सिद्ध है ।

यद्यपि इस परिच्छेद के आरम्भ में विशेषतः का० २२ और ६४ में प्रमेय-बहुत्व और न्यूनाधिक-प्रमाणता का निवारण किया जा चुका है, तथापि पूर्वपक्ष की विधान्तर या सिद्धान्त के समक्ष विरुद्धाव्यभिचार (सत्प्रतिपक्षता) के उद्भावन का प्रदर्शन मात्र कर दिया गया है । उसके अभ्युच्चयोपन्यास में प्रमाण-सम्प्लव-प्रदर्शन युक्त है ही । फलतः समस्त परोक्ष पदार्थ विशेषतः प्रतीत नहीं होता—इसकी असिद्धि का उद्भावन किया गया । प्रमाणैकत्व और प्रमाण-त्रित्व का निराश उचित नहीं—ऐसे आक्षेप का समाधान है—"योजनादित्यादि" ।

वर्णत्व-सामान्य की योजना अनित्यत्वेन की गई है । अतः कथित विशिष्टार्थ सामान्यात्मक प्रमेय से भिन्न नहीं । अतः यहाँ यह दोष लागू नहीं होता कि "विषयानियमादन्यप्रमेयस्य च सम्भवात्" । सामान्य-विशेष के पृथक् होने पर यह दोष होता, सामान्यैकता में नहीं । यदि अनित्यत्व वर्णत्वरूप सामान्य के साथ सम्बन्धित किया जाता है तब वह नीलादिवस्तु का धर्म नहीं होगा । क्योंकि जो धर्म जिससे युक्त प्रतीत होता है उसी का धर्म माना जाता है । अनित्य और सामान्य के साथ सम्बन्धित होने पर वह सामान्य का ही माना जा सकता है, वस्तु का नहीं । सामान्य लक्षण वस्तु नहीं, अतः अनित्यत्व अवस्तु का धर्म हो जायेगा—ऐसा नहीं कह सकते । सामान्य अवस्तुत्वेन कल्पित है, अनित्यत्व धर्म के साथ उसका योग मानने पर वस्तुत्व प्रसक्ति होती है । धर्म और धर्मी दोनों ही वस्तुरूप नहीं, तथापि उनकी वस्तुतत्त्वेन प्रसिद्धि लोक में मानी जाती है । जो वर्णत्वानित्यादि धर्म विकल्प में प्रतीत होता है वह

नावस्तुविरूपं तस्यैव तथा सिद्धेः प्रसाधनात् ।
अन्यत्र नान्यसिद्धिश्चेन्न तस्यैव प्रसिद्धितः ॥ ८० ॥

"अनित्यं नीलादि"—यहाँ प्रतीयमान अनित्यत्वादि अवस्तु धर्म नहीं, क्योंकि उनकी सिद्धि से पहले उनकी उसी रूप से सिद्धि की जाती है। व्यावहारिक अध्यवसाय के आधार पर ही विषय-व्यवस्था की जाती है। यद्यपि नीलादि आकार ज्ञान के ही हैं तथापि बाह्यरूपेण व्यवस्था अनादि अभ्यास से की जाती है। यद्यपि अन्यगत अनित्यत्वादि के द्वारा अन्य अनित्यादि पदार्थों की सिद्धि नहीं होती, तथापि तद्गत अनित्यत्वादि से उनकी सिद्धि क्यों न होगी ? ॥ ८० ॥

यो हि भावो यथाभूतो स तादृग्लिङ्गचेतसः ।
हेतुस्तज्जा तथाभूते तस्माद् वस्तुनि लिङ्गधीः ॥ ८१ ॥

जो वह्न्यादिरूप भाव पदार्थ जैसे धूमादि का कारणत्वादिरूप से व्यापक होता है, उसका ही अपने व्याप्यीभूत लिंगादि-ज्ञान के द्वारा समुद्भावित अनुमान ज्ञान अविसंवादी होने के कारण प्रमाण माना जाता है ॥ ८१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

धर्म एव स्यात्। नैतदस्ति। यतः—नावस्तु रूपन्तस्यैवेति।

यदि वस्तुधर्मो न भवति। अवस्तुतत्त्वेन कल्पितत्वात् सामान्यस्य। तदपि वस्तुना नित्यत्वादिकम्भवेत्। उभयमपि वस्तुरूपन्नेति चेत्, न, वस्तुन एव तथा प्रसिद्धेः। यो हि विकल्पे प्रतिभाति वर्णत्वानित्यत्वादिकः स स्वलक्षणेऽपि विद्यत एव। स्वलक्षणानुभवादेव तद्रूपविकल्पोत्पत्तेः। यदि विकल्पः स्वलक्षणेन न प्रतिबद्धस्तत्र स्वलक्षणस्याप्रतिभासनात्। तत्कथन्तस्यैव तथा प्रसिद्धिः। न पारम्पर्येण सम्बन्धात्। साक्षादप्रतिबन्धेऽपि पारम्पर्येण प्रतिबन्ध इति तस्याविकल्पस्याविसंवादिता।

ननु वासनाप्रतिबन्धत्वे कथं वस्तुप्रतिबद्धता। तद्वासनाया वस्तुप्रतिबन्धात्। कथमित्याह— यो हि भावो यथाभूत इति।

यो हि साध्यधर्मः ससाधनस्य हेतुर्व्यापको वा भवेदिति प्रतिपादितं कार्यव्याप्यचेतसः। कारणं व्यापकश्च हेतुः। ततोऽपि चेत्। सा योत्पन्ना लिङ्गधीः सा पारम्पर्येण

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वलक्षण में भी विद्यमान है। क्योंकि स्वलक्षण के अनुभव से ही अनित्यत्व की कल्पना उद्भूत होती है। यदि विकल्प स्वलक्षण से प्रतिबद्ध नहीं, क्योंकि स्वलक्षण की वहाँ प्रतीति नहीं होती—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि परम्परा-सम्बन्ध से उसकी प्रतीति हो जाती है। साक्षात् प्रतीति न होने पर भी पारम्पर्येण सम्बन्धित होने के कारण उसकी अविसंवादिता सुदृढ़ हो जाती है।

प्रश्न—वासना के सम्बन्ध से वस्तु का सम्बन्ध कैसे होगा ?

उत्तर—वासना का वस्तु से सम्बन्ध होने के कारण वस्तु प्रतिबन्ध बन जाता है यही कहा गया है 'यो हि इत्यादि' से। जो साध्यधर्म (अग्न्यादि) धूमादिरूप साधन का व्यापक होता है उसी की सिद्धि व्याप्य (कार्य) या तादात्म्यापन्न रूप हेतु से की जाती है, यह पूर्व में कहा जा चुका है।

लिङ्ग के द्वारा वस्तु का प्रतिभान होने के कारण परम्परा-सम्बन्ध माना जाता है। अग्न्यादि वस्तु की प्राप्ति नहीं होती केवल उसका अध्यवसाय होता है, किन्तु उसके

लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्योरप्यवञ्चनम् ॥ ८२ ॥

लिंग (धूमादि) और लिंगी (वह्न्यादि) का व्याप्ति-ज्ञान हो जाने पर वह्न्यादि वस्तु का परम्परया (वह्नि-व्याप्य धूम के ज्ञान से जनित) ज्ञान अनुमान है। हाँ, लिंग-ज्ञान हेत्वाभासादि से रहित होना चाहिए। ऐसा अनुमान ज्ञान अवञ्चन (अविसंवादी) होने से प्रमाण माना जाता है ॥ ८२ ॥

तद्रूपाध्यवसायाच्च तयोस्तद्रूपशून्ययोः ।
तद्रूपावञ्चकत्वेऽपि कृता भ्रान्तिव्यवस्थितिः ॥ ८३ ॥

वस्तुतः व्याप्य-व्यापक भाव से शून्य दो पदार्थों में व्याप्य-व्यापकभाव का ग्रहण यदि होता है, तब लिंगि-ज्ञान में अवञ्चकत्व (संवादित्व) होने पर भी भ्रान्तिरूपता व्यवस्थित होती है ॥ ८३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वस्तुप्रतिबद्धता । ततः—लिङ्गलिङ्गिधियोरेवमिति ।

न वस्तुप्राप्तिः प्रतिभासादेवाध्यवसायादपि वस्तुप्राप्तेः सम्भवात् । प्रवर्त्तमानो हि प्राप्नोति । प्रतिभासमात्रात् । प्रवर्त्तनञ्चाध्यवसायादपि दृष्टमन्यथा प्रतिभासादपि न प्रवर्त्तेत अध्यवसायेन प्रवर्तितः प्रथमम् अभ्यासात् पश्चात् प्रतिभासात् प्रवर्त्तितुं क्षमः । तस्मात् प्रवृत्तावस्तित्वे प्राप्तिः । यथा च प्रतिभासमानस्यास्तिता तथा प्रतिभासमान-कारणव्यापकस्यापीति । उभयत्रापि प्राप्तिरस्तु । न च क्वचित् प्रतिभासिनः प्राप्तिरिति प्रागेवेदम्प्रत्यपादि । यथा च प्रतिभासनादस्तीति ज्ञायते । तथा प्रतिबद्धप्रतिभासनादपि ।

यदि च प्राप्तिविषयो नास्तीति मतिः प्रतिभासमात्रमेव जगत् स्यात् । भ्रान्ता-भ्रान्तविवेकानवधारणात् । न हि प्रतिभासमात्रे भ्रान्तेरविवेकः । तस्मात् परोक्षगतो भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्था नान्यथेति निश्चयः । तथा हि—लिङ्गिलिङ्गिधियोरेवमिति ।

अत्र केचिदाहुः—"लिङ्गबुद्धिर्लिङ्गे प्रतिबद्धतया धूमादेर्बुद्धिर्न हि लिङ्गमिन्द्रियवत् सत्तामात्रेण गमकम् । नापि स्वालम्बनविज्ञानप्रतिभासनमात्रेण । अदृष्टन्तद्रूपन्त-त्सम्बन्धस्यापि प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । तस्मात् प्रतिबद्धतया ग्रहणं लिङ्गग्रहणम् । स च प्रतिबन्धो नोभयरूपसंस्पर्शमन्तरेण ग्रहीतुं शक्यः । अन्यथा ग्रहणस्यादर्शनात् । तत्र यथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आधार पर प्रवृत्त व्यक्ति अग्नि का लाभ करने में सफल हो जाता है। अग्न्यादि साध्य पदार्थों की प्राप्ति अनुमान की अविसंवादिता है, जैसे प्रतिभासमान लिङ्ग की अस्मिता होती है, वैसे ही उसके कारण या व्यापक की अस्तिता भी सिद्ध होती है। जैसे शाखा-सम्बन्ध से वस्तु की प्रतीति होती है, वैसे ही लिङ्गादिज्ञान-परम्परा से भी उसका प्रतिभान माना जाता है।

आक्षेप—आचार्यधर्मोत्तरादि का (न्यायबिन्दु में) कहना है "लिङ्गबुद्धिर्लिङ्गे प्रतिबद्धतया धूमादेर्बुद्धिर्न हि लिङ्गमिन्द्रियवत् सत्तामात्रेण गमकम् , नापि स्वालम्बन-विज्ञानप्रतिभासनमात्रेण । अदृष्टन्तद्रूपन्तत्सम्बन्धस्यापि प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । तस्मात् प्रतिबद्धतया ग्रहणं लिङ्गग्रहणम् , स च प्रतिबन्धो नोभयरूपसंस्पर्शमन्तरेण ग्रहीतुं शक्यः । अन्यथा ग्रहणस्यादर्शनात् । तत्र यथालिङ्गिग्रहणं लिङ्गविषयस्तथा

वार्तिकालङ्कारः

लिङ्गिग्रहणं लिङ्गविषयन्तथा लिङ्गग्रहणमपि। केवलम्प्राधान्येतरता। लिङ्गग्रहणे हि लिङ्गम्प्रधानतया लिङ्गग्रहणे लिङ्गी प्रधानतया प्रतीयते।" तेन यदुक्तं "लिङ्गिनस्तु न मात्रानुमानन्तस्य चाविसंवादेन भ्रान्तते प्रस्तुते तत्को लिङ्गगतेरवसरो येन तस्या अपि विचारः कृतः। अथ साप्यनुमानात्मिका। तथा सति लिङ्गिप्रतिपत्तिरेवेति न पृथग्निर्देशः। प्रत्यक्षरूपापि लिङ्गप्रतिपत्तिर्न सा लिङ्गाभासशून्या। लिङ्गाभासशून्यत्वे च सत्यपि न भ्रान्तता तदविषयत्वात्। न हि स्तम्भविज्ञानं कुम्भकारशून्यतया भ्रान्तमिति तन्निराकृतम्। एकविषयत्वाल्लिङ्गलिङ्गिधियोरप्रत्यक्षत्वाच्च। अत्रोच्यते—

प्रतिबद्धतया लिङ्गग्रहणं यदि लिङ्गधीः। प्रतिबन्धग्रहः साध्यधर्मयोरनुमानतः ॥ २६६ ॥
तथा सत्यनवस्था स्यात् तत्रापि प्रतिबन्धवित्। अनुमानान्तरादेव तत्रापि च तदन्तरात् ॥ २६७ ॥
अथ प्रत्यक्षतो लिङ्गं लिङ्गत्वेन प्रतीयते। एवं सति तदाभासशून्यतास्य कथम्भवेत् ॥ २६८ ॥

गृहीतोऽपि प्रत्यक्षेण तदा स्मर्यते लिङ्गत्वेन धूमादिकः। एवं सति स्मरणमप्रमाणमेव किमस्यावञ्चकत्वप्रतिपादनेन। न हि तत्तत्र प्रमाणम्। प्रत्यक्षानुमानयोरेव प्रमाणत्वेनाविसंवादसङ्गमः। अथ स्मरणमपि पारम्पर्येण प्रतिबन्धात् प्रमाणमेव। तदेव तर्हि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लिङ्गग्रहणमपि। केवलम्प्राधान्येतरता। लिङ्गग्रहणे हि लिङ्गम्प्रधानतया लिङ्गग्रहणे लिङ्गी प्रधानतया प्रतीयते"।

अर्थात् साध्यव्याप्यत्वेन लिङ्गज्ञान को लिङ्गबुद्धि शब्द से कहा गया है। लिङ्ग इन्द्रियों के समान अज्ञायमान होकर व्यापक के ज्ञान का जनक नहीं होता और न स्वालम्बनविज्ञान के रूप में अन्यथा अदृष्टरूपादि की प्रतीति प्रसक्त होती है, अतः प्रतिबद्धतया (व्याप्यतया) लिङ्ग का ग्रहण विवक्षित है। वह व्याप्तिरूप सम्बन्ध व्याप्य और व्यापक दोनों के संस्पर्श के बिना गृहीत नहीं हो सकता। लिङ्गलिङ्गी ग्रहण में लिङ्गी प्रधानतया और लिङ्ग व्यापकतया प्रतीत होता है। इससे लिङ्ग ज्ञान की अनवसर चर्चा निरस्त हो जाती है। लिङ्ग ज्ञान को भी अनुमानात्मक मानने पर लिङ्गी की प्रतिपत्ति कभी न हो सकेगी। वस्तुतः लिङ्ग की पतिपत्ति प्रत्यक्षरूप है जो कि लिङ्गाभास से रहित होने के कारण भ्रमात्मक नहीं कही जा सकती। क्योंकि स्तम्भादिविज्ञान कुम्भकार-शून्यतया भ्रान्ततास्पद नहीं। समान-विषयक होने के कारण लिङ्ग और लिङ्गी उभय के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना होगा।

समाधान—यदि प्रतिबद्धतया (व्याप्यत्वेन) लिङ्ग का ग्रहण होता है और प्रतिबन्ध या व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से होता है तब अनवस्था दोष के कारण अनुमान न हो सकेगा। क्योंकि लिङ्गज्ञान-परम्परा पूर्व-पूर्व अनुमान पर निर्भर होती जायेगी। यदि लिङ्गत्वेन रूपेण लिङ्ग का प्रत्यक्ष माना जाता है तब उसमें आभासशून्यता का निश्चय कैसे होगा ॥ २६६–६८ ॥

महानस में प्रत्यक्षतः गृहीतधूम पर्वत में—स्मर्यमाण होता है। तब वह प्रमाण ही नहीं उसकी अवञ्चकता (अविसंवादिता) का प्रतिपादन व्याप्त है। क्योंकि वह प्रमाण ही नहीं, प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही में प्रमाणता और अविसंवादिता मानी जाती है। यदि स्मरण को भी परम्परया वस्तुसम्बन्धित होने के कारण प्रमाण माना जाता है, तब वही लिङ्गी ज्ञान और अनुमान हो जाता है। लिङ्ग और लिङ्गी का भिन्नतया निर्देश क्यों किया जाता है। यदि स्मरण ज्ञान गृहीतग्राही होने के कारण अप्रमाण माना

तस्माद् वस्तुनि बोद्धव्ये व्यापकं व्याप्यचेतस: ।
निमित्तं तत्स्वभावो वा कारणम् , तच्च तद्धिय: ॥ ८४ ॥

वह्न्यादिरूप भावात्मक वस्तु का बोध करने में वह्न्यादिरूप व्यापक पदार्थ व्याप्य-वस्तु का निमित्त (कारण) या स्वभाव माना जाता है। [जैसे वह्नि धूम का कारण और अनित्यत्व कृतकत्व का स्वभाव] । अतएव धूम वह्नि-ज्ञानादि का जनक होता है ॥ ८४ ॥

वार्तिकालङ्कार:

लिङ्गिज्ञानमनुमानञ्चेति किं लिङ्गलिङ्गिनोर्भेदेन निर्देश: । अथ तदप्रमाणमेव गृहीतग्रहणादित्युच्यते । तथा सति प्रत्यक्षवृत्तम्प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणम् । तच्च तदाभासशून्यञ्च भवतीति विरोध: । तस्मादन्यथोपपत्त्या व्याख्यायते । लिङ्गधी: स्वभावहेतोर्जाता लिङ्गिधीरेव लिङ्गलिङ्गिनो: परमार्थतो भेदाभावात् । लिङ्गिधी: कार्यहेतो: कारणविषया । तत्र भेदादसौ न लिङ्गधी: । न चात्यन्ताभ्यासादस्माद् धूमादग्निधी: स्वलक्षणग्राहिण्या धूमधियो नोदेति । धूमस्य च तत्त्वेन ग्रहणमेव प्रतिबद्धता । तत्त्वञ्च प्रत्यभिज्ञानञ्च तद्रूपदर्शनादनुमानमेव । तद्रूपदर्शनञ्च प्रत्यक्षमत्यन्ताभ्यासाद् व्यवहारकारणमिति नानवस्था ।

तस्मात् स्वलक्षणग्रहणमेव लिङ्गप्रतिपत्ति: । यत् त्वग्निप्रतिबद्धधूमस्य तत्सामान्यग्रहणन्तद्रूपदर्शनादुदयमासादयदनुमानमेव लिङ्गिप्रतिपत्तिरूपमिति नान्यथा व्यपदेश: । तथा हि—तस्माद् वस्तुनि बोद्धव्य इति ।

द्विविधं हि साध्यं वस्तु तत्प्रतिषेधश्च । वस्तुनि साध्ये व्यापकं साध्यम् । यतस्तद्व्यापकं व्याप्यचेतसो निमित्तम् । तच्च व्याप्यस्य लिङ्गस्य स्वभावो कारणं वा । तच्च व्यापकचेतसो निमित्तमिति पारम्पर्येण प्रतिबन्धसम्भवात् । प्रमाणमनुपलब्ध: कथम्प्रतिबन्ध इति दर्शयति । तदाह—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है, तब प्रमाणाभास हो जाता है, अत: अन्य प्रकार से व्यवस्था की जाती है। अन्यथा उपपत्ति के आधार पर यह व्यवस्था माननी होगी कि लिङ्गज्ञान स्वभाव और हेतु के द्वारा उत्पन्न होता है। लिङ्गी-ज्ञान ही लिङ्ग का ज्ञान है, दोनों का कोई भेद नहीं, लिङ्गी ज्ञान कार्यहेतु के कारण को विषय करता है। कार्यकारण का भेद होने के कारण उसे लिङ्गज्ञान नहीं कह सकते। ग्रहण का अत्यन्त अभ्यास हो जाने के कारण भी स्वलक्षण-विषयक धूम ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता। धूम का व्याप्यत्वेन ग्रहण ही प्रतिबद्ध ग्रहण है। वह प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ज्ञात होता है और प्रत्यभिज्ञा अनुमान का एक प्रकार है। तद्रूपदर्शन अत्यन्त अभ्यास हो जाने के कारण प्रत्यक्षत: व्यवहार का साधन माना जाता है। फलत: स्वलक्षण ग्रहण ही लिङ्ग की प्रतिपत्ति है। जो अग्नि प्रतिबद्ध-धूम का ज्ञान है वह सामान्य ग्रहण है, उसके द्वारा अनुमान ज्ञान का उदय माना जाता है। उसे ही लिङ्गी प्रतिपत्ति कहते हैं।

साध्यवस्तु दो प्रकार की होती है। विध्यात्मक और निषेध्यात्मक। वस्तु की सिद्धि में दोनों ही व्याप्यव्यापक वस्तुतत्त्व होते हैं। हेतुभूत लिङ्ग का साध्य स्वभाव या कारण माना जाता है। उसके साथ परम्परया सम्बन्ध होने के कारण परम्परा-सम्बन्ध माना जाता है। अब अनुपलब्धि के साथ व्याप्ति कैसे होती है—यह दिखाया जाता है।

प्रतिषेधस्तु सर्वत्र साध्यतेऽनुपलम्भतः ।
सिद्धिं प्रमाणैर्वदतामर्थादेव विपर्ययात् ॥ ८५ ॥

जहाँ पर निषेध्य पदार्थ की अनुपलब्धि है अथवा निषेध्य पदार्थ के विरुद्धार्थ की उपलब्धि है, ऐसे सभी स्थानों पर अनुपलम्भ के द्वारा प्रतिषेध की सिद्धि होती है—अर्थात्, प्रमाणाभावरूप विपर्यय से प्रमेयार्थ का अभाव सिद्ध होना स्वाभाविक है, जैसा कि न्यायभाष्यकार कहते हैं—"कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिः ? सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत्। "प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति" (न्या भा. पृ. ३) ॥८५॥

दृष्टा विरुद्धधर्मोक्तिस्तस्य तत्कारणस्य वा ।
निषेधे यापि तस्यैव साऽप्रमाणत्वसूचना ॥ ८६ ॥

दृश्यानुपलब्धि तो निषेध-साधक है, किन्तु विरुद्धार्थोपलब्धि निषेध की साधिका कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर है—'दृष्टेत्यादि'। अर्थात् "नात्र शीतस्पर्शो न वा रोमहर्षयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशः, वह्नेः।" ऐसी विरुद्धार्थ की उपलब्धि भी उसी प्रतिषेध की साधिका होती है ॥ ८६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

(७) अनुपलब्धिचिन्ता—प्रतिषेधस्तु सर्वत्रेति ।

यत्र नाम क्वचित् प्रतिषेधसाधनन्तत्र सर्वत्रानुपलम्भत एव। यत्र वस्तुसाधनाय प्रमाणम्प्रवर्त्तते तत्र वस्त्वेव सिध्यति न तस्य प्रतिषेधः। अतो विपर्ययादेव प्रतिषेध-सिद्धिः। तथा हि युक्तोपलम्भमनुपलभमानास्तीत्याहुः। अनुपलम्भ एव हि प्रतिषेध इति तन्मात्रानुबन्धित्वात्तादात्म्यमेव प्रतिबन्ध इति ।

ननु विरोधोऽपि नाम साक्षात् पारम्पर्येण वा प्रतिबन्ध एव ततोऽपि वस्तुप्रति-षेधसिद्धिरुपलभ्यते। यथा नास्ति शीतस्पर्शोऽग्नेर्नास्य रोमहर्षादिविशेषः सन्निहितदहन-विशेषत्वादिति। तत्कथं साध्यतेऽनुपलम्भतः। तत्र परिहारः। अस्त्येतत् किन्तु—दृष्टा विरुद्धधर्मोक्तिरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(७) अनुपलब्धौ अर्थात् प्रतिषेधः—

जहाँ पर कहीं किसी पदार्थ का प्रतिषेध (अभाव) सिद्ध किया जाता है, वह समस्त अनुपलम्भ के द्वारा हीं। जहाँ वस्तु की सिद्धि के लिए प्रमाण प्रसक्त होता है वहाँ वस्तु का सद्भाव ही सिद्ध होता है, अभाव का नहीं। अतः प्रमाणाभाव के द्वारा प्रतिषेध की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार अनुपलम्भ से अनुपलम्भ की सिद्धि वैसे ही होती है जैसे स्वभावहेतु के द्वारा उसके स्वभावभूत व्यापक की सिद्धि होती है। व्याप्य-व्यापक में तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है, वसे ही प्रकृति में भी साध्य और साधन-रूप अनुपलम्भ का तादात्म्य माना जाता है।

आक्षेप—विरुद्धार्थ की उपलब्धि से विरुद्धार्थ का अभाव जहाँ सिद्ध होता है वहाँ विरोध को भी एक प्रतिबन्ध या व्याप्ति रूप सम्बन्ध मानना होगा। जैसे—"नास्त्यत्र शीतस्पर्शः वह्नेः" फलतः प्रकृति में अनुपलम्भतः सिद्धि न होकर विरोध के द्वारा प्रतिषेध की सिद्धि मान्य होगी।

अन्यथैकस्य धर्मस्य स्वभावोक्त्या परस्य तत् ।
नास्तित्वं केन गम्येतां विरुद्धाच्चेदसावपि ॥ ८७ ॥
सिद्धः केन ? असहस्थानादिति चेत् तत्कुतो मतम् ।
दृश्यस्य दर्शनाभावादिति चेत् साऽप्रमाणता ॥ ८८ ॥

यदि विरुद्धार्थोपलब्धि प्रतिषेध-साधिका नहीं, तब प्रतिषेध किसके द्वारा अधिगत होगा ? भाव यह है कि विरुद्ध धर्म की उपलब्धि स्वभावतः सत्ता की ही प्रतिपादिका होती है। अन्य की सत्ता से अन्य का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि उपलब्ध पदार्थ निषिद्ध से विरुद्ध है, अतः सहावस्थान सम्भव नहीं, विरोधी पदार्थ की उपलब्धि से विरोधी का अभाव सिद्ध हो जायगा। तब प्रश्न होता है कि कथित विरोध कैसे सिद्ध होगा ? सहानवस्थान के कारण विरोध की सिद्धि मानने पर दूसरा प्रश्न उठता है कि सहानवस्थानता की सिद्धि किससे होगी ? जहाँ सर्प है, वहाँ नकुल का अदर्शन होने से सहानवस्थान मानने पर आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि वह अदर्शन ही तो अप्रमाणता (प्रमाण-रहितता) ही तो अनुपलब्धि है ॥ ८७–८८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

विरुद्धोऽपि पदार्थस्तदभावङ्गमयति। न विरोधसम्बन्धादेव। न हि विरोधी प्रमातुमिष्टः। असद्रूपतयेष्ट इति चेत्, असत्त्वेनैव तर्हि प्रतिबन्धः सम्प्रधार्यो न च तेन सह विरोधः। यत्रासौ तत्रासत्त्वम्भवतीति चेत्, कुत एतत् ? एवमेव प्राग् दृष्टत्वादिति चेत्, तदसत्त्व विरोधग्रहणकाले किमुपलम्भे वस्तुनो चेतरथा। यद्युपलम्भः कथमभावोऽथानुपलम्भः, तदिदमायातमनुपलम्भादेव प्रतिषेधः। यतो हि—अन्यथैकस्य भावस्येति।

एकस्य हि सद्भावे यदि परो न भवेत्। सर्वस्य भावे परस्य प्रतिषेधो भवेत् विरोधोऽपि सहानवस्थानलक्षणो विनाऽनुपलब्ध्या न प्रतीयते। यद्येवं विरोधोऽनुपलब्ध्या प्रतीयते। ततो विरोधिनो लिङ्गात् अभावगतिर्नानुपलब्धेः। अथ विरोधसाधिकानुपलब्धिः प्रागासीत्। तदनुसरणादेव विरोधिनोऽपि लिङ्गादभावगतिरिति सैव परमार्थतोऽभावस्य साधनी। यद्येवम्—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

१　परिहार—ठीक है किन्तु विरुद्ध पदार्थ भी अभाव का साधक होता है, किन्तु विरोध सम्बन्ध से नहीं। विरोधी वस्तु प्रमेयत्वेन अभिहित नहीं होती। असद् रूपत्वेन विरोधी को साधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता। विरोध ग्रहण काल में क्या विरोधी का उपलम्भ है ? यदि उपलम्भ है तब वह अभाव कैसे। यदि अनुपलम्भ है तब उसी से प्रतिषेध की सिद्धि पर्यवसित होती है। एक का सद्भाव होने पर यदि दूसरा नहीं रहता तब किसी एक वस्तु के होने पर अन्य का अभाव मानना होगा। अतः विरोध को प्रतिषेध का साधक नहीं मान सकते। सहानवस्थानात्मक विरोध भी अनुपलब्धि के बिना प्रतीत नहीं हो सकता। अतः विरोधी लिङ्ग के द्वारा अभाव की अवगति होती है। अनुपलब्धि से नहीं। यदि विरोध को साधिका अनुपलब्धि पहले थी, उसी के अनुसार विरोधी लिङ्ग के द्वारा अभाव की सिद्धि होती है तब उसी अनुपलब्धि को अभाव का साधक मानना

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिबन्धप्रसिद्धयर्थमुपयोगी य ईक्षितः । साध्यसिद्धिस्ततश्चेद् स्यादनुमानङ्कथम्प्रमा ॥२६९॥

प्रत्यक्षेण हि सम्बन्धोऽनुमानस्य प्रसिद्धिभाक् । तत एव हि साध्यस्य सिद्धिरित्यप्रमाऽनुमा ॥२७०॥

न । यत एव हि प्रत्यक्षादनुमानस्य सम्बन्धग्रहणन्तत एव साध्यस्याग्नेः सिद्धिरिति कथमनुमानमपरम्प्रमाणम् ।

अथ परोक्षेऽग्नौ न प्रत्यक्षम्प्रवृत्तमिति तत्रानुमानम् । परोक्षेऽपि खल्वभावे किमनुपलब्धिः प्रवृत्ता । यापि प्रवृत्ता सा नोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिः । अथ स्मर्यमाणोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिः । तदप्यस्य दुर्नीतम् ।

स्मर्यमाणं यतोऽध्यक्षमनुमानेऽपि नास्ति न । अध्यक्षस्यैवं तत्रापि प्रामाण्यमनुमा वृथा ॥२७१॥

तस्मादिदमत्रार्थसतत्त्वम् ।

अभावेन हि शीतस्य वह्नेः प्रागुपलब्धिभाक् । सम्बन्धस्तेन तत्सिद्धया तदभावः प्रसिध्यति ॥२७२॥

स चाभावोऽनुपलब्धिरेव । तेनानुपलब्धिरेवानुमानसिद्धा साधयत्यभावव्यवहारं यथा प्रत्यक्षसिद्धा । यतो वक्ष्यति—

"तस्मादनुपलम्भोऽयं स्वयम्प्रत्यक्षतो गत इति ।" (प्र० वा० ४।२७४)

अत्राप्यनुमानतो गत इत्यवगन्तव्यम् । यदा तु रोमहर्षाभावः साध्यते । तदाग्निना शीतानुपलब्धिस्तया कारणानुपलब्ध्या रोमहर्षाभावः । तत्राग्निरूपेण स्पर्शस्योष्णात्मन

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होगा । यदि ऐसा है तब अनुमानस्थल पर व्याप्ति की सिद्धि के लिए जिस प्रत्यक्ष का सहारा लिया जाता है वही प्रत्यक्ष वह्न्यादि के सद्भाव में मूलकारण बन जाता है। अनुमान प्रमाण कैसे होगा ।। २६९ ।। अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा ही व्याप्य और व्यापक का सम्बन्ध गृहीत होता है, अतः साध्य की अनुमिति में भी प्रत्यक्ष को ही प्रयोजक मानना होगा, अनुमान प्रमाण कैसे ।। २७० ।। इस प्रश्न के उत्तर में वही सन्देह रह जाता है कि प्रत्यक्ष से विहित अनुमान की प्रमाणता कैसे ? यदि कहा जाय परोक्ष अग्नि में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उसका साधक अनुमान ही है, तब प्रश्न होता है—परोक्ष अभाव में अनुपलब्धि कैसे प्रवृत्त होगी ? जो प्रवृत्त है वह योग्यानुपलब्धि नहीं कही जा सकती । यदि स्मर्यमाण उपलब्धिपूर्वक अनुपलब्धि मानी जाती है, वह भी सम्भव नहीं । क्योंकि अनुमान स्थल पर भी स्मर्यमाण अध्यक्ष नहीं, अतः वहाँ प्रत्यक्ष की प्रमाणता माननी व्यर्थ है ।। २७१ ।। फलतः इस प्रकरण का निष्कर्ष यह निकलता है कि पहले शीताभाव के साथ वह्नि का सम्बन्ध अवगत होता है, उसके आधार पर वह्नि के द्वारा शीताभाव सिद्ध होता है ।। २७२ ।। वह शीताभाव अनुपलब्धि रूप ही है, अतः अनुमानतः सिद्ध अनुपलब्धि अभावव्यवहार को वैसे ही सिद्ध करती है जैसे प्रत्यक्षसिद्ध अनुपलब्धि । आगे चलकर वार्तिककार ने यही कहा है—"तस्मादनुपलम्भोऽयं स्वयं प्रत्यक्षतो गतः" (४. २७४) वहाँ 'प्रत्यक्षतो गतः' जो कहा गया है वह उपलक्षण मात्र है, अवधृत्ति नहीं । अनुमान तो गत मानना होगा । अर्थात् अनुमानावगत अनुपलम्भ अभाव का साधक है । जब वह्नि की उपलब्धि से शीत के कार्यभूत रोमहर्ष का अभाव सिद्ध किया जाता है तब अग्नि के द्वारा शीतानुपलब्धि कारणीभूत शीत की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि से कार्यभूत रोमहर्ष का अभाव सिद्ध किया जाता है । शीताभाव और रोमहर्षाभाव का स्वभावसम्बन्ध या तादात्म्य मानना होगा । कार्यहेतु और कारणानुपलब्धि दोनों एकत्र प्रवृत्त होते है, अतः वहाँ विरोधी

तस्मात् स्वशब्देनोक्तापि साऽभावस्य प्रसाधिका ।
यस्याप्रमाणं साऽवाच्यो निषेधस्तेन सर्वथा ॥ ८९ ॥

अनुपलब्धि के द्वारा ही परम्परया प्रतिषेध सिद्ध होता है, अतः स्वशब्द (अनुपलम्भ-स्वरूप-वाचक शब्द) के द्वारा वह कथित अनुपलब्धि ही अभाव की साधिका होती है । जिस (चार्वाक) के मत में वह (अनुपलब्धि) अप्रमाण है, उसके मत में प्रतिषेध अवाच्य (असिद्ध) है ॥ ८९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

एकसामग्र्यधीनतयाऽनुमानम् । स च शीतभावस्वभावः । तस्यानुमानोपलब्धिरेव शीतानुपलब्धिस्तेन कार्यहेतुकारणानुपलब्ध्योरेकत्र प्रवृत्तत्वान्न विरोधिलिङ्गान्तरम् । तस्मादनुपलब्धिरेवानुमानसिद्धाऽभावङ्गमयति । तेनानुमितानुमानमेतत् ।

यद्येवमनुमानेन प्रत्यक्षम्प्रसाध्यते । तेन च वस्तुभाव इति न वस्तुविषयम्प्रामाण्यम्भवेदनुमानस्य । तदपि यत्किञ्चिदेव । यतः प्रत्यक्षमुपलम्भरूपमेवोपलम्भः सत्ता चोच्यत इति । तेन वस्तुविषयमनुमानम् । अनुपलम्भ एवासत्तेति चेत् , भवतु को दोषः । अग्निनाऽभावः साध्यते नानुपलम्भेनेति महान् दोषः । नन्वग्निरेव शीताभाव इति स एव तेनैव च साध्यते । यावानेव देश उष्णतया व्याप्यते तावत्येव शीताभाव इति नोष्णस्पर्शव्यतिरेकी शीताभावः । स्वभावहेतुरयमिति चेत् , इष्यत एवानुपलब्धेः स्वभावहेतुता । तेन नास्त्यत्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति कार्यस्वभावहेतू निर्द्दिश्येते । तदाह—तस्मात् स्वशब्देनोक्तापीति ।

विरोधिनो हि वह्न्यादेर्यः स्वशब्दस्तेनोक्तापि प्रतिपादितापि सैवानुपलब्धिरन्यभावलक्षणा सैवानुपलब्धिरभावस्य साधिका । यस्य सा न प्रमाणन्तेन विरोधिसद्भा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लिङ्गान्तर नहीं माना जाता परिशेषतः अनुमानसिद्ध अनुपलब्धि अभाव की गमिका मानी जाती है । अतः इसे अनुमितानुमान कहते हैं । यह जो आक्षेप किया जाता है कि यदि अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष की सिद्धि की जाती है और उसके द्वारा वस्तु का सद्भाव, तब अनुमान का प्रामाण्य वस्तुविषयक नहीं सिद्ध होता, यह कहना भी अनुचित ही है । क्यों कि प्रत्यक्ष उपलम्भरूप होता है, उसी की सत्ता अनुमान की सत्ता है, अतः अनुमान भी वस्तुविषयक होता है । इस प्रकार तो अनुपलम्भ ही असत्ता सिद्ध होता है । यदि ऐसा है तो क्या दोष होगा ? बहुत बड़ा दोष यह होता है कि उस स्थल पर अग्नि से अभाव की सिद्धि माननी होगी, अनुपलम्भ से नहीं । यदि कहा जाय शीताभाव ही अग्निरूप है, वही उससे सिद्ध किया जाता है, जितना देश उष्णता से व्याप्त है उतने देश में ही शीताभाव यदि सिद्ध किया जाता है तब उष्णस्पर्श से व्यतिरिक्त शीताभाव का और कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होता । यदि कहा जाय इस प्रकार तो अनुपलब्धि भी स्वभावहेतु के अन्तर्गत आ जाती है तब वह अभीष्ट ही है । अनुपलब्धि में स्वभावहेतुता मानी ही जाती है । "नास्त्यत्र शीतस्पर्शः अग्नेः" यह कार्य और स्वभावहेतु का निर्देश है ।

अग्नि आदि विरोधी शब्दों के द्वारा प्रतिपादित वही अनुपलब्धि अभाव की साधिका मानी जाती है जिस चार्वाक के मत में अनुपलब्धि प्रमाण नहीं माना जाता उसके मत में प्रतिषेध या अभाव की सिद्धि कैसे होगी । चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष के

एतेन तद्विरुद्धार्थकार्योक्तिरुपवर्णिता ।
प्रयोगः केवलं भिन्नः सर्वत्रार्थो न विद्यते ॥ ९० ॥

धूमादि का अभाव धूमानुपलब्धि, धूम-कारणीभूत वह्न्यादि की अनुपलब्धि एवं वह्नि-विरुद्ध हिमादि की उपलब्धि से सिद्ध होता है। इनके साध्य-साधनभाव के प्रयोग केवल भिन्न होते हैं [विस्तर के लिए न्यायबिन्दु का अनुपलब्धि-प्रकरण द्रष्टव्य है] ॥ ९० ॥

विरुद्धं तच्च सोपायमविधायापिधाय च ।
प्रमाणोक्तिनिषेधे या न साऽम्नायानुसारिणी ॥ ९१ ॥
उक्त्यादेः सर्ववित्प्रेत्यभावादिप्रतिषेधवत् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां विरोधस्याप्रसिद्धितः ॥ ९२ ॥

वह्न्यादिरूप विरुद्धार्थ की उपलब्धि अपने विरोधी शैत्यार्थं की प्रतिषेधिका होने से अनुपलब्धि प्रमाण मानी जाती है। विरुद्धतांश का पिधान (अनपेक्षित) करके किसी भी पदार्थ की उपलब्धि से किसी के अभाव की सिद्धि आगमानुसारिणी (न्यायोचित) नहीं कही जा सकती, जैसे "बुद्धो न सर्वज्ञः, वक्तृत्वात्"—इस प्रकार वक्तृत्व की उपलब्धि से सर्वज्ञत्व का प्रतिषेध सर्वथा असंगत है, क्योंकि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व का कोई विरोध नहीं। ऐसी अनुपलब्धि को अयोग्यानुपलब्धि कहा जाता है। इसको प्रमाण मान लेने पर तो प्रेत्यभाव (परलोक) और धर्माधर्म आदि समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रतिषेध हो जायगा, जो कि सर्वथा अनुचित है ॥ ९१-९२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वेनावाच्यो निषेधः । न खलु निषेधस्यान्या गतिः । तथा हि—एतेन तद्विरुद्धार्थेति ।

प्रतिषेध्यशीतादिविरुद्धस्याग्न्यादेरर्थस्य यत्कार्यन्तत्राप्यनुमितानुमानेनानुपलब्धिरेव साधिताऽभावङ्गमयति व्यवहारतः । तथा हि—

धूमादग्निः कार्यभूयात् प्रसिद्धः शीताभावं साधयेत् पूर्वयुक्त्या ।
शीताभावो ह्यन्यथा नैव सिद्ध्येत् पारम्पर्यादेव तत्राप्यभावः ॥ २७३ ॥

धूमादग्निरग्नेः शीताभावरूपादुपलब्धिविपर्ययाच्छीताभावव्यवहार इति तस्मात् प्रयोगवचनविन्यासमात्रमेव विद्यते । यतो हि—विरुद्धन्तच्च सोपायमिति ।

न खलु वचनं सर्ववेदनविरुद्धम् । न खल्वतीतेन्द्रियेण सह विरोधसिद्धिः । संवेद-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं, जिससे निषेध की सिद्धि हो।

जहाँ प्रतिषेध्यभूत शीतादि के विरुद्ध अग्नि आदि अर्थ का जो कार्य है वहाँ भी अनुमित अनुमान के द्वारा अनुपलब्धि ही कार्य की साधिका होती है, अर्थात् कार्यभूत धूम के द्वारा कारणभूत अग्नि की सिद्धि की जाती है। वह अग्नि शीताभाव को सिद्ध करती है, पूर्वचर्चित रीति से अन्यथा शीताभाव की प्रतीति नहीं हो सकती। वहाँ भी अभाव अनुपलब्धि परस्परया प्रमाण माना जाता है ॥ २७३ ॥

धूम से अग्नि, अग्नि से शीताभाव का व्यवहार प्रवृत्त होता है, अतः अनुपलब्धि स्थल पर प्रयोग-वचनों का केवल भेदमात्र हो जाता है। जहाँ पर साध्य और साधन में विरोध नहीं, उसे आभास कहते हैं, जैसे "नायं सर्वज्ञः वक्तृत्वात्" वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व

बाध्यबाधकभावः का स्यातां यद्युक्तिसंविदौ।

तादृशोऽनुपलब्धेश्चेद् उच्यतां सैव साधनम् ॥ ९३ ॥

यदि वक्तृत्व और ज्ञान दोनों एक व्यक्ति में उपलब्ध होते हैं, तब उनका बाध्यबाधकभाव (विरोध) कैसा ? यदि कहा जाय कि इनका अविरोध भी तो सिद्ध नहीं, तब संशयावस्था में "नायं सर्वज्ञः, वक्तृत्वात्"—यह हेतु व्यभिचारी हो जाता है। सर्वज्ञ का प्रतिषेध करने पर उसी अनुपलब्धि की शरण में जाना होगा ॥ ९३ ॥

अनिश्चयकरं प्रोक्तमीदृक् कानुपलम्भनम्।

तन्नात्यन्तपरोक्षेषु सदसत्ताविनिश्चयौ ॥ ९४ ॥

ऐसा अतीन्द्रियार्थ-विषयक अनुपलम्भ निश्चयकारक नहीं होता। फलतः अत्यन्त परोक्ष विषयों की सत्ता या असत्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता ॥ ९४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नादेव वचनम्प्रवर्त्तते कथन्तदभावं साधयेत्। सर्ववेदनेन विरुद्धमिति चेत्। केन विरोधग्रहणम्। यदि हि वेदनोत्कर्षान्वयेऽपचयो दृश्यते वचस्वितायाः सर्वं शोभेत सर्ववेदने सकलवचस्विताऽभाव एव। न चैतत्। वक्तारोऽसर्ववेदिन उपलब्धा इति चेत्, वक्तारो मूर्खा उपलब्धा इति किन्न सर्वस्य मूर्खता। वक्तुः पाण्डित्यमुपलभ्यत इति चेत्, तदपि नोपलप्स्यत इति कुतः ? तथा हि—बाध्यबाधकभावः क इति।

यथा हि मूर्खस्य वचनन्तदभावेऽपि पाण्डित्यसमये विशेषं वचनन्तथा यदि सर्ववेदनावस्थायामपि को विरोधः। न हि सर्ववेदनोत्कर्षविरोधिवचनम्। अत्यन्तोत्कर्षे विरोध्येवेति चेत्, न, विरोधस्याग्रहणात्। तादृशस्य वक्तुरनुपलम्भ एवेति नोत्तरम्। अनुपलम्भस्य दृश्यविषयत्वेन गमकत्वात्। तथा हि—अनिश्चयकरम्प्रोक्तमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का कोई विरोध नहीं, सर्वज्ञता अतीन्द्रिय पदार्थ है, उसके साथ वक्तृत्व का कोई विरोध सिद्ध नहीं होता। संवेदन के आधार पर ही वचन की प्रवृत्ति होती है, वह वचन संवेदन के अभाव को कैसे सिद्ध कर सकेगा। यदि कहा जाय कि केवल वेदन के साथ वक्तृत्व का विरोध नहीं, किन्तु सर्ववेदन के साथ वक्तृत्व का विरोध है। तब प्रश्न होता है उस विरोध का ग्रहण किससे होगा ? यदि वेदन के उत्कर्ष से वचस्विता (वक्तृता) का विरोध हो तब अवश्य ही सर्ववेदन के द्वारा वचस्विता का अभाव सिद्ध हो सकता है, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। यदि कहा जाय कि प्रायः वक्ता असर्वज्ञ देखे जाते हैं, अतः सर्वज्ञ निर्वक्तृत्व कैसे होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है यदि कोई एक वक्ता मूर्ख है तब सभी वक्ताओं को क्या मूर्ख माना जा सकता है। वक्ता में पाण्डित्य उपलब्ध होता है, तब प्रकृतवक्ता में भी पाण्डित्य उपलब्ध हो सकता है। यदि मूर्ख का वचन उसके पाण्डित्य के समय भी रहता है तब सर्ववेदनावस्था में भी वचन के रहने पर क्या विरोध। वचन सर्ववेदन रूप उत्कर्ष का विरोधी नहीं होता। ज्ञान की अत्यन्त उत्कृष्ट अवस्था में वचन का विरोध भी नहीं माना जा सकता। यह जो कहा जाता है—"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः" (श्लो० वा० चो० सू० ११७)। इस पर हमें कुछ नहीं कहना। इतना अवश्य सोचना है कि सर्वज्ञता नाम की वस्तु दृश्य है अथवा नहीं। सर्वज्ञता यदि दृश्य

भिन्नोऽभिन्नोऽपि वा धर्मः स विरुद्धः प्रसज्यते ।
यथाऽग्निरहिमे साध्ये सत्ता जन्मबाधिनी ॥ ९५ ॥

कथित विरुद्ध धर्म कहीं भिन्न होता है और कहीं अभिन्न । जैसे हिमाभाव के सिद्ध करने पर अग्नि हिम से भिन्न है और 'महदादीनां जन्माभावः, सत्त्वात्'—यहाँ पर सत्ता और जन्म का अभेद सांख्य-सम्मत है । विरुद्ध धर्मों का परमार्थतः तादात्म्य

वार्तिकालङ्कारः

अत्यन्तपरोक्षस्य हि सर्ववित्प्रेत्यभावादेरनुपलम्भमात्रादभावनिश्चयात् । अथापि स्यात् । सर्ववेदने सति अभ्रान्तस्य कुतो वचनसम्भवः । विवक्षा हि पूर्वापरपरामर्शतो भ्रान्तोपजायमाना प्रवर्त्तयति वचांसि । नैतदपि सम्यक् ।

स्पष्टं सर्वपदार्थानां वेदनेऽपि प्रवर्त्तते । विवक्षाभ्यासतस्तत्र वचसोऽसम्भवः कुतः ।२७४॥

न खलु भावनाबलावलम्बिस्पष्टतरपरिमितेतरपदार्थदर्शनसमकालाभ्यासतो विवक्षा न भवति । विवक्षाभावेऽपि पूर्वविधतो वचनम् । न हि वचनानां सन्निहितैव विवक्षा कारणम् । पूर्वविधतोऽन्यमनसोऽपि पदवाक्यविविक्तपाठदर्शनात् । अनेकपूर्वाभ्यस्तक्रियाप्रक्रमदर्शनाच्च । अनेन पूर्वापरपर्यालोचनमन्तरेणापि सन्निहितप्रतिपत्तृप्रतिवचनङ्कथमिति प्रत्युक्तम् ।

शत्रुसन्निधिमात्रेण प्रवर्त्तन्तेऽविकल्पतः । प्रगे च तन्निराकारिप्रक्रियाः कायनिर्मिताः ।।२७५॥

यथा च पूर्वाभ्यासतो झटिति प्रबोधितस्यारिणा प्रहारादिदानेनानुरूप एव प्रक्रमः शस्त्रोद्धरणादिकस्तथा सर्ववेदिनोऽपि सकलाः क्रिया इत्यविरुद्धम् । तस्माद् विरुद्धादेवाभावनिश्चयः प्रतियोगिनः । एवं हि—भिन्नाऽभिन्नोऽपि वा धर्मं इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं तब उसकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं हो सकती । अत्यन्त परोक्ष सर्वज्ञत्व प्रेत्यभाव (परलोक) धर्माधर्मादि संस्कारों का भी अयोग्यानुपलब्धि के आधार पर प्रतिषेध किया जा सकता है ।

प्रश्न—सर्वज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहता, भ्रम के बिना अहमादि व्यवहार प्रवृत्त नहीं हो सकता, तब सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव न्यायोचित है । विवक्षा भी पूर्वापर परामर्श से उपजनित होने के कारण भ्रान्ति पर आश्रित है, विवक्षा के आधार पर वचन की प्रवृत्ति होती है । अभ्रान्त व्यक्ति में वह सम्भव कैसे ?

उत्तर—सर्व पदार्थों का ज्ञान होने पर वाक्यप्रयोग देखा जाता है । सर्वज्ञ में भी पूर्वाभ्यास के आधार पर विवक्षा में वैसे ही प्रवृत्ति हो जाती है जैसे की वेदान्तप्रतिपादित जीवनमुक्त व्यक्ति में सभी व्यवहार अक्षुण्ण पाया जाता है ।। २७४ ।। अर्थात् इष्टानिष्ट भावनाओं के बल पर पदार्थ-दर्शन काल में विवक्षा क्यों नहीं हो सकती । विवक्षा न होने पर भी पूर्वविध के आधार पर वचनव्यक्ति देखी जाती है । विवक्षा को सन्निहित पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती । अन्यमनस्क व्यक्ति भी विविध वाक्यों का प्रयोग करता देखा जाता है । अतः वचनप्रयोग के लिए विवक्षा की अनिवार्यता भी नहीं । शत्रु की सन्निधिमात्र से क्रिया-प्रतिक्रियात्मक व्यापार स्वतः प्रवृत्त हो जाता है । शत्रु के प्रहारों का निराकरण अपने-आप होने लग जाता है ।।२७५।। अर्थात् सहसा किसी शत्रु के सम्मुख हो जाने पर आक्रमण-प्रत्याक्रमण आदि व्यवहार स्वतः प्रवृत्त हो जाता है, वैसे ही सर्वज्ञ पुरुष में भी सभी प्रकार की क्रियायें प्रवृत्त हो जाती हैं ।

वार्तिकालङ्कारः

शीतोष्णस्पर्शयोः परस्परम्भेदात् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः। सत्ताजन्मनोश्च परस्परपरिहारलक्षण इत्यभेदः। न खलु जन्म सत्ताव्यतिरेकेण विरोधश्च। न हि सदेव जायते। सतो हि सर्वनिराशंसस्य को जन्मार्थः। कथमव्यतिरिक्तयोः परस्परं विरोधः। परेणाव्यतिरेकेणाऽभ्युपगमायैवमुच्यते।

ननु कोऽयं विरोधो नाम। निवर्त्यनिवर्त्यकभावः। तथा हि—

अविकलकारणमेकं यदपरभावे यदा भवेन्न भवेत्।
भवति विरोधस्य तयोः शीतहुताशनवद् दृष्टः ॥ २७६ ॥

ननु यद्यन्यस्याभावोऽन्येन क्रियते। तदयुक्तमभावस्य कार्यत्वाभावात्। अथ न क्रियते तदा स्वयमेव विनश्यतः कः परेण विरोधः। न च क्षणस्य विनाशोऽन्येन क्रियते। उत्पन्नानुत्पन्नावस्थयोरयोगात्। अनुत्पन्नमसत् कस्य विरोधो विनाशो वा। उत्पन्नं स्वकाले विनाशयितुमशक्यं क्षणस्याविकार्यत्वात्। अन्यकाले तु एव नास्ति कस्य विनाशः। सन्ततेर्विनाश इति चेत्, न, तद्व्यतिरेकेण सन्तत्यभावात्। ननु सन्ततेरस एव विनाशो य उत्तरक्षणप्रबन्धविघातः। तदप्यसत्।

यदि कारणसद्भावः कथं व्याघातकृत् परः। अथ कारणसद्भावः कथं व्याघातकृत् परः ॥२७७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निष्कर्ष यही है कि विरोधी पदार्थ के द्वारा ही प्रतियोगी के अभाव का निश्चय होता है।

शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का परस्पर भेद होने के कारण सहानवस्थानात्मक विरोध है। सत्ता और जन्म का परस्पराभावात्मक विरोध होने के कारण सत्ता और जन्म का अभेद है, क्योंकि जो सत् पदार्थ है अपनी सत्ता के लिए किसी आशंसा (अपेक्षा) नहीं रखता, उसे जन्म से क्या प्रयोजन ? परस्पर अव्यतिरिक्त (अभिन्न) पदार्थों का परस्पर विरोध कैसा ? अभ्युपगमवाद का सहारा लेकर वैसा कहा जाता है।

प्रश्न—यह विरोध क्या वस्तु है ?

उत्तर—परस्पर निवर्त्य-निवर्तक-भाव। अर्थात् जब कि कोई अविकल-कारणक (पूर्णसामग्री-सम्पन्न) पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के सहसा आ जाने पर निवृत्त हो जाता या नहीं रहता। तब उस पदार्थ के साथ उसका विरोध माना जाता है, जैसे हिम और अग्नि का देखा जाता है ॥ २७६ ॥

आक्षेप—अन्य पदार्थ के द्वारा अन्य पदार्थ का अभाव किया जाता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्यों कि अभाव पदार्थ क्रियमाण ही नहीं। यदि अभाव किसी का कार्य नहीं, तब क्षणिक होने के कारण वह दूसरे का विरोध क्या कर सकेगा ? क्षण का विनाश अकारण है, अन्य किसी के द्वारा नहीं किया जाता, क्योंकि न तो उत्पन्न का विनाश हो सकता है और न अनुत्पन्न का। अनुत्पन्न तो असत् है, उसका न किसी से विरोध है और न विनाश। उत्पन्न पदार्थ विनष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह किसी का विकार्य नहीं। अनुत्पन्न पदार्थ तो है ही नहीं, किसका विनाश होगा ? सन्तान का भी विनाश नहीं किया जा सकता, क्योंकि सन्तानी से भिन्न सन्तान कोई वस्तु नहीं। सन्तति का ही ऐसा विनाश कि उत्तर क्षण में धारा अवरुद्ध हो जाय—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि यदि सन्तति का कारण विद्यमान है, तब उसका विघात या अवरोध नहीं किया जा सकता और यदि कारण का सद्भाव नहीं, तब वह

वार्तिकालङ्कारः

यद्युत्तरक्षणोत्पत्तौ कारणमस्ति कथं व्याघातः। अथ न कारणन्दैवरक्ताः किंशुकाः। अथ कारणवैकल्यमेव विरोधिना क्रियते। तदप्यसत्। यतः—

असतो यदि वैकल्यं किंशुके दैवरक्तता। सतश्च स्वेन रूपेण वैकल्यं किं करिष्यति ॥२७८॥

यदि तत्रास्त्यवैकल्यकारणन्तदसत् कथम्। अथावैकल्यकृन्नास्ति विकलः स्वयमेव सः ॥२७९॥

कारणस्यापि हि वैकल्यमवैकल्यकारणसद्भावे न शक्त्यभावे तत्कारणस्य स्वयमेव भवति वैकल्यन्तत्र किं विरोधी करिष्यति। अत्र परिहारः—

शीताच्छीतान्तरोत्पत्तिरनग्निसहकारिणः। सहकारिणमासाद्य तदशीतस्य कारणम् ॥२८०॥

सन्निदधीयमानदहनसहकारी मन्दतरतमादिशीतस्पर्शजनको हि पूर्वकः शीतस्पर्शो यावच्छीतान्तरं शीतस्पर्शस्याजनकम्भवति। तस्य स्वयमेव निवृत्तेरपरस्य च कारणाभावेनानुत्पत्तिरिति सहकारित्वेन विगुणशीतकारणजननेन निवर्तको वह्निः शीतस्येति व्यपदिश्यते। तत्कृता तस्य विकलकारणोत्पत्तिरिति ततोऽनुत्पत्तिरेव। तस्य प्रागभावलक्षणा निवृत्तिरिति व्यपदिश्यते। उत्पत्तौ हि कारणानि व्याप्रियन्ते न निवृत्तौ। अथवा शीतस्य स्वहेतुनियतः स स्वभावो येनाग्निसन्निधाने शीतक्षणान्तरं स्वकार्यंनोत्पादयति। प्रतिनियता हि भावानां शक्तयः। एकत्र सन्निधानं विरुद्धयोः कथमिति चेत्, एवमेव विरोधोऽन्यथाऽयोगात्। न च क्षणयोर्विरोधोऽपि तु प्रबन्धयोः। दृश्यते

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सम्भव ही नहीं, उसका विघात क्या होगा ? ॥ २७७ ॥

यदि उत्तर क्षण की उत्पत्ति में कारण हैं, तब व्याघात कैसा ? यदि कारण ही, नहीं, तब भी विघात नहीं हो सकता, क्योंकि दैव-रक्त (स्वभावतः लाल पलाश-पुष्प) की लालिमा किस से पिहत हो सकती है ? विरोधी पदार्थ के द्वारा कारण-वैकल्य भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि असत् पदार्थ के कारण का वैकल्य व्यर्थ और सत् स्वरूपतः विद्यमान है, उसका कारण-वैकल्य क्या करेगा ? ॥ २७८ ॥ यदि असत् पदार्थ के कारण का वैकल्य नहीं, तब वह असत् कैसे ? यदि अवैकल्य का कारण नहीं, तब स्वरूपतः विकल क्या कर लेगा ? ॥ २७९ ॥ कारण का वैकल्य भी नहीं हो सकता, यदि उसके कारण का वैकल्य नहीं। कारणगत शक्ति का अभाव मानने पर कारण का स्वयं वैकल्य हो जाता है, विरोधी क्या कर लेगा ?

परिहार—अग्नि के अभाव में एक शीत से शीतान्तर की उत्पत्ति होती है और अग्निरूप सहकारी को पाकर वही शीत अशीत का कारण बन जाता है ॥२८०॥ अर्थात् सन्निधीयमान अग्नि-सहकृत-पूर्वक शीतस्पर्श उत्तरोत्तर मन्दशीत स्पर्श, मन्दतर और मंदतम शीतस्पर्श को जन्म देता है, जब तक शीतान्तर-जनकता अवरुद्ध नहीं हो जाती। तब तक शीतस्पर्श स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। अन्य शीतस्पर्श अपने कारण के अभाव में स्वयं ही उत्पन्न नहीं होता। पूर्वक शीतस्पर्श को विगुणित (कार्यक्षम) करने के कारण अग्नि को शीत का निवर्तक कहा जाता है, क्योंकि शीत में शीतान्तर की विकलकारणता अग्नि-प्रयुक्त है। कारणकलाप सदैव कार्य की उत्पत्ति में ही व्यापृत होता है, निवृत्ति में नहीं।

अथवा पूर्वक शीतस्पर्श में अपने समनन्तर प्रत्यय से लब्ध वह स्वभावविशेष अग्नि से सन्निहित होकर अपने शीतक्षणान्तर कार्य का उत्पादन नहीं करता। भाव पदार्थों की शक्तियाँ प्रतिनियत (व्यवस्थित और विचित्र) होती हैं। दो विरुद्ध पदार्थों

वार्तिकालङ्कारः

चैवमुष्णमनुभवतोऽपि नाद्यापि शीतमपैतीति संवेदनम्। तथा न स्पष्टान्धकारमपैतीति। अतिपरिस्फुटालोकसम्भवे तस्मिन्नेव क्षणेऽपैतीति चेत्, न, तत्रापि तत्कारणसहितस्यान्धकारान्तरजननसामर्थ्यादालोक एवोत्पत्तिमान्नान्धकारः। स एव नष्ट इति चेत्, न, तस्य स्वरूपेणोत्पन्नत्वात्।

येन स्वभावेनोत्पत्तिर्न तेनैव विनश्यति। येनापि तस्यानुत्पत्तिस्तथापि न विनश्यति ॥२८१॥

तस्मान्न स एव विनष्टः। नन्वदर्शनमेव विनाशः स एव च विनाशावस्थायामप्रतीतेः कथं स इति प्रतीतिः। यदा प्रतीयते न तदा विनष्टः। यदापि विनष्टस्तदापि न प्रतीयते। तेनैवासौ विनष्टो येन न प्रतीयते। अन्यथा प्रतीयमाने को विनाशार्थः। यदि नोपलभ्यमानो विनष्टः। न प्रदेशे घटोपलब्धिरिति सोऽपि नष्टो भवेत्। प्राग् दृष्टो नोपलभ्यते यः स विनष्ट इति चेत्, सोऽपि प्राग्दृष्ट एव। यत्र दृष्टस्तत्र तदेव नोपलभ्यमानो विनष्टस्तदेवोपलभ्यते तदेव नोपलभ्यत इति व्याहतम्। कालान्तरे नोपलभ्यतेऽनन्तर इति चेत्, देशान्तरेऽनन्तरेऽनुपलभ्यमानः कथन्न नष्टः।

कालान्तरे न नष्टश्चेत् नष्टो देशान्तरे न किम्।
न चेद् देशान्तरव्याप्तिर्ननु कालान्तरस्य किम् ॥ २८२ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का सन्निधान कैसे? ऐसे ही हो जाता है और विरोध भी, अन्यथा विचार करने पर विशीर्ण हो जाता है। विरोध भी दो क्षणों का नहीं, सन्तानों का होता है। अग्नि सेकते-सेकते भी यह अनुभूति होती है कि "नाद्यापि शीतमपैति"। वैसे ही प्रकाश में भी "न स्पष्टमन्धकारमपैति"—ऐसा भी संवेदन होता है। अतिस्फुट आलोक के होने पर तो उसी क्षण में अन्धकार समाप्त हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ प्रकाश-सहकृत अन्धकारक्षण में अन्धकारान्तर के जनन के सामर्थ्य से आलोकान्तर ही उत्पन्न होता है, अन्धकार नहीं। अतएव वह अन्धकार नष्ट क्यों मान लिया जाय? इसका उत्तर भी वही है कि प्रकाश-सहित अन्धकारान्तर-जनन सामर्थ्य से ही आलोक उत्पत्तिमान माना जाता है, अन्धकार नहीं। वहाँ अन्धकार नष्ट नहीं, क्योंकि स्वरूपेण उसकी उत्पत्ति मानी जाती है, हाँ, जिस स्वभावविशेष से अन्धकार उत्पन्न होता है, उसी स्वभाव से नष्ट नहीं होता और जिस रूप में अन्धकार की उत्पत्ति नहीं, उस रूप में उसका नाश नहीं होता ॥२८१॥

अदर्शन का ही नाम विनाश है, विनाशावस्था में वह प्रतीत नहीं होता, अप्रतीति या अदर्शन हो जाने पर 'सः'—इस प्रकार परोक्ष प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि जब प्रतीत होता है, तब नष्ट नहीं होता और जब नष्ट होता है, तब प्रतीत नहीं होता। उसी आकार से वह नष्ट होता है, जिस आकार से प्रतीत नहीं होता। अन्यथा प्रतीयमान पदार्थ नष्ट नहीं कहा जाता। यदि अनुपलभ्यमान पदार्थ को नष्ट कहा जाय, तब घट अपने समीप के प्रदेश में अनुपलब्ध होने से नष्ट माना जायगा? जो पहले देखा गया और अब उपलब्ध नहीं, वह विनष्ट होता है—ऐसा मानने पर नष्ट वस्तु प्राक्-दृष्ट है, अतः वह नष्ट कैसे? जहाँ जो पदार्थ दृष्ट है, वहीं उसका उपलम्भ न होना ही विनाश है—ऐसा मानने पर उसी काल में उपलब्धि और अनुपलब्धि व्याहत (विरुद्ध) क्यों नहीं? नष्ट पदार्थ कालान्तर में उपलब्ध नहीं होता—ऐसा मानने पर देशान्तर में अनुपलब्ध पदार्थ को भी 'विनष्ट क्यों न मान

वार्तिकालङ्कारः

यदि देशान्तरव्यापी न सम्भवत्येव कश्चित् । तेन स एव न नष्टः कालान्तरव्याप्यपि नैव सम्भवति कथं सोऽपि नष्टः । ननु देशान्तरेऽनुपलभ्यमानेऽपि देशान्तर उपलभ्यमानः कथं विनष्टः । देशान्तरवदेव तर्हि कालान्तरेऽप्युपलभ्यमानः कथं विनष्टः । कालान्तरेऽनुपलब्धिरिति चेत् , समानमेतदुभयत्रापि । तस्माद्—

यो यथा दृश्यते भावः स तथैवान्यथा न हि । नीलन्नीलतया दृष्टन्न सितत्त्वेन विद्यते ।।२८३।।

तस्मान्न स एव विनष्टोऽपि तु परो नोत्पन्नः कारणाभावात् । तदनुपलब्धौ स नष्ट इत्यभिमानमात्रकम् । तेनैवम्भूते विषये सहानवस्थानलक्षणविरोधव्यवस्था । परमार्थतः कारणभावविशेष एव विरोधः । परस्परपरिहारस्थितलक्षणो विरोध एवमेव । यः क्षणिकञ्जनयति स नित्यस्वभावञ्जनयितुमसमर्थः । तेन नित्यत्वस्यानुत्पत्तिरेव । यथा चानित्यत्वमपि तन्नित्यत्वेन तथा नीलत्वादयोऽपि परस्परमिति नानयोर्विशेषः । (नानयोः परमार्थतः परस्परं विरोधयोर्विशेषः) । ततः परस्परं विलक्षणत्वमेव विरोधः कारणवशात् । स च पदार्थस्वरूपमेवान्यथा स्वरूपाभावात् । सा च तयोः परस्वरूपविलक्षणोपलब्धिरन्यापेक्षयाऽनुपलब्धिरेवेति सर्वोऽनुपलम्भत एवाभावव्यवहार इति ।

"प्रयोगः केवलम्भिन्नः सर्वत्रार्थो न भिद्यते" (प्र० वा० २१९०)

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लिया जाय ? नष्ट पदार्थ यदि कालान्तर में नहीं, तब वह देशान्तर में क्यों न होगा ? देशान्तर में यदि व्याप्ति (सत्ता) नहीं, तब कालान्तर में भी क्यों होगी ।। २८२ ।। यदि कोई देशान्तर-व्यापी नहीं, तब वह नष्ट है और कालान्तर-व्यापी भी नहीं, तब नष्ट कैसे ? जो देशान्तर में अनुपलभ्यमान भी है किन्तु देशान्तर में उपलभ्यमान है, वह विनष्ट कैसे ? इस पर भी प्रश्न उठता है कि देशान्तर के ही समान कालान्तर में उपलभ्यमान विनष्ट क्यों होगा ? नष्ट पदार्थ को यदि कालान्तर में अनुपलब्धि है, तब देशान्तर में भी माननी होगी । अतः निष्कर्ष यह निकला कि भाव-पदार्थ जब जैसा देखा जाता है, तब वह वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं, जैसे कि नील पदार्थ नीलतया दृष्ट है, सितत्वेन उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती ।। २८३ ।। अन्धकार और प्रकाश में प्रकाश के द्वारा अन्धकार नष्ट नहीं होता, अपितु प्रकाश-सहकृत अन्धकारक्षण से क्षीण, क्षीणतर और क्षीणतम अन्धकार उत्पन्न होता है । यहाँ तक कि अन्धकार के कारणक्षण नितान्त निर्बल होकर अपने कार्योत्पादन का सामर्थ्य खो बैठते हैं । फलतः अन्धकार की उत्पत्ति नहीं होती, प्रकाश ही अपने सक्षम कारणों से प्रज्वलित होता रहता है । वहाँ अन्धकार की अनुपलब्धि को प्रकाश के द्वारा अन्धकार का विनाश मान लिया जाता है । इसलिए ऐसे अवसरों पर प्रकाश और अन्धकार "सहानवस्थान लक्षणनिरोध" माना जाता है । वस्तुतः कारण-भावों का परस्पर उपचय और प्रचय ही विरोध पदार्थ है । परस्पर परिहार स्थितिरूप विरोध भी इसी प्रकार का होता है । जो कारण क्षणिक वस्तु को जन्म देता है, वह नित्यस्वभाव के पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता है । इसलिए नित्यत्व की उत्पत्ति नहीं मानी जाती । जैसे नित्यत्व और अनित्यत्व का सम्मिश्रण नहीं होता, इसी प्रकार नीलत्वादि का भी । ऐसे पदार्थों की विलक्षणता का नाम ही विरोध है । वह विरोध पदार्थों का स्वरूप माना जाता है । उससे भिन्न उसका कोई रूप नहीं है । शीतोष्ण के समान विलक्षण स्वरूपों की उप-

नहीं होता। सत्ता और जन्म दोनों विरुद्ध हैं, क्योंकि पूर्व असत्-पदार्थ का सत्ता-लाभ जन्म-पदार्थ है और सत्ता है—विद्यमानता। सत्ता और जन्म दोनों एकरूपेण नहीं, अत: एक के अभाव में ही दूसरे की अवस्थिति है ॥९५॥

यथा वस्त्वेव वस्तूनां साधने साधनं मतम्।
तथा वस्त्वेव वस्तूनां स्वनिवृत्तौ निवर्तकम् ॥ ९६ ॥

जैसे भाव की सिद्धि में भाव ही साधन होता है, अभाव नहीं, वैसे ही भाव पदार्थ ही भावान्तर की निवृत्ति में साधक होता है ॥९६॥

एतेन कल्पनान्यस्तो यत्र क्वचन सम्भवात्।
धर्मः पक्षसपक्षान्यतरत्वादिरपोदितः ॥ ९७ ॥

भाव पदार्थ में ही भाव और अभाव की साधनता का पर्यवसान हो जाने से विकल्प-प्रसूत पक्षसपक्षान्यतरत्वादि धर्मों का अपवाद (बाध) हो जाता है, क्योंकि विवक्षा के अधीन होनेवाले वैसे धर्मों का प्रयोग तो कहीं भी हो सकता है ॥९७॥

वार्तिकालङ्कारः

इति युक्तमुक्तम्। अतीन्द्रियाणाञ्च नायं विरोध इति नाभावसाधिका विरुद्धोपलब्धिः। नाप्यनुपलब्धिमात्रम्। नोपलभ्यत इत्येतावता नास्तीति न भवति। यस्य हि दर्शनं ज्ञेयसत्तां व्याप्नोति स एवम्ब्रुवाणः शोभेत। तदापि स एव सर्वज्ञ इत्यप्रतिक्षेपः सर्वविदः नापि परलोकादेः। सर्वदर्शिना नोपलभ्यत इत्यत्र प्रमाणाभावात्। विपर्यये च प्रमाणमुक्तम्। तस्मात्—यथा वस्त्वेव वस्तूनामिति।

यथा प्रतिबन्धतो वस्त्वेव वस्तुनः साधनम्। यथाकथञ्चिन्न वस्तु वस्तुनः साधकमप्रतिबद्धमेव। तथा वस्त्वेव स्वनिवृत्तौ निवर्तकं वस्तुनः। न हि प्रतिबन्धमन्तरेण वस्तुनिवृत्तौ वस्त्वपरन्निवर्त्तते। यथा कार्यङ्कारणं साधयति व्यापकञ्च व्याप्यन्तथा-कारणाभावः कार्यस्याभावं व्यापकाभावश्च व्याप्याभावस्येति। अन्यथा स एव प्रतिबन्धो न स्यात्। अयमपि प्रतिबन्धस्य भावो यावन्वयव्यतिरेकौ नान्यः प्रतिबन्ध इति। तथा हि—एतेन कल्पनान्यस्त इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लब्धि ही वह अनुपलब्धिपदार्थ है जिससे अभाव का निश्चय होता है। इसका स्पष्टीकरण पहले निश्चय किया गया है—"प्रयोगः केवलं भिन्नः सर्वत्रार्थो न भिद्यते" (प्र० वा० २।९०) अतीन्द्रिय पदार्थों का विरोध नहीं माना जाता, अतः उनमें विरुद्धोपलब्धि अभाव की साधिका नहीं होती। "नायं सर्वज्ञः वक्तृत्वात्" यहाँ वक्तृत्वधर्म न तो सर्वज्ञत्व का विरोधी है और न उसकी उपलब्धि से सर्वज्ञत्वाभाव का निश्चय होता है, यह पहले कह चुके हैं। परलोकादि का भी प्रतिक्षेप उसी प्रकार नहीं किया जा सकता। सर्वदर्शी पुरुष को परलोकदर्शन नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फलतः अपने प्रतिबन्ध (सम्बन्ध) विशेष के द्वारा एक भावपदार्थ दूसरे के भाव का गमक होता है। वैसे ही अग्न्यादि भावपदार्थ शीतादि के अभाव के गमक माने जाते हैं। साध्यसाधनभाव में अपेक्षित प्रतिबन्ध के समान ही निवर्त्य-निवर्तकभाव में उसकी अपेक्षा अनिवार्य है। जैसे कार्य अपने कारण का साधक होता है, व्यापक अपने व्याप्य का साधक होता है, वैसे ही कारणाभाव कार्याभाव का व्यापकाभाव अपने व्याप्याभाव का बोधक माना जाता है, ऐसे स्थलों पर प्रतिबन्ध सदैव अन्वयव्यतिरेकात्मक ही

तत्रापि व्यापको धर्मो निवृत्तेर्गमको मतः ।
व्याप्यस्य स्वनिवृत्तिश्चेत् परिच्छिन्ना कथञ्चन ॥ ९८ ॥

भावपदार्थों में भी व्याप्यार्थ का व्यापकीभूत और कार्यभूत धर्म का कारणभूत धर्म अपने स्वभावभूत व्याप्य या कार्य का निवर्तक माना जाता है। हाँ, वह यदि कथञ्चित् (साक्षात् या परम्परया) परिच्छिन्न (निश्चित) होना चाहिए ॥९८॥

यदप्रमाणताऽभावे लिङ्गं तस्यैव कथ्यते ।
तदत्यन्तविमूढार्थम्, आगोपालमसंवृत्तेः ॥ ९९ ॥

यह जो विवक्षित पदार्थ के प्रमाण की निवृत्ति उसके अभाव-व्यवहार की साधिका कही जाती है, वह कोई विशेष महत्त्व की नहीं, क्योंकि यह तो एक गोपाल बाल (साधारण व्यक्ति) से लेकर सभी लोगों में प्रसिद्ध है कि जिस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं, उसका अभाव होता है ॥ ९९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि पक्षासपक्षान्यतरत्वम्नित्यानित्ययोरेकत्रापि प्रतिबद्धम् । इच्छाकृतो हि पक्षस्तदनुसारेण यः सपक्षः सोऽपि तथैव । तत इच्छामात्रप्रतिबद्धत्वान्न वस्तु गमयति । न ह्यन्यप्रतिबद्धत्वमन्यङ्गमयत्यतिप्रसङ्गात् । नापि व्यावर्त्तते कुतश्चित् येन तदभावङ्गमयेत् । तस्यापि पक्षत्वमिच्छाकृतमस्त्येव । तस्मात् सपक्षान्यतरत्वमगकम् । तथाऽविपक्षत्वादिकञ्च । तस्मात् प्रतिबन्धादेव विधिनिषेधप्रसिद्धिः । एवं हि—तत्रापि व्यापको धर्म इति ।

ननु स्वभावानुपलम्भोऽपि गमक एव । नैतदस्ति । न तत्र परमार्थतो गम्यगमकभावः । अभाव एवासौ य उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भः । ततस्तेन सिद्धेन व्याप्यस्याभावसाधनम् । तथा हि—यदप्रमाणताऽभाव इति ।

अयमेवाभावः स्वभावानुपलम्भो नाम । आगोपालाङ्गनाप्रसिद्धमेतत् । सांख्यस्तु शास्त्रदृष्टया व्यामूढः प्रबोध्यते । एतावन्मात्रनिमित्तकोऽयमन्यत्राप्यभावव्यवहारः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

माना जाता है । जहाँ पर उसकी उद्भावना नहीं हो सकती वहाँ गम्यगमकभाव भी नहीं माना जाता । जैसे पक्षसपक्ष-अन्यतरत्वादि धर्म न नित्यत्व से प्रतिबद्ध है, न अनित्यत्व से । इच्छामात्र प्रयुक्त होने के कारण पक्षसपक्ष अन्यतरत्वादि धर्मों को नित्यत्वादि का गमक नहीं माना जाता । व्याप्ति-निरपेक्ष पदार्थों में गम्यगमकभाव नहीं माना जाता । वैसे ही अविपक्षत्वादि धर्म भी गमक नहीं होते, फलतः विधि और निषेध दोनों की प्रसिद्धि अपने प्रतिबन्ध पर निर्भर है ।

प्रश्न—भावपदार्थ के समान ही स्वभावानुपलम्भ भी अभाव का गमक क्यों नहीं ?

उत्तर—अनुपलम्भ एक प्रकार का अभाव है । अभाव न तो साधन होता है, न साध्य । स्वभावानुपलम्भरूप अभाव गोपालबाल से लेकर साधारण स्त्री-पुरुषों तक प्रसिद्ध है, शास्त्रीय दृष्टि रहित साङ्ख्याचार्य को यह प्रबोधन देना आवश्यक है कि वह इस विषय में व्यामोह है, अतः अत्यन्त प्रसिद्ध पदार्थ के निरूपण की अपेक्षा न होने पर भी अनुपलब्धि प्रमाण को न मानने वाले साङ्ख्य सुखदुःखादि पदार्थों का परस्पर

एतावन्निश्चयफलमभावेऽनुपलम्भनम् ।
तच्च हेतौ स्वभावे वाऽदृश्ये दृश्यतया मते ॥ १०० ॥

(१) कारणानुपलम्भ, (२) व्यापकानुपलम्भ और (३) स्वभावानुपलम्भ—ये त्रिविध अनुपलम्भ कार्याभावादि के व्यवहार-जनक होते हैं। कारण-विरुद्धार्थोपलम्भादि तो कारणानुपलम्भादि के उपलक्षक होते हैं। अनुपलम्भ सदैव योग्यानुपलम्भ (दृश्यानुपलम्भ) अपेक्षित है ॥१००॥

अनुमानादनित्यादेर्ग्रहणेऽयं क्रमो मतः ।
प्रामाण्यमेव नान्यत्र गृहीतग्रहणान्मतम् ॥ १०१ ॥

"अनित्योऽयं वर्णः"—इत्यादि स्थलों पर अनुमान द्वारा जो अनित्यत्वादि परोक्ष धर्मों की सिद्धि की जाती है, उनकी योजना (सम्बन्ध) वर्णस्वलक्षण के साथ न होकर सामान्यलक्षण के साथ ही होती है—यही क्रम अभीष्ट है। अनुमान के द्वारा अनित्यत्व में गृहीत-ग्रहण होने के कारण प्रामाण्य ही नहीं माना जाता ॥ १०१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अन्यथा सुखादीनामात्मनाश्च न भेदसिद्धिः । शास्त्रादेव भेदसिद्धिरिति चेत् , न, प्रामाणिकत्वाद्भेदस्य । शास्त्रस्यापि च परस्परन्न भेदः स्यात् परस्परविविक्तोपलब्धिमन्तरेण । सैव च विविक्तोपलब्धिरन्यस्यानुपलब्धिः । व्यक्ताव्यक्तयोश्च भेदो नानुपलब्धिमन्तरेण सिध्यति । यतः—एतावन्निश्चयफलमिति ।

त्रिविध एवानुपलम्भो हेतोर्व्यापकस्य स्वभावस्य चेति । तस्य च हेत्वादेरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भो गमको नान्यस्य नान्यथा। तस्मात् कार्यस्वभावानुपलब्धिजनितं लिङ्गिज्ञानं साध्यप्रतिपादकमविसंवादि । ततस्तेन वस्त्वेव तथासिद्धमिति नावस्तुधर्मः । नन्वनित्योऽयं वर्ण इति स्वलक्षणयोजनाऽनित्यत्वस्य । तत्कथं योजनाद् वर्णसामान्य इत्यादि । नैतदस्ति । यतो हि—अनुमानादनित्यादेरिति ।

स्वसामान्यलक्षणाभ्यां ह्यव्यपदेश्यवर्णत्वाभ्यां वर्णादिगृहीत्वाऽनित्यतया चानित्यं वर्णादीति मनसा संधत्ते । यदुक्तमाचार्येण तत्रायङ्क्रमो वर्णितो "योजनाद् वर्णसा-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भेद कैसे सिद्ध करेंगे । परस्पर विविक्तोपलब्धि के बिना व्यक्त और अव्यक्त का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

अनुपलम्भ तीन प्रकार का ही होता है । हेतु का, व्यापक का और स्वभाव का अनुपलम्भ । उनुपलम्भ सर्वत्र योग्यानुपलम्भ अपेक्षित है । अतः कार्यस्वभावानुपलब्धिजनित लिङ्गिकज्ञानरूप अनुमान अविसंवादरूपेण अपने साध्य का प्रतिपादक होता है। इससे उसके द्वारा वस्तु ही सिद्ध होती है, अवस्तु नहीं ।

प्रश्न—"अनित्योऽयं वर्णः"—यहाँ पर अनित्यत्व धर्म की योजना (सम्बन्ध) वर्णस्वलक्षण के साथ प्रतीत होती है, तब वार्तिककार ने इसी परिच्छेद के ७९ वें पद्य में "योजनाद् वर्णसामान्ये"—ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर—उक्त प्रश्न के उत्तर में ही कहा है—"अनुमानादि" । अर्थात् पहले जो कहा गया है, वहाँ यह क्रम विवक्षित है कि पहले प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा वर्णतत्त्व का अव्यपदेश्यत्वेन (अनभिलप्यत्वेन या स्वलक्षणत्वेन) ग्रहण होता है और पश्चात् अनु-

नान्याऽस्त्यानित्यता भावात् पूर्वसिद्धः स चैन्द्रियात् ।
नानेकरूपो वाच्योऽसौ वाच्यो धर्मो विकल्पतः ॥ १०२ ॥

"कथं गृहीतग्रहणता ?"—इस प्रश्न का ही उत्तर है—नान्येत्यादि। अर्थात् वर्णादिरूप भावपदार्थों से भिन्न अनित्यता नहीं। वर्णगत क्षण-क्षयित्व स्वभाव ही तो अनित्यता है। वह भावपदार्थ ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष से गृहीत है, उसी का ग्राहक अनुमान-रूप विकल्प विज्ञान होता है। अभाव से भिन्न न होने के कारण अनित्यता शब्द-वाच्य भी नहीं, अतएव विकल्प-कल्पित सामान्यलक्षण धर्म वाच्य माना जाता है॥ १०२॥

वार्तिकालङ्कारः

मान्य" (प्र० वा० २।७९) इत्यादिना। अनुमानेन वर्णत्वसामान्येऽनित्यता प्रतिपत्तौ प्रमाणान्तरम्। तत्सामान्यधर्मि केन प्रतिपन्नम्। अनुमानेन प्रतिपत्तौ अपरस्तत्रापि धर्मीत्यनवस्था स्यात्। यदा चालिङ्गज्ञानम्प्रत्यक्षोत्तरकालभावि तदा प्रमाणान्तरमेव। स्वलक्षणेन योजनात्। उभयत्रापि परिहारः। प्रामाण्यमेव तत्र नास्ति। उभयत्रापि प्रत्यक्षत एव सिद्धत्वात्। विकल्पस्य सामान्यग्राहिणो गृहीतग्रहणत्वात्। कथमनित्यत्वम्प्रत्यक्षसिद्धम्। यतः—नान्यास्त्यानित्यताभावादिति।

न खल्वनित्यता वर्णत्वादि चान्यभावस्वरूपात्। अभावस्वरूपमेव तत्तादृशम्। तदेव विकल्पस्य तद्रूपग्रहणाशक्तेः सामान्यरूपम्भवति। ग्रहणव्यापार एव न तु सामान्यन्तत्। न हि नीलमेतदिति प्रत्यक्षप्रतिभासमानरूपादपरमिदन्नीलमिति विकल्पे प्रतिभाति तदेव तु तथा व्यवह्रियते। अथ यथाभूतन्तन्नीलन्तथाभूतमेतदिति सामान्यम्पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामागृहीतमेव गृह्यते। तदप्ययुक्तम्। न हि पूर्वापररूपव्यतिरेकिणापरं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मान के द्वारा उसी वर्णतत्त्व का वर्णत्वसामान्यरूपेण वैसा ही ग्रहण होता है, जैसे एक ही रज्जुतत्त्व का निर्दोष व्यक्ति के द्वारा रज्जुत्वेन और सदोष व्यक्ति के द्वारा सर्पत्वेन। अनुमान के द्वारा वर्णत्वेन गृहीत वर्ण में ही अनित्यता की योजना विवक्षित है। अनुमान के द्वारा वर्णत्व में अनित्यता की प्रतिपत्ति मानने पर वर्णत्वरूप धर्मी की सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है, क्योंकि उसका प्रत्यक्षतः ग्रहण माना नहीं जाता। अनुमानान्तर से वर्णत्व का ज्ञान मानने पर अनवस्था होती है। अनुमान से भिन्न प्रमाण मानने पर तीसरा प्रमाण मानना पड़ता है। फलतः स्वलक्षण के साथ ही अनित्यत्व-योजना पर्यवसित होती हैं। अनुमान गृहीत ग्राही होने के कारण प्रमाण ही नहीं है, प्रत्यक्ष और अनुमान— दोनों में वर्णरूप धर्मी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है एवं अनित्यता भी।

अनित्यत्व प्रत्यक्ष-सिद्ध कैसे ? इसका उत्तर है—"नान्यस्यानित्यतादि"। अर्थात् वर्णरूप भावपदार्थ से भिन्न अनित्यता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार वर्णत्वादि। [विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में भी कहा है (पृ० ३१७ में)—

अत एव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।
अनित्यतादिवद्वाच्यो नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते ॥]

यहाँ पर भी अन्यापोह की रीति का अनुसरण किया है। सामान्यरूपविकल्प में अनित्यताग्रहण की शक्ति न होने के कारण स्वलक्षण के साथ ही अनित्यता का अन्वय किया जाता है। सामान्यतत्त्व एक ग्रहणव्यापारमात्र है, वस्तु नहीं। जैसे कि "इदं

सामान्याश्रयसंसिद्धौ सामान्यं सिद्धमेव तत् ।
तदसिद्धौ तथास्यैव ह्यनुमानं प्रवर्तते ॥ १०३ ॥

फलतः वर्णत्वादि सामान्य के आश्रयीभूत वर्णादि की प्रत्यक्षतः संसिद्धि हो जाने पर सामान्य धर्म भी सिद्ध हो जाता है। तदव्यभिचारी लिङ्ग के द्वारा अनुमान उसी का ग्राहक होता है ॥ १०३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सामान्यमुपलभ्यते । तदेव तु तेन व्यवह्रियमाणं सामान्यम् । व्यवहारस्य च तदेव स्वलक्षणमाश्रयः ।

ननु सामान्यानामनित्यत्वादीनाम्परस्परन्तद्वतश्च भेदो नानात्वम् । अत्रोच्यते — "नानेकरूपो वाच्योऽसौ" स्वलक्षणात्मा विकल्पमात्रस्यानादिवासनासामर्थ्याद् भेदः । विकल्पस्य हि व्यावृत्तिभेदादन्वयव्यतिरेककल्पनया भेदाध्यारोपवृत्तत्वात् । तथा हि— सामान्याश्रयमसिद्धाविति ।

व्यवहारमात्रकं हि सामान्यव्यवहारविषयस्य च प्रसिद्धौ व्यवहारो नियमेन सामान्याधिकरण्येनान्यथा वा प्रसिध्यति । व्यवहाराप्रसिद्धौ तु निमित्तप्रदर्शनेन स व्यवहारो विस्मृतव्यवहारनिमित्तस्य निमित्तत्वस्मरणेन स्मरणविषयभावमुपनीयते । तस्मादनुमानं व्यवहारमात्रकमेव साधयति नापरम् । ननु कार्यहेतोरनुमानाद् वस्त्वेवा-सिद्धमग्न्यादिकं साध्यते न व्यवहारः । तदप्यसत् ।

तत्रापि ह्यनुमानेन यदि वस्तु प्रसाध्यते । सर्वाकारप्रसिद्धौ स्यान्न तत्रैव प्रमान्तरम् ॥२८४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नीलं पीतम्" केवल व्यवहारमात्र में विषयाकारता परिस्फुरित होती है। अनेक गो-व्यक्तियों में जो सदृशाकारता कल्पित है वही सामान्यलक्षण है उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः स्वलक्षणसन्तति के पूर्वापरक्षणों से व्यतिरिक्त सामान्यतत्त्व उपलब्ध नहीं होता, केवल व्यवहारमात्र है। उस व्यवहार का आश्रय भी स्वलक्षण ही है, सामान्य नहीं।

शंका—अनित्यत्वादि सामान्य और उनके आश्रयभूत पदार्थों का भेद होना चाहिए।

समाधान—भेद वस्तुतः न होने पर भी अनादि वासनाओं की सामर्थ्य से प्रतीत होता है। विकल्पात्मक भेद का केवल एक ही स्वलक्षण में अध्यारोप मात्र होता है। सामान्य नियमतः अनादि-व्यवहार-सिद्ध है। उत्तरोत्तर व्यवहार पूर्वव्यवहार पर निर्भर होता आया है। अनुमान-गृहीत सामान्यलक्षण अनादि-वासनोद्भूत व्यव-हारमात्र है।

प्रश्न—यह जो कहा गया है अनुमान व्यवहारमात्र का साधक है, वस्तु का नहीं ? इसका औचित्य कैसे ? कार्यादि हेतुओं के द्वारा अग्न्यादि वस्तु की सिद्धि देखी जाती है। तब व्यवहारमात्र की साधकता का अभिधान अनुचित क्यों नहीं ?

उत्तर—धूमादिरूप कार्य-हेतुओं के द्वारा जो अग्नि आदि की सिद्धि की जाती है, प्रत्यक्ष के द्वारा प्रसिद्ध सर्वाकारता के अतिरिक्त अनुमान से कोई नई ऊहा नहीं ॥ २८४ ॥

यदि अनुमान से अग्नि आदि वस्तु की सिद्धि की जाती है तब अनुमान से सिद्ध

वार्तिकालङ्कारः

यद्यनुमानादग्न्यादिवस्तु प्रसिध्यति तदा तत्र कीदृशोऽग्नेरयमित्यवान्तरभेदजिघृक्षायां प्रमाणान्तरमध्यक्षादिकन्न प्रवर्त्तते। तस्य प्रथमानुमानत एव सर्वाकारप्रसिद्धेः। प्राग् सम्भवोऽसम्भवः प्रमाणविरोधश्चेति। कारणात् योग्यात् कार्यमुत्पत्तिमदिति सम्भवः। कारणाभावे कार्यानुत्पत्तिरित्यसम्भवः। प्रमाणविरोधोऽपि शीतोऽग्नेरिति। तत्राध्यक्षेण सर्वाऽकारग्रहणमिति सम्भवः। अनुमानेनासम्भवः। प्रमाणविरोधश्चेति। प्रमाणान्तरप्रवृत्तेः। तदेतत् तमोविजृम्भितम्। यतः—

असम्भवे विरोधे च वस्तुनो ग्रहणं कुतः। ग्रहणे वस्तुनः प्राप्तं द्वयमेतदयुक्तिमत् ॥२८५॥

यदि तदव्यतिरिक्ताकारपरित्यागोऽसम्भवात् सर्वाकारग्रहणस्य प्रमाणान्तरप्रवृत्तविरोधाच्च तदा वस्तुग्रहणमपि नास्त्येव। कथं हि तद्ग्रहणे तदव्यतिरिक्तापरिग्रहः। न खलु तदेव गृहीतमगृहीतञ्च युक्तिमत्। तथा ज्ञानमपि तद्ग्राहि तदग्राहि चेत्येषोऽप्यसम्भवस्य। अथापि स्यात्—

सर्वाकारग्रहे हेतुर्न लिङ्गं व्यभिचारतः। सामान्याव्यभिचारित्वाद् विशेषस्याप्रसिद्धितः ॥२८६॥

लिङ्गं हि सकलव्यक्तिसाधारणतया परिगृहीतमनैकान्तिकम्प्रतिनियतव्यक्तौ। यद्येवम्—

विशेषग्रहणन्नास्ति लिङ्गसामर्थ्यसम्भवि। अनैकान्तिकता हेतोरिति वस्तुग्रहः कथम् ॥२८७॥

न ज्ञायते कोऽत्र वह्निरिति वह्निमात्रमेव प्रतीयते। कोऽप्यत्र वह्निरिति पूर्वनिक-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अग्नि पर यह जिज्ञासा हो जाती है कि—कीदृशोऽयमग्निः? उसके उत्तर में प्रत्यक्षादि प्रवृत्त नहीं होते क्योंकि उसके पहले ही प्रत्यक्ष से सर्वाकारता का ग्रहण हो चुका होता है। प्राक्सिद्ध विशदावभास के पश्चात् 'कीदृशोऽयमग्निः' ऐसी जिज्ञासा नहीं उठ सकती। जिज्ञासा का कारण न होने पर विशेष जिज्ञासा का उदय नहीं हो सकता। अनुमान के द्वारा सर्वाकारता का ग्रहण नहीं, तब 'कीदृशोऽयमग्निः' इस जिज्ञासा को अनुचित क्यों नहीं माना जाय? इसका उत्तर है सामग्री का संभव न होने पर एवं विरोधी का सद्भाव होने पर वस्तु का सद्भाव नहीं होता। यदि वस्तु की प्राप्ति होती है तो दोनों वे अयुक्त हो जायेंगे, अर्थात् कारण के बिना या विरोधी के होने पर कार्य की अनुपलब्धि ॥२८५॥ यदि वस्तु के अव्यतिरिक्ताकारता का ग्रहण नहीं होता तब वस्तु का भी ग्रहण कैसे होता और वस्तु का ग्रहण होने पर तद् अव्यतिरिक्त आकार का अपरिग्रह कैसे? एक ही वस्तु गृहीत भी और अगृहीत भी, यह युक्तिमत्ता नहीं, उसी प्रकार ज्ञान भी विषय का ग्राहक भी और अग्राहक भी, यह कैसे?।

यदि सर्वाकार ज्ञान के अनुरूप अव्यभिचारी लिङ्ग नहीं किन्तु केवल सामान्यमात्र का अव्यभिचारी है तो उस लिङ्ग के द्वारा विशेष आकार की प्रसिद्धि नहीं हो सकती ॥२८६॥ लिङ्ग के सामर्थ्य अर्थात् लिङ्ग का सामर्थ्य सामान्यतः गृहीत व्याप्त के द्वारा साध्य के सामान्यग्रहण में ही उपक्षीण होता है।

यदि ऐसा है तो लिङ्ग के सामर्थ्य से विशेष ग्रहण नहीं हो सकता तब वस्तु की अनेकान्तिकता न होने के कारण वस्तु का ग्रहण कैसे होगा? ॥२८७॥ 'न ज्ञायते कोऽत्र वह्निः'' इस प्रकार वह्नि-सामान्य की ही प्रतीति होती है। पूर्व-प्रतीतियों के आधार पर यह केवल वस्तु की प्रतीतिमात्र है वस्तु का संस्पर्श नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष

वार्तिकालङ्कारः

वह्निदर्शनानुसारेण प्रतीतिरेवेयं केवला न वस्तुसंस्पर्शः। प्रत्यक्षेण वस्तुसंस्पर्शे किम्भेद-सन्देहः सम्भवी।

ननु सन्देहे कथम्प्राप्तिः। प्राप्तिरपि सन्देहानुरूपैव। कदाचित्कस्यचिदर्थैः प्राप्तेः। तेन कार्यहेतावपि व्यवहार एव केवलन्न वस्तुसाधनम्। ननु स्वभावहेतौ वस्तु दृष्टमिति प्राप्यते। कार्यहेतौ तु कथमदृष्टस्य प्राप्तिः।

न दृष्ट इत्येवार्थस्य प्राप्तिरस्तित्वतः सदा। तस्य वस्तुनिवृत्तिस्तु भ्रान्तेरपि तदर्थिनाम् ॥२८८॥

न खलु केशादिषु दर्शनमस्ति। तथापि तदार्थतया भवत्येव वृत्तिः। यत्रास्ति तत्र प्राप्तिरन्यत्र नेति निर्णयः। न च स्वभावहेतौ प्रत्यक्षे कार्यहेतौ च वस्तु गृह्यते। अगृहीतस्यैव सर्वत्र प्राप्तेः। भावि हि वस्तु प्राप्यम्। न च स्वरूपं कथन्तस्य ग्रहणम्। भाविरूपेणैव गृह्यत इति चेत्, न, तथाऽप्रतीतेः। अथापि भाविरूपेण प्रतीयते। तथापि तदन्यथाप्रतीतमन्यथोत्पत्तिमन्न स्यात्। सामान्यस्य प्रतीतिरिति चेत्, सामान्यस्य प्रतीतौ विशेषस्य कथम्प्राप्तिः। स्थितत्वाच्चेत्, न हि सामान्यं विशेषवस्त्वन्तरेण भवति। धूमादिकमेव तर्हि लिङ्गं वस्त्वन्तरेण न भवतीति तत एवास्तित्वमिति किं सामान्येनासामान्यप्रतीतिमन्तरेण कथम्प्रवर्त्तते। लिङ्गप्रतीतावेव प्रवर्त्तिष्यते। अन्यप्रतीतौ कथमन्यत्र प्रवृत्तिः। सामान्यमप्यन्यदेवेति समानो दोषः। नैकान्तेनान्यत्सामा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वस्तुसंस्पर्शी है। उसके पश्चात् वस्तु में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता, इससे यह निश्चित हो जाता है कि कार्य हेतु से भी केवल व्यवहारमात्र की सिद्धि होती है, वस्तु की सिद्धि नहीं।

स्वभावहेतु 'अयं वृक्षः शिंशपत्वात्'' इत्यादि में वस्तु का साधक होता है। कार्यहेतु से अदृष्ट की प्राप्ति कैसे होगी, केवल दृष्ट हो जाने मात्र से अर्थ की प्राप्ति नहीं मानी जाती, भ्रान्ति से भी वस्तु की निवृत्ति देखी जाती है ॥२८८॥

केशोण्डुकादि स्थलों पर वस्तु के न होने पर भी ज्ञानमात्र के आधार पर प्रवृत्ति हो जाने पर वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। निष्कर्ष यही निकला कि जहाँ वस्तु है, वहाँ उसकी प्राप्ति होती है और जहाँ वस्तु नहीं, वहाँ उसकी प्राप्ति नहीं होती। शिंशपत्वादि स्वभाव हेतु के समान धूमादि कार्य हेतु में सामान्य तत्त्व न होने के कारण प्राप्त नहीं होगा।

यह पहले भी कहा जा चुका है कि वस्तु के गृहीतक्षण की प्राप्ति नहीं होती तो अनन्तर सन्तति के अगृहीतक्षण की ही प्राप्ति होती है। सदैव भावी वस्तु प्राप्त होती है। भावी का कोई स्वरूप नहीं, उसका ग्रहण कैसे हो। भावीरूपेण ग्रहण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी प्रतीति भी नहीं होती। अन्यथा प्रतीतपदार्थ अन्यथा उत्पत्तिमान् नहीं हो सकता। सामान्यतः भावी वस्तु की प्रतीति होने पर भी विशेष में प्रवृत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता। धूमादि लिङ्गों का भी सम्बन्ध सामान्य के साथ ही होता है, विशेष के साथ नहीं। सामान्य प्रतीति के आधार पर विशेष में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य की प्रतीति से अन्येतर-प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सामान्य तत्त्व भी विशेष से अन्य है, तब पूर्वदोष बना रहता है। यदि सामान्य नियमतः भिन्न नहीं है तब भी यह दोष प्रसक्त होता है कि सामान्य पदार्थ ही गृहीत होने के कारण प्राप्य होगा, विशेष नहीं। यदि सामान्य विशेष से अभिन्न है तब धूम के द्वारा वह्नि

क्वचित् तदपरिज्ञानं सदृशापरसम्भवात् ।
भ्रान्तेरपश्यतो भेदं मायागोलकभेदवत् ॥ १०४ ॥

गृहीत होने पर भी कहीं-कहीं सामान्य का परिज्ञान इसलिए नहीं हो पाता कि पूर्वक्षण के अनन्तर ही सदृश अपर क्षणों की निरन्तर उत्पत्ति हो जाती है, अतः वहाँ अलात-चक्र के समान 'स एवायम्' 'एकोऽयम्'—इस प्रकार भ्रान्ति हो जाती है ॥१०४॥

वार्तिकालङ्कारः

न्यम् । यद्येवम्—

सामान्यग्रहणेऽर्थस्य तदेव ग्रहणम्भवेत् । तथा सति न संदेहो गृहीते स कथम्भवेत् ॥२८९॥

सामान्यरूपेण ग्रहणन्न विशेषरूपेण (इति) चेत् , विशेषरूपे कथम्प्रवर्त्तते । तदपि गृहीतमेवेति चेत् , किमर्थम्प्रवर्त्तते । प्राप्त्यर्थमिति चेत् , ननु सापि प्राप्तिः स्वरूपप्रतिपत्तिरेव सा यदि जाता किमर्थम्प्रवर्त्तते । केनचिद्रूपेण प्रतिपत्तिः केनचिन्नेति चेत् , येन रूपेण प्रतीतिस्तेव न प्रवर्त्तते व्यर्थत्वात् । येन च न, तेनापि नाशक्तेः । न च प्रतिपन्ने सन्देहः, नाप्यप्रतिपन्ने, उभयरूपसंस्पर्शरूपत्वात् सन्देहस्य । सामान्यविशेषयोरेकरूपत्वादप्रतिपन्नेऽपि विशेषे प्रवर्त्तत इति चेत् , न, अविषयीकृतेऽयोगात् । न च प्रतिपन्नेनाप्रतिपन्नस्यैकत्वमिति प्रतिपादितम् । प्रतिपन्नैकत्वम्प्रत्येति नाप्रतियन् । अथापि कालान्तरे प्रत्येति । कालान्तरे न प्रत्यक्षन्नानुमानमिति प्रतिपादितम् ।

ननु यदि वस्त्वनित्यत्वादेकङ्गृहीतमेव सर्वात्मना कथन्तस्यानुमेयत्वम् । व्यवह्रियमाणतया चेत् , कस्मात् स एव निश्चयो न भवति व्यवहारात्मा । नैदमुत्तरम् । यतः—क्वचित्तदपरिज्ञानमिति ।

न खलु मायागोलके भेदस्य न प्रतीतिः । तथापि सदृशत्वात् तदन्तरेण स एवाय-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के ज्ञान होने पर "कीदृशोऽयमग्निः" इस प्रकार का सन्देह जो होता है वह कैसे बनेगा ॥२८९॥ अर्थात् सामान्य ग्रहण से विशेष का ग्रहण होता है या नहीं ? यदि नहीं तब विशेष में प्रवृत्ति कैसे ? यदि विशेष का भी ग्रहण हो जाता है तब विशेष में प्रवृत्ति किसलिए । यदि विशेषतः स्वरूपोपपत्ति के लिए, तब वह भी प्राप्त ही है। यदि कहा जाय केनचिद्रूपेण प्रतिपत्ति होती है और केनचिद्रूपेण नहीं, तब जिस रूप से प्रतीति होती है उस रूप से प्रवृत्ति नहीं । फलतः प्रतिपत्ति व्यर्थ है । और जिस रूप से प्रतीति नहीं उस रूप से प्रवृत्ति में सामर्थ्य नहीं आता । सन्देह न तो प्रतिपन्न में होता है और न अप्रतिपन्न में, क्योंकि सन्देह उभयरूप संस्पर्शि होता है। यदि कहा जाय सामान्य और विशेष की एकरूपता होने के कारण अप्रतिपन्न विशेषरूप में भी प्रवृत्ति हो जाती है तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि अविषयीकृत पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती । प्रतिपन्न के साथ अप्रतिपन्न की एकता संभव नहीं, इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। कालान्तरीय पदार्थ की कालान्तर में न तो प्रत्यक्षतः और न अनुमान से प्रतीति हो सकती है, यह भी कहा जा चुका है।

शंका—वह्न्यादि वस्तु क्षणिक और अनेक हैं और महानसादि में एक व्यक्ति गृहीत है, तब पर्वत में सर्वात्मना अग्नि का अनुमान क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब 'सोऽयं वह्निः' इस प्रकार एकत्व-व्यवहार होता है, तब उसमें एकात्मता ही क्यों न मान ली जाय ?

वार्तिकालङ्कारः

मिति प्रतीतेर्न्न भेदव्यवहारः। ननु यद्यपि स एवायमिति प्रतीतिर्भ्रान्ता, दर्शनन्तु पुनरभ्रान्तमेव कथन्न भेदप्रतीतिः। अथ तिरस्कृता सती प्रतीतिरप्यप्रतीतिरेव कार्यतः। न तिरस्करणन्नामास्ति स्वरूपसंवेदनयोर्वेदनयोः। परस्परपरिहारेणावस्थानाद् द्वयोर्वा परस्परन्तिरस्करणमिति प्राप्तम्।

अन्योन्यपरिहारेण व्यवस्थिता चेत् तिरस्क्रिया।
अन्योन्यपरिहारस्य समानत्वन्द्वयोरपि ॥ २९० ॥

यथैव विकल्पः स्वरूपसंवेदनात्माऽनुभवतो भिन्न इत्यनुभवस्य तिरस्कारकारी। तथानुभवोऽपि विकल्पस्य स्यात्। अथैकत्वे समासक्तचेतनस्य भेदे बुद्धिरेव नोपजायते। तथा सत्यनुभव एव नास्तीति कस्तस्य तिरस्कारार्थः। अत्रोच्यते—

भिन्नन्तत्पूर्वकं वस्तु न पश्यति विनाशतः। नित्यत्वाध्यवसायाच्च नित्यमेवेति मन्यते ॥२९१॥

पूर्वकं वस्तुदर्शनञ्च व्यतीतं तदिदानीं व्यवहर्त्तव्यमेव केवलम्। व्यवहारश्च नित्यतया। ततः कथन्तेनातीतेन दर्शनेनास्य तिरस्कारः विपरीताध्यवसायस्तु तदानो-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—व्यवहारतः केवल एकता का भ्रम होता है, वस्तुतः एकता नहीं। माया-गोलक (अलातचक्र) में भी ध्यान से देखने पर भेद की भी प्रतीति होती है। तथापि सदृश सन्तान-प्रवाह के कारण "स एवायम्"—ऐसी अभेद-प्रतीति होती है, भेद-व्यवहार नहीं हो पाता।

शंका—यद्यपि "स एवायम्"—ऐसी प्रतीति भ्रमात्मक है किन्तु स्वलक्षण-दर्शन तो अभ्रान्त है, इसके आधार पर भेद-भाव क्यों नहीं होता ? यदि कहा जाय प्रत्यभिज्ञा के द्वारा तिरस्कृत (बाधित) होने के कारण वह दर्शन भी अदर्शन ही है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नित्य प्रमात्मक दर्शन का भ्रम से कभी तिरस्कार सम्भव नहीं। यदि फिर भी तिरस्कार माना जाता है, तब अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर दोनों का एक-दूसरे के द्वारा बाध हो जाने पर अभेद-भ्रम भी नहीं होना चाहिए। दो समान बल के प्रमाणों से अन्योऽन्य-बाधपूर्वक व्यवस्था देखी जाती है। दोनों में समान बाध्य-बाधक भाव मानना उचित है ॥२९०॥ जैसे भेद-विकल्प स्वरूप-संवेदनात्मक अनुभव से भिन्न है, अतः उसका तिरस्कारक है। वैसे ही अनुभव भी विकल्प का तिरस्कारक होगा। यदि एकत्व में समासक्त होने के कारण पुरुष को भेद-बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती। तब बाध्यमान अनुभव होता ही नहीं, बाध या तिरस्कार किसका होगा ?

समाधान—प्रथम क्षण और द्वितीय क्षण का भेद-दर्शन न तो प्रथम क्षण में हो सकता है और न द्वितीय क्षण में, क्योंकि प्रथम क्षण में द्वितीय क्षण भावी और द्वितीय क्षण में प्रथम क्षण नष्ट हो चुका होता है। अनादि संस्कारों के आधार पर वस्तु का नित्यत्वाध्यवसाय नित्यता ही मानता रहता है ॥२९१॥ अर्थात् पहला वस्तु-दर्शन अतीत होने के कारण इदानीम् (द्वितीय क्षण में) केवल अभिलाषा का विषय रह जाता है, व्यवहार में नित्यता व्याप्त है। तब अतीत दर्शन के द्वारा इसका तिरस्कार होगा ? विपरीत व्यवहार तो उस समय भी है, फलतः 'स एवायम्'—ऐसा ही लोग व्यवहार करते रहते हैं। यही उस स्वरूपानुभव का तिरस्कार है कि उसके

तथा ह्यलिङ्गमाबालमसंश्लिष्टोत्तरोदयम् ।
पश्यन् परिच्छिनत्त्येव दीपादिनाशिनं जनः ॥ १०५ ॥

जहाँ पर कारणाभाव के कारण सदृशापरापर सन्तति की उत्पत्ति नहीं हो पाती, वहाँ 'स एवायम्'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा न होकर नाश की दीपादि में स्पष्ट नाशोपलब्धि आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है ॥ १०५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मस्ति। ततः स एव व्यवहारयति लोकम् । ततः स एव तस्य तिरस्कारो यस्तदनुरूपव्यवहाराभावः परस्परभेदेनानुपलक्षणात् । ततो मायागोलकस्येव द्वितीयादिक्षणस्य भेदेनानुपलक्षणत्वात् स एवायमिति व्यवहारः । तथा हि—तथा ह्यलिङ्गमाबालमिति।

ननु माया गोलकादौ भेदः परिगृह्यत एव निरूपणतो निरूपणैर्न त्वेवं क्षणिकता। तदप्यसत् । तथा हि—अतादवस्थ्यं विनाशोऽनित्यतेति च व्यपदिश्यते । न च प्रदीपादीनान्तादवस्थ्यमपि तु परापरतैलोपादानजन्यमाना परापरैव प्रदीपज्वाला केवलन्तु सादृश्यात् समानसामग्रीतो वा स एवायमिति व्यवहारः । नन्वेकदैव तैलजनित एक एवासौ प्रदीपज्वालावितानः । नैतदपि सम्यक् । यतः—

यदि प्रथमसम्पातमात्रादुत्पन्न एव सः । कालान्तरस्थायितया वृथा तैलाद्यतः परम् ॥२९२॥

न खलु प्रथमतैलादिसामग्रीसम्पातमात्रतः सकलकालकलापव्यापिनी प्रदीपादावुत्पत्तिमति ततः परं स्थालभूतलतैलानलजालसमवधानं कथञ्चिदर्थम्पुष्णाति । निष्पत्तेरपराधीनस्वभावत्वात् । अथ निष्पन्नस्यापि कालान्तरव्यापिता तैलाद्यनुवर्त्तमानस्यैव नान्यथेति चेत्, न, कालान्तरस्थायितयैवोत्पत्तेः । अकालान्तरस्थायिनस्तु पश्चात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुरूप भेद-व्यवहार नहीं होता। स्वलक्षणतत्त्व-भेद से उपलक्षित (युक्त) नहीं हो पाता। परिणाम यह होता है कि "स एवायम्"—यह व्यवहार चालू रहता है।

मायागोलक आदि (अलातचक्र) चक्रावयवों का भेद ध्यान देने पर प्रतिभात होता है किन्तु क्षणिकता का प्रत्यक्ष कदापि नहीं होता। ऐसी धारणा नितान्त असत् है। क्योंकि प्रत्येक घटादि वस्तु अतदवस्थ तत्तत्स्वरूप अन्यथाभाव में देखी जाती है। यही क्षणिकता है। प्रदीपादि में भी तैलसन्तति के अनुरूप ज्वालासंतति भी प्रवाहित है। प्रत्येक सन्तानी का भेद और अतद् अवस्थता और क्षणिकता भी अनुभूत होती है किन्तु अत्यन्त सादृश्य के कारण 'स एव अयम्' ऐसा व्यवहार हो जाता है। एक ही तैलमात्रा से उत्पन्न एक ज्वाला मानना उचित नहीं, क्योंकि यदि पूर्व तैलमात्रा से समुत्पन्न एक ही ज्वाला कालान्तर स्थिर मानी जाय तब दीपक में और तैलसिञ्चन की आवश्यकता नहीं रहेगी, किन्तु देखी जाती है ॥२९२॥ प्रथम तैलादि सामग्री सम्पतिमात्र से सकलकालकलाव्यापी एक प्रदीप-ज्वाला का उत्पादन मानने पर तैलान्तर की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि दीपज्वाला ही इसी प्रकार की मानी जाती है जिसमें तैलान्तर की आवश्यकता बनी रहती है, तब उसे स्थायी कहना कदापि संगत नहीं होगा। कालान्तर स्थायी ज्वाला के लिए तैलान्तर की आवश्यकता नहीं, अपितु व्यर्थता ही है, यदि तैलान्तर से ज्वालान्तर की उत्पत्ति मानी जाती है तब वही अनित्यता आ जाती है। स्थिर दीपज्वाला का ग्रहण एक बार के चक्षुसम्पात के द्वारा ग्रहण हो जाता है पुनः उसकी क्या आवश्यकता। प्रत्येक क्षण का दर्शन

भावस्वभावभूतायामपि शक्तौ फलेऽदृशः ।
अनानन्तर्यतो मोहो विनिश्चेतुरपाटवात् ॥ १०६ ॥

जैसे बीजादि भावपदार्थों में अंकुरादि-जनन शक्ति का ग्रहण पुरुष को इसलिए नहीं होता कि उसमें वह अपटु है। उसका मोह अज्ञान प्रतिबन्धक है उसी प्रकार क्षणिक पदार्थों में अपरापरोत्पत्तिक्षण के दर्शन की अयोग्यता रहने के कारण स्थिरता का भ्रम हो जाता है॥ १०६ ॥

तस्यैव विनिवृत्त्यर्थमनुमानोपवर्णनम् ।
व्यवस्यन्तीक्षणादेव सर्वाकारान् महाधियः ॥ १०७ ॥

'सेयं दीपज्वाला' इत्यादि एकत्वभ्रम की निवृत्ति करने के लिए ही संवादी

वार्तिकालङ्कारः

तैलादिसामग्र्या न किञ्चित् कर्त्तुं शक्यमिति व्यर्थता स्यात्। अन्यस्योत्पादने सैवानित्यता। तथा च यद्यसावुत्पन्नः सर्वात्मना गृह्यते। चक्षुरादिना सर्वात्मना तस्य ग्रहणमिति व्यर्थंतैव चक्षुराद्यनुवर्त्तनस्य । अथापरापरदर्शनेन कालान्तरस्थायिता ग्रहणेन वा। तथा सति परापरदर्शनानां विच्छेदादिकेनापि न कालान्तरस्थानग्रहः। ग्रहणस्य तु कालान्तरस्थानवत्त्वे सकृदेव तथा ग्रहणमिति तदेव चक्षुरनुवर्त्तनं वृथेति प्राप्तम्। तस्माद् दर्शनस्य न पूर्वापरस्वरूपग्रहणमीषदपीति क्षणमात्रकमेव प्रतिभासते।

अथापि स्यात्। स एव पूर्वापरहितो वस्तुस्वभाव आयतो भविष्यति। तदसत्।

कालदैर्घ्यं सकृद्दृष्टौ स्याच्चेत् सर्वस्तथा भवेत्। दर्शनस्यानुवृत्त्यैव कालदैर्घ्यं प्रतीयते ॥२९३॥

यथा यथा दर्शनमपरापरप्रबन्धेनोपजायते तथा तथा दीर्घकालतां प्रत्येति नान्यथा। न च सकृदेव प्रतिपन्नं कालादिदीर्घतया दीर्घम्। तस्माद् दर्शनं क्षणिकतामेव प्रत्येति। यदि क्षणिकतैव प्रत्यक्षेण परिच्छिद्यते स्वभावभूता, कथम्परिच्छिद्यमानतायामपि व्यामोहः। अत्रेदमुच्यते—भावस्वभावभूतायामपीति।

यथा खलु शक्तिः परिच्छिन्नापि न निश्चीयतेऽनन्तरं कार्यमदृष्टवता। यतो हि—तस्यैव विनिवृत्त्यर्थमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विभिन्न ज्वालाक्षणों का ही ग्रहण करता है, अन्यथा सकृद् दर्शन के द्वारा जिस वस्तु का ग्रहण हो गया उसके लिए चक्षु का अनुवर्तन व्यर्थ हो जाना चाहिए। परिशेषतः दृश्य और दर्शन की क्षणिकता पर्यवसित होती है। यदि सकृद् दर्शन मात्र से कालदीर्घता सम्पन्न हो जाती है तब पूर्वदर्शन की अनुवृत्ति मात्र से दीर्घकालता की प्रतीति होनी चाहिए ॥२९३॥

वस्तुस्थिति यह है कि दर्शनधारा की निरन्तरता दीर्घकालता का प्रत्यायक है अन्यथा नहीं, केवल एकक्षणमात्र के दर्शन में दीर्घता सम्पन्न नहीं हो सकती, अतः दर्शन दृश्य की क्षणिकता का बोध दीर्घता के रूप में किया करता है। यदि प्रत्यक्ष के द्वारा क्षणिकता गृहीत हो जाती है, तब परिच्छिद्यमान वस्तु के विषय में एकता का भान कैसे। इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है "भावस्वभाव" इत्यादि से। जैसे किसी कार्य की शक्ति आपाततः गृहीत होने पर भी अनन्तर कार्य को न देखकर निश्चित नहीं होती, पश्चाद्दर्शन से ही विविध व्यामोह निवृत्त होता है अनुमान की प्रवृत्ति

लिङ्गक अनुमान का वर्णन 'निश्चयादेव मनसोः' इत्यादि वार्तिक में किया गया है। जो योगिगण विपरीताध्यवसाय-रहित वस्तुदर्शी हैं वे पदार्थ का स्वरूप दर्शनमात्र से निषेध कर लेते हैं।

व्यावृत्ते सर्वतस्तस्मिन् व्यावृत्तिविनिबन्धनाः।
बुद्धयोऽर्थे प्रवर्तन्तेऽभिन्ने भिन्नाश्रया इव ॥ १०८ ॥
यथा चोदनमाख्याश्च सोऽसति भ्रान्तिकारणे।
प्रतिभाः प्रतिसन्धत्ते स्वानुरूपाः स्वभावतः ॥ १०९ ॥

यद्यपि वस्तु एक है तथापि वह सजातीय विजातीय अनेक पदार्थों से व्यावृत होने के कारण अनेकाकार वैसे ही हो जाती है जैसे विभिन्नाश्रय में प्रतिबिम्बित एक पदार्थ ॥१०८॥ प्रत्येक पदार्थ अपने (चोदन) संकेत के अनुरूप एक हो स्त्री माता दुहिता आदि रूपों में प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार का भ्रान्तिकारण न होने पर अपेक्षा निबन्धन अनेकाकारता प्रतीति सम्पन्न हो जाती है ॥१०९॥

वार्तिकालङ्कारः

दर्शनेऽपि सर्वाकारतया भावस्य व्यामोहोऽभ्यासवर्जितस्य। ततो न निश्चयः। ततो व्यामोहव्यावर्त्तनायानुमानम्प्रवृत्तिमत्। येषान्तु पुनरभ्यासपाटवादयो निश्चयस्य हेतवः सन्ति ते महामतिमन्त्र शक्तः यः अध्यवसायादर्शनमात्रकादेः। तस्मात् सामान्यमाश्रयसिद्धौ सामान्यं सिद्धमेव यत्र न व्यामोहः। यत्र तु व्यामोहोऽस्ति तत्रानुमानम्। कथन्तर्हि वस्तुन एकत्वात् तदनुसारिभिर्विकल्पैरपि नानाधर्मता व्यवस्थाप्यते। न हि नीलानुभवानुसारी विकल्पः पीताध्यवसायस्वभावः। अत्रोत्तरम्—व्यावृत्तेः सर्वतस्तस्मिन्निति।

सजातीयविजातीयव्यावृत्तिभाजो हि जगति जन्मभूतः। ते यतो यतो व्यावर्त्तन्ते ततस्ततो भेदमवधिभेदोपकल्पितं तन्तमुपादानमादाय नानाधर्माणः प्रतीयन्ते। यदि सर्वतो व्यावृत्तिमन्तो भावाः कथमेकयैव हेलया सकलव्यावृत्यनिश्चयः। भ्रान्तिकारणसद्भावादिति ब्रूमः। पूर्वदृष्टस्य विस्मरणात्। न हि पूर्वदृष्टस्य तथैव विषयीकरणे व्यावृत्यनिश्चयः। तथा हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विशेष रूप से व्यामोह निवर्तिनी ही मानी जाती है। जिनके पास अभ्यास-पाटवादि व्यामोह-निवारक साधन होते हैं ऐसे महामति महापुरुष अपने क्षणमात्र के दर्शन से व्यामोह का विध्वंसन कर डालते हैं। अतः सामान्य जहाँ सिद्ध है वहाँ व्यामोह नहीं, जहाँ व्यामोह है वहाँ अनुमान प्रवृत्त होता है। जब कि वस्तु एक है तब वह एक वस्तु अनुसारी विकल्प के द्वारा नाना रूपों में व्यवस्थापित क्योंकर होगी। नीलानुसारी विकल्प कभी पीताध्यवसाय नहीं हो सकता। इस अनुपपत्ति का परिहार करने के लिए कहा गया है 'व्यावृत्तेः सर्वतः' इत्यादि। आशय यह है कि जगत् में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ अपने सजातीय विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त होते हैं। भेद अवधिभूत उपकल्पित पदार्थ धर्मों को लेकर नानाधर्म प्रतीत होते हैं। जो पदार्थ सर्वतः व्यावृत्त हैं उसकी एक काल में व्यावृत्ति क्यों नहीं हो सकती, इसका उत्तर है—'भ्रान्तिकारणसद्भावात्'' पूर्वदृष्टवस्तु का विस्मरण इसका मुख्य कारण है, अनुभूत वस्तु का स्मरण-

सिद्धोऽत्राप्यथवा ध्वंसो लिङ्गादनुपलम्भनात् ।
प्राग्भूत्वा ह्यभवन् भावोऽनित्य इत्यभिधीयते ॥ ११० ॥

क्षणिकत्व वस्तु का ध्वंसलक्षण है अनुपलब्धिलिङ्गक अनुमान के द्वारा उसकी अवगति होती है, क्योंकि क्षणिक या अनित्य पदार्थ उसे ही कहते हैं जो पहले न होकर हो, इस प्रकार की अनित्यता ध्वंस को छोड़कर और कुछ भी नहीं ॥ ११० ॥

वार्तिकालङ्कारः

निश्चयो ह्यनुभूतस्य तथैव स्मरणोदयः । विपर्ययोऽन्यथा दार्ढ्ये संदेहश्चलने द्वयोः ॥२६४॥

नानुभूतस्य तथैव स्मरणनिश्चयाभावः । अयमेव निश्चयो यत्तथैव स्मरणम् । अभ्यासतश्च तथैव स्मरणात् । तस्मादभ्यासवतामीक्षणान्तरमेव निश्चयः । अन्यथा स्मरणनिवारणायानुमानमिति स्थितमेतत् । अपरः प्राह—सिद्धोऽत्राप्यथवेति ।

उदयव्ययानुषङ्गिणो हि सर्वभावाः । उदयः प्रत्यक्षविधिसाधकानुमानसाध्यः व्ययश्चाभावः । सोऽनुपलब्धिसाध्यः । यावान् प्रतिषेधः सर्वोऽनुपलब्धिसाध्य इति । नापरः प्रतिषेधस्य साधनोपायः । ननु नित्यताभावस्वभावभूता विधिः साधकेनैव प्रमाणेन प्रतीयते । नेदमस्ति । न स्वभावमात्रकादेवानित्यता । अपि तु—प्राग् भूत्वा ह्यभवन्निति ।

भूत्वा यो न भवति सोऽनित्यो न भवनमात्रतः । स चाभावोऽन्यत्राप्यनुपलब्धिसाधकः । नन्वस्य वादित उभयान्तव्यवधायिका सत्तेवानित्यता नाभावलक्षणा । उभया-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जन्य वैसा ही निश्चय होता है, अन्यथात्व भ्रान्ति के विपरीत निश्चय भी दोनों स्वभावों के विचलन से सन्देह हो जाता है ।।२६४।। अनुभूत वस्तु का वैसा ही स्मरण नहीं होता, वैसे ही स्मरण का नाम निश्चय कहा जाता हैं। अभ्यास के आधार पर वैसा स्मरण हो जाता है। परिशेषतः अभ्यासशील व्यक्तियों का ईक्षणान्तर निश्चय कहलाता है। अन्यथा स्मरण का निवारण करने के लिए अनुमान का उपयोग होता है। जो लोग ध्वंस की सिद्धि अनुपलब्धि लिङ्ग के द्वारा सिद्ध करते हैं, अभिप्राय यह है कि सभी पदार्थ उदय और व्यय की संतति में प्रवाहित रहते हैं, उदय या उत्पत्ति प्रत्यक्षभाव-साधक अनुमान के द्वारा होतो है। उसका व्यय अभाव है। वह अनुपलब्धि-गम्य है। समस्त प्रतिषेध अनुपलब्धिगम्य माना जाता है, क्योंकि प्रतिषेध के साधन का अन्य कोई और उपाय नहीं है।

प्रश्न—अनित्यता विधिसाधक प्रमाण के द्वारा हि क्यों सिद्ध नहीं होती ?

उत्तर—स्वभावमात्र से अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, अपितु "भूत्वा यो न भवति सोऽनित्यः" अभाव का साधक सदैव अनुपलब्धि होती है।

प्रश्न—उभयान्त (प्रागभाव और पश्चादभाव) इन दो के व्यवधायक सत्ताक्षण को अनित्यता क्यों न कहा जाय। उभय अभावों का मध्यसत्ता सम्बन्ध अनुपलब्धिगम्य नहीं है।

उत्तर—सत्तामात्र को अनित्यत्व नहीं कहा जा सकता अन्यथा आत्मादि में भी असत्ता प्रसक्त होगी। रूपादि पदार्थों के उभयभूतान्त मध्य में अवस्थित सत्ता को अनित्यता कहना होगा। अभाव को छोड़कर उभयान्ततः अन्य के पदार्थ में अभाव केवल अनुपलब्धि से अवगमित होता है अन्य से नहीं।

अस्योभयान्तव्यवधिसत्ता सम्बन्धवाचिनी ।
अनित्यता श्रुतिस्तेन तावन्ताविति कौ स्मृतौ ॥ १११ ॥

नैयायिक लोग जो अनित्यता का अर्थ किया करते हैं—प्रागभाव और पश्चादभाव के व्यवधायक मध्यपाति सत्ता-सम्बन्ध ही अनित्यता है, प्रध्वंस नहीं, उस नैयायिक से प्रश्न किया जाता है कि वहाँ पर दो वे पदार्थ कौन हैं जिनका व्यवधायक सत्ता-सम्बन्ध हैं ॥ १११ ॥

प्राक् पश्चादभावश्चेत् स एवानित्यता न किम् ।
षष्ठ्याद्ययोगादिति चेद् अन्तयोः स कथं भवेत् ॥ ११२ ॥

प्रागभाव हो यदि पश्चादभाव (ध्वंस) अनित्यता है, तब "घटस्य अनित्यता"—इस प्रकार षष्ठी का प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि भाव और अभाव का संयोगादि सम्बन्ध नहीं माना जाता । उसी प्रकार प्रागभाव और ध्वंस—इन दोनों अन्तों (अभावों) का भी षष्ठ्यादियोग सम्भव नहीं ॥ ११२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न्तत्वञ्च पूर्वापरान्तयो । सत्ता च नानुपलम्भसाध्या तत्कथमेतत् । अत्राह—यस्योभयान्तव्यवधिसत्तेति ।

न तावत् सत्तामात्रमनित्यताऽऽत्मादीनामप्यनित्यताप्रसङ्गात् । रूपवेदनादीनाञ्चाविशेषेण उभयभूतान्तमध्यमध्यासीना सत्ताऽनित्यता वक्तव्या । न चोभयान्तताऽभावमन्तरेण काचिदस्ति । अभावसङ्गमे च सोऽभावानुपलब्ध्या गृह्यते नान्येन । तथा हि—प्राक् पश्चादप्यभावश्चेदिति ।

यदि प्रागभावप्रध्वंसाभावोभयान्तव्यवधायिका सत्ताऽनित्यता । स एवाभावोऽनित्यता किन्नेष्यते । यतो हि- षष्ठ्याद्ययोगादिति चेदिति ।

यद्ययमभिप्रायो भावस्यानित्यतेति षष्ठ्यादियोगो न भवेद् यद्यभावो नित्यता । अभावेन सम्बन्धाभावात् । न हि भावस्याभावस्य च संयोगसमवायादिलक्षणसम्बन्धोऽयोगात् ।

विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धः केन वार्यते । न स्यात् सोऽपीति चेदेवमन्तयोः स कथम्भवेत् ॥२९५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—यह जो कहा गया कि अनित्यता अनुपलब्धि-गम्य है, वह क्यों ? जब कि अनित्यता का स्वरूप है—"अभूत्वा भवति" और "भूत्वा न भवति"। इस प्रकार पूर्वतन अभाव (प्रागभाव) और पश्चात्तन भाव (ध्वंस) के मध्य में व्यवधानरूप सत्ता-सम्बन्ध क्षण है, वही अनित्यता का स्वरूप निश्चित होता है, वह प्रत्यक्ष-सिद्ध है ।

समाधान—मध्यस्थ भाव का भाग ही यदि अनित्यता है, तब "भावस्य अनित्यता" इस प्रकार भेद-षष्ठी क्योंकर प्रयुक्त होगी ? यदि अभाव को अनित्यता माना जाता है, तब भाव का अभाव के साथ सम्बन्ध न होने के कारण सम्बन्ध-व्यवहार क्योंकर होगा ? अभाव के साथ "विशेषण-विशेष्यभाव" सम्बन्ध भी संयोग-समवायादि संबंध-प्रयुक्त ही मानना होगा । उनके न होने से वह सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है ॥ २९५ ॥

शंका—यदि विशेषण-विशेष्यभाव संबंध भी समवायादि अन्य संबंधों से

सत्तासम्बन्धयोर्ध्रौव्यादन्ताभ्यां न विशेषणम् ।
अविशेषणमेव स्यादन्तौ चेत् कार्यकारणे ॥ ११३ ॥

सत्ता-सम्बन्ध तो न्याय-मत में नित्य माना जाता है, अतः भावस्य प्रागभाव-ध्वंसौ—इस प्रकार सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि नित्य पदार्थ का अन्त (नाश) कैसा ? ॥ ११३ ॥

असम्बन्धान्न भावस्य प्रागभावं स वाञ्छति ।
तदुपाधिसमाख्याने तेऽप्यस्य च न सिध्यतः ॥ ११४ ॥

भावाभाव का सम्बन्ध न हो सकने के कारण न्यायादि-मत में प्रागभाव की घटादि भाव पदार्थ अपेक्षा नहीं करता, तब प्रागभाव-घटित कारणता भी अनुपपन्न हो जाती है । अतएव कार्यता भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जिसका प्रागभाव होता है, वही उत्पन्न होकर कार्य कहलाता है । प्रागभावासम्बन्धी कार्य नहीं और कार्य के अभाव में कारण का भी अभाव हो जाता है ॥ ११४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि विशेषणविशेष्यभावेऽपि समवायादिसम्बन्धमन्तरेण नेष्यते । स तर्हि षष्ठ्यादियोगो विशेषणविशेष्यभावो नान्तयोः सत्तया भावेन वा कथमुपपन्नोऽन्तव्यवधिभूता सत्ता तद्विशिष्टा चेति वचनव्यक्तौ । एवं हि—सत्तासम्बन्धयोरिति ।

उभयान्तव्यवधिः सत्ता सत्सम्बन्धो वा समवायलक्षणोऽनित्यतेति वचने नियमेन सत्तासम्बन्धयोरन्ताभ्यां विशेषणमभ्युपगतम् । न चेदं युक्तम् । द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । अन्तविशिष्टा हि सत्ता कथम्भवेत् यदि सोत्पादव्ययवती । अथ स तत्र भावे सत्तासम्बन्धो वा न स्यात् ताभ्यां विशेषणमेवन्तर्हि स एव भावस्तद्विशिष्टोऽनित्यः किं सत्तया । अव्यतिरेकात् षष्ठी न भवेदिति चेत् , सत्ताया अस्तित्वमिति कथम् । किञ्च भावस्यानित्यतेति भावस्य प्रागभावप्रध्वंसाभावौ तावेवानित्यता । ततो व्यतिरेकादस्ति व्यतिरेकविभक्तिः । अथ कार्यकारणयोरुभयान्तता । कारणमित्येकोऽन्तः कार्यमिति द्वितीयः । ताभ्याञ्च कार्यकारणाभ्यां सत्तायाः सम्बन्धस्य वा विशेषणं नोक्तः । भावे च

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बिना नहीं बन सकता तब दोनों अन्तों (अभाव) के साथ सत्ता या भाव का संबंध कैसे उपपन्न होगा, दोनों अन्तों की व्यवधानभूत सत्ता 'तत्विशिष्टा' इस प्रकार की 'विरुद्धार्थक वचनव्यक्ति उपपन्न' नहीं हो सकती ।

दोनों अन्तों की व्यवधानभूतसत्ता या सत्ता का समवायरूप संबंध अनित्यता है ऐसा मानने पर सत्ता और संबंध का दोनों अन्तों के साथ विशेषण और विशेष्यभाव संबंध हो जाता है जो युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि दोनों ही नित्य माने जाते हैं । उभयान्त विशिष्ट सत्ता तभी हो सकती है कि जब कि वह उत्पाद और अन्तवती हो । सत्ता या सत्ता संबंध से विशिष्ट भावपदार्थ अनित्य कैसे होगा ? अभेद में षष्ठी का प्रयोग नहीं होता । यदि ऐसा है तब "सत्तायाः अस्तित्वम्" ऐसा प्रयोग क्योंकर होगा ? दूसरी बात यह भी है कि 'भावस्य नित्यता' प्रागभाव और प्रध्वंस को इङ्गित करती है, वे दोनों भिन्न होने के कारण षष्ठी विभक्ति का प्रयोग सम्भव हो जाता है । यदि उभयान्त शब्द के द्वारा कार्य और कारण, इन दोनों का अन्तः लिया जाता है, भाव के साथ कार्य

सत्ता स्वकारणाश्लेषकरणात् कारणं किल ।
सः सत्ता स च सम्बन्धो नित्यौ कार्यमथेह किम् ॥ ११५ ॥

भावपदार्थों का जन्म कहा जाता है—सत्ता (समवाय) श्लेषः । कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध नित्य होता है, वह सत्ता और वह सम्बन्ध तब कार्यता और कारणता कैसी ? ॥ ११५ ॥

यस्याभावः क्रियेतासौ न भावः प्रागभाववान् ।
सम्बन्धानभ्युपगमान्नित्यं विश्वमिदं ततः ॥ ११६ ॥

जिसका अपने उत्पत्ति से पूर्व अभाव है, वही उत्पन्न किया जाता है, किन्तु किसी भी भाव का प्रागभाव सम्बन्ध सम्भव नहीं, कार्यता अनुपपन्न होने के कारण ही यह विश्व नित्य सिद्ध होता है ॥ ११६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कार्यकारणयोः सम्बन्धः कार्यकारणभावः सत्तायाः समवायलक्षणः । अत्र प्रतिबन्धनम्—अविशेषणमेवं स्यादिति ।

यस्य हि प्रागभावः स्वकारणेन सम्बध्यते । न च भावस्य प्रागभावेन सम्बन्धोऽभ्युपगम्यते । तदभ्युपगमे प्रागभावप्रध्वंसाभावावेवानित्यतेति प्रकृतहानिः पक्षान्तरसमाश्रयणं च । तस्मादसम्बन्ध एव प्रागभावेन भावस्य । प्रागभावोपाधिश्चायं समाख्याविशेषः स तदभावे न स्यादिदङ्कार्यमिति । न च कार्यमन्तरेण कारणम् । अथवा नान्येन प्रकारेण कार्यकारणत्वाभावः । यतः—सत्ता स्वकारणाश्लेषकरणादिति ।

सत्तासम्बन्धकरणेन हि कारणं स्वकारणसम्बन्धकरणेन च । स्वकारणं समवायिकारणं समवायिकारणसमवेतं हि प्रायशो वस्तूत्पत्तिमत् । न च सत्तासम्बन्धयोः कार्यता । भावस्यापि सम्बन्ध एव सत्तया कार्यो नान्यथास्य कार्यता । स्वरूपेणैव कार्यता चेत्, न । यतो हि—यस्याभावः क्रियेतासाविति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

और कारण का संबंध सत्ता का समवाय क्यों न होगा ?

समाधान—उक्त शङ्का का निरास "अविशेषणम्" इत्यादि वार्तिक के द्वारा किया जाता है, अर्थात् जिस पदार्थ का प्रागभाव उसके समवायी कारण से संबंधित होता है वह कार्य कहलाता है, कार्य के साथ प्रागभाव का सीधा संबंध नहीं माना जाता, क्योंकि उसे मानने पर 'प्रागभावप्रध्वंसाभावावेव अनित्यता' इस प्रकृतप्रसङ्ग की हानि हो जाती है। पक्षान्तर का समाश्रयण हो जाता है, अतः प्रागभाव के साथ भाव का संबंध सीधा नहीं होता । समवाय-विशेष प्रागभाव की उपाधि है, उसके अभाव में 'इदम् कार्यम्' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता, कार्य के बिना कारण नहीं हो सकता, अथवा अन्य प्रकार से कार्यकारणभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सत्ता संबंधी पदार्थ को कारण माना जाता है। कारण शब्द से यहाँ समवायी कारण का ग्रहण है। समवायी में समवेत कार्य की ही उत्पत्ति मानी जाती है। सत्ता और सत्ता के संबंध में कार्यता सम्भव नहीं, सत्ता के साथ भाव का संबंध ही कार्य होता है, अतः सत्ता समवाय में स्वरूपेण कार्यता क्यों नहीं ? इसका उत्तर है 'यस्याभावः क्रिया' इत्यादि। अर्थात् किसी भी भाव पदार्थ का अपने प्रागभाव जैसा संबंध नहीं होता। अभाव

तस्मादनर्थास्कन्दिन्योऽभिन्नार्थाभिमतेष्वपि ।
शब्देषु वाच्यभेदिन्यो व्यतिरेकास्पदं धियः ॥ ११७ ॥

फलतः अभाव के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं बन सकता, केवल बुद्धि-परिकल्पित ही मानना होगा, अर्थात् वास्तविक सम्बन्ध मानने पर दोष प्रसक्त होता है। अतः 'बीजस्य अंकुरः' इत्यादि व्यवहारों के समान 'भावस्य प्रागभावः' इत्यादि शब्दों के द्वारा परिकल्पित 'अनर्थास्कन्दिनी' बुद्धि के द्वारा वाच्यवाचक मर्यादा के अनुरूप व्यतिरिक्त जैसा प्रतीयमान सम्बन्ध परिकल्पित होते हैं ॥ ११७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि भावस्य कस्यचिदपि प्रागभावेन सम्बन्धः। यद्यपि नामावस्तुत्वादसम्बन्धस्तथापि पूर्वमसावविद्यमान एव। ततः कार्यता भविष्यति।

ननु यस्याविद्यमानतया सम्बन्धः सोऽविद्यमानः। अन्यथा सर्वमेवाविद्यमानम्भवेत्। ततश्चास्ति प्रागभावेन सम्बन्ध इति प्राप्तम्। न चाभ्युपगम्यते। ततः सकलमेव नित्यञ्जगत् प्रसक्तं कथन्तर्ह्यभावेन सम्बन्धः। तदाह—तस्मादनर्थास्कन्दिय इति।

भिन्नो वा भवत्यभिन्नो वार्थस्तत्र बुद्धिपरिकल्पित एव सर्वत्र सम्बन्धः। वस्तु वस्तुनो यदि व्यतिरिक्तङ्कः सम्बन्धः। व्यतिरेक एवेति चेत्। यदि नाम व्यतिरिक्तन्तस्य कः सम्बन्धो व्यतिरेकस्य सर्वत्र समानत्वात् असम्बन्ध एव न स्यात्। तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षण इति चेत्।

भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि वा।
भावेऽन्यस्य च विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथन्न तौ ॥२९६॥

न खल्वभिन्नस्य सम्बन्धो द्विष्ठत्वात्तस्य कार्यकारणभावो न स्यात्। तादात्म्यलक्षणस्तु कथन्न स्यात्। न तत्र सम्बन्धस्य कल्पितविषयत्वात्। कल्पितौ हि तत्र सम्बन्धिनौ भिन्नत्वे तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति सिद्धमेतत्। कार्यकारणभाव इति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अवस्तु होने के कारण संबंधी नहीं हो सकता, तथापि पूर्व में यह अविद्यमान ही होता है, अतः उसमें कार्यता का व्यवहार होता है।

शंका—जिस पदार्थ का अविद्यमानता के साथ संबंध है वह अविद्यमान है, अन्यथा सभी अविद्यमान हो जायेगा, फलतः प्रागभाव के साथ संबंध प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह अभ्युपगत नहीं, इस प्रकार सकल जगत् नित्यप्रसक्त होता है।

भिन्नाभिन्न विकल्पों की दुर्वचनता यह मानने के लिए बाध्य कर देती है कि संबंध सर्वत्र बुद्धि-परिकल्पित होता है। वस्तु वस्तु से यदि व्यतिरिक्त है तो उसका संबंध क्या व्यतिरेक संबंध है, ऐसा मानने पर, व्यतिरेक को संबंध-विशेष कहना होगा—'तादात्म्यतदुत्पत्तिरूपसंबंध' यदि कहा जाता है, तब प्रश्न उठता है कि भिन्न पदार्थों की घटना (योजना) एवं अभिन्न में कार्यकारण भाव कैसे ? अपने से भिन्न व्यतिरेक से भावपदार्थ श्लिष्ट या विश्लिष्ट क्योंकर होगा ॥२९६॥ अर्थात् अभिन्न पदार्थ का संबंध इसलिए नहीं हो सकता कि संबंध द्विष्ठ होता है। अभिन्न में कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। अभिन्न में तादात्म्य संबंध एक कल्पनामात्र है। कार्यता और कारणता रूप भिन्न धर्मों के माध्यम से कार्यकारणभाव यदि माना जाता है तब

वार्तिकालङ्कारः

चेत्, किमिदं कार्यकारणत्वन्नाम। अन्वयव्यतिरेकित्वमिति चेत्, न तस्य कल्पितत्वात्। प्रत्यक्षतोऽग्रहणात्। तस्मात् सर्वः कल्पनानिर्मित एवायन्न परमार्थः। तस्मादयं व्यतिरेकविभक्तिर्यथाकथञ्चित् कल्पितं सम्बन्धमाश्रित्य प्रवर्त्तते नापरः प्रकार इति। प्रागभावादिनापि भावस्य संवृत्या सम्बन्धो न परमार्थं न कस्यचित् केनापीत्येकान्त एषः। तस्माद् योजनाद् वर्णसामान्ये न प्रमाणान्तरत्वं प्रमेयान्तराभावात्। न च पुनः पुनरभिज्ञानेऽनिष्ठासक्तेः स्मृतादिवत्। पुनरभिज्ञानं हि स्मर्यमाणमेव।

नन्विन्द्रियव्यापारानुविधानादविसंवादाच्च प्रमाणमेव कथमप्रमाणम्प्रत्यभिज्ञानम्। न, इन्द्रियव्यापारस्य सन्निहितमात्रविषयत्वात्। यदि सन्निहितमात्रविषयत्वङ्कथं स एवायमिति कृत्वा प्रवर्त्तते। नैतदस्ति। यस्मात् न स एवायमित्येव प्रेक्षावान् प्रवर्त्तते। समीहितफलप्राप्तिहेतुरित्येव वर्त्तते। यद्यपि स एवासौ तथापि न प्रवर्त्तनविषयः। अर्थक्रियासाधनविषया हि प्रेक्षवतां वृत्तयः। न च तेनैव सार्थक्रिया साधनीया स्वकारणाधीनशक्तयो हि भावास्तामन्यां वाऽर्थक्रियां च कल्पयन्ति नैकत्वभाजनत्वेन। न चार्थक्रियासम्बन्धः प्रत्यक्षविषयः पूर्वदृष्टस्यैव स्मरणात्। तदर्थक्रियाकारित्वेन च स एवायमिति प्रत्ययस्य विषयो न स्वरूपेण। पूर्वं यदि दृष्टत्वेन च ग्रहणे स्मरणमेव। इह योजने त्वनुमानन्तदर्थक्रियायोग्यत्वमत्रापि। तदभेदोपचारादेकत्वव्यवहारः। अविसंवा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

'किमिदं कार्यकारणभावत्वं' इस प्रकार का प्रश्न उजागर होता है। अन्वयव्यतिरेकीत्व को कार्यकारणत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह कल्पितमात्र है। प्रत्यक्षतः गृहीत भी नहीं होता। फलतः यह सब-कुछ कल्पना-निमित्तक ही प्रतीत होता है। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कल्पित भेद को लेकर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। प्रागभावादि के साथ भाव का संबंध भी सांस्कृतिक ही मानना पड़ता है। पुनः पुनः अभिज्ञान में स्मृतादि के समान सामान्यमात्र की कल्पना ही निहित होती है।

"सोऽयं वह्निः" इस प्रकार का ज्ञान अप्रमाण कैसे? इन्द्रिय व्यापार का विधायी होने के कारण उसे प्रमाण क्यों न मान लिया जाय। उसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय व्यापार सदैव सन्निहित परामर्शी होता है, तब 'स एवायम्' इस प्रकार का असन्निहित प्रत्यभिज्ञा प्रमाण कैसे? उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त स्थल पर प्रेक्षावान् व्यक्ति इसलिए अप्रवृत्त होता है, यह व्यक्ति वही है, अपितु अभीष्ट प्राप्ति का हेतु है, इसलिए प्रवृत्त होता है। यद्यपि वह वस्तु वही है किन्तु उसकी एकता प्रवृत्ति का हेतु नहीं। अर्थक्रिपाजनक पदार्थ विषयिणी ही प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति होती है। अर्थक्रियासाधनता अपनी निश्चित सामग्री से जानी जाती है। 'सोऽयं' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से नहीं। अर्थक्रिया संबंध भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अग्नि को देखकर पूर्वदृष्टदाहादि-जनकत्व का ही स्मरण होता है। दाहादिरूप अर्थक्रिया का जनक होने के कारण, 'स एव' अग्नि की प्रतीति होती है। स्वरूपतः नहीं, पूर्वदृष्ट स्वरूप स्मरण कहलाता है। प्रकृत में अर्थक्रियायोग्यत्व की कल्पना अनुमान के द्वारा होती है। एकत्व के द्वारा नहीं। अविसंवाद भी एकत्व निबन्धन नहीं कहा जा सकता, क्यों कि अनेकता होने पर भी अर्थक्रियाकारित्व हो सकता है। अनवगत पदार्थों का भान भी अर्थक्रियाप्रसूतित्वेन हो जाता है, इसका निष्कर्ष यही है— प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर तीसरा कोई

विशेषप्रत्यभिज्ञानं न प्रतिक्षणभेदतः ।
न वा विशेषविषयं दृष्टसाम्येन तद्ग्रहात् ॥ ११८ ॥

अग्नि को देखकर धूमादि लिङ्ग क्रम से अनुमान करने के पश्चात् 'स एव अयं वह्निः' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि भावपदार्थ प्रतिक्षण विनश्वर होता है । अनुमान के द्वारा दृष्ट अग्नि का भान नहीं होता, अपितु प्राग्दृष्ट अग्नि के समानता के आधार पर सामान्य लक्षण अग्नि का ही अनुमान हुआ करता है, वह सामान्य लक्षण कल्पितमात्र है ॥ ११८ ॥

निदर्शनं तदेवेति सामान्याग्रहणं यदि ।
निदर्शनत्वात् सिद्धस्य प्रमाणेनास्य किं पुनः ॥ ११९ ॥

प्रश्न उठता है कि जहाँ दृष्टान्त और द्राष्टन्ति का भेद होता है वहीं सामान्यतो दृष्ट अनुमान प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रकृत में दृष्टान्त और द्राष्टन्ति का कोई भेद नहीं, अतः सामान्यतो दृष्ट अनुमान से सामान्यमात्र का ग्रहण क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—जो तत्त्व दृष्ट है, निश्चित है प्रमाण के द्वारा उसकी सिद्धि क्योंकर होगी ॥ ११९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

दोऽपि नैकत्वविषयोऽनैकत्वेऽप्यर्थक्रियावाप्तेः । अगम्यागमनादिकन्तु तत्प्रसूतित्वादेव सन्तत्यपेक्षया । तस्मान्न प्रत्यक्षं सामान्यविषयम् । नाप्यनुमानस्य विशेषविषयता । ननु विशेषदृष्टमनुमानं विशेषमेव प्रत्यभिजानाति । तदप्यसत्—विशेषप्रत्यभिज्ञानन्नेति ।

यदा खलु दृष्टो वह्निः पुनरपसृत्य व्यवधाने सति धूमादवसीयते । तदा कालान्तरे स एव विशेषो न प्रत्यभिज्ञायतेऽपरापरस्य भेदस्य सम्भवात् । भेदे च सत्येकत्वाध्यासेन प्रतिपत्तिः सामान्यमेव विषयीकरोति । यत्र तर्हि स्थिरे पदार्थात्मनि न भेदसम्भवो विकाराभावात् । तत्र तस्यैव विशेषस्य प्रत्यभिज्ञानम् । तदेतत् कथमवगन्तव्यम् । न ह्यदृश्यमाने विकारो न सम्भवतीति निश्चयः । अथान्यत्राप्येवमेव दृष्टस्तथा सति दृष्टसाम्येन व्यवस्यन्तरेण प्रतिपत्तिर्न विशेषविषयत्वम् । तथा हि—निदर्शनन्तदेवेतीति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रमाण नहीं । प्रत्यक्षप्रमाण स्वलक्षणविषयक मात्र है, सामान्यविषयक नहीं । और अनुमान सामान्यमात्र विषयक है, विशेष विषयक नहीं ।

यह जो कहा जाता है कि विशेषदृष्ट अनुमान में विशेष की प्रत्यभिज्ञा होती है, सामान्यमात्र की नहीं, यह कहना अत्यन्त असत् है, क्योंकि जब कोई अग्नि पदार्थ देखा जाता है उससे दूर हटकर या व्यवधान आदि का होने पर धूम के द्वारा उसी अग्नि का अनुमान किया जाता है, तब कालान्तर में उसी अग्नि-विशेष की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, क्योंकि न उनका भेद अत्यन्त विस्पष्ट है । एकत्व अध्यास के द्वारा 'सोऽयं अग्निः" ऐसी प्रतीतिमात्र होती है । जहाँ स्थिर पदार्थ में भेदों की सम्भावना नहीं, वहाँ तो उसी विशेषार्थ की प्रत्यभिज्ञा माननी ही होगी । किन्तु स्थिरता की स्वगति कैसे हो ? अदृश्यमान पदार्थ में विकार नहीं हो सकता, ऐसा नहीं कह सकते । अतः क्षणप्रध्वंसवाद की अकाटचता स्थिरता का समर्थन नहीं कर सकती । यदि निदर्शता वही है तब वह पूर्वप्रत्यक्ष के द्वारा ही सिद्ध हो जाती है, पुनः प्रमाण की आवश्यकता क्या,

विस्मृतत्वाददोषश्चेत् तत एवानिदर्शनम् ।
दृष्टे सद्भावसिद्धिश्चेत् प्रमाणादन्यवस्तुनि ॥ १२० ॥
तत्त्वारोपे विपर्यासस्तत्सिद्धिरप्रमाणता ।
प्रत्यक्षेतरयोरैक्यादेकसिद्धिर्द्वयोरपि ॥ १२१ ॥

महानस-इष्ट अग्नि की ही "स एवायम्"—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा का भान यदि अनुमान प्रमाण के द्वारा माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि तद्रूपता (दृष्ट अग्नि की तदात्मता) अन्य अग्नि में सिद्ध की जाती है ? अथवा उसी अग्नि में ? अन्य वस्तु में तत्त्वारोप मानने पर विपर्यय (अयथार्थत्व प्रसक्त होता है। द्वितीय पक्ष मानने पर गृहीत-ग्राही होने के कारण अनुमान में अप्रमाणता प्रसक्त होती है। अर्थात् प्रत्यक्ष और इतर (अनुमान इन दोनों प्रमाणों से एक ही अग्नि सिद्ध होती है ॥ १२०-१२१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि तदेव निदर्शनं पूर्वप्रत्यक्षेण सिद्धत्वात् तथा सति पूर्वकेणैव प्रत्यक्षेण ग्रहणात् किम्पुनः प्रमाणेन। नानुमानेनात्र कार्यम्। यदि पूर्वकमेव प्रत्यक्षं विशेषदृष्टानुमानकालभाविसत्तोपग्राहितेनैव सिद्धत्वात् किमनुमानेन। प्रत्यक्षाविषये हि प्रवर्त्तनमनुमानस्येष्यते। न तत्रैव। अत एव विशेषदृष्टमिति चेत् , भवतु विशेषदृष्टं तस्य प्रमाणन्तु न स्यात्। अथ दर्शनेन समानकालभाव्येव पदार्थः परिगृह्यते नेतरस्ततो भाविनि प्रवर्त्तमानमनुमानम्प्रमाणमेव। यद्येवमन्यन्निदर्शनं यद्रूपम्पूर्वम्प्रतीतम्। अन्यदा दार्ष्टान्तिकं यद् उत्तरकालमनुमानेन प्रतीयते। अथ गृहीतमेव तत् किन्तु विस्मृतम्। ततोऽयमदोष इत्याह—विस्मृतत्वाददोषश्चेदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुमान की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रत्यक्ष के अविषयीभूतपदार्थ में प्रवर्तमान अनुमान दृष्ट-विशेष क्यों नहीं। विशिष्ट दृष्टता प्रमाण नहीं मानी जा सकती। यदि कहा जाय कि दर्शन के समान काल में होने वाला पदार्थ ही अनुमान के द्वारा गृहीत होता है, अन्य नहीं, तब भावी अर्थ में प्रवर्तमान अनुमान प्रमाण ही होगा।

यदि दूसरा निदर्शन प्रस्तुत किया जाता है कि जो रूप पूर्व में प्रवृत्त है वह दृष्टान्त और दार्ष्टान्त उत्तरकालभावी अनुमान से प्रतीत होता है। इस प्रकार तो पूर्व गृहीत विस्तृत हो जाने के कारण पुनः अवभासित हो सकता है। यही कहा गया है—"विस्मृतत्वाददोषश्चेत्" अर्थात् विस्मृत पदार्थ का लिङ्ग के द्वारा पुनः स्मरण किया जाता है, अनुमान में व्यर्थता प्राप्त नहीं होती, तब प्रश्न होता है कि विस्मृत को दृष्टान्त कैसे बनाया जा सकता है। दृष्टान्त के द्वारा ही साधन-सम्पत्ति प्रवृत्त होती, यदि यह विस्मृत हैं तो दृष्टान्त कैसे ? यदि लिङ्ग से पहले उसका अविकल ज्ञान न होने के कारण उसे दृष्टान्त माना जाता है तब प्रश्न होता है लिङ्ग के द्वारा उस पर अधिक और क्या किया जा सकता। पुनः पुनः स्मरणमात्र से अनवस्था ही होती। अर्थात् अनुमानापेक्षित विस्मृत दृष्टान्तान्त का स्मरण करने के लिए अनुमानान्तर-परम्परा का अनुशरण प्रसक्त होता है। विस्मृत अग्नि को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता—यह कहा जा चुका है। यदि दृष्टान्त के बिना ही अकस्मात् धूम से अग्नि की प्रतिपत्ति हो

वार्तिकालङ्कारः

विस्मृतस्य तस्य पुनर्लिङ्गद्वारेण तथैव स्मरणमिति न व्यर्थताऽनुमानस्य । कथन्तर्हि विस्मृतस्य दृष्टान्तता । दृष्टान्तद्वारेण हि साधनम्प्रवर्त्तते तस्य, चेद् विस्मरणं कथं स दृष्टान्तः । यदि लिङ्गात् प्रागस्य विकलस्य दृष्टान्ततया स्मरणन्तदा किमपरमत्र लिङ्गेन कर्त्तव्यम् । तदेव पुनस्स्मर्यत इति चेत्, अनवस्था भवेत् । अथ विस्मृतं तदा न दृष्टान्तता । अथ दृष्टान्तमन्तरेणैवाकस्माद् धूमादग्निप्रतिपत्ताविवतरस्य विस्मृतस्य लिङ्गात् प्रतिपत्तिः । तदा तस्याविकलकालकलाव्यापिनः पूर्वप्रत्यक्षेणैव ग्रहणात् विशेषमप्रतियतः कथम्प्रमाणता । स्मरणे सति तत्र व्यवहारादिति चेत्, तथा हि स्वभावहेतोर्गृहीतस्यापि सर्वात्मना तथैव व्यवहारे सति प्रमाणता । न तत्रापरदृष्टान्तसाधर्म्येणैव व्यवहारयोग्यतासाधनात् । न त्विह तथा प्रागेवाभावात् । अभ्यासानुत्थानात् । दृष्टमेतदित्यपि न सङ्गतमन्यथा भावसम्भवात् ।

न खलु गृहीत एव स्मरणमेतदिति सिद्धमगृहीतत्वस्य भावात् प्रमाणम् । स्वकालपर्यवसायि हि रूपम्प्रत्यक्षेण गृह्यतेऽन्यथा मरणावधि गृह्येतेति तदेव मरणं भवेत् । अनुवर्त्तमानेन मरणावधि गृह्यत इति चेत्, तर्हि—

दीर्घेण दीर्घग्रहणमदीर्घेणेतरग्रहः । प्रत्यक्षेण तदेवास्य मरणावधि न ग्रहः ॥२९७॥

यत्तर्हि नानुवर्त्तते न तेन कालान्तरव्यापि परिग्रहः । ततः कथङ्गृहीत एवानुमानम्प्रवर्त्तते विशेषदृष्टम् । कथन्तदेव निदर्शनमित्यसामान्यग्रहणम् ।

अथ दृष्टे कालान्तरसम्बन्धेन कालान्तरे यदन्यदुत्पद्यते तस्य तद्भावसिद्धिरिति विशेषदृष्टमेवैतत्, अत्रोच्यते—दृष्टे सद्भावसिद्धिश्चेदिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाने पर लिङ्ग के द्वारा विस्मृत का ज्ञान होता है ? तब उस अनुमान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामान्य कल्पनाकाल से पूर्वतन अग्नि का ज्ञान तो पूर्वतन प्रत्यक्ष से ही हो जा चुका होता है, अनुमान अनधिगतार्थ का गमक न होने से प्रमाण क्योंकर होगा ? यदि कहा जाय कि स्मरण होने पर "अग्निमानय"—ऐसा अविसंवाद-व्यवहार वैसे ही प्रमाणता का नियामक हो जाता है, जैसे "अयं वृक्षः, शिंशपात्वात्"—ऐसे स्वभाव हेतु के द्वारा गृहीतार्थ का ही ग्रहण प्रमाण माना जाता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वभाव हेतु में निश्चित दृष्टान्तान्तर के बल पर व्यवहार-योग्यता की सिद्धि की जाती है, किन्तु प्रकृत में दृष्टान्त है ही नहीं । अभिज्ञान न हो सकने के कारण अभ्यास सम्भव नहीं । दृष्ट अग्नि से संगत धूम है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अन्यथा (दृष्टासंगत) धूम भी हो सकता है ।

यह कोई गृहीतमात्र का स्मरण नहीं, अतः अगृहीत-ग्राही होने से प्रमाण है । केवल तत्क्षण-पर्यवसायी रूप ही प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होता है, अन्यथा मरण-पर्यन्त भावी समस्त रूप गृहीत हो जाता और तत्काल मरण हो जाता ।

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष नष्ट नहीं होता, अपितु अनुवर्तमान रहता है और उसी के द्वारा मरणपर्यन्त, समस्त विषय का भान होता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि दीर्घ ज्ञान के द्वारा दीर्घ और अदीर्घ से अदीर्घ विषय का ग्रहण न्याय-प्राप्त है किन्तु निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष के द्वारा मरणावधि विषय का ग्रहण नहीं हो सकता ॥२९७॥

अर्थात् जो प्रत्यक्ष कालान्तर में अनुवृत्त नहीं रहता, उसके द्वारा कालान्तर-व्यापी

वार्तिकालङ्कारः

अथ दृष्टमन्यदपि पुनः कालान्तरे तदेवेदमिति साध्यत इत्यभ्युपगमः। स तर्हि तदन्यत्र तत्त्वारोपो नियोगत एव विपर्यासः। न हि दृष्टेऽन्यतया तत्त्वन्तत्त्वतः सम्भवति। अपरिदृश्यमाने च परिदृष्टरूपाध्यारोप एव शक्यो न तत्त्वग्रहः। तस्य पूर्वदृष्टस्य पूर्वप्रत्यये नानन्यरूपसंसृष्टस्यैव ग्रहणात्। यद्यपि न गृह्यते तथाप्यनुमानेन तत्त्वेनैव गृह्यते नान्यत्वेनेति चेत्, नानुमानस्य पूर्वग्रहणानुसारित्वान्न स्मरणमात्रादन्यदनुमानम्। अथ वस्तुग्रहणरूपमनुमानम्। तदा—प्रत्यक्षेतरयोरैक्यादिति।

यदि प्रत्यक्षमितरच्च रूपमेकमेव तदेकेनैव प्रमाणेन प्रत्यक्षेणेतरेण वा सिद्धत्वादितरदप्रमाणम्भवेत्। विशेषस्य कस्यचिदितरेणाकरणात्। तदा स्पष्टाकारा प्रतीतिरुभयत्रापि भवेदितरा वा। अथ चक्षुराद्यव्यापारादस्पष्टता। तत्प्रतिबद्धत्वात् स्पष्टतायाः। नैतदस्ति :

चक्षुरादिनिबद्धेयं यदि स्पष्टावभासिता। अप्रयोजक एव स्यादालोको रूपनिग्रहे ॥२९८॥

अथालोककृता स्पष्टता तदा सत्यालोके कथमनुमानमस्पष्टावभासि। कादाचित्कत्वादालोकस्येति चेत्, स तर्हि परमार्थतो विद्यमानोऽप्यालोको नावधार्यते। तत्कथं वस्तुग्रहणम्। आलोकरहितस्य वस्तुमात्रस्य ग्रहणाददोष इति चेत्, आलोकसहितस्य तद्रहितग्रहणमिति साहसम्। तथा चेत् तदेव सामान्यग्रहणमिति न विशेष-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विषय का ग्रहण नहीं होता। प्रत्यक्ष-दृष्ट स्वलक्षण या प्रत्यक्षागृहीत सामान्यलक्षण में अनुमान क्योंकर प्रवृत्त होगा? एवं अगृहीत वह्नित्व सामान्यलक्षण दृष्टान्त कैसे बनेगा?

शंका—कालान्तर दृष्ट पदार्थ का जो कालान्तरीय पदार्थ में तादात्म्यावभास होता है, उसके द्वारा समस्त कार्य की सिद्धि क्यों न होगी?

समाधान—यह जो कहा जाता है कि दृष्ट पदार्थ का तद्भाव कालान्तरीय पदार्थ में होता है—"तदेवेदम्"। वह यदि अन्य व्यक्ति में है, तब तो शुक्ति में रजतारोप के समान नियमतः अध्यारोप (मिथ्या ज्ञान) है, क्योंकि तदन्य वस्तु कभी तद्रूप हो नहीं सकती। अपरिदृश्यमान पदार्थ में परिदृष्ट की तदात्मता का आरोप ही हो सकता है, तत्त्वग्रह नहीं। पूर्वप्रत्यय (प्रत्यक्ष) के द्वारा दृष्ट स्वलक्षण का ही अनुमान के द्वारा ग्रहण मानने पर स्मरण ज्ञान अनुमान का कोई अन्तर नहीं रहता।

यदि अनुमान के द्वारा वस्तु का ग्रहण होता है, स्मरण नहीं, तब प्रत्यक्ष और अनुमान—दोनों का एक ही प्रमेय रह जाता है। एक प्रमेय के लिए एक प्रमाण पर्याप्त है, दूसरा अप्रमाण हो जाता है। किसी प्रकार की विशेषता तो सिद्ध नहीं होती। स्पष्टाकारा प्रतीति दोनों में होती है। यदि कहा जाय कि अनुमान में चक्षुरादि का व्यापार न होने से अस्पष्टाकारता है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि स्पष्टाकारता चक्षुरादि-प्रयुक्त है, तब रूपादि के ग्रहण में आलोक प्रयोजक न हो सकेगा ॥२९८॥ यदि स्पष्टाकारता आलोक-प्रयुक्त है, तब आलोक के रहने पर अनुमान के द्वारा स्पष्टाकारता क्यों न होगी? आलोक कादाचित्क है, अतः परमार्थतः विद्यमान होने पर भी आलोक निश्चित नहीं होता, तब वस्तु-ग्रहण क्योंकर होगा? आलोक-रहित वस्तुमात्र का ग्रहण मानना तो अत्यन्त साहस है। विशेष-रहित वस्तु ग्रहण तो सामान्यमात्र का ही ग्रहण है, तब वह विशेष-दृष्ट कैसे?

सन्धीयमानं चान्येन व्यवसायं स्मृतिं विदुः ।
तल्लिङ्गापेक्षणान्नो चेत् स्मृतिर्न व्यभिचारतः ॥ १२२ ॥

"सोऽयमग्निः"—इस प्रकार अन्य व्यक्ति व्यक्ति में अन्य व्यक्ति के अनुसन्धान को स्मृति कहा जाता है। यदि उक्त स्मृति लिङ्ग-निरपेक्ष है, तब लिङ्ग व्यभिचारी ठहरता है। फलतः स्वलक्षण और सामान्यलक्षणरूप द्विविध प्रमेय के लिए क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान द्विविध प्रमाण पर्यवसित होते हैं ॥ १२२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

दृष्टमेतत् । तदाह—सन्धीयमानञ्चान्येनेति ।

अपि च पूर्वदृष्टानुसंधानमात्रमेतत् । न स्पष्टस्वरूपतया परिग्रहस्तदा स्मृतिरेव। न ह्येकरूपतायाम्प्रत्यक्षानुमानयोः किञ्चिदधिकम्प्रमीयत इति स्मृतिरेव यन्न वस्तुग्रहणम् । अथ लिङ्गादुत्पद्यते तत्कथं स्मरणम् । नैतदस्ति । न हि लिङ्गतास्य विद्यते त्वन्मत्या त्रैरूप्याभावादेकत्वाद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः । अस्मत्पक्षे त्वनुमानमेवैतत् सामान्यविषयमिति प्रतिपादितम् । यदेव हि पूर्वंतयावगम्यते तदेव स्मर्यमाणं न ग्राह्यम्। गृह्यमाणतयाऽप्रतीतेः । न ह्यनुमानस्मरणादन्यत् स्मरणमेव लिङ्गादुत्पद्यमानमनुमानम् । तस्मादसकृत् तदेव येन प्रतीयते तत् स्मरणमेव । कथन्तर्हीदानीमस्तीति प्रतीतिः । इदानीन्तनमस्तित्वम्पक्षधर्मसामर्थ्यादेव गम्यते । तत्प्रदेशवर्त्ती धूमस्तत्प्रदेशवर्तिनैव वह्निना जन्यत इत्येवमेव पूर्वसम्बन्धग्रहणादनादिवासनाप्रबोधतः । एवञ्च सति सकलमनुमानं स्मरणमेवेति स्थितमेतत् । प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यम्प्रत्यक्षानुमानभेदादिति । साक्षादितरप्रतीतिभेदव्यतिरेकेण प्रकारान्तराभावादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि अनुमान के द्वारा "सोऽयमस्ति"—ऐसा अनुसन्धानात्मक ज्ञानमात्र है, जो कि स्मृति ही है, वस्तु-ग्रहण नहीं ।

प्रश्न—वह ज्ञान अनुमान से जनित होने के कारण स्मरण कैसे होगा ?

उत्तर—आपके मत से प्रकृत लिङ्ग में त्रैरूप्य न होने के कारण लिङ्गता ही नहीं घटती। दूसरी बात यह भी है कि महानस में दृष्ट वह्नि और तल में अनुभूत वह्नि इन दोनों के मानने पर दृष्टान्तदार्ष्टान्तिभाव नहीं बनता, किन्तु हमारे बौद्धपक्ष में यह अनुमान है जो कि वह्निस्वलक्षणविषयक न होकर वह्नित्वरूप सामान्य लक्षण को विषय करता है। पूर्व अवगत पदार्थ का ही स्मरण होता है अनवगत का नहीं, वह्नित्व स्वलक्षण का गृह्यमाणत्वेन भाव न होने के कारण उसमें स्मरण की विषयता नहीं बन सकती है। वस्तुतः अनुमानस्मरण से भिन्न कुछ भी नहीं, लिङ्ग से उत्पद्यमान स्मरण ही अनुमान है, यह कई बार कहा जा चुका है। स्मरण का भाव तत्तादिरूप से होता है, किन्तु यहाँ पर "पर्वते अग्निरस्ति" इस प्रकार की प्रतीति होती है। तब स्मरण कैसे ? इसका उत्तर यह है कि प्रकृत अग्नि में जो अस्तित्व प्रतीत होता है वह पक्षधर्मता के बल पर तद्देशवर्तिधूम, तत्प्रदेशीय वह्नि के द्वारा उत्पन्न किया जाता है इस प्रकार अनुभूति से जनित वासना के आधार पर वर्तमानता रूप अस्तित्व का भान माना जाता है। फलतः सकल अनुमान स्मरण रूप ही हैं यह स्थित हो गया। उसमें प्रमाणता का व्यवहार केवल व्यावहारिक दृष्टि से अभिसंवादिता को लेकर कर दिया जाता है यह भी कह चुके हैं। इस प्रकार प्रमेयद्वैविध्य के द्वारा प्रमाणद्वैविध्य का उपपादन पर्यवसित होता है।

卐

प्रमाणवार्तिक भाष्य-व्याख्या में आये हुए उद्धरण

प्रमाणसिद्धि

हेयं दुःखमनागतम् । योगसू० २१५ ३३३
अविद्याकायकर्मभूत ···। मु० उ० भा० १.८ ३३७
एत्थपनसोतापत्तिमग्गं । अभिधम्मत्थ पृ० १७६ ३४५
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः···। बृह० उ० ४।५।६ ३६२
इह जन्मनि केषांचिन्नताप···। श्लो० वा० पृ० २१६ ३७१
मा न भूवमहं किं तु । पं० द० ३७१
स्वयं भिक्खवो नित्यं अनित्यं वा । म० व० पृ० २१ ३८६
तं किं मञ्जथ रूपं नित्यं · । ,, ,, ,, ३८६
पुरुष एवेदं सर्वम् । ऋ० सं० १०।९०।२ ३८७
अतीन्द्रियानसंवेद्यान्···। वाक्यपदीयम् ३।४ ३८८
द्विविधः संवरः कुशलसंवर···। अभिधर्मामृत पृ० २९ ३९१
परद्रव्येष्वभिध्यानं···। म० स्मृ०। १२।५।७ ३९१
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । यो० सू० १।९ ३९४
आत्मधर्मोपचारो हि । वि० मा० सि० त्रि० १ ३९६
कारणचतुष्टयम् । प्र० वा० मनोरथ० वृ० पृ० ४०३ ४०६
दुःखजन्मप्रवृत्ति ···। न्या० सू० १।१।२ ४०६
प्रमाणभूताय इत्यादि पञ्चपदार्ति । प्र० वा० म० वृ० १.१८२ ४०६

प्रत्यक्षपरिच्छेद

प्रमाणं द्विविधमेव ··। प्र० समु० पृ० ४ ४०९
प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषय···। न्या० वि० पृ० १८ ४१७
सत्यानृते मिथुनीकृत्य···। ब्र० सू० शां० भा० १।१।१ ४४०
सत्यं चेत् संवृतिः केयं···। श्लो० वा० पृ० २१८-१९ ४४४
सा च संवृतिर्द्विविधा तथ्यसंवृतिः मिथ्यासंवृतिः । बो० प० पृ० १७१ ४४५
त्रिविधं सत्त्वं परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः । पञ्चपा० वि० पृ० १६५ ४४५
भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते । बोधिच० पृ० १८१ ४४५
प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् । प्र० वा० १।१ ४४७
दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् । न्या० सू० ३।१।१ ४५२
धारणाकर्षणोपपत्तेश्च । ,, ,, १।२।३६ ४५२
सेनावनवद् ग्रहणमिति···। ,, ,, १।२।३७ ४५२
मार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः । प्र० वा० २।१ ४७३
दर्शनस्मरणपारम्पर्यं···। तं० वा० १।२१ ५०४
एवं प्रकारा सर्वैव क्रिया । प्र० वा० २।३१९ ५१०
षट्केन युगपत् योगात् । वि० मा० सि० विं० १२ ५१०
सर्वज्ञो दृश्यतेऽस्माभिर्नेदानीमस्मदादिभिः । श्लो० चो० १२२ ५३६
प्रयोगः केवलं भिन्नः सर्वत्रार्थो न भिद्यते । प्र० वा० २।९०
अत एव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः
अनित्यतादिवद्वाच्यो नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते । वि० मा० सि० ।

★